कृष्णदास संस्कृत सीरीज ११५

श्रीमद्भगवत्पतञ्जलिमहर्षिप्रणीतम्

व्याकरण-महाभाष्यम्

(१--५ आह्निकानि)

प्रदीपोद्द्योत-भावबोधिनी-हिन्दीव्याख्योपेतम्

हिन्दीव्याख्याकारः सम्पादकश्च
प्रो० जयशङ्करलालत्रिपाठी

कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

श्री मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय
वा रा ण सी

सदस्य संख्या—

नाम .... कक्षा ... ...

पिता का नाम ... .

वर्तमान पता ... ...

स्थायी पता ....

मैं ग्रन्थालय की सदस्यता की प्रार्थना करता हूँ। एतदर्थ ग्रन्थालय के नियमों के पालन का वचन देता हूँ।

ह० प्रधानाचार्य

हस्ताक्षर

दिनांक—

कृष्णदास संस्कृत सीरीज
११५

****
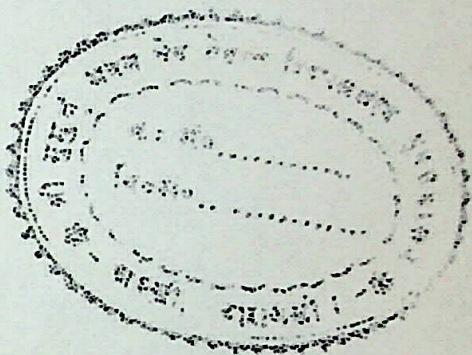
श्रीमद्भगवत्पतञ्जलिमहर्षिप्रणीतम्

व्याकरण-महाभाष्यम्

(१--५ आह्निकानि)

स'प्रदीप''-भावबोधिनी'-हिन्दीव्याख्योपेतम्

द्वितीयाह्निकाद् उद्द्योतेनापि विभूषितम्

हिन्दीव्याख्याकारः सम्पादकश्च
प्रो० जयशङ्करलालत्रिपाठी
व्याकरणाचार्यः (लब्धस्वर्णपदकः)
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०
आचार्यः
संस्कृत-विभागः, कलासङ्कायः, काशी हिन्दू विश्वविद्यालयः, वाराणसी

कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

प्रकाशक : कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०५५

पो० बा० नं० १११८
के० ३७/११८, गोपाल मंदिर लेन, वाराणसी–२२१००१
(भारत)
☎ : ३३५०२०

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस

के० ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास
पो० बा० १००८, वाराणसी–२२१००१ (भारत)
☎ आफिस : ३३३४५८
आवास : ३३४०३२, ३३५०२०

KRISHNADAS SANSKRIT SERIES

115

SHRIMAT-PATAÑJALI'S

VYĀKARAṆA-MAHĀBHĀṢYA

WITH 'PRADIPA' OF KAIYATA

AND 'UDDYOTA' OF NAGESHA BHATTA

And Edited With

'BHAVA-BODHINI'-HINDI-EXPOSITION

By

Prof. Jaya Shankar Lal Tripathi

Vyakaranacharya (Goldmedalist)

M. A., Ph. D., D. Litt.

Professor

Department of Sanskrit, Faculty of Arts

Banaras Hindu University, Varanasi.

KRISHNADAS Academy

VARANASI-221001

प्राक्कथन

संस्कृत-व्याकरण की सर्वोत्कृष्टता विश्वविदित है। इसका प्रमुख श्रेय आचार्य पाणिनि को प्राप्त है। इनके अल्पाक्षर परन्तु सुव्यवस्थित तथा सुविचारित सूत्रों की महत्ता संस्कृतज्ञमात्र से छिपी नहीं है। पाणिनि के सूत्रों पर उनके उत्तरवर्ती आचार्य कात्यायन के समीक्षात्मक वार्तिक हैं जो किसी भी स्थिति में सूत्रों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। वार्तिकों के बिना पाणिनीय व्याकरण अधूरा है।

अल्पाक्षर सूत्रों तथा वार्तिकों का वास्तविक अभिप्राय आचार्य पतञ्जलि के महाभाष्य के बिना सम्भव नहीं है। इसीलिये व्याकरण के त्रिमुनियों में पतञ्जलि का स्थान अतिमहत्त्वपूर्ण है। इसीलिये वैयाकरणों में यह वचन प्रसिद्ध है—"यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्।" महाभाष्य की गम्भीरता तथा उत्कृष्टता के कारण ही इसकी रचना के बाद अनेक व्याख्यायें इस पर लिखी जाती रहीं फिर भी इसकी गूढता आज भी बनी ही है। भाषा की सरलता और प्रतिपादनशैली की विशिष्टता के कारण महाभाष्य संस्कृत-साहित्य में एक अनुपम (बेजोड़) कृति मानी जाती है। इसमें सरल संस्कृत वाक्यों द्वारा व्याकरण जैसे नीरस और क्लिष्ट शास्त्र को स्पष्ट करने का सराहनीय कार्य किया गया है। संस्कृत व्याकरण की समस्त विशेषतायें—लौकिक-वैदिक शब्दरूपभेद, शब्दापशब्दविवेक तथा दार्शनिक चिन्तन—ये सभी महाभाष्य में विवेचित हैं। इसीलिये महाभाष्य पर समय समय में विभिन्न व्याख्याकारों द्वारा अपनी-अपनी दृष्टि से व्याख्यायें लिखी जाती रहीं परन्तु आज भी इसकी रहस्यात्मकता बनी हुई है।

अध्यापन काल में छात्रों की कठिनता देखकर यह विचार बना कि राष्ट्रभाषा हिन्दी में महाभाष्य की एक व्याख्या लिखी जाय। इसमें शब्दार्थज्ञान के साथ-साथ गम्भीर अंशों की अपेक्षित व्याख्या भी की जाय। इसी भावना से १९८० में महाभाष्य पस्पशाह्निक का एक संस्करण केवल हिन्दी व्याख्या के साथ प्रकाशित किया गया जिसे छात्रों ने बहुत सराहा। क्योंकि उसका उद्देश्य छात्रों की सामान्य समस्याओं का समाधान करना था।

किन्तु महाभाष्य जैसे गूढ ग्रन्थ को सामान्य हिन्दी अनुवाद और व्याख्या से समझ सकना कठिन है। संस्कृत शास्त्रों की अपनी एक विशिष्ट विवेचन-पद्धति है जो संस्कृत व्याख्या के द्वारा ही सुगमतापूर्वक विवेचित की जा सकती है इस तथ्य से विद्वान् भली भाँति सुपरिचित हैं। अतः केवल हिन्दी व्याख्या के प्रकाशन से मन में

पूर्ण सन्तोष नहीं था। महाभाष्य का वास्तविक अभिप्राय समझने के लिये कम-से-कम एक प्रौढ संस्कृत व्याख्या का प्रकाशन अत्यन्त अपेक्षित था। 'चौखम्बा संस्कृत सीरीज' तथा 'कृष्णदास संस्कृत अकादमी' आदि प्रतिष्ठित संस्थानों के सञ्चालकों से मैंने अपनी भावना बतलायी और कैयटीय प्रदीप व्याख्या के साथ द्वितीय संस्करण निकालने की योजना बनी। फलस्वरूप कैयटीय प्रदीप व्याख्या और भावबोधिनी हिन्दी व्याख्या के साथ पस्पशाह्निक का द्वितीय संस्करण १९९२ में प्रकाशित हुआ। इसकी लोकप्रियता देख कर यह योजना बनी कि प्रथम चरण में इसी प्रकार से सम्पूर्ण महाभाष्य नवाह्निक का प्रकाशन किया जाय।

प्रकाशकों का उत्साह देखकर मैंने यह प्रस्ताव रखा कि नागेशभट्ट के 'उद्द्योत' व्याख्यान के बिना महाभाष्य तथा कैयटीय प्रदीप का वास्तविक रहस्य समझ सकना कठिन है। अब तक द्वितीय आह्निक के दो फर्मे (१०९ से १४० पृष्ठ) छप चुके थे। आगे से 'उद्द्योत' भी प्रकाशित करना था। अतः १४१ से १४८ पृष्ठों में पृष्ठसंख्यानुसार केवल उद्द्योत छापा गया। इसके आगे पृष्ठ १४९ से प्रदीप, उद्द्योत तथा भावबोधिनी हिन्दी व्याख्या—इन तीनों के साथ प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। प्रस्तुत प्रथमभाग प्रथम से पञ्चम आह्निक तक प्रकाशित हो रहा है। षष्ठ से नवम आह्निक तक द्वितीय भाग भी शीघ्र प्रकाशित होगा।

आज कल इस घोर महर्घता काल में प्रौढ तथा विशालकाय संस्कृत ग्रन्थों का समुचित ढंग से प्रकाशन एक जटिल समस्या है। परन्तु हर्ष है कि 'कृष्णदास अकादमी वाराणसी' ने यह दायित्व स्वीकार किया जिसके फलस्वरूप यह प्रथम भाग प्रकाशित हो रहा है। इस प्रसंग में श्रीयुत ब्रजमोहनदासजी गुप्त। (टोडरदास जी) का विशेष आभारी हूँ जिनके सौजन्य तथा औदार्य से यह कार्य सम्पन्न हुआ। प्रियवर श्री कमलेशकुमार जी गुप्त को भी धन्यवाद देना चाहता हूँ क्योंकि अपने पूर्वजों के पदचिह्नों पर चलते हुए संस्कृत भाषा और भारतीय संस्कृति के अभ्युत्थान में आप अनवरत सहयोग दे रहे हैं।

पस्पशाह्निक तक का मूल भाष्य और प्रदीप श्रीयुत भार्गव शास्त्री द्वारा सम्पादित तथा निर्णय सागर से १९५१ में प्रकाशित संस्करण पर आधृत है। किन्तु कुछ कारणों से द्वितीय आह्निक से लेकर पञ्चम तक का मूल भाष्य, प्रदीप और उद्द्योत तीनों का आधार महामहोपाध्याय श्रीशिवदत्त शर्मा तथा श्री पं० रघुनाथ शर्मा द्वारा सम्पादित और सुधी प्रकाशन वाराणसी द्वारा १९८७ में पुनर्मुद्रित संस्करण रखा गया है। अतएव पस्पशा तथा द्वितीय से पञ्चम आह्निकों में वार्तिक आदि की संख्या में कुछ अन्तर हो गया है। अध्येतागण इससे भ्रमित न हों। यहाँ मूल सम्पादकत्रयी के प्रति

आभार व्यक्त करता हूँ। हिन्दी के कुछ अनुवादों से भी यत्र तत्र सहायता ली गई है, उनके लेखकों को भी धन्यवाद देना चाहता हूँ।

इस गुरुतर कार्य में अपनी धर्मपत्नी श्रीमती उर्मिला त्रिपाठी एम० ए०, सुपुत्र श्री वागीश त्रिपाठी रिसर्चस्कालर तथा सुपुत्री कुमारी पूनम त्रिपाठी रिसर्चस्कालर को भी सहयोग देने के लिये धन्यवाद देना चाहता हूँ।

महाभाष्य के विभिन्न संस्करणों के रहने पर भी प्रस्तुत संस्करण यदि जिज्ञासु छात्रों का स्वल्प भी उपकारक हो सका तो अपना प्रयास सफल समझूंगा। दृष्टिदोष या प्रमादवश यत्र तत्र कुछ त्रुटियाँ रह जाना सम्भव है, निर्मत्सर विद्वान् उन्हें क्षमा करेंगे।

विनयावनत

ज्येष्ठपूर्णिमा वि० सं० २०५५ — जयशङ्करलाल त्रिपाठी

का०हि०वि०वि० वाराणसी

सम्पादकीयम्

विश्वस्य प्राचीनतमासु समस्तासु भाषासु संस्कृतभाषायाः सर्वोत्कृष्टत्वं सर्वैरेव भाषाशास्त्रिभिरङ्गीक्रियते । व्याकरणमूलकत्वादेवास्या वैज्ञानिकत्वं व्यवस्थितरूपवत्वञ्च वर्तते इति तथ्यं साम्प्रतं संगणकमाध्यमेनापि भृशं साधितम् । सुदीर्घकालादेवास्याः भाषायाः व्याकरणसम्बन्धिनो गूढविचाराः प्राप्यन्ते इति सुविदितमेव समेषाम् । अतीवपुराकाले बहुषु व्याकरणेषु सत्स्वपि दीर्घकालादेव महर्षेः पाणिनेरेव व्याकरणं सर्वोत्कृष्टं सर्वजनसम्मतञ्च विद्यते । महर्षिपाणिनिना वैदिक्या लौकिक्याश्च संस्कृतभाषाया नियामकसूत्राणि प्रणीतानि । तत्र च 'दृष्टानुविधिश्छन्दसी'ति वचनानुसारं वैदिकानां शब्दानां यथाप्रयुक्तानामेव साधुत्वोपपादनार्थं सूत्राणि प्रोक्तानि । लौकिक्यास्तु नियामकानि सूत्राणि प्रोक्तानि । सूत्राणां प्रमुखं वैशिष्ट्यमल्पाक्षरत्वम् । तेन चैतेषामाशया न सारल्येन ज्ञेयाः । एतदर्थं व्याख्यानमपेक्षितम् । अतएव पाणिनिना स्वयमपि स्वसूत्राणां वृत्तिर्विरचिताऽऽसीदिति प्रसिद्धिः ।

पाणिनेः (ई० पू० ५००) दीर्घकालानन्तरं जातेन महर्षिणा कात्यायनेन (ई० पू० ३००) स्वीयया तीक्ष्णया सूक्ष्मेक्षिकया सूत्राणामालोचनापराणि वार्त्तिकानि लिखितानि । अनेनापि पाणिनेरल्पाक्षरत्वमेवाश्रितम् । एवञ्च सूत्राणामिव वार्तिकानामपि दुर्ज्ञेयत्वमेवाभूत् । कात्यायनान्तरं भारतभुवि समुत्पन्नेन शेषावतारेण भगवता पतञ्जलिना (ई० पू० १५०) सूत्राणां वार्तिकानाञ्च विशदं व्याख्यानरूपं महाभाष्यं प्रणीतम् । अस्मिन् ग्रन्थसिन्धौ सरलयापि गभीरया सुबोधयापि दुर्बोधया शैल्या व्याकरणविषयका भाषाशास्त्रविषयकाश्च विविधा गंभीरा विचाराः यथाप्रसङ्गं प्रदर्शिताः । एवञ्च पाणिनेः सूत्राणां कात्यायनस्य च वार्तिकानां परिष्कृतं ज्ञानं महाभाष्यादेव सम्भवतीति प्राचीनकालादेव सर्वानुभवसिद्धम् ।

अस्य महाभाष्यस्य महत्त्वमवलोक्य रचनाकालादनन्तरमेव समये समये विद्वद्भिर्विभिन्नानि व्याख्यानानि लिखितानि । तेषां समेषामेवास्ति महत्त्वम् । परन्तु व्याकरणसम्प्रदाये कैयटमहोदयेन प्रणीतस्य प्रदीपाख्यस्य महाभाष्य-व्याख्यानस्य महत्त्वं सर्वातिशायि वर्तते । अनेन विदुषा कैयटेन पूर्ववर्तिनां भर्तृहरि-प्रभृतीनां भाष्यव्याख्यातॄणां वचनानि भृशमधीत्य सुविचिन्त्य च स्वीयं प्रदीपाख्यं व्याख्यानं विलिखितमिति न तिरोहितं शब्दशास्त्रिणाम् । अनेन व्याख्यानेन विना महाभाष्यस्याभिप्रायाः न ज्ञातुं शक्यन्ते ।

परमोपयोगि गम्भीरञ्च सदपि प्रदीपव्याख्यानं न तथा विशदं सरलं वा यथा सामान्याध्येतापि महाभाष्यस्य तत्त्वं ज्ञातुं प्रभवेत्। प्रदीपस्य रहस्यानि तु नागेशभट्टेन स्वीये उद्द्योताख्ये विवरणे साधु निरूपितानि। उद्द्योते मुख्यतः प्रदीपस्य व्याख्यानं वर्ततेऽपेक्षित-स्थले महाभाष्यस्यापि आशयाः स्पष्टीकृताः। क्वचित्तु उभयोरेव समालोचनापि विहिता। अत एव व्याख्यानद्वयमन्तरा भाष्यं सर्वथा दुर्ज्ञेयमेव।

पूर्ववर्णितं तथ्यं विलोक्यैव पुरातनैः सर्वैरेव प्रमुखैः महाभाष्यसम्पादकैः प्रदीपेनोद्द्योतेन चोभयविधव्याख्यानेन सहैव महाभाष्यं प्रकाशितम्। यद्यपि अस्माभिः पस्पशाह्निके ग्रन्थविस्तरभिया उद्द्योतो न प्रकाशितः। परन्तु द्वितीयाह्निकादारभ्य प्रदीपेन सह उद्द्योतोऽपि प्रकाश्यते येन महाभाष्यस्य प्रदीपस्य च सर्वेऽपि गूढाशयाः सारल्येन ज्ञाताः स्युः।

साम्प्रतिके काले उत्तरभारते हिन्दीमाध्यमेनैव संस्कृतस्याप्यध्ययनाध्यापनादिकं प्रचलति। छात्रा हिन्दीव्याख्यानमेव वाञ्छन्ति। अत एव पस्पशाह्निकस्य हिन्दी-व्याख्या प्रकाशिता। परन्तु केवलया हिन्दी-व्याख्यया महाभाष्यं सम्यग्ज्ञातुं न शक्यते इति विचार्यैव पस्पशाह्निके प्रदीपव्याख्यानमपि प्रकाशितम्। परन्तु उद्द्योतमन्तरा प्रदीपो न सरलतया ज्ञातुं शक्यते इति द्वितीयाह्निकादारभ्य पञ्चमाह्निकपर्यन्तमुद्द्योतव्याख्यानमपि वर्तते। एवञ्च कैयटीयप्रदीपेन नागेशीयोद्द्योतेन भावबोधिन्या हिन्दी-व्याख्यया च विभूषितस्य महाभाष्यस्य पञ्चमाह्निकपर्यन्तः प्रथमो भागः प्रकाश्यते। अस्मिन् समेषामुपयोगाय व्याख्यात्रयी विद्यते।

अस्य संस्करणस्य वैशिष्ट्यम्

साम्प्रतं महाभाष्यस्य नैकानि संस्करणानि समुपलभ्यन्ते। तत्र निर्णयसागरीय-संस्करणद्वये हिन्दी-व्याख्या न विद्यते तेन सामान्यच्छात्राणां कृते न विशेषोपयोगि। श्रीमतां युधिष्ठिरमीमांसकानां श्रीचारुदेव-शास्त्रिणाञ्च संस्करणयोः केवला हिन्दी-व्याख्यैव विद्यते। एतेन विशेषजिज्ञासूनां न सन्तोषः। श्रीमतां मधुसूदनप्रसाद-मिश्र-महोदयानां संस्करणे प्रदीपेन सह यद्यपि हिन्दी-व्याख्यापि वर्तते तथापि तत्र प्रतिपादनशैली न सुस्पष्टा। तेन जिज्ञासूनां तात्पर्यज्ञाने कष्टमेव जायते।

अस्मिन् प्रस्तुते संस्करणे प्रदीपोद्द्योताख्यव्याख्याद्वयी अथ च भावबोधिनी हिन्दी-व्याख्यापि वर्तते। एताभिर्व्याख्यात्रयीभिर्विभूषितमिदं संस्करणं यथारुचि अध्येतृणामुपकारकं वर्तते। भावबोधिन्यां हिन्दी-व्याख्यायां सामान्यवाक्यानामनुवादः गभीरस्थानाञ्च 'विमर्श' इत्यस्मिन् विस्तरेण विचाराः प्रदर्शिताः। एवञ्चेदं संस्करणं सर्वोपकारकं भविष्यतीति विचार्य प्रथमाह्निकादारभ्य पञ्चमाह्निकपर्यन्तो प्रथमो भागः प्रकाश्यते।

पस्पशाह्निके श्रीमद्भार्गव-शास्त्रिमहोदयसम्पादितस्य अग्रे च श्रीमत्शिवदत्तशर्म-रघुनाथशर्म-महोदयाभ्यां सम्पादितस्य निर्णयसागरीयस्य संस्करणद्वयस्य सहयोगो गृहीतः। अत एव वार्तिकादौ संख्यायाः भेदो दृश्यते। एतेन न किमपि शंकितव्यम्, नवा भ्रमितव्यम्।

कृतज्ञता-ज्ञापनम्

अस्मिन् संस्करणे पूर्वप्रकाशितानां प्रायशः समेषां संस्करणानां सहयोगो गृहीतोऽस्त्येषां सर्वेषां विदुषां कार्तज्ञ्यं प्रकटयामि।

चौखम्बा-संस्कृतसीरीज-कृष्णदास-अकादमी-प्रभृतीनां संस्थानानां सञ्चालक-महोदया अस्मिन् प्रसङ्गेऽवश्यमेव मम धन्यवादार्हाः। तत्रापि विशेषतः श्रीमन्तो व्रजमोहनदासगुप्त-महोदया धन्यवादस्य पात्राणि येषामौदार्येणेदं संस्करणमनेन परिष्कृतरूपेण प्रकाशितम्। श्रीमत्कमलेश-कुमार-गुप्त-महोदया अपि मे धन्यवादमर्हन्ति यैः स्वपूर्वजानामनुकरणेन संस्कृतस्य भारतीयसंस्कृतेश्च समुत्थानेऽनवरतं यत्नो विधीयते।

अत्र प्रसङ्गे स्वीयां धर्मपत्नीम् उर्मिलानाम्नीं विस्मर्तुं न शक्नोमि यया ममास्वास्थ्यावस्थायां सदैव समुचितं साहाय्यं प्रदत्तमतस्सापि धन्यवादाधिकारिणी मम। मम सुपुत्रः श्रीवागीशत्रिपाठी शोधच्छात्रः सुपुत्री पूनमत्रिपाठी शोधच्छात्रा च ममाशीराशिमर्हतः स्वसहयोगप्रदानकारणात्।

शरीरस्यास्वस्थतयाऽनवधानतया च यत्र कुत्रचिदशुद्धयो जातास्ता विद्वद्भिर्मर्षणीयाः। आशासे द्वितीयभागोऽपि षष्ठाह्निकात् नवमाह्निकपर्यन्तः सत्वरमेव प्रकाशयिष्यते इत्यलम्।

गुरुपूर्णिमा वि॰ सं॰ २०५५ विदुषां वशंवदः
का॰ हि॰ वि॰ वि॰ वाराणसी जयशङ्करलालत्रिपाठी

विषय-सूची

टि० * प्रकाशित पृष्ठ संख्या १९३ से २०८ के स्थान पर १२ पृष्ठ घटा कर पृष्ठ संख्या १८१ से १९६ समझें ।

पृष्ठाङ्काः

पृष्ठाङ्काः

पञ्चममाह्निकम्

टि० *प्रकाशित पृष्ठ संख्या ६४१ से ६७२ के स्थान पर १२ पृष्ठ घटाकर पृष्ठ संख्या ६२९ से ६६० समझें।

कृष्णदास संस्कृत सीरीज
११५
****

श्रीमद्भगवत्पतञ्जलिमहर्षिप्रणीतम्

व्याकरण-महाभाष्यम्

पस्पशाह्निकम्
स'प्रदीप'-'भावबोधिनी'-हिन्दीव्याख्योपेतम्

हिन्दीव्याख्याकारः सम्पादकश्च
डॉ० जयशङ्करलालत्रिपाठी
व्याकरणाचार्यः (लब्धस्वर्णपदकः)
एम.ए., पी-एच.डी., डी. लिट्.
उपाचार्यः
संस्कृत-विभागः, कलासङ्कायः, काशी हिन्दू विश्वविद्यालयः, वाराणसी

प्रस्तावनालेखकः
डॉ० विश्वनाथभट्टाचार्यः
मयूरभञ्जप्रोफेसरः, विभागाध्यक्षश्च
संस्कृत-विभागः, कलासङ्कायः, काशी हिन्दू विश्वविद्यालयः, वाराणसी

चौखम्बा कृष्णदास अकादमी वाराणसी

चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

प्रकाशक : चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणंसी
संस्करण : द्वितीय, वि० सं० २०६१
मूल्य : रू० ४०.००

के० ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन
(गोपाल मन्दिर के उत्तरी फाटक पर)
पो० बा० नं० १११८, वाराणसी–२२१००१ (भारत)
फोन : २३३५०२०

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
के० ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
(गोपाल मन्दिर के उत्तरी फाटक पर)
गोलघर (मैदागिन) के पास
पो० बा० नं० १००८, वाराणसी—२२१००१ (भारत)
फोन : २३३३४५८ (आफिस), २३३४०३२ एवं २३३५०२० (आवास)
e-mail : cssoffice@satyam.net.in
web-site : www.chowkhambaseries.com

प्राक्कथन

संस्कृत व्याकरणप्रस्थान में प्रमुख आचार्यों में तृतीय स्थान में रखे गये आचार्य पतञ्जलि वस्तुतः अद्वितीय हैं। महामुनि पाणिनि की अष्टाध्यायी ने भाषामहार्णव की आठ दिशाओं को इस प्रकार से घेर लिया है कि उसकी गम्भीरता तथा व्यापकता तो सुरक्षित हुई ही है, साथ ही उसके अन्तहीन स्रोतों की भी सुव्यवस्था हो गई है। यह सत्य है कि व्याकरण भाषा को गति का अनुसरण करता है, पर उसकी सार्थकता इसी में है कि उसके नियम भाषा की गति को सही दिशा का निर्देश करें तथा उसकी स्वाभाविकता को किसी भी प्रकार से नष्ट न होने दें। समग्र विश्व में पाणिनि की अद्वितीय श्रेष्ठता इसी में है कि उन्होंने संस्कृत भाषा को ५०० ई० पूर्व के आस-पास इस प्रकार अपने नियमों में बाँधा कि संस्कृत का विकास इन नियमों की प्रेरणा से अव्याहत गति से होता आ रहा है। अष्टाध्यायी के सूक्ष्म तथा लघ्वाकार सूत्र ही संस्कृत भाषा के विकास में बीजभूत हैं—यह तथ्य विचारशील विद्वानों का परोक्ष नहीं है।

व्याकरण शास्त्र की परम्परा सुदीर्घ है। पाणिनिपूर्व वैयाकरण अवश्य अनेक हुए और उनकी देन अनस्वीकार्य है। पर यह भी तथ्य है कि पूर्वकालिक विचारों को भूमिका बनाकर शब्द-विचार को शास्त्रीय गरिमा से जोड़ने का कार्य पाणिनि ने ही किया और अष्टाध्यायी ही व्याकरण विद्या या शब्दानुशासन का प्रारम्भ बिन्दु है। भारतीय परम्परा पाणिनि-मत को त्रिमुनिसंमत मत के रूप में पाणिनि के साथ कात्यायन और पतञ्जलि को जोड़ती है। सिद्धान्त, आक्षेप और समाधान सभी शास्त्रों के विकास के सर्वमान्य क्रम हैं और व्याकरण के क्षेत्र में पाणिनि के सिद्धान्त, कात्यायन के आक्षेप और पतञ्जलि के समाधान उसी विकास-क्रम की सम्मान्य कड़ियाँ हैं। परम्परा में सश्रद्ध आस्था रखने वाली भारतीय मनीषा कभी भी रूढिवादी नहीं थी, इसी लिए पाणिनि पर आस्था रखने वाले कात्यायन ने अनेक आक्षेपों को उपस्थित किया और उसके समाधान सुझाये। कालान्तर में आचार्य पतञ्जलि ने इन आक्षेपों को ध्यान में रखकर समग्र अष्टाध्यायी का पुनः विवेचन करते हुए समाधान प्रस्तुत किया। यही समाधान महाभाष्य क सार्थक नाम से अभिहित होता है। वार्तिक-सहित सूत्रों के समग्र क्षेत्र का यह पूर्णाङ्ग विवेचन आचार्य पतञ्जलि के व्यापक अध्ययन, मनन और प्रतिपादन-कौशल का अभूतपूर्व निदर्शन है। जिस सरस तथा रोचक शैली में संस्कृत भाषा

इस भाष्य में प्रस्तुत हुई है वह हमें यह मानने को बाध्य करती है कि पतञ्जलिकालिक भारतमें संस्कृत दैनन्दिन जीवन में व्यवहृत होनेवाली भाषा थी।

सूत्रकार पाणिनि ने सूत्रों की मर्यादा स्थापित की, अतः वे वाक्कृपण प्रतीत होते हैं। अर्धमात्रालाघव भी उनके लिए परम काम्य हैं। इसीके विपरीत भाष्यकार पतञ्जलि (वाक्कुशलता) वाक्पटुता की पराकाष्ठा पर आसीन हैं। भाषा के सैद्धान्तिक पक्षों के साथ-साथ उसके व्यावहारिक पक्ष को उदाहरण प्रत्युदाहरण के साथ उन्होंने इतने सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है कि भाषाप्रयोग में उनकी प्रगल्भता महाकवियों के समकक्ष है। व्याकरण जैसे शुष्क विषय का विवेचन कितना हृद्य हो सकता है—इसका ज्ञान महाभाष्य के अध्ययन के बिना संभव नहीं है।

विश्व की प्राचीनतम भाषाओं में संस्कृत वह भाषा है जो कालविपर्यय के बावजूद आज भी जीवित है। यह गौरव और किसी प्राचीन भाषा का नहीं है। संस्कृत को यह गौरवास्पद आसन देने में पाणिनि और उनके अनुयायियों की देन अपरिमेय है। पतञ्जलि का महाभाष्य संस्कृत की सनातन सत्ता को प्रतिपद प्रमाणित करता है। विषय-वैपुल्य और सूक्ष्म विवेचन के सरस और स्वाभाविक प्रतिपादन के ही कारण यह भाष्य यथार्थतः महान् है, महाभाष्य है। वैदिक तथा लौकिक साहित्य, धर्म और दर्शन, शिष्टाचार तथा लोकाचार—इन सभी उपकरणों का उपयोग होने के कारण अभियुक्तों का यह अनुभव—"महाभाष्यं वा पठनीयं महाराज्यं वा पालनीयम्" नितान्त सत्य है।

आचार्य पतञ्जलि ने अपने भाष्य को अष्टाध्यायी के अध्याय और पाद के अनुसार तो विभाजित किया ही है, पर उन्होंने पादों को भी 'आह्निकों' में विभाजित किया है। एक यथार्थ गुरु के रूप में शिष्य के अध्ययनसामर्थ्य को ध्यान में रखकर उन्होंने भाष्य को 'आह्निकों' अर्थात् एकदिवसपाठ्य अनुभागों में सजा दिया है। आज का विद्यार्थी एक ही दिन में एक आह्निक पढ़ पायेगा या नहीं—यह कहना कठिन है, पर इस विभाजन से प्राचीन भारत के गुरु-गृहों में अनुसृत होने वाली समय-सारिणी का ज्ञान तो होता ही है। समग्र भाष्य की भूमिका के रूप में आचार्य ने 'पस्पशाह्निक' की रचना की और इस में मौलिक प्रश्नों का विवेचन किया। शब्द का स्वरूप, व्याकरण-अध्ययन के प्रयोजन, शब्दों की नित्यता का प्रश्न, शास्त्र से धर्म की प्राप्ति, व्याकरण का अर्थ तथा शिवसूत्रों की आवश्यकता आदि विषय इसमें विशिष्ट प्रश्नोत्तर शैली में प्रस्तुत हुए हैं। व्याकरण-प्रस्थान का यह वस्तुतः सिंहद्वार है—इसमें से प्रविष्ट हुए बिना इस विद्या की व्यापकता और गंभीरता का बोध संभव

नहीं है। साथ ही जिस प्रासादिक शैली में इसकी रचना हुई है वह इतनी चित्ताकर्षक है कि संस्कृत गद्यशैली के प्राचीनतम श्रेष्ठ निदर्शन के रूप में भी इसका महत्त्व अप्रतिम है।

हमारे सहयोगी डा० जयशङ्करलाल त्रिपाठी ने आचार्य कैयट की 'प्रदीप' टीका के साथ स्वकीय 'भावबोधिनी' नाम का हिन्दी रूपान्तर जोड़ कर पस्पशाह्निक का नया संस्करण प्रस्तुत किया है। साहित्य और व्याकरण दोनों के निष्ठावान् विद्वान् होने के कारण डा० त्रिपाठी का यह प्रयास सर्वथा स्तुत्य है। एक अध्यापक के लिए छात्र-हितैषी होना स्वाभाविक है—अतः विद्यार्थियों की आवश्यकता की ओर इस संस्करण में जो ध्यान दिया गया है वह विद्वान् व्याख्याता की महत्ता और इसकी विलक्षण उपयोगिता सिद्ध करता है। भावबोधिनी केवल हिन्दी रूपान्तर ही नहीं है 'विमर्श' के नाम से इसके साथ दुरूह स्थलों की विशेष व्याख्या जोड़कर डा० त्रिपाठी ने ग्रन्थ के गौरव और मूल्य दोनों को बढ़ा दिया है। विद्वान् व्याख्याता से हम तो प्रत्याशा यही करेंगे कि केवल पस्पशा से कृतकृत्य न होकर वे समग्र नवाह्निक का इसी प्रकार प्रकाशन करें। उनका भी यही निश्चय है, यह अत्यन्त हर्ष का विषय है।

हम उनके सारस्वत श्रम की सराहना करते हुए निःसंकोच इस लघुकाय ग्रन्थ को जिज्ञासुओं को समर्पित करते हैं। हमें पूर्ण विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थ जनप्रियता का धनी सिद्ध होगा।

विजया दशमी
संवत् २०४६

विश्वनाथ भट्टाचार्य

सम्पादकीय

भारतीय साहित्य के मूल ग्रन्थ वेद हैं। वेदों की रक्षा और यथार्थ ज्ञान के लिए छः वेदाङ्ग बने। उनमें व्याकरण का प्रमुख स्थान है "मुखं व्याकरणं स्मृतम्।" संस्कृत व्याकरण की एक सुदीर्घकालिक परम्परा में पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि—ये मुनित्रय सर्वोपरि हैं। इनसे पूर्ववर्त्ती और परवर्त्ती अनेक आचार्यों का भी योगदान अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यही कारण है आज संस्कृत व्याकरण व्याकरण-मात्र न रह कर 'शास्त्र' की श्रेणी में प्रतिष्ठित है और इसकी सूक्ष्मता, गम्भीरता तथा व्यापकता देखकर विश्व के सभी आलोचक इसकी प्रशंसा करने के लिए विवश हैं।

पाणिनि ने अपनी सूक्ष्म-दृष्टि, अनुभव और व्यापक ज्ञान के आधार पर अत्यल्प आकार वाले सूत्रों की रचना की। कात्यायन ने उसी में परिशिष्ट रूपेण वार्तिक बनाकर जोड़े। परन्तु दोनों का यथार्थ अभिप्राय समझना कठिन था। जिज्ञासु अतृप्त थे। विभिन्न समस्याएँ उपस्थित हो रहीं थीं। इसी अवसर पर महामनीषी शेषावतार पतञ्जलि ने 'महाभाष्य' की रचना कर न केवल व्याकरण शास्त्र का अपितु संस्कृत-वाङ्मय का अवर्णनीय उपकार किया। उनके व्याख्यान-ग्रन्थ के साथ जुड़ा हुआ 'महत्' यह विशेषण इस ग्रन्थ का गौरव प्रकट करता है।

'भाष्याब्धिः क्वातिगम्भीरः क्व चाल्पविषया मतिः' इस कैयटीय वचन से महाभाष्य की गम्भीरता स्पष्ट है। इसी लिए कुछ ही विद्वानों ने इस पर व्याख्यान लिखे। उनमें कैयट का 'प्रदीप' और नागेश का 'उद्द्योत' परम सहायक माने जाते हैं। इनके बिना भाष्य का यथार्थ रहस्य समझना असम्भव-सा है।

सुदीर्घ अध्यापन-काल में मैंने छात्रों की समस्याएँ देखीं और उनकी सहायता के लिए हिन्दी में व्याख्या लिखने का प्रथम प्रयास १९८० ई में किया था। वह ग्रन्थ प्रकाशित और पुरस्कृत हुआ। किन्तु कैयटीय प्रदीप के बिना महाभाष्य समझना बहुत कठिन है, ऐसा सोच कर प्रस्तुत संस्करण में 'प्रदीप' के साथ-साथ परिवर्धित और परिष्कृत हिन्दी व्याख्या 'भावबोधिनी' प्रकाशित की जा रही है। इसमें गम्भीर विषयों का स्पष्टीकरण 'विमर्श' के अन्तर्गत किया गया है। भूमिका में प्रायः सभी उपयोगी विषयों का विवेचन है।

इसमें अपेक्षित विषयों का प्रतिपादन संस्कृत माध्यम से भी किया गया है। इससे यह ग्रन्थ सभी प्रकार के छात्रों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसी आशा है।

परमादरणीय डॉ० विश्वनाथ भट्टाचार्य प्रोफेसर और अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, कलासंकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ने उपयोगी प्राक्कथन लिखने की कृपा की। एतदर्थ मैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

संस्कृत ग्रन्थों के प्रमुख और प्राचीनतम संस्थान चौखम्बा संस्कृत सीरीज के संचालकगण विशेष धन्यवाद के अधिकारी हैं जिन्होंने इसे "कृष्णदास अकादमी" के अन्तर्गत प्रकाशित करवाया।

इससे निर्मत्सर विद्वान् और छात्र यदि यत्किञ्चिदपि लाभान्वित हो सके तो मैं अपना प्रयास सार्थक समझूँगा। इति शम्।

विजया दशमी
सन् १९८९ ई०

—जयशङ्कर लाल त्रिपाठी

विषय-सूची

विषय **पृष्ठ**

□

भूमिका

संस्कृत का विशाल वाङ्मय तपःपूत महर्षियों और आचार्यों की सुदीर्घ साधना तथा तपस्या का सुपरिणाम है। उन्होंने अपनी सूक्ष्म ईक्षण शक्ति द्वारा संस्कृत भाषा के सर्वविध स्वरूपों का सम्यक् परिशीलन करके नियमों का निर्धारण किया है। इसी कारण ज्ञात प्राचीन काल से लेकर अद्यावधि यह भाषा अजस्ररूपेण प्रवहमान होती हुई भारतीय मनीषा की गौरवगाथा प्रकट करती आ रही है। आज के वैज्ञानिक युग में जहाँ प्राचीन अनेक भाषायें लुप्तप्राय हो रही हैं, अथवा अस्तित्वरक्षा के लिए संघर्ष कर रही हैं, वहीं यह भाषा अपनी परिनिष्ठितता और महत्ता के कारण अपना अस्तित्व सुरक्षित रखती हुई लोगों को हठात् अपनी ओर आकृष्ट करती चली आ रही है।[1]

संस्कृत भाषा का महत्त्व उसमें सुरक्षित ज्ञानराशि से ही नहीं है प्रत्युत उसके सर्वोत्कृष्ट व्याकरण-शास्त्रीय स्वरूप से भी है। संस्कृत भाषा ही एकमात्र ऐसी है जिसका प्रत्येक पद व्याकरणशास्त्र की परिधि में आता है। व्याकरणशास्त्रीय नियमों से एक ओर इसकी कुछ दुरवबोधता हुई तो दूसरी ओर अद्यावधि समान-रूपता भी है। सहस्रों वर्ष पूर्व लिखित रामायण, महाभारत, पुराणों और काव्यों का आनन्द आज भी पूर्ववत् अक्षुण्ण है।

व्याकरणशास्त्रीय नियमों का सर्वप्रथम निर्माण कब हुआ और किसने किया— इस प्रश्न का उत्तर देना सम्भव नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि आज आचार्य पाणिनि का व्याकरण जिस रूप में प्राप्त है उससे यह अनुमान सहजरूप में हो सकता है कि पाणिनि के पूर्व भी अनेकों वैयाकरणों ने संस्कृत भाषा के लिए व्याकरण बनाये थे। स्वयं पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में दश[2] आचार्यों का नामतः उल्लेख किया है। अनेक विकल्पों से भी अन्य आचार्यों के मतों का संकेत मिलता[3]

---

१. द्र० संस्कृत व्याकरण का इतिहास (युधिष्ठिर मीमांसक) पृ० ८-१२।

२. वा सुप्यापिशलेः (पा० सू० ६।१।९२) तृषिमृषिकृषेः काश्यपस्य (१।२।२५) अड् गार्ग्य-गालवयो : (७।३।७३) ई चाक्रवर्मणस्य (६।१।१३०) ऋतो भारद्वाजस्य (७।२।६३) लङः शाकटायनस्यैव (३।४।१११) लोपः शाकल्यस्य (८।३।१९) गिरेश्च सेनकस्य (५।४।११) अवङ् स्फोटायनस्य (६।१।१२३)।

३. संस्कृत व्याकरण का इतिहास प्र० भा० पृ० ६६।

है। विश्व की किसी भी भाषा में व्याकरण शास्त्र की इतनी लम्बी परम्परा और और महत्ता नहीं देखी जाती है।

आजकल ही नहीं, सहस्रों वर्ष पूर्व ही एकमात्र पाणिनि का व्याकरण ही वेदाङ्गरूप में प्रतिष्ठित हो चुका था और इसी के अनुसार संस्कृतभाषा का शुद्ध स्वरूप निर्धारित किया जाता था।

आचार्य पाणिनि

असीम प्रतिभा-सम्पन्न आचार्य पाणिनि के जन्मकाल के विषय में आजतक कोई एकमत नहीं बन सका। विभिन्न विद्वानों ने ईसा पूर्व २८०० वर्षों[१] से लेकर ईसा पूर्व ५०० वर्षों के मध्य में पाणिनि का काल माना[२] है। भाषाशास्त्रीय दृष्टि से पाणिनि की अष्टाध्यायी का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने उस समय अपना व्याकरण बनाया था जब वैदिक भाषा का भी प्रचलन था। समाज में संस्कृत को भाषा का स्थान प्राप्त था। महत्त्वपूर्ण व्यवहार से लेकर आक्रोश तक संस्कृत के माध्यम से व्यक्त किये जाते थे। यह स्थिति निश्चितरूपेण गौतम बुद्ध से बहुत पहले की ही समझनी चाहिए। क्योंकि गौतम बुद्ध के समय तक संस्कृत का वह व्यापक प्रचार-प्रसार नहीं रह गया होगा जो पाणिनि की अष्टाध्यायी से ज्ञात होता है।

इनका पाणिनि यह नाम पितृपरम्परा (गोत्र) से है। इनकी माता का नाम दाक्षी था[३]। आचार्य व्याडि इनके अति निकट के सम्बन्धी थे। सम्भवत: पाणिनि से ज्येष्ठ भी थे। पाणिनि ने व्याकरण के शब्दरूप-सम्बन्धी नियमों के लिए अष्टाध्यायी बनायी थी और व्याडि ने व्याकरण के दार्शनिक पदार्थों के विवेचन के लिए एक लाख श्लोकों के संग्रह[४] ग्रन्थ का प्रणयन किया था जो आज लुप्त है। कुछ उद्धरण ही प्राप्त होते हैं।

इनका जन्म-स्थान तत्कालीन पश्चिम भारत का एक गाँव 'शलातुर'[५] था। अत: इनकी शिक्षा-दीक्षा तक्षशिला में होने का अनुमान किया जा सकता है।

---

१. पाणिनि का काल लगभग भारत युद्ध से २०० वर्ष पश्चात् अर्थात् २९०० वि० सं० पूर्व है। (संस्कृत व्या० इति० प्र० भा० पृ० १९८),

२. द्र० पाणिनि-कालीन भारत, वासुदेव शरण अग्रवाल अध्याय ८।

३. सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः।
एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपजायते॥

४. संग्रहः—व्याडिकृतो लक्षश्लोकसंख्यो ग्रन्थ इति प्रसिद्धिः। (उद्द्योत० पस्पशा०)

५. शलातुरो नाम ग्रामः, सोऽभिजनोऽस्यास्तीति शलातुरीयः तत्रभवान् पाणिनिः। गणरत्नमहोदधि पृ० १।

आचार्य कात्यायन

आचार्य पाणिनि ने अपने समय विद्यमान भाषा का सम्यक् परिशीलन करके नियमों (सूत्रों) का प्रणयन किया था। उनके समय में भाषा के रूप में संस्कृत प्रयुक्त होती थी। अतः पाणिनि के बाद सैकड़ों वर्षों के अन्तराल में जो नवीन शब्द प्रयुक्त होने लगे अथवा जिन रूपों की प्रसिद्धि पाणिनि के समय नहीं थी, उनके लिए उन्होंने नियम नहीं बनाये थे। इस कार्य को आचार्य कात्यायन ने किया[1]। दूसरी बात यह है कि पाणिनि सुदूर पश्चिम भारत में उत्पन्न हुए थे और महाभाष्यानुसार कात्यायन दक्षिण भारत में[2]। अतः प्रायोगिक दृष्टि से शब्दरूपों में कुछ अन्तर स्वाभाविक था। इन्हीं कारणों से पाणिनि के सूत्रों पर समीक्षात्मक और परिशिष्टात्मक रूप में नियम बनाने का सफल प्रयास कात्यायन ने किया। इनके जीवनवृत्त के विषय में अत्यल्प ही विदित है। इनका काल पाणिनि से कम से कम २०० वर्षों बाद ही होना चाहिए। अतः इन्हें भी ईसा पूर्व २६०० से लेकर ई० पू० ३०० वर्षों के मध्य का माना जाता है। बड़े खेद का विषय है कि आज तक कात्यायन के वार्त्तिकों का स्वतन्त्र प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं मिल सका। महाभाष्य के माध्यम से ही वार्त्तिकों का अध्ययन किया जाता है। उसमें कात्यायन के अतिरिक्त सुनाग आदि अन्य आचार्यों[3] के भी वार्त्तिक उपलब्ध होते हैं।

आचार्य पतञ्जलि

पाणिनि की अष्टाध्यायी का विशद व्याख्यान आचार्य पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में किया है। पतञ्जलि पाणिनीय व्याकरण के अत्यन्त आदरणीय विद्वान् हैं। इन्होंने व्याकरण जैसे दुरूह और गम्भीर विषय को भी सरल, प्रवाहमयी और स्पष्ट शैली में समझाने का प्रशंसनीय प्रयास किया[4] है। इन्होंने शब्दों के अनुशासनसम्बन्धी विचारों के साथ-साथ व्याकरण के दार्शनिक विचारों का भी उल्लेख यत्र तत्र किया है। इनकी प्रशंसा में भर्तृहरि के वचन ध्यान देने योग्य हैं—

कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थ-दर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने[5]।

---

१. उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्त्तिकं प्राहुः वार्त्तिकज्ञा मनीषिणः॥

२. "यथा लौकिकवैदिकेषु" वार्त्तिकपर भाष्य (प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः)।

३. कात्य, कात्यायन, भारद्वाज, सुनाम, क्रोष्टा, वाडव (द्र० सं० व्या० इति० प्र० भा० पृ० २६०)।

४. द्र० संस्कृत शास्त्रों का इतिहास पृ० ४४८।

५. वा० प० २।४८६

विभिन्न शास्त्रों के व्याख्या-ग्रन्थों के लिये 'भाष्य' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। परन्तु पतञ्जलि का भाष्य अपने अनुपम वैशिष्ट्य के कारण 'महाभाष्य' कहा जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पतञ्जलि से पहले भी कोई भाष्य ग्रन्थ लिखा गया[1] था उससे भेद दिखाने और अन्य भाष्यों की अपेक्षा अपने मतों को भी 'इष्टि' के माध्यम से प्रस्तुत करने के कारण इनका व्याख्यान 'महाभाष्य' कहा जाता है।

पतञ्जलि का जन्मकाल भी विवादग्रस्त है। पाश्चात्य विद्वान् और उनके अनुयायी इनका काल ई० पू० १५० वर्ष मानते हैं जो कि पुष्यमित्र का शासन-काल माना जाता[2] है। परन्तु युधिष्ठिर मीमांसक[3] ने पाश्चात्यों के तर्कों का निराकरण करते हुए ई० पू० १००० के लगभग माना है। जो भी हो, इतना निश्चित है कि ये पाणिनि से सैकड़ों वर्षों बाद ही उत्पन्न हुए थे। इनके समय तक पाणिनीय नियमों का प्रचलन हो चुका था। साथ ही साथ उनके विपरीत भी शब्दों का प्रयोग हो रहा था। ऐसे शब्दों का साधुत्व दर्शाने के लिए पतञ्जलि ने 'इष्टियों' का आश्रयण लिया है और शास्त्रीय नियमों की अपेक्षा लोकव्यवहार की प्रधानता स्वीकार की है।[4] अनेक प्रसङ्गों में इन्होंने लोकव्यवहार[5] को ही सर्वोपरि मानकर व्यवस्था स्वीकार कर वैसे प्रयोग की छूट दी है।

जिस प्रकार इनका जीवनकाल विवादग्रस्त है उसी प्रकार जन्म-स्थान भी। युधिष्ठिर मीमांसक ने इन्हें कश्मीर क्षेत्र का माना है क्योंकि कश्मीर के प्रति इनका मोह दिखाई देता[6] है। परन्तु पं० बलदेव उपाध्याय ने इन्हें काशी-मण्डल का ही

---

१. महाभाष्य के अवलोकन से ज्ञात होता है कि उससे पूर्व वार्त्तिकों पर अनेक भाष्य ग्रन्थ लिखे गये थे। वे इस समय अनुपलब्ध हैं। सं० व्या० इति० प्र० भा० पृ० ३०८

२. प्रवृत्तस्याविरामे शासितव्या भवन्ती (=लटः पूर्वाचार्यसंज्ञा)।···इह पुष्यमित्रं याजयामः। (म० भा० ३।२।१२६)

३. द्र० सं० व्या० इति० प्र० भा० पृ० ३२९

४. किं च भो इष्यत एतद्रूपम्? बाढमिष्यते। एवं हि कश्चिद् वैयाकरण आह—कोऽस्य रथस्य प्रवेतेति। सूत आह—अहमायुष्मन्नस्य रथस्य प्राजितेति। वैयाकरण आह—अपशब्द इति। सूत आह—प्राप्तिज्ञो देवानां प्रियः, नत्विष्टिज्ञः। इष्यते—एतद्रूपमिति। म० भा० २।४।५६

५. लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य। म० भा०

६. सं० व्या० इति० प्र० भा० पृ० ३१५-१६

मानने का प्रस्ताव किया है। पतञ्जलि के भौगोलिक ज्ञान, भोजन, दिनचर्या, नामकरण आदि पूर्वी क्षेत्र से अधिक मिलते[1] हैं। अब समस्या है—'गोनर्दीय' शब्द की। इसका मूल शब्द गोनर्द है। इसकी व्युत्पत्ति—गावः नर्दन्ति यत्र सः—ऐसी है। इसके अनुसार जहाँ गायें अच्छी नस्ल की होती हैं वह गोनर्द है। इससे हरियाणा, पंजाब का क्षेत्र प्रतीत होता हैं। कुछ लोग वर्तमान 'गोंडा' को गोनर्द का मूल मान्ते हैं। जो भी हो, ये उत्तर भारत के ही थे।

पतञ्जलि शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर इनका जंन्म माना जाता है—(१) पतन्ति अञ्जलयो नमस्कार्यतया यस्मिन् सः—[पतत्+अञ्जलि में अत्=टि का पररूप करने पररूप बनता है।] (२) अञ्जलेः पतितः—इस विग्रह में मयूर-व्यंसकादि मानकर निपातन से इत का लोप करके—पत् अञ्जलि=पतञ्जलि बनता है।[2] प्रथम के अनुसार सूर्यादि के लिए जलाञ्जलि देते समय इनकी उत्पत्ति हुई और वह जलाञ्जलि इन पर गिरती रही। दूसरी के अनुसार भी अञ्जलि से ही उत्पत्ति हुई।

इनके महाभाष्य में एक साथ अनेक प्रश्नों और उनके उत्तरों को देखकर विद्वानों ने इन्हें सहस्र जिह्वाओं वाले शेषनाग का अवतार माना है। इसीलिए फणी, फणिभृत्,' शेषाहि, नागनाथ—आदि नाम प्रसिद्ध हैं। इन्हें गोणिकापुत्र भी कहा जाता है। यह सम्भवतः इनकी माता के नाम के अनुसार[3] है। अनेक नामों के कारण इनका व्यक्तित्व और महत्त्वपूर्ण हो जाता है। चूर्णिकार नाम के कारण इनकी शैली की विशेषता प्रकट होती है।

महाभाष्य

पाणिनि की अष्टाध्यायी के सूत्रों पर कात्यायनादि द्वारा प्रणीत वार्तिकों के आधार पर विशिष्ट शैली में लिखा गया व्याख्यान ग्रन्थ महाभाष्य नाम से प्रसिद्ध है।

'सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः[4] ॥'

इसको महाभाष्य क्यों कहा जाता है—इस पर ऊपर लिखा जा चुका है। यह व्याख्यान ग्रन्थ पाणिनि के प्रमुख और महत्त्वपूर्ण सूत्रों पर ही लिखा गया है। इसका विभाजन आह्निकों में है—'अह्ना निर्वृत्तम्—आह्निकम्'—इस व्युत्पत्ति से

---

१. संस्कृत शास्त्रों का इति० पृ० ४४९-५०
२. द्र० सभापति शर्मोपाध्यायकृत लक्ष्मी टीका सिद्धान्तकौमुदी 'अचोऽन्त्यादि टि०' (१।१।६४) पर।
३. पतञ्जलिकालीन भारत पृ० ५० में पतञ्जलिचरित—२।७।११ से उद्धृत।
४. महाभाष्य—छाया व्याख्या के प्रारम्भ में उद्धृत।

यह प्रतीत होता है कि एक एक दिन के अध्यापनीय या अध्यापित विषय का संग्रह एक एक आह्निक में किया गया है। प्रथम आह्निक भूमिकात्मक है और इसे 'पस्पशा' नाम से कहा जाता[१] है।

प्रथम आह्निक में मुख्य रूप से शब्द का स्वरूप, व्याकरणाध्ययन के प्रयोजन, अनुशासन की पद्धति, शब्द-अर्थ-सम्बन्ध की नित्यता, व्याकरण शास्त्र द्वारा नियम का बोधन, अप्रयुक्त शब्दों के भी अन्वाख्यान की आवश्यकता, शुद्ध शब्दों के ज्ञान में धर्म की उत्पत्ति, व्याकरण पद का अर्थ और अइउण् आदि वर्ण-समाम्नाय के उपदेश के प्रयोजन प्रतिपादित हैं।

महाभाष्य की व्याख्यायें

महाभाष्य जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के गूढ आशयों को व्यक्त करने के लिए समय-समय पर अनेक व्याख्यान ग्रन्थ लिखे जाते रहे। परन्तु सम्प्रति उपलब्ध व्याख्याओं में भर्तृहरि की महाभाष्यदीपिका[२] ही सबसे प्राचीन मानी जाती है। उसके पहले भी अनेक टीकाएँ लिखीं गईं होगीं किन्तु उनका कोई संकेत या उल्लेख इस समय नहीं मिलता है। भर्तृहरि की दीपिका प्रारम्भिक तीन आह्निकों पर ही प्रकाशित है। वाक्यपदीय भी इन्हीं भर्तृहरि की अमर कृति है। इसमें ब्रह्मकाण्ड, वाक्यकाण्ड और पदकाण्ड—तीन काण्ड हैं। भर्तृहरि का समय चतुर्थ और पंचम शती के मध्य माना जाता है[३]।

भर्तृहरि के बाद कुछ और भी टीकायें लिखी गईं जिनमें जैय्यटपुत्र कैयट का **प्रदीप** व्याख्यान सर्वातिशायी है। यह पूरे महाभाष्य पर लिखा गया है। कैयट ने भर्तृहरि की उपजीव्यता स्पष्ट शब्दों में स्वीकार की[४] है। यदि कैयट का प्रदीप न होता तो आज महाभाष्य का रहस्य तो दूर रहा, साधारण गम्भीर विषय भी समझना कठिन हो जाता। कैयट कश्मीर के निवासी थे[५]। ये उपाध्याय जैय्यट के पुत्र थे[६]। हरदत्त की पदमञ्जरी निश्चितरूपेण कैयट के प्रदीप से प्रभावित है। पदमंजरीकार धर्मकीर्ति (रूपावतार के रचयिता) के पूर्ववर्त्ती हैं। सर्वानन्द ने

---

१. पस्पशा शब्द की व्युत्पत्ति मूलग्रन्थ के प्रारम्भ में टि० में देखें।

२. इसके तीन आह्निक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुये हैं।

३. संस्कृत शास्त्रों का इतिहास पृ० ४७१

४. तथापि हरिबद्धेन सारेण ग्रन्थ-सेतुना।
क्रममाणः शनैः पारं तस्य प्राप्तास्मि पङ्गुवत् ॥ प्रदीप मंगलश्लोक ॥ ७ ॥

५. द्र० सं० व्या० इति० प्र० भा० पृ० ३६५

६. इत्युपाध्याय-जैयट-पुत्र-कैयटकृते महाभाष्य-प्रदीपे···। (आह्निकों के अन्त में)

अमरव्याख्यान 'टीका-सर्वस्व' की रचना ११५८ ई० (१२१५ सं०) में की, उसमें मैत्रेयरक्षित के धातुप्रदीप का उल्लेख है और धातुप्रदीप में धर्मकीर्ति के रूपावतार का। इस प्रकार कैयट का समय लगभग १०५० ई० माना जाना चाहिए।[१]

कैयट के अतिरिक्त ज्येष्ठकलश, मैत्रेयरक्षित, पुरुषोत्तमदेव, धनेश्वर, शेष-नारायण, विष्णुमित्र, नीलकण्ठ वाजपेयी, शेषविष्णु, शिवरामेन्द्र सरस्वती, प्रयाग-वेङ्कटाद्रि, तिरुमलयज्वा, कुमारतातय, राजन् सिंह, नारायण, सर्वेश्वर दीक्षित और गोपालकृष्ण शास्त्री इन १६ विद्वानों ने महाभाष्य पर संस्कृत-व्याख्यायें लिखीं।[२]

कैयटकृत प्रदीप सर्वातिशायी होने से सर्वाधिक प्रचलित हुआ। किन्तु इसको भी समझना साधारण नहीं था, अत एव उत्तरवर्त्ती अनेक विद्वानों ने प्रदीप पर भी व्याख्यायें लिखीं। जिनकी संख्या १५[३] है। इनमें नागेशभट्ट-कृत उद्द्योत सर्वश्रेष्ठ और अत्यन्त गंभीर है।

नागेश भट्ट उपनाम-काल अपने समय के अति प्रौढ वैयाकरण माने जाते हैं। इन्होंने न केवल व्याकरण पर अपितु सभी शास्त्रों पर रचनायें की हैं। इन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन सारस्वत साधना में ही लगा दिया था।[४] नागेश भट्ट का समय १७वीं शती का मध्यभाग माना जाता है। इन्होंने वृद्धावस्था में क्षेत्रसंन्यास ले लिया था इस कारण जयपुर के महाराज के यज्ञ में सम्मिलित नहीं हुए थे। वह यज्ञ १७४२ ई० में हुआ था, ऐसा माना जाता है।[५]

नागेश ने अपने उद्द्योत में केवल कैयटीय प्रदीप की ही व्याख्या नहीं की है अपितु अनेक स्थलों पर महाभाष्य की भी व्याख्या की है। नागेश हरिदीक्षित के प्रधान शिष्य थे। शिवभट्ट और सतीदेवी इनके माता-पिता थे। सम्भवतः इनकी कोई सन्तान नहीं थी। इसीलिए अपने अमर ग्रन्थ—शब्देन्दुशेखर और अनुपमकृति वैयाकरण-सिद्धान्त-लघुमञ्जूषा को माता सती और पिता शिव (शिव + पार्वती) को समर्पित किया है।[६]

---

१. द्र० सं० शा० का इतिहास पृ० ४८१
२. द्र० सं० व्या० इति० महाभाष्य के टीकाकार
३. द्र० सं० व्या० इति० 'महाभाष्य प्रदीप' के व्याख्याकार।
४. सर्वशास्त्रार्थ-तत्त्वज्ञः सर्वत्र च निबन्धकृत् ॥ (लघुमञ्जूषा की समाप्ति में)
५ यह प्रख्यात अश्वमेध आषाढ़ वदी द्वितीया संवत् १७९९ (१७४२ ई०) को जयपुर में सम्पन्न हुआ था। (सं० शा० का इति० पृ० ५२३)
६. शब्देन्दुशेखरः पुत्रः मञ्जूषा चैव कन्यका।
स्वमतौ सम्यगुत्पाद्य शिवयोरर्पितौ मया ॥ (लघुमञ्जूषा की समाप्ति में)

आज महाभाष्य के यथार्थ अभिप्राय को समझने के लिए कैयटीय प्रदीप और नागेशीय उद्द्योत ही सहायक माने जाते हैं।[1]

महाभाष्य की हिन्दी-व्याख्यायें

आज के अध्येताओं की सुविधा के लिये अनेक विद्वानों ने महाभाष्य पर आधुनिक भाषाओं में भी टीकाएँ लिखीं हैं। इनमें सर्वप्रथम महामहोपाध्याय श्री काशीनाथ वासुदेव अभ्यङ्कर हैं जिन्होंने मराठी भाषा में महाभाष्य का अनुवाद किया। चारुदेव शास्त्री ने हिन्दी में नवाह्निक तक अनुवाद (टिप्पणी-सहित) प्रकाशित कराया। मधुसूदन मिश्र ने पाँच आह्निक तक हिन्दी-अनुवाद (टिप्पणी-सहित) प्रकाशित कराया। सन् १९७९ में मैंने 'प्रकाश' व्याख्या टिप्पणी-सहित हिन्दी व्याख्या पस्पशाह्निकपर्यन्त प्रकाशित करवायी थी। कुछ अन्य विद्वानों ने भी पस्पशाह्निक पर्यन्त की हिन्दी-व्याख्यायें लिखी।

प्रस्तुत व्याख्या-भावबोधिनी

पूर्व प्रकाशित[2] अपनी हिन्दी-व्याख्या (प्रकाश) की लोकप्रियता देखकर मेरा उत्साहवर्धन हुआ और अब सम्पूर्ण नवाह्निक भाग की हिन्दी-व्याख्या लिखने की योजना के अन्तर्गत यह प्रथम 'पस्पशाह्निक' की व्याख्या 'भावबोधिनी' नाम से प्रकाशित हुई है। इसमें पहले की अपेक्षा कुछ और अधिक सरलता और उपयोगिता का ध्यान रखा गया है। पहले केवल हिन्दी-व्याख्या थी। इस संस्करण में कैयटीय प्रदीप भी होने से भाष्य का आशय समझने में निश्चित ही अधिक सहायता प्राप्त होगी।

पस्पशाह्निक के प्रतिपाद्य विषय

व्याकरण का प्राचीनतम अन्वर्थ नाम है—शब्दानुशासन। पाणिनि सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय के तत्त्ववेत्ता थे। इन्होंने अपने अनुशासन में वैदिक और लौकिक उभयविध शब्दों को विषय बनाया है। चूंकि वैदिक शाखायें अनेक थीं, अतः सभी शब्दों का अनुशासन न करके कुछ महत्त्वपूर्ण सामान्य शब्दों का ही ग्रहण किया है। स्वरों के सिद्धान्त में विशेष प्रतिपादन किया है। उभयविध शब्दों का विवेचन पाणिनि की महती विशेषता रही है। पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य के प्रारम्भ में

---

१. नागेश भट्ट के जीवन-वृत्त और कृतियों के विषय में विशेष ज्ञान के लिए चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी से प्रकाशित मेरी संस्कृत-हिन्दी टीका-सहित —"परमलघुमञ्जूषा' देखनी चाहिए।

२. सन् १९७९ में प्रकाशित और 'उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी लखनऊ' द्वारा पुरस्कृत।

ही इस विषय में स्पष्टीकरण दे दिया है। प्रथम पस्पशा-आह्निक भूमिकात्मक है। इसमें अनेक उपयोगी विषयों का विवेचन किया गया है। उनका सार यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

द्विविध शब्द

अनुशासन के कर्म (लक्ष्य) शब्द दो प्रकार के हैं—वैदिक और लौकिक। यद्यपि वैदिक शब्द भी इसी लोक के अन्तर्गत ही होने से लौकिक माने जा सकते हैं परन्तु भाषा की दृष्टि से वेद और सामान्य लोक-भाषा के शब्दों को अलग-२ माना जाता है। इसके अतिरिक्त वैदिक शब्दों की उपपत्ति वैसी ही करनी होती है जैसा उनका प्रयोग दिखाई देता है। इसीलिए लौकिक शब्दों के उदा० "गौः, अश्वः शकुनिः" आदि दिये गये हैं किन्तु वैदिक के उदा० वेदमन्त्रों को ही दिया गया है—"शन्नो देवीरभीष्टये··· ।" "इषेत्वोर्जेत्वा०" आदि। इसलिये वैदिकों के नियम लक्ष्य-प्रधान और लौकिकों के लक्षण-प्रधान माने जाते हैं।

शब्द का द्विविध रूप

लोक-व्यवहार में शब्द और अर्थ का अभेद भी देखा जाता है। इसलिए सबसे अलग करके शब्द का स्वरूप प्रतिपादित करना है, जिस शब्द का अनुशासन इष्ट है। सामने खड़े हुये जीव-विशेष को देखकर 'यह गाय है' ('अयं गौः') ऐसा ज्ञान होता है। इस ज्ञान के विषयभूत जितने भी पदार्थ हैं अर्थात् जिन-जिन का ज्ञान होता है उनमें कौन सा पदार्थ शब्द है, शब्द किसे समझा जाय ? इस प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार ने उक्त ज्ञान में भासित होने वाले—गोव्यक्ति, उसकी क्रियायें, उसका रंग और उसमें रहने वाले सामान्य धर्म (जाति) में शब्दत्व का विचार रखा और यह कहकर खण्डन कर दिया कि ये सभी व्यक्ति (द्रव्य) आदि हैं, शब्द नहीं है। इनसे भिन्न शब्द होता है। भाष्यकार ने शब्द के दो स्वरूप प्रदर्शित किये हैं। उनमें एक व्याकरण शास्त्र का सूक्ष्म शब्दतत्त्व है और दूसरा लोकप्रसिद्ध ध्वनि रूप—

(१) शब्द वह तत्त्व है जो वैखरी ध्वनि से अभिव्यक्त होता हुआ सींग, पूँछ, खुर आदि से युक्त पशु-विशेष रूप अर्थ का सम्प्रत्यायक (वाचक) होता है। पारिभाषिक रूप में इसे 'स्फोट' कहा जाता है। यह नित्य, विभु, अखण्ड माना जाता है। स्फोट की द्विविध व्युत्पत्ति है—(क) स्फुटचते=अभिव्यज्यते वैखरी-ध्वनिरूप-वर्णैरिति स्फोटः—जो उच्चार्यमाण वैखरी क ख आदि ध्वनियों से अभिव्यक्त होता है।

(ख) स्फुटति=व्यक्तीभवति अर्थोऽस्मात्–इति स्फोटः—जिससे अर्थ की अभि-व्यक्ति=प्रतीति होती है वह 'स्फोट' है। वही अर्थ का वाचक है।

(२) किन्तु इस प्रकार के स्फोटात्मक शब्द का ज्ञान सामान्य लोगों को नहीं होता है। वे ध्वनि को ही शब्द मानते हैं। इसीलिए जिस ध्वनि से अर्थ की प्रतीति होती है वह ध्वनि ही शब्द है। वैयाकरण और मीमांसक के अतिरिक्त नैयायिकादि इस ध्वनि को ही शब्द मानते हैं। स्फोट रूप शब्द का खण्डन करते हैं। भर्तृहरि, भट्टोजिदीक्षित, कौण्डभट्ट और नागेश आदि वैयाकरणों ने स्फोटवाद का समर्थन अनेक तर्कों और प्रमाणों से किया है।[1]

शब्दानुशासन के प्रयोजन

(क) मुख्य प्रयोजन

किसी भी महत्त्वपूर्ण कार्य को करने के पहले उसके प्रयोजनों का ज्ञान होना आवश्यक माना जाता है क्योंकि "प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते" ऐसी प्रसिद्धि है। व्याकरण के अध्ययन जैसे दुरूह और श्रमसाध्य कार्य में कोई तभी प्रवृत्त होगा जब उसे अध्ययन के प्रयोजन समझाये जाँय। इसलिए भाष्यकार ने शब्दानुशासन के प्रयोजन दो प्रकार से समझाये हैं। मुख्य प्रयोजन पाँच हैं[2]— (१) रक्षा, (२) ऊह, (३) आगम, (४) लघु और (५) असन्देह।

(१) वेदों की रक्षा—व्याकरण के अध्ययन से ही वैदिक और लौकिक रूपों में अन्तर समझा जा सकता है। लोप, आगम और वर्णविकार देखकर किसी व्यक्ति को वैदिक शब्द में अशुद्धि का भ्रम हो सकता है। परन्तु वैयाकरण को ऐसा नहीं होता है। वह जानता है कि किस शब्द का लौकिक रूप क्या है और वैदिक क्या। इसलिए वह वैदिक शब्दों में अशुद्धि न समझकर उनका शुद्ध ज्ञान करते हुए वेदों की रक्षा कर सकता है।

(२) ऊह—'प्रकृति के समान विकृति करनी चाहिए' ऐसा मीमांसकों का मत है। प्रकृति-याग में सर्वविधियाँ उपदिष्ट रहती हैं। विकृति-यागादि में उसी के अनुसार कल्पित करनी पड़ती हैं, यह 'ऊह' कहा जाता है। इसमें प्रकृति–ऊह, प्रत्यय–ऊह आदि का ज्ञान व्याकरण के अध्ययन से ही सम्भव होता है। वैयाकरण ही आवश्यकतानुसार प्रकृति या प्रत्यय के रूपों का विपरिणाम कर सकता है।

(३) आगम—'प्रयोजनम्' यहाँ पाँच प्रयोजन शब्दों के एकशेष में एक पुंल्लिङ्ग भी है—प्रयोजनः=प्रयोजकः। उनका एकवद्भाव होने से 'प्रयोजनम्' यह 'प्रयोजनानि'

---

१. भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय, मण्डनमिश्रकृत स्फोटसिद्धि, भट्टोजिदीक्षित तथा कौण्डभट्टकृत वैयाकरण-भूषण और सार, नागेशभट्टकृत मञ्जूषात्रयी आदि ग्रन्थो में स्फोटवाद का विशद विवेचन है।

२. रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्। पस्पशा० पृ० १३

का पर्याय[1] ही है। आगम=वेद व्याकरणाध्ययन का प्रयोजन=प्रयोजक है—"ब्राह्मण को किसी दृष्ट कारण की अपेक्षा किए विना ही छः अङ्गों सहित वेद का अध्ययन और ज्ञान करना चाहिए।" शिक्षा, कल्प आदि छः अङ्गों में व्याकरण प्रधान है—'मुखं व्याकरणं स्मृतम्।' प्रस्तुत वेद-वाक्य व्याकरणाध्ययन की नित्य-कर्मता भी बोधित करता है।

(४) लघु—लघुभूत उपाय से अनन्त शब्द-रूपों का ज्ञान कराना भी व्याकरणाध्ययन का फल है। क्योंकि उत्सर्ग और अपवाद नियमों के द्वारा व्याकरण से अनेक शब्दों का ज्ञान सरलतया हो जाता है। अधिक से अधिक शब्दों के ज्ञान से ही अध्यापनादि में सफलता और यश की प्राप्ति होती है।

(५) असन्देह—सन्देह न होना। वास्तव में यहाँ सन्देह का प्रागभाव इष्ट है। वैयाकरण को सन्देह होता ही नहीं है। अन्य व्यक्ति को सन्देह हो सकता है। वैदिक शब्दों के अर्थ-निर्णय में स्वरों का बड़ा महत्त्व है। स्वरों का सम्यक् ज्ञान व्याकरण के अध्ययन से ही होता है। उदाहरणार्थ—"स्थूलपृषतीमाग्निवारुणी-मनड्वाहीमालभेत" यहाँ 'स्थूलपृषतीम्' पद में तत्पुरुष और बहुव्रीहि का सन्देह है—(१) स्थूला चासौ पृषती च। (२) स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा। वैयाकरण यहाँ पूर्वपद (स्थूल) का प्रकृतिस्वर (अन्तोदात्त) देखकर यह निर्णय कर लेता है कि इसमें बहुव्रीहि[2] ही है, कर्मधारय तत्पुरुष नहीं। इसलिए यह भी प्रयोजन है। वास्तव में यह रक्षा के अन्तर्गत भी माना जा सकता है। अतः यहाँ कोई ऐसा उदाहरण होना चाहिए था जो पूर्वोक्त चारों में अन्तर्भूत न हो सकता।

(ख) आनुषङ्गिक=गौण प्रयोजन

महाभाष्य में रक्षा, ऊह, आगम, लघु और असन्देह—इन पाँच मुख्य प्रयोजनों का प्रतिपादन करने के बाद—"तेऽसुराः' प्रतीक से लेकर "सुदेवो असि वरुण" इस प्रतीक तक तेरह आनुषङ्गिक[3] प्रयोजन प्रदर्शित किये गए हैं।

(१) "तेऽसुराः हेऽलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः।" इस वैदिक आख्यान से ज्ञात होता है कि अपशब्द के प्रयोग से म्लेच्छ बनना पड़ता है और पराजित होना पड़ता है। अतः शुद्ध शब्दों का प्रयोग करने के लिए व्याकरण पढ़ना चाहिए।[4]

---

१. नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम् (पा० सू० १।२।५९) से सभी का एकशेष एकवद्भाव होता है।
२. बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्। (पा० सू० ६।२।१)
३ प्रधानत्वादेव तेषां प्रथमतोऽभिधानमिति भावः। तेषां प्रधानत्वं च पदपदार्थ-ज्ञानाधीनत्वेनान्तरङ्गत्वात्। वक्ष्यमाणानां च बहिरङ्गशब्दापशब्दप्रयोगविधि-निषेधविषयत्वादानुषङ्गिकत्वं बोध्यम्।' (उद्द्योत)
४. द्र० पृ० २०

(२) यदि कोई शब्द वर्ण या स्वर की दृष्टि से दोषयुक्त हो जाता है तो वह अभीष्ट अर्थ को नहीं कह पाता है। वह वाग्वज्र बनकर यजमान का विनाश उसी प्रकार कर डालता है जिस प्रकार 'स्वाहेन्द्र-शत्रुर्वर्धस्व' के 'इन्द्रशत्रु' शब्द ने वृत्र का वध करा दिया।[1] अतः दुष्ट शब्दों के प्रयोग से बचने के लिए व्याकरण पढ़ना चाहिए।

(३) जिसे केवल पढ़ा गया, अर्थ का ज्ञान नहीं किया गया, वह उसी प्रकार व्यर्थ हो जाता है जिस प्रकार अग्निरहित स्थान पर रखी गई सूखी लकड़ी।[2] अतः अर्थ-सहित अध्ययन और ज्ञान करने के लिए भी व्याकरण पढ़ना चाहिए।

(४) जो वाग्योगवित् (शब्दार्थ-सम्बन्धवेत्ता) उचित व्यवहार-काल में उचित शब्द का ही प्रयोग करता है, वह न केवल इस लोक में अपितु परलोक में भी विजय प्राप्त करता है।[3] इसलिए उचित शब्द के प्रयोग करने की शक्ति प्राप्त करने के लिए भी व्याकरण शास्त्र का अध्ययन आवश्यक है।

(५) जो अविद्वान् व्यक्ति प्रत्यभिवादन में टि का प्लुत करना नहीं जानता है, उसे स्त्री के समान साधारण रूप से ही प्रणाम करना चाहिए।[4] प्लुत-विधान का ज्ञान करने के लिए व्याकरण पढ़ना चाहिए जिससे उसके साथ स्त्री के समान व्यवहार न किया जा सके।

(६) 'प्रयाज मन्त्र सविभक्तिक करने चाहिए' ऐसा विधान है। व्याकरण-ज्ञान के विना प्रयाज के मन्त्रों को विभक्ति-सहित करना सम्भव नहीं है। अतः ऐसा 'ज्ञान प्राप्त करना' भी व्याकरणाध्ययन का फल है।[5]

(७) ऋत्विक् कर्म को करने वाला या कराने वाला अर्थात् आचार्य और यजमान वही बन सकता है जो वेदरूपा वाणी को पद, स्वर और अक्षरों की दृष्टि से संस्कारयुक्त कर सकता[6] है। ऐसा सामर्थ्य व्याकरणाध्ययन से ही प्राप्त हो सकता है। अतः यह भी फल है।

---

१. दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥ (पृ० २१)

२. यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥ (पृ० २३)

३. यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः॥ (पृ० २३)

४. अविद्वांसो प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः।
कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत्॥ (पृ० २७)

५. द्र० पृ० २८ "प्रजायाः सविभक्तिकाः कार्याः।

६. यो वा इमां पदशः स्वरशोऽक्षरशो वाचं विदधाति स आर्त्विजीनो भवति। (पृ० २९)

(८) 'चत्वारि शृङ्गा'[१] आदि मन्त्र से यह ज्ञात होता है कि शब्दरूपी वृषभ मनुष्यों में आविष्ट है, अन्तर्यामिरूपेण है। उसके साथ सायुज्य=ऐक्य प्राप्त करने के लिए व्याकरण शास्त्र का अध्ययन करते हुए शब्दतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना भी फल है।

अथवा चार प्रकार के पद हैं। उनमें तीन अज्ञानरूपी गुफा में छिपे हैं। केवल चतुर्थ का ही प्रयोग किया जाता है।[२] अन्य तीन रूपों का सम्यग् ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी व्याकरणाध्ययन करना चाहिए।

(९) कुछ लोग वाणी को देखते हुए भी नहीं देख पाते हैं और सुनते हुये भी नहीं सुन पाते हैं क्योंकि उन्हें अर्थ का ज्ञान नहीं होता है। परन्तु जो वैयाकरण हैं उन्हें वाणी का सम्पूर्ण रूप दिखाई देता[३] है, समझ में आ जाता है, किसी प्रकार का आवरण नहीं रहता है। हमें भी वाणी का सम्पूर्ण रूप ज्ञात हो सके। इसके लिए व्याकरणाध्ययन करना चाहिए।

(१०) जिस प्रकार चलनी से उपयोगी आटा या सत्तू और भूसी अलग-अलग कर दी जाती है उसी प्रकार चिन्तनशील विद्वान् पुरुष अपने प्रज्ञान से शब्द और अपशब्द का पार्थक्य कर लेते हैं। वे शब्दतत्त्व के विषय में सम्यग् ज्ञान करके शब्दब्रह्म को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं क्योंकि उनकी वाणी में लक्ष्मी-शक्ति रहती है।[४]

(११) यज्ञ में अपशब्द का उच्चारण करने पर प्रायश्चित्तीय सारस्वती इष्टि करनी पड़ती[५] है। अतः शुद्ध शब्दों का ज्ञान और उन्हीं का प्रयोग करने के लिये व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

(१२) लौकिक व्यवहार-ज्ञान के लिए भी व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है। ऐसा वेद वचन है—"उत्पन्न सन्तान के जन्म की दशवीं रात्रि के बाद उसका नाम रखना चाहिए। नाम कृदन्त ही होना चाहिए तद्धितान्त नहीं।"[६] कृत् और तद्धित प्रत्ययों का ज्ञान व्याकरण से ही होता है, इसलिए भी व्याकरण पढ़ना चाहिए।

---

१. चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश॥ (पृ० ३०)

२. चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥ (पृ० ३३)

३. उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुतत्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥ (पृ० ३४)

४. सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि॥ (पृ० ३५)

५. आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेत्। (पृ० ३८)

६. ···द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा कृतं कुर्यान्न तद्धितम्। (पृ० ३९)

(१३) वरुण की जिह्वा पर सदैव सभी विभक्तियों के रूप रहते हैं। अतः वे सदैव सत्यदेव हैं।[१] कभी भी अशुद्ध उच्चारण नहीं करते हैं। हम भी सदैव सही-शुद्ध उच्चारण करके सत्यदेव बन सकें, इसके लिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

पूर्वोक्त तेरह प्रयोजनों से व्याकरणाध्ययन की उपयोगिता सुस्पष्ट हो जाती है।

शब्दानुशासन की पद्धति

शब्दों का अनुशासन करना है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि १. शुद्ध संस्कृत शब्दों का अनुशासन किया जाय अथवा २. अपशब्दों का अथवा ३. दोनों का ? उत्तर यह है कि दोनों के अनुशासन की आवश्यकता नहीं है, किसी एक के अनुशासन से भी निर्वाह हो सकता है, दूसरे का ज्ञान स्वतः हो सकता है। जैसे "पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः" ऐसा कह देने पर पाँच नाखून वाले शशक, शल्यकी गोधा, खड्गी, कूर्म--इन पाँच को हीं खाना चाहिए, इनसे भिन्न पाँच नाखून वाले किसी को नहीं खाना चाहिए—यह अर्थात् प्रतीत हो जाता है।[२] यहाँ विधान से निषेध की अर्थतः प्रतीति है। "अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः, अभक्ष्यो ग्राम्यसूकरः" ऐसा कह देने से गाँव वाले मुर्गे और सुअर का भक्षण निषिद्ध होकर अर्थात् जंगली मुर्गे और सुअर के भक्षण की प्रतीति फलित होती है।[३]

शब्दोपदेश के विषय में भी उपर्युक्त स्थिति ही है। यदि 'गौः' ऐसे साधु (शुद्ध) संस्कृत शब्द का उपदेश किया जाता है तो इससे भिन्न—गावी, गोणी, गोता आदि अपशब्द हैं—यह ज्ञान स्वतः हो जाता है। इसके विपरीत यदि यह कहा जाय—गावी, गोणी, गोता आदि अपशब्द हैं तो यह अर्थतः प्रतीत हो जाता है कि 'गौः' यह शुद्ध शब्द है। ऐसी स्थिति में शब्द (शुद्ध) या अपशब्द किसी एक के ही उपदेश से दूसरे का ज्ञान स्वतः हो जाता है, दूसरे के उपदेश की आवश्यकता नहीं है।

चूंकि शुद्ध शब्दों की संख्या कम है, अतः उनके उपदेश में लाघव है। साथ ही उन्हीं के ज्ञान के लिए अनुशासन भी किया जाता है, अतः शुद्ध शब्दों का ही उपदेश करना उचित है।[४]

उन शुद्ध शब्दों के उपदेश करने की दो पद्धतियाँ हो सकती हैं—

---

१. सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव ॥ (पृ० ४०)

२. भक्ष्यनियमेनाभक्ष्यप्रतिषेधो गम्यते। (पृ० ४४)

३. अभक्ष्यप्रतिषेधेन च भक्ष्यनियमः। (पृ० ४४)

४. लघुत्वाच्छब्दोपदेशः। "इष्टान्वाख्यानं खल्वपि भवति। (पृ० ४६)

(१) प्रत्येक पद का पाठ करके (प्रतिपद का) अनुशासन करना।

(२) कुछ सामान्य शास्त्र बनाना और लक्ष्यानुसार कुछ अपवाद शास्त्र बनाकर अभीष्ट शब्दों का अनुशासन करना।

इनमें प्रतिपद-पाठ द्वारा अनुशासन सम्भव नहीं है। क्योंकि ऐसी श्रुति है कि एक बार देवगुरु बृहस्पति ने देवराज इन्द्र को देवताओं के एक सहस्र वर्षों तक प्रतिपद पाठ पढ़ाया था किन्तु वे इस कार्य में सफल नहीं हो सके थे। विद्या की सफलता के लिए चार अवस्थायें पार करनी पड़ती हैं—(१) गुरुमुख से सुनकर अध्ययन करना, (२) अधीत विषय का स्वयं चिन्तन और अभ्यास करना, (३) अपने से कम जानने वालों को पढ़ाना–अध्यापन, (४) यागादि सामूहिक कार्यों में सबके समक्ष अपने ज्ञान का व्यावहारिक रूप से प्रदर्शन करना।[1] किन्तु आज का (पतञ्जलि के समय) मनुष्य अधिक से अधिक सौ वर्षों तक ही जीवित रह सकता है। ऐसी दशा में केवल पढ़ने में ही सारी आयु समाप्त हो जायगी। शेष तीन अवस्थायें अधूरी रह जायेंगी। इसलिए कुछ सामान्य शास्त्र, जैसे "कर्मण्यण्" और कुछ इसके अपवाद शास्त्र, जैसे—"आतोऽनुपसर्गे कः" बनाकर सभी प्रकार के शब्दरूपों का अनुशासन करना चाहिए।[2] इसमें लाघव है। यह पद्धति लक्षण-प्रधान है। प्रतिपद-पाठ लक्ष्य-प्रधान होने से गौरवग्रस्त है।

पद का अर्थ जाति है या व्यक्ति (द्रव्य) ?

पद से व्यक्ति (द्रव्य) रूप अर्थ की प्रतीति होती है या जाति रूप अर्थ की—इस विषय में शास्त्रकारों में मतभेद है। अनन्त व्यक्तियों में शक्तिग्रह कराने से आनन्त्य दोष और अगृहीतशक्तिक व्यक्ति के बोध में व्यभिचार दोष होता है। इसलिए मीमांसक जातिरूप अर्थ का समर्थन करते है। नैयायिक 'जात्याकृति-व्यक्तयस्तु पदार्थः' इस गौतमसूत्र के अनुसार जात्यादि-विशिष्ट में शक्ति मानते हैं। परन्तु पाणिनि का आग्रह नहीं है। उन्होंने लक्ष्यानुसार कहीं व्यक्ति और कहीं जातिरूपी अर्थ मानने की छूट दे रखी है।[3] "जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्" यह सूत्र बनाकर जाति को पदार्थ सिद्ध किया है, अन्यथा व्यक्तिबहुत्व से बहुवचन सिद्ध ही रहने पर इस सूत्र की आवश्यकता नहीं थी। इसी प्रकार 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' ऐसा सूत्र बनाकर व्यक्ति को पदार्थ सिद्ध किया है। अन्यथा जाति

---

१. चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति—आगमकालेन, स्वाध्यायकालेन, प्रवचनकालेन, व्यवहारकालेनेति। (पृ० ४७-४८)

२. किञ्चित् सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम्। येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन्। (पृ० ४८)

३. उभयथा ह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि। (पृ० ५१)

एक होने से एक शब्द का ही प्रयोग प्राप्त था, उसी के विधान के लिए सूत्र-प्रणयन की आवश्यकता नहीं थी।

शब्द नित्य है या अनित्य

कुछ विद्वान और सम्प्रदाय शब्द को नित्य मानते हैं तो दूसरे अनित्य। इस विषय में पाणिन्यादि का क्या मत है? इस गम्भीर प्रश्न का उत्तर भाष्यकार ने स्वयं न देकर अपने समय के एक महान् और प्रामाणिक 'सङ्ग्रह' नामक ग्रन्थ के लिए छोड़ दिया है। उसी ग्रन्थ में नित्यत्व पक्ष के गुण और दोष तथा अनित्यत्व पक्ष के गुण और दोष दोनों का सम्यक् परीक्षण किया गया है।[1] वहाँ के विवेचन का निष्कर्ष यही है कि शब्द की नित्यता हो चाहे अनित्यता, दोनों पक्षों में व्याकरण शास्त्र की उपयोगिता है ही, क्योंकि व्याकरण का मुख्य उद्देश्य साधुत्व और असाधुत्व का निर्णय करना है। यह दोनों पक्षों के लिए आवश्यक है। वैयाकरण और मीमांसक शब्द की नित्यता का और नैयायिकादि अनित्यता का समर्थन करते हैं।

वैयाकरण प्रारम्भ से ही शब्द की नित्यता के समर्थक रहे हैं। आचार्य व्याडि ने एक लाख श्लोकों वाले 'संग्रह' नामक ग्रन्थ में इस विषय की पर्याप्त समीक्षा करके गुण-दोष प्रदर्शित किए हैं। उसके अनुसार साधुत्व के ज्ञान के लिए व्याकरण की उपयोगिता दोनों ही पक्षों में है।

शब्द, अर्थ और सम्बन्ध की नित्यता

आचार्य पाणिनि भी शब्दों का नित्यता के समर्थक हैं। इनके अनुसार तो केवल शब्द ही नहीं अपितु शब्द, अर्थ और सम्बन्ध—ये तीनों ही नित्य हैं। स्फोट रूप शब्द नित्य है ही। कार्यशब्दवादी नैयायिकों को भी प्रवाह-नित्यतया शब्द नित्य मानना चाहिए। अर्थ भी जातिरूप होने से अथवा प्रवाह की नित्यता से नित्य ही माना जाता है। जब शब्द और अर्थ ये दोनों सम्बन्धी नित्य हैं तो इनका सम्बन्ध स्वतः नित्य है। अतः पाणिनि शब्दार्थ-सम्बन्ध के स्रष्टा नहीं हैं अपि तु सिद्ध के ही स्मारक आचार्य हैं।[2] इसी तथ्य को कात्यायन ने अपने सबसे पहले वार्त्तिक में लिखा है—

"सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे" (का० वा० १)

शब्द भी सिद्ध है, अर्थ भी सिद्ध है और इनका सम्बन्ध भी सिद्ध है—यही मानते हुए भगवान पाणिनि ने अपने व्याकरण शास्त्र की रचना की है।

---

१. संग्रहे एतत्प्राधान्येन परीक्षितम्—नित्यो वा स्यात् कार्यो वेति। तत्रोक्ता दोषाः प्रयोजनान्यप्युक्तानि। (पृ० ५२)

२. किमाचार्य एव स्रष्टा शब्दार्थ-सम्बन्धानाम्, अथ स्मर्ता इति प्रश्नः। (प्रदीपः पृ० ५२)

यहाँ एक प्रश्न उठता है—सिद्ध शब्द का प्रयोग नित्य पदार्थों के लिए भी होता है, जैसे—'सिद्धा द्यौः, सिद्धा पृथिवी, सिद्धमाकाशम्।' और अनित्य पदार्थों के लिए भी, जैसे—'सिद्धः सूपः, सिद्ध ओदनः' आदि। अतः दोनों अर्थों में प्रयुक्त होने वाले 'सिद्ध' शब्द का वार्त्तिक में किसी एक अर्थ में प्रयोग मानना कैसे सम्भव[1] है ? इस प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार ने निम्न चार तर्क प्रस्तुत किये हैं—

(१) व्याडिरचित एकलक्षश्लोकात्मक 'संग्रह' नामक ग्रन्थ में कार्य=अनित्य के विरोधी के रूप में 'सिद्ध' शब्द का प्रयोग है—"किं कार्योऽथ सिद्धः ?" इससे यह स्पष्ट है कि आचार्य व्याडि शब्द को नित्य मानते हैं। वे वैयाकरण हैं, अतः उपर्युक्त व्याकरण-वार्त्तिक में भी 'सिद्ध' का अर्थ नित्य ही मानना चाहिए

(२) सामान्यतया जहाँ अवधार्यमाणवाचक और अवधारणवाचक 'एव' का प्रयोग रहता है वहीं पर अवधारण होते देखा जाता है, जैसे—'अर्जुन एव धनुर्धरः' आदि। परन्तु कहीं-कहीं एक पद वाले में भी अवधारण देखा जाता है, जैसे—'अब्भक्षः' 'वायुभक्षः' इनसे 'अप एव भक्षयति, वायुमेव भक्षयति'—ऐसी प्रतीति देखी जाती है। उसी प्रकार यहाँ 'एव' न होने पर भी उसका अर्थ मान लेना चाहिए—"सिद्धे एव न तु साध्ये=अनित्ये शब्दार्थसम्बन्धे···।"

(३) विना[2] प्रत्यय के भी पूर्व या उत्तर पद का लोप देखा जाता है, जैसे—सत्यभामा=सत्या, भामा, देवदत्तः=दत्तः, भीमसेनः=भीमः। इसी प्रकार यहाँ भी 'अत्यन्तसिद्धे' है, किन्तु पूर्व पद 'अत्यन्त' का लोप होने पर अकेला उत्तर पद ही पूर्वपद का भी अर्थ बताता है—'अत्यन्तसिद्धे न तु कथमपि साध्ये।'

(४) कहीं भी सन्देह हो जाने मात्र से उस नियम या शास्त्र को अप्रमाण नहीं मानना चाहिए। उसका विशेष ज्ञान करने के लिए विद्वानों के व्याख्यान देखने चाहिए अथवा उचित व्याख्या करनी चाहिए[3]। अतः यहाँ भी 'सिद्ध' की व्याख्या 'नित्य' करनी चाहिए।

यद्यपि 'सिद्धे' के स्थान पर 'नित्ये' पाठ कर देने पर उपर्युक्त समस्या नहीं आती तथापि 'सिद्धे' का उल्लेख करने से दो लाभ हैं—१. मङ्गलाचरण और २. व्याख्यान द्वारा नित्यार्थता का उपपादन। यह प्रथम वार्त्तिक है और आचार्य कात्यायन ने अध्येताओं के लिए मंगलकामना से इस शब्द का प्रयोग किया है।[4] चूंकि 'नित्य-

---

१. यावता कार्येष्वपि वर्तते तत्र कुत एतत्—नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणम्, न पुनः कार्ये यः सिद्धशब्द इति।(पृ० ५४)

२. 'विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्लोपः।' (का० वार्त्तिक)

३. व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्'। (पृ० ५६)

४. पश्यति त्वाचार्यो मङ्गलार्थश्चैव सिद्धशब्द आदितः प्रयुक्तो भविष्यति, शक्ष्यामि चैनं नित्यपर्यायवाचिनं वर्णयितुम्। (पृ० ५७)

प्रहसितः' 'नित्यप्रजल्पितः' आदि में नित्य का प्रयोग आभीक्ष्ण्य अर्थ में भी देखा जाता है। अतः 'नित्ये' के उल्लेख से भी वह अभीष्ट अर्थ तब तक नहीं निकल सकता जब तक कि व्याख्यान की सहायता न ली जाय।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पाणिनि और कात्यायन आदि सभी वैयाकरण शब्द, अर्थ और सम्बन्ध को नित्य ही मान कर व्याकरण शास्त्र की रचना में प्रवृत्त हुए थे। वे नवीन शब्दों के रचयिता नहीं थे।

व्याकरण शास्त्र द्वारा धर्म-नियम

शब्द की नित्यता में लोकव्यवहार प्रमाण है क्योंकि कार्य=जन्य पदार्थ के प्रयोग करने का इच्छुक व्यक्ति उसके निर्माता से उस पदार्थ का निर्माण करवाता है। परन्तु शब्द-प्रयोग का इच्छुक कोई भी व्यक्ति वैयाकरण के कुल में जाकर यह नहीं कहता है—'शब्दं कुरु, कार्यमनेन करिष्यामि' अर्थात् शब्द बना दीजिये, मैं उनसे व्यवहार करूँगा। वह अर्थ के लिए शब्द का प्रयोग करने लगता है। अतः शब्द की नित्यता लोकव्यवहार से ही सिद्ध है।

यदि लोकव्यवहार से ही शब्दों की नित्यता ज्ञात हो जाती है तो फिर उनके लिए व्याकरण शास्त्र की क्या उपयोगिता है? इस प्रश्न का समाधान यह है कि व्याकरण शास्त्र द्वारा 'धर्मनियम' किया जाता[1] है। 'धर्मनियमः' यहाँ समास है। इसके तीन[2] आशय महाभाष्य में दिये गए हैं—

(१) धर्माय = प्रत्यवायपरिहाराय नियमः = साधुशब्दैरेव भाषितव्यं नासाधुशब्दैः।

(२) नियम धर्म के लिए होता है, अतः धर्म भी नियम शब्द से कहा जाता है। इसलिए धर्मरूप नियम (धर्मार्थः नियमः)।

(३) धर्मप्रयोजनः नियमः—यहाँ कर्म अर्थ में ल्युट् मानकर 'प्रयुज्यते यः सः–' ऐसा करके 'धर्मप्रयोज्यः नियमः' ऐसा अभिप्राय है। धर्म प्रयोजक है नियम प्रयोज्य है।

जिस प्रकार लौकिक और वैदिक अनेक विषयों में नियम धर्मप्राप्ति के लिए ही बनाये गये हैं उसी प्रकार व्याकरण शास्त्र का नियम भी धर्मप्राप्ति के लिए है।[3] शुद्ध शब्दों के द्वारा ही अर्थ का बोध कराना चाहिए, ऐसा करने से अभ्युदय की प्राप्ति होती है। जैसे 'अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः' 'इयं गम्या इयम् अगम्या' आदि

१, लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः। (का० वा० २)

२. धर्माय नियमः—धर्मनियमः। धर्मार्थो वा नियमः—धर्मनियमः। धर्मप्रयोजनो वा नियमः—धर्मनियमः॥ (पृ० ६५)

३. यथा लौकिकवैदिकेषु। (का० वा०)

लौकिक नियमों का मुख्य फल धर्म की प्राप्ति ही होता है। इसी प्रकार 'पयोव्रतो ब्राह्मणः, यवागूव्रतो राजन्यः, आमिक्षाव्रतो वैश्यः। 'वैल्वः खादिरो वा यूपः स्यात्' आदि वैदिक नियम भी केवल धर्मोत्पत्ति के लिए हैं। क्योंकि उनके बिना भी उनके कार्य हो सकते हैं। यही बात व्याकरणशास्त्र के नियम में भी समझनी चाहिए।[१]

अप्रयुक्त शब्दों का भी शन्वाख्यान आवश्यक

प्रयोग को देखकर ही साधुत्व का निश्चय होता है, अतः जिनका प्रयोग नहीं देखा जाता है उनके अन्वाख्यान की आवश्यकता नहीं है।[२] ऐसे शब्द हैं—ऊष, तेर, चक्र, पेच। अप्रयुक्त होने के कारण इनके लिए सूत्रादि नहीं बनाने चाहिए।

यद्यपि 'ऊष' आदि शब्दों के अर्थ हैं अतः उन अर्थों का ज्ञान कराने के लिए उन शब्दों का प्रयोग मानना ही चाहिए क्योंकि शब्दप्रयोग के बिना अर्थज्ञान नहीं हो सकता—ऐसा कहा जा सकता है। परन्तु यह तर्कसंगत नहीं है क्योंकि उन शब्दों से जिन अर्थों का ज्ञान होता है उनके स्थान पर दूसरे शब्दों का प्रयोग देखा जाता है[3] उन्हीं शब्दों का प्रयोग होता है, जैसे ऊष=क्व यूयम् उषिताः, ते=क्व यूयं तीर्णाः, चक्र=क्व यूयं कृतवन्तः, पेच=क्व यूयं पक्ववन्तः। इससे स्पष्ट है कि लिट् मध्यमपुरुष बहुवचन के शब्दरूप के स्थान पर निष्ठा प्रत्यय वाले शब्दों का प्रयोग होता है। अतः 'ऊष' आदि का अप्रयोग ही समझना चाहिए।

उपर्युक्त बात सच है परन्तु इन 'ऊष' आदि शब्दों के संस्कारक नियमों का प्रणयन और ज्ञान आवश्यक हैं, जैसा कि बड़े बड़े दीर्घकालसाध्य यज्ञों के अध्ययन के विषय में देखा जाता है। यद्यपि इस समय उन यज्ञों का अनुष्ठान कोई नहीं करता है तथापि धर्मबुद्धि से उनका अध्यापन और अध्ययन किया जाता है, वही स्थिति इन शब्दों के विषय में भी समझनी चाहिए[४]।

साथ ही यह भी ध्यान देने की बात है कि शब्द के प्रयोग का क्षेत्र अति विशाल है। असीमित साहित्य है। उसमें इन शब्दों की खोज करनी चाहिए। बिना खोज के इनका अप्रयोग मान लेना ठीक नहीं है।[५] कुछ ऐसे भी शब्द हैं जिनका प्रयोग स्थानविशेष पर विशेष अर्थ में देखा जाता है। इसलिए किसी भी शब्द का अप्रयोग

---

१. एवमिहापि समानायामर्थावगतौ शब्देनापशब्देन च धर्मनियमः क्रियते—शब्देनैवार्थोऽभिधेयो नापशब्देनेति। एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति। (पृ० ६९)

२. प्रयोगाद्धि भवान् शब्दानां साधुत्वमध्यवस्यति। य इदानीमप्रयुक्ताः नामी साधवः स्युः। (पृ० ७०)

३. अप्रयोगः प्रयोगान्यत्वात्। (का० वा०)

४. अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्। (का० वा०)

५. सर्वे देशान्तरे (का० वा०)।

कहना दुःसाहसमात्र है। वास्तव में इनका भी प्रयोग वेद में देखा जाता है— "यद्वो रेवती रेवत्यन्तं तमूष।" "यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र।' 'यत्रा नश्चक्रा जरमं तनूनाम्'।

इसलिए सभी शब्दों के संस्कारक नियमों और शब्दोंका अध्ययन करना चाहिए।

शब्दों के ज्ञान में धर्मोत्पत्ति अथवा प्रयोग में

'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः, सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति।' (ऋक्० ६।१।८४) इस श्रुति से मनोरथपूर्ति का ज्ञान होता है। यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि किसी शब्द का सुप्रयोग देखकर उसके सम्यक् ज्ञान का अनुमान होता है और सम्यग् ज्ञान होने पर ही सुप्रयोग देखा जाता है। इसलिए इन दोनों में किसी एक के होने पर अथवा दोनों के होने पर धर्म की उत्पत्ति होती है— इसका निर्णय करने के लिए भाष्य में यह प्रश्न उठाया गया है "शब्द के ज्ञान में धर्म होता है अथवा प्रयोग में ?

यदि केवल ज्ञान में ही धर्म की उत्पत्ति मानी जायगी तो धर्म के साथ-साथ अधर्म भी होने लगेगा[1]। क्योंकि जिस प्रकार शब्दों के ज्ञान में धर्म उत्पन्न होता है उसी प्रकार अपशब्दों के ज्ञान में अधर्म भी उत्पन्न होता है। वास्तव में अधर्म अधिक होता है क्योंकि अपशब्दों की संख्या अधिक है और शब्द जानने वाला अपशब्दों को भी जानता ही है। अतः अधर्म होना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त 'तेऽसुरा हेऽलयो हेऽलयः कुर्वन्तः पराबभूवुः' यह वैदिक आख्यान भी प्रयोग में ही धर्म और अधर्म का समर्थन करता[2] है। ज्ञान में धर्म मानने पर इससे विरोध होता है। अतः केवल ज्ञान में धर्म न मानकर प्रयोग में मानना उचित है।

उक्त आपत्ति से बचने के लिए यदि प्रयोग में धर्म मान लिया जाय तब तो जो व्याकरणादि शास्त्रों के अध्ययन-ज्ञान के विना भी शब्दों का प्रयोग करेगा, वह भी धर्म प्राप्त करने लगेगा।[3] परिणामस्वरूप व्याकरण-अध्ययन में परिश्रम करना व्यर्थ होने लगेगा। विशेष परिश्रम वाले भी कभी-कभी असफल और बिना परिश्रम वाले भी सफल देखे जाते हैं।[4] अतः प्रयत्न का वैयर्थ्य सुस्पष्ट है। इसलिए केवल प्रयोग में भी धर्म मानना तर्कसंगत नहीं है।

यहाँ तीसरा पक्ष भी बनता है—ज्ञानपूर्वक प्रयोग में धर्म। जिस प्रकार वैदिक अनुष्ठान, उनका ज्ञान रखते हुए, करने पर फल देते हैं, वैसे ही धर्म उत्पन्न कराते

---

१. ज्ञाने धर्म इति चेत्तथाऽधर्मः। (का० वा०)

२. आचारे नियमः। (का० वा०)

३. प्रयोगे सर्वलोकस्य। (का० वा०)

४. व्यतिरेकोऽपि वै लक्ष्यते। कृतप्रयत्नाश्चाप्रवीणाः अकृतप्रयत्नाश्च प्रवीणाः। तत्र फलव्यतिरेकोऽपि स्यात्। (पृ० ७९)

हैं।[1] अथवा वैदिक शब्द जिस प्रकार नियमपूर्वक पढ़े गये ही फलप्रद होते हैं वही स्थिति शब्दों के प्रयोग में भी समझनी चाहिए। जो व्याकरण शास्त्र के नियमों के अनुसार शब्दों का प्रयोग करता है, वही धर्म प्राप्त करता है।

वास्तव में केवल ज्ञान में ही धर्म प्राप्त होता है, क्योंकि प्रारम्भ में उद्धृत श्रुति यही बताती है कि ज्ञान में धर्म होता है। वह अपशब्दों के ज्ञान में अधर्म की उत्पत्ति नहीं बताती हैं। वैयाकरण श्रुत्यादि शब्द को ही सबसे बड़ा प्रमाण मानते[2] हैं। अतः शब्द से जिसका विधान या निषेध नहीं कराया जाता है वह धर्म या अधर्म की उत्पत्ति नहीं करता है। अतः अपशब्द-ज्ञान से अधर्म की उत्पत्ति नहीं होती है, यही मानना उचित है।

साथ ही शुद्ध शब्दों के ज्ञान में अपशब्दों का ज्ञान नान्तरीयक है। अतः उसे दोषाधायक नहीं मानना चाहिए।

एक समाधान यह भी है, जिस प्रकार कोई व्यक्ति कुआँ खोदते समय धूलि और कीचड़ से लिप्त हो जाता है। किन्तु उसी कुआँ से जो शुद्ध जल निकलता है, उससे वह मलिनता दूर हो जाती है और साथ ही साथ पुण्यलाभ भी होता है। यही बात प्रस्तुत स्थल पर भी है। शुद्ध शब्दों के प्रयोग से जो पुण्य (धर्म) उत्पन्न होता है वह अपशब्द-ज्ञान-जन्य अधर्म का नाश कर देता है और महान धर्म से युक्त करता[3] है। वैदिक आख्यान से भी इतना ही ज्ञात होता है कि साधु शब्द-प्रयोग का नियम यज्ञ-सम्बन्धी अनुष्ठान में ही है। अन्यत्र नहीं[4] है। अतः सामान्य व्यवहार में अपशब्दों का प्रयोग या ज्ञान अधर्म का जनक नहीं होता है। इसीलिए 'यर्वाण' 'तर्वाण' बोलने वाले ऋषि अधर्मभागी नहीं हुए।

अतः केवल ज्ञान में ही धर्मप्राप्ति होती है। जितने अधिक शुद्ध शब्दों का ज्ञान होता है उतना अधिक धर्म उत्पन्न होता है। यही पक्ष उचित है।

व्याकरण पदार्थ-विचार (व्याकरण का अर्थ क्या है ?)

केवल सूत्र पढ़ने पर—'व्याकरण पढ़ता है' ऐसा व्यवहार होता है। शब्दरूप की सिद्धि पढ़ने पर भी—व्याकरण पढ़ता है, ऐसा कहा जाता है। इससे स्पष्ट है कि (१) सूत्र, (२) शब्द और (३) दोनों—व्याकरण पद के अर्थ प्रतीत होते हैं। इसलिए व्याकरण पद के अर्थनिर्णय करने का विचार महाभाष्य में किया गया

---

१. शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देन। (का० वा०)

२. शब्दप्रमाणकाः वयम्, यच्छब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्। (पृ० ८१)

३. एवमिहापि यद्यप्यपशब्दज्ञानेऽधर्मः, तथापि यस्त्वसौ शब्दज्ञाने धर्मस्तेन स च दोषो निर्घानिष्यते भूयसा चाऽभ्युदयेन योगो भविष्यति। (पृ० ८२)

४. याज्ञे कर्मणि स नियमः, अन्यत्रानियमः। (पृ० ८२)

है। चूंकि प्रारम्भ में व्याकरण-अध्ययन के अनेक प्रयोजन प्रदर्शित किये गये हैं, अतः व्याकरण का अर्थ (=स्वरूप) स्पष्ट करना आवश्यक माना गया। उक्त तीन पक्षों में गुण-दोषों की चर्चा करके भाष्यकार ने केवल 'सूत्र' को ही व्याकरण का अर्थ स्वीकार किया है। तीनों पक्षों का सारांश यह है—

व्याकरण का अर्थ सूत्र है—इस पक्ष में दोष—

प्रस्तुत पक्ष में दो दोष हैं—(१) व्याकरणस्य सूत्रम्—यहाँ षष्ठी का अर्थ उपपन्न नहीं हो सकता[1] क्योंकि षष्ठी का अर्थ सम्बन्ध है वह दो भिन्न पदार्थों में ही होता है, जैसे—राज्ञः पुरुषः। परन्तु जब व्याकरण और सूत्र एक हैं दोनों में भेद नहीं है, तब षष्ठ्यर्थ की उपपत्ति नहीं हो सकती।

(२) दूसरा दोष यह है कि 'व्याकरणात् शब्दान् प्रतिपद्यामहे' अर्थात् व्याकरण से शब्दों का ज्ञान करते हैं—ऐसा व्यवहार होता है। किन्तु इस पक्ष में नहीं हो सकता[2] क्योंकि केवल सूत्र से शब्दों की प्रतिपत्ति=ज्ञान नहीं होता है, उसके लिए व्याख्यान की भी आवश्यकता पड़ती है। उदाहरण, प्रत्युदाहरण, वाक्य का अध्याहार—ये सब मिलकर व्याख्यान होते हैं। केवल सन्धिविच्छेद कर देना व्याख्यान नहीं है।

अतः व्याकरण का अर्थ–सूत्र को मानने पर उक्त दो दोष हैं।

व्याकरण का अर्थ–शब्द है—इसको मानने पर षष्ठी के अर्थ की उपपत्ति हो जाती है क्योंकि व्याकरण=शब्द और सूत्र दो अलग-अलग पदार्थ हैं। परन्तु शब्दों की प्रतिपत्ति न होना दोष के अतिरिक्त और भी तीन दोष इस पक्ष में हैं—(१) ल्युट् प्रत्यय के अर्थ की अनुपपत्ति[3]। 'व्याक्रियन्ते शब्दा अनेन'—इस व्युत्पत्ति में वि+आङ्+कृ+ल्युट्=अन—यहाँ करण अर्थ में ल्युट् होता है। किन्तु व्याकरण का अर्थ–शब्द–मानने पर यह उपपन्न नहीं हो सकता क्योंकि व्याकरण= शब्द से किसी की व्युत्पत्ति=व्याकृति नहीं की जाती है। शब्द की ही व्याकृति (प्रकृति-प्रत्यय-विभागादि-ज्ञान) की जाती है। अतः शब्द व्याकृति का करण नहीं अपितु कर्म है।

(२) दूसरा दोष है—"तत्र भवः" (४।३।५३) भव अर्थ वाले तद्धित प्रत्यय की अनुपपत्ति[4]। व्याकरणे भवो योगः—वैयाकरणः कहा जाता है। परन्तु

---

१. सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थोऽनुपपन्नः। (का० वा०)
२. शब्दाप्रतिपत्तिः। (का० वा०)
३. शब्दे ल्युडर्थः। (का० वा०)
४. भवे च तद्धितः। (का० वा०)

व्याकरण=शब्द में तो कोई योग (सूत्र) नहीं होता है अपितु एक सूत्र में ही कहीं-कहीं दूसरा योग=सूत्र हो जाता है।

(३) प्रोक्त अर्थ वाले तद्धित प्रत्यय भी नहीं उपपन्न होते[१] हैं, क्योंकि 'पाणिनिना प्रोक्तम्' इस अर्थ में 'पाणिनीयम्' आदि बनाने के लिए 'तेन प्रोक्तम्' (४।३।२०१) से तद्धित प्रत्यय होते हैं। परन्तु व्याकरण=शब्द मानने पर ये प्रत्यय नहीं हो सकते, क्योंकि पाणिनि द्वारा प्रोक्त शब्द नहीं अपि तु सूत्र हैं।

उक्त दोनों पक्षों में दोष होने के कारण तृतीय पक्ष यह दिखाया गया—शब्द और सूत्र दोनों मिलकर समुदित रूप[२] में व्याकरण के अर्थ हैं। यह समुदाय अर्थ मान लेने पर उक्त सभी दोषों का प्रसंग नहीं रहता है। परन्तु समुदित अर्थ मान लेने पर केवल सूत्र या शब्द व्याकरण नहीं कहा जा सकता, तब किसी एक को पढ़ने वाला व्याकरण पढ़ने वाला=वैयाकरण नहीं कहा जा सकता। जब कि इष्ट है अकेले सूत्र आदि के अध्ययन करने वाले को भी वैयाकरण कहना। इसका समाधान यह है कि कहीं-कहीं समुदायवाचक अवयववाचक भी देखे जाते[३] हैं, जैसे—'पूर्वे पञ्चालाः, उत्तरे पञ्चालाः' आदि। इसी प्रकार समुदाय-वाचक व्याकरण शब्द का प्रयोग केवल सूत्र या शब्द के लिए भी होने में बाधा नहीं है।

समुदित पक्ष में गौरव है। अतः सिद्धान्त-पक्ष यही है कि व्याकरण का अर्थ है—केवल सूत्र। जिस प्रकार 'राहो शिरः' में एक ही पदार्थ में व्यपदेशिवद्भाव[४] से भेद मानकर षष्ठ्यर्थ सम्बन्ध उपपन्न होता है। उसी प्रकार यहाँ भी व्यपदेशिवद्भाव से अवयव और अवयवी मानकर षष्ठ्यर्थ उपपन्न हो सकता है। अथवा सूत्र सामान्यवाचक है और व्याकरण विशेष का वाचक है। सामान्य और विशेष में भेद मानकर षष्ठ्यर्थ उपपन्न हो जाता[५] है। शब्दों की अप्रतिपत्ति रूप दोष भी नहीं है क्योंकि विद्वान् व्यक्ति केवल सूत्र से ही शब्दों का ज्ञान कर लेता है, उसे व्याख्यान की अपेक्षा नहीं है। इसीलिए यह वचन प्रसिद्ध है—

"सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद्वृत्तौ यच्च वार्त्तिके।"[६]

---

१. प्रोक्तादयश्च तद्धिताः। (का० वा०)
२. लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्। लक्ष्यं च लक्षणं चैतत्समुदितं व्याकरणं भवतीति। (पृ० ८९)
३. समुदायेषु प्रवृत्ता हि शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते। (पृ० ९०)
४. व्यपदेशिवदेकस्मिन्। परिभाषा
५. सामान्यविशेष-शब्दतया तु द्वयोः प्रयोगो न विरुध्यते। यदा त्वष्टाध्याय्येकदेशः सूत्र-शब्देनोच्यते, तदा षष्ठ्यर्थोऽप्युपपद्यते। (प्रदीप पृ० ८४)
६. विष्णुधर्मोत्तर ३।५।२

वर्णों के उपदेश के प्रयोजन

लोक-परम्परा से वर्णों का ज्ञान करके ही कोई व्याकरण पढ़ने में प्रवृत्त होता है। इसके अतिरिक्त केवल वर्णोपदेश से किसी के साधुत्व का ज्ञान भी नहीं होता है, तब अष्टाध्यायी के प्रारम्भ में 'अ इ उण्' आदि चतुर्दश सूत्रों में वर्णों के उपदेश का क्या प्रयोजन है ? पाणिनि ने सबसे पहले इन वर्णों का उच्चारण क्यों किया ? इस प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार ने कात्यायन के वार्त्तिकों के माध्यम से ये निम्न प्रयोजन प्रस्तुत किए हैं—

(१) वृत्तिसमवायार्थ उपदेश है।[1]

वृत्ति=शास्त्रप्रवृत्ति। समवाय=वर्णों का आनुपूर्वी क्रम से उपन्यास। उपदेश= उच्चारण। 'वृत्तिसमवाय' में 'धर्मनियमः' के समान तीन आशय माने जाते हैं।

(क) वृत्तये समवायः। व्याकरण शास्त्र=सूत्रों की लघुरूप से प्रवृत्ति के लिए इन वर्णों का उपदेश है। क्योंकि इनके माध्यम से ही इक्, अच्, यण् आदि प्रत्याहार बनते हैं और फलस्वरूप सूत्रों का आकार लघु बन पाता है। यदि ये वर्ण क्रमविशेष में उपदिष्ट न रहते तो अच् आदि प्रत्याहार न बन सकने से सूत्रों का आकार लघु नहीं हो पाता।

(ख) वृत्त्यर्थः समवायः। लक्षणा द्वारा वृत्ति शब्द का अर्थ—साधुत्व के उपयोगी शास्त्र की प्रवृत्ति का जनक—है। अतः कर्मधारय है। अथवा वृत्त्यर्थ होने से समवाय भी वृत्ति है।

(ग) वृत्तिप्रयोजनः समवायः—इस पक्ष में प्रयोजन=प्रयोज्य है। वृत्ति= शास्त्रप्रवृत्ति प्रयोजक है और समवाय प्रयोज्य है। अथवा परम्परया शास्त्र की प्रवृत्ति में प्रयोजकता है। (विशेष व्याख्या मूल ग्रन्थ में देखनी चाहिए।)

(२) अनुबन्धकरणार्थश्च—जब तक इन वर्णों का उच्चारण नहीं कर दिया जाता तब तक इनमें अनुबन्ध लगाना सम्भव नहीं है क्योंकि 'अइउ' के उच्चारण के बाद ही अनुबन्ध 'ण्' का आसंजन होना है।[2]

(३) इष्ट वर्णों का ज्ञान कराने के लिए भी इनका उपदेश है।

यद्यपि उपदिष्ट वर्ण केवल ह्रस्व हैं, अतः दीर्घ और प्लुत का, उदात्त उपदिष्ट हैं अतः अनुदात्त और स्वरित का, अननुनासिक उपदिष्ट हैं अतः अनुनासिक आदि सभी गुणों से विशिष्ट वर्णों का उपदेश करना पड़ेगा, गौरव होगा। तथापि

---

१. वृत्तिसमवायार्थ उपदेशः। (का० वा०)
२. न हि अनुपदिश्य वर्णाननुबन्धाः शक्या आसङ्क्तुम्। (पृ० ९६)
३. इष्टबुद्ध्यर्थश्च। (का० वा०)
४. एवंगुणा अपि हि वर्णा इष्यन्ते। (पृ० ९७)

(बाधकभाष्यम्)

विषम उपन्यासः । नात्यन्तायाज्ञानं[1] शरणं भवितुमर्हति । यो ह्यजानन् वै ब्राह्मणं हन्यात् सुरां वा पिबेत्, सोऽपि मन्ये पतितः स्यात् ।।

(सिद्धान्तव्याख्याभाष्यम्)

एवं तर्हि—

सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ।।

कः ?

अवाग्योगविदेव ।

अथ यो वाग्योगविद्, विज्ञानं तस्य शरणम् ।।

'प्रदीपः'

यदि मन्यसे—बहवः शब्दाः अल्पेऽपशब्दाः, अङ्गभूयस्त्वाच्च फलभूयस्त्वमिति । तन्न । यस्माद् भूयांसोऽपशब्दा अल्पीयांसः शब्दाः ।। अज्ञानमिति । तथा च तिरश्चां ब्रह्महत्यादिफलाभावः ।।

नात्यन्तायेति । पुरुषाणां विधिनिषेधयोरधिकारात्तत्परिज्ञाने प्रयत्नस्य न्याय्यत्वात् ।।

प्रकरणात्सामर्थ्यं बलीय इत्याह—अवाग्योगविदिति । वाग्योग-वित्तूभयज्ञोपि शब्दान् प्रयुङ्क्ते नापशब्दानिति ज्ञानपूर्वकप्रयोगादभ्युदयभाग् भवति ।।

'भावबोधिनी'

उसकी शरण (रक्षक) तो अज्ञान है । (अज्ञान के कारण उसे पाप नहीं लगता है ।)

(आपका यह) कथन विषम (तर्कसंगत नहीं) है, क्योंकि अज्ञान अत्यन्त (पूर्णरूपेण) शरण (पापरक्षक) नहीं हो सकता है । कारण यह है कि बिना जानकारी के जो ब्राह्मण को मार दे अथवा मदिरा पी ले, मैं (यही) मानता हूँ कि वह पतित (पापभागी) ही होगा ।

यदि ऐसा है तो—

'वह वाग्योगवित् परलोक में जय=अनन्त उत्कर्ष प्राप्त करता है और अपशब्दों (के प्रयोग) के कारण दूषित (पापभागी) होता है ।

(इस में 'दुष्यति' क्रिया का कर्ता) कौन है ? अर्थात् कौन दूषित होता है ?

अवाग्योगवित् (शब्दार्थसम्बन्ध न जानने वाला अवैयाकरण) ही (दूषित होता है) ।

और जो वाग्योगवित् (वैयाकरण) है उसका शरण (रक्षक) विशिष्ट ज्ञान है । (वैयाकरण शुद्ध शब्दों को जानता है अतः वह शुद्ध शब्दों का ही प्रयोग

---

१. अत्यन्तमित्यर्थे 'अत्यन्ताय' इत्यव्ययम् ।

केचन छात्रोपयोगिविषयाः

१. प्रश्नः—'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः ?' इति भाष्यस्याभिप्रायः सम्यग्विविच्यताम् ।

उत्तरम् :—'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' 'रामेति द्व्यक्षरं नाम मानभङ्गः पिनाकिनः' 'रामो द्विर्नाभिभाषते' प्रभृतिव्यवहारदर्शनात् शब्दार्थयोस्तादात्म्यं स्पष्टं प्रतीयते। किं च पुरोवर्तिनो गोर्दर्शनेनाविभक्तरूपेण जात्यादीनां ज्ञानेन इयं जिज्ञासोदेति—'अयं गौरि'ति ज्ञाने शब्दः कः पदार्थः ? शब्दरूपेण किं ज्ञेयमिति प्रश्नाशयः । तत्र भाष्यकारेणानुभूयमानानां सर्वेषां शब्दत्वं निराकृत्य उपसंहारे शब्दस्य द्विविधं स्वरूपं प्रतिपादितम् ।

प्रस्तुत—प्रश्नस्योत्तरे भाष्ये इदं दृश्यते—(१) किं यत्तत् सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाण्यर्थरूपं स शब्दः । नेत्याह, द्रव्यं नाम तत् । भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वाद् द्रव्यं शब्दो न भवितुमर्हति । यदि द्रव्यानुशासनं विवक्षितमभविष्यत्, 'अथ द्रव्यानुशासनम्' इत्येवावक्ष्यत् । (२) किं यत्तर्हि तदिङ्गितं चेष्टितं निमिषितम्, स शब्दः ? नेत्याह, क्रिया नाम सा । (३) यत्तर्हि शुक्लो नीलः कपिलः कपोत इति, स शब्दः । (अत्र शुक्लादिशब्दाः शुक्लत्वादिगुणमात्रपराः, द्रव्यस्य प्रागुपन्यासाद् ।) नेत्याह, गुणो नाम सः । (४) यत्तर्हि तद्भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वच्छिन्नं सामान्यभूतम्, स शब्दः । गोत्वादिकं शब्द इति भावः । नेत्याह, आकृतिर्नाम सा ।

एवंरीत्या द्रव्यादीनां शब्दत्वं निराकृत्य द्विविधं शब्दत्वं प्रतिपादितम्—

(१) "येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति, स शब्दः । अत्र 'उच्चारितेन' इत्यस्य प्रकाशितेन इत्यर्थः । वर्णानामनित्यत्वात् तेषां समूहस्य कदाप्यभावेन वाचकत्वाभावात् पदत्वानुपपत्त्या वैयाकरणा वर्णातिरिक्तस्य पदस्य वाक्यस्य वा वाचकत्वमङ्गीकुर्वन्ति । न च पूर्वपूर्ववर्णानुभवजन्यसंस्कारसहितान्त्यवर्णस्य बोधकत्वे न दोष इति वाच्यम्, 'सरः' 'रसः' 'नदी' 'दीनः' इत्यादौ दोषापत्तेः । येन क्रमेणानुभवस्तेनैव स्मरणमिति नियमाभावाच्च । पूर्ववर्णानां विनष्टतयाऽन्त्यस्य विद्यमानत्वेन च नष्टविद्यमानयोः पौर्वापर्यस्यासम्भवाच्च । अतो वैयाकरणैः स्फोटः शब्दत्वेनाङ्गीक्रियते । तस्य द्विविधा व्युत्पत्तिः—(क) स्फुटयत=अभिव्यज्यते वर्णैरिति स्फोटः । ध्वनयो व्यञ्जकाः स्फोटस्तु तद्व्यङ्ग्य इति बोध्यम् । (ख) स्फुटति=व्यक्तीभवति अर्थो यस्मात् स स्फोटः । अत्र पक्षे स्फोट एवार्थबोधकः । स चायं स्फोटो वर्ण-पद-वाक्य-जाति-अखण्डादि-स्फोटभेदेनाष्टविध इति भूषणसारादौ स्पष्टम् । एवञ्च गोरूपार्थवाचक एव शब्द इति तत्त्वम् ।

नायं स्फोटरूपः शब्दः सर्वानुभवसिद्धः। अत एव लोक-प्रसिद्धं शब्दस्वरूपमपि प्रतिपादितं भाष्यकारेण (२) "अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। तद्यथा—'शब्दं कुरु, शब्दं मा कार्षीः, शब्दकार्ययं माणवकः—इति ध्वनिं कुर्वन्नेव-मुच्यते। तस्मात् ध्वनिः शब्दः।"

अत्र द्वितीयस्वरूपे शब्दस्य प्रसिद्धार्थबोधकत्वरूपं प्रतिपादितम्। एवञ्च 'गौः' इत्यत्रार्थसम्प्रत्यायकः, प्रतीतपदार्थको ध्वनिरेव वा शब्दः, न व्यक्त्यादय इति तत्त्वम्।

२. प्रश्नः—व्याकरणाध्ययनस्य मुख्यानि प्रयोजनानि प्रदर्शनीयानि।

उत्तरम्—यद्यपि व्याकरणस्य साक्षात् प्रयोजनं शब्दानाम् अनुशासनं तथापि शब्दानुशासनस्य किं प्रयोजनमिति मनसि निधाय भाष्ये उक्तम् 'कानि पुनः शब्दानु-शासनस्य प्रयोजनानि?' उत्तरे च 'रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्' इत्युक्त्वा पञ्च प्रयोजनानि प्रदर्शितानि। एवञ्चागमः प्रयोजनः=प्रयोजक इति बोध्यम्।

नन्वत्र 'रक्षोहागमलध्वसन्देहाः' इति पदे बहुवचनम्, 'प्रयोजनम्' इति पदे चैकवचनमित्यसङ्गतमिति चेन्न, 'नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्' इति सूत्रेणैकवद्भाव-विधानात्। प्रयोजनशब्दे एकशेषे एकः प्रयोजन-शब्दः पुंल्लिङ्गः करणव्युत्पत्त्या प्रयोजकपरोपीति बोध्यम्। एवञ्च रक्षा—प्रयोजनम् (फलम्), ऊहः—प्रयोजनम् (फलम्), आगमः—प्रयोजनः (प्रयोजकः), लघु—प्रयोजनम् (फलम्), असन्देहः—प्रयोजनम् (फलम्) इति बोध्यम्।

(१) रक्षा—वेदानां रक्षार्थं व्याकरणमध्येयम्। 'देवा अदुह्र' 'उदग्राभं निग्राभम्' इत्यादौ तलोप-रुडागम-मकाररूपवर्णविकारं दृष्ट्वा असन्दिहानो वैयाकरणो वेदान् सम्यक् परिपालयिष्यति।

(२) ऊहः—'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इति मीमांसकसिद्धान्तेन "अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामी'ति प्रकृतिवत् 'सौरं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चस्कामः' इत्यत्र 'सूर्याय' इति ऊह्यते। न च सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्राः निगदिताः। ते चावश्यं यज्ञगतेन यथायथं विपरिणमितव्याः। प्रकृतिप्रत्ययादीनामूहकरणशक्ति-प्राप्तिरपि व्याकरणाध्ययनस्य फलम्।

(३) आगमः—'ब्राह्मणेन निष्कारणोधर्मःषडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चे'ति आगमः (वेदः) साङ्गस्य वेदस्याध्ययनस्य नित्यविधित्वं बोधयन् व्याकरणाध्ययने प्रयोजयति। एवञ्चागमः प्रयोजनः=प्रयोजक इति बोध्यम्।

(४) लघुः—ब्राह्मणानामध्यापनं वृत्तिः। न चाशब्दज्ञं तमुपसेत्स्यन्ति शिष्याः। उत्सर्गापवाद-रीत्या लघुनोपायेन शब्दानां ज्ञानं व्याकरणाध्ययनस्य फलम्।

(५) असन्देहः—'याज्ञिकाः (=यज्ञकाण्डभवा मन्त्राः) पठन्ति—'स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालमेत' इति मन्त्रे 'स्थूलपृषती' पदे सन्देहः। स्थूला चासौ पृषती चेति कर्मधारयं कृत्वा मत्त्वर्थे लक्षणया स्थूलपृषद्वतीति वोधः। यद् वा स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सेति बहुव्रीहिः। अत्र पूर्वपदस्य (स्थूलशब्दस्य) प्रकृतिस्वरत्वम् (अन्तोदात्तत्वम्) व्याकरणेनैव ज्ञातुं शक्यते। एवञ्च सन्देहप्रागभावार्थमपि व्याकरणमध्येयम्।

३. प्रश्नः—व्याकरणाध्ययनस्यानुषङ्गिकाणि प्रयोजनानि सङ्क्षेपेण प्रदर्शयन्तु।

उत्तरम्—"रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्" इत्युक्त्वा पञ्च मुख्यानि प्रयोजनानि प्रदर्श्य भाष्यकारेण त्रयोदशानुषङ्गिकाणि प्रयोजनान्यपि प्रदर्शितानि—(१) "तेऽसुराः, (२) दुष्टः शब्दः, (३) यदधीतम्, (४) यस्तु प्रयुङ्क्ते, (५) अविद्वांसः, (६) विभक्तिं कुर्वन्ति, (७) यो वा इमाम्, (८) चत्वारि, (९) उत त्वः, (१०) सक्तुमिव, (११) सारस्वतीम्, (१२) दशम्यां पुत्रस्य, (१३) सुदेवोऽसि वरुण" इति।

"तेऽसुरा हेलयो हेलयः कुर्वन्तः पराबभूवुरि'ति। तैरसुरैः पदद्वित्वे कर्त्तव्ये वाक्यद्विर्वचनम्, रेफत्वे लत्वम्, प्रकृतिभावत्वे च पूर्वरूपत्वमिति दोषत्रयं कृतं तेन पराभूता अभूवन्। त्वष्टा स्वपुत्रं विश्वरूपाख्यमिन्द्रेण हतं ज्ञात्वा आभिचारिके कर्मणि 'स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' इति प्रयुक्तवान्। अत्र शत्रु-शब्दो यौगिकः—शातयितृ-शमयितृ-रूपार्थको न तु रूढो रिपुरूपार्थकः। तत्र तत्पुरुषसमासस्य (इन्द्रस्य शत्रुः=शातयिता घातकः) इष्टत्वेऽपि बहुव्रीहि-समासस्य (इन्द्रः शत्रुः=शातयिता =घातको यस्य सः) बोधकं स्वरदोषं कृतवान्। तेन इन्द्र एव वृत्रं हतवान्। तस्मात्-स्वरादिदोषरहित-प्रयोगकरण-सामर्थ्यप्राप्तये व्याकरणमध्येयम्।

एवमेवान्येषामपि फलं बोध्यम्। बहिरङ्गशब्दापशब्द-प्रयोगविधिनिषेध-विषयत्वेनैषामानुषङ्गिकत्वम्। पदपदार्थज्ञानाधीनत्वेना·तरङ्गतया रक्षोहागमादीनां प्रधानत्वम्। अत एव चैषां पञ्चानां प्रथमं त्रयोदशानां च पश्चादुपादानम्।

४. प्रश्नः—'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इति वार्त्तिकं सावतरणं व्याख्यायताम्।

उत्तरम्—व्याडिरचिते संग्रहनामके ग्रन्थे शब्दानां नित्यत्वानित्यत्वयोर्गुणदोषाः सम्यग् विचारिताः। तत्र पाणिनिः शब्दार्थसम्बन्धानां स्रष्टा स्मर्ता वेति प्रश्ने भाष्यकारः कात्यायनीयं प्रथमं वार्त्तिकं प्रास्तौत्—"सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे' इति। शब्दश्च अर्थश्च सम्बन्धश्च—शब्दार्थ-सम्बन्धमिति समाहारद्वन्द्वः। एवञ्च शब्दे अर्थे

तयोः सम्बन्धे च सिद्धे सत्येवाचार्यः पाणिनिः स्वं शास्त्रं रचयामास, नतूत्पादयामास शब्दादीनिति बोध्यम् ।

तत्र सिद्धशब्दस्यार्थे सन्देहः—सिद्धा पृथिवी, सिद्धा द्यौरित्यादौ कूटस्थाविचालिपदार्थेषु प्रयुक्ततया नित्यार्थकत्वम् । अथ च 'सिद्धः सूपः, सिद्ध ओदनः' इत्यादिव्यवहारात्कार्यपदार्थपरतया अनित्यार्थकत्वमपि । अत्र चतुर्भिस्तर्कैः सिद्धशब्दस्य नित्यत्वार्थकत्वं साधितम्—(१) संग्रहे 'किं कार्योऽथ सिद्धः शब्दः' इति कार्यस्य (अनित्यस्य) प्रतिद्वन्द्वितया सिद्धशब्दः प्रयुक्तः । (२) कुत्रचित् एकपदान्यपि अवधारणानि भवन्ति—अब्भक्षः, वायुभक्षः । 'अप एव भक्षयति, वायुमेव भक्षयति' इति गम्यते । अत्र यथा एवकाराभावेऽपि अवधारणं तथैव प्रकृतेऽपि—सिद्ध एव न तु साध्य इत्यवधारणं बोध्यम् । (३) अथवा पूर्वपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः—अत्यन्तसिद्धः=सिद्धः, यथा देवदत्तः—दत्तः । (४) अथवा 'व्याख्यानतो विशेषपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्' । एवञ्च सिद्ध-शब्दः नित्यपर्याय-वाचीति व्याख्याय सन्देहो निवारणीयः ।

यद्यपि प्रयत्नव्याख्यातव्य-सिद्धशब्दोपादानापेक्षया नित्य-शब्दोपादाने लाघवं प्रतीयते तथापि 'नित्यप्रहसितः, नित्यप्रजल्पित' इत्यादौ नित्यशब्दस्यापि कार्यार्थे प्रयोगदर्शनात् तस्याप्युपादाने व्याख्यानस्यापेक्षतया सिद्ध-शब्द एवोपात्तः । सिद्धशब्दोपादाने मङ्गलार्थत्वमपि उपपन्नं भवतीति महतो शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं कात्यायनेनादौ 'सिद्ध'-शब्द एवोपात्तः ।

तत्र शब्दो जाति-स्फोटादिरूपो नित्यः । अर्थोऽपि जातिरूपतया प्रवाहनित्यतया वा नित्यः । सम्बन्धिनोर्नित्यतया तयोः सम्बन्धस्य नित्यत्वं सुतराम् । एवञ्च सिद्धः शब्दः, सिद्धः अर्थः सिद्धश्च सम्बन्ध इति मत्वैव पाणिनिना स्वशास्त्रं विरचितमिति सुस्पष्टम् ।

५. प्रश्नः—'लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः' इति वार्त्तिकं व्याख्याय 'धर्मनियम' इति पदे त्रिविधव्युत्पत्तिः प्रदर्शनीया ।

उत्तरम्—यथा घटेन कार्यं करिष्यन् कुम्भकारकुलं गत्वाऽऽह—कुरु घटं कार्यमनेन करिष्यामि, तद्वत् शब्दान् प्रयुयुक्षमाणः कश्चिदपि वैयाकरणकुलं गत्वा नाह 'कुरु शब्दान् प्रयोक्ष्ये ।' तत्रागत्यैव अर्थमर्थमुपादाय शब्दान् प्रयुञ्जते लोकाः । एवञ्च लौकिकव्यवहार एव शब्दानां नित्यत्वं साधयति । ये पदार्थाः अनित्याः तेषामुत्पत्तिर्दृश्यते । शब्दं तु न कश्चिदपि उत्पादयति अपि तु उच्चारयत्येव । एवञ्च शब्दानां नित्यत्वे लोक एव प्रमाणम् ।

यदि शब्दानां नित्यत्वे लोक एव प्रमाणं तर्हि पाणिन्यादिव्याकरणशास्त्रेण किं क्रियते ? इति प्रश्नमुत्तरयता वार्त्तिककारेण 'लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्म-नियमः' इति प्रतिपादितम् । धर्मनियमपदे त्रिविधा व्युत्पत्तिः प्रदर्शिताः-(१) धर्माय= प्रत्यवायपरिहाराय नियमः=साधुशब्दैरेवार्थः प्रतिपादनीयः नासाधुशब्दैरित्येवंरूपः । (२) धर्मार्थः नियम-इत्यत्र साधुभिर्भाषितव्यम्—इत्येवं नियमस्य धर्मार्थत्वान्नियमोऽपि धर्मपदेनोच्यते । एवञ्चात्र कर्मधारयः । (३) धर्मप्रयोजनो नियमो धर्मनियमः— इति तृतीयव्याख्याने प्रयोजनशब्दः कर्मणि ल्युडन्तः—प्रयुज्यते इति प्रयोज्यार्थकतया— धर्मः प्रयोजकः, नियमः प्रयोज्य इत्यर्थः । स च धर्मः 'अपूर्व' नाम्ना मीमांसादौ प्रसिद्धः ।

स चायं नियमो लौकिक-वैदिकोभयविध-सिद्धान्तेषु धर्माय विधीयते । लोके तावद् 'अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः, 'अभक्ष्यो ग्राम्यसूकरः' इत्यादिनियमेन अभक्ष्य-प्रतिषेधाद् भक्ष्यप्रतीतिः । वेदेपि 'पयोव्रतो ब्राह्मणः', यवागूव्रतो राजन्यः, आमिक्षा-व्रतो वैश्यः' । यद्वा—'बैल्वः खादिरो वा यूपः स्यात् ।' यद्वा 'भृगूणामङ्गिरसां धर्मस्य तपसा तप्यध्वम्' प्रभृतीनि वचनानि नियमार्थमेवेति बोध्यम् । तादृशवचन-मन्तरेणापि तत्तत्कार्य-सिद्धौ तत्तद्वचनानां नियमार्थत्वं सिध्यति ।

एवमिहापि समानायामर्थावगतौ शब्देनापशब्देन च, तत्र धर्मनियमः क्रियते— 'शब्देनैवार्थोऽभिधेयो नापशब्देने'ति नियमः । एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति बोधाय व्याकरणशास्त्रस्योपयोगितेति बोध्यम् ।

६. प्रश्नः—शब्दस्य ज्ञाने धर्मः आहोस्वित् प्रयोगे ? इति भाष्यस्याशयं प्रदर्शयन्तु ।

उत्तरम्—ननु 'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवती'ति श्रुतौ सुप्रयोगात् सम्यग्ज्ञातत्वस्यानुमानम्, सम्यग् ज्ञातत्वाच्च सुप्रयोगानु-मानम् । एवञ्च ज्ञाने, प्रयोगे ज्ञानविशिष्ट-प्रयोगे वा धर्मोत्पत्तिरिति सन्देहः । तत्र 'ज्ञाने धर्म इति चेत्तथाऽधर्मः ।' अथवा अपशब्दानां भूयस्त्वादधर्मोऽपि भूयान् । किञ्च 'तेऽसुरा हेलयो हेलया इति कुर्वन्तः पराबभूवु' रित्यादिश्रुत्या प्रयोगे एवाधर्मोत्पत्तिरिति । यदि प्रयोगे धर्मस्तदा सर्वोऽपि लोको धर्मेण युज्येत । शास्त्रादौ अकृतप्रयत्नस्यापि प्रयोगप्रवीणस्य धर्मोत्पत्तिरूप-फलव्यतिरेक-प्रसङ्गः । अतो ज्ञानविशिष्टे प्रयोगे धर्मः वैदिक-शब्देनेव बोध्यः । तद्यथा 'योऽग्निष्टोमेन यजते य उ चैनमेवं वेद' इत्यादौ ज्ञानपूर्वकमेवानुष्ठानस्य फलजनकत्वम् । यद् वा नियमपूर्वमधीता एव वेदशब्दा धर्मजनकास्तथैवात्रापि बोध्यम् ।

वस्तुतस्तु ज्ञाने एव धर्म इति सिद्धान्तः । शब्दज्ञानेऽपशब्दज्ञानस्य नान्तरीय-कत्वादपशब्दज्ञानपूर्वके धर्मोत्पत्त्याऽधर्मस्य विनाशो भूयसाभ्युदयेन च योगो बोध्यः ।

'हेलयो हेलय' इत्यादिश्रुतिरपि यज्ञकर्मसम्बन्धिनी एव नान्यत्र दोषाय प्रकल्पते। अत एव 'यर्वाणस्तर्वाण' इत्यादौ न दोषोक्तिरिति बोध्यम्।

७ प्रश्नः—'अथ व्याकरणमित्यस्य कः पदार्थः' इति भाष्याशयं सम्यक् प्रतिपादयन्तु।

उत्तरम्—पूर्वं 'रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्' इत्यस्य व्याख्यानेऽग्रे च बहुत्र व्याकरणपदं प्रयुक्तम्। लोके च सूत्रेषु, शब्देषु (=प्रयोगेषु), उभयविषये च व्याकरण-शब्दप्रयोगो दृश्यते। अतो भाष्येऽपि पक्षत्रयं प्रस्तूय सिद्धान्तितम्। (१) सूत्रम्-व्याकरणमिति स्वीकृते 'व्याकरणस्य सूत्रम्' इत्यत्र षष्ठ्यर्थोऽनुपपन्नः, किं हि तदन्यत् सूत्रात् व्याकरणं, यस्यादः सूत्रं स्यात्। केवल-सूत्रात् शब्दानां प्रतिपत्तिर्न भवतीति 'व्याकरणाच्छब्दान् प्रतिपद्यामहे' इति व्यवहार-विरोधोऽपि दृश्यते। उदाहरणादिविशिष्टस्यैव व्याख्यानतया सन्धिविच्छेदमात्रे व्याख्यानासम्भवेन सूत्रमात्रात् शब्दाप्रतिपत्तिः।

(२) यदि शब्दः=व्याकरणमिति स्वीक्रियते तदा षष्ठ्यर्थस्योपपत्तावपि शब्दाप्रतिपत्तिरूपदोषः स्थिर एव। अथ च 'व्याक्रियन्ते शब्दा अनेन' इति करणार्थक-ल्युट्-प्रत्ययस्यानुपपत्तिः, शब्देन कस्याऽप्यव्याकृतत्वात्, शब्दस्य च स्वतो व्याकृतिकर्मत्वात्। किं चैवं भवार्थक-प्रोक्तार्थक-तद्धित-प्रत्ययानामप्यनुपपत्तिः।

(३) पूर्वोक्त-दोष-परिहाराय 'लक्ष्यलक्षणे=व्याकरणम्' लक्ष्यम्=शब्दः, लक्षणम्=सूत्रम्—इत्येतदुभयं समुदितं व्याकरणं बोध्यम्। समुदाय-प्रवृत्त-शब्दानामवयवेऽपि प्रयोगदर्शनात् केवले सूत्रे शब्दे वा व्याकरण-पद-प्रयोगसम्भवः।

वस्तुतस्तु सूत्रमेव व्याकरणपदार्थः। षष्ठ्यर्थस्यानुपपत्तिस्तु व्यपदेशिवद्भावेन 'राहोः शिरः' इत्यत्रेव परिहरणीया। शब्दाप्रतिपत्तिरूपदोषोऽपि अल्पज्ञस्यैव। विदुषस्तु सूत्रमात्रेणैव शब्द-प्रतिपत्तिसम्भवात्। अत एवोक्तम्—

'सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्तिके।"

८. प्रश्नः—वर्णसमाम्नायोपदेशः किमर्थः—इति विषये भाष्यकारमतं सम्यङ्निरूपणीयम्॥

उत्तरम्—ननु लोकप्रसिद्धमातृकापाठेनैव वर्णज्ञानसम्भवात्, वर्णसमाम्नायेन कस्यापि साधुत्वाप्रतिपादनाच्च वर्णोपदेशो व्यर्थ इति चेन्न, 'वृत्तिसमवायार्थः, अनुबन्धकरणार्थश्च उपदेशः" इति भाष्ये उक्तत्वात्। वृत्तिसमवाय इत्यत्रापि धर्मनियमवत् त्रिविधा व्युत्पत्तिः—(१) वृत्तये=लाघवेन शास्त्रप्रवृत्तये समवायः=वर्णानामानुपूर्व्येण सन्निवेशः। अस्मादेव समाम्नायादजादि-संज्ञासिद्धया 'इको यणची' त्यादि शास्त्राणां लघुस्वरूपम्। (२) वृत्त्यर्थः समवायः—अत्र वृत्तिपदस्य लक्षणया—

साधुत्वोपयोगिशास्त्रप्रवृत्त्यनुकूल-समवायः---इत्यर्थः । तेन 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' इत्यादौ 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' इति शास्त्रस्य प्रवृत्तिः । (३) वृत्ति-प्रयोजनः समवायः-इत्यत्र परम्परया शास्त्रप्रवृत्तिर्बोध्या ।

वर्णोपदेशमन्तरा अनुबन्धानामासञ्जनं न संभवतीति द्वितीयं फलम् ।

नन्विष्टवर्णबोधनार्थमपि वर्णोपदेश इति चेत्, न, उदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिक-दीर्घप्लुतानामप्युपदेशस्य कर्तव्यतया गौरवात् । यद्यपि आकृतिपक्षाश्रयणेन सर्वेषां ग्रहणसम्भवस्तथापि गुणविशिष्टानामिव संवृतकलादि-अष्टादशदोषयुक्तानामपि ग्रहण-प्रसङ्गः । गर्गादिबिदादिगणे पाठान्नेमे दोषाः परिहार्याः, प्रकृतिप्रत्यय-समुदायानां साधुत्वबोधनाय तत्पाठात् । न चैतद्दोषवारणाय 'अ अ' (पा. सू. ८।४। ६८) इति सूत्रमिव सर्वेषां दोषयुक्तानां स्थाने दोषरहितानां प्रत्यापत्तिः । गौरवमपि नात्र, इत्संज्ञानुबन्धकरणस्य स्थाने प्रत्यापत्त्यैव निर्वाहसम्भवः । सिध्यत्येवम्, अपाणिनीयं तु भवति । अतो यथान्यासमेवास्तु । गर्गादिबिदादिपाठस्य फलद्वयं कल्पनीयम्---पाठः विशेषणीयः, कलादयश्च निवर्त्तनीयाः । यथा 'श्वेतो धावति' 'अलम्बुसानां याता' इत्यादीनि वाक्यानि द्विविधार्थ-प्रतिपादिकानि तथैव प्रकृतेऽपि बोध्यम् । एवञ्च प्रत्यापत्तिर्नावश्यिकी ।

वस्तुतस्तु धात्वागम-विकारप्रत्यय-प्रातिपदिकानां शुद्धानामेव पाठात् तत्स्थ-त्वाच्च वर्णानां शुद्धानामेव ग्रहणात् न क्वापि दोषयुक्त-ग्रहण-प्रसङ्गः । शशः षष इति मा भूत्, पलाशः पलाष इति मा भूदित्येवमर्थमगृहीतप्रातिपदिकानामपि स्वरवर्णानुपूर्वीज्ञानार्थमुपदेशस्यावश्यकतया शुद्धानामेव सर्वत्र ग्रहणेन न क्वापि कलादिदोषदूषितानां ग्रहणप्रसङ्ग इति बोध्यम् ।

छात्राणामुपकाराय पस्पशाविषयं स्फुटम् ।
कृत्वार्पयति शिवयोस्त्रिपाठी जयशङ्करः ।।

।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

—०—

॥ श्रीः ॥

श्रीमत्पतञ्जलिमुनिविरचितं

व्याकरण-महाभाष्यम्

सप्रदीप-'भावबोधिनी'-हिन्दी-व्याख्योपेतम्

प्रथमाध्याये प्रथमपादे

प्रथमं पस्पशाह्निकम्[1]

'प्रदीपः'

सर्वाकारं निराकारं विश्वाध्यक्षमतीन्द्रियम् ।
सदसद्रूपतातीतमदृश्यं माययावृतैः ॥ १ ॥
ज्ञानलोचनसंलक्ष्यं नारायणमजं विभुम् ।
प्रणम्य परमात्मानं सर्वविद्याविधायिनम् ॥ २ ॥
पुरुषाः प्रतिपद्यन्ते देवत्वं यदनुग्रहात् ।
सरस्वतीं च तां नत्वा सर्वविद्याधिदेवताम् ॥ ३ ॥

'भावबोधिनी'

॥ श्री मन्मङ्गलमूर्त्तये नमः ॥

नत्वा विघ्नहरं साम्बं शिवं वाणीं कपीश्वरम् ।
गुरुपादाम्बुजं ध्यात्वा जननीं जनकं तथा ॥ १ ॥
कैयटीयं समाश्रित्य नागेशीयं च सद्वचः ।
महाभाष्यस्य व्याख्यानं कुरुते 'जयशङ्करः' ॥ २ ॥

---

१. प्रस्तुत आह्निक 'पस्पशा' नाम से प्रसिद्ध है। इसकी सिद्धि 'स्पश बाधनस्पर्शनयोः' इस भ्वादिगणीय धातु से होती है। स्पर्शन=ग्रन्थन है। यङ्लुगन्त से "नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः" पा० सू० ३।१।१३४ से अच् प्रत्यय करने पर 'पस्पश' बनता है। परम्परा और कोश के अनुसार इस शब्द का अर्थ—भूमिका, प्रस्तावना आदि है। 'अह्ना निर्वृत्तम्' इस अर्थ में अहन् से ठञ्=इक, आदिवृद्धि करने पर 'आह्निक' शब्द बनता है। एक दिन में पढ़ा दिया जाने वाला विषय 'आह्निक' कहा जाता है। यह प्राचीनकालिक अध्ययनअध्यापन की उत्कृष्टता का बोध कराता है। सम्पूर्ण महाभाष्य ८४ आह्निकों में विभक्त है। प्रथम आह्निक भूमिकात्मक है।

(शास्त्रारम्भप्रतिज्ञाभाष्यम्)

[1]अथ शब्दानुशासनम् ॥

'प्रदीपः'

पदवाक्यप्रमाणानां पारं यातस्य धीमतः ।
गुरोर्महेश्वरस्यापि कृत्वा चरणवन्दनम् ॥ ४ ॥
महाभाष्यार्णवावारपारीणं विवृतिप्लवम् ।
यथागमं विधास्येऽहं कैयटो जैयटात्मजः ॥ ५ ॥
भाष्याब्धिः क्वातिगम्भीरः क्वाहं मन्दमतिस्ततः ।
छात्राणामुपहास्यत्वं यास्यामि पिशुनात्मनाम् ॥ ६ ॥
तथापि हरिबद्धेन सारेण ग्रन्थसेतुना ।
क्रममाणः शनैः पारं तस्य प्राप्तास्मि पङ्गुवत् ॥ ७ ॥

'भावबोधिनी'

यद् दृष्ट्वा सज्जनाः विज्ञास्तुष्यन्तु परिशीलिनः ।
जिज्ञासवः प्रसीदन्तु, छात्राः हृष्यन्तु भूरिशः ॥ ३ ॥

अब 'शब्दानुशासन' [प्रारम्भ किया जाता है] ।

---

१. 'अथ' यह निपात है। वैयाकरणों के अनुसार निपात शब्द विभिन्न अर्थों के द्योतक होते हैं। अतः यहाँ 'अथ' शब्द प्रारम्भक्रियाविषयता के अतिरिक्त मङ्गल अर्थ भी द्योतित करता है।

'अथ शब्दानुशासनम्' यह किसका वचन है? इस पर विवाद है। पाणिनीय सूत्रों के प्रसिद्ध व्याख्याता काशिकावृत्ति के प्रणेता वामनजयादित्य ने इसे पाणिनि का वचन मानकर व्याख्या की है। अन्य सूत्रग्रन्थों का प्रारम्भ भी इसी प्रकार होता है। 'अथ योगानुशासनम्' 'अथातो धर्मजिज्ञासा' आदि। अतः यह पाणिनि का ही प्रथम सूत्र है।

दूसरे विद्वान् इसे भाष्यकार पतञ्जलि का वचन मानते हैं। भाष्य के लक्षण में यह है "स्वपदानि च वर्ण्यन्ते" अतः अपने वचन की व्याख्या भाष्यकार ने "अथेत्ययं शब्दः ...." आदि से की है। काव्यप्रकाशादि में एक ही लेखक अपने वचन की व्याख्या करते देखा गया है। अतः इसे भाष्यकार का ही वचन मानना चाहिए। इसके अतिरिक्त सब से महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आचार्य पाणिनि के 'वृद्धिरादैच्' (१।१।१) सूत्र में 'वृद्धि' शब्द का पहले उल्लेख करना मंगल के लिये है। इसी आह्निक में 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इस वार्तिक में 'सिद्धे' को नित्यार्थक मानकर मङ्गलार्थक भी माना गया है। जब पाणिनि और कात्यायन

अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते। शब्दानुशासनं[1] नाम शास्त्र-

'प्रदीपः'

भाष्यकारो विवरणकारत्वाद् व्याकरणस्य साक्षात्प्रयोजनमाह—अथ शब्दानुशासनमिति। प्रयोजनप्रयोजनानि तु रक्षोहादीनि पश्चाद्वक्ष्यन्ते।

'भावबोधिनी'

[इस वाक्य में] 'अथ' यह शब्द 'अधिकार' [=प्रारम्भ] अर्थवाला प्रयुक्त

(सूत्रकार और वार्त्तिककार) दोनों ने अपने ग्रन्थों का प्रारम्भ मङ्गलपाठ से किया है तब महामनीषी पतञ्जलि इस महत्त्वपूर्ण परम्परा का निर्वाह क्यों न करते। अतः प्रस्तुत वचन पतञ्जलि का ही है। इसी लिए प्रसिद्ध प्रदीप-व्याख्यान के रचयिता कैयट ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है—"स्वंवाक्यं व्याख्यातुं तदवयवमथ—शब्दं तावद् व्याचष्टे—"अथेत्यादिना।" गुरुपरम्परा भी उक्त सिद्धान्त का ही समर्थन करती है। अतः इसे भाष्यकार का ही वचन मानना उचित है।

सूत्रलक्षण—

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

वार्त्तिकलक्षण—

उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्त्तिकं प्राहुर्वार्त्तिकज्ञा मनीषिणः॥

भाष्यलक्षण—

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः (पदैः) सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥

भाष्य के इस लक्षण के अनुसार सूत्रघटक पदों की व्याख्या के साथ-साथ अपने भी पदों की व्याख्या भाष्य में की जाती है। भाष्यते=व्याख्यायते विस्तरेण अनेन यद् वा—इस प्रकार शास्त्र या व्याख्यान अर्थ में 'भाष्य' शब्द है। महच्च तद् भाष्यम्—महाभाष्यम्। अन्य भाष्यों की अपेक्षा इसका वैशिष्ट्य है क्योंकि इसमें प्रदर्शित 'इष्टियाँ' सूत्र के समान समादरणीय हैं। अत एव यह 'महाभाष्यम्' कहा जाता है। इष्टि—भाष्यकार का सिद्धान्त माना जाता है।

१. प्राचीन काल में व्याकरण के लिए 'शब्दानुशासन' शब्द भी प्रयुक्त होता था। इसी लिए भाष्यकार ने लिखा है—'शब्दानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्।'

मधिकृतं वेदितव्यम् ॥

'प्रदीपः'

स्ववाक्यं व्याख्यातुं तदवयवमथशब्दं तावद् व्याचष्टे—**अथेत्ययमिति**। इति-शब्दोऽथशब्दस्य स्वरूपेऽवस्थापनाय प्रयुक्तः। एवं हि पदान्तरैः सामानाधिकरण्येन सम्बन्धे सत्यथशब्दो व्याख्यातुं शक्यते। स्वरूपेऽवस्थितश्च सर्वनाम्ना परामृश्यते—अयमिति। शब्द इति। स्वरूपकथनं विस्पष्टप्रतिपत्त्यर्थम्। **अधिकारार्थं इति**। अधिकारः=प्रस्तावो द्योत्यत्वेनास्य प्रयोजनमित्यर्थः। निपातानां च द्योतकत्वं वाक्य-पदीये निर्णीतम्। अथशब्दस्याधिकारार्थत्वे यो वाक्यार्थः संपद्यते तं दर्शयति—**शब्दानुशासनमिति**। अनेकक्रियाविषयस्यापि शब्दानुशासनस्य प्रारभ्यमाणता 'अथ'-शब्दसन्निधानेन प्रतीयते। व्याकरणस्य चेदमन्वर्थं नाम—शब्दानुशासनमिति। अत्र चाचार्यस्य कर्तुः प्रयोजनाभावादनुपादानादुभयप्राप्त्यभावान्न 'उभयप्राप्तौ कर्मणी'त्यनेन षष्ठी, अपि तु 'कर्तृकर्मणोः कृती'त्यनेनेति 'कर्मणि चे'ति समासप्रतिषेधा-प्रसङ्गाद् इध्मप्रव्रश्चनादिवत् समासः ॥

'भावबोधिनी'

किया जाता है (किया गया है)। 'शब्दानुशासन' नामक शास्त्र को [अब] अधिकृत (प्रारब्ध, आरम्भ किया गया) समझना चाहिए।

'अनुशिष्यन्ते=अपशब्देभ्यो विविच्य ज्ञाप्यन्ते साधुशब्दाः अनेन तत्—अनु-शासनम्।' करण अर्थ में ल्युट् है। शब्दानाम् अनुशासनम्—शब्दानुशासनम्। यहाँ कर्म में षष्ठ्यन्त मान कर समास होता है। अतः शब्दकर्मक अनुशासन—यह अर्थ है। परन्तु "कर्मणि च" (पा० सू० २।२।१४) सूत्र से कर्म षष्ठ्यन्त के समास का निषेध होना चाहिए। अतः 'शब्दानुशासनम्' यह अशुद्ध है—ऐसी शंका हो सकती है। समाधान यह है कि जहाँ कर्ता और कर्म दोनों में षष्ठी की प्राप्ति रहने पर "उभयप्राप्तौ कर्मणि" (पा० सू० २।३।८) से कर्म में ही षष्ठी होती है। वहीं षष्ठी-समास का निषेध होता है। यहाँ आचार्य पाणिनि का कर्तृत्व स्वतः गम्यमान है, शब्द से प्रतिपाद्य नहीं है। अतः यहाँ "कर्तृकर्मणोः कृति" (पा० सू० २।३।६५) इस सामान्य सूत्र से ही षष्ठी होती है, "उभयप्राप्तौ कर्मणि' इस सूत्र से नहीं। इस कारण इसमें समास का निषेध नहीं होता है। और "इध्मस्य प्रव्रश्चनः"=इध्मप्रव्रश्चनः के समान यहाँ भी समास होना सर्वथा उचित है।

(अनुशासनीयशब्दनिर्णयाधिकरणम् ।)

(आक्षेपभाष्यम्)

केषां शब्दानाम्[१] ?

'प्रदीपः'

शब्दशब्दस्य सामान्यशब्दत्वाद् विना प्रकरणादिना विशेषेऽवस्थानाभावात् तन्त्रीशब्दकाकवाशितादीनामप्यनुशासनप्रसङ्ग इति मत्वा पृच्छति—केषामिति। उत्तरपदार्थान्तर्गतस्यापि पूर्वपदार्थस्य बुद्धया प्रविभागात् किमा प्रत्यवमर्शः। यथा 'राजपुरुष'इत्युक्ते 'कस्य राज्ञः ?' इति ॥

'भावबोधिनी'

किन शब्दों का [अनुशासन प्रारम्भ किया जा रहा है] ?

---

१. शब्दानाम् अनुशासनम्=शब्दानुशासनम्—यहाँ षष्ठी-तत्पुरुष में 'शब्द' विशेषण है और 'अनुशासन' विशेष्य है, यही पदार्थ है। अतः 'शब्दानाम्' पदार्थैकदेश=गौण है। इसके साथ किसी अन्य पदार्थ का अन्वय (सम्बन्ध) नहीं किया जा सकता। जैसा कि नियम है "पदार्थः पदार्थेन अन्वेति न तु पदार्थैकदेशेन।" अर्थात् उपस्थित विशेष्य का ही विशेष्य में अन्वय होता है। इसीलिए 'ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः' इस अर्थ में 'ऋद्धस्य राजपुरुषः' यह प्रयोग नहीं होता है क्योंकि राजपदार्थ समास में विशेषण रूपेण उपस्थित होता है। ठीक यही स्थिति 'शब्दानुशासनम्' में 'शब्दानाम्' की है। अतः 'केषाम् शब्दानाम् ?' ऐसा प्रश्न उपपन्न नहीं होता है। यहाँ 'कीदृशां शब्दानुशासनम्' ऐसा अनुशासन-विषयक प्रश्न करना चाहिए था और 'लौकिकानां वैदिकानां च' यह उत्तर न होकर 'लौकिकं वैदिकं च' यह होना चाहिए था ? इसका उत्तर यह है कि कभी कभी बुद्धि से पूर्वपदार्थ=विशेषण को अलग मान कर उसे भी पदार्थ मान कर व्यवहार होता है। जैसे किसी ने कहा "राजपुरुषोऽयम्।" सुनने वाला प्रश्न करता है 'कस्य राज्ञः ?' ऐसा अनुभव-सिद्ध है। अतः प्रस्तुत स्थल पर कोई दोष नहीं है।

एक बात और ध्यान देने की है कि पाणिनि के समय में और आगे भी शब्दानुशासन तीन प्रकार के थे। एक में केवल लौकिक शब्द थे, एक में केवल वैदिक और एक में दोनों प्रकार के। अतः यह शंका स्वाभाविक है कि पाणिनीय शब्दानुशासन किस कोटि में आता है। इसी का स्पष्टीकरण किया गया है कि इसमें लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के शब्दों का अनुशासन है। कैयट ने जो पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया है वह अत्यन्त साधारण है।

(समाधानभाष्यम्)

लौकिकानां वैदिकानां च । तत्र लौकिकास्तावद्—गौः, अश्वः, पुरुषो, हस्ती, शकुनिः, मृगो, ब्राह्मण इति ॥

वैदिकाः खल्वपि—"शं नो देवीरभिष्टये।" (अ० वे० १.१.१.) । "इषे त्वोर्जे त्वा" (य० वे० १.१.१.) । "अग्निमीले पुरोहितम्।" (ऋ० वे० १।१।१) "अग्न आयाहि वीतय" इति । (सा० वे० १.१.१.) ॥[१]

'प्रदीपः'

सिद्धान्तवादी तु व्याकरणस्य वेदाङ्गत्वात् सामर्थ्याद्विशेषावगतिरिति मत्वाह—**लौकिकानामिति** । लोके विदिता इति—"लोकसर्वलोकाट्ठञि"ति ठञ् । अथ वा भवार्थेऽध्यात्मादित्वाट्ठञ् । एवं वेदे भवा वैदिकाः । वैदिकानां लौकिकत्वेऽपि प्राधान्यख्यापनाय पृथगुपादानम् । यथा—**ब्राह्मणा आयाता वसिष्ठोऽप्यायात** इति वसिष्ठस्य । तेषां तु प्राधान्यं यत्नेनापभ्रंशपरिहारात् । अथ वा भाषाशब्दानामेव लौकिकत्वमिति भेदेन निर्देशः ॥ तत्र लोके पदानुपूर्वीनियमाभावात्पदान्येव दर्शयति—**गौरश्व इति** । वेदे त्वानुपूर्वीनियमाद् वाक्यान्युदाहरति—**शं न इति** ॥

'भावबोधिनी'

लौकिक और वैदिक शब्दों का [अनुशासन प्रारम्भ किया जा रहा है] । इनमें लौकिक शब्द इस प्रकार के हैं—गौः (=गाय), अश्वः (घोड़ा), पुरुषः (मनुष्य), हस्ती (हाथी), शकुनिः (पक्षी), मृगः (हिरन), ब्राह्मणः (ब्राह्मण) आदि ।

वैदिक शब्द भी इस प्रकार के हैं—"शंनो देवीरभिष्टये।" (अथर्व० १।१।१) "इषे त्वोर्जे त्वा।" (यजु० १।१।१) "अग्निमीले पुरोहितम्।" (ऋक्० १।१।१) "अग्न आयाहि वीतये।" (साम० १।१।१) ।

लोक में विदित अथवा भव=उत्पन्न–लौकिक और वेद में विदित अथवा भव=उत्पन्न वैदिक हैं। यद्यपि वेदों की सत्ता भी लोकान्तर्गत ही है अतः वे भी एक प्रकार से लौकिक ही हैं। तथापि उन शब्दों की प्रधानता प्रकट करने के लिए उनका उल्लेख अलग से किया गया है। इसके अतिरिक्त वैदिक शब्दों की आनुपूर्वी नियत है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं है। इस बात को सिद्ध करने के लिए यहाँ मन्त्रभाग उदाहरण रूप में प्रस्तुत किए गये हैं। इस प्रकार दोनों प्रकार के शब्दों की अनुशासनपद्धति भिन्न होने से दोनों का उल्लेख आवश्यक था।

१. सामान्यतया ऋग्, यजुः, साम और अथर्व–यही क्रम प्रसिद्ध है। परन्तु भाष्यकार ने इसमें परिवर्तन करके अथर्ववेद को सर्वप्रथम रखा है। इसका कारण

(शब्दस्वरूपनिर्णयः)

(आक्षेपभाष्यम्)

अथ गौरित्यत्र कः शब्दः[1] ?

'प्रदीपः'

'अयं गौरयं शुक्ल' इति शब्दार्थयोरभेदेन लोके व्यवहारदर्शनाच्छब्द-स्वरूपनिर्धारणाय पृच्छति—अथेति। 'गौरि'ति विज्ञाने प्रतिभासमानेषु वस्तुषु 'कः शब्द' इत्यर्थः ॥

'भावबोधिनी'

शब्द-स्वरूप का विवेचन

अब 'गौः' (यह गाय है)—इस [ज्ञान] में शब्द [–तत्त्व] कौन है ?

यह प्रतीत होता है कि वेद यज्ञों के लिए है। अतः यज्ञीय उपयोगिताक्रम से वेदों का उल्लेख है। "यज्ञैरथर्वा प्रथमः प्रथस्तते" (ऋक् १।८।४।५) इस कथन से अथर्वा मुनि यज्ञीय प्रक्रिया के प्रथम प्रकाशक हैं। इनके द्वारा दृष्ट और प्रोक्त होने से अथर्व वेद का विशेष महत्त्व है। इसके अतिरिक्त यह मंगल-सूचक 'शम्' शब्द से घटित है। "अध्वर्युः ऋत्विक्" इत्यादि वचन के अनुसार अध्वर्युकर्म के मन्त्रों का प्रकाशक होने से और पद्यमय ऋग्वेद तथा गीतिमय सामवेद की तुलना में सुज्ञेय होने से ऋगादि से पहले यजुर्वेद का उल्लेख है। सामवेद ऋग्वेदीय मन्त्रों पर आधृत होने से गौण है। अतः ऋग्वेद का पहले और उसके बाद सामवेद का उल्लेख है।

भाष्यकार का अपना वेद अथर्व है। इसलिए भी सबसे पहले उसका उल्लेख किया है।

१. लोक में शब्द और अर्थ में अभेद देखा जाता है। इसीलिए किसी व्यक्ति से उसका परिचय पूछने पर वह उत्तर देता है कि 'मैं अमुक=राम श्याम वगैरह हूँ।' यहाँ मांसपिण्डरूप पुरुष अर्थ और राम श्याम आदि आनुपूर्वी रूप शब्द का अभेद देखा जाता है। 'रामो द्विर्नाभिभाषते' आदि सभी व्यवहार इसी प्रकार के हैं। इसी तरह जब सामने दिखाई देने वाली गाय के विषय में कहा गया 'यह गाय है।' इस ज्ञान में व्यक्ति, रंग, क्रिया तथा जाति आदि विषय हैं। इन अनुभूयमान पदार्थों में शब्द किसे समझा जाय, कौन सी वस्तु शब्द है ? इसी का उत्तर देने का प्रयास यहाँ किया गया है।

शब्दों का अनुशासन प्रारंभ करने के पहले शब्द का स्वरूप स्पष्ट करना आवश्यक है। लोक में प्रसिद्ध शब्द के स्वरूप और वैयाकरणों के शब्दस्वरूप में कुछ भेद

(आक्षेपोपपादकभाष्यम्)

किं यत्तत्[1] सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाण्यर्थरूपम्, स शब्दः ?

'प्रदीपः'

तान्येव वस्तूनि क्रमेण निर्दिशति—**किं यत्तदिति**। उद्दिश्यमान-प्रतिनिर्दिश्यमानयोरेकत्वमापादयन्ति सर्वनामानि पर्यायेण तल्लिङ्गमुपाददत इति कामचारतः **'स शब्द'** इति पुंल्लिङ्गेन निर्देशः ॥

'भावबोधिनी'

तो क्या जो सास्ना (=गाय के गले में लटकने वाली खाल), लाङ्गूल (पूंछ), ककुद (कन्धे पर ऊपर उठा हुआ मांसपिंड), खुर और विषाणों (सींगो) से युक्त पदार्थरूप [है], वह शब्द है ? [क्या मांसपिण्डरूप पशुपदार्थ शब्द है ?]

है। इस तथ्य को भी स्पष्ट करना आवश्यक है। इसीलिए यहाँ इस विषय में चर्चा की गई है।

गोव्यक्ति (द्रव्य) में और गोत्वजाति रूप अर्थ में गोशब्द का अभेद अनुभवसिद्ध होने से उनमें शब्दत्व की शंका और उसका समाधान तो बुद्धिगम्य है। परन्तु शुक्लत्वादि गुणों और इंगितत्वादि क्रियाओं में तो अभेद देखा नहीं जाता। अतः उनमें शंका करना और निराकरण करना उचित नहीं प्रतीत होता—ऐसा प्रश्न उठाया जा सकता है। इसका समाधान यह है कि गुण और गुणी (द्रव्य) का तथा क्रिया और क्रियावान् (द्रव्य) का अभेद माना जाता है। द्रव्य रूपी अर्थ और शब्द का अभेद है। इसलिए 'तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वम्' इस न्यायानुसार गुण और क्रिया में भी शब्दत्व की शंका उचित है। तत्=शब्द से अभिन्न=द्रव्य (=गुणी और क्रियावान् अर्थ) है और द्रव्य=गुणी तथा क्रियावान् अर्थ से अभिन्न=गुण और क्रिया है। अतः ये गुण और क्रिया भी शब्द से अभिन्न सिद्ध हो जाते हैं। अतः इनमें भी शब्दत्व की शंका उचित है। "नन्वेवं गुणक्रिययोः शब्दत्वाशंकाऽनुपपन्ना, न हि ते अपि 'गौः' इति शब्दजन्यबोधे भासेते इति चेत्, न। गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोश्चाभेदात्। शब्दार्थयोश्च तत्त्वात् 'तदभिन्नाभिन्नस्य' इति न्यायेन तच्छङ्कोपपत्तेः। यथा परमकारणाभिन्नकार्यकारणकस्य परमकारणेनाप्यभेदः।' (उद्द्योतः)

१. 'यत्तत्' इति समुदायो यद्वृत्तार्थे वर्तते, तस्यैव पुनः तद्वृत्तेन 'स' इत्यनेन परामर्शः। यद्वा प्रसिद्धौ। (उद्द्योत)

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

नेत्याह । द्रव्यं नाम तत् ॥

(आक्षेपोपपादकभाष्यम्)

यत्तर्हि तदिङ्गितं चेष्टितं निमिषितमिति, स शब्दः ?

(निराकरणभाष्यम्)

नेत्याह । क्रिया नाम सा ॥

(आक्षेपोपपादकभाष्यम्)

यर्त्तहि तच्छुक्लो[1] नीलः कपिलः कपोत इति, स शब्दः ?

(निराकरणभाष्यम्)

नेत्याह । गुणो नाम सः ॥

'प्रदीपः'

नेत्याहेति । भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वान्न द्रव्यं शब्द इति प्रतीतम्, अपि तु द्रव्यमिति । यदि च द्रव्यानुशासनं विवक्षितमभविष्यद् 'अथ द्रव्यानुशासन' मित्येवावक्ष्यत् ॥

अनेनैव न्यायेन गुणक्रियासामान्यानां निराकृतेऽपि शब्दत्वे प्रपञ्चार्थं तच्चोद्यपूर्वकं निराकरोति—**यत्तर्हीति** । गोशब्दार्थे चैषां संभवाच्छब्दत्वमाशङ्कते । परिहारस्तु पूर्ववत् । तत्रे**ङ्गितम्**=अभिप्रायस्य सूचकः शरीरव्यापारः । **चेष्टितम्**=कायपरिस्पन्दः । **निमिषितम्**=अक्षिव्यापारः ॥

शुक्लो नील इति । द्रव्यस्य प्रागुपन्यासाद् गुणमात्राभिधायिनोऽत्र शुक्लादयो द्रष्टव्याः ॥

'भावबोधिनी'

[वैयाकरण] नहीं—ऐसा कहता है । वह तो द्रव्य है । [वह शब्द नहीं है क्योंकि नेत्रेन्द्रिय से ग्राह्य होने से द्रव्य को शब्द नहीं माना जा सकता ।]

तो क्या, उस (गो व्यक्ति) का जो इंगित (अपने अभिप्राय को सूचित करने वाली रोमांचादि शारीरिक क्रिया), चेष्टित (शरीर का हिलना डुलना), निमिषित (आखें बन्द करना और खोलना) है, वह शब्द है ?

[वैयाकरण] नहीं—ऐसा कहता है । वह तो क्रिया है ।

तो क्या, जो शुक्लत्व (सफेदी) नीलत्व (नीलिमा या कालिमा), कपिलत्व (भूरापन), कपोतत्व (चितकबरा रंग) है, वह शब्द है ?

[वैयाकरण] नहीं—ऐसा कहता है । वह (शुक्लत्वादि) तो गुण (रंग) है।

---

१. 'गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिङ्गास्तु तद्वति ।—अमरकोश

(आक्षेपोपपादकभाष्यम्)

यत्तर्हि तद्भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वछिन्नं सामान्यभूतम्, स शब्दः ?

(निराकरणभाष्यम्)

नेत्याह । आकृतिर्नाम[1] सा ॥

(आक्षेपोपसंहारभाष्यम्)

कस्तर्हि शब्दः ?

'प्रदीपः'

भिन्नेष्वभिन्नमिति । अनेन सामान्यस्यैकत्वं कथ्यते[2] । **छिन्नेष्वच्छिन्नमिति** । अनेन नु नित्यत्वम् । **सामान्यभूतमिति** ।[3] सत्ताख्यं महासामान्यं गोत्वादेः सामान्यविशेषस्योपमानं निर्दिष्टम् । सामान्यमिव **सामान्यभूतम्** । भूतशब्द उपमार्थे, यथा—पितृभूत इति ॥

द्रव्यादिषु निरस्तेषु पृच्छति—कस्तर्हीति ।

'भावबोधिनी'

तो क्या, जो भिन्न (अनेक पदार्थों) में अभिन्न (एक) और छिन्न (नष्टों) में अच्छिन्न (नष्ट न होने वाला अर्थात् नित्य) सामान्यभूत (जाति के समान या जाति) है, वह शब्द है ?

[वैयाकरण] नहीं—ऐसा कहता है । वह तो आकृति (जाति और संस्थान) है । [वह शब्द नहीं हो सकती ।]

[उपर्युक्त सभी उत्तरों का खण्डन हो जाने पर पूर्वपक्षी प्रश्न करता है—] तो फिर शब्दतत्त्व कौन है ? [किसको शब्द कहा जाता है ?]

---

१. आकृतिः—जातिः संस्थानं च, आक्रियते=व्यवच्छिद्यते स्वाश्रयोऽनयेति व्युत्पत्तेरिति भावः । शङ्कापरभाष्ये 'सामान्यभूतम्' इत्यस्य तद्व्यञ्जकं चेत्यप्यर्थो बोध्यः । जातिमात्रपरत्वे "जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थः" इति गौतमसूत्रेण तस्यापि पदार्थत्वबोधनात् प्रत्यक्षादौ तद्भानाच्च तस्य शब्दत्वाशङ्का-तत्समाधानाभावेन न्यूनता स्यात् । (उद्द्योतः)

२. इदम् अनेकसमवेतत्वस्याप्युपलक्षणम् । (उद्द्योतः)

३. एवं हि 'वृक्षवदाम्र' इत्याद्यापत्तेः, सामान्यश्रुतेः सर्वसामान्यविषयत्वेन प्रवृत्तायाः संकोचे कारणाभावाच्च, उपमाकथनस्य प्रकृतेऽनुपयोगाच्च, अध्याहारे गौरवाच्च—नेदं युक्तम् । किन्तु स्वरूपवाची सः । (उद्द्योतः)

(समाधानभाष्यम्)

येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति, स शब्दः ॥

'प्रदीपः'

उत्तरमाह—येनोच्चारितेनेति। वैयाकरणा वर्णव्यतिरिक्तस्य पदस्य वाक्यस्य वा वाचकत्वमिच्छन्ति। वर्णानां प्रत्येकं वाचकत्वे द्वितीयादिवर्णोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गात्। आनर्थक्ये तु प्रत्येकमुत्पत्तिपक्षे यौगपद्येनोत्पत्त्यभावात्, अभिव्यक्तिपक्षे तु क्रमेणैवाभिव्यक्त्या समुदायाभावात्, एकस्मृत्युपारूढानां वाचकत्वे 'सरो रस' इत्यादावर्थप्रतिपत्त्यविशेषप्रसङ्गात्तद्व्यतिरिक्तः स्फोटो नादाभिव्यङ्ग्यो वाचको विस्तरेण वाक्यपदीये व्यवस्थापितः। उच्चारितेन। प्रकाशितेनेत्यर्थः ॥

'भावबोधिनी'

(क) स्फोटरूप शब्द

उच्चारित (ध्वनियों से अभिव्यक्त होने वाले) जिसके द्वारा सास्ना (गले में लटकने वाली खाल) पूँछ, ककुद (कन्धे से ऊपर निकला हुआ मांसपिण्ड), खुर और विषाण (सीगों) से युक्त (गोरूप पशुओं) का ज्ञान होता है, वह [स्फोट] शब्द है।

---

१. अथ 'गौरित्यत्र' कः शब्दः ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए भाष्यकार ने व्याकरणशास्त्रीय और भिन्नशास्त्रीय दोनों प्रकार के शब्दों का स्वरूप प्रतिपादित किया है।

वैयाकरणों के मतानुसार श्रूयमाण वैखरी ध्वनि शब्द नहीं है क्योंकि ध्वनियाँ तो उच्चरित–प्रध्वंसी होती हैं। प्रथम ध्वनि के उच्चारण में बाद की ध्वनियाँ अविद्यमान रहती हैं और बाद की ध्वनियों के उच्चारण के समय भी केवल वह ध्वनि ही विद्यमान रहती हैं। शेष भूत या भावी रहती हैं। अतः दो या अधिक ध्वनियों का अस्तित्व कभी भी सम्भव नहीं होता है। अतः इनमें वाचकताशक्ति की आश्रयता उपपादित करना सम्भव नहीं है। यह समस्या उच्चारणपक्ष और अभिव्यक्तिपक्ष दोनों में है। अतः वैयाकरणों ने एक सूक्ष्म, नित्य, अखण्ड और विभु शब्दतत्त्व की कल्पना की है। इसे 'स्फोट' कहा जाता है। यही वाचक है। यह वैखरी ध्वनियों से अभिव्यक्त होकर अर्थ का वाचक होता है। इसीलिये स्फोट शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ मानी गयीं हैं—

१. स्फुटचते=अभिव्यज्यते वैखरी-ध्वनिरूप-वर्णैरिति स्फोटः।

२. स्फुटति=व्यक्तीभवति अर्थो यस्मात् सः स्फोटः।

यह स्फोटात्मक शब्द नित्य है। ध्वनियाँ व्यंजक हैं। इसीलिए इस स्फोट के एक

(समाधानान्तरभाष्यम्)

अथवा-प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। तद्यथा—शब्दं कुरु, मा शब्दं कार्षीः, शब्दकार्ययं माणवकः, इति ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते। तस्माद् ध्वनिः[1] शब्दः ॥

'प्रदीपः'

अथवेति। अन्यत्र ध्वनिस्फोटयोर्भेदस्य व्यवस्थापितत्वादिहाभेदेन व्यवहारेऽपि न दोषः, द्रव्यादयो न शब्दवाच्या इत्यत्र तात्पर्यात्। **ध्वनिं कुर्वन्निति।** विधिनिषेधयोरप्रवृत्तविषयत्वात्कथमस्य त्रिभिः सम्बन्धः ? उच्यते—शब्दं कुर्वन्नपि 'शब्दं कुर्वि' त्युच्यते विरामाशङ्कायां तन्निवृत्तये। तथानभिमतशब्दश्रवणोद्वेजितेनोच्यते—'मा शब्दं कार्षी' रिति ॥

'भावबोधिनी'

(ख) ध्वनिरूप शब्द

अथवा लोक [—व्यवहार] में पदार्थ की प्रतीति (ज्ञान) कराने वाली ध्वनि को 'शब्द' ऐसा कहा जाता है। वह इस प्रकार है [ध्वनि करने वाला बन्द न कर दे इस उद्देश्य से कहा जाता है)—'शब्द करो।' [ध्वनि को सुनकर क्रुद्ध व्यक्ति रोकने के लिए कहता है—] 'शब्द मत करो।' 'यह माणवक (ब्रह्मचारी) शब्द करने वाला है—ऐसा ध्वनि करने वाले से कहा जाता है। इसलिए 'ध्वनि' शब्द है।

होने पर भी नानात्व की प्रतीति होती है। इस स्फोट के काल्पनिक आठ भेद माने गये हैं—(१) वर्णस्फोट, (२) पदस्फोट, (३) वाक्यस्फोट, (४) वर्णजातिस्फोट, (५) पदजातिस्फोट, (६) वाक्यजातिस्फोट, (७) अखण्डपदस्फोट, (८) अखण्डवाक्यस्फोट।

उक्त अष्टविध स्फोटों में अखण्डवाक्यस्फोट या अखण्डवाक्यजातिस्फोट ही प्रमुख माना जाता है। इस स्फोट के विषय में विशद चर्चा वाक्यपदीय, वैयाकरण-भूषण, वैयाकरणसिद्धान्त-मञ्जूषा और स्फोटवाद आदि ग्रन्थों में देखी जा सकती है।

१. वैयाकरणों के अतिरिक्त मीमांसक भी शब्द की नित्यता स्वीकार करते हैं। परन्तु वे 'स्फोट' की आवश्यकता नहीं मानते हैं। इन दो के अतिरिक्त सभी शास्त्रों में और लोकव्यवहार में अर्थप्रत्यायक 'ध्वनि' ही शब्द रूप से प्रसिद्ध है। अतः भाष्यकार ने ध्वनि को भी शब्दरूप से प्रदर्शित किया है।

उक्त दोनों मतों के अनुसार 'गौः' इस ज्ञान में जो तत्त्व अर्थ का बोध कराने वाला है वही शब्द है। अतः द्रव्यादि शब्द नहीं हैं।

(शब्दानुशासनशास्त्रप्रयोजनाधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

कानि पुनः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि ?

(समाधानभाष्यम्)

रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्[1] ॥

'प्रदीपः'

कानि पुनरिति। किं संध्योपासनादिवद्व्याकरणाध्ययनं नित्यं कर्म, अथ काम्यमिति प्रश्नः ॥

'भावबोधिनी'

व्याकरणाध्ययन के प्रयोजन

[बिना किसी प्रयोजन के कोई भी किसी महत्त्वपूर्ण और श्रमसाध्य कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है। अतः भाष्यकार ने यहाँ प्रधान और गौणरूप से व्याकरणाध्ययन के ५+१३=१८ प्रयोजन प्रस्तुत किये हैं।]

तो फिर शब्दानुशासन [व्याकरणशास्त्र के अध्ययन] के कौन-कौन से प्रयोजन हैं ?

पाँच मुख्य प्रयोजन

(१) रक्षा, (२) ऊह, (३) आगम, (४) लघु और (५) असन्देह (सन्देह का प्रागभाव)—[ये पाँच मुख्य] प्रयोजन हैं।

---

१. 'रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्' यहाँ एक पद बहुवचनान्त है और दूसरा एकवचनान्त। अतः दोनों का अन्वय किस प्रकार होगा ? इस शंका का समाधान यह है कि 'प्रयोजन' शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ हैं (क) प्रयुज्यतेऽनेन—इस अर्थ में निष्पन्न 'प्रयोजनः' यह पुल्लिङ्ग और प्रवर्त्तकपरक है। शेष 'प्रयोजन' शब्द फलपरक होने से नपुंसकलिङ्ग में हैं। अतः पाँच रक्षा ऊहादि के लिए पाँच प्रयोजन शब्द हैं। इनमें एक प्रयोजन=प्रयोजक है जो आगम के साथ उचित है, पुलिङ्ग हैं, शेष चार नपुंसकलिङ्ग हैं : प्रयोजनं च प्रयोजनं च प्रयोजनः च प्रयोजनं च प्रयोजनं च—इनमें "नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्" (पा० सू० १।२।६९) से नपुंसक एकशेष रहता है और विकल्प से एकवद्भाव भी होता है। अतः 'प्रयोजनम्' और 'प्रयोजनानि' दोनों शब्द समान अर्थ वाले ही हैं। इस कारण एकवचनान्त भी यह 'प्रयोजनम्' पाँच प्रयोजनों का प्रतिपादक है, इस कारण अन्वय अबाधित है।

(रक्षापदार्थनिरूपणभाष्यम्)

(१) रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्। लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग् वेदान् परिपालयिष्यतीति ॥[1]

'प्रदीपः'

पारम्पर्येण पुरुषार्थसाधनत्वमस्याह—रक्षेति। लोके लोपाद्यदृष्टं वेदे दृष्ट्वा भ्राम्येदवैयाकरणः, वैयाकरणस्तु न भ्राम्यति वेदार्थं चाध्यवस्यति। तत्र लोपागमयोरुदाहरणं 'देवा अदुह्र'ति। दुहेर्लङ्गो झस्यादादेशे कृते लोपस्त आत्मनेपदेष्विति' तलोपः, 'बहुलं छन्दसी'ति रुटि सति रूपमेतत्। वर्णविकारो यथा—उद्ग्राभं च निग्राभं चेति। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' 'हस्येतिवक्तव्यमि'ति हस्य भकारः। 'उदि ग्रह' इत्यत्र 'उद्ग्राभनिग्राभौ च च्छन्दसि स्रुगुद्यमननिपातनयो'रिति वचनादुन्निपूर्वाद् ग्रहेर्घञ् ॥

'भावबोधिनी'

(१) रक्षा—वेदों की रक्षा के लिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए। क्योंकि [वर्णादि के] लोप, आगम और वर्णविकार (एक वर्ण के स्थान पर दूसरे वर्ण का आदेश)—इनको जानने वाला (वैयाकरण) ही वेदों की रक्षा सम्यग् रूप से करेगा। (कर सकता है)।

---

१. लौकिक संस्कृत के शब्द रूपों की तुलना में वैदिक शब्दों में कहीं-कहीं बहुत अन्तर होता है। लौकिक शब्द में न दिखाई देनेवाले किसी वर्ण के लोप (अभाव), आगम (आधिक्य) या विकार (परिवर्तन) को वैदिक शब्द में देखकर अवैयाकरण भ्रम में पड़ सकता है। वह वैदिक रूप को अशुद्ध समझने लगेगा। इसके फलस्वरूप वेदमन्त्र का उच्छेद कर डालेगा। उदाहरणार्थ—लौकिक संस्कृत में 'देवा अदुहत' यह रूप लङ्लकार में होता है। परन्तु वेद में 'देवा अदुह्र' ऐसा होता है—दुह + लङ् = झ = अत, अट् आगम—अदुह् + अत, "लोपस्त आत्मनेपदेषु (पा० सू० ७।१।४१) से 'त' का लोप और 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० ७।१।८) से रुट् = र् करने पर 'अदुह्र' बनता है। यहाँ लोप और आगम का आधिक्य है। 'उद्ग्राभम्, जभार' आदि में 'ह' का भ वर्णविकार वेद में है। लोक में नहीं है। यहाँ भी भ्रम हो सकता है। इसे दूर करने के लिए व्याकरणाध्ययन आवश्यक है।

"एवञ्च वेदार्थज्ञानपूर्वकं शुद्धतत्तन्मन्त्रैस्तद्विहितकर्मानुष्ठानेन स्वर्गसुखम्, उपनिषदर्थज्ञानेन वक्ष्यमाणरीत्या वा मोक्षश्च पुरुषार्थौ व्याकरणाध्ययनस्य फलमिति भावः ॥ विकार इति। लोपस्तु न विकार इति पृथग्गणितः। भावरूप एव चादेशोऽत्र विकारः ॥ (उद्द्योतः)

(ऊहपदार्थनिरूपणभाष्यम्)

(२) ऊहः खल्वपि—न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः। ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं[1] विपरिणमयितव्याः। तान्नावैयाकरणः शक्नोति यथायथं विपरिणमयितुम्। तस्मादध्येयं व्याकरणम् ॥

'प्रदीपः'

ऊहः खल्वपीति। इह यस्मिन् यागे इतिकर्तव्यतोपदिष्टा यागान्तरेणोपजीव्यते सा प्रकृतिः। येन चोपजीव्यते सा विकृतिः। 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्येति' मीमांसकैर्व्यवस्थापिते न्याये प्रकृतिप्रत्ययादीनामूहं वैयाकरणः सम्यग्विजानाति। तत्राग्नेर्मन्त्रोऽस्ति—'अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामीति'। 'सौर्यं चरुं निर्वपेद्

'भावबोधिनी'

(२) ऊह[2]—अपेक्षित परिवर्तन (=ऊह) भी [व्याकरणाध्ययन का प्रयोजन] है। वेद में मन्त्र सभी लिङ्गों (लिङ्गबोधक पदों) और सभी विभक्तियों (सर्व-विभक्त्यन्त पदों) के साथ (युक्त) नहीं पढ़े गए हैं अर्थात् किसी एक लिङ्ग और विभक्ति के रूप में ही पठित हैं। यज्ञ [कार्य] में प्रवृत्त पुरुष को उन मन्त्रों को अर्थानुसार उचितरीति से अवश्य बदल लेना चाहिए। परन्तु अवैयाकरण उन्हें उचित रीति से [अपेक्षित लिङ्ग और विभक्ति के साथ] नहीं बदल सकता। इसलिए [विपरिणाम की सामर्थ्यप्राप्ति के लिए] व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।

---

१. यथार्थम्—इत्यपि पाठः।

२. यागसम्बन्धी प्रक्रिया का विवेचन दो प्रकार से किया गया है—(१) एक में साङ्गोपाङ्ग विधि का उल्लेख रहता है। इसे 'प्रकृति–याग' कहा जाता है। (२) जिसमें सामान्य उल्लेख रहता है शेष कार्य प्रकृतियाग के अनुसार किये जाते हैं उसे 'विकृतियाग' कहा जाता है। मीमांसकों का नियम है "प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या।"

प्रकृतियाग में विनियुक्त मन्त्रों के देवतादि के वाचक जो पद रहते हैं उन्हें विकृतियाग के देवतादि का बोध कराने के लिए आवश्यकतानुसार बदल लिया जाता है। इसे ही 'ऊह' कहा जाता है। उदाहरणार्थ–प्रकृतियाग आग्नेय याग है इसमें देवतोद्देश्यक द्रव्य का अग्नि में प्रक्षेप (परित्याग) करते समय यह मन्त्र पढ़ा जाता है "अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि।" सौर्ययाग में ऐसा कोई मन्त्र नहीं

(आगमपदार्थनिरूपणभाष्म्)

(३) आगमः खल्वपि—"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च" इति । प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम् । प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति ॥

'प्रदीपः'

ब्रह्मवर्चसकामः' इति सौर्ये चरौ मन्त्र ऊह्यते—'सूर्याय त्वा जुष्टं निर्वपामी'ति विस्तरेण भर्तृहरिणा प्रदर्शित ऊहः ॥

आगम इति । आगमः प्रयोजनः प्रवर्तको नित्यकर्मतां व्याकरणाध्ययनस्य दर्शयति । प्रयोजनशब्देन च फलं प्रयोजकश्चोच्यते । निष्कारण इति । दृष्टं कारणमनपेक्ष्येत्यर्थः । प्रधानं चेति । पदपदार्थविगमस्य व्याकरणनिमित्तत्वात्तन्मूलत्वाद्वाक्यवाक्यार्थावसायस्येति भावः ॥

'भावबोधिनी'

(३) आगम (वेदवचन) भी व्याकरणाध्ययन का प्रयोजन=प्रयोजक (प्रेरक) है । [वह मन्त्र कहता है—] "ब्राह्मण को निष्कारण (किसी दृष्ट लौकिक कारण की अपेक्षा किए विना ही) छः अङ्गों वाले [शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष और छन्दों सहित] धर्मरूप वेद का अध्ययन (पाठ) और ज्ञान (अर्थबोध) करना चाहिए ।" छः वेदाङ्गों में व्याकरण ही प्रमुख अङ्ग है । और प्रधान के विषय में किया गया प्रयत्न सफल होता है ।

पढ़ा गया है । "सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चस्कामः" के अनुसार ब्रह्मवर्चस् के अभिलाषी को सूर्य-देवतार्थं हवन करना चाहिए । इसके लिए मन्त्र में विभक्ति, लिङ्ग आदि की कल्पना करनी चाहिए । "अग्नये" इस चतुर्थ्यन्त के आधार पर 'सूर्याय' ऐसी कल्पना करके 'सूर्याय त्वा जुष्टं निर्वपामि' मन्त्र द्वारा हवन करना चाहिए । इसमें केवल प्रकृति का ऊह किया गया ।

यद्यपि ऊह में मन्त्रत्व नहीं होता है तथापि एकदेश के ऊह में भी अनेक पद-समुदाय में मन्त्रत्व के प्रत्यभिज्ञान से ऊहघटित समुदाय में मन्त्रत्व का व्यवहार होता है, जैसा कि "मल्लग्राम" आदि व्यवहार होता है ।

प्रकृतिलिङ्ग का ऊह—"देवीरापः शुद्धाः स्थ" यह आप् (जल) में विनियुक्त स्त्रीलिङ्ग है । आज्य (नपुंसकलिङ्ग) में 'देवा आज्य शुद्धमसि' ऐसा ऊह होता है । वचनमात्र का ऊह "मा भैर्मा संविक्थाः" यह पुरोडाश में विनियुक्त है । धान में विनियुक्त करने पर बहुवचन होता है "मा भैष्ट मा संविजिध्वम् ।" एकवचन का बहुवचन होता है ।

(लघुपदार्थनिरूपणभाष्यम्)

(४) लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम् । "ब्राह्मणेनावश्यं शब्दा ज्ञेयाः"[१] इति । न चान्तरेण व्याकरणं लघुनोपायेन शब्दाः शक्या ज्ञातुम् ।।

(असन्देहपदार्थनिरूपणभाष्यम्)

(५) [२]असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम् । याज्ञिकाः पठन्ति—"स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेते"ति ।

तस्यां सन्देहः—स्थूला चासौ पृषती च स्थूलपृषती, स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सेयं स्थूलपृषतीति । तां नावैयाकरणः स्वरतोऽध्यवस्यति—

'प्रदीपः'

लघ्वर्थमिति । लाघवेन शब्दज्ञानमस्य प्रयोजनम् । ब्राह्मणेनेति । अध्यापनं ब्राह्मणस्य वृत्तिः । न चाशब्दज्ञं तमुपश्लिष्यन्ति शिष्या इति ॥

असन्देहार्थमिति । संदेहस्य प्रागभावोऽत्र द्रष्टव्यो न तु प्रध्वंसाभावः । न

'भावबोधिनी'

[वेदमन्त्र वाक्यात्मक हैं । वाक्यार्थ-ज्ञान में पदार्थ—ज्ञान की उपयोगिता अनुभवसिद्ध है । पदार्थ में प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ का ज्ञान व्याकरण से ही संभव है । अतएव व्याकरण का प्राधान्य स्पष्ट है ।]

(४) लघु=लाघव के लिए भी व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए । "ब्राह्मण को शब्दों का ज्ञान अवश्य करना चाहिए ।" व्याकरण के अतिरिक्त किसी अन्य उपाय द्वारा लाघव से शब्दों का ज्ञान करना संभव नहीं है ।

(५) असन्देह के लिए भी व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए । याज्ञिक (यज्ञकाण्ड में होनेवाले वैदिक शब्द) यह पढ़ते हैं (=प्रतिपादित करते हैं)—"अग्नि और वरुण देवताओं वाली अर्थात् उनके उद्देश्यवाली, स्थूलपृषती अनड्वाही (गाय) का आलम्भन=समर्पण करे ।"

---

१. व्याकरणाध्ययन द्वारा शब्दों का उत्तम ज्ञान होता है । अतः अध्येता शुद्ध और सुन्दर प्रवक्ता बनता है । उसकी वक्तृत्वकला की प्रशंसा सर्वत्र होती है । फलस्वरूप उसके शिष्य दिन प्रतिदिन बढ़ने लगते हैं । वह उत्तमकोटि का आचार्य बन जाता है ।

२. 'असन्देहः' यहाँ नञ् का अर्थ अभाव है । अभाव कई प्रकार का है । यहाँ प्रागभाव ही लेना चाहिए । क्योंकि जो वस्तुतः वैयाकरण होता है उसे सन्देह होता

यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं ततो बहुव्रीहिः, अथ समासान्तोदात्तत्वं ततस्तत्पुरुष इति[1] ॥

'प्रदीपः'

हि वैयाकरणस्य संशय उत्पद्य विनश्यति, इतरस्यैव तदुत्पादात् ॥ स्वरत इति। पूर्वपदप्रकृतिस्वराद् बहुव्रीह्यर्थावसाय इत्यर्थः ॥

'भावबोधिनी'

इस [विशेषण स्थूलपृषती पदार्थ] में सन्देह होता है—स्थूल भी है और पृषती (=बिन्दुओं वाली, धब्बों वाली) भी है, [ऐसा कर्मधारय करके मत्वर्थ लक्षणा है।] अथवा—स्थूल=वड़े-बड़े विन्दु हैं जिसके [शरीर में] वह स्थूलपृषती है। [कर्मधारय के बाद मत्त्वर्थ में लक्षणा है अथवा बहुव्रीहि है—ऐसा सन्देह होता है।] अवैयाकरण व्यक्ति स्वर द्वारा इस [अनड्वाही] का निश्चय नहीं कर सकता। यदि [स्थूलपृषती—इस समासयुक्त पद में] पूर्वपद [स्थूल] का प्रकृतिस्वर (अपना मूल स्वर) है तो उससे बहुव्रीहि होता है और यदि [स्थूलपृषती का] अन्त उदात्त रहता है तो तत्पुरुष (कर्मधारय और मत्त्वर्थलक्षणा) होता है।

ही नहीं है। आधुनिक दशा देखकर प्रध्वंसाभाव भी कहा जा सकता है। सन्देह होता है किन्तु वह अपने ज्ञान और परिश्रम से उसे दूर कर लेता है।

१. 'स्थूलपृषती' यह सन्देह का विषय है। स्थूला चासौ पृषती च—ऐसा कर्मधारय तत्पुरुष करने के बाद 'पृषती' की मतुबर्थ=पृषद्वती में लक्षणा की जाती है। इस विग्रह के अनुसार अनड्वाही स्थूल और पृषद्वती होनी चाहिए। ये दोनों विशेषतायें उसी की अपेक्षित है। पृषत्=विन्दु स्थूल हों या छोटी—इसका कोई महत्त्व नहीं है।

परन्तु जब—स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा—ऐसा विग्रह करके बहुव्रीहि किया जाता है तब—बड़ी-बड़ी विन्दुओंवाली गाय—ऐसा अर्थ अभीष्ट होता है। यहाँ गाय स्थूल हो या दुर्बल—यह नहीं देखा जाता है। उसके शरीर पर बने हुए विन्दु (धब्बे) स्थूल होने चाहिए, यही आवश्यक है।

इस सन्दिग्ध पद का अर्थनिर्णय स्वर से ही सम्भव है। पाणिनि का सूत्र है "वहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्" (पा० सू० ६. २. १) बहुव्रीहि में पूर्वपद (स्थूल) का प्रकृतिस्वर (अपना स्वर) रहता है। 'स्थूल' शब्द 'फिषोऽन्त उदात्तः'

(व्याकरणाध्ययनसाधकागमप्रतीकभाष्यम्)

इमानि च भूयः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि—(१) तेऽसुराः। (२) दुष्टः शब्दः। (३) यदधीतम्। (४) यस्तु प्रयुङ्क्ते। (५) अविद्वांसः। (६) विभक्तिं कुर्वन्ति। (७) यो वा इमाम्। (८) चत्वारि। (९) उत त्वः। (१०) सक्तुमिव। (११) सारस्वतीम्। (१२) दशम्यां पुत्रस्य। (१३) सुदेवो असि वरुण इति ।।

'प्रदीपः'

मुख्यानि प्रयोजनानि प्रदर्श्यानुषङ्गिकाणि[1] प्रदर्शयति—इमानि चेति। भूय इति। पुनरित्यर्थः। आनुषङ्गिकत्वाच्चैषां वर्गद्वयोपादानम् ।।

'भावबोधिनी'

व्याकरणाध्ययन के तेरह आनुषङ्गिक प्रयोजन

और ये शब्दानुशासन (=व्याकरण के अध्ययन) के (तेरह आनुषङ्गिक) प्रयोजन [कहे जा रहे हैं—] (१) 'वे असुर।' (२) 'दोषयुक्त शब्द।' (३) 'जिसे पढ़ा। (४) जो प्रयुक्त करता है।' (५) 'अविद्वान् लोग।' (६) विभक्ति का प्रयोग करते हैं।' (७) 'जो इस वेदरूपा वाणी को।', (८) 'चार।' (९) 'एक कोई।' (१०) 'सत्तुओं के समान।' (११) 'सरस्वती देवी-सम्बन्धी।' (१२) 'दशवीं रात्रि के बाद।' (१३) 'हे वरुण ! सुदेव हो।'

(फिट् सूत्र १।१) के अनुसार अन्तोदात्त है। "अनुदात्तं पदमेकवर्जन्" (६।१।१५८) से शेष-निघात होता है। इस पूर्वपद के प्रकृतिस्वर द्वारा ही बहुव्रीह्यर्थ का निश्चय होता है, यही सिद्धान्तपक्ष है।

कर्मधारय तत्पुरुष में मत्त्वर्थलक्षणारूप गौरव होने से वह स्वीकार्य नहीं है। तत्पुरुष में "समासस्य" (पा० सू० ६.१.२२३) से अन्त 'ई' उदात्त होता है।

१. प्रधानत्वादेव तेषां पूर्वोक्तानां प्रथमतोऽभिधानम्। आनुषङ्गिकत्वादेषां पश्चादभिधानम्। तेषां प्रधानत्वं च पदपदार्थज्ञानाधीनत्वेनान्तरङ्गत्वात्। वक्ष्यमाणानां च बहिरङ्गशब्दापशब्द-प्रयोगविधिनिषेधविषयत्वादानुषङ्गिकत्वं बोध्यम्। [भाष्ये] प्रयोजनानि=प्रवर्त्तकानि फलानि चेत्यर्थः। तत्र वक्ष्यमाणवाक्यानि प्रवर्त्तकानि, तद्बोध्यानि फलानीति विवेकः। (उद्द्योतः)।

(१) तेऽसुराः—

"तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः[1]। तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै, म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः" ॥

म्लेच्छा मा[2] भूमेत्यध्येयं व्याकरणम् । तेऽसुराः ॥

'प्रदीपः'

तेऽसुरा हेलय इति । निन्दार्थवादेन 'न म्लेच्छितवा' इति म्लेच्छनं निषिध्यते । तत्र केचिदाहुः 'हैहेप्रयोगे हैहयोः' इति प्लुते प्रकृतिभावे च कर्तव्ये तदकरणं म्लेच्छनमिति । पदद्विर्वचने कार्ये वाक्यद्विर्वचनं लत्वं च म्लेच्छनमित्यपरे । 'न म्लेच्छितवा' इत्यस्य पर्यायो नापभाषितवा इति । 'कृत्यार्थे' इति तवैप्रत्ययः । म्लेच्छ इति । कर्मणि घञ् ॥

'भावबोधिनी'

(१) वे असुर लोग—

वे असुर लोग 'हेलयः हेलयः' ऐसा [उच्चारण] करते हुए अर्थात् चिल्लाते हुए पराजित हो गए । इसलिए ब्राह्मण को म्लेच्छन=अपभाषण=अशुद्धोच्चारण नहीं करना चाहिए । क्योंकि जो अपशब्द है वह निश्चय ही म्लेच्छ है । हम म्लेच्छ न हो जाँय, इसलिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए । वे असुर लोग ।

---

१. किसी समय असुरों और देवों में संघर्ष होनेपर देवता लोग हार कर भागने लगे । उन्हें युद्ध करने के लिए असुरों ने ललकारा । यहाँ वे असुर अज्ञानतावश तीन अशुद्धियाँ कर बैठे—

(क) 'है-हे-प्रयोगे हैहयोः' (पा० सू० ८।६।२५) इसके अनुसार 'हे' का प्लुत और प्रकृतिभाव करना चाहिए था वह न करके पूर्वरूप सन्धि कर दी—'हेऽलयः हेऽलयः ।'

(ख) 'सर्वः प्लुतः साहसमनिच्छतापि विभाषा कर्त्तव्यः' इसके अनुसार प्लुत करना अनिवार्य नहीं है । अतः असुरों की दूसरी अशुद्धि है एक एक पद का द्वित्व न करना 'हे हे अलयः अलयः' ऐसा न करके वाक्य का द्वित्व करना "हेऽलयः हेऽलयः ।"

(ग) यद्यपि द्वित्व करने में कोई नियम अनिवार्य नहीं है अतः उक्त दोष नहीं है तथापि रेफ का 'ल' करना 'अरयः' का 'अलयः' बोलना—यह दोष है ।

कहीं कहीं 'हेऽलवो हेऽलवो' ऐसा पाठ भी मिलता है । यहाँ 'य' का 'व' उच्चारण करना दोष है—ऐसा शब्दकौस्तुभ में लिखा है । 'म्लेच्छ' इसका अर्थ निन्दनीय पुरुष या स्थानविशेष प्रसिद्ध है परन्तु 'म्लेच्छयते यः सः' ऐसे कर्म अर्थ में घञ् करके 'अपशब्द' का वाचक हो जाता है । अतः (१) म्लेच्छ=अपशब्दवक्ता और (२) अपशब्द दोनों अर्थों वाला है ।

२. मा भूम, मा प्रयुक्ष्महि, मा अधिगीष्महि—आदि भाष्यप्रयोगों में विधिलिङ् का अर्थ है । परन्तु "माङि लुङ्" (पा. सू. ३. ३. १७५) इस सूत्र से माङ् के योग

(२) दुष्टः शब्दः—

"दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥"[१] इति ॥

'प्रदीपः'

दुष्टः शब्द इति । स्वरेण=स्वरतः, आद्यादित्वात्तसिः । मिथ्याप्रयुक्त इति । यदर्थंप्रतिपादनाय प्रयुक्तस्ततोऽर्थान्तरं स्वरवर्णदोषात्प्रतिपादयन्नाभिमतमर्थमाहेत्यर्थः । वागेव वज्रो हिंसकत्वात् । यथेन्द्रशत्रुशब्दः स्वरदोषाद् यजमानं हिंसितवानित्यर्थः । इन्द्रस्याभिचारो वृत्रेणारब्धस्तत्र 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्वे'ति मन्त्र ऊहितः । तत्रेन्द्रस्य शातयिता शमयिता वा भवेति क्रियाशब्दोत्र शत्रुशब्द आश्रितो न तु रूढिशब्दः, तदाश्रयणे हि बहुव्रीहितत्पुरुषयोरर्थाभेदः । तत्रेन्द्रामित्रत्वे सिद्धे सति 'इन्द्रस्य शत्रुर्भवे'त्यत्रार्थे प्रतिपाद्येऽन्तोदात्ते प्रयोक्तव्य आद्युदात्त ऋत्विजा प्रयुक्त इत्यर्थान्तराभिधानादिन्द्र एव वृत्रस्य शातयिता सम्पन्नः । इन्द्रशत्रुत्वस्य च

'भावबोधिनी'

(२) दोषयुक्त शब्द—

(उदात्तादि) स्वर से अथवा (अकारादि) वर्ण से (इन दोनों में किसी भी दृष्टि से) दोषयुक्त (अत एव) मिथ्याप्रयुक्त शब्द उस (विवक्षित) अर्थ को नहीं कहता है (नहीं कह सकता है)। वह वाणी रूपी वज्र उस यजमान (अनुष्ठान करने वाले या कराने वाले) को उसी प्रकार मार डालता है जिस प्रकार 'इन्द्रशत्रु'

में सभी लकारों का अपवाद लुङ् होने पर "न माङ् योगे" (पा.सू. ६.४.७४) सूत्र से अट्, आट् आगमों का निषेध हो जाता है। अतः 'मा भूम=हम न होवें; मा प्रयुक्ष्महि=हम प्रयोग न करें—आदि अर्थ होते हैं ।

१. ब्राह्मण—ग्रन्थ में ऐसा आख्यान मिलता है कि किसी समय त्वष्टा के एक पुत्र विश्वरूप को इन्द्र ने मार डाला था। इस कारण त्वष्टा अत्यन्त क्रुद्ध हुए और इन्द्र का वध करने की इच्छा से एक अभिचार प्रयोग करने लगे। उस आभिचारिक याग में जिस मन्त्र का प्रयोग किया गया वह 'स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' था। इसका आशय यह था कि हे अग्निदेव आप इन्द्र के घातक बन कर बढ़ो अर्थात् जो सन्तान हमें प्राप्त हो वह इन्द्र का संहार करने वाली हो।

'इन्द्रशत्रु' यह समास है इसके दो विग्रह होते हैं (क) इन्द्रस्य शत्रुः (२) इन्द्रः शत्रुः यस्य सः—षष्ठीतत्पुरुष और बहुव्रीहि के आशय में अन्तर नहीं प्रतीत होता है।

दुष्टाञ्छब्दान् मा प्रयुक्ष्महीत्यध्येयं व्याकरणम् ।। दुष्टः शब्दः ।।

'प्रदीपः'

विधेयत्वाद् सम्बोधनविभक्तेरनुवाद्यविषयत्वादिहाभावः । यथा—राजा भव युध्यस्वेति ।। ऊह्यमानस्य चामन्त्रत्वाद् 'यज्ञकर्मणी'ति जपादिपर्युदासेन मन्त्राणामेकश्रुतिर्विधीयमाना नेह भवति ।।

'भावबोधिनी'

इस शब्द ने स्वर के अपराध से (वृत्रासुर को मार डाला) ।

हम लोग दोषयुक्त शब्दों का प्रयोग न करें (ज्ञानपूर्वक शुद्ध उच्चारण कर सकें)—इसके लिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए । दोषयुक्त शब्द ।

इस कारण इस 'शत्रु' शब्द को रूढ न मान कर यौगिक माना जाता है—शातयति—इति शत्रुः । अतः इन्द्र के शातयिता=घातक बनकर प्रवृद्ध हो, ऐसा भाव था । यह तभी निकलता जब 'इन्द्रस्य शत्रुः=शातयिता=घातकः' ऐसा तत्पुरुष होता अथवा व्यस्त प्रयोग होता । इसके लिए 'इन्द्रशत्रुः' यहाँ अन्तोदात्त स्वर आवश्यक था । त्वष्टा ने अज्ञानतावश पूर्वपद (इन्द्र) का प्रकृतिस्वर (उदात्त) बोला था । इस कारण 'इन्द्रः शत्रुः=घातकः यस्य स एतादृशः—ऐसा अनिष्ट अर्थ हो गया । फल यह हुआ कि याग के बाद उत्पन्न वृत्र का वध इन्द्र ने ही कर डाला ।

"अथ यदब्रवीत्='इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' इति तस्मादु हैनमिन्द्र एव जघान । अथ यद्ध शश्वदवक्ष्यत्—इन्द्रस्य शत्रुर्वर्धस्वेति शश्वदुह स इन्द्रमेवाहनिष्यत् ।" (शतपथ १. का. ५. प्र. २ ब्रा०) ।

सामान्यतया "यज्ञकर्मणि अजपन्यूङ्खसामसु" (१।२।३४) यह सूत्र एकश्रुति का विधान करता है। अतः स्वरत्रय के उच्चारण का प्रश्न ही नहीं उठता है? ऐसी शंका होती है। समाधान यह है कि ऊह्यमान मन्त्र नहीं माना जाता अतः एकश्रुति का नियम नहीं लगना चाहिए । पुनः शंका हो सकती है कि जब मन्त्र ही नहीं है तब स्वरदोष क्यों ? समाधान यह है ऊह के विधायक शास्त्र के बल से ऐसे स्थल भी उसी प्रकार फलजनक होते हैं जिस प्रकार 'सूर्याय त्वा' आदि ऊह्यमान शब्दप्रयोग ।

कैयटप्रदीप में 'इन्द्रस्याभिचारो वृत्रेणारब्धः' यहाँ 'वृत्रेण' यह हेतु में तृतीया है और फल भी हेतु होता है । अतः वृत्र की उत्पत्ति रूप फल के लिए त्वष्टा द्वारा यज्ञ आरम्भ किया गया था, यह अर्थ है ।

(३) यदधीतम्—

"यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥
तस्मादनर्थकं माधिगीष्महीत्यध्येयं व्याकरणम् ॥ यदधीतम् ॥

(४) यस्तु प्रयुङ्क्ते—

"यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले ।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति[1] चापशब्दैः ॥"

'प्रदीपः'

अविज्ञातमिति । अविदितस्वरादिसंस्कारत्वादर्थापरिज्ञानाद्वा ॥ **निगदेनेति ।** पाठमात्रेण । **न तज्ज्वलतीति ।** निष्फलं भवति ॥ **अनर्थकमिति ।** निष्प्रयोजनम् ॥

यस्तु प्रयुङ्क्ते इति । अनेनाभ्युदयहेतुत्वं व्याकरणाध्ययनस्य दर्शयति ॥ **विशेष इति ।** स एव शब्दः क्वचिदर्थे केनचिन्निमित्तेन प्रयुक्तः साधुरन्यथा-

'भावबोधिनी'

(३) जो पढ़ा गया—

जो (मन्त्रादि) (अक्षरादिरूप में तो) पढ़ा गया (किन्तु अर्थ) समझा नहीं गया वह केवल पाठ द्वारा (पुनः पुनः) शब्दितः=उच्चारित होता रहता है । अनग्नि (आगरहित राख आदि के ढेर) में सूखी लकड़ी के समान वह (अध्ययन) कभी भी नहीं जलता है, प्रकाशित नहीं होता है । (जिस प्रकार आगरहित स्थान राख आदि के ढेर पर रखी गई सूखी से सूखी लकड़ी नहीं जलती है, उसी प्रकार अर्थज्ञान-शून्य अध्ययन भी केवल उच्चारण है, उससे कोई लाभ नहीं होता है)।

इस कारण हम लोग अनर्थक (निष्फल और अर्थज्ञानशून्य) अध्ययन न करें—इसलिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए । जो पढ़ा गया ।

(४) जो प्रयुक्त करता है—

(उचित शब्दों के प्रयोग में) कुशल जो व्यक्ति व्यवहार-काल में (अर्थ-) विशेष में शब्दों का यथावत् (सर्वविध दोष-रहित रूप से) प्रयोग करता है वह वाग्योगवित् (=शब्द, अर्थ और इनके सम्बन्ध को जानने वाला) वैयाकरण पर-

---

१. प्रस्तुत पद्य में 'वाग्योगवित्' एक कर्तृपद है और 'जयम् आप्नोति' तथा 'अपशब्दैः दुष्यति' ये दो क्रियापद हैं । अतः यह स्वाभाविक है कि क्या 'वाग्-योगवित्' इन दोनों का कर्ता है, वही जय प्राप्त करता है और वही दोष प्राप्त करता है अथवा 'दुष्यति' क्रिया का कर्ता दूसरा है ? इसी का स्पष्टीकरण किया जा रहा है ।

वाचः योगः=प्रकृतिप्रत्ययविभागेनार्थविशेषपरत्वं, तद्वेत्तीति—वाग्योगवित् ।

कः ?

वाग्योगविदेव ।।

कुत एतत् ?

यो हि शब्दाञ् जानात्यपशब्दानप्यसौ जानाति । यथैव हि शब्दज्ञाने धर्मः, एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः ।

अथ वा भूयानधर्मः प्राप्नोति । भूयांसोऽपशब्दाः, अल्पीयांसः शब्दा इति । एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः । तद्यथा—गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्यादयो बहवोऽपभ्रंशाः ।

अथ योऽवाग्योगवित्, अज्ञानं तस्य शरणम् ।।

'प्रदीपः'

त्वसाधुः । यथाऽस्वेऽस्वशब्दो धनाभावनिमित्तकः साधुर्जातिनिमित्तकोऽसाधुः । गवि च गोणीशब्दः साधर्म्यात्प्रयुक्तः साधुर्जातिप्रयुक्तस्त्वसाधुः ।।

क इति । वाग्योगविदः श्रुतत्वाद्दोषदर्शनाच्च प्रश्नः ।। प्रष्टैव परमतमाशङ्क्याह—वाग्योगविदेवेति ।। एवमपशब्दज्ञानेऽपीति ।। यथा श्लैष्मिकद्रव्यसेवया श्लैष्मिको व्याधिर्भवति तद्विपरीतसेवया त्वारोग्यम्; तथात्रापि यथोक्तं न्याय्यमिति भावः ।। भूयांसोऽल्पीयांस इति । परमनापेक्षया प्रकर्षे प्रत्ययः ।

'भावबोधिनी'

लोक में अनन्त उत्कर्ष (जय) प्राप्त करता है । और अपशब्दों (के प्रयोग) के कारण दोष (पाप) (भी) प्राप्त करता है ।

कौन (दोष प्राप्त करता है) ?

वाग्योगवित् ही (दोष प्राप्त करता है) ।

ऐसा कैसे (होता है) ?

क्योंकि जो शुद्ध शब्दों को जानता है वह अपशब्दों को भी जानता है । जिस प्रकार शुद्ध शब्दों के ज्ञान में धर्म [प्राप्त] होता है, उसी प्रकार अपशब्दों के ज्ञान में अधर्म भी (प्राप्त होता) है ।

अथवा अधिक अधर्म प्राप्त करता है । क्योंकि अपशब्द अधिक हैं, शुद्ध शब्द (उनकी तुलना में) कम हैं । एक एक शुद्ध शब्द के बहुत से अपभ्रंश होते हैं । उदाहरणार्थ—'गौः' इस एक (शुद्ध शब्द) के—गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका (और इस समय के गाय, गइया, गऊ) आदि इस प्रकार के अनेक अपभ्रंश शब्द हैं ।

परन्तु जो अवाग्योगवित्—अवैयाकरण (शब्दार्थ-सम्बन्ध न जानने वाला) है,

(बाधकभाष्यम्)

विषम उपन्यासः। नात्यन्तायाज्ञानं[1] शरणं भवितुमर्हति। यो ह्यजानन् वै ब्राह्मणं हन्यात् सुरां वा पिबेत्, सोऽपि मन्ये पतितः स्यात् ॥

(सिद्धान्तव्याख्याभाष्यम्)

एवं तर्हि—

सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ॥

कः ?

अवाग्योगविदेव ।

अथ यो वाग्योगविद्, विज्ञानं तस्य शरणम् ॥

'प्रदीपः'

यदि मन्यसे—बहवः शब्दाः अल्पेऽपशब्दाः, अङ्गभूयस्त्वाच्च फलभूयस्त्वमिति। तन्न। यस्माद् भूयांसोऽपशब्दा अल्पीयांसः शब्दाः ॥ अज्ञानमिति। तथा च तिरश्चां ब्रह्महत्यादिफलाभावः ॥

नात्यन्तायेति। पुरुषाणां विधिनिषेधयोरधिकारात्तत्परिज्ञाने प्रयत्नस्य न्याय्यत्वात् ॥

प्रकरणात्सामर्थ्यं बलीय इत्याह—अवाग्योगविदिति। वाग्योग-वित्तूभयज्ञोपि शब्दान् प्रयुङ्क्ते नापशब्दानिति ज्ञानपूर्वकप्रयोगादभ्युदयभाग् भवति ॥

'भावबोधिनी'

उसकी शरण (रक्षक) तो अज्ञान है। (अज्ञान के कारण उसे पाप नहीं लगता है।)

(आपका यह) कथन विषम (तर्कसंगत नहीं) है, क्योंकि अज्ञान अत्यन्त (पूर्णरूपेण) शरण (पापरक्षक) नहीं हो सकता है। कारण यह है कि विना जानकारी के जो ब्राह्मण को मार दे अथवा मदिरा पी ले, मैं (यही) मानता हूँ कि वह पतित (पापभागी) ही होगा।

यदि ऐसा है तो—

'वह वाग्योगवित् परलोक में जय=अनन्त उत्कर्ष प्राप्त करता है और अपशब्दों (के प्रयोग) के कारण दूषित (पापभागी) होता है।

(इस में 'दुष्यति' क्रिया का कर्ता) कौन है ? अर्थात् कौन दूषित होता है ?

अवाग्योगवित् (शब्दार्थसम्बन्ध न जानने वाला अवैयाकरण) ही (दूषित होता है)।

और जो वाग्योगवित् (वैयाकरण) है उसका शरण (रक्षक) विशिष्ट ज्ञान है। (वैयाकरण शुद्ध शब्दों को जानता है अतः वह शुद्ध शब्दों का ही प्रयोग

---

१. अत्यन्तमित्यर्थे 'अत्यन्ताय' इत्यव्ययम्।

(आक्षेपभाष्यम्)

क्व पुनरिदं पठितम् ?

(समाधानभाष्यम्)

भ्राजा नाम श्लोकाः ।

(प्रामाण्याक्षेपभाष्यम्)

किं च भोः, श्लोका अपि प्रमाणम् ?

किं चातः ?

यदि श्लोका अपि प्रमाणम्, अयमपि श्लोकः प्रमाणं भवितुमर्हति—

"यदुदुम्बरवर्णानां घटीनां मण्डलं महत् ।।
पीतं न गमयेत् स्वर्गं किं तत् क्रतुगतं नयेत् ।।" इति ।।

'प्रदीपः'

श्लोकस्यापरिज्ञानात्पृच्छति—क्व पुनरिति । प्रातिपदिकार्थप्रश्न एवात्र तात्पर्यम्—किं तदस्ति यत्रेदं पठितमित्यर्थः । अत एव 'श्लोका' इति प्रथमान्तेनोत्तरम् । अन्यथा श्लोकेष्विति वक्तव्यं स्यात् ।।

आप्तोक्तत्वापरिज्ञानादाह—किं च भो इति ।। यदुदुम्बरेति । अयं श्लोकः सौत्रामणियागे सुरापाणस्य दुष्टत्वमुद्भावयति ।।

'भावबोधिनी'

करता है । अतः उसे उत्कर्ष हीं प्राप्त होता है । वह ज्ञान के कारण अपशब्दों का प्रयोग नहीं करता है । फलतः पापभागी भी नहीं होता है ।)

यह (श्लोक) कहाँ पढ़ा गया है ? (अर्थात् वह क्या है जिसमें यह श्लोक पठित है ?)

(कात्यायन द्वारा रचित) भ्राज नामक श्लोक हैं । (उन्हीं में यह भी पठित है ।)

क्यों श्रीमन् ! श्लोक भी प्रमाण होते हैं ?

इस (प्रश्न) से क्या (आशय) है ?

यदि (आपका कहा हुआ यह श्लोक) प्रमाण है तो (मेरा कहा हुआ) यह श्लोक भी प्रमाण हो सकता है—

(मदिरालय में) उदुम्बर=लाल-लाल ताम्बे के सदृश रंगवाली घटियों (सुराहियों) का विशाल समुदाय (उनमें रखी गयी मदिरा) पिया गया यदि स्वर्ग नहीं पहुंचाता है तो (सौत्रामणि) यागसम्बन्धी वह (थोड़ी सी पी गई) सुरा क्या स्वर्ग ले जा सकती है ?

(समाधानभाष्यम्)

प्रमत्तगीत एष तत्रभवतः। यस्त्वप्रमत्तगीतस्तत् प्रमाणम् ॥ यस्तु प्रयुङ्क्ते ॥

(५) अविद्वांसः—

अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः।
कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत् ॥"

'प्रदीपः'

प्रमत्तगीत इति। प्रमादेन = विप्रतिपन्नत्वेन[1] गीत इत्यर्थः। कात्यायनोपनिबद्धभ्राजाख्यश्लोकमध्यपठितस्य त्वस्य श्लोकस्य श्रुतिरनुग्राहिकास्ति—"एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवती"ति ॥

स्त्रीष्विवेति। प्रत्यभिवादे हि गुरुणा प्लुतः कार्यः। यस्तु प्लुतं कर्तुं न जानाति

'भावबोधिनी'

[यदि सौत्रामणि यागादि का अल्प सुरापान स्वर्ग पहुँचा सकता है तो मदिरालय का खूब सुरापान स्वर्ग क्यों नहीं पहुंचा सकता ? यदि मदिरालय का सुरापान स्वर्ग पहुंचाने में समर्थ नहीं है तो यागादि का सुरापान कैसे पहुँचा सकता। दोनों की स्थिति एक सदृश है।]

श्रीमान् का यह श्लोक प्रमाद से कहा गया है। प्रमादरहित होते हुए जो वचन कहा जाता है वही प्रमाण होता है। जो प्रयुक्त करता है।

(५) अविद्वान् (न जानने वाले)—

जो अविद्वान् (न जानने वाले) व्यक्ति प्रत्यभिवादन (अभिवादन के उत्तर में दिये जाने वाले आशीर्वचन) में (अभिवादन कर्ता के) नाम (की टि=अन्तिमस्वर) को प्लुत करना नहीं जानते हैं, ऐसे अज्ञानी लोगों के प्रति प्रवास (बाहर) से लौट कर (यथेष्ट रूप से अर्थात् विधिरहित ढ़ंग से) उसी प्रकार प्रणाम कहना चाहिए जिस प्रकार स्त्रियों के विषय में 'अयम् अहम् अभिवादये' (यह मैं अभिवादन करता हूँ) ऐसा कहा जाता है।

हम (भी) स्त्रियों के समान (अभिवादन करने योग्य) न हो जाँय—इसलिए

---

१. प्रमादेनेति। भावे क्तान्तः। विप्रतिपन्नत्वेन=वेदविषयविप्रतिपत्त्याश्रयत्वेन। तत्त्वं (=वेदविषयविप्रतिपत्त्याश्रयत्वम्) स्वस्मिन्नारोप्य दैत्यनाशाय पूज्यस्यापि भगवत ईश्वरस्य तथोक्तिरिति स न प्रमाणम्। (उद्द्योतः)

१अभिवादे स्त्रीवन्मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम् ।। अविद्वांसः ।।

(६) विभक्तिं कुर्वन्ति—

याज्ञिकाः पठन्ति––"प्रयाजाःसविभक्तिकाः कार्याः" इति । न चान्तरेण

'प्रदीपः'

स स्त्रीवद्वक्तव्योऽयमहमिति, न तु 'अभिवादये देवदत्तोऽहम्' इत्यादिना संस्कृतवाक्ये-नेत्यर्थः ।।

प्रयाजा इति । प्रयाजमन्त्रा ऊह्यमानाग्निशब्दप्रकृतिकविभक्तियुक्ता इत्यर्थः । यथा "समिधः समिधोऽग्न आज्यस्य व्यन्तु अग्नेऽग्न" इति ।

'भावबोधिनी'

व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए । अविद्वान् लोग········ ।

(६) विभक्ति (का प्रयोग) करें (विभक्त्यन्त जोड़ दें)––

याज्ञिक (यज्ञकाण्ड में होने वाले मन्त्र) पढ़ते हैं "प्रयाज (मन्त्र) विभक्ति-युक्त (=विभक्तयन्त पद से युक्त) करने चाहिए । और व्याकरण (के अध्ययन)

---

१. मनुस्मृति आदि धर्मग्रन्थों में अभिवादन तथा प्रत्यभिवादन दोनों को विधि वर्णित है ।

"अभिवादात् परो विप्रो ज्यायांसमभिवादयन् ।
असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् ।। (मनुस्मृति १।१२२)

इसके अनुसार अपने गुरुजनों को प्रणाम करते समय अपने कुल, गोत्र-नामादि का उच्चारण करते हुए ही अभिवादन करना चाहिए 'कश्यपगोत्रः वागीशशर्माहं भवन्तमभिवादये ।' अभिवन्द्य व्यक्ति को अभिवादन करने वाले के नाम की 'टि' (अन्तिम स्वर) को प्लुत करना चाहिए––"आयुष्मान् भव वागीश३ ।" यह प्लुत-विधान पाणिनि के सूत्र "प्रत्यभिवादेऽशूद्रे (पा० सू० ८।२।२३) से ज्ञात होता है। (यद्यपि मनुस्मृति से भी इसका ज्ञान होता है तथापि प्लुत के स्वरूपादि का ज्ञान व्याकरण से ही संभव हैं ।)

जो व्यक्ति प्रत्यभिवादन की प्रक्रिया नहीं जानता है उसे 'अयमहं त्वामभिवादये' इतना ही कहना चाहिए । स्त्रियों को प्रणाम करते समय भी यही कहना चाहिए । अतः टि के प्लुतादिविधान करने में असमर्थ व्यक्ति स्त्रियों के समान साधारणरूप से ही प्रणाम करने योग्य होता है । मनु का वचन है

'नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते ।
तान् प्राज्ञोऽयमहं ब्रूयात् स्त्रियः सर्वास्तथैव च ।।' (मनुस्मृति १।१२३)

अतः व्याकरणाध्ययन करके अभिवादन-प्रत्यभिवादन की पद्धति जान लेना आवश्यक है ।

व्याकरणं प्रयाजाः सविभक्तिकाः शक्याः कर्तुम्[1] ।। विभक्तिं कुर्वन्ति ।।

(७) यो वा इमाम्—

"यो वा इमां पदशः[2] स्वरशोऽक्षरशश्च वाचं विदधाति स आर्त्विजीनो

'प्रदीपः

पदश इति । पदं पदमिति "संख्यैकवचनाच्च वीप्सायामि'ति शस् । स्वरश इति । स्वर उदात्तादिः ।। अक्षरश इति । अक्षरम्—व्यञ्जनसहितोऽच् ।

'भावबोधिनी'

के बिना प्रयाज मन्त्र विभक्ति-विशिष्ट नहीं किये जा सकते । (अतः व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए ।) विभक्त्यन्त करें ।

(७) जो कोई इस (वेदरूप वाणी) को—

जो [कोई] प्रत्येक पद, [उदात्तादि] स्वर तथा [अकारादि] अक्षर के रूप में इस [वेद रूप वाणी) का संस्कार करता है (शुद्ध-शुद्ध उच्चारित करता

---

१. अग्न्याधान के बाद यदि किसी महान् संकट के आ जाने पर अग्न्याधान का कर्मविच्छेद हो जाय तो, पुनराधेय इष्टि करने का विधान है । उस प्रसंग में कहा गया है 'प्रयाजाः सबिभक्तिकाः कार्याः ।' परन्तु उनमें मन्त्र सविभक्तिक ही पठित हैं अतः यहाँ तात्पर्य यह है कि ऊह्यमान जो अग्नि शब्दरूप प्रकृति है उसकी विभक्तियों से युक्त करना चाहिए । और अकेली विभक्ति का प्रयोग नहीं होता है अतः प्रकृतिविशिष्टविभक्ति का प्रयोग सिद्ध होता है । निरुक्त में यह प्रश्न है "अथ किंदेवताः प्रयाजानुयाजाः ?" उत्तर है "आग्नेया इति तु स्थितिः ।" (निरुक्त ८।२२। ८) । "त्वमग्ने प्रयाजानुयाजानां पुरस्तात्त्वं पश्चात् ।' इससे भी अग्निशब्द को ही विभक्तियों की प्रकृति माना जाता है । प्रयुक्त होनेवाली विभक्तियाँ प्रथमा (सम्बोधन), द्वितीया, तृतीया और सप्तमी हैं । अन्तिम (पंचम) अग्निशब्द में विभक्तियुक्त का प्रयोग नहीं होता है । प्रयाज मन्त्र है "समिधः समिधोऽग्न आज्यस्य व्यन्तु व्यन्तु (व्येतु) ।" इसमें 'अग्ने' के बाद उक्त चार विभक्तियों से युक्त एक अग्नि शब्द और पढ़ा जाता हैं । इस सम्बन्ध में आपस्तम्ब का यह वचन द्रष्टव्य है—

"अग्नेऽग्नेऽग्नावग्नेऽग्निनाऽग्नेऽग्निमग्ने इति चतुर्षु प्रयाजेषु चतस्रो विभक्तीर्ददाति ।"

इसमें अग्नि शब्द में प्रथमा (सम्बोधन), सप्तमी, तृतीया और पञ्चमी विभक्तियों का प्रयोग है । विभक्तियों और उनके योग में बननेवाले शब्दरूपों का ज्ञान व्याकरण से ही होता है । अतः व्याकरणाध्ययन करना आवश्यक है ।

२. यो वै=निश्चयेन, इमाम्=सन्निहितामपरोक्षां वाचम्=वेदरूपां वाणीम्, पदं पदम्, स्वरं स्वरम्, अक्षरमक्षरम्, विदधाति=संस्कारोति, सः=एतादृशः पुरुष एव आर्त्विजीनः=याजको यजमानश्च भवतीत्यर्थः ।

भवति" । आर्त्विजीनाः[१] स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम् ।। यो वा इमाम् ।

(८, क) चत्वारि--

"चत्वारि शृङ्गा[२] त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ।।" इति ।

चत्वारि शृङ्गाणि[२] चत्वारि पदजातानि, नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च ।। त्रयो अस्य पादाः—त्रयः काला भूतभविष्यद्वर्तमानाः ।। द्वे शीर्षे—द्वौ

'प्रदीपः'

आर्त्विजीन इति । ऋत्विजमर्हतीति—आर्त्विजीनो यजमानः । ऋत्विक्कर्मार्हतीति-याजकोऽप्यार्त्विजीनः । 'यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञावि'ति सूत्रेण 'यज्ञर्त्विग्भ्यां तत्कर्मार्हतीति चोपसंख्यानमि'ति वार्तिकेन च खञ् । 'विद्वान्यजेत विद्वान्याजये'दिति द्वयोरपि विदुषोरधिकारात् ।।

चत्वारीति । शब्दस्य वृषभत्वेन निरूपणम् ।। **त्रयः काला इति ।** लडादिविषयाः ।। **नित्यः कार्यश्चेति ।** व्यङ्ग्यव्यञ्जकभेदेन । **सप्त विभक्तय**

'भावबोधिनी'

है) वही आर्त्विजीन (याजक और यजमान) बनता है । हम लोग भी आर्त्विजीन बन सकें, इसके लिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए । जो इस वाणी को ।

(८ क) चार—

इस (शब्दवृषभ) के चार सींग, तीन पैर, दो सिर और सात हाथ हैं । तीन प्रकार से=तीन स्थानों पर बँधा हुआ यह वृषभ बार-बार शब्द करता है, (कहता है)—महान् देव (शब्दब्रह्म) मरणधर्मा मनुष्यों में आविष्ट (अन्तर्निहित) है ।

चार सींग—चार पदरूप (क) नाम (प्रातिपदिक या सुबन्त) (ख) आख्यात (धातु या तिङन्त) (ग) उपसर्ग (घ) निपात और (परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा

१. आर्त्विजीन शब्द के दो अर्थ होते हैं । (क) पाणिनि का सूत्र है "यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ" (पा० सू० ५।१।७१) इससे ऋत्विजमर्हति—इस अर्थ में ऋत्विज्+खञ्=ईन, आदिवृद्धि करने पर 'आर्त्विजीनः' बनता है इसका अर्थ है—यजमान । (ख) इस सूत्र पर वार्त्तिक है "यज्ञर्त्विग्भ्यां तत्कर्मार्हतीति चोपसंख्यानम्" के अनुसार 'ऋत्विक्कर्म अर्हति इस अर्थ में भी खञ् होता है । इस विग्रह से निष्पन्न "आर्त्विजीनः' का अर्थ याजक होता है । यदि हम याजक बनना चाहें अथवा यजमान बनना चाहें, दोनों स्थितियों में व्याकरणाध्ययन आवश्यक है क्योंकि पद का संस्कार व्याकरण से ही ज्ञात होता है ।

२. मन्त्र में 'शृङ्गा' यह शृङ्गाणि का वैदिक रूप है । (क) शृङ्ग+जस्=शि—इसमें 'शि' का डा=आ आदेश करने पर अथवा (ख) शृङ्ग+नुम्=न्+शि=इ, उपधादीर्घ करने के बाद शिलोप और नूलोप करने पर—'शृङ्गा' होता है ।

शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च ॥ सप्त हस्तासो अस्य—सप्त विभक्तयः। त्रिधा बद्धः–त्रिषु स्थानेषु बद्धः उरसि कण्ठे शिरसीति ॥ वृषभो वर्षणात् ॥ रोरवीति शब्दं करोति ॥

कुत एतत् ?

रौतिः शब्दकर्मा ॥

'प्रदीपः'

इति। सुप इत्यर्थः ॥ केचित्तु तिङामपरिग्रहप्रसङ्गात् सह शेषेण सप्त कारकाणि

'भावबोधिनी'

वैखरी—ये हैं)। इस शब्दवृषभ के तीन पैर=तीन काल=भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल हैं। दो सिर=दो प्रकार के शब्द=नित्य और कार्य (अनित्य) हैं। इस शब्दवृषभ के सात हाथ—सात विभक्तियाँ है। तीन प्रकार से बँधा हुआ=तीन स्थानों पर बँधा हुआ=उरस्थल, कण्ठ और सिर (मूर्धा) में बँधा हुआ है। (सर्वविध मनोरथों की) वर्षा के कारण वृषभ (कहा जाता है)। रोरवीति=बार-बार शब्द करता है।

यह (उक्त अर्थ ही) कैसे (होता है) ?

'रु' धातु शब्दकर्मक है। ('रु' धातु का अर्थ शब्द करना है। अतः उक्त अर्थ होता है।)

भाष्य में 'चत्वारि शृङ्गाणि=पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च' यहाँ समुच्चयार्थक 'च' का उल्लेख किया गया है। अतः 'पदजातानि=परापश्यन्तीमध्यमा-वैखरीरूपाणि' और 'नामाख्यातोपसर्गनिपाताः' ये दोनों समझने चाहिए। 'नाम' शब्द सामान्यरूप से प्रातिपदिक के लिए प्रसिद्ध है किन्तु यहाँ 'सुबन्त पद' लेना उचित है। इसी प्रकार 'आख्यात' का प्रयोग प्रायः तिङ्प्रत्यय के लिए है किन्तु यहाँ 'तिङन्त धातुरूप' लेना चाहिए। निपात के अन्तर्गत उपसर्ग भी है। अतः यहाँ केवल स्पष्टता के लिए दोनों का ग्रहण है।

'च' के बल से परा, पश्यन्तीः मध्यमा और वैखरी इन वाणिओं के भेदों का ग्रहण होता है। (क) परा—यह वाणी का सर्वोत्कृष्ट रूप है जिसे स्वरूपज्योतिः, अनपायिनी, मूलचक्रस्था' आदि विशेषणों से प्रतिपादित किया जाता है। (ख) पश्यन्ती–यह केवल योगियों के अनुभव में आती है। इसमें प्रकृति–प्रत्ययविभागादि का ज्ञान होता है 'परा' में नहीं होता है। (ग) मध्यमा–यह सूक्ष्मतर आन्तर संकल्परूप है। (घ) वैखरी—यह ध्वनिरूप श्रूयमाणा है।

द्वौ शब्दात्मानौ—नित्यः कार्यश्च। इसमें व्यङ्ग्य स्फोटरूप शब्द और व्यञ्जक ध्वनिरूप शब्द कहे गये हैं। प्रथम नित्य अखण्ड, विभु है। द्वितीय अनित्य, उच्चरित-प्रध्वंसी है।

महोदेवो मर्त्यां आविवेशेति। महान् देवः=शब्दः ॥ मर्त्याः=मरण-धर्माणो मनुष्याः, तानाविवेश। महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम् ॥

'प्रदीपः'

विभक्तिशब्दाभिधेयानीति व्याचक्षते ॥ वर्षणादिति। कामानां ज्ञानपूर्वकानुष्ठानफल-त्वात् ॥ महतेति। परेण ब्रह्मणेत्यर्थः ॥

'भावबोधिनी'

महान् (परब्रह्मस्वरूप) देव (अन्तर्यामीरूप से) मनुष्यों में आविष्ट है। महान् देव=शब्द। मर्त्य=मरणस्वभाववाले मनुष्य, उनमें आविष्ट है। उस महान् देव (शब्दब्रह्म) के साथ हम लोगों का साम्य (=सायुज्य, ऐक्य) जिस प्रकार हो सके, इसके लिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

सप्तविभक्तयः—सामान्यतया सुप्=प्रथमादि सात विभक्तियाँ मानी जाती हैं। परन्तु "विभक्तिश्च" (पा० सू० १।४।१०४) यह सूत्र सुप् और तिङ् दोनों की विभक्तिसंज्ञा करता है। तब 'सप्तहस्तासः=सप्त विभक्तयः' इसकी संगति कैसे होगी? इसका समाधान यह है—"शेषेण सह षट् कारकाणि विभक्तिपदवाच्यानि।' चूँकि कर्त्ता आदि छह कारक हैं और शेष=सम्बन्ध अर्थ में षष्ठी होती है। ये मिलकर सात होते हैं। "लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः" (पा० सू० ३।४।६९) यह सूत्र कर्ता और कर्म अर्थों में लकारों का विधान करता है। इन्हीं लकारों के स्थान पर तिङ् होते हैं। अतः कर्ता और कर्म अर्थ तिङ् के भी हो जाते हैं। इस प्रकार तिङ् का भी ग्रहण हो जाता है। अतः 'सप्त विभक्तयः' यह भाष्यव्याख्यान शुद्ध ही है।

'त्रिषु स्थानेषु बद्धः=उरसि, कण्ठे, शिरसीति।' पाणिनीय शिक्षा में यह स्पष्ट किया गया है कि उच्चारणकाल में वायु उदर से उठकर वक्षस्थल, कण्ठ और मूर्धा तीन स्थानों पर आहत होने के बाद वर्णों को उत्पन्न कराता है।

'रोरवीति' यह शब्दार्थक 'रु' धातु का यङ्लुगन्त रूप है। पुनः पुनरतिशयेन वा रौति—यह विग्रह है।

शब्द की स्थिति मनुष्यों में है, इसका उपपादन भर्तृहरि ने किया है—

"अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम्।
प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते।"

(वा० प० १।१३१)

भाष्योक्त 'साम्यम्=सायुज्यम्' है।

(८ ख) अपर आह—

''चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति[१] ॥''

'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि। चत्वारि पदजातानि—नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च ॥ 'तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।' मनस ईषिणो मनीषिणः। 'गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति।' गुहायां त्रीणि निहितानि

'प्रदीपः'

चत्वारीत्यनेनैकदेशेन सदृशेन वाक्यान्तरमपि सूच्यत इत्याह—**अपर आहेति।** परिमितानीति प्राप्ते 'शेश्छन्दसि बहुलमि'ति शेर्लोपे परिमितेति भवति। परिमितानि=परिच्छिन्नान्येतावन्त्येवेत्यर्थः ॥ मनीषिशब्दः पृषोदरादित्वात्साधुः। कथं मनीषिण एव विदन्तीत्याह—**गुहेति।** अज्ञानमेव गुहा तस्यामित्यर्थः। 'सुपां सुलुगि'ति सप्तम्या लुक्। व्याकरणप्रदीपेन तु तानि प्रकाशन्ते। तत्र

'भावबोधिनी'

(८ ख) दूसरा विद्वान् (उक्त प्रतीक से यह) कहता है—

वाणी के चार ही पद होते हैं। इनको वे ही जानते हैं जो मन को वश में रखने वाले ब्राह्मण हैं। तीन (पद) गुफा में छिपे हुए चेष्टा नहीं करते हैं। वाणी के चतुर्थ पद को (अवैयाकरण, साधारण) मनुष्य बोलते हैं।

वाणी के चार ही पद होते हैं=नाम (सुवन्त), आख्यात (तिङन्त), उपसर्ग और निपात। इन्हें वे जानते हैं जो मनीषी ब्राह्मण हैं। मन के ईषी=वश में रखने वाले। गुफा में तीन छिपे हुए इंगित=चेष्टा नहीं करते हैं, (ज्ञान के विषय नहीं

---

१. पूर्वोक्त पद की व्याख्या के समान इस पद में भी भाष्यकार ने 'नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च' ऐसा लिखा है। अतः यहाँ भी 'च' से परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इन चार भेदों का समुच्चय होता है। वैयाकरण ही इन सभी भेदों को अच्छी तरह समझ पाता है। अवैयाकरण के लिए सभी एक जैसे हैं। अतः उसके लिए केवल वैखरी ही वाणी का एक भेद होने से शेष तीन अज्ञानरूपी गुफा में छिपे हैं।

नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात—इस पक्ष में भी ये चार भेद वैयाकरण के लिए ही हैं। अवैयाकरण सभी पदों को एक समान ही समझता है। अतः चार में एक का ज्ञान होकर शेष तीन अज्ञानरूपी गुफा में छिपे ही रहते हैं।

वाक्परिमितानि यहाँ षष्ठीतत्पुरुष है। वाणी के परिमित चार पद हैं, चार ही पद हैं—यह अवधारण होता है। 'परिमिता' में बहुवचन शि का लुक् है। 'गुहा' यहाँ सप्तमी एकवचन का लुक् हुआ है। मनीषिणः=मनसः इषिणः—इस अर्थ में

नेङ्गयन्ति=न चेष्टन्ते। न निमिषन्तीत्यर्थः॥ 'तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।' तुरीयं वा एतद्वाचो यन्मनुष्येषु वर्तते। चतुर्थमित्यर्थः॥ चत्वारि॥

(९) उत त्वः—

"उत त्वः पश्यन्न ददर्श[1] वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्[2]।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥"

'उत त्वः'=अपि खल्वेकः पश्यन्नपि न पश्यति वाचम्। [उत त्वः] अपि खल्वेकः 'शृण्वन्नपि न शृणोत्येनामि'ति। अविद्वांसमाहार्धम्॥

"उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे'=तनुं विवृणुते॥ 'जायेव पत्य उशती सुवासाः'। तद्यथा जाया पत्ये कामयमाना सुवासाः स्वमात्मानं विवृणुते,

'प्रदीपः'

चतुर्णां पदजातानामेकैकस्य चतुर्थं भागं मनुष्या=अवैयाकरणा वदन्ति। नेङ्गयन्तीत्यस्यैव व्याख्यानं—न चेष्टन्ते, न निमिषन्तीति॥

उत त्व इति। त्वशब्दोऽन्यवाची। उतशब्दः—अपिशब्दस्यार्थे। स च

'भावबोधिनी'

बनते हैं) वाणी के चतुर्थ भेद को मनुष्य बोलते हैं। वाणी का यह चौथा भेद है जो (साधारण) मनुष्यों में है। तुरीय=चतुर्थ—यह अर्थ है।

(९) दूसरा भी—

अन्य (एक) व्यक्ति वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता है और अन्य (दूसरा) इसे सुनता हुआ भी नहीं सुनता है। सुन्दर वस्त्र धारण करने वाली पति-अभिलाषिणी पत्नी के समान यह वाणी इस (वैयाकरण) के लिए अपने शरीर को अनावृत कर देती हैं, अगोपनीय बना देती है, खोल देती है।

एक (अवैयाकरण) (इस बाणी को) देखता हुआ भी नहीं देखता है। एक (अवैयाकरण) इस वाणी को सुनता हुआ भी नहीं सुनता है—ऐसा आधा पद्य

'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' इस वार्त्तिक से टि=अस् का पररूप है अथवा "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" से निपातन है।

१. हाथ, पैर, कान और आँख आदि अंगो वाले सभी व्यक्ति समान रूप से ही अध्ययन करते हैं परन्तु वे उस वाणी का दर्शन करते हुए भी वास्तव में दर्शन नहीं कर पाते हैं क्योंकि अर्थज्ञान नहीं होता है। अर्थ का परिज्ञान होना ही वाणी दर्शन करना है।

२. जो व्यक्ति केवल शब्द (ध्वनिमात्र) सुनता है, अर्थ का परिज्ञान नहीं करता है उसका सुनना न सुनने के समान है क्योंकि वाणी के श्रवण का मुख्य फल अर्थज्ञान ही है, अर्थज्ञान कराने के उद्देश्य से ही वाणी का प्रयोग होता है।

एवं वाग् वाग्विदे स्वात्मानं विवृणुते ।।[1] वाङ् नो विवृणुयादात्मानमित्यध्येयं व्याकरणम् ।। उत त्वः ।।

(१०) सक्तुमिव--

'सक्तुमिव[2] तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि ।।"

'प्रदीपः'

भिन्नक्रमः । प्रत्यक्षेण शब्दस्वरूपमुपलभमानोऽप्यर्थापरिज्ञानान्न पश्यतीत्यर्थः । **उतो इति** । उत उ इति निपातसमाहारः ।। **अविद्वांसमाहार्धमिति** । अविद्वल्लक्षणमर्थमर्धर्चं आहेत्यर्थः ।।

सचतेरिति । 'षच सेचन' इत्यस्य । **दुर्धाव इति** । दुःशोधः । यथा— तितउना सक्तोस्तुषाद्यपनीयते तथा व्याकरणेन वाचोऽपशब्दा इत्यर्थः ।

'भावबोधिनी'

कहता है ।

(आधा पद्य ऐसा कह रहा है–) इस (वैयाकरण) के लिए (यह वाणी) अपने (अर्थरूपी) शरीर का विवरण=अनावरण (खोलना) कर देती है । जैसे पति (के संगम) को चाहने वाली, सुन्दर (उज्ज्वल) वस्त्र धारण करने वाली स्त्री [अपने पति के सामने अपना शरीर वस्त्ररहित कर देती है] । जिस प्रकार अपने पति (के संगम) की कामना करती हुई, स्वच्छ वस्त्र धारण करती हुई पत्नी अपना [सम्पूर्ण] शरीर खोल देती है, वस्त्ररहित कर देती है, गोपनीयता समाप्त कर देती है । इसी प्रकार वाणी वाक्तत्त्ववेत्ता वैयाकरण के लिए अपने [वास्तविक] रूप को प्रकट कर देती है । वाणी हम लोगों के लिए अपने स्वरूप को प्रकट कर दे [वाणी अपना रहस्य प्रकट कर दे]---इसके लिए व्याकरण का अध्ययन चाहिए ।

(१०) सत्तू के समान---

जिस (व्याकरण) में ध्यान लगाने वाले (चिन्तन करने वाले) वैयाकरणों ने चलनी के द्वारा सत्तुओं के समान [ध्यानयुक्त] मन (प्रकृष्ट ज्ञान) द्वारा वाणी को किया । इस (ब्रह्मप्रतिपादक शब्द) के विषय में समानज्ञान वाले (यथार्थज्ञान

---

१. प्रकृति-प्रत्यय मिलकर प्रयोगयोग्य पद बनता है । वैयाकरण प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ को समझता हुआ समुदाय (पद) के अर्थ को जान लेता है । इस लिए वैयाकरण के लिए कुछ भी गोपनीय नहीं है, कुछ भी अज्ञात नहीं रहता है । यही व्याकरणध्ययन का वास्तविक फल है ।

२. सक्तु शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ हैं—(क) 'षच=सच' का अर्थ सींचना है । इस धातु से तुन् प्रत्यय करके–'सक्तु' शब्द बनता है । इसका अर्थ है---अत्यन्त कष्ट से

नेङ्गयन्ति=न चेष्टन्ते । न निमिषन्तीत्यर्थः ॥ 'तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ।' तुरीयं वा एतद्वाचो यन्मनुष्येषु वर्तते । चतुर्थमित्यर्थः ॥ चत्वारि ॥

(९) उत त्वः—

"उत त्वः पश्यन्न ददर्श[1] वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्[2] ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥"

'उत त्वः'=अपि खल्वेकः पश्यन्नपि न पश्यति वाचम् । [उत त्वः] अपि खल्वेकः 'शृण्वन्नपि न शृणोत्येनामि'ति । अविद्वांसमाहार्धम् ॥

"उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे'=तनुं विवृणुते ॥ 'जायेव पत्य उशती सुवासाः' । तद्यथा जाया पत्ये कामयमाना सुवासाः स्वमात्मानं विवृणुते,

'प्रदीपः'

चतुर्णां पदजातानामेकैकस्य चतुर्थं भागं मनुष्या=अवैयाकरणा वदन्ति । नेङ्गयन्तीत्यस्यैव व्याख्यानं—न चेष्टन्ते, न निमिषन्तीति ॥

उत त्व इति । त्वशब्दोऽन्यवाची । उतशब्दः—अपिशब्दस्यार्थे । स च

'भावबोधिनी'

बनते हैं) वाणी के चतुर्थ भेद को मनुष्य बोलते हैं । वाणी का यह चौथा भेद है जो (साधारण) मनुष्यों में है । तुरीय=चतुर्थ—यह अर्थ है ।

(९) दूसरा भी—

अन्य (एक) व्यक्ति वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता है और अन्य (दूसरा) इसे सुनता हुआ भी नहीं सुनता है । सुन्दर वस्त्र धारण करने वाली पति-अभिलाषिणी पत्नी के समान यह वाणी इस (वैयाकरण) के लिए अपने शरीर को अनावृत कर देती हैं, अगोपनीय बना देती है, खोल देती है ।

एक (अवैयाकरण) (इस बाणी को) देखता हुआ भी नहीं देखता है । एक (अवैयाकरण) इस वाणी को सुनता हुआ भी नहीं सुनता है—ऐसा आधा पद्य

'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' इस वार्त्तिक से टि=अस् का पररूप है अथवा "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" से निपातन है ।

१. हाथ, पैर, कान और आँख आदि अंगो वाले सभी व्यक्ति समान रूप से ही अध्ययन करते हैं परन्तु वे उस वाणी का दर्शन करते हुए भी वास्तव में दर्शन नहीं कर पाते हैं क्योंकि अर्थज्ञान नहीं होता है । अर्थ का परिज्ञान होना ही वाणी दर्शन करना है ।

२. जो व्यक्ति केवल शब्द (ध्वनिमात्र) सुनता है, अर्थ का परिज्ञान नहीं करता है उसका सुनना न सुनने के समान है क्योंकि वाणी के श्रवण का मुख्य फल अर्थज्ञान ही है, अर्थज्ञान कराने के उद्देश्य से ही वाणी का प्रयोग होता है ।

एवं वाग् वाग्विदे स्वात्मानं विवृणुते ॥'[1] वाङ् नो विवृणुयादात्मानमित्यध्येयं व्याकरणम् ॥ उत त्वः ॥

(१०) सक्तुमिव--

'सक्तुमिव[2] तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि ॥"

'प्रदीपः'

भिन्नक्रमः । प्रत्यक्षेण शब्दस्वरूपमुपलभमानोऽप्यर्थापरिज्ञानान्न पश्यतीत्यर्थः । उतो इति । उत उ इति निपातसमाहारः ॥ अविद्वांसमाहार्धमिति । अविद्वल्लक्षणमर्थं मर्धर्चं आहेत्यर्थः ॥

सचतेरिति । 'षच सेचन' इत्यस्य । दुर्धाव इति । दुःशोधः । यथा—तितउना सक्तोस्तुषाद्यपनीयते तथा व्याकरणेन वाचोऽपशब्दा इत्यर्थः ।

'भावबोधिनी'

कहता है ।

(आधा पद्य ऐसा कह रहा है–) इस (वैयाकरण) के लिए (यह वाणी) अपने (अर्थरूपी) शरीर का विवरण=अनावरण (खोलना) कर देती है । जैसे पति (के संगम) को चाहने वाली, सुन्दर (उज्ज्वल) वस्त्र धारण करने वाली स्त्री [अपने पति के सामने अपना शरीर वस्त्ररहित कर देती है] । जिस प्रकार अपने पति (के संगम) की कामना करती हुई, स्वच्छ वस्त्र धारण करती हुई पत्नी अपना [सम्पूर्ण] शरीर खोल देती है, वस्त्ररहित कर देती है, गोपनीयता समाप्त कर देती है । इसी प्रकार वाणी वाक्तत्त्ववेत्ता वैयाकरण के लिए अपने [वास्तविक] रूप को प्रकट कर देती है । वाणी हम लोगों के लिए अपने स्वरूप को प्रकट कर दे [वाणी अपना रहस्य प्रकट कर दे]—इसके लिए व्याकरण का अध्ययन चाहिए ।

(१०) सत्तू के समान—

जिस (व्याकरण) में ध्यान लगाने वाले (चिन्तन करने वाले) वैयाकरणों ने चलनी के द्वारा सत्तुओं के समान [ध्यानयुक्त] मन (प्रकृष्ट ज्ञान) द्वारा वाणी को किया । इस (ब्रह्मप्रतिपादक शब्द) के विषय में समानज्ञान वाले (यथार्थज्ञान

---

१. प्रकृति-प्रत्यय मिलकर प्रयोगयोग्य पद बनता है । वैयाकरण प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ को समझता हुआ समुदाय (पद) के अर्थ को जान लेता है । इस लिए वैयाकरण के लिए कुछ भी गोपनीय नहीं है, कुछ भी अज्ञात नहीं रहता है । यही व्याकरणध्ययन का वास्तविक फल है ।

२. सक्तु शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ हैं—(क) 'षच=सच' का अर्थ सींचना है । इस धातु से तुन् प्रत्यय करके–'सक्तु' शब्द बनता है । इसका अर्थ है—अत्यन्त कष्ट से

सक्तुः—सचतेर्दुर्धावो भवति, कसतेर्वा विपरीताद् विकसितो भवति। तितउ[1]-परिपवनं भवति-ततवद्वा तुन्नवद्वा। धीराः=ध्यानवन्तः। मनसा=प्रज्ञानेन वाचमक्रत=वाचमकृषत।

'प्रदीपः'

कसतेरिति। पृषोदरादित्वाद्वर्णव्यत्ययः॥ ततवदिति। विस्तारयुक्तमित्यर्थः। तुन्नवदिति। बहुच्छिद्रम्॥ धीरा इति। वैयाकरणाः॥ वाचमक्रतेति। अप-

'भावबोधिनी'

वाले होते हुए) सायुज्य=ऐक्य प्राप्त करते हैं। इनकी वाणी में स्वप्रकाशरूपा शक्ति अधिक रहती है।

सक्तु—(क) (षच) 'सच्' धातु से [निष्पन्न होता है अतः इसका अर्थ है-] दुर्धाव=अत्यन्त कष्ट से धोने योग्य। (ख) अथवा 'कस' (विकसनार्थक) धातु के विपर्यय (व्यंजन-व्यत्यय) से [निष्पन्न सत्तु शब्द का-] विकसित=फैलाव वाला-यह अर्थ है। तितउ=चालनी है। यह [चालनी] ततवत्=बहुत विस्तारवाली और तुन्नवत्=छिद्रवाली होती है। धीर=ध्यान करने वालों, चिन्तन करने वालों ने, मन से=प्रकृष्टज्ञान, प्रतिभा से, वाणी को किया [=अपशब्दों से शुद्ध शब्दों को अलग किया]।

धोने योग्य। जिस प्रकार दाल, चावल, सब्जियाँ आदि धोई जाती हैं उस प्रकार से सत्तुओं को नहीं धोया जा सकता। क्योंकि धोने से सब सत्तू वह जाते हैं। (ख) विकसित होना अर्थवाली 'कस्' धातु है। इसका व्यञ्जन-व्यत्यय कर देने पर 'सक्' + तुन् होता है। इससे निष्पन्न 'सक्तु' का अर्थ है विकसित होने वाला। सत्तुओं में पानी मिलाते रहने पर वे बढ़ते रहते हैं।

१. 'चालनी तितउः पुमान्' (अमरकोष २।९।२६) के अनुसार 'तितउ' शब्द पुंल्लिङ्ग भी है। तितउ-शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ हैं-(क) विस्तारार्थक 'तनु' धातु से 'तनोतेर्डउः सन्वच्च' (उणादि. सू०) से 'डउ' प्रत्यय और उसका सन्वद्भाव होने से धातु का द्वित्व तन् तन्+अउ, हलादिशेष, 'सन्यतः' सूत्र से अभ्यास का इत्व-तितन्+अउ डित् के कारण टि=अन् का लोप-तित्+अउ। इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'ततवत्=विस्तारयुक्तम्' यह अर्थ भाष्य में है। (ख) व्यथनार्थक 'तुद' धातु से भी 'कर्मणि डउः सन्वच्च' (उणादि सूत्र) से 'डउ' प्रत्यय, पूर्ववत् द्वित्वादिकार्य, अभ्यास का इत्व, टिलोप करने पर तित्+अउ। इसमें 'तुन्नवत्=छिद्रयुक्तम्' यह अर्थ होता है।

'अत्रा सखाय: सख्यानि जानते।' अत्र सखाय: सन्त: सख्यानि जानते [=सायुज्यानि जानते]।

क्व ?

य एष दुर्गो मार्ग:, एकगम्यो वाग्विषय: ॥

के पुनस्ते ?

वैयाकरणा: ॥

कुत एतत् ?

'भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि।'

'प्रदीप:'

शब्देभ्यो विविक्तां कृतवन्त:। "मन्त्रे घसेति" लेर्लुकि सति 'अक्रते'ति रूपम् ॥

अत्रा सखाय इति। 'ऋचि तुनुघे'ति दीर्घ:। सखाय:=समानख्यातयो भेदग्रहस्य

'भावबोधिनी'

'इस 'व्याकरण में समानज्ञान वाले (यथार्थज्ञान वाले) सख्य प्राप्त करते हैं= इस (ब्रह्म स्वरूप शब्दतत्त्व) के विषय में सखा=समान ज्ञान वाले होते हुए, सख्य=सायुज्य प्राप्त करते हैं।

कहाँ [किसमें सायुज्य प्राप्त करते हैं] ?

जो यह दुर्ग (अत्यन्त कष्ट से प्राप्त होने वाला) मार्ग, एक (=मात्रज्ञान) से प्राप्त करने योग्य, [वेद रूप] वाणी का विषय है। [ऐसे ब्रह्म का सायुज्य वैयाकरणों को प्राप्त होता है]।

वे कौन हैं [जो सायुज्य प्राप्त करते हैं] ?

वे वैयाकरण हैं।

यह कैसे ?

वैयाकरण के पास प्रकृष्ट ज्ञान रूपी चालनी होती है। इस के द्वारा वह शुद्ध और अशुद्ध शब्दों का भेद करके शुद्ध शब्दों का ही प्रयोग करता है। वह प्रत्येक शब्द के विषय में गम्भीरता से चिन्तन करता है। अत: उसे सर्वत्र यथार्थ ज्ञान होता है। इसी ज्ञान के बल से उसकी वाणी में एक प्रबल शक्ति सिद्ध हो जाती है और वह शब्दब्रह्म का सायुज्य प्राप्त करने में समर्थ होता है। नागेश का यह व्याख्यान है "अयं भाव:—ये शास्त्रत: प्रकृति-प्रत्ययविभागेन साधून् ज्ञात्वा शास्त्रार्थध्यानवन्तो मानसज्ञानेन वाचमसाधुभ्य: पृथक् कृतवन्तस्ते तज्ज्ञानपूर्वकै: साधु-शब्द-प्रयोगैर्लब्धान्त:करण-शुद्धय:, अत्र य एष दुर्गो मार्गो ब्रह्मरूपस्तत्रात्मना सह समानख्यातय:= त्यक्तभेदभावना: सख्यानि=सायुज्यानि प्राप्नुवते। यत एषां वाचि वेदाख्ये ब्रह्मणि या भद्रा लक्ष्मी: सर्वभासकब्रह्मरूपा सा अधि-अधिकं निहिता भवति। एतच्छास्त्रसाध्य-

एषां वाचि भद्रा लक्ष्मीर्निहिता भवति । लक्ष्मीर्लक्षणाद्भासनात्परिवृढा भवति । सक्तुमिव ॥

(११) सारस्वतीम्—

याज्ञिकाः पठन्ति—"आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेद्" इति ॥

[1]प्रायश्चित्तीया मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम् ॥ सारस्वतीम् ।

'प्रदीपः'

निवृत्तत्वात् सर्वमेकमिति मन्यन्ते ॥ **सख्यानीति** । सायुज्यानीत्यर्थः । **एकगम्य इति** । ज्ञानेनैव प्राप्यः ॥ **वाचीति** । वेदाख्ये ब्रह्मणि या लक्ष्मीर्वेदान्तेषु परमार्थसंविल्लक्षणोक्ता सैषां निहितेत्यर्थः ॥

प्रायश्चित्तीयामिति । भवार्थे 'वृद्धाच्छः' ॥ **प्रायश्चित्तीया इति** । प्रायश्चित्ताय=पापशोधनाय श्रुतिस्मृतिविहिताय कर्मणे हिताः=तन्निमित्तोत्पादका मा भूमेत्यर्थः ॥

'भावबोधिनी'

क्योंकि इन (शब्दतत्त्ववेत्ता वैयाकरणों) की वाणी में भद्रा=कल्याणकारिणी लक्ष्मी स्थित रहती है । लक्षण=भासन=प्रकाशन के कारण परिवृढ (अज्ञान दूर करने में समर्थ) होती है । इसलिए लक्ष्मी [कहा जाता है] । सत्तु के समान ।

(११) सरस्वती देवता-सम्बन्धी—

याज्ञिक [यज्ञानुष्ठान-सम्बन्धी मन्त्र] यह पढ़ते हैं—"अग्न्याधान किया हुआ व्यक्ति अपशब्द का प्रयोग करके [इस के] प्रायश्चित्त के लिये की जाने वाली 'सारस्वती इष्टि' (सरस्वती देवता सम्बन्धी याग) करे ।"

हम भी [अपशब्दों का प्रयोग करके] प्रायश्चित्तीय (पाप दूर करने के लिए श्रुति-स्मृति-विहित कर्म करने के निमित्त) न बन जाँय, इस के लिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए ।

प्रयोगव्यङ्ग्यस्य ध्वनिरूपवैखरीरूपरूषितस्यैव तैर्वाचकत्वस्वीकारेण तस्य चात्यन्तविचारे ब्रह्मातिरेके मानानुपलम्भेन तत्तदुपाधिभिन्नचित्त एव बोधकतया तैर्ग्रहात् । एवं सर्वबोधकेषु ब्रह्माबुद्धौ जातायां तेनैव दृष्टान्तेन सर्वपदार्थेषु ब्रह्मबुद्धिर्वैयाकरणानाम् ॥

१. शास्त्रीय मर्यादा है कि यज्ञीय अग्नि का आधान कर लेने के बाद वह व्यक्ति अपशब्द (अपभ्रंश) न बोले । यदि अज्ञानादिवश वैसा बोल देता है तो उसे पाप की निवृत्ति के लिए 'सारस्वती इष्टि' का अनुष्ठान करना पड़ता है । जो व्यक्ति व्याकरण पढ़ा हुआ हैं वह सदैव संस्कृत शब्दों का ही प्रयोग करता है । उसे कभी भी प्रायश्चित्तीय सारस्वती इष्टि नहीं करनी पड़ती है । अतः व्याकरणाध्ययन करना आवश्यक है ।

(१२) दशम्यां पुत्रस्य—

याज्ञिकाः पठन्ति—'दशम्युत्तरकालं[1] पुत्रस्य जातस्य नाम विदध्याद् घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थमवृद्धं त्रिपुरुषानूकमनरिप्रतिष्ठितम्। तद्धि प्रतिष्ठिततमं भवति।' "द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा नाम कृतं कुर्यान्न तद्धितम्" इति॥

'प्रदीपः'

दशम्युत्तरकालमिति। दशम्या उत्तर इति 'पञ्चमी' ति योगविभागात् समासः। ततः कालशब्देन बहुव्रीहिः। क्रियाविशेषणं चैतत्। दश दिशान्यशौचं भवतीति दशम्युत्तरकालमित्युक्तम्। येऽपि गृह्यकाराः पठन्ति 'दशम्यां पुत्रस्ये'ति, तैरपि दशम्यामिति सामीपिकमधिकरणं व्याख्येयम्। घोषवदादीति। घोषवन्तो ये वर्णाः शिक्षायां प्रदर्शितास्तदादि॥ अन्तरन्तःस्थमिति। मध्ये यरलवा

'भावबोधिनी'

(१२) दशम रात्रि के बाद—

याज्ञिक (यज्ञकाण्ड-संबन्धी मन्त्र) कहते हैं—"पुत्रजन्म से दशवीं रात्रि के बाद (अर्थात् ग्यारहवें दिन) उत्पन्न पुत्र का नाम (करण-संस्कार) करे—[वह नाम] आदि में घोष प्रयत्न वाले वर्णों से युक्त, मध्यमें अन्तःस्थों (य व र ल) से युक्त, [अन्त में] वृद्धसंज्ञक (आ, ऐ, औ) वर्णों से रहित, [नामकरण करने वाले पिता के] तीन पूर्व पुरुषों का अनुकरण (साम्य) वाला, शत्रुकुल में अप्रतिष्ठत

---

१. दशम्युत्तरकालम्—इस में 'दशम्या उत्तरः' ऐसा तत्पुरुष करने के बाद 'दशम्युत्तरः कालः यस्मिन् कर्मणि तत्—'दशम्युत्तरकालम्' यह बहुव्रीहि है। गृह्यसूत्रों में 'दशम्यां पुत्रस्य······' आदि पाठ है। दोनों में आशय एक समान है। अवृद्धम्—इसके साथ औचित्य के अनुसार 'अन्त' जोड़ना चाहिए। परन्तु "वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्" (पा० सू० १।१।७३) के अनुसार अन्त में वृद्धसंज्ञक का प्रयोग नहीं होता है। अतः वृद्धसंज्ञक [जिस का आदि अच् वृद्धि संज्ञा वाला] नहीं रखना चाहिए। 'वा नामधेयस्य' इस वार्तिक से नाममात्र की वृद्ध संज्ञा की जाती है। अतः 'अवृद्धम्' का आशय 'वृद्धिसंज्ञक आ, ऐ, औ · इनमें से कोई भी अन्त में न हों—ऐसी व्याख्या उचित प्रतीत होती है।

त्रिपुरुषानूकम्—नामकर्ता पिता के (क) पिता, (ख) पितामह, (ग) प्रपितामह—में से तीनों अथवा किसी एक का अभिधान करने वाला नाम होना चाहिए।

केवल प्रत्यय का प्रयोग न होने से—कृत्=कृदन्त, तद्धित=तद्धितान्त है। त्रयाणां पुरुषाणां समाहारः—इस अर्थ में समाहार द्विगु है। यद्यपि अकारान्त द्विगु होने से

न चान्तरेण व्याकरणं कृतस्तद्धिता वा शक्या विज्ञातुम् ।। दशम्यां पुत्रस्य ।।

(१३) सुदेवो असि—

'सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः ।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव ।।'

'प्रदीपः'

यस्य तदित्यर्थः । त्रिपुरुषानूकमिति । नामकरणे योऽधिकारी पिता तस्य ये त्रयः पुरुषास्ताननुकायति=अभिधत्त इति त्रिपुरुषानूकम्, 'अन्येषामपि दृश्यते' इति दीर्घः ।।

सुदेवो असीति । वरुणस्येयं स्तुतिः । यतो हेतोर्व्याकरणज्ञानाद् वरुण सत्यदेवोऽसि ततो हेतोरन्येऽपि सत्यदेवा भवन्तीत्यर्थः । सिन्धव इति । नद्य इव

'भावबोधिनी'

हो । वह नाम अत्यन्त प्रतिष्ठित होता है । नाम दो अक्षरों वाला अथवा [अधिक से अधिक] चार अक्षरों वाला कृत् (कृदन्त) ही रखे, तद्धित प्रत्ययान्त नहीं ।"

व्याकरण शास्त्र [के अध्ययन] के बिना कृत् (=कृदन्त) और तद्धित (तद्धितान्त) का ज्ञान करना संभव नहीं है । दशवीं रात के बाद ।

(१३) हे वरुण ! तुम सुदेव हो—

हे वरुण ! तुम सुदेव हो । क्योंकि तुम्हारी (गले से निकलती हुई) सात नदियाँ, सुषिरा=छिद्रयुक्त सूर्मि=लौहप्रतिमा (में अग्नि) के समान तालु में प्रकाशित होती हैं ।[1]

ङीप् की प्रसक्ति है परन्तु "पात्राद्यन्तस्य न" से ङीप् का प्रतिषेध हो जाने से— 'त्रिपुरुष' है । 'कै गै' शब्दे' के साथ अनु उपसर्ग है, उपसर्ग का दीर्घ है—त्रिपुरुषानूकम्=त्रिपुरुषाभिधायकम् ।

अनरिप्रतिष्ठितम्—इसके दो अर्थ हैं– (क) न ना तस्मिन्—अनरि(=नरभिन्न पशु पक्षी आदि में) प्रतिष्ठितम्=अत्यन्त प्रसिद्ध । (ख) न अरिः=अनरिः तस्मिन् प्रतिष्ठितम्–शत्रु से भिन्न में प्रतिष्ठित, शत्रुकुल में प्रतिष्ठित न होने वाला ।

१. जिस प्रकार भीतर छिद्रवाली लौहप्रतिमा आग पे तपायी जाने पर शुद्ध हो जाती है उसके दोष जलकर भस्म हो जाते हैं । इसी प्रकार वरुण की जिह्वा पर सात विभक्तियों के सभी रूप रहते हैं । इसलिये वे सदैव शुद्ध ही बोलते हैं । पवित्र रहते हैं ।

'सुदेवो असि वरुण'–सत्यदेवोऽसि। 'यस्य ते सप्त सिन्धवः'—सप्त विभक्तयः। 'अनुक्षरन्ति काकुदम्'। काकुदम्=तालु। काकुः=जिह्वा, साऽस्मिन्नुद्यत इति काकुदम्। 'सूर्म्यं सुषिरामिव'। तद्यथा—शोभनामूर्मिं सुषिरामग्निरन्तः प्रविश्य दहति, एवं ते सप्त सिन्धवः=सप्त विभक्तयस्ताल्वनुक्षरन्ति। तेनासि सत्यदेवः॥ सत्यदेवाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम्॥ सुदेवो असि॥

(उक्तप्रयोजनग्रन्थोपपत्तिप्रकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

किं पुनरिदं व्याकरणमेवाधिजिगांसमानेभ्यः प्रयोजनमन्वाख्यायते, न पुनरन्यदपि किञ्चित्, ॐ इत्युक्त्वा वृत्तान्तशः शमित्येवमादीन् शब्दान् पठन्ति ?

'प्रदीपः'

विभक्तय इत्यर्थः। अनुक्षरन्तीति। ताल्वनुप्राप्य प्रकाशन्त इत्यर्थः। सास्मिन्नुद्यत इति। अनेकार्थत्वाद्धातूनाम् 'उत्क्षिप्यत' इत्यर्थः। सूर्म्यमिति। सूर्मीमिति प्राप्ते "अमि पूर्वः' इत्यत्र 'वा छन्दसी'त्यनुवृत्त्या यणादेशः॥

किं पुनरिति। ननु 'कानि पुनरस्ये'ति येन पृष्टं, स एव कथं पृच्छति—'किं पुनरि'ति। एवं तर्हि भाष्यकारः प्रयोजनान्वाख्यानस्य विषयविभागं दर्शयति। पुरा वेदाध्ययनात्पूर्वं व्याकरणमधीयते ते बाल्यात्प्रष्टुमसमर्था इति न प्रयोजनमन्वाख्येयम्।

'भावबोधिनी'

हे वरुण ! तुम सुदेव हो=सत्यदेव हो (सत्य के कारण दीप्तिमान् हो) क्योंकि तुम्हारी सात सिन्धु=(प्रथमादि) सात विभक्तियाँ काकुद=तालु में अनुक्षरण=प्रकाश करती हैं। काकुद=तालु। काकु=जिह्वा इसमें नोदित=प्रेरित की जाती है। इसलिए काकुद कहते हैं। 'छिद्रयुक्त लौह प्रतिमा के समान।' जिस प्रकार छिद्रयुक्त सुन्दर लौहप्रतिमा के मध्य में प्रविष्ट होकर अग्नि (उनके दूषणों को) जला देती है, इसी प्रकार आपकी सात सिन्धु=सात विभक्तियाँ तालु में प्रकाशित रहती हैं। इसी से तुम सत्यदेव (सत्यभाषण से दीप्तिमान) हो। (हम लोग भी) सत्यदेव हों, इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिये। हे वरुण ! तुम सुदेव हो।

व्याकरणाध्ययन के प्रयोजन प्रस्तुत करने की आवश्यकता

व्याकरण को ही पढ़ने के इच्छुक छात्रों के लिए ये (पूर्वोक्त) प्रयोजन कहे जा रहे हैं और कुछ पढ़ने के इच्छुक के लिए [कोई प्रयोजन] नहीं [कहा जाता है], 'ॐ' ऐसा उच्चारण करने के बाद प्रत्येक वृत्तान्त=प्रपाठक के क्रम से "शम् [नो देवीरभीष्टये]" इत्यादि शब्दों (मन्त्रों) को पढ़ने लगते हैं ?

(समाधानभाष्यम्)

पुराकल्प एतदासीत्--संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते। तेभ्यस्तत्तत्स्थानकरणनादानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दा उपदिश्यन्ते। तदद्यत्वे न तथा। वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति—

"वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धाः,

लोकाच्च लौकिकाः,

अनर्थकं व्याकरणम्" इति।

तेभ्य एवं विप्रतिपन्नबुद्धिभ्योऽध्येतृभ्यः सुहृद् भूत्वा आचार्य इदं शास्त्रमन्वाचष्टे—इमानि प्रयोजनान्यध्येयं व्याकरणम्—इति ॥

'प्रदीपः

अद्यत्वे तु स्वल्पायुष्ट्वात्पूर्वमेव वेदं प्रधानमधीयते अतः प्रष्टुं समर्थत्वाद्व्याकरणाध्ययनस्य प्रयोजनं पृच्छन्तीत्यवश्यान्वाख्येयं प्रयोजनम्। न पुनरन्यदिति वेदमप्यधिजिगांसमानेभ्य इत्यर्थः॥ ॐ इत्युक्त्वेति। अभ्युपगम्येत्यर्थः। वृत्तान्तश इति। वृत्तान्तः प्रपाठक उच्यते। वृत्तान्तं वृत्तान्तं पठन्तीत्यर्थः॥

अद्यत्व इति। ;अद्यत्वेशब्दो निपातोऽस्मिन् काल इत्यत्रार्थे वर्तते॥ त्वरिता इति। विवाहादौ॥

'भावबोधिनी'

[उपर्युक्त प्रश्न का समाधान यह है–] प्राचीन काल में ऐसा था—'उपनयनादि-संस्कार के बाद ब्राह्मण वेदों का अध्ययन करते थे। उन-उन वर्णों के [उच्चारण–] स्थान, करण (आभ्यन्तर प्रयत्न) और नादानुप्रदान (नाद, घोष आदि) बाह्य यत्नों का ज्ञान रखने वाले ब्राह्मणों को ही वैदिक शब्द पढ़ाए जाते थे। [अर्थात् पहले व्याकरण और शिक्षा आदि वेदाङ्गों का अध्यापन कराया जाता था उसके बाद वेद का।] परन्तु आजकल (=पतञ्जलि के समय में और इस समय भी) वह स्थिति वैसी नहीं है, [व्याकरणाध्ययन के बाद ही वेद का अध्ययन नहीं होता है]। वेद का अध्ययन करके शीघ्र ही [विवाहादि संस्कारों में] बोलने वाले बन जाते हैं। अथवा वेद का अध्ययन करके शीघ्र ही कहने लगते हैं—"वेद से वैदिक शब्द।"

और लोकव्यवहार से लौकिक शब्द हमारे लिए सिद्ध=ज्ञात हो जाते हैं।

[इस स्थिति में] व्याकरण अनर्थक है, उसके अध्ययन का कोई लाभ नहीं है।"

इस (उक्त) प्रकार की विपरीत बुद्धिवाले [सही मार्ग न समझने वाले] अध्येताओं के लिए, आचार्य [स्वयं पतञ्जलि तथा अन्य वैयाकरण] मित्र (शुभचिन्तक) बन कर इस [पूर्वोक्त प्रयोजन–प्रदर्शन रूप] शास्त्र का अन्वाख्यान (प्रतिपादन

(अनुबन्धचतुष्टयोपसंहारभाष्यम्)

उक्तः शब्दः । स्वरूपमप्युक्तम् । प्रयोजनान्यप्युक्तानि ।।

(अथ शास्त्रनिर्माणरीतिनिरूपणाधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

शब्दानुशासनमिदानीं कर्तव्यम् । तत्कथं कर्तव्यम् । किं शब्दोपदेशः कर्तव्यः, आहोस्विदपशब्दोपदेशः, आहोस्विदुभयोपदेश इति ?

'प्रदीपः'

उभयोपदेश इति । हेयोपादेयोपदेशे स्पष्टा प्रतिपत्तिर्भवतीत्युभयोपदेश उद्भावितः ।।

'भावबोधिनी'

करते हैं—"ये (पूर्वोक्त पाँच मुख्य और तेरह गौण) प्रयोजन हैं, इनके लिए व्याकरण शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए ।"

अनुबन्ध-चतुष्टय का उपसंहार

[लौकिक और वैदिक] शब्द बताया जा चुका है । [स्फोटरूप और ध्वनि-रूप] स्वरूप भी कहा जा चुका है । [मुख्य और गौण भेद से अट्ठारह] प्रयोजन भी कहे जा चुके हैं । [शब्दतत्त्व का जिज्ञासु अधिकारी है—यह स्वतः स्पष्ट है ।[1]]

शास्त्र के विवेचनीय शब्दों का निरूपण

[पूर्वोक्त विवेचन के बाद] अब शब्दों का अनुशासन करना है । वह किस प्रकार से किया जाय—(१) क्या केवल शुद्ध शब्दों का उपदेश=उच्चारण=प्रतिपादन करना चाहिए, अथवा (२) केवल अपशब्दों का उपदेश=प्रतिपादन करना चाहिए, अथवा (३) शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकार के शब्दों का उपदेश=प्रतिपादन करना चाहिए । [पूर्वोक्त तीन मार्गों में से किसी एक का अथवा तीनों का आश्रयण करना चाहिए ?]

---

१. सिद्धार्थं ज्ञातम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते ।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ।।
सम्बन्धश्चाधिकारी च विषयश्च प्रयोजनम् ।
विनानुबन्धं ग्रन्थादौ मङ्गलं न प्रशस्यते ।।

(समाधानभाष्यम्)

अन्यतरोपदेशेन कृतं स्यात्। तद्यथा—भक्ष्यनियमेनाभक्ष्यप्रतिषेधो गम्यते। 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इत्युक्ते गम्यत एतद्—अतोऽन्येऽभक्ष्या इति ॥

अभक्ष्यप्रतिषेधेन वा भक्ष्यनियमः। तद्यथा—'अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः, अभक्ष्यो ग्राम्यसूकरः' इत्युक्ते गम्यत एतद्–आरण्यो भक्ष्य इति ॥

एवमिहापि। यदि तावच्छब्दोपदेशः क्रियते, गौरित्येतस्मिन्नुपदिष्टे गम्यत एतद्–गाव्यादयोऽपशब्दा इति।

'प्रदीप'

यद्यपि प्रतिपत्तिः स्पष्टा, गौरवं तु भवतीत्याह–अन्यतरेति। शब्दापशब्दयोरित्यर्थः। अन्यतरान्यतमशब्दावव्युत्पन्नौ स्वभावाद् द्विबहुविषये निर्धारणे वर्तेते ॥

'भावबोधिनी'

[शुद्ध अथवा अशुद्ध] किसी एक प्रकार के शब्दों के उपदेश (प्रतिपादन) से कार्य सम्पन्न हो सकता है। जिस प्रकार भक्ष्य (खाने योग्य) पदार्थ का नियम कर देने पर [उनसे भिन्न] अभक्ष्य (न खाने योग्य) पदार्थों का प्रतिषेध स्वतः प्रतीत हो जाता है। उदाहरणार्थ—"पाँच नाखूनों वाले पाँच प्राणी खाये जा सकते हैं।"[१] ऐसा कह देने पर यह (स्वतः) प्रतीत हो जाता है कि—'उन पाँच के अतिरिक्त पाँच नाखूनों वाले अन्य प्राणी भक्ष्य नहीं है।' [यदि माँसभक्षण के बिना रहना संभव नहीं है तो केवल पाँच प्राणियों का मांस खाया जा सकता है छठे किसी का नहीं]।

अथवा अभक्ष्य (न खाने योग्य) का प्रतिषेध करने से भक्ष्य (खाने योग्य) पदार्थों का नियम हो जाता है। उदाहरणार्थ—"गाँववाला (पालतू) मुर्गा अभक्ष्य है गाँववाला (पालतू) सुअर अभक्ष्य है।" ऐसा कह देने पर यह स्वतः प्रतीत हो जाता है कि [उनसे भिन्न अर्थात्] जंगली मुर्गा और सुअर भक्ष्य है।

पूर्वोक्त स्थिति प्रस्तुत प्रसंग में भी है। [समझनी चाहिए।]

यदि केवल शुद्ध शब्दों का उपदेश (प्रतिपादन) किया जाय तो 'गौ' ऐसा कहा जाने पर यह स्वतः ज्ञात हो जाता है कि "गावी, गोणी" आदि अशुद्ध शब्द हैं। [शुद्ध कह देने पर उससे भिन्न की अशुद्धता ज्ञात हो जाती है]।

---

१. पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघव।
शशकः शल्यकी गोधा खड्गी कूर्मोऽथ पञ्चमः ॥
(वा. रा. कि. कां १३।)

अथाप्यपशब्दोपदेशः क्रियते, गाव्यादिषूपदिष्टेषु गम्यत एतद्-गौरित्येष शब्द इति ।।

'प्रदीपः'

पञ्चेति । अर्थित्वाद्भक्षणं प्राप्तं पञ्चसु पञ्चनखेषु नियम्यमानं सामर्थ्यादन्येभ्यो निवर्तते । न त्वयं विधिः, अप्राप्तेरभावात् ।।

'भावबोधिनी'

यदि केवल अशुद्ध शब्दों का उपदेश (प्रतिपादन) कर दिया जाय—'गावी' आदि का उपदेश कर देने पर यह स्वतः ज्ञात हो जाता है कि 'गौः' यह शुद्ध शब्द है ।

विमर्श—यह देखा जाता है कि किसी चिकित्सक ने कहा कि 'ये ये चीजें खानी हैं ।' रोगी समझ लेता है कि उनसे भिन्न नहीं खानी हैं । उसी प्रकार यदि वह कहता है "ये ये चीजें नही खानीं है" तो रोगी समझ लेता है कि उनसे भिन्न सभी चीजें खाईं जा सकती हैं । ठीक इसी प्रकार शब्दानुशासन में भी समझना चाहिए । यदि इसमें शुद्ध शब्द कह दिये जाते हैं तो उनसे भिन्न अशुद्धों का ज्ञान और यदि अशुद्ध शब्द कह दिए जाते हैं तो उनसे भिन्न शुद्ध शब्दों का ज्ञान अपने आप हो जाता है । अतः किसी एक प्रकार के शब्दों का ही अनुशासन करने की आवश्यकता है ।

भाष्य में 'नियम' शब्द का प्रयोग परिसंख्या के अभिप्राय से है । मीमांसा शास्त्र में इस विषय में यह प्रसिद्ध है—

"विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति ।
तत्र चान्यन्य च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते ।।"

(१) विधि=अपूर्व-विधान । किसी अन्य वचन से अप्राप्त कार्य का विधान । जैसे 'व्रीहीन् प्रोक्षति' (=धान पर जल छोड़ता है=छोड़ना चाहिए) । यह प्रथमतया वचन होने से विधि है । (२) अनेक प्रकार से करना सम्भव रहने पर एक ही प्रकार से करना 'नियम' है । जैसे–धान का छिलका हटाना (वितुषीकरण) कूट कर या छील कर दोनों प्रकार सें सम्भव है । इसमें 'व्रीहीनवहन्ति'–(धान का अवघात= कूटना करे) इस वचन से छीलना आदि रोक कर केवल कूटना ही होता है । (३) एक ही काल में कई में प्राप्तियाँ रहते किसी एक में नियम करना=परिसंख्या है । जैसे मनुष्य मांसभक्षण करना चाहता है । इसमें यह वचन है 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः ।' पाँच नाखूनवाले शशक आदि पाँच ही प्राणी खाने योग्य हैं उनसे भिन्न नहीं खाये जा सकते । अतः अन्यनिवृत्ति कराना परिसंख्या का फल होता है ।

"पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघव ।
शशकः शल्यकी गोधा खड्गी कूर्मोऽथ पञ्चमः ।।

(आक्षेपभाष्यम्)

किं पुनरत्र ज्यायः ?

(समाधानभाष्यम्)

लघुत्वाच्छब्दोपदेशः ।

लघीयाञ्छब्दोपदेशः । गरीयानपशब्दोपदेशः । एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः । तद्यथा—गौरित्यस्य शब्दस्य गावीगोणीगोतागोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः । इष्टान्वाख्यानं खल्वपि भवति ॥

(शब्दोपदेशपद्धतिनिर्णयः)

(आक्षेपभाष्यम्)

अथैतस्मिञ्शब्दोपदेशे सति किं शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः कर्तव्यः—गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इत्येवमादयः शब्दाः पठितव्याः ?

'प्रदीपः'

किं पुनरिति । उभयोपदेशाद् गुरोर्द्वावपि प्रशस्यौ, तयोः को ज्यायानित्यर्थः ।

इष्टेति । साधुशब्दप्रयोगाद्धर्मावाप्तेरित्यर्थः । अथवा उपादेयोपदेशात्साक्षात् प्रतिपत्तिर्भवतीति भावः ॥

बृहस्पतिरिन्द्रायेति । प्रतिपदपाठस्याशक्यत्वं प्रतिपादयितुमयमर्थवादः ॥

'भावबोधिनी'

[अनु०] उपर्युक्त दोनों उपायों में कौन सा अधिक अच्छा है ?

लघु (छोटा या सरल) होने से केवल शुद्ध शब्दों का उपदेश करना ही [अच्छा है] ।

शुद्ध शब्दों का उपदेश (=कथन, अपशब्दों की तुलना में) लघुतर है । अपशब्दों का उपदेश गुरुतर है । क्योंकि एक एक शुद्ध शब्द के अनेक अपभ्रंश शब्दरूप होते हैं ।

उदाहरणार्थ—'गौः' यह एक शुद्ध है इसके—गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका [और आजकल गइया, गाय, गऊ] आदि [जैसे बहुत से] अपभ्रंश हैं । और इष्ट का अन्वाख्यान भी हो जाता है । [शुद्ध शब्दों का उपदेश करने पर धर्मप्राप्ति होने से इष्ट सिद्ध होता है । अथवा व्याकरण का अध्ययन तो शुद्ध शब्दों के ज्ञान के लिए ही होता है अतः उन्हीं का उपदेश करने पर इष्ट का कथन होता है ।]

शब्दोपदेश की प्रक्रिया का निर्णय

यह निर्णीत हो जाने पर कि शुद्ध शब्दों का ही उपदेश करना है, तो क्या शब्दों का ज्ञान करने (=कराने) के लिए प्रतिपद-पाठ करना चाहिए अर्थात् एक एक शब्द

(समाधानभाष्यम्)

नेत्याह। अनभ्युपाय एष शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः॥ एवं हि श्रूयते—"बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच न चान्तं जगाम"। बृहस्पतिश्च प्रवक्ता, इन्द्रश्चाध्येता, दिव्यं[1] वर्षसहस्रमध्ययनकालः, न चान्तं जगाम। किं पुनरद्यत्वे। यः सर्वथा चिरं जीवति, वर्षशतं जीवति।

चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति—आगमकालेन, स्वाध्यायकालेन,

'प्रदीपः

शब्दानामिति। शब्दपारायणशब्दो योगरूढः शास्त्रविशेषस्य, तत्र प्रतिपदोक्तानामिति विशेषणाभिधानाय गम्यमानार्थस्यापि शब्दानामित्यस्य प्रयोगः।

एकदेशोपयोगादपि लोके उपयुक्तमित्युच्यते, यथा औषधसंस्कृतघृतमात्रैकदेशोपयोगे उपयुक्तं घृतमिति व्यवहारः, तथेह नेति प्रतिपादयति—चतुर्भिरिति। आगमकालो

'भावबोधिनी'

को स्वतन्त्र रूप से पढ़ना चाहिए—गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती, शकुनिः, मृगः—आदि शब्द पढ़ने चाहिए ?

नहीं—ऐसा कहते हैं। शब्दों के ज्ञान [कराने या करने] में यह प्रतिपदपाठ (प्रत्येक शब्द को अलग-२ से पढ़ना) उचित उपाय नहीं है।

ऐसा सुना जाता है—" (देवगुरु) बृहस्पति ने (देवराज) इन्द्र को एक हजार दिव्य वर्षों तक प्रतिपदोक्त शब्दों का 'शब्दपारायण' पढ़ाया था, परन्तु समाप्ति तक नहीं पहुँच सके, पूरा पढ़ा नहीं सके। बृहस्पति (जैसे परम बुद्धिमान्) आचार्य थे, इन्द्र (जैसे तीक्ष्णबुद्धि) अध्येता (छात्र) थे. दिव्य (देवताओं के) एक हजार वर्ष अध्ययन का काल था, फिर भी समाप्ति तक नहीं पहुंच सके। तब आजकल के विषय में क्या कहा जाय। जो सर्वथा (हर प्रकार की सुविधायें प्राप्त करके भी) अधिक से अधिक जीवित रहता है, केवल सौ वर्षों तक ही जीवित रह सकता है।

और विद्या का उपयोग (सफलता) चार प्रकारों से होता है—(१) आगमकाल (=अध्ययनकाल), (२) स्वाध्यायकाल (=अपने अभ्यास का समय), (३) प्रवचनकाल (=शिष्यों को पढ़ाते समय) और (४) व्यवहारकाल (=सभादि में विद्वानों के

---

१. मनुष्यों का एक वर्ष=१२ महीने देवताओं का एक दिनरात होती है। इस प्रकार=३६०००० मानववर्षों तक इन्द्र ने पढ़ा। (देखें मनुस्मृति १।६७)।

प्रवचनकालेन, व्यवहारकालेनेति। तत्र चास्यागमकालेनैवायुः कृत्स्नं पर्युपयुक्तं स्यात्। तस्मादनभ्युपायः शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः॥

(आक्षेपभाष्यम्)

कथं तर्हीमे शब्दाः प्रतिपत्तव्याः ?

(समाधानभाष्यम्)

किंचित्सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम्। येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन्॥

किं पुनस्तत् ?

उत्सर्गापवादौ। कश्चिदुत्सर्गः कर्तव्यः, कश्चिदपवादः॥

(आक्षेपभाष्यम्)

कथञ्जातीयकः पुनरुत्सर्गः कर्तव्यः, कथञ्जातीयकोऽपवादः ?

'प्रदीपः'

=ग्रहणकालः। **स्वाध्यायकालो**=अभ्यासकालः। **प्रवचनकालो**=अध्यापनकालः। **व्यवहारो** याज्ञे कर्मणि॥

किंचिदिति। सामान्यविशेषौ यस्मिंस्तत्सामान्यविशेषवद्। 'कर्मण्यण्', 'आतोऽनुपसर्गे क' इत्यादि।

'भावबोधिनी'

सम्मुख बोलते समय)। [इन चार अवस्थाओं तक पहुँचने के बाद ही अध्ययन की सफलता मानी जाती है]। इन चारों में अध्येता छात्र का सारा जीवन केवल पढ़ते समय में ही बीत जायगा।[१] (वह पढ़ते-पढ़ते ही मर जायगा। आगे की तीन अवस्थायें अपूर्ण ही रह जायेंगी)। इस कारण शब्दों का ज्ञान करने में प्रत्येकपद का पाठ करना (प्रतिपद-पाठ) उचित उपाय नहीं है।

यदि ऐसी स्थिति हैं तो फिर शब्दों का उपदेश (प्रतिपादन) कैसे करना चाहिए ?

सामान्यवाला और विशेषवाला कोई लक्षण (शास्त्र) बनाना चाहिए। [ऐसा शास्त्र बनाना चाहिए जिसमें कुछ सामान्य और कुछ विशेष नियम रहें]। जिससे अल्प प्रयास से ही बड़े से बड़े शब्दसमूह का ज्ञान कर लिया जाय।

वैसे लक्षण=शास्त्र का स्वरूप क्या होगा ?

उत्सर्ग और अपवाद [उस शास्त्र का स्वरूप होगा]। कोई शास्त्र उत्सर्ग रूप बनाना चाहिए और दूसरा (उसका) अपवाद रूप।

किस प्रकार से उत्सर्ग शास्त्र बनाना चाहिए और किस प्रकार से अपवाद शास्त्र ?

---

१ अध्ययन, मनन, अध्यापन और सभादि में ज्ञातविषय का प्रदर्शन करने में सफल होने पर ही विद्या की पूर्ण सफलता मानी जाती है। अल्पायु पुरुष केवल अध्ययन ही कर सकेगा।

(समाधानभाष्यम्)

सामान्येनोत्सर्गः कर्तव्यः। तद्यथा—"कर्मण्यण्" (पा. सू. ३।२।१) तस्य विशेषेणापवादः। तद्यथा—"आतोऽनुपसर्गे कः" (पा. सू. ३।२।२) ॥

— ० —

(जातिव्यक्तिपदार्थनिर्णयाधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

कि[1] पुनराकृतिः पदार्थः, आहोस्विद् द्रव्यम् ?

'प्रदीपः'

सकलशास्त्रव्यवस्थैकतरपक्षाश्रयणे न सिध्यतीति पक्षद्वयाश्रयणं प्रश्नपूर्वकं करोति–किं पुनरिति। आकृतिपक्षे केवल आश्रीयमाणे 'सकृद्गतौ विप्रतिषेध' इत्यादि नोपपद्यते, केवलेऽपि व्यक्तिपक्षे पुनः प्रसङ्गविज्ञानादित्यादि न घटते। तस्माल्लक्ष्यसिद्धये क्वचित्प्रदेशे कश्चित्पक्षः परिगृह्यते। तत्र जातिवादिन आहुः—

'भावबोधिनी'

सामान्य रूप से उत्सर्ग शास्त्र बनाना चाहिए, जैसे—"कर्मण्यण्" (पा. सू. ३।२।१) [कर्म उपपद रहते सामान्य धातु=धातुमात्र से अण् प्रत्यय होता है]। इसका विशेष शास्त्र से अपवाद कहना चाहिए; जैसे "आतोऽनुपसर्गे कः" (पा. सू. ३।२।३) [उपसर्गरहित आकारान्त धातु से कर्म उपपद रहते 'क' प्रत्यय होता है। इसीलिए—कुभं करोति–इसमें 'अण्' होता है—कुम्भकारः। परन्तु 'गां ददाति' में अपवाद 'क' ही होता है अतः 'गोदः' आदि बनते हैं।]

विमर्श—शब्दों के अनुशासन में प्रत्येक पद का स्वतन्त्र रूप से पाठ करके उनका अनुशासन करना अत्यन्त कठिन (दुष्कर) है। अतः पाणिनि ने उत्सर्ग और अपवाद शास्त्रों द्वारा अनुशासन किया है। इनके अनुसार कुछ सामान्य नियम बना कर उनके लक्ष्यों का ज्ञान कराया जाना चाहिए और शेष शब्दों का ज्ञान अपवाद शास्त्र से। इससे स्पष्ट है कि वे लक्षण=सूत्र की प्रमुखता पर बल देते हैं लक्ष्य=शब्द की प्रमुखता पर नहीं। इसीलिए हम लोग लक्षणैकचक्षुष्क माने जाते हैं। सूत्र के अनुसार लक्ष्य का ज्ञान करते हैं। इसके विपरीत पाणिनि स्वयं लक्ष्यैक-चक्षुष्क थे। उन्होंने लक्ष्यों को देखकर ही सामान्य और विशेष सूत्रों की रचना की थी। परन्तु उनकी पद्धति लक्षण-प्रधान ही है।

जातिपदार्थत्व और व्यक्तिपदार्थत्व का निर्णय

क्या पद का अर्थ आकृति=जाति है अथवा द्रव्य (=व्यक्ति) ?

---

१. 'घटः' आदि पदों से किस अर्थ का ज्ञान होता है—इस विषय में तीन उत्तर हैं—(१) जाति, (२) व्यक्ति, (३) आकार। (भाष्य में यहाँ आकृति शब्द जाति के अर्थ में प्रयुक्त है)। न्यायसूत्र है—जात्याकृतिव्यक्तयस्तु पदार्थः।" इसके अनुसार

'प्रदीपः

जातिरेव शब्देन प्रतिपाद्यते, व्यक्तीनामानन्त्यात्संबन्धग्रहणासम्भवात्। सा च जातिः सर्वव्यक्तिष्वेकाकारप्रत्ययदर्शनादस्तीत्यवसीयते। तत्र गवादयः शब्दा भिन्नद्रव्यसमवेतां जातिमभिदधति। तस्यां प्रतीतायां तदावेशात्तदवच्छिन्नं द्रव्यं प्रतीयते। शुक्लादयः शब्दा गुणसमवेतां जातिमाचक्षते। गुणे तु तत्सम्बन्धात्प्रत्ययः, द्रव्ये सम्बन्धिसम्बन्धात्। संज्ञाशब्दानामप्युत्पत्तिप्रभृत्याविनाशाद् पिण्डस्य कौमारयौवनाद्यवस्थाभेदेऽपि स एवाय-

---

नैयायिक इन तीनों को पद का अर्थ मानते हैं। स्वतन्त्र रूप से और विशिष्ट रूप से अर्थ हैं—इस पर मतभेद है।

मीमांसक केवल जाति अर्थ मानते हैं। व्यक्ति अर्थ में आनन्त्य और व्यभिचार दो दोष हैं। व्यक्ति अनन्तानन्त हैं यदि सभी का ज्ञान मानेंगे तो अनन्त शक्तियों की कल्पना करनी होगी। फलतः आनन्त्य दोष होगा। यदि किसी एक व्यक्ति (द्रव्य) में शक्ति मानते हैं तो अगृहीतशक्तिक दूसरे का बोध नहीं होना चाहिए किन्तु होता है, अतः 'कारणाभावेऽपि कार्यम्' यह व्यभिचार होता है। अतः 'जाति' अर्थ ही मानना उचित है। सभी घटव्यक्तियों में घटत्व जाति रहती है। अतः उक्त दोनों दोषों का प्रसङ्ग नहीं है। जहाँ जाति में कार्य संभव नहीं है वहाँ व्यक्ति का आक्षेप कर तदाश्रित में कार्य किया जाता है। अतः कोई दोष नहीं है।

वैयाकरण उक्त विवाद में नहीं पड़ते हैं। इसीलिए पाणिनि ने दोनों पक्षों के समर्थक सूत्र बनाये हैं। किसी एक पक्ष से शास्त्रीय कार्यों का निर्वाह कठिन है। यदि केवल व्यक्ति ही पदार्थ होता तो उस (व्यक्ति) के बहुत होने से स्वतः बहुवचन सिद्ध है उसके लिए नियम बनाने की कोई आवश्यकता नहीं थी, फिर भी पाणिनि ने "जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्" (पा. सू. १।२।५८) यह सूत्र बनाया। यह सिद्ध करता है कि जाति पदार्थ है। अतः उसके अर्थ होने पर एकवचन की प्राप्ति में बहुवचन का विधान करना उचित था। इसी प्रकार यदि जाति ही पदार्थ होता तो जाति के एक होने से एक शब्द का ही प्रयोग प्राप्त है उसके लिए "सरूपाणामेकशेष" (पा. सू. १।२।६४) सूत्र बनाने की आवश्यकता नहीं थी। इस सूत्र के बनाने से यह सिद्ध होता है कि व्यक्ति भी पदार्थ है। व्यक्तियों के बहुत होने से बहुवचन में बहुत शब्दों का प्रयोग प्राप्त है उसे रोक कर एक का ही प्रयोग करने के लिए एकशेष-विधायक सूत्र बनाना आवश्यक था। इस प्रकार पाणिनि का दोनों पक्ष मानना सिद्ध है।

(समाधानभाष्यम्)

उभयमित्याह ॥

कथं ज्ञायते ?

उभयथा ह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि। आकृतिं पदार्थं मत्वा—"जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्" (पा० सू० १।२।५८) इत्युच्यते।

द्रव्यं पदार्थं मत्वा "सरूपाणाम्—" (पा० सू० १।२।६४) इत्येकशेष आरभ्यते ॥

— ० —

(शब्दनित्यत्वानित्यत्वविचारभाष्यम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

किं पुनर्नित्यः शब्दः, आहोस्वित् कार्यः ?

'प्रदीपः'

मित्यभिन्नप्रत्ययनिमित्ता डित्थत्वादिका जातिर्वाच्या। क्रियास्वपि जातिर्विद्यते, सैव धातुवाच्या। पठति पठतः पठन्तीत्यादेरभिन्नस्य प्रत्ययस्य सद्भावात्तन्निमित्तजात्यभ्युपगमः ॥ व्यक्तिवादिनस्त्वाहुः—शब्दस्य व्यक्तिरेव वाच्या, जातेस्तूपलक्षणभावेनाश्रयणादानन्त्यादिदोषानवकाशः ॥

किं पुनरिति। विप्रतिपत्त्या संशयः। केचिद् ध्वनिव्यङ्ग्यं वर्णात्मकं नित्यं शब्दमाहुः। अन्ये वर्णव्यतिरिक्तं पदस्फोटमिच्छन्ति। वाक्यस्फोटमपरे संगिरन्ते। अन्ये तु ध्वनिरेव शब्दः स च कार्यस्तद्व्यतिरेकेणान्यस्यानुपलम्भादित्याचक्षते ॥

'भावबोधिनी'

[वैयाकरण] दोनों अर्थ हैं—ऐसा कहता है।

कैसे ज्ञात होता हे [कि दोनों अर्थ हैं] ?

आचार्य पाणिनि ने दोनों को अर्थ मानकर सूत्रों का प्रणयन किया है, पाठ किया है। आकृति=जाति को पद का अर्थ मानकर "जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्" (पा. सू. १।२५८) यह कहा है। और द्रव्य=व्यक्ति को पदार्थ मान कर "सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ" (पा. सू. १।२।६४) इससे एकशेष का आरम्भ (=विधान) किया है।

शब्द की नित्यता-अनित्यता का निर्णय

[मीमांसक ध्वनिव्यङ्ग्य वर्णात्मक नित्य शब्द मानते हैं। वैयाकरण ध्वनिव्यङ्ग्य वर्णातिरिक्त 'स्फोट' रूप नित्य शब्द मानते हैं। किन्तु नैयायिक आदि 'ध्वनि' रूप ही शब्द मानते हैं। अतः शब्द की नित्यता और अनित्यता पर विचार करना आवश्यक है]—

शब्द क्या नित्य है अथवा अनित्य (कार्य). ?

(समाधानभाष्यम्)

संग्रह एतत्प्राधान्येन परीक्षितम्—'नित्यो वा स्यात् कार्यो वेति।' तत्रोक्ता दोषाः, प्रयोजनान्यप्युक्तानि। तत्र त्वेष निर्णयः—यद्येव नित्यः, अथापि कार्यः, उभयथापि लक्षणं प्रवर्त्यमिति ॥

(नित्यशब्दवादेऽपि शास्त्रस्य धर्मजनकताधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

कथं पुनरिदं भगवतः पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम् ?

(१ आक्षेपसाधकवार्तिकप्रथमखण्डम् ॥ १ ॥)

॥ * ॥ सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे ॥ * ॥

(व्याख्याभाष्यम्)

सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति ॥

'प्रदीपः'

संग्रह इति। ग्रन्थविशेषे[१]।

कथं पुनरिति। किमाचार्य एव स्रष्टा शब्दार्थसम्बन्धानाम्, अथ स्मर्तेति प्रश्नः ॥

'भावबोधिनी'

इस विषय में संग्रह[१] नामक(आचार्य व्याडिरचित) ग्रन्थ में मुख्य रूप से विचार-विमर्श किया गया है—'शब्द नित्य है अथवा अनित्य।' उसी में [दोनों पक्षों के] दोष भी कहे गए हैं और प्रयोजन (फल) भी। उसमें यह निर्णय किया गया है—"शब्द नित्य हो अथवा अनित्य (कार्य), दोनों ही अवस्थाओं में लक्षण (व्याकरण सूत्रों) की प्रवृत्ति करनी चाहिए। [व्याकरण का मुख्य उद्देश्य साधुत्व और असाधुत्व का निर्णय करना है, वह दोनों ही पक्षों के लिए आवश्यक है। अतः व्याकरण शास्त्र की उपयोगिता रहती ही है]।

शब्दनित्यत्ववाद में व्याकरण की उपयोगिता

[दोनों पक्षों में व्याकरण की उपयोगिता है। इस स्थिति में] आचार्य पाणिनि का लक्षण (=व्याकरण शास्त्र) किस अभिप्राय को मान कर प्रवृत्त हुआ, बनाया गया है ?[२]

(वा०) 'शब्द, अर्थ और इनके सम्बन्ध के सिद्ध रहते हुए [आचार्य पाणिनि का

---

१. आचार्य व्याडि ने एक लाख श्लोकों वाले 'संग्रह' नामक ग्रन्थ में मुख्य रूप से शब्दशास्त्रीय विषयों पर गंभीर विवेचन किया था। दुःख है कि यह महान् ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। यत्र तत्र कुछ वचन ही प्राप्त होते हैं।

२. एवञ्च किमपूर्वशब्दनिष्पादनद्वाराऽर्थ-विशेषसम्बन्धनिष्पादकत्वं शास्त्रस्य,

(वार्तिकघटक-सिद्ध-शब्दार्थनिरूपणभाष्यम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

अथ सिद्धशब्दस्य कः पदार्थः ?

(समाधानभाष्यम्)

नित्यपर्यायवाची सिद्धशब्दः ॥

कथं ज्ञायते ?

यत्कूटस्थेष्वविचालिषु भावेषु वर्तते । तद्यथा—सिद्धा द्यौः, सिद्धा पृथिवी, सिद्धमाकाशमिति ॥

'प्रदीपः'

सिद्ध इति । तत्र नित्यः शब्दो जातिस्फोटलक्षणो व्यक्तिस्फोटलक्षणो वा । कार्यशब्दिकानामपि मते प्रवाहनित्यतया । अर्थस्यापि जातिलक्षणस्य नित्यत्वम् । द्रव्यपक्षेऽपि सर्वशब्दानामसत्योपाध्यवच्छिन्नं ब्रह्मतत्त्वं वाच्यमिति नित्यता प्रवाह-नित्यतया वा । सम्बन्धस्यापि व्यवहारपरस्परयानादित्वान्नित्यता ॥

सिद्धशब्दस्य नित्यानित्ययोर्दर्शनात्पृच्छति—**अथेति ।**

नित्येति । नित्यलक्षणस्यार्थस्य पर्यायेण वाचकस्तमेवार्थं कदाचिन्नित्यशब्द आह कदाचित्सिद्धशब्द इत्यर्थः । **कूटस्थेष्विति ।** अविनाशिषु । **अविचालिष्विति ।** देशान्तरप्राप्तिरहितेषु ॥

'भावबोधिनी'

व्याकरण शास्त्र बनाया गया है ।]

(भा०) [1]शब्द, अर्थ और सम्बन्ध के सिद्ध रहने पर [व्याकरण शास्त्र बनाया गया है ।]

यहाँ (वार्त्तिक में) सिद्ध शब्द का क्या अर्थ है ?

यहाँ नित्य का पर्यायवाचक सिद्ध शब्द है ।

यह कैसे ज्ञात होता है ? [यह कैसे जाना जाय कि शब्दार्थ-सम्बन्ध तीनों नित्य हैं ?]

चूंकि कूटस्थ (=अविनाशी) और अविचाली (=अन्यत्र न किये जा सकने वाले) पदार्थों के विषय में (=उन्हें कहने के लिए) 'सिद्ध' शब्द का प्रयोग होता है; जैसे—"द्युलोक सिद्ध है, पृथिवी सिद्ध है, आकाश सिद्ध है ।" [द्युलोक, पृथिवी और आकाश कूटस्थ और अविचाली पदार्थ हैं । अतः इनके लिए 'सिद्ध' शब्द का प्रयोग करना उसकी नित्यार्थता प्रतिपादित करते हैं ।]

किं वा सिद्धशब्दार्थसम्बन्धबोधकत्वमिति प्रश्नार्थं इति तात्पर्यम् । [उद्द्योतः]

१. प्रस्तुत वार्त्तिक कात्यायन का प्रथम वचन है । इसीलिए, आगे भाष्यकार ने 'सिद्धे' का प्रयोग मङ्गलार्थ माना है । इसलिए 'वृद्धिरादैच्' यह प्रथम सूत्र है । 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' यह प्रथम वार्त्तिक है । 'अथ शब्दानुशासनम्' यह प्रथम भाष्यवचन है ।

(आक्षेपभाष्यम्)

ननु च भोः, कार्येष्वपि वर्तते। तद्यथा—सिद्ध ओदनः, सिद्धः सूपः, सिद्धा यवागूरिति। यावता कार्येष्वपि वर्तते, तत्र कुत एतन्नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणम्, न पुनः कार्ये यः सिद्धशब्द इति ?

(समाधानभाष्यम्)

(१) संग्रहे तावत्कार्यप्रतिद्वन्द्विभावान्मन्यामहे नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति। इहापि तदेव ॥

(समाधानान्तरभाष्यम्)

(२) अथवा सन्त्येकपदान्यप्यवधारणानि। तद्यथा—अब्भक्षो वायु-

'प्रदीपः'

ननु चेति। सिद्धशब्दात्क्रियानिष्पन्नोऽप्यर्थोऽवगम्यत इत्यर्थः ॥

संग्रहे तावदिति। तत्र हि 'किं कार्यः शब्दोऽथ सिद्धः' इति पक्षद्वयविचारः कृतः। तत्र कार्यप्रतिपक्षार्थाभिधायी सामर्थ्यात्सिद्धशब्द इति स्थितम्। तत्समानतन्त्रत्वादिहापि तथैव युक्तमित्यर्थः ॥

अथवेति। एवशब्दप्रयोगे द्विपदमवधारणं, द्योतकत्वेनैवशब्दस्यापेक्षणात्। यदा तु द्योतकमन्तरेण सामर्थ्यादवधारणं गम्यते तदा तदेकपदमित्युच्यते। तत्र 'सर्व एवापो

'भावबोधिनी'

क्यों श्रीमन्! [सिद्ध शब्द का प्रयोग] कार्य (कृत्रिम, अनित्य) पदार्थों के विषय में भी (=अनित्य पदार्थों को कहने के लिए भी) होता है। जैसे—ओदन= भात सिद्ध (=बना हुआ) है, सूप=दाल सिद्ध (=तैयार) है, यवागू=लप्सी सिद्ध (=पकी हुई, तैयार) है। चूं कि इस (सिद्ध) शब्द का प्रयोग कार्य=कृत्रिम (अनित्य) अर्थों [को कहने] में भी होता है, तब फिर यह कैसे जाना जा सकता है कि इस वार्त्तिक में नित्य के पर्यायवाचक सिद्ध का ही ग्रहण है, कार्य अर्थ को कहने में प्रयुक्त होने वाले अर्थात् अनित्यार्थक 'सिद्ध' शब्द का नहीं ?

[जब नित्य और अनित्य=कार्य दोनों प्रकार के पदार्थों को कहने में 'सिद्ध' शब्द का प्रयोग होता है तब बिना ठोस कारण के एक पक्ष का समर्थन करना कठिन है। 'सिद्ध' शब्द की नित्य-पर्याय-वाचकता में निम्न चार तर्क दिये गए हैं—]

(१) संग्रह-नामक ग्रन्थ में [सिद्ध शब्द को] कार्य=अनित्य के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में [प्रयुक्त] होने के कारण हम समझ लेते हैं कि [वहाँ] नित्य के पर्यायवाचक सिद्ध शब्द का ग्रहण है। उसी प्रकार इस वार्त्तिक में भी वही (नित्य का पर्यायवाची सिद्ध ही) गृहीत है। [दोनों व्याकरण-ग्रन्थ हैं अतः दोनों में सिद्ध का समान अर्थ ही उचित है।]

(२) अथवा एक पदवाले भी अवधारण (नियम) होते हैं। [किसी पद के साथ

भक्ष इति—अप एव भक्षयति, वायुमेव भक्षयतीति गम्यते। एवमिहापि [1]सिद्ध एव, न साध्य इति॥

(समाधानान्तरभाष्यम्)

(३) अथवा पूर्वपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः—अत्यन्तसिद्धः=सिद्ध इति। तद्यथा—देवदत्तो दत्तः, सत्यभामा भामेति॥

'प्रदीपः'

भक्षयन्ती' त्यब्भक्षश्रुतिः सामर्थ्यान्नियममवगमयत्यप एव भक्षयन्तीति। इहापि नित्यानित्यव्यतिरेकेण राश्यन्तराभावात्सिद्धशब्दोपादानान्नियमोऽवगम्यते—सिद्ध एवेति। कार्याणां तु पदार्थानां[2] प्राक्प्रध्वंसा वस्थयोः सिद्धता नास्तीति न ते सिद्धा एव॥

अथवेति। कथं पुनर्देवदत्तशब्दे संज्ञात्वेन विनियुक्ते एकदेशः प्रयुज्यते। न ह्यसौ संज्ञात्वेन विनियुक्तः। न चैकदेशात्स्मर्यमाणस्य समुदायस्य वाचकत्वमुपपद्यते। प्रतीयमानस्य प्रत्यायकत्वासम्भवादुच्चार्यमाणस्यैव वाचकत्वात्। एवं तर्ह्यनुनिष्पादिन्योऽवयवसरूपाः संज्ञा विनियोगकाले विनियुक्ता एव। लोपस्तु वर्णानां साधुत्वं मा भूदित्यन्वाख्यायते। इहापि नित्यानित्ययोर्निष्पन्नत्वाविशेषात्सिद्धश्रुतिरुपात्ता प्रकर्षं गमयति—अत्यन्तसिद्ध इति॥

'भावबोधिनी'

'एव' के रहने पर ही अवधारण[1] की प्रतीति होती है। किन्तु कहीं-कहीं अकेले एक पद से भी अवधारण-नियम प्रतीत हो जाता है]। वह इस प्रकार है—'अब्भक्षः' 'वायुभक्षः' यह कहने पर ['एव'—ही के विना भी उसका अर्थ अर्थात् प्रतीत हो जाता है]—'पानी ही पीता है', 'हवा ही खाता है—ऐसा अर्थ प्रतीत होता है। उसी प्रकार यहाँ (वार्त्तिक में) भी 'सिद्ध ही है' [कभी भी] साध्य—कार्य नहीं है। [वार्त्तिक में 'एव' न रहने पर भी अर्थ में उसे समझ लिया जाता है। इससे भी नित्यपर्यायवाची का ग्रहण फलित होता है]।

(३) अथवा यहाँ पूर्वपद का लोप समझना चाहिए—'अत्यन्तसिद्धः—सिद्ध' है। [वास्तव में 'अत्यन्तसिद्ध' यह है किन्तु अत्यन्त का लोप है। लुप्त होने पर भी उसका अर्थ रहता है। अत्यन्त सिद्ध अर्थात् कभी भी साध्य नहीं।] यह इस प्रकार है—देवदत्तः—दत्तः, सत्यभामा—भामा। [जैसे इनमें दो पदों में एक का लोप हो जाता है उसी प्रकार यहाँ भी 'अत्यन्त सिद्ध' में 'अत्यन्त' पद का लोप समझना चाहिए। परन्तु 'अत्यन्त' का अर्थ रहता ही है।]

---

१. एव शब्द का प्रयोग अन्य की निवृत्ति करता है। जैसे—राम एव पठति। यहाँ 'अन्यः न पठति' यह फलित होता है। वैसे ही 'सिद्ध एव' इससे 'न साध्यः—अनित्यः यह फलित होता है।

२. प्राक्प्रध्वंसाभावयोरिति क्वाचित्कोऽपपाठः—इति छाया।

(समाधानान्तरभाष्यम्)

(४) अथवा "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्" इति नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति व्याख्यास्यामः ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

किं पुनरनेन वर्ण्येन। किं न महता कण्ठेन नित्यशब्द एवोपात्तः यस्मिन्नुपादीयमानेऽसन्देहः स्यात् ?

(समाधानभाष्यम्)

॥ * ॥ मङ्गलार्थम् ॥ * ॥

माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं सिद्धशब्दमादितः

'प्रदीपः'

न्यायाद्वा नित्यत्वं शब्दादीनां स्थितमित्याह—अथवेति। नहि संदेहमात्राद-लक्षणता भवति, पुनः प्रमाणान्तरेण निश्चयोत्पादात् ॥

वर्ण्येनेति। प्रयत्नव्याख्यातव्येनेत्यर्थः ॥

माङ्गलिक इति। अगर्हिताभीष्टार्थसिद्धिर्मंगलं, तत्प्रयोजन आचार्यो माङ्ग-लिकः ॥ प्रथन्त इति। अध्ययनस्याविच्छेदात् ॥ वीरपुरुषाणीति। श्रोतॄणां परैर-

'भावबोधिनी'

(४) अथवा 'व्याख्यान से विशेष प्रतिपत्ति=अभीष्ट अर्थ का निर्णय होता है, केवल सन्देह से किसी लक्षण=शास्त्र को अलक्षण=अप्रामाणिक वचन नहीं कहा जा सकता।" इस [व्यवस्था] के अनुसार—'यहाँ नित्य के पर्यायवाची 'सिद्ध' का ग्रहण है—ऐसी व्याख्या करेंगे।

[उक्त चार तर्कों से यह निश्चित हो जाता है कि वार्त्तिक में प्रयुक्त 'सिद्ध' शब्द नित्य का पर्यायवाचक ही है। अतः शब्द, अर्थ और इनका सम्बन्ध—इन तीनों को नित्य मानते हुए ही पाणिनि ने अपना व्याकरण शास्त्र बनाया है]।

इस वर्ण्य (=व्याख्यानयोग्य सिद्ध शब्द के ग्रहण) से क्या [लाभ है], क्यों नहीं महान कण्ठ से [तेज आवाज से] 'नित्य' शब्द का ही ग्रहण कर दिया जिसके उपादान [ग्रहण) से सन्देह ही न होता ?

* मङ्गल के लिए [सिद्ध शब्द का प्रयोग है]।

माङ्गलिक [शिष्यादि की अभीष्टसिद्धि को चाहने वाले] आचार्य कात्यायन विशाल शास्त्रसमूह (=वार्त्तिकसमुदाय) के मङ्गल (साफल्य) के लिए आदि में

प्रयङ्क्ते । मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि च भवन्ति, आयुष्मत्पुरुषाणि चाध्येतारश्च सिद्धार्था यथा स्युरिति ।।

(समाधानभाष्यशेषभाष्यम्)

अयं खलु नित्यशब्दो नावश्यं कूटस्थेष्वविचालिषु भावेषु वर्तते ।।

किं तर्हि ?

आभीक्ष्ण्येपि वर्तते, तद्यथा—नित्यप्रहसितो नित्यप्रजल्पित इति । यावताऽऽभीक्ष्ण्येऽपि वर्तते तत्राप्यनेनैवार्थः स्यात्—"व्यांख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्" इति । पश्यति त्वाचार्यो मङ्गलार्थश्चैव सिद्धशब्द आदितः प्रयुक्तो भविष्यति, शक्ष्यामि चैनं नित्यपर्यायवाचिनं

'प्रदीप'

पराजयात् ।। आयुष्मत्पुरुषाणीति । शास्त्रार्थानुष्ठाने धर्मोपचयादायुर्वर्धनात् ।। सिद्धार्था इति । अध्ययननिर्वृत्तिरेव तेषां सिद्धिः ।।

नावश्यमिति । ततश्चाभीक्ष्ण्येन ये शब्दाः प्रयुज्यन्ते आगोपालाङ्गनं तेषामेवान्वाख्यानं स्याद् न विरलप्रयोगाणाम् । विनापि च क्रियापदप्रयोगेणाभीक्ष्ण्यवृत्तिर्नित्य-

'भावबोधिनी'

'सिद्ध' शब्द का प्रयोग करते हैं । क्योंकि जिनके आदि में मङ्गल है ऐसे शास्त्रों का विस्तार (प्रचार) होता है, ऐसे शास्त्र के अध्येता वीर पुरुष और दीर्घायु पुरुष होते हैं, अध्येता सिद्धार्थ [कृतार्थ अपने प्रयोजन में सफल] होते हैं । [इसी कारण कात्यायन ने प्रथम वार्त्तिक में 'सिद्धे' शब्द का प्रयोग किया है ।]

और यह 'नित्य' शब्द भी निश्चित रूप से कूटस्थ [सदा एक रूप में रहने वाले] अविचाली [इधर-उधर न जा सकने वाले] पदार्थों में ही प्रयुक्त होता है, ऐसा आवश्यक नहीं है ।

तो क्या ?

आभीक्ष्ण्य (=पुनः पुनः होना, बहुत अधिक होना) अर्थ में भी नित्य शब्द का प्रयोग होता है । वह इस प्रकार है—नित्यप्रहसित, नित्य-प्रजल्पित । [बहुत या बार-बार हसने वाला, बहुत या बार-बार बोलने वाला । इसमें नित्य का प्रयोग कूटस्थ अविचाली का प्रतिपादक न होकर आभीक्ष्ण्य का ही है ।] चूंकि इस 'नित्य' शब्द का प्रयोग आभीक्ष्ण्य अर्थ में भी होता है तो यहाँ भी इसी नियम से निर्वाह करना होगा—"व्याख्यान से ही विशेष ज्ञान करना" चाहिए, सन्देह हो जाने मात्र से कोई लक्षण=शास्त्र अलक्षण=असंगत नहीं हो जाता ।

वर्णयितुमिति । अतः सिद्धशब्द एवोपात्तो न नित्यशब्दः ॥

(नित्यतासाधकपक्षनिर्णयाधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

अथ कं पुनः पदार्थं मत्वा एष विग्रहः क्रियते––सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति ?

(समाधानभाष्यम्)

आकृतिमित्याह ॥

कुत एतत् ?

आकृतिर्हि नित्या, द्रव्यमनित्यम् ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

अथ द्रव्ये पदार्थे कथं विग्रहः कर्तव्यः ?

'प्रदीपः'

शब्दः प्रयुज्यते । यथा 'आश्चर्यमनित्ये' 'नित्यवीप्सयोरिति ॥'

'भावबोधिनी'

आचार्य कात्यायन यह देखते हैं कि आदि में प्रयुक्त 'सिद्ध' शब्द मङ्गलार्थ भी होगा और इसे नित्य के पर्यायवाची के रूप व्याख्यात भी कर सकूंगा । [इसे नित्यार्थक भी प्रतिपादित कर सकूंगा] । इसीलिए 'सिद्ध' शब्द का ही उपादान (प्रयोग) किया, नित्य शब्द का नहीं । [इस प्रकार 'सिद्ध' शब्द के ग्रहण से 'मङ्गल' और नित्यार्थ-परता दोनों फलित हो जाते हैं ।]

[जाति, व्यक्ति और आकृति=आकार में] किस को पदार्थ [पद का प्रतिपाद्य] मान कर यह विग्रह किया जाता है—'सिद्धे शब्दे, अर्थे, सम्बन्धे च ?' [शब्द, अर्थ और इनके सम्बन्ध के सिद्ध रहने पर पाणिनि ने अपना व्याकरण शास्त्र बनाया ?]

आकृति को [पदार्थ मान कर 'शब्दे, अर्थे सम्बन्धे च'–यह विग्रह किया गया है ।]—ऐसा कहते हैं ।

यह कैसे ?

चूंकि आकृति नित्य है और द्रव्य अनित्य है । [अतः अर्थ के रूप में आकृति ही ली जानी चाहिए ।]

यदि द्रव्य पदार्थ [पद का अर्थ] हो तो किस प्रकार का विग्रह करना चाहिए ?

(समाधानभाष्यम्)

सिद्धे शब्दे अर्थसम्बन्धे चेति । नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः ।।

(द्रव्यपदार्थाभ्युपगमभाष्यम्)

अथवा द्रव्य एव पदार्थे एष विग्रहो न्याय्यः—सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे चेति । द्रव्यं हि नित्यम्, आकृतिरनित्या ।।

कथं ज्ञायते ?

एवं हि दृश्यते लोके—मृत्कयाचिदाकृत्या युक्ता पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य घटिकाः क्रियन्ते, घटिकाकृतिमुपमृद्य कुण्डिकाः क्रियन्ते ।

'प्रदीपः'

अर्थसम्बन्धे चेति । द्रव्यपक्षे द्रव्यस्यानित्यत्वादर्थग्रहणं सम्बन्धविशेषणार्थमुपात्तम् ।। अनित्येऽर्थे कथं सम्बन्धस्य नित्यतेति चेद्, योग्यतालक्षणत्वात्सम्बन्धस्य । तस्याश्च शब्दाश्रयत्वात्, शब्दस्य च नित्यत्वाददोषः ।।

द्रव्यं हि नित्यमिति । असत्योपाध्यवच्छिन्नं ब्रह्मतत्त्वं द्रव्यशब्दवाच्य-

'भावबोधिनी'

'सिद्धे शब्दे अर्थसम्बन्धे च'—ऐसा [विग्रह करना चाहिए] । क्योंकि अर्थवान्=शब्दों का अर्थों के साथ सम्बन्ध नित्य है ।

[समाहारद्वन्द्व मानने पर शब्द, अर्थ, सम्बन्ध—इन तीनों को 'सिद्ध' शब्द के साथ अन्वित किया जा सकता है । यदि 'अर्थस्य सम्बन्धः=अर्थसम्बन्धः तस्मिन्—अर्थसम्बन्धे । सिद्धे शब्दे अर्थसम्बन्धे च' ऐसा विग्रह है तो 'अर्थ' के विशेषणीभूत हो जाने से वह 'सिद्धे' के साथ अन्वित नहीं हो सकता । इसमें शब्द और सम्बन्ध की नित्यता है । अर्थ की नित्यता फलित है ।]

अथवा 'द्रव्य को पदार्थ मानने पर ही यह विग्रह उचित है—सिद्धे शब्दे, अर्थे, सम्बन्धे च ।' (शब्द अर्थ और इनके सम्बन्ध के नित्य रहने पर ।) क्योंकि द्रव्य नित्य है, और आकृति अनित्य है ।

कैसे ज्ञात होता है [कि द्रव्य नित्य है और आकृति अनित्य है] ?

लोक मे ऐसा देखा जाता है—मिट्टी किसी आकृति से युक्त एक पिण्ड (गोला) होती है । इस पिण्ड आकृति (आकार) को मिटा कर घटिकाएं (छोटे छोटे घड़े) बनाई जातीं हैं, [फिर] घटिकाओं का आकार मिटा कर कुण्डिकाएं [बड़े-बड़े मृत्पात्र जिनमें अन्नादि रखे जाते हैं.] बनाईं जातीं हैं ।

[मिट्टी की कोई आकृति पक जाने के बाद दूसरी बनाना कठिन है । अतः अब दूसरा उदाहरण देते हैं—]

तथा सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्तः पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते। पुनरावृत्तः सुवर्णपिण्डः पुनरपरयाकृऽऽत्या युक्तः खदिराङ्गारसवर्णे कुण्डले भवतः। आकृतिरन्या चान्या च भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव। आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते॥

(आकृतिपदार्थाभ्युपगमभाष्यम्)

आकृतावपि पदार्थ एष विग्रहो न्याय्यः–सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे चेति॥

(आक्षेपस्मारणभाष्यम्)

ननु चोक्तम्–आकृतिरनित्या इति॥

(समाधानभाष्यम्)

'प्रदीपः'

मित्यर्थः। आकृतिरिति। संस्थानम्। ब्रह्मदर्शने च गोत्वादिजातेरप्यसत्यत्वादनित्यत्वम्, 'आत्मैवेदं सर्वम्' इति श्रुतिवचनात्॥

'भावबोधिनी'

इसी प्रकार सुवर्ण किसी आकार से युक्त पिण्ड (गोला, सिल्ली) होता है, पिण्ड आकार को मिटा कर 'रुचक' (आभूषणविशेष) बनाये जाते हैं। [फिर] रुचक का आकार मिटा कर कटक (कड़े) बनाए जाते हैं [फिर] कटक (कड़े) का आकार मिटा कर स्वस्तिक [卐 इस आकार वाले आभूषण] बनाए जाते हैं। फिर आवृत्त (गलाया हुआ) सुवर्ण पिण्ड फिर दुबारा किसी अन्य आकृति से युक्त होता हुआ खैर (कत्था) के (जलते हुए) अंगारे के समान दो कुण्डल बन जाते हैं, कुण्डलों के रूप में बदल जाते हैं। आकृति=आकार भिन्न-भिन्न होता रहता है किन्तु द्रव्य तो फिर भी वही बना रहता है। आकृति=आकार के विनाश से द्रव्य ही शेष बचता है।

विमर्श—जाति, आकृति और व्यक्ति ये तीनों पदार्थ हैं। यहाँ भाष्य में आकृति शब्द का प्रयोग जाति और आकार (अवयव-संस्थात) दोनों के लिए किया गया प्रतीत होता है। प्रारम्भ में प्रयुक्त 'आकृति' शब्द जातिपरक है। आगे उदाहरणों में वह आकारपरक है। अतः प्रश्न और समाधान में सावधानीपूर्वक विचार करना चाहिए। आगे फिर कुछ इसी प्रकार का विवेचन है।

[अनु०] आकृति (=आकार) को भी पदार्थ मानने पर यह विग्रह उचित है—'सिद्धे, शब्दे, अर्थे सम्बन्धे च।' (शब्द, अर्थ और सम्बन्ध के नित्य रहने पर।)

ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि पहले कहा जा चुका है—'आकृति अनित्य है।'

नैतदस्ति । नित्याऽऽकृतिः ॥

कथम् ?

न क्वचिदुपरतेति कृत्वा सर्वत्रोपरता भवति । द्रव्यान्तरस्था तूपलभ्यते ॥

(समाधानसाधकनित्यलक्षणभाष्यम्)

अथवा नेदमेव नित्यलक्षणम्—ध्रुवं कूटस्थमविचाल्यनपायोपजन-विकार्यनुत्पत्त्यवृद्ध्यव्यययोगि यत्तन्नित्यमिति । तदपि नित्यं यस्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते ॥

किं पुनस्तत्त्वम् ?

'प्रदीपः'

न क्वचिदुपरतेति । अनभिव्यक्तेत्यर्थः । अद्वैतेन लोके व्यवहाराभावाद् व्यवहारे चाकृतेरेकाकारपरामर्शहेतुत्वान्नित्यत्वम् ॥

अथवेति । असत्यत्वेऽपि तत्त्वतो लोकव्यवहाराश्रयणेन जातेर्नित्यत्वं साध्यते । त्रिविधा चानित्यता, संसर्गानित्यता यथा—स्फटिकस्य लाक्षाद्युपधाने स्वरूपतिरो-धानेन पररूपभासः । उपधानापगमे स्वरूपप्रतिभासात्परिणामाभावः । परिणामा-नित्यता यथा—बदरीफलस्य श्यामतातिरोभावे लौहित्यस्याविर्भावः । प्रध्वंसा-नित्यता । सर्वात्मना विनाशः । एतत्त्रिविधानित्यताप्रतिक्षेपेण नित्यतां प्रतिपाद-

'भावबोधिनी'

नहीं, ऐसा नहीं है । आकृति नित्य (ही) है ।

कैसे ?

किसी एक द्रव्य में उपरत [अनभिव्यक्त, अप्रत्यक्ष] है—ऐसा मान कर सभी द्रव्यों में उपरत [अनभिव्यक्त] हो जाती है—ऐसा नहीं होता । दूसरे द्रव्यों में रहती हुई उपलब्ध होती ही है । [मिट्टी आदि एक द्रव्य में घट का आकार नष्ट हो जाने पर भी लोहे, ताम्बे, चाँदी आदि द्रव्यों में वह आकृति कहीं-न कहीं तो दिखाई ही देती है ।]

अथवा नित्य का लक्षण यही नहीं है—ध्रुव–कूटस्थ, अविचाली, अपायरूप विकाररहित, उपजनरूप विकाररहित, उत्पत्तिरहित, वृद्धिरहित और व्यय-क्षयरहित [जो होता है वही नित्य है—ऐसा नित्यत्व नहीं है] अपि तु वह भी नित्य है जिसमें तत्त्व का नाश नहीं होता है ।

वह तत्त्व क्या है ?

तस्य भावस्तत्त्वम् ।। आकृतावपि तत्त्वं न विहन्यते ।।

(नित्यानित्यत्वविचारस्याप्रकृतत्वबोधकभाष्यम्)

अथवा किं न एतेन—इदं नित्यमिदमनित्यमिति । यन्नित्यं तं पदार्थं

'प्रदीपः'

यितुमुक्तं—ध्रुवमित्यादि । तत्र ध्रुवं कूटस्थमिति संसर्गानित्यता परिहृता, अविचालीति परिणामानित्यता, अनपायेत्यादिना प्रध्वंसानित्यता[1] ।।

यन्नित्यमिति । बुद्धिप्रतिभासः शब्दार्थो यदा यदा शब्द उच्चारितस्तदा-

'भावबोधिनी'

उसका भाव (=तद्गत धर्म)—तत्त्व है ।[1] आकृति में भी तत्त्व का विनाश नहीं होता है ।

अथवा हम (वैयाकरणों) को इससे क्या लेना देना—'यह नित्य है, यह

---

१. १. भाव पदार्थों के छः विकार होते हैं—(१) जायते, (२) अस्ति, (३) वर्द्धते, (४) विपरिणमते, (५) अपक्षीयते, (६) नश्यति । इनसे अनित्यता सिद्ध होती है । भाष्य में नित्यत्व के विषय में—(१) ध्रुव=कूटस्थ (=अयोघन के समान एक रूप वाला)—यह कहकर संसर्गजन्य अनित्यता का परिहार किया गया है । जैसे—स्फटिक अत्यन्त निर्मल होता है यदि उसके पास रक्त पुष्पादि रख दिया जाय तो वह रक्तिमा उस स्फटिक में भी दिखाई देने लगती है और पुष्पादि हटा देने पर नहीं दिखाई देती है । यह संसर्गानित्यता है । (२) अविचाली—विचाल का अर्थ है—दूसरा रूप उत्पन्न होना, परिणाम । जैसे—दूध का दूसरा रूप दही बनता है । ऐसा कहकर परिणामानित्यता का निराकरण किया है ।

(३) अनपायोपजनविकारि—इस पद में—अपायश्च उपजनश्च—तौ उपायोपजनौ—यह द्वन्द्व करके अपायोपजनौ च तौ विकारौ च—यह कर्मधारय करके अपायोपजन-विकारौ । तौ अस्य स्तः—इसमें इनि प्रत्यय करके—अपायोपजनविकारि । तद्भिन्नम्—अनपायोपजनविकारि—यह एक पद है । अपाय=अपचय=ह्रास । उपजन=वृद्धि । इन दोनों विकारों से रहित । अनुत्पत्ति=उत्पत्तिरहित । अवृद्धि=वृद्धिरहित । अव्यययोगि=व्ययः=नाशः, तेन योगः=सम्बन्धः सः यस्यास्ति—व्यययोगि, तद्भिन्नम्=अव्यययोगि ।

इस प्रकार सर्वविधविकार-रहित को नित्य माना जाता है । परन्तु भाष्यकार का कहना है कि 'नित्यत्व' का यही लक्षण पर्याप्त नहीं है । पदार्थगत भाव=धर्म भी नित्य होता है । उसे मानकर आकृति=अवयवसंस्थान रूप घटादि में रहने वाले घटत्व आदि को नित्य मान कर—सिद्धे शब्दे, अर्थे सम्बन्धे च—यह विग्रह किया जाता है ।

अत्रैष विग्रहः क्रियते—सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति ॥

(प्रत्याक्षेपभाष्यम्)

कथं पुनर्ज्ञायते–सिद्धः शब्दोऽर्थः सम्बन्धश्चेति ?

(१ प्रत्याक्षेपसमाधानवार्तिकद्वितीयखण्डम् ॥ २ ॥)

॥ ❀ ॥ लोकतः ॥ ❀ ॥

(भाष्यम्)

यल्लोकेऽर्थमर्थमुपादाय शब्दान्प्रयुञ्जते, नैषां निर्वृत्तौ यत्नं कुर्वन्ति। ये पुनः कार्या भावा निर्वृत्तौ तावत्तेषां यत्नः क्रियते। तद्यथा–घटेन कार्यं करिष्यन् कुम्भकारकुलं गत्वाह–कुरु घटं कार्यमनेन करिष्यामीति। न तद्वच्छब्दान्प्रयुयुक्षमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाह—कुरु शब्दान्प्रयोक्ष्य इति।

'प्रदीपः'

तदाऽर्थाकारा बुद्धिरुपजायते इति प्रवाहनित्यत्वादर्थस्य नित्यत्वमित्यर्थः ॥

लोकत इति। अन्यथा कार्येषु वस्तुषु लोकव्यवहारः, अन्यथा नित्येषु। शाब्दश्च व्यवहारोऽनादिवृद्धव्यवहारपरम्पराव्युपत्तिपूर्वक इति शब्दादीनां नित्यत्वम्। घटादयस्त्वर्थक्रियार्थिभिरन्यत आनीयन्त, उत्पादविनाशयुक्ताश्चोपलभ्यन्ते। नैवं शब्दादयः ॥

'भावबोधिनी'

अनित्य है।' [आपके द्वारा जात्याकृतिव्यक्ति तीनों में] जिसे नित्य पदार्थ माना जाता है उसे ही पदार्थ मानकर विग्रह किया जाता है—सिद्धे शब्दे, अर्थे सम्बन्धे च। [भाव यह है कि वैयाकरणों का पदार्थविशेष की नित्यता में आग्रह नहीं है। जो भी पदार्थ नित्य माना जाय उसे ही वैयाकरण भी मानकर उक्त विग्रह स्वीकार कर लेते हैं।]

यह कैसे ज्ञात होता है कि—शब्द, अर्थ और उनका सम्बन्ध नित्य = सिद्ध हैं ?

(वा०) लोक से [शब्द, अर्थ और सम्बन्ध का नित्यत्व ज्ञात होता है]।

क्योंकि लोक में उस उस (अर्थविशेष) को लेकर [उसे कहने के लिए] शब्दों का प्रयोग करते हैं, परन्तु उन शब्दों के उत्पादन (निर्माण) के लिए कोई यत्न नहीं करते हैं। परन्तु जो कार्य=जन्य पदार्थ होते हैं उनके उत्पादन (निर्माण) में यत्न किया जाता है। उदाहरणार्थ—भविष्य में घट से काम करने वाला व्यक्ति [पहले से ही] कुम्हार के घर जाकर कहता है—'घड़ा बना दीजिए, मैं उससे काम करूँगा।' परन्तु इसी प्रकार भविष्य में शब्दों के प्रयोग करने का इच्छुक व्यक्ति वैयाकरण के कुल में जाकर यह नहीं कहता है—'शब्द बना दीजिए मैं उनका

तावत्येवार्थमुपादाय शब्दान्प्रयुञ्जते ॥

(आक्षेपोपसंहारभाष्यम्)

यदि तर्हि लोक एषु प्रमाणम्, किं शास्त्रेण क्रियते ?

(१ समाधानभूत-वार्त्तिक-तृतीयखण्डम् ॥ ३ ॥)

॥ * ॥ लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः[१] ॥ * ॥

(भाष्यम्)

लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते ॥

'प्रदीपः'

तावत्येवार्थमिति । बुद्धया वस्तु निरूप्येत्यर्थः ॥

अत्र भाष्यकारेण सम्भवन्तीमप्येकवाक्यतामनाश्रित्य वाक्यत्रयं व्यवस्थापितम्। सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे शास्त्रं प्रवृत्तमित्येकं वाक्यम् । कथं ज्ञायत इति प्रश्ने लोकतो ज्ञायते इति द्वितीयम् । लोकत इत्यस्यावृत्त्या लोकतोऽर्थप्रयुक्त इत्यादि तृतीयम् । शब्दप्रयोग इति प्रयोगग्रहणेन 'प्रयोगाद्धर्मो न तु ज्ञानमात्राद्' इत्युक्तं भवति । अर्थेनात्मप्रत्यायनाय प्रयुक्तोऽर्थप्रयुक्तः ॥

'भावबोधिनी'

प्रयोग करूँगा।' उसके पास बिना गये ही अर्थ को लेकर शब्दों का प्रयोग करता है।

[इस लोकव्यवहार से ज्ञात होता है कि जिसका-जिसका उत्पादन किया जाता है वह-वह अनित्य है। शब्दों का उत्पादन नहीं किया जाता है। अतः लोकव्यवहार शब्द की नित्यता में प्रमाण है।]

व्याकरणशास्त्र द्वारा धर्मनियम

यदि लोक ही इनमें प्रमाण है तो शास्त्र से क्या किया जाता है ?

(वा०) लोक [-व्यवहार] से अर्थ के [बोध कराने के] लिये शब्द का प्रयोग सिद्ध रहने पर व्याकरण शास्त्र द्वारा धर्मनियम [किया जाता है]।

(भा०) लोकव्यवहार से अर्थ के लिए शब्द का प्रयोग सिद्ध रहने पर व्याकरण शास्त्र द्वारा धर्मनियम किया जाता है।

---

१. कुम्हार और घटनिर्माण का दृष्टान्त देखकर शब्द की नित्यता सिद्ध की गई। परन्तु जब शब्द नित्य है, सदैव रहने वाले हैं तब फिर व्याकरण शास्त्र की क्या उपयोगिता ? इसके उत्तर में भाष्यकार का कहना है कि अर्थबोध के लिए शब्द का प्रयोग तो लोकव्यवहार से सिद्ध है परन्तु उससे धर्मप्राप्ति का ज्ञान व्याकरणशास्त्र ही कराता है। वह धर्मनियम करता है। 'धर्मनियमः' यह समासप्रयोग है। इस के तीन अभिप्राय भाष्य में दिए गए हैं, वे विग्रह वाक्य नहीं हैं।

किमिदं धर्मनियम इति ?

धर्माय नियमो--धर्मनियमः, धर्मार्थो वा नियमो--धर्मनियमः, धर्मप्रयोजनो वा नियमो--धर्मनियमः ।।

'प्रदीपः'

धर्माय नियम इति । चतुर्थ्या तादर्थ्यं प्रतिपाद्यते । सम्बन्धसामान्ये तु षष्ठीं विधाय समासः कर्त्तव्यः, चतुर्थीसमासस्य प्रकृतिविकारभाव एव विधानात् । धर्मार्थं इति । धर्मार्थत्वान्नियम एव धर्मशब्देनाभिधीयते इति कर्मधारयः समासः ।। धर्मप्रयोजन इति । लिङ्गादिविषयेण नियोगाख्येन धर्मेण प्रयुक्त इत्यर्थः ।।

'भावबोधिनी'

यह धर्मनियम क्या है ?

(१) धर्म के लिए नियम, (२) धर्मार्थ=धर्मरूप नियम और (३) धर्म है प्रयोजन (=प्रयोजक, प्रवर्त्तक) जिसका ऐसा नियम—यह अभिप्राय 'धर्मनियम' पद का समझना चाहिए ।[१]

---

(१) धर्म=प्रत्यवाय का परिहार । इसके लिए व्याकरण-शास्त्र नियम करता है—'साधुशब्दैरेव भाषितव्यम् ।' यहाँ चतुर्थी-तत्पुरुष नहीं है । क्योंकि तादर्थ्य-चतुर्थी का ही समास होता है । अतः समास के लिए—धर्मस्य नियमः—यह सम्बन्धार्थक षष्ठी माननी चाहिए ।

(२) यदि कोई पदार्थ दूसरे पदार्थ के लिए होता है तो उसमें भी दूसरे पदार्थ का नाम प्रयुक्त कर दिया जाता है—'तादर्थ्यात् ताच्छब्द्यम् ।' नियम धर्म के लिए किया जाता है अतः 'नियम' को भी धर्म कहा जा सकता है । इस स्थिति में दोनों समानार्थक हो जाते हैं और यहाँ कर्मधारय समास होता है । इसमें धर्मरूप नियम यह भावार्थ फलित होता है ।

(३) धर्मप्रयोजनः—इसमें बहुव्रीहि है—धर्मः प्रयोजनः यस्य सः । प्रयोजनः—प्रयुज्यते यः सः—इस प्रकार कर्म अर्थ में ल्युट्=अन है । अतः प्रयोजन=प्रयोज्य अर्थ का बोधक है ।

प्रभाकर आदि मीमांसकों के अनुसार 'सोमेन यजेत' आदि वाक्यघटक लिङ् आदि का अर्थ 'अपूर्व' (=पुण्य) है । [यही मुख्य फल है । यह कालान्तर में प्राप्त होने वाले स्वर्ग की प्राप्ति के पूर्वक्षण तक रहता है । स्वर्गप्राप्ति के साथ-साथ अपूर्व नष्ट होता है । अतः यही स्वर्गादि-प्राप्ति का कारण है ।] यह अपूर्व ही पुरुष को यज्ञादि में प्रवृत्त कराता है, अतः इसे 'नियोग' कहते हैं । यही (अपूर्व, नियोग) धर्म है, यह प्रयोजक है और नियम प्रयोज्य है । यही धर्म मनुष्य को अपशब्द के प्रयोग

(१ वार्तिकचतुर्थखण्डम् ॥ ४ ॥)

॥ ❀ ॥ यथा लौकिकवैदिकेषु ॥ ❀ ॥

(भाष्यम्)

प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः—'यथा लोके वेदे चे'ति प्रयोक्तव्ये 'यथा लौकिकवैदिकेषु' इति प्रयुञ्जते ॥

अथवा युक्त एवात्र तद्धितार्थः । यथा लौकिकेषु वैदिकेषु च कृतान्तेषु ।

(लौकिकसिद्धान्तोपपादकभाष्यम्)

लोके तावद्—'अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः, अभक्ष्यो ग्राम्यसूकरः' इत्युच्यते। भक्ष्यं च नाम क्षुत्प्रतिघातार्थमुपादीयते। शक्यं चानेन

'प्रदीपः'

प्रियतद्धिता इति । नायमपशब्दः, किंतु ये लोकवेदयोर्भवा अवयवास्ते लोकवेद-शब्दाभ्यामभिधातुं शक्यन्ते । आधाराधेयभावकल्पनया तु तद्धितप्रयोगः प्रियतद्धितत्व-निमित्तः । यथा कश्चिद्वनस्पतय इति प्रयुङ्क्ते, कश्चिद्वानस्पत्यमिति समूहप्रत्ययान्तम् ॥

अथवेति । नात्रावयवावयविविभागः, किं तर्हि ? लोकवेदव्यतिरिक्तः सिद्धान्तः शब्दार्थो भवरूप इत्यर्थः ॥ **लौकिकः**—स्मृत्युपनिबद्धः । **वैदिकः**—श्रुत्युपनिबद्धः ॥

'भावबोधिनी'

(वा०) जैसा कि लौकिक और वैदिक [नियमों] में [देखा जाता] है ।

(भा०) दक्षिण वाले [विद्वान्] तद्धित प्रत्ययों को अधिक चाहते हैं । 'जैसा कि लोक में और वेद में' यह कहने के प्रसंग में [मूल शब्द—लोके वेदे—ऐसा न कहकर तद्धित-प्रत्ययान्त] 'यथा लौकिक-वैदेकेषु=जैसा कि लौकिक में और वैदिकों में' [देखा जाता है]—ऐसा प्रयोग करते हैं ।

अथवा यहाँ तद्धित प्रत्यय का अर्थ (भव=होने वाला) ठीक ही है—जैसा कि लौकिक (=लोक में होने वाले) और वैदिक (वेद में होने वाले) कृतान्तों (सिद्धान्तों) में [देखा जाता] है ।

पहले लोक में [धर्मनियम का] उदा० 'गाँव (बस्ती) में होने वाला मुर्गा अभक्ष्य है ।' 'गाँव वाला सुअर अभक्ष्य है'—ऐसा कहा जाता है । भक्ष्य (खाने

से हटाकर शुद्ध शब्द के ही प्रयोग के लिए प्रेरित करता है । अतः धर्मेण=अपूर्वेण, प्रयोजनः-प्रयोज्यः नियमः—यह है ।

प्रथमपक्ष में—धर्माय=प्रत्यवायपरिहाराय नियमः । द्वितीय में—धर्मश्चासौ नियमः । तृतीय में—धर्मप्रयोज्यः नियम :—यह फलित होता है ।

श्वमांसादिभिरपि क्षुत्प्रतिहन्तुम्[1] । तत्र नियमः क्रियते—इदं भक्ष्यमिदमभक्ष्यमिति ॥

तथा—खेदात् स्त्रीषु प्रवृत्तिर्भवति । समानश्च खेदविगमो गम्यायां चागम्यायां च । तत्र नियमः क्रियते—इयं गम्या, इयमगम्येति ॥

'प्रदीपः'

शक्यं चानेनेति । शकेः कर्मसामान्ये लिङ्गसर्वनामनपुंसकयुक्ते कृत्यप्रत्ययः । ततः पदान्तरसम्बन्धादुजायमानमपि स्त्रीत्वं वहिरङ्गत्वादन्तरङ्गसंस्कारं न बाधते इति 'शक्यं क्षुदि'त्युक्तम् । यदा तु पूर्वमेव विशेषविवक्षा तदा 'शक्या क्षुदि'ति भवत्येव । यदा तु प्रतिघातस्यैव क्षुत्कर्म, शकेस्तु प्रतिघातस्तदा 'क्षुधं प्रतिहन्तुं शक्य'-मिति भवति ॥ **खेदादिति** । खेदयतीति खेदो रागः, इन्द्रियनियमासामर्थ्यं वा खेदः ॥

'भावबोधिनी'

योग्य) पदार्थ वह होता है जो क्षुधा की शान्ति के लिए ग्रहण किया जाता है । और भूखा पुरुष कुत्ता के मांसादि से भी अपनी क्षुधा शान्त कर सकता है, पेट भर सकता है । इस स्थिति में यह नियम किया जाता है—'यह भक्ष्य है, यह अभक्ष्य है' अर्थात् इसको खाना चाहिए, इसको नहीं खाना चाहिए ।

और खेद (राग, कामवासनादि) से [पुरुष की] स्त्रियों में प्रवृत्ति होती है [समागम होता है] । उस खेद (राग) की शान्ति तो समागमयोग्य और समागम के अयोग्य दोनों प्रकार की स्त्रियों में एक समान ही होती है । इस स्थिति में [समाज=लोक में] यह नियम किया जाता है कि 'यह स्त्री ही समागम के योग्य है, यह स्त्री समागम के योग्य नहीं है ।'

विमर्श—लोक=समाज में जिस प्रकार सुव्यवस्था के लिए नियम बनाये जाते हैं उसी प्रकार शास्त्र में भी धर्मप्राप्ति के लिए नियम बनाये जाते हैं । लौकिक-नियम का उल्लंघन करना जिस प्रकार क्षम्य नहीं होता है उसी प्रकार शास्त्रीय नियम का भी । अतः भक्ष्य के नियम या विवाहादि के नियमों की उपयोगिता है ।

---

१. "शक्यं चानेन श्वमांसादिभिरपि क्षुत् प्रतिहन्तुम् ।" (१) यहाँ 'क्षुत्' इस कर्म का सम्बन्ध करने के पूर्व लिङ्गसर्वनामनपुंसकयुक्त कर्मसामान्य में 'शक्' से कृत्य=यत् प्रत्यय करना चाहिये और 'शक्यम्' बनाने के बाद 'क्षुध्' इस स्त्रीलिङ्ग कर्म का सम्बन्ध करना चाहिए । अतः पहले किया गया संस्कार नपुंसकत्वादि सुरक्षित रहता है । इस प्रकार से 'क्षुत् प्रतिहन्तुं शक्यम्' शुद्ध है ।

(२) यदि पहले ही कर्मविशेष की विवक्षा करके 'क्षुध्' का सम्बन्ध किया जाय तब सामानाधिकरण्यार्थं स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयोग शुद्ध होता है—'क्षुत् प्रतिहन्तुं शक्या ।'

(वैदिकसिद्धान्तोपपादकभाष्यम्)

वेदे खल्वपि—"पयोव्रतो ब्राह्मणो, यवागूव्रतो राजन्यः, आमिक्षाव्रतो वैश्यः" इत्युच्यते। व्रतं च नामाभ्यवहारार्थमुपादीयते। शक्यं चानेन शालि-मांसादीन्यपि व्रतयितुम्। तत्र नियमः क्रियते।

तथा—'बैल्वः खादिरो वा यूपः स्याद्" इत्युच्यते। यूपश्च नाम पश्वनुबन्धार्थमुपादीयते। शक्यं चानेन यत्किञ्चिदेव काष्ठमुच्छ्रित्यानुच्छ्रित्य वा पशुरनुबन्धुम्। तत्र नियमः क्रियते।

तथा अग्नौ कपालान्यधिश्रित्याभिमन्त्रयते—"भृगूणामङ्गिरसां घर्मस्य तपसा तप्यध्वम्" इति। अन्तरेणापि मन्त्रमग्निर्दहनकर्मा कपालानि

'प्रदीपः'

पयोव्रत इति। सत्यामर्थितायां 'पय एव व्रतयती'ति नियमोऽयं न तु विधिः, अर्थित्वाभावे कारणाभावात्॥

'भावबोधिनी'

(अनु०) वेद में भी (नियम धर्मार्थ होता है)—'ब्राह्मण पयोव्रत = केवल दूध पीने वाला हो, राजन्य = क्षत्रिय यवागूव्रत = केवल पतला हलुवा खाने वाला हो, और वैश्य आमिक्षाव्रत = केवल छेना खाने वाला हो। व्रत तो भक्षणार्थ गृहीत होता है। यह [ब्राह्मणादि] शाली (अगहनी धान के चावल) और मांसादि को भी भक्ष्य के रूप में ले सकता है। [दूध, यवागू और आमिक्षा के स्थान पर चावल और मांसादि खाकर भी भूख मिटाई जा सकती है।] इसमें नियम किया जाता है। [नियम का स्वरूप—भूख लगने पर ब्राह्मण को केवल दूध ही पीना चाहिए, क्षत्रिय को यवागू ही खाना चाहिए, वैश्य को आमिक्षा = छेना ही खाना चाहिए।]

उसी प्रकार दूसरा भी नियम है—"यूप (यज्ञीय खूंटा) बेल का अथवा खैर (कत्था) की लकड़ी का ही होना चाहिये।" और यूप तो पशु को बाँधने के लिए लिया जाता है। यह (यज्ञानुष्ठाता) किसी भी पेड़ की लकड़ी को छील-छाल कर अथवा बिना छीले ही पशु को बाँध सकता है। [किसी भी लकड़ी को जमीन में गाड़ कर उसमें पशु को बाँधा जा सकता है।] इसमें नियम किया जाता है [—यज्ञीय पशु को बाँधने के लिए बेल अथवा खैर की लकड़ी का ही यूप होना चाहिये अन्य किसी लकड़ी का नहीं]।

और उसी प्रकार [यज्ञ में] अग्नि के ऊपर कपालों (मिट्टी के पात्रविशेष) को रख कर [इस मन्त्र से] अभिमन्त्रित किया जाता है—"भृगुओं और अङ्गिरस्

(३) यदि प्रतिहनन क्रिया का कर्म 'क्षुध्' हो और यह प्रतिहनन क्रिया 'शक्नोति' क्रिया की कर्म बना दी जाय तो 'क्षुधं प्रतिहन्तुं शक्यम्' यह भी होता है। इन तीनों की शुद्धता कैयटीय प्रदीप में प्रतिपादित है।

सन्तापयति । तत्र च नियमः क्रियते । एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति ॥

(दार्ष्टान्तिक-उपसंहारभाष्यम्)

एवमिहापि समानायामर्थावगतौ शब्देन चापशब्देन च धर्मनियमः क्रियते – शब्देनैवार्थोऽभिधेयो नापशब्देनेति । एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति ॥

—०—

'प्रदीपः'

समानायामिति । यद्यपि साक्षादपभ्रंशा न वाचकास्तथापि स्मर्यमाणसाधुशब्दव्यवधानेनार्थं प्रत्याययन्ति । केचिच्चापभ्रंशाः परम्परया निरूढिमागताः साधुशब्दानस्मारयन्त एवार्थं प्रत्याययन्ति ॥ अन्ये तु मन्यन्ते—साधुशब्दवदपभ्रंशा अपि साक्षादर्थस्य वाचका इति ॥

'भावबोधिनी'

गोत्र के ऋषियों के तेज की उष्णता से तप जाओ, उष्ण हो जाओ ।" मन्त्र [के उच्चारण] के विना भी जलाने का कार्य करने वाली अग्नि कपालों को सन्तप्त (गरम) कर ही देगी । इस विषय में नियम किया जाता है [कि मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही कपाल सन्तप्त करके यज्ञीय चरुविशेष को पकाना चाहिये] क्योंकि ऐसा करना कल्याणकारक होता है ।

इसी प्रकार प्रस्तुत स्थल में शुद्ध शब्द से और अशुद्ध शब्द से दोनों से अर्थ का ज्ञान समान ही होने पर धर्मनियम किया जाता है—"शुद्ध शब्द के द्वारा ही अर्थ का अभिधान किया जाना चाहिये अशुद्ध के द्वारा नहीं ।" ऐसा करना (शुद्ध शब्द से ही अर्थ का ज्ञान कराना) कल्याणकारक होता है ।

विमर्श—लोकव्यवहार से सिद्ध है कि 'घड़ा' आदि अशुद्ध शब्दों से और 'घटः' आदि शुद्ध शब्दों से अर्थ का ज्ञान तो बराबर एक समान ही होता है, उसमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं है । ऐसी स्थिति में शुद्ध शब्दों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए व्याकरण के अध्ययन से कोई अतिरिक्त लाभ न होने पर इस शास्त्र की उपयोगिता नहीं है । इस आक्षेप का समाधान करते हुए भाष्यकार ने लिखा है कि धर्मप्राप्ति अतिरिक्त फल है । शुद्ध शब्दों के प्रयोग से अर्थज्ञान कराने के साथ-साथ धर्मप्राप्ति भी होती है । अतः व्याकरणशास्त्रानुमोदित शुद्ध शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिए । इसी नियम की चरितार्थता व्याकरण से होती है ।

(अनुपलब्धप्रयोगसाधुशब्दसाधकशास्त्रसार्थक्याधिकरणम्)

(२ आक्षेपवार्तिकम् १ ॥)

॥ ❀ अस्त्यप्रयुक्तः ❀ ॥

(भाष्यम्)

सन्ति वै शब्दा अप्रयुक्ताः । तद्यथा—ऊष, तेर, चक्र, पेचेति ॥

किमतो यत्सन्त्यप्रयुक्ताः ?

प्रयोगाद्धि भवाञ्छब्दानां साधुत्वमध्यवस्यति । य इदानीमप्रयुक्ता नामी साधवः स्युः ॥

(आक्षेपासंगतिबोधकभाष्यम्)

इदं तावद्विप्रतिषिद्धम्—यदुच्यते—'सन्ति वै शब्दा अप्रयुक्ता' इति ।

'प्रदीपः'

अस्त्यप्रयुक्त इति । प्रयोगमूलत्वादस्याः स्मृतेरप्रयुक्तानामप्यन्वाख्यानादप्रामाण्यमाशङ्कते ॥

'भावबोधिनी'

अप्रयुक्त शब्दों का भी शास्त्रीय अन्वाख्यान आवश्यक

(वा०) [कुछ] शब्द अप्रयुक्त भी हैं।

(भा०) कुछ ऐसे भी शब्द हैं जिनका प्रयोग नहीं देखा जाता है, जैसे—ऊष, तेर, चक्र और पेच ।

कुछ शब्द अप्रयुक्त हैं—ऐसा कहने से आपका क्या अभिप्राय है ? [यह प्रश्न उठा कर क्या सिद्ध करना चाहते हो ?]

चूँकि आप प्रयोग से ही शब्दों का साधुत्व निश्चित करते हैं अतः जिनका प्रयोग इस समय नहीं मिलता है वे [आपके अनुसार] साधु [शुद्ध] नहीं हो सकते ।

विमर्श—ऊष, तेर, चक्र, पेच–ये सभी रूप लिट् लकार मध्यमपुरुष बहुवचन में क्रमशः—वस, तॄ, कृ, पच—इन धातुओं के हैं । अनद्यतन परोक्ष भूत में इनका प्रयोग होना चाहिए—तुम रहे थे, तुम तैरे थे, तुमने किया था, तुमने पकाया था—ये अर्थ हैं । परन्तु ऐसे शब्दों का प्रयोग सामान्यतया नहीं होता है, इनके स्थान पर दूसरे शब्दों का प्रयोग कर दिया जाता है । शुद्धता का प्रमाण प्रयोग ही है । अतः जब इनका प्रयोग नहीं किया जाता तो इनमें शास्त्र की प्रवृत्ति भी नहीं होती है। फलतः इनका साधुत्व नहीं बन सकता । प्रश्न करने वाले का यही आशय है ।

(अनु०) यह तो परस्पर-विरुद्ध है—जो यह कहा जाता है कि शब्द हैं किन्तु वे अप्रयुक्त हैं ।

क्योंकि यदि शब्द हैं तो वे अप्रयुक्त नहीं हो सकते । [कारण यह है कि शब्द

यदि सन्ति, नाप्रयुक्ताः ।

अथाप्रयुक्ताः, न सन्ति ।

सन्ति चाप्रयुक्ताश्चेति विप्रतिषिद्धम् । प्रयुञ्जान एव खलु भवानाह—सन्ति शब्दा अप्रयुक्ता इति । कश्चेदानीमन्यो भवज्जातीयकः पुरुषः शब्दानां प्रयोगे साधुः स्यात् ?

(आक्षेपसंगतिसाधकभाष्यम्)

नैतद्विप्रतिषिद्धम् । सन्तीति तावद् ब्रूमः यदेतान् शास्त्रविदः शास्त्रेणानुविदधते ।।

अप्रयुक्ता इति ब्रूमः—यल्लोकेऽप्रयुक्ता इति ।।

यदप्युच्यते—कश्चेदानीमन्यो भवज्जातीयकः पुरुषः शब्दानां प्रयोगे साधुः स्यादिति ।

न ब्रूमोऽस्माभिरप्रयुक्ता इति ।।

'प्रदीपः'

यथा घटादीनां विनाप्यर्थक्रियया सत्त्वं गम्यते नैवं शब्दानाम्, ते हि सर्वदा व्यवहाराय प्रयुज्यमाना सन्तः सत्त्वेनावसीयन्ते इत्याह—इदमिति । कश्चेदानी-मिति । उपहासपरम् ।।

उत्तरं तु शास्त्रदृष्टया प्रकृतिप्रत्ययादिसद्भावादनुमितसत्त्वाः, व्यवहारे तु न

'भावबोधिनी'

घटादि के समान मूर्त पदार्थ नहीं हैं जो बिना प्रयोग के भी रह सकें । शब्दों का अस्तित्व तो प्रयोग के ही अधीन है । अतः यदि अस्तित्व है तो प्रयुक्तत्व भी । ये दोनों नियत है ।]

यदि अप्रयुक्त हैं तो ऐसे शब्द ही नहीं हैं । हैं, किन्तु अप्रयुक्त हैं—ऐसा कहना परस्पर-विरुद्ध है । और आप (प्रश्नकर्ता) इन शब्दों का स्वयं प्रयोग करते हुये भी कह रहे हैं—शब्द हैं किन्तु अप्रयुक्त हैं । इस समय आप जैसा दूसरा कौन व्यक्ति शब्दों के प्रयोग में कुशल (निपुण चालाक) होगा । [भाव यह है कि स्वयं ही प्रयोग करना और ये शब्द अप्रयुक्त हैं—ऐसा कथन आप जैसे महाविद्वान् ही कर सकते हैं । अर्थात् परस्पर-विरोधी वक्तव्य देना बुद्धिमत्ता नहीं है । यहाँ उपहास ध्वनित होता है ।]

यह (मेरा पूर्वोक्त कथन) परस्पर-विरुद्ध नहीं है । "ये शब्द हैं"—यह इसलिए कह रहे हैं कि शास्त्रकार इन शब्दों का शास्त्र द्वारा अन्वाख्यान करते हैं ।

"अप्रयुक्त हैं"—यह इसलिए कह रहे हैं कि लोक में ये शब्द अप्रयुक्त हैं ।

और आप जो यह कह रहे हैं कि इस समय आप जैसा कौन व्यक्ति शब्दों के प्रयोग में निपुण होगा—[यह उपहास भी अनुचित है क्योंकि] हम यह नहीं कहते कि हमारे द्वारा ये अप्रयुक्त हैं ।

किं तर्हि ?
लोकेऽप्रयुक्ता इति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

ननु च भवानप्यभ्यन्तरो लोके ॥

(समाधानभाष्यम्)

अभ्यन्तरोऽहं लोके, न त्वहं लोकः ॥

(३ आक्षेपबाधकवार्तिकम् ॥ २ ॥)

॥ ❀ ॥ अस्त्यप्रयुक्त इति चेन्नार्थे शब्दप्रयोगात् ॥ ❀ ॥

(भाष्यम्)

अस्त्यप्रयुक्त इति चेत् तन्न ॥
किं कारणम् ?
शब्दप्रयोगात्। अर्थे शब्दाः प्रयुज्यन्ते। सन्ति चैषां शब्दानामर्था

'प्रदीपः'

दृश्यन्त इत्युक्तम् ॥

न त्वहं लोक इति। यथा लोकोऽर्थावगमाय शब्दान् प्रयुङ्क्ते नैवं मयैतेऽर्थे प्रयुक्ताः, अपि तु स्वरूपपदार्थका इत्यर्थः ॥

अर्थे शब्दप्रयोगादिति। अर्थसद्भावः शब्दप्रयोगे लिङ्गम्। न हि विना

'भावबोधिनी'

तो फिर क्या [कहते हो] ?

लोक में इनका प्रयोग नहीं है।

क्यों श्रीमन् ! आप लोक के भीतर नहीं हैं क्या ?

मैं लोक के भीतर (मध्य) तो हूँ किन्तु मैं लोक तो नहीं हूँ। [लोक में शब्दों का प्रयोग अर्थज्ञान के लिए होता है। यहाँ मैंने केवल स्वरूपपरिचय के लिए इनका प्रयोग किया है। अतः यह प्रयोग अन्य लोगों के प्रयोग के समान नहीं मानना चाहिए। अतः इन चार शब्दों का अप्रयोग ही है।]

(वा०) शब्द अप्रयुक्त हैं—ऐसा यदि कहो तो नहीं, क्योंकि अर्थ के लिए शब्द का प्रयोग होता है।

(भा०) शब्द अप्रयुक्त हैं यदि [ऐसा कहो तो] वह नहीं [कह सकते]।

क्या कारण है [कि ऐसा नहीं कह सकते] ?

अर्थ के विषय में [अर्थ को बताने के लिए] शब्द का प्रयोग होता है। अर्थ का ज्ञान कराने के लिए शब्दों का प्रयोग होता है। [ऊष, तेर आदि] इन शब्दों

येष्वर्थेषु प्रयुज्यन्ते ।।

(४ आक्षेपसाधकवार्तिकम् ।। ३ ।।)

।। ❀ ।। अप्रयोगः प्रयोगान्यत्वात् ।। ❀ ।।

(भाष्यम्)

अप्रयोगः खल्वप्येषां शब्दानां न्याय्यः ।।

कुतः ?

प्रयोगान्यत्वाद् । यदेतेषां शब्दानामर्थेऽन्याञ्छब्दान् प्रयुञ्जते । तद्यथा—ऊषेत्यस्य शब्दस्यार्थे—क्व यूयमुषिताः, तेरेत्यस्यार्थे—क्व यूयं तीर्णाः, चक्रेत्यस्यार्थे—क्व यूयं कृतवन्तः । पेचेत्यस्यार्थे—क्व यूयं पक्ववन्त इति ।।

(५ सिद्धान्तसमाधानवार्तिकम् ।। ४ ।।)

।। ❀ ।। अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत् ।। ❀ ।।

'प्रदीपः'

शब्देनार्थप्रत्यायनमुपपद्यते ।।

इतरोऽन्यथासिद्धतामाह—अप्रयोग इति । यतोऽन्ये तेषामर्थानां सन्ति वाचकास्ततो नैषामनुमानमुपपद्यते । यद्यप्यूषेत्यस्य उषिता इति समानार्थो न भवति, परोक्षतादेर्विशेषस्यानवगमात्तथापि तत्प्रत्यायनाय पदान्तरसहितः प्रयुज्यते ।।

'भावबोधिनी'

के अर्थ हैं जिन अर्थों के विषय में [उनका ज्ञान कराने के लिए इन] शब्दों का प्रयोग होता है ।

(वा) [इनका] अप्रयोग होता है क्योंकि दूसरे शब्दों का [प्रयोग होता है ।]

(भा०) ऊष, तेर आदि शब्दों का प्रयोग न होना भी उचित है ।

कैसे उचित है ?

इसलिए उचित है क्योंकि दूसरे शब्दों का प्रयोग होता है। क्योंकि इन शब्दों के अर्थ (को बताने) के लिए लोग दूसरे शब्दों का प्रयोग करते हैं । उदाहरणार्थ—'ऊष'—इस शब्द के अर्थ के विषय में—'क्व यूयम् उषिताः' (तुम कहाँ रहते थे) ? 'तेर' इस शब्द के अर्थ में—'क्व यूयं तीर्णाः' (तुम कहाँ तैरे थे) ? 'चक्र' इस शब्द के अर्थ में 'क्व यूयं कृतवन्तः' (तुमने कहाँ कार्य किया था) ? 'पेच' इस शब्द के अर्थ के विषय में 'क्व यूयं' पक्ववन्तः' (तुमने कहाँ पकाया था) ? [अतः इनके अर्थ को बताने के लिए दूसरे शब्दों का प्रयोग कर दिया जाता है, 'ऊष' 'तेर' आदि शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता है । अतः इन शब्दों का अप्रयोग ही है ।]

(वा०) अप्रयुक्त होने पर भी दीर्घसत्र के समान (उपदेश करना चाहिए) ।

(भाष्यम्)

यद्यप्ययुक्ताः, अवश्यं दीर्घसत्रवल्लक्षणेनानुविधेयाः । तद्यथा—दीर्घसत्त्राणि वार्षशतिकानि वार्षसहस्रिकाणि च । न चाद्यत्वे कश्चिदप्याहरति । केवलमृषिसम्प्रदायो धर्म इति कृत्वा याज्ञिकाः शास्त्रेणानुविदधते ॥

(६ सिद्धान्तसमाधानवार्तिकम् ॥ ५ ॥

॥ ❀ ॥ सर्वे देशान्तरे ॥ ❀ ॥

(भाष्यम्)

सर्वे खल्वप्येते शब्दा देशान्तरेषु प्रयुज्यन्ते ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

न चैवोपलभ्यन्ते ॥

(समाधानभाष्यम्)

उपलब्धौ यत्नः क्रियताम् ॥

'प्रदीपः'

सम्प्रत्यप्रयुज्यमानानामपि पूर्वं प्रयुक्तत्वादनुशासनं कर्तव्यमित्याह—अप्रयुक्त इति ॥ ऋषिसम्प्रदाय इति । वेदाध्ययनमित्यर्थः ॥

सर्वं इति । इदमत्र तात्पर्यम्—यस्य कस्यचिद्वचनात्प्रयोगाप्रयोगौ न व्यवतिष्ठेते, अपि तु शिष्टानामेव वचनात् ॥

'भावबोधिनी'

(भा०) यद्यपि [ऊष, तेर आदि शब्द] अप्रयुक्त हैं तथापि दीर्घ काल-साध्य सत्र=यज्ञ के समान लक्षण=व्याकरण-सूत्र से अनुविधान (साधनिकाकार्य) करना चाहिये । उदाहरणार्थ—बड़े-बड़े यज्ञ सौ वर्षों तक चलने वाले और हजारों वर्षों तक चलने वाले होते हैं और आजकल (पतञ्जलि के समय में) कोई भी उनका अनुष्ठान नहीं करता है । ऋषिसम्प्रदाय=वेदाध्ययन धर्म है—केवल ऐसा मानकर [लोग अध्ययन करते हैं और] याज्ञिक विद्वान् शास्त्र द्वारा उनका अनुविधान करते हैं । [अतः उन अननुष्ठेय यज्ञों के अनुविधान के समान ही अप्रयुक्त शब्दों का भी अन्वाख्यान व्याकरण से करना उचित है ।]

(वा०) सभी [अप्रयुक्त भी] शब्द दूसरे स्थानों पर ।

(भा०) ये ऊष, तेर आदि सभी शब्द दूसरे स्थानों (देशों) में प्रयुक्त किए जाते हैं ।

परन्तु उपलब्ध नहीं होते हैं ।

उपलब्धि के विषय में यत्न करना चाहिए ।

महान् शब्दस्य प्रयोगविषयः। सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः, एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यं, नवधाथर्वणो वेदः, वाकोवाक्यमितिहासः, पुराणं, वैद्यकमित्येतावाञ्छब्दस्य प्रयोगविषयः। एतावन्तं शब्दस्य प्रयोगविषयमननुनिशम्य 'सन्त्यप्रयुक्ता' इति वचनं केवलं साहसमात्रमेव।

(शब्दानां नियतविषयकत्वदर्शकभाष्यम्)

एतस्मिंश्चातिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते। तद्यथा—शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति, विकार एवैनमार्या भाषन्ते शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहतिः प्राच्यमध्यमेषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते॥ दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्र-

'प्रदीपः

वाकोवाक्यमिति। वाकोवाक्यशब्देनोक्तिप्रत्युक्तिरूपो ग्रन्थ उच्यते—यथा—"किंस्विदावपनं महद् भूमिरावपनं महद्" इति॥ पूर्वचरितसंकीर्तनमितिहासः। वंशाद्यनुकीर्तनं पुराणम्॥

विकार इति। जीवतो मृतावस्था विकारस्तत्रेत्यर्थः॥

'भावबोधिनी'

शब्दों के प्रयोग का विषय (क्षेत्र) बहुत विशाल है। सात द्वीपों वाली पृथिवी है, तीन लोक हैं, चार वेद, वेदाङ्गों सहित और उपनिषदों सहित हैं। इनके अनेक भेद (शाखाएँ) हैं—यजुर्वेद की १०१ शाखाएँ, सामवेद के १००० मार्ग (शाखाएँ) हैं, बह्वृचों का वेद (ऋग्वेद) २१ भेदों वाला है, अथर्ववेद ९ प्रकार का है। वाकोवाक्य (उक्ति प्रत्युक्ति वाला प्रश्न और उत्तरवाला ग्रन्थ है). इतिहास है, पुराण हैं और वैद्यक (आयुर्वेद के अनेक ग्रन्थ) है—यह सब शब्दों के प्रयोग का विषय (क्षेत्र) है। इतने विशाल शब्दप्रयोग के क्षेत्र को बिना जाने हुए 'शब्द अप्रयुक्त भी हैं'—ऐसा कहना केवल दुःसाहस है।

और शब्द-प्रयोग के इस विशाल क्षेत्र में वे (विशिष्ट) शब्द उन-उन (विशिष्ट) अर्थों में नियत देखे जाते हैं [अर्थात् स्थानविशेष में शब्दविशेष किसी अर्थविशेष के लिए ही प्रयुक्त होते देखा जाता है]। वह इस प्रकार है—शव√गमन अर्थ में कम्बोज लोगों में ही बोला जाता है परन्तु आर्य लोग इसका प्रयोग विकार=मृत देहः अर्थ में करते हैं—शव। हम्म√सुराष्ट्र देश में, रंह√प्राच्य और मध्यदेशों में प्रयुक्त होता है परन्तु [इस गमन अर्थ में] आर्य लोग गम√का ही प्रयोग करते हैं। प्राच्य देश में 'दातिः' यह [क्तिन् या क्तिच् प्रत्ययान्त) प्रयुक्त होता है परन्तु उदीच्य देश में 'दात्रम्' [यह ष्ट्रन् प्रत्ययान्त] प्रयुक्त किया जाता है। [इससे

मुदीच्येषु ।

ये चाप्येते भवतोऽप्रयुक्ता अभिमताः शब्दा एतेषामपि प्रयोगो दृश्यते ॥

क्व ?

वेदे । तद्यथा--"सप्तास्ये रेवतीरेवदूष, यद्वो रेवतीरेवत्यां तमूष, यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र । (ऋ. वे. १।१६५।११) यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्" (ऋ. वे. १।८९।९) इति ॥

-०-

(अथ शब्दज्ञानस्य धर्मजनकताधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

किं पुनः—शब्दस्य ज्ञाने धर्मः, आहोस्वित् प्रयोगे ?

(प्रत्याक्षेपभाष्यम्)

कश्चात्र विशेषः ?

'प्रदीपः'

किं पुनरिति । "एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति" (६।१।८४) इति श्रुतिः । तत्र किं सम्यग् ज्ञातः कामधुग् भवति, सुप्रयोगात्तु सम्यग्ज्ञातत्वानुमानमित्यर्थः, आहोस्वित्सुप्रयुक्तः कामधुग् भवति, सुप्रयुक्तत्वं तु सम्यग्ज्ञानादित्यर्थ इति प्रश्नः ॥

'भावबोधिनी

स्पष्ट है कि एक ही अर्थ में अलग-अलग शब्दों का प्रयोग भिन्न-भिन्न स्थानों पर देखा जाता है । अतः अप्रयुक्त शब्द भी कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी अर्थ में अवश्य प्राप्त हो सकते हैं ।]

और ये [पूर्वोक्त] शब्द जिन्हें आपने अप्रयुक्त मान रखा है, इनका भी प्रयोग देखा जाता है ।

कहाँ [इनका प्रयोग देखा जाता है] ?

वेद में । वह इस प्रकार है—'सप्तास्ये रेवती रेवदूष, यद्वो रेवतींरेवत्यन्तं तमूष" । [यहाँ 'ऊष' का प्रयोग है ।] "यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र, यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम् ।" [इस में 'चक्र' का प्रयोग है । [इसी प्रकार 'तेर' और 'पेच' का भी प्रयोग कहीं-न-कहीं अवश्य मिल सकता हैं । अतः इन्हें अप्रयुक्य नहीं मानना चाहिए । इनका भी अन्वाख्यान करना उचित है ।]

शब्दों के ज्ञान में धर्म है या प्रयोग में ?

क्या शब्द के ज्ञान में धर्म है अथवा प्रयोग में ?

इस प्रश्न में क्या विशेष बात है ?

(७ ज्ञानपक्षदूषणवार्तिकम् ।। १ ।।

।। ❀ ।। ज्ञाने धर्म इति चेत्तथाऽधर्मः ।। ❀ ।।

(भाष्यम्)

ज्ञाने धर्म इति चेत्तथाऽधर्मोऽपि प्राप्नोति । यो हि शब्दान् जानात्यपशब्दानप्यसौ जानाति । यथैव शब्दज्ञाने धर्म एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः ।।

(अधर्माधिक्यप्रदर्शकभाष्यम्)

अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति । भूयांसो ह्यपशब्दाः, अल्पीयांसः शब्दाः । एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः । तद्यथा—गौरित्यस्य गावीगोणीगोतागोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः ।।

(८ ज्ञानपक्षे दूषणान्तरवार्तिकम् ।। २ ।।

।। ❀ ।। आचारे नियमः ।। ❀ ।।

(भाष्यम्)

आचारे पुनर्ऋषिर्नियमं वेदयते—"तेऽसुरा हेलयो हेलय इति

'प्रदीपः'

ज्ञाने धर्म इति चेदिति । यथा श्लेष्मणः प्रकोपनं स्नेहद्रव्यं, रूक्षं तु वायोस्तथेहापि प्राप्तमिति भावः ।।

आचारे इति । प्रयोगे ।। ऋषिर्वेदः ।।

'भावबोधिनी'

(वा०) यदि ज्ञान में धर्म हो तो वैसे ही अधर्म [भी होना चाहिए] ।

(भा०) यदि [शब्द के] ज्ञान में धर्म होता है—ऐसा [मानते] हो तब तो अधर्म भी प्राप्त होता है । क्योंकि जो व्यक्ति शुद्ध शब्दों को जानता है वह अपशब्दों को भी जानता है । [इसीलिए] जैसे शुद्ध शब्दों के ज्ञान में धर्म होता है उसी प्रकार अपशब्दों के ज्ञान में अधर्म भी होता है ।

अथवा अधर्म अधिक प्राप्त होता है क्योंकि अशुद्ध शब्द बहुत अधिक हैं और शुद्ध शब्द कम हैं । एक एक शुद्ध शब्द के बहुत से अपशब्द (अशुद्ध) हैं । उदाहरणार्थ—'गौः' इस एक शुद्ध शब्द के गावी, गोणी, गोता गोपोतलिका आदि जैसे अनेक अपभ्रंश शब्द हैं । [अतः शुद्ध शब्द कम होने से उनके ज्ञान में धर्म भी कम होगा अशुद्ध शब्द अधिक हैं अतः इनके ज्ञान में अधर्म भी अधिक होगा ।]

(वा०) आचार=प्रयोग में नियम [क्रिया जाता है] ।

(भा०) वेद आचार (प्रयोग) में नियम का ज्ञान कराता है—"वे असुर लोग 'हेलयः हेलयः' ऐसा अशुद्ध उच्चारण करते हुए पराजित हो गए ।" [उच्चा-

कुर्वन्तः पराबभूवुः" इति ॥

(अथ प्रयोगपक्षाङ्गीकारभाष्यम्)

अस्तु तर्हि प्रयोगे ॥

(९ प्रयोगपक्षे दूषणवार्तिकम् ॥ ३ ॥)

॥ ❀ ॥ **प्रयोगे सर्वलोकस्य** ॥ ❀ ॥

(भाष्यम्)

यदि प्रयोगे धर्मः, सर्वो लोकोऽभ्युदयेन युज्येत ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

कश्चेदानीं भवतो मत्सरो, यदि सर्वो लोकोऽभ्युदयेन युज्येत ?

(समाधानभाष्यम्)

न खलु कश्चिन्मत्सरः । प्रयत्नानर्थक्यं तु भवति । फलवता च नाम प्रयत्नेन भवितव्यम् । न च प्रयत्नः फलाद्व्यतिरेच्यः ॥

(समाधानबाधकभाष्यम्)

ननु च ये कृतप्रयत्नास्ते साधीयः शब्दान् प्रयोक्ष्यन्ते, त एव साधीयोऽभ्युदयेन योक्ष्यन्ते ॥

'प्रदीपः'

न च प्रयत्न इति । यदि प्रयत्नेन विना फलं स्यात् प्रयत्नवैयर्थ्यमापद्येतेत्यर्थः ॥

'भावबोधिनी'

रणजन्य पाप से ही असुरों की पराजय हुई थी । अतः ज्ञान में धर्म-अधर्म की प्राप्ति मानना ठीक नहीं है ।]

[ज्ञान में धर्माधर्म-प्राप्ति की व्यवस्था ठीक से उपपन्न नहीं हो पाती है] यदि ऐसी बात है तो प्रयोग में [ही धर्माधर्म की प्राप्ति] हो [समझनी चाहिए ।]

(वा०) प्रयोग में सभी लोगों का [अभ्युदय होने लगेगा] ।

(भा०) यदि प्रयोग में धर्म होता है तो सभी लोग अभ्युदय से युक्त हो जायेंगे । [ज्ञानी, अज्ञानी प्रयोक्तामात्र को धर्म मिलने लगेगा ।]

यदि सभी लोगों को धर्म=अभ्युदय प्राप्त होने लगेगा तो इसमें आपको क्या जलन (ईर्ष्या) है ?

हमें कोई जलन नहीं है, परन्तु प्रयत्न अनर्थक होने लगेगा । प्रयत्न फलवाला ही होना चाहिए । प्रयत्न को कभी भी फल से रहित नहीं होना चाहिए । [जो भी यत्न किया जाय उसका कोई न कोई फल होना ही चाहिए ।]

अरे ! जिन्होंने [व्याकरणाध्ययन में] प्रयत्न किया है वे [अन्य लोगों की अपेक्षा] अच्छा प्रयोग करेंगे [अधिक शुद्ध प्रयोग करेंगे] इसलिए अभ्युदय=धर्म-

(समाधानसाधकभाष्यम्)

व्यतिरेकोऽपि वै लक्ष्यते। दृश्यन्ते हि कृतप्रयत्नाश्चाप्रवीणाः, अकृत-प्रयत्नाश्च प्रवीणाः। तत्र फलव्यतिरेकोऽपि स्यात्।

(पक्षद्वयनिराकरणोपसंहारभाष्यम्)

एवं तर्हि—नापि ज्ञान एव धर्मो नापि प्रयोग एव॥

किं तर्हि ?

(१० सिद्धान्तसमाधानवार्तिकम्॥ ४)

॥ * ॥ शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देन॥ * ॥

(भाष्यम्)

शास्त्रपूर्वकं यः शब्दान् प्रयुङ्क्ते सोऽभ्युदयेन युज्यते। तत्तुल्यं वेद-शब्देन। वेदशब्दा अप्येवमभिवदन्ति "योऽग्निष्टोमेन यजते य उ चैन-

'प्रदीपः'

व्यतिरेक इति। परिहासः॥

तत्तुल्यमिति। वेदः शब्दो यस्यार्थस्य स वेदशब्दस्तस्य यथा ज्ञात्वानुष्ठानं तथा

'भावबोधिनी'

प्राप्ति से भी अधिक युक्त होंगे। [उन्हें धर्म भी अधिक प्राप्त होगा।]

[इस सन्दर्भ में] व्यतिरेक (उल्टापन) भी देखा जाता है। [व्याकरणा-ध्ययन में] परिश्रम किए हुए भी अकुशल देख जाते हैं और परिश्रम न करने वाले भी कुशल देखे जाते हैं। इसमें [जैसे प्रवीणता=कुशलता में अन्तर देखा जाता है उसी प्रकार] फल में भी वैपरीत्य होगा। [अधिक प्रयत्न वाले को कम फल और कम प्रयत्न वाले को अधिक फल मिलने लगेगा। अतः केवल प्रयोग में धर्माधर्म की प्राप्ति माननी ठीक नहीं है।]

यदि ऐसा (केवल ज्ञान और केवल प्रयोग में दोष) है तो—न केवल ज्ञान में और न केवल प्रयोग में ही धर्म प्राप्त होता है।

तो क्या (निष्कर्ष) है ?

(वा०) शास्त्र (–ज्ञान–) पूर्वक प्रयोग में अभ्युदय होता है, यह वेदशब्द के तुल्य है।

(भा०) जो शास्त्र (–ज्ञान–) पूर्वक शब्दों का प्रयोग करता है वह अभ्युदय से युक्त होता है। यह वेदशब्द के तुल्य है। वेद रूप शब्द भी ऐसा ही कहते हैं— "जो अग्निष्टोम याग करता है, जो इसे (शास्त्र द्वारा) जानता है, जो नाचिकेत अग्नि का चयन करता है, जो इसे शास्त्र से जानता है।" ['पाठक्रमादार्थक्रमो

मेवं वेद" "योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते य उ चैनमेवं वेद" ॥

(व्याख्यान्तरभाष्यम्)

अपर आह—"तत्तुल्यं वेदशब्देनेति" । यथा वेदशब्दा नियमपूर्वमधीताः फलवन्तो भवन्त्येवं यः शास्त्रपूर्वकं शब्दान्प्रयुङ्क्ते सोऽभ्युदयेन युज्यत इति ।

(प्रथमपक्षाभ्युपगमाष्यन्)

अथ वा पुनरस्तु—ज्ञान एव धर्म इति ॥

(आक्षेपनिराकरणभाष्यम्)

ननु चोक्तम् * ज्ञाने धर्म इति चेत्तथाऽधर्मः * इति ॥

'प्रदीपः'

शब्दानामपि प्रकृत्यादिविभागज्ञानपूर्वकः प्रयोग इत्यर्थः ॥

अपर आहेति । वेदश्चासौ शब्दश्च—वेदशब्द इति कर्मधारयः ॥

'भावबोधिनी'

बलीयान्' इस नियम के अनुसार उक्त मन्त्र के वाक्यों का क्रम परिवर्तित करके 'जो शास्त्र से जानता है, जो अग्निष्टोम याग करता है, जो शास्त्र से जानता है, जो नाचिकेत अग्नि का चयन करता है—ऐसा अर्थ करना चाहिए । इसमें ज्ञान-पूर्वक अनुष्ठान से धर्मप्राप्ति का समर्थन वेदवाक्य से होता है । इसी प्रकार जो पाणिन्यादि के व्याकरण शास्त्र का ज्ञान करते हुए शब्दप्रयोग करता है वह अभ्युदय से युक्त होता है । यह मानना चाहिए ।]

दूसरा व्याख्याकार कहता हैं ···

(वा०) वह वेद शब्द के तुल्य है ।

(भा०) जिस प्रकार नियमपूर्वक पढ़े गए वेदशब्द फलवाले (अभीष्ट फल-प्रद) होते हैं उसी प्रकार जो व्यक्ति शास्त्रज्ञानपूर्वक शब्दों का प्रयोग करता है वह अभ्युदय से युक्त होता है [पुण्यलाभ करता है] ।

[ज्ञान-विशिष्ट प्रयोग में गौरव होता है अतः अब सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है—]

अथवा फिर यही (पक्ष) रहे—

(वा०) केवल ज्ञान में धर्म (होता है) ।

(भा०) अरे, अभी कहा गया था—'[शुद्ध शब्दों के] ज्ञान में धर्म होता है तो अधर्म भी होता है ।' [क्योंकि जैसे शुद्ध शब्दों के ज्ञान में धर्म होता है वैसे ही अशुद्ध शब्दों के ज्ञान में अधर्म भी होता है ।]

(आक्षेपनिराकरणभाष्यम्)

नैष दोषः, शब्दप्रमाणका वयम्, यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्। शब्दश्च शब्दज्ञाने धर्ममाह, नापशब्दज्ञानेऽधर्मम्॥ यच्च पुनरशिष्टाप्रतिषिद्धम्, नैव तद्दोषाय भवति, नाभ्युदयाय। तद्यथा—हिक्कितहसितकण्डूयितानि नैव दोषाय भवन्ति, नाभ्युदयाय॥

(समाधानान्तरभाष्यम्)

अथवाऽभ्युपाय एवापशब्दज्ञानं शब्दज्ञाने। यो ह्यपशब्दाञ्जानाति शब्दानप्यसौ जानाति। तदेवं 'ज्ञाने धर्मः' इति ब्रुवतोऽर्थादापन्नं भवति—'अपशब्दज्ञानपूर्वके शब्दज्ञाने धर्मः' इति॥

'प्रदीपः'

अथवेति। अपशब्दज्ञाननान्तरीयकत्वाच्छब्दज्ञानस्य पृथक् फलमपशब्दज्ञानस्य नास्तीत्यर्थः॥

'भावबोधिनी'

यह (उपर्युक्त) दोष नहीं है। हम वैयाकरण शब्द को प्रमाण मानने वाले हैं, शब्द जो कहता है वह हमारा प्रमाण है। ["एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति' एड़ वेद रूप] शब्द शुद्ध शब्द के ज्ञान में धर्म कहता (बतलाता) है, अपशब्द के ज्ञान में अधर्म नहीं कहता है और जिसका अनुशासन और प्रतिषेध नहीं होता है वह न तो दोष के लिए होता है और न अभ्युदय के लिए। जैसे कि—हिचकी लेना, हँसना, खुजलाना (कण्डूयित)—ये न तो दोष के लिए होते हैं और न अभ्युदय के लिए। [इन कार्यों को करने का न तो कहीं विधान है और न कहीं निषेध। अतः यज्ञादि में इनके करने या न करने पर किसी प्रकार की लाभ-हानि नहीं होती है।]

[यदि तुल्य न्याय से अर्थतः अधर्म की प्राप्ति होना मान ही लें—इसके समाधान में कहते हैं—] अथवा अपशब्दों का ज्ञान शुद्ध शब्दों के ज्ञान में अभ्युपाय=सहकारी कारण है। क्योंकि जो अपशब्दों को जानता है वह शुद्ध शब्दों को भी जानता है। इसलिए 'ज्ञान में धर्म होता है' ऐसा कहने वाले को अर्थ [के बल] से यह प्राप्त (ज्ञात) हो जाता है—"अपशब्द-ज्ञानपूर्वक शुद्ध शब्दों के ज्ञान में धर्म होता है।" [जिस प्रकार 'अग्निमानय' ऐसा कहने पर किसी पात्रादि में रखकर ही आग लाई जाती है, अकेली नहीं। उसी प्रकार 'शब्दज्ञान में धर्म होता है' यह कहने पर स्वतः प्रतीत हो जाता है कि अपशब्द-ज्ञानपूर्वक शुद्ध शब्द के ज्ञान में धर्म प्राप्त होता है।]

(समाधानान्तरे न्यायदर्शकभाष्यम्)

अथ वा कूपखानकवदेतद्भविष्यति। तद्यथा-कूपखानकः कूपं खनन् यद्यपि मृदा पांसुभिश्चावकीर्णो भवति। सोऽप्सु संजातासु तत एव तं गुणमासादयति। येन च स दोषो निर्हण्यते; भूयसा चाभ्युदयेन योगो भवति। एवमिहापि यद्यप्यपशब्दज्ञानेऽधर्मस्तथापि यस्त्वसौ शब्दज्ञाने धर्मस्तेन च स दोषो निर्घानिष्यते भूयसा चाभ्युदयेन योगो भविष्यति ॥

(द्वितीयदूषणनिराकरणभाष्यम्)

यदप्युच्यते—०आचारे नियमः० इति ॥

याज्ञे कर्मणि स नियमोऽन्यत्रानियमः। एवं हि श्रूयते—'यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋषयो बभूवुः प्रत्यक्षधर्माणः परापरज्ञाः विदितवेदितव्या अधिगत-

'प्रदीपः'

दोष इति। उत्कृष्टधर्मफलावाप्तौ स्वल्पमधर्मफलमुत्पन्नमप्यनुत्पन्नकल्पं भवतीत्यर्थः ॥

'भावबोधिनी'

[पूर्वोक्त समाधान में कोई विशेषता नहीं कही गई है अतः अब दूसरा समाधान कहते हैं—]

अथवा 'कुआँ खोदने वाले के समान यह होगा।' जैसे कुआँ खोदने वाला (श्रमिक) कुआँ खोदता हुआ यद्यपि मिट्टी और धूलि (कीचड़) से लिप्त हो जाता है, पानी निकल आने पर वह श्रमिक उसी (पानी) से वह गुण (विशेषता) प्राप्त करता है जिससे वह (मलिनतारूपी) दोष नष्ट कर दिया जाता है और बहुत अधिक अभ्युदय से योग होता है, बहुत धर्म मिलता है। इसी प्रकार यहाँ भी यद्यपि अपशब्द के ज्ञान में अधर्म प्राप्त होता है तथापि यहाँ शब्दज्ञान में जो धर्म प्राप्त होता है उससे उस (अपशब्द-ज्ञान जन्य अधर्म) का नाश कर दिया जायगा और बहुत अधिक अभ्युदय से योग होगा, बहुत धर्म प्राप्त होगा। [अतः धर्म से अधर्म का नाश हो जाने के कारण ज्ञान में ही धर्मप्राप्ति माननी उचित है।]

और जो यह कहा जाता है—"आचार=प्रयोग में [शुद्ध शब्दके प्रयोग करने का] नियम है।"

वह नियम तो यज्ञसंम्बन्धी कर्म में है, अन्यत्र कहीं नियम नहीं है। ऐसा सुना जाता है (वेद में ऐसा है)—"यर्वाण तर्वाण नाम के ऋषि हुए थे, वे धर्म का साक्षात्कार करने वाले, पर और अपर (विद्या) को जानने वाले, जानने योग्य पदार्थमात्र को जानने वाले, [सभी पदार्थों की] वास्तविकता को जानने वाले थे।" पूजनीय वे ऋषि लोग 'यद्वा नः, तद्वा नः' [जो कुछ हमारे लिए है, वह

याथातथ्क्षाः ।' ते 'तत्रभवन्तो यद्वा नस्तद्वा न' इति प्रयोक्तव्ये 'यर्वाणस्तर्वाण' इति प्रयुञ्जते, याज्ञे पुनः कर्मणि नापभाषन्ते ॥ तैः पुनरसुरैर्याज्ञे कर्मण्यपभाषितम्, ततस्ते पराभूताः ॥

— ० —

(अथ व्याकरणपदार्थनिरूपणाधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

अथ व्याकरणमित्यस्य शब्दस्य कः पदार्थः ?

(समाधानभाष्यम्)

सूत्रम् ॥

'प्रदीपः'

प्रत्यक्षधर्माण इति । योगजप्रत्यक्षेण [योगिप्रत्यक्षेण] सर्वं विदितवन्तः ॥ परापरज्ञा इति । विद्याऽविद्याविभागज्ञाः ॥

अथेति । उक्तमिदं "न चान्तरेण व्याकरण" मित्यादि । तत्र पक्षद्वयेऽपि दोषदर्शनात् पदार्थप्रश्नः ॥

'भावबोधिनी'

हमारे लिए हो] इसे प्रयोग करने के स्थान पर 'यर्वाणः, तर्वाणः' ऐसा प्रयुक्त करते थे परन्तु यज्ञसम्बन्धी कार्य में अपभाषण ('यर्वाणः, तर्वाणः') नहीं करते थे । परन्तु उन असुरों ने यज्ञसम्बन्धी कार्य में [हेलयो हेलयः–यह] अशुद्ध उच्चारण किया, इसलिए वें असुर पराजित हो गए । [इस प्रकार केवल यज्ञ कर्म में ही शुद्ध बोलने की अनिवार्यता है । सामान्य-व्यवहार में जैसे ऋषि यर्वाण तर्वाण बोलने से इन्हीं नामों से प्रसिद्ध हो गए थे उसी प्रकार कोई भी अशुद्ध प्रयोग करे तो उसे सामान्यतया दोष नहीं होता है । अतः ज्ञान में ही धर्म की प्राप्ति माननी चाहिए ।]

व्याकरण पद का वाच्यार्थ

[व्यवहार में यह देखा जाता है कि केवल सूत्र पढ़ने पर भी कहा जाता है कि 'व्याकरण' पढ़ता है और जब रूपसिद्धिद्वारा शब्द पढ़ता है तब भी कहा जाता है 'व्याकरण' पढ़ता है । इस प्रकार सूत्र और शब्द दोनों को व्याकरण समझा जाता है । अतः यहाँ स्पष्ट करना आवश्यक है कि व्याकरण से कौन सा अर्थ लिया जाय—सूत्र, शब्द या दोनों ।]

व्याकरण—इस शब्द का क्या अर्थ=पदार्थ है ?

सूत्र—[यह व्याकरण पद का अर्थ है] ।

(११ सूत्रपक्षे आक्षेपवार्त्तिकम् ॥ १ ॥)

॥ * ॥ सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थोऽनुपपन्नः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थो नोपपद्यते—'व्याकरणस्य सूत्रम्' इति ॥ किं हि तदन्यत् सूत्राद् व्याकरणम्, यस्यादः सूत्रं स्यात् ॥

(१२ आक्षेपान्तरवार्त्तिकम् ॥ २ ॥)

॥ * ॥ शब्दाप्रतिपत्तिः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

शब्दानां चाप्रतिपत्तिः प्राप्नोति—'व्याकरणाच्छब्दान् प्रतिपद्यामहे' इति । नहि सूत्रत एव शब्दान् प्रतिपद्यन्ते ॥

किं तर्हि ?

'प्रदीपः'

षष्ठ्यर्थ इति । द्वाभ्यामपि शब्दाभ्यामष्टाध्याय्याः प्रतिपादनाद्व्यतिरेकाभावः । सामान्यविशेषशब्दतया तु द्वयोः सह प्रयोगो न विरुध्यते, यदा त्वष्टाध्याय्येकदेशः सूत्रशब्देनोच्यते, तदा षष्ठ्यर्थोऽप्युपपद्यते ॥

शब्दाप्रतिपत्तिरिति । न हि व्याख्यानरहितसूत्रमात्रश्रवणाच्छब्दाः प्रतीयन्ते ॥

'भावबोधिनी'

(वा०) व्याकरण का वाच्यार्थ सूत्र होने पर षष्ठी विभक्ति का अर्थ उपपन्न नहीं होता है ।

(भा०) यदि व्याकरण पद का वाच्यार्थ सूत्र माना जाय तब—'व्याकरणस्य सूत्रम्' इस प्रयोग में षष्ठी विभक्ति का अर्थ उपपन्न नहीं होता है । [जहाँ दो भिन्न-भिन्न पदार्थ रहते हैं उन्हीं के भेद सम्बन्ध को बताने पर षष्ठी का अर्थ उपपन्न होता है । प्रस्तुत स्थल में तो व्याकरणम्=सूत्रम् होने से अभेद है ।] सूत्र से भिन्न वह कौन सी वस्तु व्याकरण है, जिस (व्याकरण) का यह सूत्र होगा । [यहाँ राज्ञः पुरुषः की स्थिति नही है अपि तु नरस्य पुरुषः जैसी है । अतः जैसे इस प्रयोग में षष्ठी नहीं होती है उसी प्रकार प्रस्तुत प्रसंग में भी षष्ठी का प्रयोग उपपन्न नहीं हो सकता । यह पहला दोष है ।]

(वा०) शब्दों की प्रतिपत्ति=ज्ञान न होना ।

(भा०) शब्दों की अप्रतिपत्ति=ज्ञान न होना दोष प्राप्त होता है—'व्याकरण से शब्दों का ज्ञान करते हैं ।' क्योंकि केवल सूत्र से शब्दों का ज्ञान नहीं कर पाते हैं ।

तो किससे [शब्दों का ज्ञान होता है] ?

व्याख्यानतश्च ॥

(आक्षेपसाधकभाष्यम्)

ननु च तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवति ॥

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानम्—'वृद्धिः' 'आत्' 'ऐज्' इति ॥

किं तर्हि ?

उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार—इत्येतत्समुदितं व्याख्यानं भवति ॥

(पक्षान्तरोपस्थापकं भाष्यम्)

एवं तर्हि शब्दः ।

(१३ आक्षेपवार्तिकम् ॥ ३ ॥)

॥ * ॥ शब्दे ल्युडर्थः ॥ * ॥

'प्रदीपः'

समुदितमिति । समुदायादेवार्थावसायोत्पादादित्यर्थः ॥

'भावबोधिनी'

और व्याख्यान से। [सूत्र और उसके व्याख्यान से ही शब्दों का ज्ञान हो पाता है ।]

अरे, वही सूत्र विगृहीत होकर व्याख्यान हो जाता है। [सन्धिविच्छेदादि करने पर सूत्र का व्याख्यान होने से शब्दों का ज्ञान हो जाता है ।]

केवल चर्चापद (=विभज्यमानपद) ही व्याख्यान नहीं होते हैं—वृद्धिः, आत्, ऐच् ।'

तो क्या [व्याख्यान होता है] ?

उदाहरण, प्रत्युदाहरण और वाक्य का अध्याहार (वाक्यघटक अपेक्षितपदों की पूर्वसूत्रादि से अनुवृत्ति करना)—यह सब मिलकर व्याख्यान होता है ।

[(१) व्याकरणस्य सूत्रम्—इसमें षष्ठी विभक्ति के अर्थ की अनुपपत्ति और (२) शब्दों की अप्रतिपत्ति—इन दो दोषों के कारण अब दूसरा पक्ष प्रस्तुत है—]

यदि ऐसा बात है तो [व्याकरण का वाच्यार्थ] शब्द है ?

[अब व्याकरण=शब्द है अतः सूत्र और व्याकरण में भेद हो जाने से षष्ठी का अर्थ उपपन्न हो जाता है। परन्तु शब्दों की अप्रतिपत्ति रूप दोष तो बना ही रहता है । इसके अतिरिक्त और भी दोष हैं उन्हें लिख रहे हैं—]

(वा०) शब्द [अर्थ] में ल्युट् (प्रत्यय) का अर्थ [उपपन्न नहीं होता] ।

(भाष्यम्)

यदि शब्दो व्याकरणं ल्युडर्थो नोपपद्यते—व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम् । नहि शब्देन किञ्चिद् व्याक्रियते ॥

केन तर्हि ?

सूत्रेण ॥

(१४ आक्षेपान्तरवार्तिकम् ॥ ४ ॥)

॥ * ॥ भवे च तद्धितः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

भवे च तद्धितो नोपपद्यते—'व्याकरणे भवो योगो वैयाकरण' इति । नहि शब्दे भवो योगः ॥

'प्रदीपः'

शब्द इति । करणे ल्युट् विधीयते । शब्दश्च व्याक्रियमाणत्वात्कर्म न तु करणमिति भावः ॥

भवे चेति । शब्देऽप्यन्वाख्यापकत्वेन भवो योग इति चेन्मीमांसादियोगस्यापि शब्दं प्रति विचारकत्वाद्वैयाकरणत्वप्रसङ्गः ॥

'भावबोधिनी'

(भा०) व्याकरण का वाच्यार्थ यदि शब्द [माना जाता] है तो ल्युट् [प्रत्यय] का अर्थ (करण) उपपन्न नहीं हो पाता है—जिससे शब्दों की व्याकृति (प्रकृति-प्रत्यय विभागादि = व्याख्यान) की जाती है वह व्याकरण है—इस अर्थ की उपपत्ति नहीं होती है। क्योंकि शब्द से किसी की व्याकृति नहीं की जाती है। [व्याकरण = शब्द है। अतः व्याक्रियन्ते शब्दाः अनेन तत् व्याकरणम्=शब्दः । व्याकरण और शब्द समानार्थक हो जाते हैं। शब्द से किसी की व्याकृति नहीं की जाती है। इसके विपरीत शब्द का ही व्याकृति की जाती है। अतः वह शब्द व्याकृति का करण न होकर कर्म ही है। इस प्रकार करण अर्थ में ल्युट्=अन प्रत्यय का अर्थ उपपन्न न होने से वि + आङ् + कृ + अन यह व्युत्पत्ति उपपन्न नहीं हो सकती।]

तो फिर किससे [व्याकृति होती है] ?

सूत्र से।

[अब दूसरा दोष प्रस्तुत है—]

(वा०) और भव (अर्थ) में तद्धित [प्रत्यय भी उपपन्न नहीं होता]।

(भा०) और ['तत्र भवः' इसके अन्तर्गत] भव अर्थ में होने वाले तद्धित प्रत्यय की उपपत्ति नहीं होती है—व्याकरण में भव=होने वाला योग=सूत्र वैयाकरण है। [यहाँ व्याकरण से अण् प्रत्यय नहीं हो सकता] क्योंकि [व्याकरण के वाच्यार्थ] शब्द में होने वाला योग=सूत्र नहीं होता है।

क्व तर्हि ?

सूत्रे ।।

(१५ आक्षेपान्तरवार्तिकम् ।। ५ ।।)

।। * ।। प्रोक्तादयश्च तद्धिताः ।। * ।।

(भाष्यम्)

प्रोक्तादयश्च तद्धिता नोपपद्यन्ते ।। पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्, आपिशलम् काशकृत्स्नमिति । नहि पाणिनिना शब्दाः प्रोक्ताः ।।

किं तर्हि ?

सूत्रम् ।।

(आक्षेपभाष्यम्)

किमर्थमिदमुभयमुच्यते—०भवे० ०प्रोक्तादयश्च तद्धिताः० इति । न ०प्रोक्तादयश्च तद्धिताः० इत्येव भवेऽपि तद्धितश्चोदितः स्यात् ?

(परिहारभाष्यम्)

पुरस्तादिदमाचार्येण दृष्टम् ०भवे च तद्धितः० इति, तत्पठितम् ।

'भावबोधिनी'

तो कहाँ [होने वाला है] ?

सूत्र में [योग=दूसरा सूत्र होता है] ।

(वा०) और प्रोक्त आदि तद्धित [प्रत्यय के अर्थ भी उपपन्न नहीं होते हैं] ।

(भा०) और प्रोक्त आदि [अर्थों में होने वाले] तद्धित प्रत्यय भी उपपन्न नहीं हो सकते । पाणिनिना प्रोक्तम्—पाणिनीयम् [पाणिनि द्वारा प्रोक्त—इस अर्थ में 'तेन प्रोक्तम्' पा० सू० ४।३।१०१ सूत्र से छ=ईय प्रत्यय होकर 'पाणिनीयम्' बनता है । इसी प्रकार] आपिशलि द्वारा प्रोक्त—आपिशलम्, और काशकृत्स्नि द्वारा प्रोक्त—काशकृत्स्नम् । [इनमें प्रोक्तार्थ में विहित अणादि प्रत्यय उपपन्न नहीं हो सकते] क्योंकि पाणिनि [आदि] के द्वारा शब्द प्रोक्त नहीं है ।

तो क्या [प्रोक्त हैं] ?

सूत्र [प्रोक्त हैं । अतः पाणिनीयं व्याकरणम् ऐसे प्रयोग नहीं बन सकते] ।

ये दो अनुपपत्तियाँ किस लिए कहीं जा रहीं हैं—'भव अर्थ में' और 'प्रोक्त आदि अर्थों में तद्धित प्रत्यय ।' क्योंकि 'प्रोक्त आदि अर्थोंमें तद्धित'—इतना कहने से ही ['आदि' शब्द के बल से] भव अर्थ में भी तद्धित प्रत्यय नहीं कह दिया जायगा ? [अर्थात् कह दिया जायगा । अतः अलग से दो दोष कहने की आवश्यकता नहीं है ।]

आचार्य कात्यायन ने पहले यह दोष देखा—'भव अर्थ में तद्धित प्रत्यय [उपपन्न

तत उत्तरकालमिदं दृष्टम् ०प्रोक्तादयश्च तद्धिताः० इति, तदपि पठितम्। न चेदानीमाचार्याः सूत्राणि[1] कृत्वा निवर्तयन्ति ॥

(प्रथमाक्षेपकबाधकभाष्यम्)

अयं तावददोषः—यदुच्यते ०शब्दे ल्युडर्थः० इति। नावश्यं करणाधिकरणयोरेव ल्युड् विधीयते ॥

किं तर्हि ?

अन्येष्वपि कारकेषु—"कृत्यल्युटो बहुलम्" (पा० सू० ३।३।११३) इति। तद्यथा—प्रस्कन्दनं प्रपतनमिति ॥

'प्रदीपः'

न चेदानीमिति। लक्षणप्रपञ्चाभ्यां मूलसूत्रवद्वार्तिकानामुपपत्त्या दोषाभावः ॥

प्रस्कन्दनमिति। यद्यप्ययं भीमादिस्तथापि 'कृत्यल्युटो बहुल'मित्यस्यैव 'भीमादयोऽपादान' इत्यं प्रपञ्च इति भावः।

'भावबोधिनी'

नहीं हो सकता]'—इसे पढ़ दिया। उसके बाद यह दोष दिखाई दिया —'प्रोक्त आदि अर्थों में तद्धित प्रत्यय] उपपन्न नहीं हो सकते]' इसको भी पढ़ दिया। अब आचार्य कात्यायन सूत्रों=वार्तिकों को बनाने के बाद (उनका पाठ करके) उन्हें नहीं हटाते हैं। [अतः आचार्य की दृष्टि में उक्त रहस्य था। परन्तु सामान्य दृष्टि से दोनों को अलग-अलग कह दिया।]

जो यह (दोष) कहा जाता है—'शब्द को व्याकरण का अर्थ मानने पर ल्युट् प्रत्यय नहीं उपपन्न होता'—वास्तव में यह दोष नहीं है क्योंकि करण और अधिकरण इन्हीं दो अर्थों में ल्युट् किया जाता है—ऐसा आवश्यक नहीं है।

तो कहाँ [ल्युट् किया जाता है] ?

अन्य कारकों में भी—"कृत्यल्युटो बहुलम्" [कृत्यसंज्ञक प्रत्यय और ल्युट् प्रत्यय बहुल रूप से होते हैं। अतः इस ल्युट् को यहाँ कर्म अर्थ में करना चाहिए—व्याक्रियते यत् तत् व्याकरणम्=शब्द। जिसकी व्याकृति की जाती है वह व्याकरण है। ऐसा शब्द ही है। ल्युट् का अर्थ उपपन्न होता है।] जैसे—प्रस्कन्दनम्, प्रपतनम्। [प्रस्कन्दते अस्मात्, प्रपतति अस्मात्—इनमें अपादान अर्थ में भी ल्युट् होता है। अतः कर्म अर्थ में भी ल्युट् सम्भव है।]

---

१. सूत्राणि—इत्यस्य वार्तिकानीत्यर्थः कात्यायनप्रणीतत्वात्।

(करणल्युट्समर्थकभाष्यम्)

अथ वा शब्दैरपि शब्दा व्याक्रियन्ते । तद्यथा—गौरित्युक्ते सर्वे सन्देहा निवर्तन्ते, नाश्वो न गर्दभ इति ॥

(अनुद्धृतदोषप्रदर्शकभाष्यम्)

अयं तर्हि दोषः—० भवे ० ० प्रोक्तादयश्च तद्धिताः ० इति ॥

(समाधानोपक्रमभाष्यम्)

एवं तर्हि—

(१६ सिद्धान्तवार्तिकम् ॥ ६ ॥)

॥ ❋ ॥ लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम् ॥ ❋ ॥

(भाष्यम्)

लक्ष्यं च लक्षणं चैतत्समुदितं व्याकरणं भवति ॥

'प्रदीपः'

गौरित्युक्ते इति । सास्नादिमति यदा कञ्चित्प्रति 'अयं गौः' इत्युच्यते तदा तत्र वाचकान्तराणां निवृत्तिः कृता भवति एवमेकस्मिन्नुदाहरणे उपन्यस्ते सर्वाणि तत्सदृशानि शब्दान्तराणि प्रतीयन्ते ॥

'भावबोधिनी'

अथवा—शब्दों से भी शब्दों की व्याकृति की जाती है, जैसे गौः—ऐसा कह देने पर सभी सन्देहों की निवृत्ति हो जाती है कि यह न तो अश्व है और न गधा। [इस लिए एक शब्द को उदाहरण रूप में रखने से उसके द्वारा स्वसदृश अन्य सभी की व्यावृत्ति हो जाती है। अतः शब्द भी व्याकरण है।]

तो भी ये दोष तो हैं ही—'भव अर्थ में' 'और प्रोक्त आदि [अर्थों में] तद्धित प्रत्यय उपपन्न नहीं होते।' [इस लिए व्याकरण का वाच्यार्थ 'शब्द' मानना ठीक नहीं है। अब तीसरा विकल्प प्रस्तुत है—]

यदि ऐसा (पूर्वोक्त दोष) है तो—

(वा०) लक्ष्य और लक्षण—व्याकरण हैं।[१]

(भा०) लक्ष्य और लक्षण ये दोनों मिल कर समुदाय रूप में व्याकरण के अर्थ हैं।

१—व्याकरण का वाच्यार्थ शब्द और सूत्र दोनों का समुदाय है। अतः 'व्याकरणस्य—लक्ष्य-लक्षण-समुदायस्य सूत्रम्' यहाँ अवयवी और अवयव में षष्ठी का अर्थ उपपन्न हो जाता है। सूत्रों से शब्दों की प्रतिपत्ति भी हो जाती है। भव तथा प्रोक्त आदि अर्थों में होने वाले प्रत्यय भी उपपन्न हो जाते हैं। इस प्रकार समुदाय को अर्थ मान लेने पर कोई दोष नहीं रह जाता है।

किं पुनर्लक्ष्यम् किं वा लक्षणम् ?

शब्दो लक्ष्यः, सूत्रं लक्षणम् ॥

(समाधानबाधकभाष्यम्)

एवमप्ययं दोषः—समुदाये व्याकरणशब्दः प्रवृत्तोऽवयवे नोपपद्यते। सूत्राणि चाप्यधीयान इष्यते —वैयाकरण इति ॥

(समाधानसाधकभाष्यम्)

नैष दोषः। समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते। तद्यथा —पूर्वे पञ्चालाः, उत्तरे पञ्चालाः, तैलं भुक्तम्, घृतं भुक्तम्, शुक्लो नीलः कपिलः कृष्ण इति ॥

'प्रदीपः'

पूर्वे पञ्चाला इति। जनपदान्तरनिवृत्तिविवक्षायामेकदेशेऽपि समुदाय-रूपारोपात्प्रयोगः ॥ तैलमिति। यदौषधसंस्कृता घृततैलमात्रा भवति तदैतदुदाहरणम्। आकृतिवाचित्वे तु घृततैलशब्दयोः संस्थानप्रमाणनिरपेक्षा सर्वत्र मुख्या वृत्तिः ॥

'भावबोधिनी'

तो फिर लक्ष्य क्या है और लक्षण क्या है ?

शब्द लक्ष्य है, सूत्र लक्षण है।

ऐसा (पूर्वोक्त समुदाय अर्थ) मानने पर भी यह दोष है—लक्ष्य-लक्षण-समुदाय अर्थ में प्रवृत्त=प्रयुक्त होने वाले व्याकरण शब्द की केवल अवयव (केवल शब्द या केवल सूत्र) के विषय में प्रवृत्ति उपपन्न नहीं हो सकती। और [वास्तविकता तो यह है कि] केवल सूत्र पढ़ने वाले को भी 'वैयाकरण' (व्याकरणम् अधीते) ऐसा कहना इष्ट है। [जब शब्द और सूत्र दोनों मिल कर ही व्याकरण पदार्थ है तब किसी एक का अध्ययन करने पर 'व्याकरण का अध्ययन करने वाला' ऐसा व्यवहार होना संभव नहीं है।]

यह (पूर्वोक्त) दोष नहीं है, क्योंकि समुदाय अर्थ में प्रवृत्त होने वाले (=समुदाय के वाचक) शब्द केवल अवयव अर्थ में भी प्रवृत्त (प्रयुक्त) होते हैं। उदाहरणार्थ—[पञ्चाल देश का पूर्वी भाग] पूर्व पञ्चाल, [पञ्चाल देश का उत्तरी भाग] उत्तर पञ्चाल [ऐसा कहा जाता है जब कि पूरा क्षेत्र ही पञ्चाल कहा जाना चाहिए। इसी प्रकार किसी ओषधि या भोजनादि में तेल या घी की प्रचुर मात्रा रहने पर] 'तैल खाया, घी खाया' [ऐसा कहा जाता है जब कि तेल या घी तो उसमें भाग रूप से ही होता है। इसी प्रकार किसी वस्त्र में रंग विशेष की अधिकता रहने पर] 'शुक्ल, नील, कपिल कृष्ण है' ऐसा कहा जाता है। [जब कि उसका कुछ ही भाग शुक्ल आदि रंगों वाला होता है। अतः अवयवी के लिए भी अवयव का प्रयोग

एवमयं समुदाये व्याकरणशब्दः प्रवृत्तोऽवयवेष्वपि वर्तते ।।

(प्रथमपक्षाभ्युपगमभाष्यम्)

अथ वा पुनरस्तु सूत्रम् ।।

(प्रथमाक्षेपस्मारणभाष्यम्)

ननु चोक्तम् ० सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थोऽनुपपन्नः ० इति ।।

(प्रथमाक्षेपनिरासभाष्यम्)

नैष दोषः, व्यपदेशिवद्भावेन भविष्यति ।।

'प्रदीपः'

शुक्ल इति । अशुक्लेऽप्यवयवेऽवयवान्तरस्य शौक्ल्यात् समुदायस्य शुक्लत्वे सत्या (तस्या)–रोपात् प्रयोगः ।।

व्यपदेशिवद्भावेनेति । यथा 'राहोः शिर' इत्येकस्मिन्नपि वस्तुनि शब्दार्थ-भेदाद्भेदव्यवहारः, एवमिहापि व्याकरणशब्देन शास्त्रस्य व्याकृतिक्रियायां करणरूपत्व-मुच्यते सूत्रशब्देन तु समुदायरूपतेति भेदव्यवहार उपपद्यते ।।

'भावबोधिनी'

होता है] । इसी प्रकार यह व्याकरण शब्द भी [शब्द और सूत्र=लक्ष्य-लक्षण के] समुदाय अर्थ में प्रवृत्त होता हुआ केवल अवयव [शब्द या सूत्र] के विषय में भी प्रवृत्त होता है । [अतः केवल सूत्र या केवल शब्द का अध्ययन करने वाला भी व्याकरण का अध्ययन करने वाला=वैयाकरण कहा जाता है ।]

[परन्तु दोनों के समुदाय को व्याकरण का वाच्यार्थ मानने में गौरव होता है अतः अब सिद्धान्त रूप में केवल सूत्र को ही व्याकरण का वाच्यार्थ सिद्ध किया जा रहा है—]

अथवा [व्याकरण का वाच्यार्थ] सूत्र ही रहे ।

अरे, अभी कहा गया था कि 'व्याकरण का वाच्यार्थ सूत्र मानने पर [व्याकरणस्य सूत्रम् इसमें] षष्ठी के अर्थ की उपपत्ति नहीं हो सकती ?

यह [पूर्वोक्त] दोष नहीं है, व्यपदेशिवद्भात्र से निर्वाह हो जायगा ।

विमर्शः—'व्यपदेशिवदेकस्मिन्' यह न्याय=परिभाषा है । एक में भी मुख्य के समान व्यवहार होता है । जैसे राहु और सिर एक ही पदार्थ के दो नाम हैं क्योंकि वे अभिन्न हैं । फिर भी 'राहोः शिरः' (राहु का सिर)' ऐसा व्यवहार होता है । उसी प्रकार सूत्र और व्याकरण में अभेद रहने पर भी 'व्याकरणस्य सूत्रम्' यह व्यवहार किया जा सकता है । अथवा सूत्र शब्द सामान्यवाचक है और व्याकरण विशेषवाचक है । अतः 'व्याकरणस्य सूत्रम्' यह षष्ठी उपपन्न है । इससे न्याय वेदान्तादि के सूत्रों से व्यावृत्ति सिद्ध हो जाती है ।

(द्वितीयाक्षेपस्मारणभाष्यम्)

यदप्युच्यते ०शब्दाप्रतिपत्तिः० इति। नहि सूत्रत एव शब्दान्प्रतिपद्यन्ते ॥

किं तर्हि ?

व्याख्यानतश्चेति ॥

परिहृतमेतत्—तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवतीति ॥

(परिहारबाधकस्मारणभाष्यम्)

ननु चोक्तम्—"न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानम्—वृद्धिः आत् ऐजिति ॥"

किं तर्हि ?

"उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार—इत्येतत्समुदितं व्याख्यानं भवति" इति ॥

(परिहारसाधकभाष्यम्)

अविजानत एतदेवं भवति। सूत्रत एव हि शब्दान् प्रतिपद्यन्ते ॥

आतश्च सूत्रत एव। यो ह्युत्सूत्रं कथयेन्नादो गृह्येत।

— ● —

'प्रदीपः'

सूत्रत एवेति। पदच्छेदादिभिः सूत्रार्थस्यैवाभिव्यञ्जनात् ॥

आत इति। निपातः। अतश्च हेतोरित्यर्थः। नाद इति। नैतदित्यर्थः। अथवा नादोऽर्थरहितत्वाद् घोषमात्रमेवेत्यर्थः ॥

'भावबोधिनी'

(भा०) और जो यह दोष दिया जाता है—"शब्दों की प्रतिपत्ति=ज्ञान नहीं होगी" क्योंकि केवल सूत्र से शब्दों का ज्ञान नहीं होता है।

तो फिर किससे ?

और व्याख्यान से।

इस दोष का परिहार किया जा चुका है—वही सूत्र विगृहीत (सन्धिविच्छेदादियुक्त) होता हुआ व्याख्यान बन जाता है।

अरे, यह भी कहा जा चुका है कि केवल चर्चापद—विभज्यमान पद व्याख्यान नहीं होते हैं—वृद्धिः, आत्, ऐच्।

तो क्या ?

उदाहरण, प्रत्युदाहरण, अपेक्षित वाक्यघटक पदों का अध्याहार=अनुवृत्ति—ये सब मिल कर व्याख्यान होता है।

यह तो न जानने वाले सामान्य व्यक्ति के लिए होता है। (विद्वान् तो) केवल सूत्रों से ही शब्दों का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। और इसलिए भी केवल सूत्र से

(अथ वर्णोपदेशप्रयोजनाधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

अथ किमर्थो वर्णानामुपदेशः ?

(१७ समाधानवार्तिकम् ॥ १ ॥)

॥ * ॥ वृत्तिसमवायार्थ उपदेशः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

वृत्तिसमवायार्थो वर्णानामुपदेशः ॥

किमिदं वृत्तिसमवायार्थं इति ?

वृत्तये समवायो—वृत्तिसमवायः । वृत्त्यर्थो वा समवायो—वृत्तिसमवायः।

'प्रदीपः'

किमर्थं इति । नहि वर्णोपदेशेन कस्यचित्साधुशब्दस्यानुशासनमिति भावः ॥

वृत्तिसमवायार्थ इति । लाघवेन शास्त्रप्रवृत्त्यर्थं इत्यर्थः । धर्मनियमवत्-

'भावबोधिनी'

(अपेक्षित ज्ञान कर लेते हैं) क्योंकि जो उत्सूत्र (सूत्र का अतिक्रमण करके अशुद्ध आदि रूप में) कहेगा, वह नहीं माना जायगा, अथवा वह केवल नाद=ध्वनि माना जायगा । [उससे अर्थज्ञान नहीं होगा । अतः व्याकरण का वाच्यार्थं केवल सूत्र ही है । इसीलिए यह प्रसिद्ध है—

"सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्त्तिके ।"

इससे स्पष्ट हो जाता है कि व्याकरण का शब्दार्थ केवल सूत्र है । वैयाकरण वही है जो केवल सूत्रों से सब कार्य कर लेता है, व्याख्यानादि की अपेक्षा साधारण व्यक्ति के लिए ही होती है ।]

चतुर्दशसूत्री में वर्णोपदेश के प्रयोजन

[कोई भी व्यक्ति वर्णों का ज्ञान लोकव्यवहार से ही कर लेता है । इसके अतिरिक्त केवल वर्णों से किसी की शुद्धता और अशुद्धता का ज्ञान भी नहीं होता है । इस स्थिति में महर्षि पाणिनि द्वारा 'अइउण्' आदि चतुर्दश सूत्रों में किये गए वर्णोपदेश का क्या प्रयोजन है—इसका विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—]

(चतुर्दश सूत्रों में) वर्णों का उपदेश=उच्चारण किस लिए किया गया है ?

(वा०) वृत्तिसमवायार्थ (वर्णों का) उपदेश है ।

(भा०) वृत्तिसमवायार्थं वर्णों का उपदेश [मानना चाहिए] ।

'वृत्तिसमवायार्थ—इसका क्या आशय है ?

(१) वृत्ति के लिए समवाय=वृत्ति- समवाय । अथवा (२) वृत्त्यर्थ समवाय=

वृत्तिप्रयोजनो वा समवायो—वृत्तिसमवायः ॥[१]

का पुनर्वृत्तिः ?

शास्त्रप्रवृत्तिः ॥

अथ कः समवायः ?

'प्रदीपः'

समासः ॥ वृत्त्यर्थं इति । शास्त्रप्रवृत्तिप्रत्यासन्नत्वं समवायस्य दर्शयति—'इग्यण' इत्यादौ हि 'यथासंख्यं शास्त्रं' वर्णसन्निवेशमात्रादेवावतिष्ठते । वृत्तिप्रयोजन इति ।

'भावबोधिनी'

वृत्तिसमवाय अथवा (३) वृत्तिप्रयोजनः=वृत्तिप्रयोज्यःसमवायः=वृत्तिसमवाय है ।

तो फिर वृत्ति क्या है ?

शास्त्र (सूत्रों) की प्रवृत्ति=लागू होना (वृत्ति है) ।

अच्छा, समवाय क्या है ?

१—यह एक महत्त्वपूर्ण वार्तिक है । 'अइउण्' आदि चतुर्दश सूत्रों के उपदेश का यह पहला प्रयोजन सिद्ध करता है । 'वृत्ति-समवायार्थं'—यह समस्त पद है । इसमें प्रयुक्त वृत्ति तथा समवाय शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होते हैं अतः इनका आशय स्पष्ट करना आवश्यक मान कर भाष्य में व्याख्या की गई है । इसमें वृत्ति=सूत्रों की प्रवृत्ति, समवाय=वर्णों का एक विशेष पौर्वापर्यक्रम से उपस्थापन अर्थ है । यह क्रम लोकप्रसिद्ध नहीं है । वृत्तिसमवाय—के तीन तात्पर्य भाष्य में प्रस्तुत किए गए हैं—(१) वृत्तये=लाघवेन शास्त्रप्रवृत्तये समवायः=वर्णानाम् आनुपूर्व्येण सन्निवेशः । इस प्रकार के उच्चारण द्वारा ही पाणिनि इक्, अच्, यण् आदि संज्ञाएं=प्रत्याहार समझा सके और 'इको यणचि' (पा० सू० ६।१।७७) आदि सूत्रों=शास्त्रों का आकार लघु बन सका । अन्यथा "इ उ ऋ ऌ वर्णानाम् यवरलवर्णाः अइउऋऌएओ-ऐऔवर्णेषु परेषु" आदि लम्बे-लम्बे सूत्र बनाने पड़ते । अत्यन्त गौरव होता । ध्यान रहे 'वृत्तये' में चतुर्थी समझाने के लिए है । विग्रह तो सम्बन्ध-सामान्य में षष्ठी मान कर ही होता है क्योंकि प्रकृति-विकृति-भाव में ही चतुर्थी समास होता है ।

(२) वृत्त्यर्थः समवायः—यह लाक्षणिक प्रयोग है । लक्षणा के बल से 'वृत्ति' का अर्थ—साधुत्व के उपयोगी शास्त्र की प्रवृत्ति का जनक—यह है । उदाहरणार्थ—'इग्यणः सम्प्रसारणम्' (पा० सू० १।१।४५) यह सूत्र यण् का इक् सम्प्रसारण-संज्ञक बताता है । चतुर्दश सूत्रों में इक् और यण् में समान संख्या वाले चार-चार वर्ण ही हैं । इसलिए 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' (पा० सू० १।३।१०) इस सूत्र के अनुसार यथासंख्य का बोध होकर स्थानी और आदेश का स्वरूप निश्चित होता है । इस क्रमविशेष के फलस्वरूप ही यथासंख्य और तदनुसार सम्प्रसारण का ज्ञान हो पाता है ।

वर्णानामानुपूर्व्येण संनिवेशः ॥
अथ क उपदेशः ?
उच्चारणम् ॥
कुत एतत् ?

'प्रदीपः'

पारम्पर्येण शास्त्रप्रवृत्तावस्याङ्गत्वम् । सति हि समवाये इत्संज्ञा । तत 'आदिरन्त्येने'ति [प्रत्याहारः], ततो 'ढ्रलोप' इत्यादिशास्त्रप्रवृत्तिः ॥

'भावबोधिनी'

वर्णों का आनुपूर्वी-क्रम से सन्निवेश=उपस्थापन समवाय है।

अच्छा, उपदेश क्या है ?

उच्चारण—उपदेश है।

ऐसा कैसे है ?

अथवा यहाँ भी 'धर्मार्थः नियम' के समान 'वृत्त्यर्थः समवायः' यह मान कर कर्मधारय समझना चाहिए। चूँ कि वृत्ति के लिए समवाय है अतः समवाय को भी वृत्ति कहा जा सकता है—'तादर्थ्यात् तच्छब्दव्यवहारः' यह नियम है। इस प्रकार सामानाधिकरण्य सम्भव होने से कर्मधारय हो जाता है।

(३) वृत्तिप्रयोजनः=वृत्ति-प्रयोजकः समवायः। शास्त्रप्रवृत्ति प्रयोज्य है और समवाय प्रयोजक है। समवाय के कारण शास्त्र की प्रवृत्ति होती है। परम्परया शास्त्र की प्रवृत्ति का जनक यह समवाय है। प्रथम अर्थ से कुछ भेद करने की आवश्यकता है। अतः ऐसा समझना चाहिये—'अ इ उण्' आदि में 'ण्' की इत्संज्ञा 'हलन्त्यम्' (पा० सू० १।३।३) से होती है। इसके बाद 'आदिरन्त्येन सहेता।' (पा० सू० १।१।७१) सूत्र से अण् आदि प्रत्याहारों का ज्ञान होता है। इसके बाद ही 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (पा० सू० ६।३।१११) इस सूत्र की प्रवृत्ति सम्भव होती है। इस कारण एक सूत्र=शास्त्र की प्रवृत्ति में अन्य शास्त्र की अङ्गता का ज्ञान इन्हीं वर्णों के उपदेश से होता है।

अथवा धर्मप्रयोजनः' में जिस प्रकार कर्म में ल्युट् मान कर धर्म-प्रयोज्यः नियमः' ऐसा अर्थ किया गया है उसी प्रकार यहाँ भी वृत्ति-प्रयोज्यः समवायः' यह अर्थ करना चाहिए। वृत्ति=शास्त्र की प्रवृत्ति प्रयोजक है और समवाय=क्रमविशिष्ट वर्णों का सन्निवेश प्रयोज्य है। शास्त्रप्रवृत्ति के लिए ही ये वर्ण कहे गये हैं। प्रयुज्यते यः सः प्रयोजनः=प्रयोज्य—यह अर्थ वनता है।

इस वार्तिक द्वारा वर्णोपदेश का प्रथम प्रयोजन कहा गया है।

दिशिरुच्चारणक्रियः। उच्चार्य हि वर्णानाह—'उपदिष्टा इमे वर्णा' इति ॥

(१८ वर्णोपदेशप्रयोजनान्तरवार्तिकम् ॥ २ ॥)

॥ ❀ ॥ अनुबन्धकरणार्थश्च ॥ ❀ ॥

(भाष्यम्)

अनुबन्धकरणार्थश्च वर्णानामुपदेशः—अनुबन्धानासङ्क्ष्यामीति। नह्यनुपदिश्य वर्णाननुबन्धाः शक्या आसङ्क्तुम्।

स एष वर्णानामुपदेशो वृत्तिसमवायार्थश्चानुबन्धकरणार्थश्च।

वृत्तिसमवायश्चानुबन्धकरणं च प्रत्याहारार्थम्।

प्रत्याहारो वृत्त्यर्थः ॥

'प्रदीपः'

प्रत्याहारार्थमिति। प्रत्याहारशब्देनाणादिकाः संज्ञा उच्यते ॥

'भावबोधिनी'

दिश् धातु का अर्थ उच्चारण क्रिया है। क्योंकि वर्णों का उच्चारण करके कहते हैं—'इन वर्णों का उपदेश कर दिया।' (अतः उपदेश=उच्चारण समानार्थक है।)

[वर्णोपदेश का द्वितीय प्रयोजन—]

(वा०) और अनुबन्धकरण के लिए।

(भा०) और अनुबन्धकरण (अनुबन्ध लगाने) के लिए वर्णों का उपदेश मानना चाहिए। (आचार्य पाणिनि कहते हैं)—अनुबन्धों को लगाऊँगा। परन्तु वर्णों का उपदेश किए बिना अनुबन्ध लगाना सम्भव ही नहीं है।

(इस प्रकार) यह वर्णोपदेश वृत्ति-समवायार्थ और अनुबन्ध-करणार्थ है।

वृत्ति-समवाय और अनुबन्ध-करण (अनुबन्ध लगाना) प्रत्याहारों के लिए हैं।

(यणादि) 'प्रत्याहार (इको यणचि' पा० सू० ६।१।७७ आदि शास्त्रों की) प्रवृत्ति के लिए है।[१]

१—आचार्य पाणिनि का प्रमुख उद्देश्य अपने व्याकरण शास्त्र की प्रवृत्ति कराना है। उसके लिए प्रत्याहारों की आवश्यकता है और प्रत्याहारों की सिद्धि के लिए अनुबन्ध=इत्संज्ञक वर्णों की आवश्यकता है। जब तक अइउण् आदि का उपदेश नहीं किया जाता तब तक अन्त्य इत्संज्ञक वर्ण (अनुबन्ध) का ज्ञान नहीं हो सकता। इस प्रकार वर्णोपदेश के दो प्रयोजन सिद्ध होते हैं—(१) वृत्तिसमवाय और (२) अनुबन्धकरण।

(१९ वर्णोपदेशप्रयोजनान्तरवार्तिकम् ॥ ३ ॥)

॥ * ॥ इष्टबुद्ध्यर्थश्च ॥ * ॥

(भाष्यम्)

इष्टबुद्ध्यर्थश्च वर्णानामुपदेशः—'इष्टान् वर्णान् भोत्स्यामहे' इति । नह्यनुपदिश्य वर्णानिष्टा वर्णाः शक्या विज्ञातुम् ॥

(२० आक्षेपवार्तिकम् ॥ ४ ॥)

॥ इष्टबुद्ध्यर्थश्चेति चेदुदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकदीर्घप्लुतानामप्युपदेशः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

इष्टबुद्ध्यर्थश्चेति चेदुदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकदीर्घप्लुतानामप्युपदेशः कर्तव्यः । एवंगुणा अपि हि वर्णा इष्यन्ते ॥

'प्रदीपः'

इष्टबुद्ध्यर्थश्चेति । सति ह्युपदेशे कलादिदोषरहिता ये वर्णा निर्दिष्टास्ते तथैव प्रयोक्तव्या इत्युक्तं भवति ॥

एकश्रुत्या हि सूत्राणां पाठात्सर्वेषामुदात्तादीनामुपदेशः कर्तव्य इत्याह—इष्टबुद्ध्यर्थश्चेति चेदिति ।

'भावबोधिनी'

(वा०) और इष्ट वर्णों के ज्ञान के लिए भी वर्णों का उपदेश है ।[1]

(भा०) (अपने व्याकरण में) इष्ट वर्णों का ज्ञान करायेंगे ।[2] परन्तु वर्णों का उपदेश किए विना इष्ट वर्णों का ज्ञान सम्भव नहीं है ।

(इस प्रयोजन के लिए भी चतुर्दश सूत्रों में वर्णों का उपदेश किया गया है ।)

(वा०) यदि इष्ट वर्णों के ज्ञान के लिए (वर्णों का उपदेश है) तव तो उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक, दीर्घ और प्लुत वर्णों का भी उपदेश (करना चाहिए) ।

(भा०) (चतुर्दश सूत्रों में किया गया वर्णोपदेश) यदि इष्ट वर्णों का ज्ञान कराने के लिए है तब तो उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक, दीर्घ और प्लुत वर्णों का भी उपदेश करना चाहिए । क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार के वर्ण भी इष्ट हैं ।[3]

१—कहीं यह वचन वार्तिक रूप में और कहीं भाष्यवचन के रूप में पठित है ।

२—'भोत्स्यामहे' यहाँ णिजर्थ अन्तर्भावित है अतः इसका अर्थ 'बोधयिष्यामहे' यह समझना चाहिए ।

३—अइउण् आदि चतुर्दश सूत्रों में जिन अकारादि वर्णों का उपदेश-उच्चारण

(२१ सिद्धान्तवार्तिकम् ॥ ५ ॥)

॥ * ॥ आकृत्युपदेशात् सिद्धम् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

अवर्णाकृतिरुपदिष्टा सर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति । तथेवर्णाकृतिः । तथोवर्णाकृतिः ॥

(२२ आक्षेपवार्तिकम् ॥ ६ ॥)

॥ * ॥ आकृत्युपदेशात्सिद्धमिति चेत् संवृतादीनां प्रतिषेधः ॥ * ॥

'प्रदीपः'

आकृत्युपदेशादिति । उपात्तोऽपि विशेषो नान्तरीयकत्वाज्जातिप्राधानात्यविवक्षायां न विवक्ष्यत इत्यर्थः ॥

'भावबोधिनी'

(वा०) आकृति=जाति के उपदेश से सिद्ध है ।[१]

(भा०) आकृति-जाति के उपदेश से यह पूर्वोक्त (सभी प्रकार के वर्णों का ग्रहण) सिद्ध हो जाता है । अवर्ण (अत्व) जाति का उपदेश किया गया है अतः वह सभी प्रकार के अकारों (अवर्ण कुल) का ग्रहण=ज्ञान करायेगी । इसी प्रकार इवर्ण आकृति [इत्व जाति सभी इकारों का ज्ञान करायेगी] । इसी प्रकार उवर्ण आकृति । [उत्व जाति उपदिष्ट है, वह सभी प्रकार के उकारों का ग्रहण करायेगी ।]

है उनमें ह्रस्वादि तीन भेदों में केवल एक ह्रस्व, उदात्तादि तीन भेदों में केवल एक भेद है । अतः शेष दो दो भेदों का भी उच्चारण करना पड़ेगा । अननुनासिक उपदिष्ट है अतः अनुनासिक का भी उपदेश करना होगा । फलतः सभी वर्णों के सभी रूपों (भेदों) का उच्चारण करना होगा क्योंकि सभी भेद इष्ट हैं । अत्यन्त गौरव होगा ।

१—अइउण् आदि माहेश्वर सूत्रों में अकारादि व्यक्तियों का नहीं अपि तु अत्वादि जाति का ग्रहण है । यह जाति सर्वविध अकारों में रहने वाली है । इसलिए एक अकार के द्वारा अत्वादि-जाति-विशिष्ट अठारह प्रकार के अकारों का ज्ञान संभव हो जाता है । अतः सभी प्रकार के अकारादि का उपदेश करने की कोई आवश्यकता नहीं है । वैयाकरणों के अनुसार व्यक्तिपक्ष और जातिपक्ष दोनों स्वीकृत हैं, यह पहले बताया जा चुका है ।

(भाष्यम्)

आकृत्युपदेशात्सिद्धमिति चेत् संवृतादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥

के पुनः संवृतादयः ?

संवृतः, कलो, ध्मातः, एणीकृतः, अम्बूकृतः, अर्धको, ग्रस्तो, निरस्तः, प्रगीतः, उपगीतः, क्ष्विण्णो, रोमश इति ॥

अपर आह—

'प्रदीपः'

संवृतादीनामिति। [आ] एकारदीनां संवृतत्वं दोषो नत्वकारस्य, तस्य संवृतगुणत्वात्। तत्र सन्ध्यक्षरेषु विवृततमेषूच्चार्येषु संवृतत्वं दोषः। **कलः**=स्थानान्तरनिष्पन्नः काकलिकत्वेन प्रसिद्धः। **ध्मातः**=श्वासभूयिष्ठतया ह्रस्वोऽपि दीर्घ इव लक्ष्यते। **एणीकृतः**=अविशिष्टः किमयमोकार अथौकार इति यत्र सन्देहः। **अम्बूकृतः**=यो व्यक्तोऽप्यन्तर्मुख इव श्रूयते। **अर्धकः**=दीर्घोऽपि ह्रस्व इव। **ग्रस्तः**=जिह्वामूले निगृहीतः, अव्यक्त इत्यपरे। **निरस्तोः**=निष्ठुरः। **प्रगीतः**=सामवदुच्चारितः। **उपगीतः**=समीपवर्णान्तरगीत्यानुरक्तः। **क्ष्विण्णः**=कम्पमान इव। **रोमशोः**=गम्भीरः।

'भावबोधिनी'

(वा०) आकृति=जाति के उपदेश से [पूर्वोक्त] यदि सिद्ध हो जाता है तो संवृत आदि का प्रतिषेध करना [होगा]।[1]

(भा०) अत्वादि जाति का उपदेश मान कर यदि सभी प्रकार के अकारों का ग्रहण=ज्ञान सिद्ध हो जाता है तो [जाति को आधार मान कर होने वाले] संवृत आदि [स्वर दोषों] का प्रतिषेध करना होगा।

वे संवृत आदि (दोष) कौन-कौन हैं ?

(१) संवृत, (२) कल, (३) ध्मात, (४) एणीकृत, (५) अम्बूकृत, (६) अर्धक, (७) ग्रस्त, (८) निरस्त, (९) प्रगीत, (१०) उपगीत, (११) क्ष्विण्ण, (१२) रोमश।

दूसरा (व्याख्याकार) ऐसा कहता है—

१—जिस प्रकार शुद्ध.दोष-रहित अकारादि में अत्वादि जाति रहती है उसी प्रकार संवृत आदि १८ प्रकार के दोषों वाले अकारादि में भी रहती है। अतः जैसे विकार-रहित और विकार-सहित मनुष्यमात्र में मनुष्यत्व जाति है उसी प्रकार शुद्ध और दोषयुक्त अकारादि में अत्वादि जाति रहती ही है। जैसे शुद्ध अकारादि का ग्रहण होता है वैसे ही दोषयुक्त आकारादि का भी ग्रहण प्रसक्त होगा। उसका निवारण करने के लिए अतिरिक्त वचन कहने होंगे। जातिपक्ष में गौरव दोष होगा।

"ग्रस्तं निरस्तमवलम्बितं निर्हतमम्बूकृतं ध्मातमथो विकम्पितम् ।
संदष्टमेणीकृतमर्धक द्रुतं विकीर्णमेताः स्वरदोषभावनाः" ।। इति ।।
अतोऽन्ये व्यञ्जनदोषाः ।।

'प्रदीपः'

अवलम्बितोः=वर्णान्तसंभिन्नः। निर्हतः=रूक्षः। सन्दष्टः=वर्धित इव। विकीर्णः= वर्णान्तरे प्रसृतः। एकोऽप्यनेकनिर्भासीत्यपरे। स्वरदोषभावना इति। स्वरदोष-

'भावबोधिनी'

(१) ग्रस्त, (२) निरस्त, (३) अवलम्बित, (४) निर्हत, (५) अम्बूकृत, (६) ध्मात, (७) विकम्पित, (८) सन्दष्ट, (९) एणीकृत, (१०) अर्धक, (११) द्रुत, (१२) विकीर्ण—ये स्वर-दोषों की भावना (समूह) है। [पूर्वोक्त १२ और इस श्लोक में कहे गये बारह में दोहराये गये दोषों को छोड़ देने के बाद कुल १८ दोष रह जाते हैं। इन स्वर-दोषों का प्रतिषेध करना होगा]।[1]

पूर्वोक्त दोषों के अतिरिक्त अनेक व्यञ्जनदोष [भी प्रसक्त होंगे उनका भी प्रतिषेध करना होगा]।

१—(१) संवृत=स्वरतन्त्रियों का सिमटना=संकरा होना। ह्रस्व 'अ' का यह गुण है किन्तु दीर्घ आ आदि स्वरों का दोष है। (२) कल—अपने वास्तविक (निर्धारित) स्थान को छोड़ कर किसी अन्य स्थान पर उच्चारित होना। (३) ध्मात–तेज दौड़ने आदि में श्वास की अधिकता के कारण ह्रस्व का भी दीर्घ के समान प्रतीत होना। (४) एणीकृत–ओ है अथवा औ–ऐसा सन्देहग्रस्त, उभय-साधारण उच्चारण। जैसा कि उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश के सीमावर्त्ती बुन्देलखण्ड क्षेत्र के समीपवर्ती लोग बोलते हैं। वे है को हे, मैं को में आदि बोलते हैं। (५) अम्बूकृत–व्यक्त होने पर भी मुख के अन्तर्गत ही सुनाई देना। कुछ लोग स्पष्ट बोलते हैं किन्तु इतने धीरे से बोलते हैं कि दूसरे को साफ-साफ सुनाई ही नहीं देता है। (६) अर्धक–दीर्घ होने पर भी ह्रस्व के समान उच्चारित होना (७) ग्रस्त–जीभ के मूलस्थान में निगृहीत (पकड़ा हुआ) सा उच्चारित होना। (८) निरस्त–निष्ठुर, कर्कश। (९) प्रगीत–सामवेद के मन्त्रादि के समान गाकर उच्चारित। (१०) उपगीत–समीपवर्त्ती दूसरे वर्ण की गीति से युक्त (प्रभावित) होता हुआ उच्चारित। (११) क्ष्विण्ण–काँपता हुआ सा। विकम्पित दोष में विशेष कम्पन और इसमें कुछ कम्पन प्रतीत होता है। (१२) रोमश–गंभीर। (१३) अवलम्बित–अन्य वर्ण से मिला हुआ। (१४) निर्हत-रुक्ष=रूखा। (१५) सन्दष्ट–बढ़ाया हुआ सा। (१६) विकीर्ण–अग्रिम वर्ण तक बढ़ा कर उच्चारित किया जाना अथवा हक्ले व्यक्ति द्वारा उच्चारित किसी एक वर्ण का अनेक सा प्रतीत होना। (१७) द्रुत–बहुत

(सिद्धान्तिभाष्यम्)

नैष दोषः ॥

(२३ समाधानवार्तिकम् ॥ ७ ॥)

[॥ * गर्गादिबिदादिपाठात्संवृतादीनां निवृत्तिः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

गर्गादिबिदादिपाठात् संवृतादीनां निवृत्तिर्भविष्यति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

अस्त्यन्यद् गर्गादिबिदादिपाठे प्रयोजनम् ॥

किम् ?

'प्रदीपः'

गोत्राणि । अनन्ता हि दोषा अशक्तिप्रमादकृताः ॥

अस्त्यन्यदिति । गर्ग इत्यादिनैव संनिवेशेन गर्गादीनां साधुत्वं यथा स्यात् गार्ग्य इत्यादीनां मा भूत् । ततश्च—तद्गतानामेवाकारादीनां दोषनिवृत्तिः कृता

'भावबोधिनी'

यह (पूर्वोक्त दोषयुक्तों का ग्रहणरूप) दोष नहीं है ।

(वा०) गर्गादिगण और बिदादिगण में पाठ होने से संवृतादि की निवृत्ति हो जाती है ।

(भा०) गर्गादि और बिदादि विभिन्न गणों में (शुद्ध अकारादि का ही) पाठ होने से संवृत आदि दोषों की निवृत्ति हो जायगी ।[1]

गर्गादि और बिदादि—गणों में (गर्गादि शुद्ध शब्दों के) पाठ का दूसरा ही प्रयोजन है ।

क्या ?

शीघ्र बोला गया । (१८) विकम्पित—स्पष्ट रूप से कम्पनयुक्त । ये तो दृष्टान्त मात्र हैं । उच्चारणकर्ता की अशक्ति और प्रमाद से अन्य भी अनेक दोषों की सम्भावना है । ये केवल स्वरों के दोष हैं । व्यंजनों में भी अनेक दोष हो सकते हैं । जातिपक्ष मानने पर उन सभी का प्रतिषेध करना होगा । अतः जातिपक्ष से सभी अकारादि का ग्रहण मानना उचित नहीं है ।

१—तात्पर्य यह है कि गर्गादि-गणों में पाणिनि ने संवृतादि १८ दोषों से रहित शुद्ध अकारादि का ही पाठ किया है, अतः उनके आधार पर सर्वत्र उसी प्रकार के अकारादि का ग्रहण किया जायगा, दोषों की निवृत्ति हो जायगी । अतः जातिपक्ष मानने पर दोषों का प्रसङ्ग नहीं आता है । प्रस्तुत वचन कहीं-कहींवार्तिक रूप में है ।

समुदायानां साधुत्वं यथा स्यादिति ॥

(समाधानैकदेशिभाष्यम्)

एवं तर्ह्यष्टादशधा भिन्नां निवृत्तकलादिकामवर्णस्य प्रत्यापत्तिं वक्ष्यामि ॥

'प्रदीपः'

स्यात्, न तु समुदायान्तरस्थानाम् । यद्यपि प्रत्ययविध्यर्थो गर्गादीनां पाठस्तथापि प्रसङ्गात्समुदायसाधुत्वार्थोऽपि भवति ॥

निवृत्तकलादिकामिति । अकारस्य संवृतत्वान्निवृतसंवृतत्वादिकामिति नोक्तम् । अकारस्य निदर्शनार्थत्वात्सर्ववर्णानां शास्त्रान्ते प्रत्यापत्तिरित्यर्थः ॥

'भावबोधिनी'

समुदायों का साधुत्व (शुद्धता) जिस प्रकार से हो सके (उसके लिए उनमें पाठ है) ।[1]

यदि ऐसा है तो कल आदि अठारह दोषों से रहित, अठारह भेदों वाली अवर्ण की प्रत्यापत्ति=प्रतिविधान (पुनः स्वरूपप्राप्ति) कहूँगा ।[2]

१—गर्गादि-गणों में गर्गादि शब्दों का पाठ इसलिये है कि गर्गादि प्रकृति और यञादि–प्रत्यय इन दोनों के समुदाय अर्थात् 'गार्ग्य' आदि रूप ही शुद्ध होते हैं, अन्य नहीं । इस कारण इन पाठों से दोषों की निवृत्ति माननी संभव नहीं है ।

प्रस्तुत पंक्ति की व्याख्या में कैयट के साथ नागेश का कुछ मतभेद है । कैयट के अनुसार गर्गादिगण में गर्ग आदि का ही संनिवेश होने से इन गर्ग आदि समुदायों का साधुत्व होना चाहिए गार्ग्य आदि का नहीं । इसलिए इन गर्ग आदि के ही अकारादि के दोषों की निवृत्ति हो जायगी अन्य किसी शब्दरूप (समुदाय) के अकारादि के दोषों की निवृत्ति नहीं होगी । यह पाठ यद्यपि प्रत्यय के विधान के लिए है परन्तु प्रसंगात् साधुत्व के लिए भी होगा ।

नागेश का यह कहना है कि गर्गादिगण में पाठ का यही प्रयोजन है कि गर्गादि-प्रकृतिक-यञादिप्रत्ययान्त गार्ग्य आदि शब्द-समुदाय ही साधु=शुद्ध होते हैं अन्य अनिश्चित प्रकृति और प्रत्यय के समुदाय साधु नहीं होते हैं । इस प्रकार इस पाठ के बल से दोषों की निवृत्ति माननी सम्भव नहीं है ।

२—पाणिनि ने अष्टाध्यायी के अन्त में 'अ अ' (पा० सू० ८।४।६८) सूत्र बनाकर विवृत 'अ' का संवृत 'अ' प्रतिविधान किया है । इसी को आधार मान कर 'इ इ', 'उ उ' आदि सूत्र कल्पित कर लिए जायेंगे और उनसे दोषसहित इकारादि के स्थान पर दोषरहित शुद्ध इकारादि का प्रतिविधान कर लिया जायगा । इससे निर्वाह हो जायगा ।

(आक्षेपभाष्यम्)

सा तर्हि वक्तव्या ?

(२४ एकदेशिसमाधानवार्तिकम् ॥ ८ ॥)

॥ * ॥ लिङ्गार्थां तु प्रत्यापत्तिः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

लिङ्गार्था सा तर्हि भवति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

तत्तर्हि वक्तव्यम् ॥

(समाधानभाष्यम्)

यद्यप्येतदुच्यते, अथवैतर्हि अनेकमनुबन्धशतं नोच्चार्यमित्संज्ञा च न वक्तव्या, लोपश्च न वक्तव्यः। यदनुबन्धैः क्रियते तत्कलादिभिः

'प्रदीपः'

यदनुबन्धैरिति। यथा स्वरितत्वमधिकारार्थमेवमात्मनेपदाद्यर्थं कलादिकं प्रतिज्ञाय 'कलादात्मनेपद' मित्यादि करिष्यते न तु–'अनुदात्तङितः' इत्यादि ॥

भावबोधिनी

तो वह प्रत्यापत्ति कहनी होगी ?

(वा०) [कलादि दोषरूप] लिङ्गों [की निवृत्ति] के लिए तो प्रत्यापत्ति।[1]

(भा०) तो वह प्रत्यापत्ति (कलादि दोषरूप) लिङ्गों की निवृत्ति के लिए हो जाती है।

तो वह कहना चाहिए ?

[धात्वादि में कल आदि दोष रूप लिङ्ग कहे जाँय और प्रत्यापत्ति से उन्हें दूर कर लिया जाय] जब ऐसा कहा जाता है तो अनेक–सैकड़ों अनुबन्धों (इत्संज्ञक वर्णों) का उच्चारण नहीं करना होगा, (उनकी) इत्संज्ञा नहीं कहनी होगी और

१—धातु आदि में जहाँ जहाँ तत्तद् अनुबन्ध लगा कर पाठ है वहाँ वहाँ इन कलादि दोषों को पढ़ना चाहिए। अनुबन्धों का कार्य इन्हीं दोषों से हो जायगा। पुनः प्रतिविधान मान कर दोषों को दूर कर लेना चाहिए। इसलिए अनेक अनुबन्ध लगाना, उनकी इत्संज्ञा करना, लोप करना—ये अनेक गौरव होते हैं। अब इनकी आवश्यता नहीं होगी क्योंकि जैसे अनुबन्ध-रहित ही प्रयोग में देखे जाते हैं वैसे ही दोषरहित ही देखे जायेंगे। इस कल्पना में लाघव है।

करिष्यते ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

सिद्ध्यत्येवम् । अपाणिनीयं तु भवति ॥

(सिद्धान्तिभाष्यम्)

यथान्यासमेवास्तु ॥

(आक्षेपस्मारणभाष्यम्)

ननु चोक्तम् ०आकृत्युपदेशात्सिद्धमिति चेत्संवृतादीनां प्रतिषेधः० इति ॥

'प्रदीपः'

ननु चानुबन्धाभावे कथमणादिकाः संज्ञा उपपद्यन्ते ? 'आदिरन्त्येने' त्यत्रादिः कलैः सहेत्युक्त्वा 'अ उ' इत्यादिकाः संज्ञाः करिष्यन्ते स्वरसन्धिश्चासन्देहाय न करिष्यते —इत्यदोषः ॥

'भावबोधिनी'

लोप भी नहीं कहना होगा। कारण यह है कि जो कार्य अनुबन्धों से किया जाता है वह इन कल आदि दोषों से भी कर लिया जायगा।[१]

हाँ, इस प्रकार सिद्ध तो होता है किन्तु अपाणिनीय हो जाता है। (उनके सूत्र विकृत हो जाते हैं।[२])

तब तो पाणिनि ने जैसा बनाया है वैसा ही रहना चाहिए।

क्यों जी, यह कहा जा चुका है—'यदि जाति का उपदेश है तब तो संवृत आदि का प्रतिषेध कहना होगा।'

१—यहाँ भाव यह है कि आत्मनेपद आदि का विधान करने के लिए जिस प्रकार अनुदात्तत्व या ङित्व किया जाता है—'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' (पा० सू० १।३।११) इसी प्रकार इसके स्थान पर 'कलादात्मनेपदम्' यह सूत्रस्वरूप कर दिया जायगा। आगमों के सम्बन्ध में भी 'ट्' और 'क्' अनुबन्धों के स्थान पर 'कल' और 'ध्मात' दोषों को पढ़ दिया जायगा। प्रत्याहारों को बनाने के लिए भी दोष ही पढ़े जाएँगे और 'आदिरन्त्येन सहेता' सूत्र के स्थान पर 'आदिः कलैः सह' ऐसा बना दिया जायगा। इस प्रकार अनुबन्ध, इत्संज्ञा और लोप का सारा भार समाप्त करके दोषों का समायोजन करना और प्रत्यापत्ति द्वारा उन्हें दूर करना— इनमें लाघव है।

२—यद्यपि अनुबन्धों का कार्य दोषों के द्वारा हो सकता है तथापि यह अनुचित है क्योंकि चतुर्दशसूत्री की सार्थकता उपपन्न करते-करते पाणिनि के अनेक सूत्र विकृत (परिवर्तित) कर दिये जायेंगे। 'अतः लाघव की अपेक्षा गौरव ही आपतित होगा।

(समाधानभाष्यम्)

परिहृतमेतत्—गर्गादिबिदादिपाठात् संवृतादीनां निवृत्तिर्भविष्यति—इति ।।

(समाधानबाधकभाष्यम्)

ननु चान्यद् गर्गादिबिदादिपाठे प्रयोजनमुक्तम् ।

किम् ?

समुदायानां साधुत्वं यथा स्यादिति ।।

(समाधानसाधकभाष्यम्)

एवं तर्ह्युभयमनेन क्रियते -पाठश्चैव विशेष्यते, कलादयश्च निवर्त्यन्ते ।

कथं पुनरेकेन यत्नेनोभयं लभ्यम् ?

लभ्यमित्याह ।।

कथम् ?

द्विगता अपि हेतवो भवन्ति । तद्यथा--आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च

प्रदीपः

उभयमिति । यथाभूता गर्गादिस्था अकारादयस्तथाभूता एव सर्वत्र

'भावबोधिनी'

इसका परिहार कहा जा चुका है—"गर्गादिगण और बिदादिगण में (शुद्ध का) पाठ होने से दोषों की निवृत्ति हो जायगी ।

नहीं, गर्गादि-बिदादिगणों में पाठ का दूसरा ही प्रयोजन कहा जा चुका है ।

क्या ?

(गर्गादि प्रकृति और यञादि प्रत्यय के) समुदायों का साधुत्व करने के लिए वह पाठ है ।

यदि ऐसी बात है तो इस (गर्गादि के पाठ) से दोनों कार्य किये जाते हैं—(१) पाठ भी विशेषित किया जाता है[१] और (२) कल आदि दोषों की निवृत्ति भी की जाती है ।

परन्तु (पाठरूपी) एक यत्न से दो फलों की प्राप्ति कैसे होती है ?

प्राप्ति होती है--ऐसा कहते हैं ।

कैसे ?

(कुछ) हेतु द्विगत[२] (दो कार्यों के सम्पादक) भी होते हैं । जैसे--(ग्रीष्मकाल में या जलादि के अभाव के समय आम के पेड़ के नीचे बैठकर तर्पण करने से) आम भी सिंच जाते हैं और पितृगण भी तृप्त करा दिये जाते हैं । इसी प्रकार

१—तत्तद्गणपठित आनुपूर्वीवाले शब्दों से ही यञ् आदि प्रत्यय होते हैं, अन्य से नहीं ।

१--हिन्दी में इसके स्थान पर कहावत है--एक पन्थ दो काज । अतः गर्गादि-पाठ से दोनों काम संभव हैं ।

प्रीणिता इति। तथा वाक्यान्यपि द्विष्ठानि भवन्ति—श्वेतो धावति, अलम्बसानां यातेति ॥

(सिद्धान्त-भाष्यम्)

अथ वा इदं तावदयं प्रष्टव्यः—क्वेमे संवृतादयः श्रूयेरन्निति ?

आगमेषु ॥

आगमाः शुद्धाः पठ्यन्ते ॥

विकारेषु तर्हि ॥

विकारा अपि शुद्धाः पठ्यन्ते ॥

प्रत्ययेषु तर्हि ॥

प्रत्यया अपि शुद्धाः पठ्यन्ते ॥

'प्रदीपः'

प्रयोक्तव्या इति प्रतिपाद्यते इत्यर्थः ॥ द्विगता इति। द्वावर्थौ गताः=प्रयोजनद्वय-संपादका इत्यर्थः ॥ तथा वाक्यान्यपीति। शब्दस्याप्यर्थवद् द्विगतत्वमित्यर्थः ॥

'भावबोधिनी'

वाक्य भी (कहीं-कहीं) दो अर्थों का प्रतिपादन करने वाले (द्विष्ठ) होते हैं श्वेतो धावति।[१] [(१) श्वा=कुत्ता, इतः=यहाँ से धावति=भागता है। (२) श्वेतः=सफेद घोड़ा आदि धावति=भागता है]। अलम्बुसानां याता। [(१) अलम्बुसानाम्=अलम्बुस देशको, याता=जाने वाला। (२) बुसानाम्=भूसे को, याता=जाने वाला [पाता=रक्षा करने वाला]। अलम्=समर्थ हो।

अथवा (आकृत्युपदेशपक्ष में दोषों की प्रसक्ति मानने वाले) इस विद्वान् से यह पूछिए—संवृत आदि दोष कहाँ सुनाई दे सकते हैं ?

आगमों में (ये दोष सुनाई दे सकते हैं) ?

(पाणिनि द्वारा) सभी आगम शुद्ध ही पठित हैं।

तो फिर विकारों (आदेशों) में।

(नहीं, क्योंकि) विकार=आदेश भी शुद्ध ही पठित हैं।

तो फिर प्रत्ययों में।

(नही, क्योंकि) प्रत्यय भी शुद्ध ही पठित हैं।

---

१ - 'कीदृशः धावति ?' इसका उत्तर है–श्वेतो धावति।' और 'कः इतः धावति ?' इसका भी यही उत्तर है–'श्वा इतः धावति।' इसी प्रकार 'केषां जनपदानां याता ?' इसका उत्तर है-'अलम्बुसानां याता।' और 'कः समर्थः ? 'बुसानां याता अलम्।' यहाँ जैसे एक ही प्रकार के शब्दों से दो दो अर्थ निकाले जाते हैं। उसी प्रकार कहीं-कहीं वाक्य से भी दो अर्थ प्रतीत हो जाते हैं। एक कारण से दो कार्य हो जाते हैं।

धातुषु तर्हि ॥

धातवोऽपि शुद्धाः पठ्यन्ते ॥

प्रातिपदिकेषु तर्हि ॥

प्रातिपदिकान्यपि शुद्धानि पठ्यन्ते ॥

यानि तर्ह्यग्रहणानि प्रातिपदिकानि ॥

एतेषामपि स्वरवर्णानुपूर्वीज्ञानार्थं उपदेशः कर्तव्यः—शशः षष इति मा भूत्। पलाशः पलाष इति मा भूत्। मञ्चको मञ्जक इति मा भूत्॥

'आगमाश्च विकाराश्च प्रत्ययाः सह धातुभिः।
उच्चार्यन्ते ततस्तेषु नेमे प्राप्ताः कलादयः' ॥ १ ॥

'प्रदीपः'

अथ वेति। केवलानां वर्णानां लोके प्रयोगाभावाद्धात्वादीनां च शुद्धानां पाठात् तत्स्थत्वाच्च वर्णानां न कश्चिद्दोषः॥ यानि तर्हीति। डित्थादीनि॥

'भावबोधिनी'

तो फिर धातुओं मे।

(नहीं, क्योंकि) धातुएँ भी शुद्ध ही पठित हैं।

तब प्रातिपदिकों में।

प्रातिपदिक भी शुद्ध ही पठित हैं।

तो फिर उन प्रातिपदिकों में जिन्हें प्रतिपदोक्तरूप से (किसी गण या सूत्र आदि में) नहीं पढ़ा गया है।

ऐसे प्रातिपदिकों का भी स्वर, वर्ण और आनुपूर्वी का (सही सही) ज्ञान करने के लिए उपदेश करना ही पड़ेगा जिससे–शश' यहाँ 'षष' यह न होने लगे। 'पलाश' इसका 'पलाष' यह न होने लगे। 'मञ्चक' इसका 'मञ्जक' ऐसा न होने लगे।

आगम, विकार (=आदेश) और धातुओं के साथ-साथ प्रत्यय—ये सभी (पाणिनि द्वारा) शुद्ध ही उच्चारित किये जाते हैं (किये गये हैं), अतः इन किसी में भी कलादि दोष नहीं प्राप्त हो सकते।

।। इति श्रीमद्भगवत्पतञ्जलिविरचिते व्याकरण-महाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादे प्रथमं पस्पशाह्निकम् ।।

—०—

'प्रदीपः'

एतेषामपीति । शिष्टप्रयुक्तत्वेनोणादीनां पृषोदरादीनां च साधुत्वाभ्यनुज्ञानात्सर्वेषामत्र सङ्ग्रहः सिद्धः ।।

।। इत्युपाध्यायजैयटपुत्रकैयटकृते महाभाष्यप्रदीपे प्रथमाध्यायस्य प्रथमे पादे प्रथमं पस्पशाह्निकम् ।। १ ।।

—०—

'भावबोधिनी'

।। इस प्रकार श्रीमद्भगवान् पतञ्जलिमुनिद्वारा विरचित
व्याकरणमहाभाष्य में प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में
प्रथम आह्निक समाप्त हुआ ।।

विमर्श—चतुर्दश सूत्रों में उच्चारित वर्णों के मुख्यरूप से प्रथम दो ही प्रयोजन हैं - वृत्तिसमवाय और अनुबन्धकरण । तृतीय प्रयोजन को कहने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि जातिपक्ष मान कर सामान्यतया ही सब कार्य सम्भव हैं। इसी लिए उद्द्योतकार नागेश ने स्पष्ट लिखा है—

"एवं 'संवृतादीनां प्रतिषेधः' इत्यस्मिन् प्रत्याख्याते 'इष्टबुद्ध्यर्थः' इत्यपि प्रत्याख्यातप्रायमेवेत्यलम् ।"

।। इस प्रकार जयशङ्कर लाल त्रिपाठि-विरचित 'भावबोधिनी' हिन्दी-व्याख्या में
व्याकरण-महाभाष्य के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में
प्रथम पस्पशाह्निक समाप्त हुआ ।।

कृपया विश्वनाथस्य गुरुपितृप्रसादतः ।
अकरोत् पस्पशाव्याख्यां त्रिपाठी जयशङ्करः ।।

वार्त्तिक-सूची

(१)

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।।

(२)

आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः ।
प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः ।।

(३)

अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्दा एव निबन्धनम् ।
तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते ।।

(४)

तद्द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकीर्षितम् ।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते ।।

(५)

इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम् ।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः ।।

(भर्तृहरिः, वाक्यपदीय-ब्रह्मकाण्डम्)

□

॥ श्रीः ॥

अथ महाभाष्ये द्वितीयं प्रत्याहाराह्निकम्

(शिवसूत्रम्)

अइउण् ॥ १ ॥

(२५ विवृतोपदेशप्रतिज्ञावार्तिकम् ॥ १ ॥)

॥ * ॥ अकारस्य विवृतोपदेश आकारग्रहणार्थः ॥ * ॥

अकारस्य विवृतोपदेशः कर्तव्यः ।

किं प्रयोजनम् ?

'प्रदीपः'

अइउण् ॥ सर्ववर्णानविशेषेण विचार्य विशेषेणात्र विचारः क्रियते—अकारस्येति । अत्राकारादीनां स्वरूपेणानुकार्येण वा सतोऽप्यर्थवत्त्वस्याविवक्षितत्वाद्विभक्त्यनुत्पत्तिः । स्वरसन्धिस्तु न प्रवर्तते, वर्णोपदेशकालेऽजादिसंज्ञानामनिष्पादात् ॥[१] अत्राकारस्य संवृतत्वाद्दीर्घप्लुतयोर्विवृतत्वात्प्रयत्नभेदात्सवर्णसंज्ञाया अप्रसङ्गात् प्रदेशेष्वकारेण दीर्घप्लुतयोर्ग्रहणं न प्राप्नोतीति विवृतत्वमस्योपदिश्यते । विवृतस्य गुणस्योपदेशो—विवृतोपदेशः । तत्र गुणस्य नित्यसापेक्षत्वादकारापेक्षत्वेऽपि समासः । यथा—देवदत्तस्य गुरुकुलमिति ॥

'भावबोधिनी'

नत्वा साम्बं शिवं ध्यात्वा गुरुपितृपदाम्बुजम् ।
द्वितीयमाह्निकं भाष्ये व्याचष्टे 'जयशङ्करः' ॥

विवृतोपदेश की आवश्यकता

(वा०) अकार का विवृत उपदेश (उच्चारण) आकार के ग्रहण के लिये [करना चाहिए] ।

(भा०) [अइउण् में] अकार का विवृत उपदेश करना चाहिए ।

[ऐसा करने का] क्या प्रयोजन है ?

---

१. 'अजादिसंज्ञानामनिष्पादादि'ति तु चिन्त्यम्, वर्णोपदेशे इत्संज्ञायामच्प्रत्याहारे च निष्पन्ने प्रवर्तमानानां यणादीनां 'सुध्युपास्य' इत्यादौ तटस्थ इवोद्देश्यतावच्छेदकाक्रान्ते वर्णोपदेशादावपि प्रवृत्तेर्दुर्वारत्वात् । अन्यथा 'तुल्यास्यप्रयत्नम्' इत्यादौ सवर्णदीर्घादि न स्यात् ।' (उद्द्योतः)

आकारग्रहणार्थः । अकारः सवर्णग्रहणेनाऽऽकारमपि यथा गृह्णीयात् ॥

'प्रदीपः'

आकारग्रहणार्थं इति । 'विवृतोपदेश आकारग्रहणार्थं' इति सामानाधिकरण्येन निर्देशादाकारग्रहणं विवृतोपदेशस्य प्रयोजनमिति सामर्थ्यादवगमाच्चोद्यानुरूपमुत्तरं न भवतीति न चोदनीयम् ॥ सवर्णग्रहणेनेति । येन शास्त्रेण 'अणुदित्सवर्णस्ये'त्यनेन सवर्णा गृह्यन्ते तेन कारणेनेत्यर्थः ॥

'भावबोधिनी'

आकार का भी ग्रहण कराने के लिए। जिससे अकार सवर्णग्रहण द्वारा आकार का भी ग्रहण कर सके। [सवर्ण का बोध कराने वाले 'अणुदित् सवर्णस्य' (१।१।६९) सूत्र द्वारा अ से आ का भी ग्रहण कराना इष्ट है। अतः विवृत करना चाहिए।]

विमर्श—प्रथम आह्निक में चतुर्दश सूत्रों में वर्णोपदेश का सामान्य प्रयोजन कहा जा चुका है। द्वितीय आह्निक में प्रत्येक सूत्र और उसके वर्णों के उपदेश का प्रयोजन बताया जायगा।

यद्यपि 'अइउण्' आदि में शब्दस्वरूप को मान कर अथवा अनुकार्य मान कर अर्थवत्त्व हैं, परन्तु विद्यमान भी अर्थवत्त्व की अविवक्षा कर देने के कारण प्रातिपदिक संज्ञा और तत्प्रयुक्त विभक्ति नहीं आती है। "वर्णात्कारः" इस वचन से यहाँ 'कार' प्रत्यय भी नहीं होता है क्योंकि इस वचन में 'बहुल' का सम्बन्ध है। यहाँ सौत्र प्रयोग के कारण संहिता की अविवक्षा होने से स्वरसन्धि भी नहीं होती है।

वर्णोपदेश के पहले अच् आदि प्रत्याहार नहीं बन पाते हैं, अतः इनमें "आद्गुणः" आदि सूत्रों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि इन 'अइउण्' आदि के प्रणयनकाल में "आद्गुणः" आदि की सत्ता ही नहीं है। परन्तु यह उत्तर आपातरमणीय है क्योंकि ऐसा मान लेने पर तो 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' में सवर्णदीर्घ भी नहीं हो सकता। क्योंकि सवर्ण संज्ञा के बोध के बाद ही सवर्णदीर्घ सम्भव होगा। अतः सौत्र होने से अथवा अविवक्षा से ही स्वरसन्धि वारित करना उचित है।

(आक्षेपभाष्यम्)

किं च कारणं न गृह्णीयात् ?

(समाधानभाष्यम्)

विवारभेदात् ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

किमुच्यते—विवारभेदादिति, न पुनः कालभेदादपि। यथैव ह्ययं विवारभिन्नः, एवं कालभिन्नोऽपि ?

'प्रदीपः'

किं च कारणमिति। आकृतिपक्षाश्रयेण ग्रहणकशास्त्रस्य प्रत्याख्यानादाकारस्याप्यत्वजातिसद्भावात् सिद्धं ग्रहणमिति भावः। अत्र च "निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायदर्शनम्" इति प्रथमा कृता। तेन कस्मात्कारणादित्यर्थः संपद्यते ॥

विवारभेदादित्यत्र तु कारणशब्दप्रयोगाभावात्प्रायग्रहणादसर्वनाम्नो वा प्रथमाद्वितीययोरभावाद् "विभाषा गुणेऽस्त्रियामि"ति पञ्चमी विहिता ॥ विवारयति = विकासयति आस्यमिति विवारः[1] = प्रयत्नः ॥ व्यक्तिपक्षे ग्रहणकशास्त्रारम्भाद्दोषापत्तिः ॥

व्यक्तिपक्षे भेदान्तरसद्भावादाह—किमुच्यत इति ॥

'भावबोधिनी'

(भा०) क्या कारण है जिससे नहीं ग्रहण (बोध) करायेगा ?

विवार = विवृत प्रयत्न रूप भेद के कारण [अकार आकार का ग्रहण नहीं करायेगा]।

विमर्श—शंका का तात्पर्य यह है कि लोक में ह्रस्व अ संवृत प्रयत्न वाला ही है। इसे व्याकरण शास्त्र में जब तक विवृत प्रयत्न वाला नहीं कहा जायगा तब तक प्रयत्नभेद के कारण अ तथा आ की सवर्णसंज्ञा नहीं होगी। "अणुदित् सवर्णस्य" (१।१।६९) इस सवर्णग्राहक शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी जिसके कारण "अस्य च्वौ" (७।४।३२) आदि में अ से दीर्घ आ नहीं लिया जा सकेगा, फलतः 'गङ्गीभवति' आदि में इत्व नहीं होगा। अतः सवर्ण-ग्राहकता के लिए 'अइउण्' में विवृत अ पढ़ना चाहिए।

(भा०) विवृत प्रयत्न के भेद से—ऐसा क्यों कहा जाता है, कालभेद से भी

---

१. स चाभ्यन्तरप्रयत्नः। (उद्द्योतः) तथा च विवारपदं विवृतपरम्, तेन भेदादित्यर्थः। (छाया)

(समाधानभाष्यम्)

सत्यमेव तत् । वक्ष्यति "तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्" (१।१।९) इत्यत्रास्यग्रहणस्य प्रयोजनम्—"आस्ये येषां तुल्यो देशः प्रयत्नश्च ते सवर्णसंज्ञा भवन्ती"ति। बाह्यश्च पुनरास्यात्कालः, तेन स्यादेव कालभिन्नस्य ग्रहणम्, न पुनर्विवारभिन्नस्य ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

किं पुनरिदं विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायते, आहोस्वित्

'प्रदीपः'

बाह्यश्चेति । प्रयत्नाभिनिर्वृत्तत्वात्कालस्य प्रयत्नत्वमभ्युपगम्य शङ्का, बाह्यत्वेन परिहारः। प्रसिद्धपरिमाणवस्त्वन्तरगत-परिच्छेदकक्रियान्तरापेक्षणात्कालव्यवहारस्य बाह्यत्वं कालस्य । यथा व्रीहेः प्रस्थादिव्यवहारः परिमाणद्रव्यकृतः, एवमत्रापि मात्रादिव्यपदेशो निमेषादिक्रियाभेदकृतः ॥ अथ वा नाभिप्रदेश एव विशिष्टप्रयत्नारम्भाद्दीर्घादिनिष्पत्त्या नाभेश्चास्याद्बाह्यत्वात्कालस्य बाह्यत्वम् । विवृतत्वादीनां त्वास्य-वर्तिप्रयत्ननिष्पाद्यत्वादाभ्यन्तरत्वम् । द्रुतादिवृत्तयस्तु यथा न भेदिकास्तथा 'तपर' (१।१।७०) सूत्रे वक्ष्यते ॥

'भावबोधिनी'

[आ का ग्रहण नहीं करायेगा]—ऐसा क्यों नहीं कहते ? क्योंकि जैसे यह 'आ' विवृत–प्रयत्न के कारण भिन्न है, वैसे ही [द्विमात्रिक] काल के भेद के कारण भी भिन्न है। [अतः प्रयत्नभेद और कालभेद दोनों कहने चाहिए ।]

यह (पूर्वोक्त कथन) ठीक ही है। क्योंकि [वार्त्तिककार आचार्य कात्यायन] आगे "तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्" (१।१।९) इस सूत्र में 'आस्य' के ग्रहण का प्रयोजन कहेंगे—"आस्य = मुख में जिनका देश = स्थान और प्रयत्न तुल्य है, वे (परस्पर) सवर्णसंज्ञक होते हैं।" और काल तो आस्य (मुख) से बाहरी है। इसलिए [कालभेद के कारण] कालभिन्न (भेदवान्) का तो ग्रहण होगा ही, परन्तु विवृत रूप प्रयत्न के भेद से भिन्न होने वाले का ग्रहण नहीं होगा।

[आस्य के अन्तर्गत देश = स्थान होते हैं, द्विमात्रा आदि काल नहीं होते हैं। अतः कालभेद होने पर भी सवर्णसंज्ञा होती है। किन्तु प्रयत्नभेद रहने पर सवर्णसंज्ञा नहीं हो सकती ।]

क्या यह विवृत उपदिश्यमान (अकार) का प्रयोजन कहा जा रहा है अथवा संवृत उपदिश्यमान का विवृत उपदेश कहा जा रहा है ?

संवृतस्योपदिश्यमानस्य विवृतोपदेशश्चोद्यते ?

(समाधानभाष्यम्)

विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायते ॥

कथं ज्ञायते ?

यदयम्—"अ अ" (८।४।६८)—इत्यकारस्य विवृतस्य संवृतताप्रत्यापत्तिं शास्ति ॥

(समाधानबाधकभाष्यम्)

नैतदस्ति ज्ञापकम् । अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम् ॥

'प्रदीपः'

किं पुनरिति । किं सूत्रकारेणैव विवृतोपदेशः कृतो वार्तिककारेण तु तस्य प्रयोजनमुक्तम्, अथवाऽकृत एव विवृतोपदेशो वार्तिककृता चोद्यत्वेनोपन्यस्त इति प्रश्नः । दुरवधारत्वादुपदिष्टोऽपि विवृतो व्याख्यानेन विना न शक्यते ज्ञातुमिति प्रत्यक्षेऽप्यकारे प्रश्नोऽयं नासमञ्जसः ॥

तत्र प्रत्यापत्त्या पूर्वः पक्ष आश्रितः । अन्यथा[1] शास्त्रान्ते प्रत्यापत्तिवचनमनर्थकं स्यात्, स्वरूपप्रच्यवाभावात् ॥

'भावबोधिनी'

विवृत उपदिश्यमान के प्रयोजन अथवा संवृत उपदिश्यमान का विवृतोपदेश

[भाव यह है कि पाणिनि ने विवृत उपदेश किया है किन्तु वार्त्तिककार ने उसका प्रयोजन कहा है । अथवा वार्तिककार स्वयं विवृत उपदेश कराने का समर्थन करते हैं ? इसका निर्णय करना है ।]

[सूत्रकार द्वारा] उपदिश्यमान विवृत का प्रयोजन [वार्त्तिककार द्वारा] कहा जा रहा है ।

कैसे मालूम होता है (कि वार्त्तिककार प्रयोजन कह रहे हैं) ?

जो कि ये सूत्रकार पाणिनि [अष्टाध्यायी के अन्तिम सूत्र] "अ अ" (८।४।६८) इस सूत्र से विवृत अकार के संवृतत्व का पुनः विधान (प्रत्यापत्ति) करते हैं । [यदि सूत्रकार ने स्वयं विवृत 'अ' का उपदेश न किया होता तो उसको संवृतत्वगुणविशिष्ट करने के लिए "अ अ" सूत्र ही नहीं बनाते ।]

१. अन्यथा = संवृतत्वे, स्वरूपप्रच्यवे हि पुनः संवृतविधानं युक्तं स्यादिति भावः । (उद्द्योतः)

किम् ?

अतिखट्वः, अतिमाल इत्यत्रान्तर्यतो विवृतस्य विवृतः प्राप्नोति, संवृतः स्यादित्येवमर्था प्रत्यापत्तिः ॥

(समाधानसाधकभाष्यम्)

[1]नैतदस्ति । नैव लोके न च वेदेऽकारो विवृतोऽस्ति ॥

कस्तर्हि ?

संवृतः,योऽस्ति स भविष्यति । तदेतत्प्रत्यापत्तिवचनं (८।४।६८) ज्ञापकमेव

'प्रदीपः'

अस्ति ह्यन्यदिति । प्रयोग एव प्राप्ते विवृतत्वे संवृतत्वप्रत्यापत्तिः स्यादिति अज्ञापकमेतदित्यर्थः । नन्विहासति विवृतोपदेशे सावर्ण्याभावादकारेणाकारस्याग्रहणादच्त्वाभावात्कथमतिखट्व इति ह्रस्वः ? नैष दोषः, "उदीचामातः स्थाने" इति ज्ञापकाद्भवत्याकारस्य ह्रस्वः ॥

नैव लोक इति । प्रयुक्तानामनुशासनात् प्रयोगे च विवृतस्याकारस्यासम्भवात्संवृत एव भविष्यतीति प्रत्यापत्तिर्ज्ञापिकैव ।।

'भावबोधिनी'

यह [विवृत का संवृतत्व-विधान] ज्ञापक नहीं है । इस सूत्र के कथन में दूसरा ही प्रयोजन है ।

क्या [दूसरा प्रयोजन हैं] ?

अतिखट्वः, अतिमालः—इनमें सादृश्य के कारण विवृत आ का विवृत ही [अ] प्राप्त होता है, संवृत हो—इसके लिये यह प्रत्यापत्तिवचन ("अ अ" सूत्र) है । [खट्वाम् अतिक्रान्तः आदि समास में 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' (१।२।४८) से ह्रस्व किया जाता है । चूंकि स्थानी आ विवृत है तो सदृशतम 'अ' आदेश भी विवृत होने लगेगा । उसको संवृत करने के लिए "अ अ" सूत्र चरितार्थ है । अतः यह ज्ञापक नहीं बन सकता ।]

नहीं, ऐसा [ठीक] नहीं है । [क्योंकि] लोक और वेद में कहीं भी अकार विवृत नहीं है । [अतः वह होना सम्भव ही नहीं है ।]

तो कौन सा [अकार] है ?

संवृत [है], जो है,वही [आदेश] होगा । [तब तो संवृत स्वतः ही प्राप्त है ।]

१. ज्ञापकस्यासिद्धिं निरस्यति—भाष्ये—नैतदिति । 'युक्तम्' । 'यतः' इति शेषः । (छाया)

भविष्यति—'विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायते' इति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

कः पुनरत्र विशेषः—विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायेत संवृतस्योपदिश्यमानस्य वा विवृतोपदेशश्चोद्येतेति ?

(समाधानभाष्यम्)

न खलु कश्चिद्विशेषः।[1] आहोपुरुषिकामात्रं तु भवानाह—'संवृतस्योपदिश्यमानस्य विवृतोपदेशश्चोद्यत इति। वयं तु ब्रूमो--विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायत' इति ॥

'प्रदीपः'

कः पुनरिति। 'विवृतोपदेश'[2] इत्यत्र 'कृत' इति वा, 'कर्तव्य' इति वा वाक्यशेषाध्याहारे न कश्चिद्विशेष इत्यर्थः ॥

आहोपुरुषिकेति। अहो = अहं पुरुष इत्यहङ्कारवान्—अहोपुरुषः—तस्य भाव इति मनोज्ञादित्वाद्वुञ्। अहङ्कारवत्त्वमित्यर्थः।

'भावबोधिनी'

इसलिए यह प्रत्यापत्तिवचन ["अ अ" सूत्र] ज्ञापक ही होगा—"विवृत उपदिश्यमान अकार का प्रयोजन कहा जाता है।' [पाणिनि ने विवृत का ही उपदेश किया है, उसी का प्रयोजन कर रहे हैं।]

इसमें क्या भेद है—किए जाने वाले विवृत उच्चारण (उपदेश) का प्रयोजन कहा जाय अथवा संवृत उच्चारित (उपदिश्यमान) के स्थान पर विवृत उच्चारण किया जाय ?

वास्तव में (इन दोनों पक्षों में) कोई भेद नहीं है। [पाण्डित्य का] केवल अहङ्कार है। आप कहते हैं—संवृत उच्चारित (उपदिश्यमान) के स्थान में विवृत उपदेश कहा जा रहा है, [उच्चारित करना चाहिए]। किन्तु हम कह रहे हैं—विवृत उच्चारित है उसका प्रयोजन कहा जा रहा है। [अतः किसी पक्ष में आग्रह व्यर्थ है।]

---

१. अहो—यह अव्यय 'अहम्' के अर्थ में है। अहो = अहं पुरुष :—इसमें 'अहोपुरुषः' 'मयूरव्यंसकादयश्च' से समास होता है। 'अहोपुरुषस्य भावः' इस अर्थ में 'मनोज्ञादिभ्यश्च' सूत्र से वुञ् = अक, आदिवृद्धि, टाप्, इत्व—आहोपुरुषिका = अहङ्कारवत्ता = अभिमान। 'आहोपुरुषिका' इत्यत्र वुञः प्राक् मयूरव्यंसकादित्वात् समासः। अहो—इति अहमित्यर्थे ॥ (उद्द्योतः)

२. वार्त्तिके—इति भावः।

(॥ २६ ॥ धात्वादिषु विवृतत्वप्रतिज्ञावार्तिकम् ॥ २ ॥)

॥*॥ तस्य विवृतोपदेशादन्यत्रापि विवृतोपदेशः सवर्णग्रहणार्थः ॥*॥

(भाष्यम्)

तस्यैतस्याक्षरसमाम्नायिकस्य विवृतोपदेशादन्यत्रापि विवृतोपदेशः कर्तव्यः॥

क्वान्यत्र ?

धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातस्थस्य ॥

किं प्रयोजनम् ?

'प्रदीपः'

तस्येति । यदा प्रत्याहारे विवृतोऽकार उपदिष्टस्तदा प्रयत्नभेदात्तेन संवृतस्याकारस्य ग्रहणाभावादच्कार्यं न स्यादिति तत्सिद्धये सर्वस्याकारस्य विवृतत्वं कर्तव्यमित्यर्थः । तेन शाम्यतीत्यादौ दीर्घादिः सिध्यति ॥

ननु च सर्वेषामकाराणां यत्सामान्यं तदनुकरणमत्राकारः । तस्य च विवृतत्वे प्रतिज्ञायमाने सर्वेषां तत्प्रतिज्ञातं भवतीति किमुच्यते—तस्य विवृतोपदेशादिति ? एवं तर्हि यदा कस्यचिदेवाकारस्येदमनुकरणं स्वरूपपदार्थको वाऽकारस्तदेदमुच्यत इत्यदोषः ॥

'भावबोधिनी'

अन्यत्र भी विवृतोपदेश की आवश्यकता

(वा०) उस [अ इ उण्] के अकार का विवृत उपदेश (उच्चारण) करने से अन्यत्र भी सवर्णग्रहण के लिए विवृत उपदेश (उच्चारण) [करना चाहिए] ।

(भा०) अक्षर-समाम्नाय में स्थित इस अकार का जैसे विवृत उच्चारण है इस कारण अन्यत्र भी विवृत उच्चारण करना चाहिए । [क्योंकि जब प्रत्याहार का अकार विवृत उपदिष्ट है तो उसके साथ सवर्ण संज्ञा करने के लिए अन्यत्र भी विवृत ही उच्चारण करना चाहिए, अन्यथा संवृत होने पर प्रयत्नभेद के कारण सवर्ण संज्ञा न होने से तत्प्रयुक्त दीर्घादि नहीं होंगे ।]

अन्यत्र कहाँ ?

धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय तथा निपात—इनमें स्थित अकार का [भी विवृत उच्चारण करना होगा] ।

क्या प्रयोजन है ?

सवर्णग्रहणार्थः । आक्षरसमाम्नायिकेनास्य ग्रहणं यथा स्यात् ॥

किं च कारणं न स्यात् ?

[1]विवारभेदादेव ॥

(धात्वादिषु ज्ञापकेन विवृतत्वप्रतिज्ञाबाधकभाष्यम्)

आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—भवत्याक्षरसमाम्नायिकेन धात्वादिस्थस्य ग्रहणमिति । यदयम् "अकः सवर्णे दीर्घः" (६।१।१०१) इति [2]प्रत्याहारेऽको ग्रहणं करोति ॥

कथं कृत्वा ज्ञापकम् ?

न हि द्वयोराक्षरसमाम्नायिकयोर्युगपत्समवस्थानमस्ति[3] ॥

'प्रदीपः'

यदयमिति । अत्र हि ककारेण चिह्नेन प्रत्याहारस्थो विवृतो निर्दिष्टः, तेन च संवृतस्याग्रहणे 'इकः सवर्णे' इति वक्तव्यम् ॥ न हि द्वयोरिति । यद्यप्येकोऽपि विवृतो नास्ति, तथापि द्व्यधिष्ठानत्वादेकादेशस्य द्वयोरित्युक्तम् ।

'भावबोधिनी'

सवर्णग्रहण के लिए । जिससे अक्षरसमाम्नाय में स्थित (श्रूयमाण अ) के द्वारा इस धात्वादिस्थ (श्रूयमाण अ) का भी ग्रहण (ज्ञान) हो सके ।

किस कारण [ग्रहण] नहीं करा सकता ?

विवार = विवृत प्रयत्नभेद के कारण ही ।[4]

आचार्य पाणिनि का व्यवहार यह ज्ञापित करता है कि—अक्षरसमाम्नाय (अइउण्) के अकार से धातु आदि में स्थित (श्रूयमाण) अकार का ग्रहण होता है । [अर्थात् अइउण् का विवृत भी अकार धातु आदि के संवृत अकार का ग्रहण कराता ही है] क्योंकि इन आचार्य ने "अकः सवर्णे दीर्घः" (६।१।१०१) इस प्रत्याहार (संग्राहक शास्त्र) में 'अकः' का ग्रहण किया है ।

यह कैसे ज्ञापक बनता है ?

अक्षर-समाम्नाय में स्थित दो अकारों का एक साथ [किसी प्रयोग में] होना सम्भव नहीं है । ['अकः' इसमें ककार चिह्न के द्वारा अक्षर-समाम्नाय =

---

१. विवारभेदादिति प्रयत्नभेदादित्यर्थः । ग्राहकस्य विवृतत्वात् ग्राह्यस्य संवृतत्वादिति भावः ।

२. प्रत्याहारे = संग्राहके शास्त्रे = लक्षणे इत्यर्थः ।

३. अस्य 'प्रयोगे' इति शेषः ।

४. व्यक्तिपक्ष में अइउण् का अकार और √पठ आदि धातु का अकार भिन्न है । धात्वादि में संवृत पठित है, अक्षरसमाम्नाय में विवृत । फलतः दोनों का आभ्यन्तर

(धात्वादिषु विवृतत्वप्रतिज्ञासाधकभाष्यम्)

नैतदस्ति ज्ञापकम् । अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम् ॥

किम् ?

यस्याक्षरसमाम्नायिकेन ग्रहणमस्ति, तदर्थमेतत्स्यात्—खट्वाढकं मालाढक-मिति । सति प्रयोजने न ज्ञापकं भवति । तस्माद्विवृतोपदेशः कर्तव्यः ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

क एष यत्नश्चोद्यते विवृतोपदेशो नाम । विवृतो वोपदिश्येत, संवृतो वा ।

'प्रदीपः'

नैतदिति । 'अक' इत्यकारेण विवृतेन दीर्घस्य विवृतस्य ग्रहणादज्ञापक-मेतदित्यर्थः ॥

क एष यत्न इति । धात्वादयः पठितास्तत्राकारो विवृतः पठ्यताम्, न हि किंचिद् गौरवं भवति तत्किमुच्यते—'अन्यत्रापि विवृतोपदेशः कर्तव्य' इतीति प्रश्नः ॥

'भावबोधिनी'

प्रत्याहार का विवृत 'अ' निर्दिष्ट है, इससे संवृत का ग्रहण नहीं होगा, तब 'इकः सवर्णे दीर्घः' ऐसा कहना चाहिए था । वैसा न कहने से यह ज्ञापित हो जाता है कि प्रत्याहारस्थ अ से धात्वादिस्थ अ का ग्रहण होता है, तभी प्रयोग में सवर्णदीर्घ सम्भव होगा ।]

यह ज्ञापक नहीं है । इसको कहने में दूसरा ही प्रयोजन है ।

क्या ?

इस अक्षर-समाम्नाय वाले (विवृत) अ से (सवर्णता के कारण) जिस 'आ' का ग्रहण होता है, उसके लिये यह अक् चरितार्थ हो जाय—खट्वाढकम्, मालाढकम् । [खट्वा+आढकम्, माला+आढकम्, दोनों विवृत हैं, अतः सवर्ण होने से दीर्घ-विधान चरितार्थ है ।] और फल होने पर ज्ञापक नहीं बन सकता । इसलिए [धात्वादि में भी] अकार का विवृत उपदेश करना चाहिए ।

विवृत अथवा संवृत के उच्चारण में क्या फलभेद ?

[धात्वादि का अकार] विवृत उच्चारित करना चाहिए, यह यत्न क्यों कहा है, (इसमें वार्त्तिककार का क्या विशेष प्रयोजन है)? विवृत पढ़ा जाय अथवा

प्रयत्न भिन्न-भिन्न होने से 'अइउण्' के अ से धात्वादि के अ का ग्रहण नहीं होगा । अतः धात्वादि का भी विवृत उपदिष्ट करना आवश्यक है ।

को न्वत्र विशेषः[1] ?

(समाधानभाष्यम्)

स एष सर्वं[2] एवमर्थो यत्नः क्रियते। यान्येतानि प्रातिपदिकान्यग्रहणानि तेषामेतेनाभ्युपायेनोपदेशश्चोद्यते, तद् गुरु भवति। तस्माद्वक्तव्यम्—'धात्वादिस्थश्च विवृत' इति।

(॥ २७ ॥ प्रयोजनानन्तरवार्तिकम् ॥ ३ ॥)

॥ * ॥ दीर्घप्लुतवचने च संवृतनिवृत्त्यर्थः ॥ * ॥

'प्रदीपः'

यानीति। प्रतिपदपाठस्याशक्यत्वात् 'तस्य विवृतोपदेशादि'त्यनेन सर्वस्याकारस्य विवृतोपदेशः कार्यतया चोद्यत इत्यर्थः॥ धात्वादिस्थ इति। अग्रहणप्रातिपदिकार्थे विवृतत्वेऽवश्यचोदनीये धात्वादिस्थस्यापि संवृतस्यैव पठितस्य कार्यार्थं विवृतत्वं प्रतिज्ञेयम्। अन्यथा दोषरूपविवृतोच्चारणे प्रयत्नस्य गौरवं स्यात्॥

विवृतत्वप्रतिज्ञाने प्रयोजनान्तरमाह—[3]दीर्घेति। असति विवृतत्वप्रतिज्ञाने

'भावबोधिनी'

संवृत इसमें क्या विशेष बात है ?

यह सब यत्न इसलिए किया जा रहा है—जो ये [4]प्रातिपदिक जिनका कहीं भी ग्रहण (पाठ) नहीं किया गया है (ऐसे शश, पलाश, मञ्चक आदि हैं), उनके भी अकार का इस उपाय द्वारा विवृत उपदेश कहा जा रहा है, [प्रतिपद-पाठ में उपदेश करना सम्भव नहीं है, प्रत्येक के अकार का स्वतन्त्र रूप से उच्चारण करने में] वह गौरव होता है। इसलिए कहना चाहिए—"धातु आदि में स्थित विवृत अकार का उपदेश करना चाहिए।" [प्रतिपद-पाठ में अनन्त शब्दों में अनन्त अकारों का विवृत उपदेश करने की अपेक्षा सामान्य रूप से धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय के अ का विवृत उपदेश करने में लाघव होता है।]

(वा०) दीर्घ और प्लुत के वचन (विधान) में भी संवृत की निवृत्ति के लिए

---

१. धात्वादौ विवृतसंवृतयोरुच्चारणे न कोऽपि विशेष इत्याशयः प्रश्नकर्त्तुर्बोध्यः।

२. वृत्तौ=समासे 'एवम्' शब्दः प्रकारवति वर्तते—इति बहुव्रीहिः। एवम् = एतत्प्रकारकः, अर्थः = प्रयोजनं यस्येत्यर्थः।

३. ह्रस्वस्य दीर्घप्लुतविधावित्यर्थः। दीर्घप्लुतौ स्थानिनोऽकारस्य संवृततया संवृतावेव स्यातामिति तौ मा भूतामिति धात्वादिस्थाकारस्य विवृतोपदेशः कार्य इत्यर्थः। (छाया)

४. यह 'प्रातिपदिक' धातु और प्रत्यय का भी उपलक्षण है। अतः सभी अगृहीत प्रातिपदिक विवृत अकारयुक्त पढ़ने चाहिए, यह भाव है।

(भाष्यम्)

दीर्घप्लुतवचने च संवृतनिवृत्त्यर्थो विवृतोपदेशः कर्तव्यः—दीर्घप्लुतौ संवृतौ मा भूतामिति—वृक्षाभ्याम्, देवदत्ता ३ इति ।

(निराकरणभाष्यम्)

नैव लोके न च वेदे दीर्घप्लुतौ संवृतौ स्तः ।

कौ तर्हि ?

विवृतौ ॥ यौ स्तस्तौ भविष्यतः ।

(एकदेशिप्रयोजनसाधकभाष्यम्)

[1]"स्थानी प्रकल्पयेदेतावनुस्वारो यथा यणम् ॥"

'प्रदीपः'

संवृतस्याकारस्य स्थाने सावर्ण्यात्संवृतयोरेव दीर्घप्लुतयोः प्रसङ्ग इत्यर्थः ।

नैव लोक इति । असत्यपि सावर्ण्ये लिङ्गादकारस्य संवृतस्य विवृतौ दीर्घप्लुतौ भविष्यतः । यदयम् 'अतो दीर्घो यञि' (७।३।१०१) 'अतो रोरप्लुतादप्लुत' (६।१।११३) इत्याहेति भावः ॥

'भावबोधिनी'

[धातु आदि के अकार का विवृत उपदेश करना चाहिए]।

(भा०) दीर्घ और प्लुत आदेशों के विधान में भी संवृत रोकने के लिए विवृत का उपदेश करना चाहिए—[ह्रस्व संवृत अ के स्थान पर] दीर्घ और प्लुत कहीं संवृत न हो जांय । उदा०—वृक्षाभ्याम्, देवदत्त ३—यहाँ । [वृक्ष+भ्याम् में संवृत = ह्रस्व का दीर्घ "सुपि च" सूत्र से होता है । यह दीर्घ भी संवृत न होने लगे, इसके लिए प्रातिपदिकस्थ अ विवृत कहना चाहिए । देवदत्त ३ यहाँ दूर से सम्बोधन में प्लुत होता है यह संवृत 'अ' के स्थान पर होने से संवृत होने लगेगा ।]

न तो वेद में और न लोक में दीर्घ और प्लुत संवृत होते हैं ।

तो कौन (कैसे) होते हैं ?

विवृत । जो हैं वे ही होंगे । [चूंकि दीर्घ और प्लुत कहीं भी संवृत नहीं होते हैं अतः असम्भव होने से संवृत के स्थान पर भी विवृत ही आदेश होते हैं ।]

परन्तु संवृत स्थानी [अपने सदृश ही अर्थात् संवृत ही] दीर्घ और प्लुत की कल्पना करायेगा, जिस प्रकार [स्थानी] अनुस्वार यण् की कल्पना कराता है ।

१. कुत्रचिद् वार्त्तिकरूपेण कुत्रचिद्भाष्यरूपेणैवेदं दृश्यते ।

संवृतः स्थानी संवृतौ दीर्घप्लुतौ प्रकल्पयेद् ॥ अनुस्वारो यथा यणम् ॥ तद्यथा—सँय्यन्ता, सँव्वत्सरः, यँल्लोकं, तँल्लोकमिति-अनुस्वारः स्थानी यणमनुनासिकं प्रकल्पयति ।

(निराकरणभाष्यम्)

विषम उपन्यासः। युक्तं यत्सतस्तत्र प्रक्लृप्तिर्भवति। सन्ति हि यणः सानुनासिका निरनुनासिकाश्च। दीर्घप्लुतौ पुनर्नैव लोके नैव च वेदे संवृतौ स्तः ॥

कौ तर्हि ?

विवृतौ। यौ स्तस्तौ भविष्यतः ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

एवमपि कुत एतत्—तुल्यस्थानौ प्रयत्नभिन्नौ भविष्यतः, न पुनस्तुल्यप्रयत्नौ

'प्रदीपः'

सतस्तत्रेति। अशक्यत्वाद्दीर्घप्लुतयोः संवृतयोरुच्चारणस्येत्यर्थः ।

एवमपीति। असति विवृतत्वप्रतिज्ञाने संवृतस्याकारस्य संवृतावेवेकारोकारौ

'भावबोधिनी'

संवृत स्थानी [अपने स्थान पर आदेश होने वाले] दीर्घ और प्लुत को संवृत कल्पित करायेगा। जिस प्रकार अनुस्वार यण् की कल्पना कराता है। वह इस प्रकार है—सँय्यन्ता; सँव्वत्सरः, यँल्लोकम्, तँल्लोकम्—इनमें अनुस्वार स्थानी है वह अनुनासिक यण् की कल्पना कराता है। [सं + यन्ता, सं + वत्वर; यँ + लोकम्, तं + लोकम् में "वा पदान्तस्य" (८।४।५९) से अनुस्वार का परसवर्ण होने पर अनुनासिक यँ, वँ, लँ ही होते हैं। इसी प्रकार स्थानी संवृत अकार अपने स्थान पर होने वाले दीर्घ और प्लुत को भी संवृत होने की कल्पना करायेगा।]

यह उपन्यास = प्रस्तुति = दृष्टान्त ठीक नहीं है। जो वास्तव में है उसकी प्रवृत्ति होना तो उचित है। चूंकि यण् = य् व् ल् अनुनासिकत्व-विशिष्ट और निरनुनासिक (शुद्ध) दोनों प्रकार के होते हैं। [अतः अनुस्वार के स्थान पर अनुनासिक यँ वँ लँ होना उचित है।] परन्तु दीर्घ और प्लुत लोक और वेद में कहीं भी संवृत नहीं होते हैं।

तो कौन (कैसे) हैं ?

विवृत ही हैं, जो हैं वे ही होंगे। [अतः आदेश में संवृतत्व की आपत्ति देना ठीक नहीं हैं।]

ऐसा होने पर भी (अर्थात् असदृशतम आदेश विवृत हो सकता है—यह मान लेने पर भी)—तुल्य स्थान वाले और भिन्न प्रयत्न वाले ही होंगे, और तुल्य प्रयत्न

स्थानभिन्नौ स्याताम्—ईकार ऊकारो वेति ?

(समाधानभाष्यम्)

वक्ष्यति "स्थानेऽन्तरतमः" (१।१।५०) इत्यत्र 'स्थान' इत्यनुवर्तमाने पुनः स्थानेग्रहणस्य प्रयोजनम्—"यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत आन्तर्यं बलीयो भवति" इति ॥

(इति व्यक्तिपक्षाधिकरणम्)

(वर्णसमाम्नाये जातिपक्षाधिकरणम्)

(२८ पूर्वपक्ष्याक्षेपवार्तिकम् ॥ १ ॥)

'प्रदीपः'

प्राप्नुतः, 'य्वृतः[1] संवृता अन्यत्राभंवसाम्न' इति कैश्चिदीकारोकारयोः संवृतत्वस्याभ्युपगमात् ।

'भावबोधिनी'

वाले तथा भिन्न स्थान वाले—ईकार अथवा ऊकार क्यों नहीं हो सकते ? [जब संवृत और विवृत ये दोनों भिन्न-भिन्न प्रयत्न वाले हो सकते हैं तो अकार के स्थान पर समान प्रयत्न वाले किन्तु भिन्न स्थान वाले ई, ऊ क्यों न हों जाँय, किसी शाखा में 'ई, ऊ, ऋ' को भी संवृत माना गया है ।]

आगे आचार्य—"स्थानेऽन्तरतमः" (१।१।५०) इस सूत्र में ["षष्ठी स्थानेयोगा" इस सूत्र से] 'स्थाने' इसकी अनुवृत्ति रहने पर भी पुनः 'स्थाने' इसके ग्रहण का प्रयोजन कहेंगे—'जहाँ अनेक प्रकार का आन्तर्य = सादृश्य है वहाँ स्थानकृत सादृश्य ही सबसे बलवान् होता है ।' [इसलिये भिन्न उच्चारण-स्थान वाले ई, ऊ संवृत 'अ' के स्थान पर नहीं किये जा सकते हैं । अतः संवृत अ के स्थान पर असम्भव होने के कारण विवृत दीर्घ, प्लुत करना विवशता है ।]

---

१. सामगान करने वालों की किसी शाखा में यह वचन मिलता है "य्वृतः संवृता अन्यत्राभंवसाम्नः ।" प्रदीप के इस उद्धरण पर नागेश ने यहाँ पाठभेद भी लिखा है—"य्वृताः संवृता इति । ई—ऊ—ऋत इत्यर्थः । क्वचित्तु 'य्वतः' इति पाठः । ईकार—ऊकार—अकारा इत्यर्थः ।" (उद्द्योतः)

॥ * ॥ तत्रानुवृत्तिनिर्देशे सवर्णाग्रहणमनण्त्वात् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

तत्रानुवृत्तिनिर्देशे सवर्णानां ग्रहणं न प्राप्नोति—"अस्य च्वौ" (७।४।३२) "यस्येति च" (६।४।१४८) ॥

किं कारणम् ?

अनण्त्वात् । न ह्येतेऽणः येऽनुवृत्तौ ॥

के तर्हि ?

येऽक्षरसमाम्नाये उपदिश्यन्ते ॥

'प्रदीपः'

तत्रानुवृत्तिनिर्देश इति । 'अकः सवर्णे दीर्घ' इत्यादावयमेवाकारोऽनुकृत इति ककारादिना चिह्नेन ज्ञायते । ततश्चाण्त्वात्तस्य ग्राहकत्वमस्तु । 'अस्य च्वावि'त्यादौ त्वकारस्यानण्त्वाद् ग्राहकत्वं न प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ वृत्तिः = शास्त्रस्य लक्ष्ये प्रवृत्तिस्तदनुगतो निर्देशः—अनुवृत्तिनिर्देशः[1] ॥

'भावबोधिनी'

वर्णसमाम्नाय में जातिपक्ष

(वा०)—इस [व्यक्तिपक्ष] में अनुवृत्ति-निर्देश [साक्षात् शास्त्र-प्रवृत्ति के अनुकूल सूत्रनिर्देश = प्रत्याहार-रहित प्रयोगस्थ के अनुकरण] में सवर्ण का ग्रहण नहीं हो सकेगा, क्योंकि [वह निर्देश] अण् नहीं है ।

(भा०) उस [व्यक्तिपक्ष में] अनुवृत्ति-निर्देश (प्रयोगस्थ अकार के अनुकरण) में सवर्णों का ग्रहण नहीं प्राप्त होता है—"अस्य च्वौ" (पा० सू० ७।४।३२) "यस्येति च" (पा० सू० ६।४।१४८) [आदि के लक्ष्यों में] ।

क्या कारण है ?

अण् न होना । जो अनुवृत्ति (सूत्रों) में [उपदिष्ट] हैं वे अण् नहीं हैं ।

तो कौन से अण् हैं ?

जिनका अक्षर-समाम्नाय में उपदेश हैं । [वे ही अण् हैं ।]

---

१. तदनुकृत इति । साक्षाल्लक्ष्यसंस्कारबोधजनक इत्यर्थः । (उद्द्योतः)

(२९ एकदेशिसमाधानवार्तिकम् ॥ २ ॥)

॥ * ॥ एकत्वादकारस्य सिद्धम् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

एकोऽयमकारो यश्चाक्षरसमाम्नाये, यश्चानुवृत्तौ यश्च धात्वादिस्थः ।

(३० आक्षेपवार्तिकम् ॥ ३ ॥)

॥ * ॥ अनुबन्धसङ्करस्तु ॥ * ॥

(भाष्यम्)

अनुबन्धसङ्करस्तु प्राप्नोति । "कर्मण्यण्" "आतोऽनुपसर्गे कः" (३।२।३) इति केऽपि णित्कृतं प्राप्नोति ॥

'प्रदीपः'

एकत्वादकारस्येति । एकैवाकारव्यक्तिः, उदात्तादिभेदप्रतिभासस्तु व्यञ्जकध्वनिकृतः, खड्गतैलादर्शादिभेदे प्रतिबिम्बप्रतिभासभेदवत् । अकारस्य निदर्शनार्थत्वादिकारादीनामप्यैक्यं बोद्धव्यम् ॥[1]

'भावबोधिनी'

विमर्श—व्यक्तिपक्ष में प्रत्येक 'अ' स्वतन्त्र और अलग है । 'अकः सवर्णे दीर्घः' आदि में ककार-चिह्न से यह प्रतीत होता है कि यह अक्षर-समाम्नाय का ही अनुकरण किया गया है । अतः यह तो सवर्ण का ग्राहक हो सकता है किन्तु 'अस्य च्वौ' तथा 'यस्येति च' आदि का अ अण् नहीं है । वे सवर्णग्राहक नहीं हो सकते, फलतः इन सूत्रों की प्रवृत्ति सीमित लक्ष्यों में ही हो सकेगी ।

अनुवृत्ति-निर्देशः—वृत्ति = शास्त्र = सूत्र की प्रवृत्ति, वृत्तिमनुगतः—इति अनुवृत्ति, स चासौ निर्देशः—अनुवृत्तिनिर्देशः । सूत्रों की प्रवृत्ति के अनुकूल = साक्षात् लक्ष्य-संस्कारक-बोधजनक निर्देश जहाँ है वहाँ अण् न होने से सवर्णग्राहकता नहीं होगी, व्यक्तिपक्ष में यह दोष है ।

(वा०) अकार एक होने से यह सिद्ध है ।

(भा०) यह एक (अभिन्न) ही अकार है जो अक्षर-समाम्नाय में, जो अनुवृत्ति (किसी के अनुकरण = प्रत्याहाररहित सूत्र) में है और जो धात्वादि में है । [अतः सभी में एक ही अ के होने से कोई अनुपपत्ति नहीं है ।]

(वा०) तब तो अनुबन्धों का सङ्कर है ।

---

१. इकारादीनामपीति । सर्वध्वनिभिरेकस्य स्फोटस्यैव तत्तद्रूपेणाभिव्यञ्जनात् । तत्तद्रूपाभिव्यक्तिकृतश्च परस्परं भेदव्यवहारोऽपीति भावः । (उद्द्योतः)

(३१ द्वितीयाक्षेपवार्तिकम् ॥ ४ ॥)

॥ * ॥ एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चानुपपत्तिः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चानुपपत्तिर्भवति।

तत्र को दोषः ?

किरिणा गिरिणेत्येकाज्लक्षणमन्तोदात्तत्वं प्राप्नोति।

इह च घटेन तरति घटिक इति द्व्यज्लक्षणः ठन् न प्राप्नोति॥

'प्रदीपः'

अनुबन्धसङ्कर इति। एकत्वे क-अण्टादीनां भेदाभावाद् गोदादौ ङीबादिः प्राप्नोति। किरिणेति। 'न गोश्वन्त्सावर्णेति' प्रतिषेधादकारो नोदाहृतः॥ घटेनेति। एक एवाकारो द्विरुच्चार्यत इति द्व्यच्त्वाभावः। ठंस्तु बाहुकादिषु कृतार्थः॥

'भावबोधिनी'

(भा०) [यदि एक ही अ-व्यक्ति है] तब तो विभिन्न अनुबन्धों का सङ्कर[1] प्राप्त होता है। जैसे—"कर्मण्यण्" (३।२।१) "आतोऽनुपसर्गे कः"। (३।२।३) इनमें क् अनुबन्ध वाले में भी णित् अनुबन्ध मान कर होने वाला कार्य प्राप्त होता है। [अतः गां ददाति—इसमें 'आतोऽनुपसर्गे कः' सूत्र से क=अ प्रत्यय करने पर 'गोदः' बनता है। इसी की स्त्रीत्वविवक्षा में अण् अनुबन्धकृत ङीप् की अतिप्रसक्ति होगी क्योंकि 'क' और 'अण्' दोनों में एक ही 'अ' है। वह कित् और णित् दोनों प्रकार का है। अतः 'अ' को एक मानने में यह प्रथम दोष है।]

(वा०) एक अच् का जिनमें ग्रहण है और अनेक अचों का जिनमें ग्रहण है, उन सूत्रों में अनुपपत्ति होगी।

(भा०) [पूर्वोक्त अनुबन्धसांकर्य के अतिरिक्त] जिनमें एक अच् का ग्रहण है और जिनमें अनेक अचों का ग्रहण है, उनमें अनुपपत्ति होती है। [वहाँ लक्ष्यसिद्धि नहीं हो पाती है।]

तो इसमें कौन सा दोष है ?

किरिणा, गिरिणा—इनमें ['सावेकाचस्तृतीयादिः' ६।१।१६८ से] एकाच् मानकर होने वाला अन्तोदात्त प्राप्त होता है। [किरि, गिरि में दोनों इकारों को एक ही अच् मान लेने से यह आपत्ति है।]

और यहाँ—'घटेन तरति' इस विग्रह में घटिकः इसमें दो अचों को मान कर होने वाला ["नौद्व्यचष्ठन्" ४।४।७ सूत्र से] ठन् नहीं प्राप्त होता है। [क्योंकि

---

१. अनुबन्धसङ्करः=अनुबन्धकार्यसङ्करः। पर्याय से णित्व प्रयुक्तकार्य और कित्व-प्रयुक्त कार्य हो सकते हैं। फलतः अनिष्टरूप प्रसक्त होंगे।

(३२ तृतीयाक्षेपवार्तिकम् ॥ ५ ॥)

॥ * ॥ द्रव्यवच्चोपचाराः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

द्रव्यवच्चोपचाराः प्राप्नुवन्ति । तद्यथा—द्रव्येषु नैकेन घटेनानेको[1] युगपत्कार्यं करोति, एवमिममकारं नानेको युगपदुच्चारयेत् ॥

(३३ प्रथमाक्षेपनिराकरणवार्तिकम् ॥ १६ ॥)

॥ * ॥ विषयेण तु नानालिङ्गकरणात्सिद्धम् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

यदयं विषये विषये नानालिङ्गमकारं करोति—"कर्मण्यण्" (३।२।१)

'प्रदीपः'

द्रव्यवदिति । उपचारो = व्यवहारः, यथैकेन घटेनोदकाहरणादिक्रियां युगपदनेको न करोति, तथैवैकमकारं युगपदनेको नोच्चारयेदित्यर्थः ।

विषयेणेति । वार्तिककारेण करणत्वेन सामान्यरूपतया चाभेदेन विषयो निर्दिष्टः ।

'भावबोधिनी'

दो अकार अब एक ही होंगे, अतः द्वयच् न होकर एकाच् हो जायगा, ठन् नहीं होगा। यह दूसरा दोष है ।]

(वा०) द्रव्य के समान व्यवहार [प्राप्त होते हैं] ।

(भा०) [उक्त दो दोषों के अतिरिक्त तीसरा दोष यह है—] और द्रव्य के समान व्यवहार प्राप्त होने लगते हैं । उदाहरणार्थ—जिस प्रकार द्रव्यों में अनेक लोग एक साथ एक घट से कार्य नहीं कर पाते हैं, उसी प्रकार इस एक अकार को अनेक लोग एक साथ उच्चारित नहीं कर पायेंगे । [जैसे एक ही घट हो तो एक काल में एक ही व्यक्ति उससे जलादि ला सकता है, अनेक व्यक्ति नहीं । उसी प्रकार जब 'अ' एक है तो उसका भी उच्चारण एक काल में एक साथ एक ही कर सकेगा, अनेक लोग नही कर पायेगें । जब कि एक साथ अनेक लोग 'अ' आदि का उच्चारण करते हैं । ये तीन दोष हैं । अब इनका समाधान कर रहे हैं—]

(वा०) विषय के साथ नाना = अनेक लिङ्ग = अनुबन्ध लगाने से सिद्ध है ।

(भा०) आचार्य पाणिनि ने जो विषय-विषय में अनेक प्रकार के अनुबन्ध लगाए हैं—'कर्मण्यण्' 'आतोऽनुपसर्गे कः ।' [अण् में अ के साथ ण् और क में अ के

---

१. "द्रव्येषु न एकेन घटेन अनेको युगपत् कार्यं करोति ।" इस भाष्य के आधार पर 'अनेक' शब्द बहुवचनान्त शुद्ध नहीं है, एकवचनान्त ही शुद्ध है । इस विषय में 'नञ्' सूत्र का महाभाष्य और लघुमञ्जुषा का नञर्थ-विचार देखने चाहिए ।

"आतोऽनुपसर्गे कः" (३।२।३) इति। तेन ज्ञायते नानुबन्धसङ्करोऽस्तीति। यदि हि स्यात्, नानालिङ्गकरणमनर्थकं स्याद्, एकमेवायं[1] सर्वगुणमुच्चारयेत् ॥

(ज्ञापकनिराकरणभाष्यम्)

नैतदस्ति ज्ञापकम्। इत्संज्ञाप्रक्लृप्त्यर्थमेतत्स्यात्। न ह्ययमनुबन्धैः शल्यकवच्छक्य उपचेतुम्। इत्संज्ञायां हि दोषः स्याद्। [2]आयम्य हि द्वयोरित्संज्ञा स्यात् ॥

'प्रदीपः'

भाष्यकारस्त्वधिकरणत्वं व्यक्तिभेदाद् वीप्सां च प्रतिपादयति—विषये विषय इति। सर्वगुणमिति। गुणा = अनुबन्धाः, कार्याश्रितत्वादुपकारकत्वात्। तत्र 'कर्मणि कण्ट्' इति ब्रूयादित्यर्थः।

शल्यकवदिति। शल्यकः प्राणिविशेषः। स यथा कण्टकतुल्यैः पक्षैर्व्याप्यते। नैवं सर्वानुबन्धयुक्तोऽकारः शक्यो निर्देष्टुम्। आद्यन्तयोरेवेत्संज्ञाविधानान्मध्यपातिनां श्रवणप्रसङ्गात्। इत्संज्ञैवायच्छते=व्याप्रियत[3] इत्येककर्तृकत्वादायम्येत्युक्तम् ॥

'भावबोधिनी'

साथ क् अनुबन्ध लगाने से यह ज्ञात हो जाता है—] अनुबन्धों का संकर नहीं होता है। यदि [अनुबन्धों का सांकर्य] हो जाय तो अनेक प्रकार के अनुबन्ध लगाना व्यर्थ हो जायगा, एक ही अकार को सभी गुणों = अनुबन्धों से युक्त उच्चारण कर दिया जाय। [अ के साथ अलग-अलग अनुबन्ध लगा कर पाणिनि ने विधान किया है, यदि ऐसा होने पर भी अनुबन्धों का सांकर्य माना जायगा तो पाणिनि का अनेकानुबन्धकरण का प्रयास व्यर्थ हो जायगा।]

यह [नाना अनुबन्ध लगाना] ज्ञापक नहीं है। अनेक अनुबन्धों का लगाना तो इत्संज्ञा की सिद्धि के लिए होगा [अतः ज्ञापक नहीं माना जा सकता]। क्योंकि यह अकार शल्यक (सेही नामक जीवविशेष) के समान अनुबन्धों से लिपटाया नहीं जा सकता है। [सेही एक प्राणी होता है जिसके शरीर में ऊपर से नीचे तक सभी ओर कांटे लगे होते हैं, उसी प्रकार एक अ को सभी ओर से अनेक अनुबन्धों से युक्त नहीं किया जा सकता।] क्योंकि इत्संज्ञा में दोष होगा। प्रयत्न करके भी केवल दो की ही इत्संज्ञा हो सकती है।

---

१. गुणाः = अनुबन्धाः, एतेन 'गुणाः उदात्तादयः' इति भ्रमो निवारितः। कार्याश्रितत्वाद् उपकारकत्वाद् गुणत्वं बोध्यम्। भेदकत्वे गुणत्वमुक्तं हरिणा—

संसर्गि भेदकं यद् यत् सव्यापारं प्रतीयते।
गुणत्वं परतन्त्रत्वात्तस्य शास्त्रे व्यवस्थितम् ॥ (वा० प० ३।५।१)

२. आयम्य = व्यापृत्य। ३. व्याप्रियते = विषयत्वेन गृह्णातीत्यर्थः।

कयोः ?

आद्यन्तयोः ॥

(आक्षेपनिराकरणवार्तिकव्याख्यान्तरभाष्यम्)

एवं तर्हि—

● विषयेण तु पुनर्लिङ्गकरणात्सिद्धम् ● ।

यदयं विषये विषये पुनर्लिङ्गमकारं करोति—"प्राग्दीव्यतोऽण्" (४।१।८३) "शिवादिभ्योऽण्" (४।१।११२) इति, तेन ज्ञायते—नानुबन्धसङ्करोऽस्तीति । यदि हि स्यात्पुनर्लिङ्गकरणमनर्थकं स्यात् ॥

(प्रथमव्याख्याभ्युपगमभाष्यम्)

अथवा पुनरस्तु—

'प्रदीपः'

एवं तर्हीति । विषयेणेत्येतदन्यथा व्याचष्टे—नानाशब्दमपनीय पुनःशब्दं पठित्वा । यद्यनुबन्धसंकरः स्यादकारमेव शिवादिभ्यो विदध्यात् ॥ अथोच्येत—णित्कृतमेव यथा स्यात् ञित्कृतं मा भूदिति नियमार्थमेतत् स्यात् । तन्न, नियमाद्विधेर्बलीयस्त्वात् ॥

'भावबोधिनी'

किन दो की ?

आदि और अन्त की । [अतः एक साथ अनेक अनुबन्धों का लगाना उचित नहीं है । अतः अनेक अनुबन्धकरण ज्ञापक नहीं माना जा सकता ।]

ऐसी बात है तो—

●विषय-विषय के साथ पुनः वही अनुबन्ध लगाने से सिद्ध हो जाता है ।●

आचार्य पाणिनि ने जो विषय-विषय में बार-बार एक उसी लिङ्ग =अनुबन्ध वाले अकार को ही पढ़ा है, जैसे—"प्रागदीव्यतोऽण्" (४।१।८३) । "शिवादिभ्योऽण्" (४।१।११२) । इससे यह ज्ञात होता है कि—अनुबन्धों का सांकर्य नहीं होता है । यदि अनुबन्धों का सांकर्य हो जाय तो पुनः पुनः उसी अनुबन्ध को लगाना व्यर्थ हो जायगा ।

विमर्श—पहले वार्त्तिक में "विषयेण तु नाना लिङ्गकरणात् सिद्धम्" ऐसा है । भाष्यकार 'नाना' शब्द के स्थान पर 'पुनः' शब्द जोड़ते हैं—"विषयेण तु पुनर्लिङ्ग-करणात् सिद्धम् ।" अतः यह ज्ञात होता है कि अनुबन्धों का सांकर्य नहीं माना जाता है । तभी एक ही अनुबन्ध को बार-बार लगाना उचित हो सकता है ।

(अनु०) अथवा फिर वही पहले पढ़ा हुआ रहे—

❀ विषयेण तु नानालिङ्गकरणात्सिद्धम् ❀ इत्येव ।।

(ज्ञापकनिराकरणस्मारणभाष्यम्)

ननु चोक्तम्—इत्संज्ञाप्रक्लृप्त्यर्थमेतत् स्याद्—इति ।।

(ज्ञापकसाधकभाष्यम्)

नैष दोषः, लोकत एतत्सिद्धम् । तद्यथा—लोके कश्चिदेवं देवदत्तमाह—'इह मुण्डो भव, इह जटिलो भव, इह शिखी भव'—इति यल्लिङ्गो यत्रोच्यते तल्लिङ्गस्तत्रोपतिष्ठते ।

एवमयमकारोऽयल्लिङ्गो यत्रोच्यते तल्लिङ्गस्तत्रोपस्थास्यते ।।

(द्वितीयाक्षेपानुवादभाष्यम्)

यदप्युच्यते ❀एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चानुपपत्तिः❀ इति ।।

'प्रदीपः'

अथवेति । न ब्रूमः—सर्वंगुणमुच्चारयेदिति, किं तु यथा लोके—इह मुण्डो भव, इह नग्नो भवेति यद्गुणको यत्रोच्यते तद्गुण एव तत्र भवति, एवमिहापि याभ्यः प्रकृतिभ्यो यदनुबन्धविशिष्टो विधीयते तासु तदनुबन्धनिमित्तमेव कार्यं संपादयति ।।

'भावबोधिनी'

"विषय-विषय में अनेक अनुबन्ध लगाने से सिद्ध हो जाता है ।" [अनुबन्ध-संकर नहीं है ।]

अरे भाई, अभी कहा गया है—यह अनेक अनुबन्धकरण तो इत्संज्ञा की सिद्धि के लिए चरितार्थ रहेगा । [यह अनुबन्धों का सांकर्य दूर नहीं कर सकता ।]

यह [अनुबन्धों का सांकर्य दूर न कर सकना) दोष नहीं है, यह तो लोक-व्यवहार से सिद्ध है, अर्थात् लोक के व्यवहार से ही यह ज्ञात हो जाता है कि अनुबन्धों का सांकर्य नहीं होता है । उदाहरणार्थ—लोक में कोई देवदत्त से कहता है—यहाँ [संन्यासाश्रम में] मुण्डी बनो, यहाँ [ब्रह्मचर्याश्रम में] जटाधारी बनो और (गृहस्थाश्रम में) शिखाधारी बनो—[वास्तव में देवदत्त एक होता हुआ भी] जहाँ जिस चिह्न वाला कहा जाता है वहाँ उसी चिह्न वाला उपस्थित होता है । [चिह्नभेद से देवदत्त में भेद नहीं होता, वह एक ही रहता है ।] इसी प्रकार यह अकार जिस चिह्न (अनुबन्ध) वाला जहाँ कहा जाता है वहाँ उसी लिङ्ग (अनुबन्ध) वाला उपस्थित होगा । [अतः अकार में अनुबन्धों के सांकर्य दोष की आपत्ति ठीक नहीं है ।]

और जो यह कहा गया है—एक अच् का और अनेक अचों का जिनमें ग्रहण है,

(३४ द्वितीयाक्षेपनिराकरणवार्तिकम् ॥ ७ ॥)

॥ * ॥ एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चावृत्तिसंख्यानात् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चावृत्तेः [1]संख्यानादनेकाच्त्वं भविष्यति। तद्यथा—"सप्तदश सामिधेन्यो भवन्ति" इति "त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्" इत्यावृत्तितः सप्तदशत्वं भवति।

एवमिहाप्यावृत्तितोऽनेकाच्त्वं भविष्यति॥

'प्रदीपः'

आवृत्तिसंख्यानादिति। यथा विकृतियागे त्रयोदश सामिधेन्यः प्रथमोत्तमयोस्त्रिरावृत्त्या सप्तदश सम्पद्यन्ते, तथा घटेन तरतीति द्व्यज्लक्षणः ठन् भवति॥ ननु मुख्ये विषये कृतार्थत्वाद्वचनस्य गौणं द्व्यच्त्वं कथं कार्यस्य निमित्तम्? उच्यते—'गोद्व्यच' इत्यत्राश्वशब्दप्रतिषेधाल्लिङ्गादावृत्तिभेदेनापि भेदाश्रयकार्यप्रवृत्तिः॥

'भावबोधिनी'

ऐसे सूत्रों [के लक्ष्यों] में अनुपपत्ति होती है—[उसका समाधान यह है—]

(वा०) एक अच् के ग्रहण वालों में और अनेक अचों के ग्रहण वालों में आवृत्ति की गणना से इष्ट सिद्ध हो जायगा।

(भा०) एक अच् के ग्रहण वाले और अनेक अचों के ग्रहण वाले सूत्रों में आवृत्ति के संख्यान = गणना से अनेकाच्त्व हो जायगा। यह इस प्रकार से होगा—"[विकृति याग में] सत्तरह सामधेनी = समिधाधान के मन्त्र होते हैं।" [वास्तव में उसमें तेरह मन्त्र होते हैं किन्तु] "प्रथम को और अन्तिम को तीन-तीन बार उच्चारण करना चाहिए—" यहाँ [प्रथम और अन्तिम की] आवृत्ति से सत्तरह संख्या बन जाती है। [तेरह में पहली का तीन बार और तेरहवीं का तीन बार उच्चारण करने पर ३ + ११ + ३ = १७ हो जाते हैं।]

इसी प्रकार प्रस्तुत स्थल में भी ['घटेन तरति' आदि में घट शब्द में अ की] आवृत्ति करके अनेकाच्त्व (द्व्यच्त्व) हो जाता[2] है। [अतः 'घटिकः' आदि में ठन् में बाधा नहीं है। क्योंकि एक अ की दो बार आवृत्ति करने से दो बन जाते हैं।]

---

१. आवृत्तिः = पुनः पुनरुच्चारणम्, तस्याः संख्यानात् = गणनादित्यर्थः।

२. यदि 'अ' एक ही माना जायगा तो 'घट' में भी एक ही अ होगा। इसलिए 'घटेन तरति' इस अर्थ में "नौद्व्यचष्ठन्" (४।४।७१) से ठन् नहीं हो पाएगा। इसके लिए अ—की आवृत्ति करके अनेकाच्त्व उपपादित करके ठन् करना चाहिए।

(आक्षेपभाष्यम्)

भवेदावृत्तितः कार्यं परिहृतम्। इह तु खलु—किरिणा गिरिणेत्येकाज्लक्षणमन्तोदात्तत्वं प्राप्नोत्येव ॥

(समाधानभाष्यम्)

एतदपि सिद्धम् ॥

कथम् ?

लोकतः। तद्यथा—ऋषिसहस्रमेकां कपिलामेकैकशः सहस्रकृत्वो दत्त्वा तया सर्वे ते सहस्रदक्षिणाः संपन्नः ॥

एवमिहाप्यनेकाच्त्वं भविष्यति ॥

'प्रदीपः'

भवेदिति। गिरिणेत्यादावावृत्तिभेदेपि मुख्यमेकाच्त्वं न निवर्तत इति भावः ॥

एतदपीति। लोके पूर्वा संख्या संख्यान्तरेण मुख्येन गौणेन च बाध्यत इत्यर्थः। ऋषिसहस्रमिति। वित्तेन क्रीत्वा-क्रीत्वा प्रत्येकं दत्त्वा-दत्त्वा सहस्रदक्षिणा ऋषयः

'भावबोधिनी'

ठीक है आवृत्ति से [दो अचों वाला कार्य] कार्य सम्पन्न हो जाय। किन्तु 'किरिणा' और 'गिरिणा' इनमें एकाच्लक्षण = एक अच् वाला मान कर होने वाला अन्तोदात्तत्व तो प्राप्त ही होता है।[१]

यह भी सिद्ध है। (अतिव्याप्ति दूर हो जाती है।)

कैसे ?

लोकव्यवहार से। जिस प्रकार—'एक हजार ऋषियों ने एक ही कपिल वर्णा गाय को एक-एक करके हजार बार दान करके उसी से वे एक हजार गायों के दान करने वाले बन गये। इसी प्रकार यहाँ भी अनेकाच्त्व हो जायगा। [एक ही गाय भिन्न-भिन्न ऋषियों से सम्बद्ध होकर एक हजार बन गई। उसी प्रकार 'इ' एक ही है। किन्तु किरि गिरि आदि में दो-दो एक साथ होने से अनेक हो जाती है। इस लिये एकाच्त्वमूलक अन्तोदात्तत्व नहीं होता है। जो भी उत्तरवर्ती (बादवाली) संख्या बनती है वह पहले वाली संख्या का बाध कर देती है। इसलिये यहाँ अनेकाच्त्व में कोई अनुपपत्ति नहीं है।]

---

१. आवृत्ति से एक को दो माना जा सकता है परन्तु उसका मुख्य एकाच्त्व भी रहेगा ही। अतः 'किरि' 'गिरि' में 'इ' एक ही मान कर तृतीयादि विभक्ति में 'किरिणा गिरिणा' आदि में "सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः" (६।१।१६८) से अन्तोदात्तत्व को रोकना कठिन है, अतिव्याप्ति है।

(तृतीयाक्षेपनिराकरणभाष्यम्)

यदप्युच्यते—द्रव्यवच्चोपचाराः प्राप्नुवन्तीति। भवेद् यदसंभवि कार्यं तन्नानेको युगपत्कुर्याद्। यत्तु खलु संभवि कार्यमनेकोऽपि तद्युगपत्करोति। तद्यथा—घटस्य दर्शनं स्पर्शनं वा।

संभवि चेदं कार्यमकारस्योच्चारणं नाम। अनेकोऽपि तद्युगपत्करिष्यति॥

(३५ पूर्वपक्षिसंमतनानात्वसाधकवार्तिकम् ॥ ८ ॥)

॥ * ॥ आन्यभाव्यं तु कालशब्दव्यवायात् ॥ * ॥

'प्रदीपः'

सम्पन्ना इत्यर्थः।[1] सहस्रमृषयः—ऋषिसहस्रमिति कर्मधारये 'सम्पन्ना' इत्यस्य साक्षादृषिभिः सम्बन्धः। षष्ठीसमासे तु[2] सामर्थ्यलक्षणः सम्बन्धः, यथा ब्राह्मणशतं भोज्यतामिति भुजेर्ब्राह्मणैः सह॥

सम्भवि चेति। एकस्यैवाकारस्य युगपत् स्थानकरणनिष्पन्नध्वनिव्यङ्ग्यत्वात्सर्वैरुच्चारणं शक्यमित्यर्थः॥

'भावबोधिनी'

और जो यह कहा जाता है—"द्रव्य के समान व्यवहार प्राप्त होते हैं।" [इस का समाधान यह है कि] जो कार्य असम्भव हो उसे अनेक लोग एक साथ भले ही नहीं कर सकते। परन्तु जो कार्य करना सम्भव है उसको तो अनेक लोग भी एक साथ करते ही है। जैसे—घट को देखना या छूना।

इस अकार का उच्चारण रूपी कार्य तो करना सम्भव है। अतः अनेक लोग भी एक साथ एक अकार [आदि] का उच्चारण कर ही सकते हैं। [अतः अ के एक होने पर भी अनेक लोगों द्वारा उच्चारण करने में कोई अनुपपत्ति नहीं है।]

(वा०) परन्तु [अकार] अन्य-अन्य = नाना है क्योंकि काल और शब्द का व्यवधान है।

---

१. ननु षष्ठीसमासे सहस्र-संख्यायाः विशेष्यत्वात्कथं दानेन सम्बन्धः, कथं वा 'सम्पन्ना' इति बहुवचनान्तेन सामानाधिकरण्यमत आह—'सहस्रमृषय' इति। अतएव 'सर्वे ते' इत्यनेन सामानाधिकरण्यम्। परनिपातो भाष्यप्रामाण्यात्। (उद्द्योतः)

२. सामर्थ्यलक्षण इति। सामर्थ्यकृतो गुणभूतैर्ऋषिभिः सम्बन्ध इत्यर्थः। 'सर्वे ते' इत्यत्र तच्छब्देन गुणभूतस्यापि परामर्शोऽत्र पक्षे बोध्यः। अतएव 'दत्त्वा' इति समानकर्तृके क्त्वा। सहस्रं दक्षिणा गोरूपा येषां दातॄणां ते इत्यर्थः। एतेन गोसहस्रदानफला एव ते, नत्वेकगोदानमात्रफला इति व्यवहारो यथा स्मृतौ तथा प्रकृतेऽपीति भावः। (उद्द्योतः)

(भाष्यम्)

आन्यभाव्यं त्वकारस्य ॥

कुतः ?

कालशब्दव्यवायात् । कालव्यवायाच्छब्दव्यवायाच्च । कालव्यवायात्—दण्ड अग्रम् । शब्दव्यवायाद्—दण्डः ।

नचैकस्यात्मनो व्यवायेन भवितव्यम् । भवति चेद्भवत्यान्यभाव्यमकारस्य ॥

'प्रदीपः'

एवं परिहृतेष्वपि दोषेषु तत्र न्यायेनाकारस्य भेदं साधयति—आन्यभाव्यमिति । अन्यस्य भावोऽन्यभावस्ततो 'ब्राह्मणादिषु' स्वार्थे विधानार्थात्पाठात् स्वार्थे ष्यञ् । अथवा[1] अन्यो भावोऽन्यद्वस्तु, तस्य भाव इति भावे ष्यञ् । इह कालशब्दाभ्यां व्यवधानं भिन्नानां दृष्टम् । यथाऽसंहितायाम्—अ इ उ इत्यादीनां कालव्यवायः, हतिरित्यादौ शब्दव्यवायः । तत्र तकारेण ऋकारेकारयोर्व्यवधानात् । एकत्वे तु व्यवधानं न दृष्टम्, यथा—अ इति केवलोऽकार उच्चार्यते । तस्मादुदात्तादिगुणभेदात्कालशब्दव्यवायाच्च नानात्वमकारस्य । प्रत्यभिज्ञानं चात्वादिसामान्यनिबन्धनम् । यद्यपि शब्दव्यवायोऽस्ति तथापि कालव्यवाय एव द्विधा दर्शितः—शब्दशून्यः शब्दवांश्च ॥

'भावबोधिनी'

(भा०) परन्तु अकार का अन्यत्व = नानात्व होना चाहिए ।

क्यों ?

काल और शब्दों के व्यवधान से । काल के व्यवधान से और शब्द के व्यवधान से [अकार अनेक प्रकार का होना चाहिए] ।

काल के व्यवधान से—दण्ड+अग्रम् । [दण्ड के अन्तिम अ और अग्रम् के आदि अ इन दोनों के मध्य में स्वाभाविक काल से अधिक काल है । अतः कालकृत व्यवधान है ।] शब्द के व्यवधान से—दण्डः । [द के अ और ड के अ के बीच में ण् शब्द का व्यवधान है ।]

और किसी एक में अपना व्यवधान नहीं होना चाहिए । यदि व्यवधान हो जाता है तो वहां अनेक हो जाते हैं । अतः अकार नाना = अनेक है ।[2]

---

१. अत्र पक्षे भावशब्दः कर्तृसाधनः ।

२. जो कोई एक ही होता है उसमें गुणकृत, कालकृत और शब्दकृत किसी प्रकार का भेद और व्यवधान नहीं देखा जाता है । यही उसके एकत्व का परिचायक होता है परन्तु अ में तो उदात्त, अनुदात्त आदि अनेक गुण, स्वाभाविक से अधिक काल और दूसरे वर्णों का व्यवधान होने से अनेकत्व स्पष्ट है ।

(३६ नानात्वहेतुवार्तिकम् ॥ ९ ॥)

॥ * ॥ युगपच्च देशपृथक्त्वदर्शनात् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

युगपच्च देशपृथक्त्वदर्शनान्मन्यामहे—आन्यभाव्यमकारस्येति । यदयं युगपद् देशपृथक्त्वेषूपलभ्यते—अश्वः, अर्कः, अर्थ इति । न ह्येको देवदत्तो युगपत्स्रुघ्ने च भवति मथुरायां च ॥

(एकत्ववादिभाष्यम्)

यदि पुनरिमे वर्णाः—

(३७ एकत्वसाधकवार्तिकम् ॥ १० ॥)

॥ * ॥ शकुनिवत् स्युः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

तद्यथा—शकुनय आशुगामित्वात्पुरस्तादुत्पतिताः पश्चाद् दृश्यन्ते ॥

'प्रदीपः'

यदि पुनरिति । कालशब्दाभ्यां व्यञ्जकानामेव ध्वनीनां व्यवायः, न व्यङ्ग्यस्येति व्यक्तिस्फोटवादिनो भावः ॥ यथा शकुनिः पङ्क्तेरादौ स्थित आशुसंचारात्तदन्ते भवति, एवं व्यञ्जकध्वनिसन्निधानासन्निधानाभ्यामकारस्योपलम्भानुपलम्भावित्यर्थः ॥

'भावबोधिनी'

(वा०) और एक साथ (एक ही काल में) अलग-अलग देशों=स्थानों मे दिखाई देने से भी [अकार अनेक हैं] ।

(भा०) [अकार के] एक ही साथ अलग-अलग (अनेक) स्थानों पर दिखाई देने से हम मानते हैं—अकार नाना = अनेक हैं । चूंकि यह अ एक ही साथ एक ही काल में—अश्वः, अर्कः, अर्थः—इनमें भिन्न-भिन्न स्थानों में उपलब्ध होता है । क्योंकि अकेला एक देवदत्त स्रुघ्न और मथुरा में एक ही साथ एक ही काल में नहीं हो सकता । [और अ अनेक स्थानों में एक ही साथ प्रयुक्त दिखाई देता है । इससे उसका नानात्व सिद्ध है । यहाँ 'अर्कः, अश्वः, अर्थः आदि शब्द ही देश समझने चाहिए । जैसे एक होने पर देवदत्त एक काल में केवल मथुरा या स्रुघ्न में हा देखा जाता है, दोनों स्थानों पर नहीं, इसलिए 'एक' माना जाता है । किन्तु अ तो एक साथ अनेक स्थानों पर मिलता है । अतः वह एक नहीं, अनेक माना जाना चाहिए ।]

तो फिर यदि ये वर्ण—

(वा०) पक्षियों के समान हो जावें ।

(भा०) जैसे पक्षिगण आगे की ओर उड़े हुए भी तेज गति वाले होने से

एवमयमकारो 'द' इत्यत्र दृष्टो'ण्ड' इत्यत्र दृश्यते ॥

(नानात्ववादिभाष्यम्)

नैवं शक्यम्। अनित्यत्वमेवं स्यात्। नित्याश्च शब्दाः। नित्येषु च शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः। यदि चायं 'द' इत्यत्र दृष्टो'ण्ड' इत्यत्र दृश्येत, नायं कूटस्थः स्यात् ॥

(एकत्ववादिभाष्यम्)

यदि[1] पुनरिमे वर्णाः—

(३८ एकत्ववादिमतवार्तिकम् ॥ ११ ॥)

॥ * ॥ आदित्यवत् स्युः ॥ * ॥

'प्रदीपः'

[1]जातिस्फोटवादी व्यक्तिस्फोटवादिनं पर्यनुयुङ्क्ते—अनित्यत्वमिति। भवता जातिस्तावन्नाभ्युपगम्यते, व्यक्तेरेवैकत्वनित्यत्वप्रतिज्ञानात्। तच्चैकत्वं नित्यत्वं च नोपपद्यते, 'दण्ड' इत्युदात्तानुदात्तस्वरादिभेदेन भिन्नत्वात्। न ह्येकस्यैवोदात्तत्वपरित्यागेनानानुदात्तत्वं युक्तम्, रूपान्तरपरिग्रहादनित्यत्वप्रसङ्गात्। तस्माद्भिन्ना एवानित्या एवाकाराः, प्रत्यभिज्ञा त्वाकृतिनिबन्धनेति जातिस्फोटपक्षोऽत्र व्यवस्थितः ॥

'भावबोधिनी'

पीछे की ओर दिखाई देते हैं अर्थात् आगे पीछे सर्वत्र दिखाई पड़ते हैं, वैसे ही यह 'अकार' 'द' इसमें दिखाई दिया हुआ 'ण्ड' इसमें भी दिखाई देता है। [अतः एक ही है।]

ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसा [एक स्थान से दूसरे स्थान पर] मानने पर तो [शब्दों की] अनित्यता होने लगेगी। और शब्द नित्य हैं। नित्य शब्दों में वर्ण कूटस्थ (= लोहघन के समान अविकारी रहने वाले), अविचाली (=पर्वतादि के समान किसी दूसरे स्थान पर न ले जा सकने योग्य), अनपाय (ह्रासरहित) अनुपजन (वृद्धिरहित) अविकारी (विकाररहित) होने चाहिए। यदि यह अ 'दकार' इसमें देखा गया (= सुना गया) 'ण्ड' यहाँ भी दिखाई दे (= सुनाई दे), तब तो यह कूटस्थ नहीं रह सकता। [अतः अनित्यत्व-प्रसक्ति के भय से शकुनिवत् मानना उचित नहीं है।]

तो फिर यदि ये वर्ण—

(वा०) आदित्य = सूर्य के समान होवें।

---

१. जातिरेव एका, शब्दव्यक्तयस्त्वनन्ता इति वादोत्यर्थः।

२. पुनरप्येकत्वनित्यत्वे साधयति भाष्ये—यदि पुनरित्यादिना। एकस्यैवाकारस्यानेकदेशेषूपलब्धिरादित्यस्येव सम्भवतीति न तावद् व्यक्तिभेदः सिध्यति। अन्यथा आदित्यस्याप्यनेकत्वापत्तिरनित्यत्वापत्तिश्च। (उद्द्योतः)

(भाष्यम्)

तद्यथा—एक आदित्योऽनेकाधिकरणस्थो युगपद्देशपृथक्त्वेषूपलभ्यते ॥

(नानात्ववादिभाष्यम्)

विषम उपन्यासः—नैको द्रष्टा आदित्यमनेकाधिकरणस्थं युगपद् देशपृथक्त्वेषूपलभते । अकारं पुनरुपलभते ॥

(एकत्ववादिभाष्यम्)

अकारमपि नोपलभते ।

किं कारणम् ?

[1]श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित [2]आकाशदेशः शब्दः । एकं

'प्रदीपः'

व्यक्तिस्फोटवाद्याह—अकारमपीति । श्रोत्रोपलब्धिरिति । श्रोत्रोपलब्ध्याकाशदेशत्वं शब्दस्य प्रतिपादयति । आकाशप्रदेशविशेषस्य श्रोत्रत्वादिन्द्रियाणामसम्बद्धविषयाग्रहणाच्छ्रोत्रस्य च निष्क्रियत्वाद् गमनाभावादाकाशदेशत्वं शब्दस्यावश्यमभ्युपेयम् । बुद्धिनिर्ग्राह्य इति । पूर्वपूर्वध्वन्युत्पादिताभिव्यक्तिजनितसंस्कारपरम्पराप्राप्तपरिपाका-

'भावबोधिनी'

(भा०) यह इस प्रकार है—जैसे एक ही सूर्य अनेक अधिकरणों = स्थानों पर स्थित रहता हुआ भिन्न-भिन्न अनेक स्थानों पर एक साथ उपलब्ध होता है। [सूर्य एक ही है किन्तु उदय, अस्त आदि में अलग-अलग स्थानों पर रहता हुआ अनेक लोगों द्वारा देखा जाता है, वैसे ही एक ही 'अ' एक साथ अनेक स्थानों पर देखा जा सकता है ।]

यह द्रष्टान्त सही नहीं है । क्योंकि एक ही द्रष्टा भिन्न-स्थानों में स्थित सूर्य को एक साथ अलग-अलग स्थानों में नहीं (देख) पाता है। [किसी एक ही स्थान पर देख सकता है ।] परन्तु अकार को तो देख पाता है। [सुन सकता है ।] अतः सूर्य के दृष्टान्त से अकार को एक मानना सम्भव नहीं है ।]

[अकार का एकत्ववादी तर्क देता है—] अकार को भी नहीं प्राप्त करता है। [नहीं सुन सकता है ।]

क्या कारण है ?

शब्द श्रोत्र देश में उपलब्ध होने वाला, बुद्धि द्वारा गृहीत होने (समझा जाने)

१. श्रोत्रोपलब्धिः = श्रोत्रे एव उपलब्धिर्यस्येत्यर्थः, करणक्तिन्नन्तेन समानाधिकरणबहुव्रीहिर्वा । प्रयोगेणाभिज्वलितः = ध्वनिनाऽभिव्यक्तस्तेन न सर्वदोपलम्भः । ध्वनिः = वर्णःश्रूयमाणः ।

२. एकं च पुनराकाशमिति । एवञ्चैकस्मिन् आम्रफले एक एव यथा रूपरस-

च पुनराकाशम्[1] ॥

(नानात्ववादिभाष्यम्)

आकाशदेशा अपि बहवः । यावता बहवः, तस्मादान्यभाव्यमकारस्य ॥

(३९ सिद्धान्तसमाधानवार्तिकम् ॥ १२ ॥)

॥ ❀ ॥ आकृतिग्रहणात्सिद्धम् ॥ ❀ ॥

'प्रदीपः'

न्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्य इत्यर्थः ॥ प्रयोगेणेति । प्रयुज्यत इति प्रयोगः = ध्वनिस्तेनाभि-व्यक्तः ॥ देशभेदेन तु प्रतिभासो निम्नदेशावस्थितपुरुषोदीरिताभिव्यञ्जकध्वनिकृतः ॥

भेदवाद्याह—आकाशदेशा इति । यथा[2] पृथिव्या एकत्वेऽपि स्रुघ्नमथुरादिदेश-व्यवहार एवमाकाशस्यापि संयोगिघटादिपदार्थावच्छेदेन भेदव्यवहार इत्यर्थः ॥

एवं व्यक्तिस्फोटपक्षे निराकृते जातिस्फोटपक्ष एवाश्रीयते—आकृतिग्रहणादिति ।

'भावबोधिनी'

वाला, प्रयोग = ध्वनि से अभिज्वलित (ध्वनि से अभिव्यक्त होने वाला) और आकाशरूपी देश में रहने वाला है । और आकाश एक ही है । [अतः एक होने के कारण उसमें उपलब्ध होने वाला शब्द भी एक ही है, अनेक नहीं है । औपाधिक भेदों से जैसे आकाश का एकत्व नहीं नष्ट होता उसी प्रकार अकारादि का भी एकत्व नष्ट नहीं होता है ।]

आकाश देश भी बहुत से हैं । चूंकि आकाश देशरूपी स्थान अनेक हैं अतः उनमें रहने वाला अकार भी अनेक प्रकार का है । [अतः सर्वत्र औपाधिक भेद से ही नानात्व जैसे होता है वैसे ही आकाश का भी होगा, अतः उसमें रहने वाला अकार भी अनेक प्रकार का होगा ।]

(वा०) आकृति = जाति के ग्रहण से सिद्ध है ।

गन्धादिस्तथा तदाश्रयस्यैकत्वात्तद्गतः शब्दोऽप्येक एव । तत्रैव च तस्योपलम्भ इति भिन्नदेशोपलम्भ एवासिद्ध इति भावः ।

१. औपाधिको भेदस्तु आकाशस्येव न शब्दस्याप्येकत्वे बाधकः । एवं संसर्गा-नित्यतापि तस्येव नास्यापि बाधिका, तस्यापि नीलं नभ इत्यादि संसर्गानित्यता-प्रतीतेरित्याशयः ॥ अत्र 'शब्दः' इत्येकवचनेन स्फोटस्यैकत्वमखण्डत्वं च ध्वनितम् । (उद्द्योतः)

२. एवञ्चोपाधिकभेदेन भेदो दुर्निवारः । सर्वत्र भेद औपाधिक एव, स एव च व्यवहारोपयोगीत्याशयः । (उद्द्योतः)

(भाष्यम्)

अवर्णाकृतिरुपदिष्टा सर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति । तथेवर्णाकृतिः,तथोवर्णाकृतिः॥

(सिद्धान्तसाधकवार्तिकद्वितीयखण्डम् ॥ १२ ॥)

॥ ❀ ॥ तद्वच्च तपरकरणम् ॥ ❀ ॥

(भाष्यम्)

एवं च कृत्वा तपराः क्रियन्ते—आकृतिग्रहणेनातिप्रसक्तमिति ॥

'प्रदीपः'

अकारजातिः सर्वप्रदेशेषु निर्दिश्यते । नान्तरीयकस्तु व्यक्तिनिर्देशः । तत्र प्रत्याहारेऽकारजातेर्निर्देशात्तस्याश्च विवृतत्वप्रतिज्ञानाच्छास्त्रान्ते तस्या एव प्रत्यापत्तिविधानम् । तदेवं जातिनिर्देशादनुवृत्तिनिर्देशस्थेनाकारेण ग्रहणमऽकारस्य सिद्धम् । 'अष्टन आ विभक्तावि'त्यत्र सत्यपि जातिनिर्देशे दीर्घोच्चारणसामर्थ्याद्ह्रस्वस्य ग्रहणं न भवति । अन्यथा ह्रस्वमेवोच्चारयेद् । 'प्लुतश्च विषये स्मृतः' इति न्यायात् प्लुतस्याग्रहणम् ॥

तद्वच्चेति । [1]स आकृतिपक्षो यत्रास्ति तद्वत् । अथवा वत्यन्तमेतत्,तत्र न्यायेनाकृतिपक्षस्य स्थापितत्वात्तपरेष्वपि स एव पक्षः स्थित इत्यर्थः ॥

'भावबोधिनी'

(भा०) अवर्ण (अत्व) जाति उपदिष्ट (उच्चारित) है, यह सम्पूर्ण अवर्ण का ग्रहण करायेगी । इसी प्रकार इवर्ण और उवर्ण (इत्व और उत्व) जाति ही उपदिष्ट है । [ये भी सम्पूर्ण इवर्णों और उवर्णों का ग्रहण करायेंगी । अतः यहाँ वर्ण-समाम्नाय में व्यक्तिपक्ष नहीं है अपि तु जातिपक्ष है । अतः अत्वादि जातिविशिष्ट सभी का ग्रहण होने से कोई दोष नहीं है और व्यक्तिपक्ष मान कर होने वाला आन्यभाव्यत्व-अनेकत्व भी नहीं है ।]

(वा०) और इसीलिए तपरकरण है ।

(भा०) [सर्वत्र जातिपक्ष है, उसमें अतिप्रसक्ति होती है—] इसीलिए तपर किये जाते हैं ।

विमर्श—यदि आकृतिग्रहण से अतिप्रसङ्ग की सम्भावना न होती तो विभिन्न सूत्रों में तपरकरण की क्या आवश्यकता थी । अतः तपरकरण आकृति-पक्ष सूचित करता है ।

---

१. सादृश्ये वतिभ्रमं व्यावर्त्तयति—स इति । अथवा वत्यन्तमेतदिति । तदा 'तद्वत्' इत्यस्य 'अस्य च्वौ' इत्यादिवदित्यर्थः । (उद्द्योतः)

(सिद्धान्तदूषकभाष्यम्)

ननु च सवर्णग्रहणेनातिप्रसक्तमिति कृत्वा तपराः क्रियेरन् ॥

(सिद्धान्तभूषकभाष्यम्)

प्रत्याख्यायते तत्॥सवर्णेऽण्ग्रहणमपरिभाष्यमाकृतिग्रहणादनन्यत्वाच्च॥इति॥

(४० सिद्धान्तवार्तिकम् ॥ १३ ॥)

॥ ॥ हल्ग्रहणेषु च ॥ ॥

(भाष्यम्)

किम् ?

"आकृतिग्रहणात्सिद्धम्" इत्येव। 'झलो झलि' (८।२।२६) अवात्ताम्,

'प्रदीपः'

हल्ग्रहणेषु चेति। अवश्याश्रयणीयतामाकृतिपक्षस्य दर्शयति। व्यक्तिपक्षे ह्येकस्यैव

'भावबोधिनी'

जातिपक्ष मानने से अष्टादशविध अकार अकार ही माना जायगा, सभी में सभी कार्य अतिप्रसक्त होते हैं। इसलिए 'अत् एङ् गुणः' आदि में तपर लगाकर "तपरस्तत्कालस्य' इस नियम से केवल एकमात्रिक लिया जाता है। जातिपक्ष न होने पर ऐसे स्थलों पर दूसरे का ग्रहण प्रसक्त ही नहीं है, तब उसको रोकने के लिए तपरकरण की कोई आवश्यकता ही नहीं है। वह व्यर्थ होकर सर्वत्र जातिग्रहण ज्ञापित करता है।

(अनु०) क्यों, सवर्णग्रहण के कारण सर्वत्र अतिप्रसक्ति होती है, उसी को दूर करने के लिए तपरकरण किये गये माने जाने चाहिए।

["अणुदित्" सूत्र से सभी का ग्रहण प्रसक्त है, उसे रोकने के लिए तपर किये गये हैं वे जातिपक्ष के ज्ञापक नहीं हो सकते।]

वह (अण् का ग्रहण) तो प्रत्याख्यात है—"अणुदित्" इस सूत्र में 'अण्' ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आकृति = जाति के ग्रहण से सभी भेदों का ग्रहण हो जाता है और अकार के दीर्घादि भेदों से उसमें भिन्नता नहीं है, अकार एक ही है। [अतः जब अण्ग्रहण का प्रत्याख्यान है तब कहीं अतिप्रसक्ति नहीं होगी, उसके वारणार्थ तपरकरण की क्या आवश्यकता? इसलिए तपरकरण द्वारा जातिपक्ष का समाश्रयण ही सिद्ध करना उचित है।]

(वा०) और हल् का ग्रहण जिन सूत्रों में है उनमें भी [आकृतिग्रहण से निर्वाह हो जायगा]।

(भा०) [हल्ग्रहण वाले सूत्रों में भी] क्या [हो जायगा] ?

आकृति = जाति के ग्रहण से ही सब सिद्ध हो जायगा। उदा० "झलो झलि"

अवात्तम्, अवात्त । यत्रैतन्नास्ति—अण् सवर्णान्गृह्णाति—इति ॥
(४१ सिद्धान्तसमाधानवार्तिकम् ॥ १८ ॥)

॥ ❀ ॥ रूपसामान्याद्वा ॥ ❀ ॥

(भाष्यम्)

रूपसामान्याद्वा सिद्धमेतत् । तद्यथा—'तानेव शाटकानाच्छादयामः, ये मथुरायाम्' 'तानेव शालीन् भुञ्ज्महे, ये मगधेषु' 'तदेवेदं भवतः कार्षापणं, यन्मथुरायां गृहीतम्' अन्यस्मिंश्चान्यस्मिन् रूपसामान्यात् 'तदेवेदम्' इति भवति । एवमिहापि रूपसामान्यात् सिद्धम् ॥ १ ॥

'प्रदीपः'

तकारस्यानुकरणं खफछठथेत्यत्र तकार इति द्वयोस्तकारयोर्झल्त्वं न स्याद्, अपि त्वेकस्यैवेत्यवात्तामित्यत्र सिज्लोपो न स्याद्, 'अभित्था' इत्यादावेव स्यात् ॥

रूपसामान्यादिति । व्यक्तिनिर्देशेऽपि भेदापरामर्शेनं लोकवदभेदव्यवहारोऽस्तीति सिद्धमिष्टम् । व्यक्तिव्यतिरिक्तं तु सामान्यं भवतु मा वा मूत्सर्वथा लोक इव शास्त्रे व्यवहार इत्यर्थः ॥ १ ॥ (इति जातिपक्षः)

'भावबोधिनी'

(पा० सू० ८।२।२६, झल् से परे सकार का लोप होता है झल् परे रहते ।) अवात्ताम्, अवात्तम्, अवात्त—आदि में जहाँ अण् न होने से सवर्ण का ग्रहण नहीं हो सकता । [जातिपक्ष आवश्यक है ।]

विमर्श—भाव यह है कि व्यक्तिपक्ष में प्रत्येक वर्ण स्वतन्त्र होता है । अतः कोई एक तकार ही झल् माना जायगा । फलतः अवात्+स्+ताम् आदि में दोनों त् भिन्न हैं, झल् एक ही होगा । तब सिच् के स् का लोप नहीं होगा । चूंकि अण् नहीं है अतः 'अणुदित्' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकती । इसलिए आकृति=जाति पक्ष मानकर ही स् का लोप आदि कार्य करना संभव है । वस् लुङ् में अट्, सिच्, वृद्धि—अवास्+स्+ताम् में 'सः' स्यार्धधातुके"सूत्र से स् का त् होता है । और अबाघ्ध् स्+ताम् आदि में झल् से परे स् के परे झल् होने से "झलो झलि" इस सूत्र की व्यर्थता भी नहीं है । अतः जातिपक्ष के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं है । यह जातिपक्ष अच् और हल् दोनों में मानना उचित है ।

(वा०) अथवा रूप की समानता से सिद्ध होगा ।

(भा०) अथवा रूप की समानता से यह सिद्ध हो जाता है। जैसे—'हम उन्हीं साड़ियों (शाटकों) को पहन रहे हैं, जो मथुरा में थी; 'हम उन्ही चावलो को खा

पृ० १०९ से १४० तक का उद्द्योत

[पृ० १०९] ननु चतुर्दशसूत्र्याः प्रयोजनमुक्तमेव तत्किं पुनरत्र तद्ग्रहणेनेत्याशङ्क्याह—सर्वेति ॥ विशेषेण । तत्तद्रूपेण ॥ प्रत्येकं वर्णेभ्यो विभक्तिमाशङ्क्याह—स्वरूपेणेति । शब्दजन्यज्ञानविषयो हि शब्दस्यार्थः । एवं च स्वरूपमपि स्वजन्यबोधविषयत्वेनार्थः । अनुकार्यमर्थ इति तु स्पष्टमेव । एवं विद्यमानस्याप्यर्थवत्त्वस्याविवक्षितत्वादर्थवत्सूत्रेऽग्रहणादित्यर्थः । स्वरूपस्य श्रोत्रगृहीतस्यैव शाब्दे भानोपपत्तौ न तत्र शक्तिः कल्प्या । अनुकार्यं च सादृश्येनोपस्थापयतीति न तत्रापि वृत्तिः । वृत्त्यार्थबोधकत्वं चार्थवत्त्वमर्थवत्सूत्रे निविष्टमिति भावः ॥ अनुकरणत्वभङ्गान्न विभक्तिरिति तत्त्वम् । सौत्रत्वाद्वा । कारप्रत्ययोऽपि बाहुलकान्न ॥ स्वरसंधिस्त्विति । सौत्रत्वात्संहिताया अविवक्षणाद्वेति भावः ॥ अजादिसंज्ञानामनिष्पादादिति तु चिन्त्यम्, वर्णोपदेशे इत्संज्ञायामच्प्रत्याहारे च निष्पन्ने प्रवर्तमानानां यणादीनां सुध्युपास्य इत्यादौ तटस्थ इवोदेश्यतावच्छेदकाक्रान्ते वर्णोपदेशादावपि प्रवृत्तेर्दुर्वारत्वात् । अन्यथा तुल्यास्यप्रयत्नमित्यादौ सवर्णदीर्घादि न स्यात् ॥ अत्र सूत्रे ॥ तत्रेति पाठेऽप्ययमेवार्थः ॥ वाक्यापरिसमाप्तिन्यायेनेह ग्रहणकशास्त्राप्रवृत्तेः सावर्ण्येऽपि नात्र तद्ग्रहणमिति व्यर्थो विवृतोपदेशोऽत आह—प्रदेशेष्विति । अकः सवर्ण इत्यादौ । तत्राप्यकारः संवृत एवेति भावः ॥ ननु विवृतपदस्य गुणिपरत्वे सविशेषणत्वात् समासो न स्यादत आह–विवृतस्य गुणस्येति ॥ भाष्ये कर्तव्य इत्यस्य प्रतिज्ञेय इत्यर्थः । एतेन तस्योच्चारयितुमशक्यत्वमित्यपास्तम्॥ भाष्ये किं प्रयोजनम्? इत्यत्र उद्दिश्येत्यध्याहारः । 'कर्तव्य' इत्यनुषङ्गश्च॥

[पृ० ११०] नन्वाकारग्रहणं सवर्णग्रहणमेवेति भेदाभावात्कथं तस्य करणत्वमत आह—येन शास्त्रेणेति ॥

[पृ० १११] नन्वाकृतिभेदात् कथं तत्पक्षेऽप्यकारेणाकारग्रहणमत आह—आकारस्यापीति । केवलकण्ठ्यत्वे सति स्वरत्वमत्वजातिव्यञ्जकमिति दीर्घप्लुतयोरपि सेति भावः ॥ प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमायां यथाश्रुतेऽन्वयो न जायतेऽत आह–अत्र चेति ॥

उत्तरेऽपि तर्हि प्रथमा कुतो नेत्यत आह—प्रयोगाभावादिति । निमित्तादिशब्दप्रयोगाभावेऽपि तदर्थे गम्यमाने स्यादेव विभक्तिरत आह—प्रायग्रहणादिति ॥ विभाषा गुणे इति । निमित्तेत्यादिवार्तिके सर्वासामित्येतन्न पञ्चमीतृतीयाविधायकम्, किं तु हेताविति विभाषागुणेति सिद्धयोस्तयोरत्याभिरबाधायानुवादकमेवेति भावः ॥ विवारयतीति । स चाभ्यन्तरप्रयत्नः ॥ दोषापत्तिरिति । दण्डाढकमित्यादौ दीर्घानापत्तिर्दोष इत्यर्थः ॥

[पृ० १११] ननु प्रयत्नभेदेऽपि जातिसद्भावात् स्यादेव ग्रहणमत उक्तम्—व्यक्तिपक्ष इति ॥

[पृ० ११२]ननु कालस्य व्यापकत्वाद् बाह्यत्वेन समाधानमयुक्तम्। किं च कालो न प्रयत्न इति तद्भेदे कथं सवर्णत्वाप्राप्तिरत आह—प्रयत्नाभिनीति। बाह्यत्वं व्युत्पादयति—प्रसिद्धेति। प्रसिद्धपरिमाणं यद्वस्त्वन्तरगतं परिच्छेदकक्रियान्तरं परिच्छेद्यक्रियापेक्षयाऽन्यत्तदपेक्षणादित्यर्थः। एवं च बाह्यपरिच्छेदकक्रियापेक्षया बाह्यत्वोक्तिरिति भावः—क्रियैव कालो नातिरिक्त इति मते इदम्॥ अतिरिक्तः क्षणसमूहः काल इति मते परिहरति—अथ वेति। अयं भावः—नाभिप्रदेशावच्छिन्नयत्नेन प्रेरितो वायुस्तत्तत्स्थानाभिघातोत्तरं वर्णाभिव्यञ्जक इति शिक्षादौ स्पष्टम्। वायोरल्पत्वाधिक्यानि च ह्रस्वत्वदीर्घत्वादिरूपकालव्यञ्जकानीति॥ ननु ह्रस्वदीर्घयोः कालभेदाद् 'अतोभिस' इत्यादौ दीर्घग्रहणवद्विलम्बितवृत्त्योच्चारितस्य ह्रस्वाकारस्यापि द्रुतमध्यापेक्षया कालाधिक्याद् ऐस्भावविधायके ग्रहणानापत्तिरत आह—द्रुतादीति।

[पृ० ११३] उपदिश्यमानस्येत्यत्र वार्तिककृतः कर्तृत्वे पक्षयोर्भेदो न स्यादत आह—किं सूत्रकारेणेति। सूत्रकारो महेश्वरो वेदपुरुषो वा 'येनाक्षरसमाम्नायमि' त्याद्यैतिह्यादित्याहुः॥ ननु प्रत्यक्षतोऽकारे श्रुते तद्गतगुणस्यापि ज्ञातत्वात्प्रश्नोऽयमसङ्गतोऽत आह—दुरवधारत्वादिति। विवृतत्वादीनां श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्वाभावादिति भावः॥

[पृ० ११३] अन्यथा = संवृतत्वे। स्वरूपप्रच्यवे हि पुनः संवृतविधानं युक्तं स्यादिति भावः॥

[पृ० ११४] प्रयोग एवेति। अतिखट्व इत्यादिप्रयोगे ह्रस्वेनान्तरतम्याद्विवृतोऽकारः प्राप्तः संवृत एव भवत्वित्यर्थं प्रत्यापत्तिवच इति भावः॥ नन्विति। अचश्चेत्युक्तेरच एव ह्रस्वत्वेन भाव्यमिति भावः। गोस्त्रियोरित्यत्रैतद्वारणार्थमेवोपस्थितिः स्यादिति तात्पर्यम्॥ उदीचामात इति॥ न चापोन्यतरस्यामिति ह्रस्वे चरितार्थमिदम्। न चात्राच्परिभाषोपतिष्ठते, फलाभावादिति वाच्यम्; शास्त्रस्याल्पविषयतापत्तेर्गोशब्दसाहचर्येण स्त्र्यंशेऽप्यचश्चेत्यस्याप्रवृत्तेश्च। उदंशे हि फलाभावान्न प्रवर्तते इति दिक्॥

[पृ० ११५] नन्वाद्यपक्षे प्रयोजनान्वाख्यानमात्रपरत्वं, द्वितीये विवृतोपदेशपरत्वमपीति विशेषस्य स्पष्टत्वमत आह—विवृतोपदेश इत्यत्रेति॥

[पृ० ११५] पुत्रपिकेत्यत्र वुनः प्राग् मयूरव्यंसकादित्वात्समासः। अहो इति अहमित्यर्थे। तत्र प्रयोजनान्वाख्यानमित्येव न्यायः, प्रत्यापत्तेः। अकर्तृके आज्ञापादनाभावाच्चेत्याहुः॥

[पृ० ११६]प्रत्यापत्त्या अइउणित्यत्रैव प्रक्रियादशायां सर्वत्राकारो विवृतः प्रतिज्ञात इत्यजानन् शङ्कते—भाष्ये—तस्य विवृतोपदेशादिति। तस्येत्यस्य वर्णसमाम्नायस्थस्येत्यर्थः॥

संवृतस्येति । धात्वादिस्थस्येत्यर्थः ॥ ननु अइउणित्यादौ कस्यानुकरणमित्यत्र विनिगमकाभावादाह—स्वरूपपदेति । स्वरूपपदार्थकत्वं यथा तथोक्तम् ॥ भाष्ये विवारभेदादिति । प्रयत्नभेदादित्यर्थः ॥ ग्राहकस्य विवृतत्वाद् ग्राह्यस्य संवृतत्वादिति भावः ॥

[पृ० ११७] [भाष्ये] प्रत्याहारे इति । संग्राहके शास्त्र इत्यर्थः ॥

[पृ० ११७] वक्तव्यमिति । एवं च प्रयत्नभेदेनासवर्णस्यापि अत्वजात्याक्रान्तस्य विवृतेनाकारेण ग्रहणं ज्ञाप्यत इत्यर्थः ॥ यद्यप्येकोऽपीति । प्रत्युच्चारणं वर्णान्यत्वादाक्षरसमाम्नायिकस्य प्रयोगेऽभावादिति भावः ॥ आदिरन्त्येनेत्यस्य चान्त्यसदृशेन सहोच्चार्यमाण आदिसदृश इत्याद्यर्थः । तत्र ककारादिचिह्नेनागादिशब्दस्थस्तत्सदृशत्वाद्विवृत एव । सादृश्यं च व्यक्तिभेदे सति सर्वधर्मसाम्यप्रयुक्तं ग्राह्यम् । तस्य च प्रयोगस्थेऽभावेप्यनेन तद्ग्रहणं ज्ञाप्यत इति तात्पर्यम् । केचित्तु—देवदत्त अजस्तीत्यादौ प्रत्याहारलिङ्गेनैक आक्षरसमाम्नायिकोऽस्ति, तदर्थं भाष्ये द्वयोरित्युक्तमित्याहुः॥ भाष्ये युगपत्समवस्थानमिति । अस्य प्रयोगे इत्यादिः ॥

[पृ० ११९] एवमर्थ इति । वृत्तावेवंशब्दः प्रकारवति वर्तते इति बहुव्रीहिः ॥ प्रातिपदिकानीति । धातुप्रत्यययोरप्युपलक्षणं बोध्यम् । सर्वाण्यग्रहणानि प्रातिपदिकादीनि विवृताकारयुक्तानि पठनीयानीत्यर्थः ॥ तद् गुरु भवति तस्मादिति । यतः सर्वोच्चारणं गुरु अतो धात्वादिस्थ इति वाच्यमित्यर्थः ॥ ननु धातूनां बहुधा पाठाद् धात्वादीति अयुक्तमत आह—अग्रहणेति । प्रातिपदिकेत्युपलक्षणम् ॥ धात्वादिस्थस्यापीति । पठितधात्वादिस्थस्यापीत्यर्थः । एतेनाग्रहणधात्वादीत्येव वक्तुमुचितमित्यपास्तम् ॥ संवृतस्यैवेति । एवं च धात्वादिस्थश्च विवृतवत् कार्यं लभत इत्यतिदेशोऽयमिति भावः । अन्यथेति । गुणोच्चारणाद्दोषोच्चारणे यत्नाधिक्यमिति भावः ॥

[पृ० १२०] ननु संवृतयोस्तयोरभावेऽपि संवृतस्य विवृतौ न स्यातामेव । आन्तरतम्याभावात् । न चेको यणिव एच इगिवान्तरतमावपि भविष्यतः । सामर्थ्येन तत्र तथाङ्गीकारेऽपि खट्वाढकमित्यादौ चरितार्थस्याकः सवर्ण इत्यादेर्विषये तथा कल्पने मानाभावादत आह—असत्यपीति । सावर्ण्ये इति । आन्तरतम्ये इत्यर्थः । एवं चातो दीर्घ इति, अतो रोरित्यत्राप्लुतादित्यतो विशेषणं च सामान्यापेक्षं ज्ञापकमिति भावः ॥

[पृ० १२०] संवृतदीर्घादिवदनुनासिकयवलानामपि वेदलोकयोरसत्त्वं मन्यमान आह—[भाष्ये] स्थानी प्रकल्पयेबित्यादि ॥

[पृ० १२१] तद्वत् संवृतौ दीर्घप्लुतावपि कुतो न सन्ताविस्यत आह—अशक्यत्वाविति ॥ केचित्तु शिष्टसंमतत्वात्ते सन्तः । इमौ तु न तथेति भाव इत्याहुः ॥

सन्ति हि यण इति [भाष्ये] यण इति बाहुल्याभिप्रायेण, रेफस्यानुनासिकत्वा-भावादिति बोध्यम् ॥

[पृ० १२२] नन्वीकारोकारयोः कथं संवृतत्वमत आह—ख्वृतः संवृता इति । ईऊऋत इत्यर्थः ॥ क्वचित्तु ख्वत इति पाठः । ईकारोकाराकारा इत्यर्थः ॥

[पृ० १२३] एवं चाद्यप्रयोजनार्थमेव सर्वत्राकारस्य विवृतत्वं प्रतिज्ञेयमिति स्थिते शङ्कते [भाष्ये] तत्रानुवृत्तीति ॥ एतद्विशेषणोपादानस्य फलमाह—अकः सवर्णं इति ॥ अनणत्वादिति । अक्षरसमाम्नायेऽपठितत्वादाकारस्यैवानणत्वमित्यर्थः ॥ प्रत्यु-च्चारणं वर्णभेदेऽपि "अक इत्यादौ ककारेण चिह्नेनैतदनुकरणत्वानुमानमिति भावः ॥ तदनुगत इति । साक्षाल्लक्ष्यसंस्कारकबोधजनक इत्यर्थः ॥

[पृ० १२४] ननूदात्तादिविरुद्धधर्माध्यासाद्भेदः स्यादत आह—उदात्तादीति ॥ प्रतिविम्बप्रतिभासभेदवदिति । भिन्नभिन्नाकारप्रतिबिम्बप्रतिभासवदित्यर्थः ॥ इकारा-दीनामपीति । सर्वध्वनिभिरेकस्य स्फोटस्यैव तत्तद्रूपेणाभिव्यञ्जनात् । तत्तद्रूपाभिव्यक्ति-कृतश्च परस्परं भेदव्यवहारोऽपीपि भावः ॥

[पृ० १२४–२५] [भाष्ये] अनुबन्धसंकर इति । अस्यानुबन्धकार्यसंकर इत्यर्थः ॥ ङीबादीति । टिड्ढेत्यादिना । आदिना णित्वप्रयुक्तयुक् । पर्यायेण कित्वणित्वप्रयुक्त- कार्ययोरप्यविरोध इति भावः ॥

[पृ० १२५] [भाष्ये] अनुपपत्तिरिति । इष्टव्यवस्थाया इति भावः ॥ अव्याप्त्य-तिव्याप्त्योः प्रसङ्गादिति तात्पर्यम् ॥ प्रतिषेधादिति । सावकाच इति प्राप्तस्येत्यर्थः ॥ ठंस्त्विति । नौद्वयचष्ठन्निति विहितः ॥

[पृ० १२६-२७]करणत्वेनेति । अधिकरणस्य"करणत्वविवक्षयेत्यर्थः ॥ सामान्यरूप-तयेति । विषयत्वरूपेणेत्यर्थः ॥ भाष्यकारस्त्विति । एकविषये नानालिङ्गकरणादर्शना-द्विषयभेदेन तदित्यत्र तात्पर्यम् ॥ गुणा उदात्तादय इति भ्रमं व्यावर्तयति—गुणा अनुबन्धा इति । तेषां गुणत्वमुपपादयति—कार्ययिति ॥

[पृ० १२७] व्याप्रियते इति । विषयत्वेन गृह्णातीत्यर्थः ॥ एककर्तृकत्वादिति । स्यादित्यनेनेत्संज्ञारूपैककर्तृकत्वादित्यर्थः ॥

[पृ० १२८] नानेति स्थिते कथमन्यथाव्याख्यानमत आह—नानाशब्दमिति ॥ नियमादिति । ज्ञापकत्वे हि विध्यर्थत्वमिति भावः ॥

[पृ० १२९] यथा लोके इति । प्रभ्वाज्ञया गूढचारादिरिति शेषः ॥ एवंच लोक-व्यवहारदृष्टान्तेनैवासंकरः सिद्ध इत्यर्थः ॥ यत्र देशे काले वा ॥ तद्गुण एवेति । भाष्येऽपि—तल्लिङ्गस्तत्रेति सावधारणं व्याख्येयमिति भावः ॥ [अत्र वाक्यत्रयेऽपि तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्तौ ॥]

[पृ० १३०] यथा विकृतियागे इति। तत्र हि प्राप्तसामिधेन्यनुवादेन सप्तदशत्वं विहितम्। तच्च त्रिः प्रथमामित्यादिवाक्यबोधितया प्रथमोत्तमयोस्त्रिरावृत्त्यैवेति भावः॥ त्रिरावृत्त्येति। आवृत्तिः पुनरुच्चारणम्। तज्जन्यसङ्ख्यया सप्तदशत्ववदत्रानेकाच्त्वमिति भावः ॥ [लिङ्गादिति। अनेन लिङ्गेन श्रुतिस्मृतिसिद्धत्वादस्य व्यवहारस्य गौणत्वमेव नेति ज्ञाप्यत इति भावः]॥ [भाष्ये] आवृत्तेः संख्यानाद्। गणनादित्यर्थः।

[पृ० १३१] भवेदावृत्तितः कार्यं परिहृतमिति। आवृत्त्या कार्यं सिद्धमिति कृत्वा दूषणं परिहृतं भवेदित्यन्वयः॥ मुख्यमिति। आवृत्तिकृतद्व्यच्त्वेन स्वगतैकाच्त्वस्य बाधायोग इति भावः॥

[पृ० १३१] ननु स्वस्य प्रतिग्रहीतृत्वासंभवादेकन्यूनता; न च पुनर्दानं, दत्तस्यान्यस्वत्वाक्रान्ततया पुनर्दानासंभवादत आह—वित्तेनेति॥ ननु षष्ठीसमासे सहस्रसंख्याया विशेष्यत्वात्कथं दानेन सबन्धः। कथं वा संपन्ना इति बहुवचनान्तेन सामानाधिकरण्यमत आह—सहस्रमृषयः ऋषिसहस्रमिति। अत एव सर्वे ते इत्यनेन सामानाधिकरण्यम्। परनिपातो भाष्यप्रामाण्यात्॥

[पृ० १३] सामर्थ्यलक्षण इति। सामर्थ्यकृतो गुणभूतैर्ऋषिभिः संबन्ध इत्यर्थः। सर्वे ते इत्यत्र तच्छब्देन गुणभूतस्यापि परामर्शोऽत्र पक्षे बोध्यः। अत एव दत्त्वेति समानकर्तृकेति क्त्वा॥ [भुजेर्ब्राह्मणैरिति। सङ्ख्यायां भोक्तृत्वानुपपत्तेर्गुणभूतब्राह्मणैरेव भुजेः संबन्ध इति भावः॥] [भाष्ये] एकैकश इत्यत्र उभयोरपि द्योतकत्वेन द्योतकसमुच्चयस्य च बहुशो दृष्टत्वेन द्विर्वचनशसोर्यौगपद्यम्। यथा—यथाजातीयको गार्ग्यायणीत्यादौ। तत्र च यथा ष्फसत्त्वे समुच्चित्य द्योतकता, तदभावे गार्गीति ङीपैव, तथा प्रकृतेऽपि शसो वैकल्पिकत्वात्पक्षे एकैकमित्यपि। द्व्यादिशब्दविषये तु न समुच्चित्यद्योतकता,अनभिधानात्। एकशब्दे तु समुच्चित्य प्रत्येकं च द्योतकता, अभिधानस्वभावात्। यत्र तद्धितेनानुक्ता वीप्सा तत्र द्विर्वचनं भवत्येव यथैकैकशो देहीति। भाष्यस्याप्ययमाशयः—यत्र तद्धितमात्रेण लोके वीप्सानभिधानं तत्र द्विर्वचनमपि। यत्र माषश इत्यादौ तावतैव वीप्साभिधानं तत्र न कदापि तयोः समुच्चय इति दिक॥ [भाष्ये] सहस्रदक्षिणा इति। सहस्रं दक्षिणा गोरूपा येषां दातॄणां ते इत्यर्थः॥ तेन गोसहस्रदानफला एव ते,न त्वेकगोदानमात्रफला इति व्यवहारो यथा स्मृतौ तथा प्रकृतेऽपीति भावः॥ [भाष्ये] अनेकाच्त्वमिति। तन्मात्रमित्यर्थः।

[पृ० १३] एकस्यैवेति। व्यापकस्येत्यपि बोध्यम्। अकारस्येत्यप्युपलक्षणमित्युक्तम्। [भाष्ये] उच्चारणं नामेत्युत्तरमत इति शेषः॥

[पृ० १३३] आन्यभाव्यमित्यस्यान्यत्वत्वमित्यर्थो नेत्याह—अन्यस्येति॥ अथवेति। भावशब्दः कर्तृसाधन इति भावः॥ एवं च प्रतिप्रयोगमकारस्यान्यत्वमित्यर्थः। यथेति। एवं चाग्र इत्याद्यकारो दण्डेत्यकाराद्भिन्नः। दण्ड अग्रमित्यादौ कालव्यवधानात्, दण्ड इहेति प्रयोगे इकारवत्। तथा दण्ड इत्यत्राद्याकारोन्त्याकाराद्भिन्नः,

शब्दव्यवायात्, कृतिरित्यादौ तकारव्यवहितेकारवद्—इत्यनुमानैर्भेदे सिद्धे उदात्तादिविरुद्धधर्मप्रत्ययोऽपि पारमार्थिक एवेत्याशयेन तद्भेदादपि भेदसिद्धिरित्यभिप्रेत्याह—उदात्तादीति। नानात्वमकारस्येति। युक्तमिति शेषः॥ ननु य एवोदात्तोकारः स एव देवदत्तेनानुदात्तः कृत इति प्रत्यभिज्ञाविरोधोऽत आह—प्रत्यभिज्ञानं चेति॥

[पृ० १३४] विभुत्वं निराचष्टे [भाष्ये] युगपच्च देशेति। अर्कादिशब्दा एव देशपदनोच्यन्ते॥ देशपृथक्त्वेष्विति। देशानां पृथक्त्वेषु=भेदेषु सत्स्वित्यर्थः॥

[पृ० १३४] एवं वर्णानामनेकत्वे परेण साधिते वर्णैकत्ववादी एकत्वं स्थापयितुं तद्दूषणोद्धारमाह [भाष्ये] यदि पुनरिति॥ तत्र शकुनिवदिति दृष्टान्तस्य तद्वत्परिच्छिन्नत्वे न तात्पर्यम्, तन्मते तस्य विभुत्वादिति ध्वनयन्नाह—कालशब्दाक्यामिति॥ व्यक्तिस्फोटवादिन इति। व्यक्तेर्नित्यत्वैकत्ववादिन एकैव शब्दव्यक्तिरिति वादिन इत्यर्थः। अनेनाद्यं दूषणं परिहृतम्॥ द्वितीयं परिहरति—यथेति। एवमिति। अस्यानेकदेशेषु युगपदुपलम्भो व्यञ्जकवशादिति शेषः। पूर्वदृष्टस्य पश्चाद्दर्शनेऽपि, अव्यवहितस्य व्यवधानेऽपि न भेद इत्येतन्मात्रेण दृष्टान्त इति भावः॥ नन्वेवं विभुत्वे नित्यत्वे च सर्वत्र देशे सर्वदोपलम्भापत्तिरत आह—व्यञ्जकेत्यादि॥

[पृ० १३५] जातिस्फोटेति। जातिरेव एका; शब्दव्यक्तयस्त्वनन्ता इति वादीत्यर्थः॥ [भाष्ये] अनित्यत्वमेवं स्यादिति। व्यक्तेरेकत्ववादी तस्या नित्यत्वं मन्यते इति भावः॥ ननु विभोरेकस्यापि व्यञ्जकवशादनेकत्रोपलब्धौ कथमनित्यतेत्यत आह—भवतेति। भाष्येऽपि नित्याश्च शब्दा इत्यस्य तत्त्वेत्यादिः। भाष्योक्तकूटस्थत्वाभावमुपपादयति—रूपान्तरेति॥ तस्माद्भिन्ना एवानित्या एवाकारा इति पाठः। नित्या एवेति पाठस्त्वयुक्तः। अनन्तवर्णवादे तदनित्यत्वस्यैवेष्टत्वादिति बोध्यम्॥ यद्यप्यनुदात्तत्वादीनां ध्वनिनिष्ठत्वाङ्गीकारान्न दोषस्तथापि स्फटिकस्येवास्यापि इतरसन्निधानेन तद्रूपपरिग्रहे संसर्गाऽनित्यताविरोधिकूटस्थत्वाभाव इति भावः॥

[पृ० १३५] पुनरप्येकत्वनित्यत्वे साधयति—भाष्ये यदि पुनरित्यादिना। एकस्यैवाकारस्यानेकदेशेषूपलब्धिरादित्यस्येव सम्भवतीति न तावद्व्यक्तिभेदः सिध्यति। अन्यथा आदित्यस्याप्यनेकत्वापत्तिरनित्यत्वापत्तिश्च। तत्तद्देशसंसर्गेणाल्पप्रकाशत्वाधिकप्रकाशत्वादिगुणसंसर्गादिति भावः॥

[पृ० १३६] विषम इति। आदित्यदृष्टान्तेनानेकदेशोपलभ्यमानाकारादिपक्षकैक्यसाधकः प्रत्यभिज्ञायमानत्वहेतुरनेकद्रष्टृकानेकदेशोपलब्धिविषयत्वरूपोपाधियुक्त इति न तेन भेदसाधकशब्दव्यवायहेतोः सत्प्रतिपक्षता युक्तेति भावः॥ अकारं पुनरुपलभत इत्यस्यैको द्रष्टानेकाधिकरणस्थमिति शेषः॥

[पृ० १३६] शब्दस्याकाशरूपैकाधिकरणत्वेनानेकाधिकरणत्वमयुक्तमित्याशयेनाह [भाष्ये] अकारमपि नोपलभत इति। अकारमप्यनेकाधिकरणस्थं नोपलभत

इत्यर्थः ॥ श्रोत्रोपलब्धिरिति । श्रोत्र एव उपलब्धिर्यस्येत्यर्थः । करणक्तिन्नन्तत्वेन समानाधिकरणबहुव्रीहिर्वा ॥ एतद्विशेषणफलं दर्शयति—श्रोत्रेति । ननु दिश एव श्रोत्रत्वात् कथं तत्रोपलब्ध्याकाशदेशत्वसिद्धिरत आह—आकाशेति । कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभ एव श्रोत्रम् । चक्षुरादिवच्छ्रोत्रस्यापि भूतत्वमावश्यकमिति भावः ॥ दिशोऽनतिरिक्तमेव चाकाशमिति तत्त्वम् ॥ ननु तथाप्यतेजोंशगतघटादिरूपस्य तैजसचक्षुर्ग्राह्यत्ववदनाकाशदेशगतस्यापि शब्दस्याकाशात्मकश्रोत्रग्राह्यत्वं किं न स्यादित्याशङ्क्य किमसम्बद्धं तद्ग्राहकं, सम्बद्धं वा, नाद्य इत्याह—असम्बद्धेति । अन्यथा रामेश्वरादिप्रदेशावच्छिन्नशब्दस्यापि श्रवणप्रसङ्गः । द्वितीयेऽपि किं श्रोत्रस्य विषयदेशगमनात्सम्बन्धः, उत शब्दस्य श्रोत्रदेशगमनात्, नोभयमपीत्याह—गमनाभावादिति । श्रोत्रस्य चेति । चेन शब्दपरिग्रहः । उभयोरपि गमनाभावे हेतुर्निष्क्रियत्वं दूरदेशस्थशब्दाग्रहणं तु दूरत्वादेर्दोषस्य प्रतिबन्धकत्वाच्छ्रोत्रदेशेऽनभिव्यक्तेः । आकाशदेशत्वे च तद्वदेव तस्यापि व्यापकत्वेन श्रोत्रदेशेऽभिव्यक्तस्य तेन ग्रह इति भावः ॥ आहंकारिकाणीन्द्रियाणीति सांख्यमतेऽपि इन्द्रियाणां स्वाधिष्ठानभूतवृत्तिगुणग्राहकत्वनियमादाकाशदेशत्वं श्रोत्रोपलब्ध्या शब्दस्य सिध्यतीति बोध्यम् ॥ श्रोत्रोपलब्धिरित्येव बुद्धिनिर्ग्राह्यत्वस्योक्तत्वात्पौनरुक्त्यमाशङ्क्याह—पूर्वपूर्वेति । एवं चाश्रुतिरोधीयमानानेकवर्णवद्घटकलशादिशब्दग्रहणसम्भवदर्शनाय तदुक्तमिति न पौनरुक्त्यम् ॥ प्राप्तपरिपाकेति । तत्सहकृतेत्यर्थः । अन्त्यबुद्धिरन्त्यवर्णबुद्धिः । एवं च तादृशसंस्कारविशिष्टान्तःकरणसंयुक्तेन तादृशसंस्कारविशिष्टेन श्रोत्रेणान्त्यवर्णसम्बद्धेन वर्णसमुदायप्रतिबिम्बवदखण्डस्फोटरूपपदादिप्रत्यक्षमिति भावः ॥

[पृ० १३७] नन्वेवं सर्वदा शब्दोपलम्भः स्यादतः [भाष्ये] प्रयोगेणाभिज्वलित इति । तद्व्याचष्टे—प्रयुज्यत इति ॥ ध्वनिरिति । वर्ण इत्यर्थः ॥ [भाष्ये] एकं च पुनराकाशमिति । एवं चैकस्मिन्नाम्रफले एक एव यथा रूपरसगन्धादिस्तथा तदाश्रयस्यैकत्वात्तद्गतः शब्दोऽप्येक एव । तत्रैव च तस्योपलम्भ इति भिन्नदेशोपलम्भ एवासिद्ध इति भावः ॥ नन्वेकत्वेऽयं पूर्वोऽयं परोऽयं देवगृहेऽयं राजगृह इति भेदप्रतिभासः कथमत आह—देशभेदेन त्विति । औपाधिको भेदस्तु आकाशस्येव न शब्दस्याप्येकत्वे बाधकः । एवं संसर्गानित्यतापि तस्येव नास्यापि बाधिका, तस्यापि नीलं नभ इत्यादि संसर्गानित्यताप्रतीतेरित्याशयः । अत्र शब्द इत्येकवचनेन स्फोटस्यैकत्वमखण्डत्वं ध्वनितम् ॥

[पृ० १३७] ननु निरवयवस्य कथं प्रदेशबाहुल्यमत आह—यथेति । एवं चौपाधिकभेदेन भेदो दुर्वारः । सर्वत्र भेद औपाधिक एव, स एव च व्यवहारोपयोगीत्याशयः । श्रोत्रसम्बन्धस्तु प्रदेशान्तरोत्पन्नशब्दस्यापि वीचीतरङ्गन्यायेन कदम्बमुकुलन्यायेन वा तन्त्रान्तरे व्युत्पादित एव ॥

[पृ० १३७] तत्रापि पक्षेऽस्य चवावित्यादौ दोषो नेत्याह—भाष्ये आकृतिग्रहणादिति ॥

[पृ० १३८]तदाह—अकारजातिरिति । सर्वप्रदेशेष्विति । प्रत्याहारेऽस्य च्वावित्यादौ च । अकारव्यक्तीनामानन्त्यमाश्रित्य वार्तिककृता वर्णसमाम्नायस्थस्य विवृतत्वेऽपि धात्वादिस्थस्यापि विवृतोपदेशो नोदितः। भाष्यकृता तु प्रयोगस्थानां प्रत्याहारस्थैर्ग्रहणाय तत्र जातिनिर्देशे आवश्यके जातेर्विवृतत्वप्रतिज्ञानेनैव सर्वसिद्धेः स दोषो वारितः। अस्य च्वावित्यादौ तु सत्यपि विवृतत्वेऽनणुत्वात्सर्वावर्णग्रहणं न स्यादित्यपि जातिनिर्देशेनैव परिहृतम्। एवं चाणुदित्सूत्रेऽण्ग्रहणं न कार्यमित्याशयः ॥ तस्याश्चेति । स्वाश्रयव्यक्तिद्वारेत्यर्थः ॥ तत्र प्रत्यापत्तिवाक्ये तपरनिर्देशात् षण्णामेकशेषनिर्देशाद्वा ह्रस्वस्यैव संवृतत्वं बोध्यम् ॥ ननु जातिनिर्देशेऽतिप्रसङ्ग इत्याह—अष्टन इति । अन्यथा ह्रस्वमेवेति । न च तन्निर्देशेऽन्तरतमपरिभाषया दीर्घो न स्यादिति दीर्घविधानम्, दीर्घनिर्देशे तु तत्सामर्थ्यात्तस्यापि विधानम्, जातिग्रहणादन्यस्यापीति वाच्यम् । दीर्घनिर्देशसामर्थ्येनान्तरतमपरिभाषाबाधकल्पनापेक्षया ह्रस्वानुपस्थितेरेव कल्पने लाघवमित्याशयात् ॥ननु दीर्घोच्चारणसामर्थ्यान्मा भूद्ह्रस्वः प्लुतस्तु स्यादत आह—प्लुतश्चेति । विषये = दूराद्धूतादौ । अनेनापि प्लुतविधानेऽशेऽनुवाददोषः स्यादिति भावः ॥

[पृ० १३८] सर्वत्राकृतिर्निर्दिष्टेत्यत्र ज्ञापकमाह-भाष्ये तद्वच्चेति । सादृश्ये वतिभ्रमं व्यावर्तयति—स इति । अथवा वत्यन्तमेतदिति । तदा तद्वदित्यस्यास्य च्वावित्यादिवदित्यर्थः ॥ तदाह—तत्र न्यायेनेति । तत्रास्य च्वावित्यादौ । आकृतिग्रहणप्रयुक्तातिप्रसङ्गनिवारणार्थमेव हि तत्र तत्र तपरकरणम् ॥ जातिपक्षेऽपि विवृतत्वप्रतिज्ञाऽकः सवर्ण इत्यादेर्दण्डानतिरित्यादौ दीर्घार्थमावश्यिकैव । एवं प्रत्यापत्तिवचोऽप्यावश्यकमेव, तुल्यन्यायाजातिग्रहणप्रयुक्तातिप्रसङ्गनिवारणाय तपरत्ववत् विधेये त्यदादीनाम इत्यादौ तद्वारणायाप्रत्यय इत्येतदिति बोधितम् । अत्र पक्षेऽण्ग्रहणप्रत्याख्यानेऽपि ऋऌवर्णयोः सावर्ण्येन समानजातित्वातिदेशान्न दोष इति भावः ॥

[पृ० १४०] अवात्तामिति । वसेर्लुङ् । तसस्ताम् । सिच् । सः सीति तत्वम् । वदव्रजेति वृद्धिः । झलो झलीति सलोपः । ननु वचनसामर्थ्याज्झल्सदृशेऽपि भविष्यतीत्यत आह—अभित्था इति । भिदेर्लुङि सिचि रूपम् ॥

[पृ० १४०] आकृत्यनाश्रयणेऽप्याह—भाष्ये रूपसामान्यादिति ॥ तद् व्याचष्टे—व्यक्तीति ॥ अभेदव्यवहार इति । रूपसादृश्यनिबन्धनप्रत्यभिज्ञाकृताभेदव्यवहार इत्यर्थः । अल्पमहत्स्थूलकृशह्रस्वदीर्घगोघटादिषु गौर्घट इत्यादिव्यवहारवदिति भावः ॥ एवं च व्यक्तिव्यतिरिक्तजातिस्वीकारोऽपि व्यर्थ एवेत्याशयेनाह—व्यक्तिव्यतिरिक्तं त्विति । मा वेति ॥ अनुगतप्रतीतिव्यवहारयोः सादृश्येनैवोपपत्तेरिति भावः । सादृश्यं चात्र समानध्वनिकृतम् ॥१॥

(शिवसूत्रे)

ऋलृक् ॥ २ ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

अथ लृकारोपदेशः किमर्थः ?

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

किं विशेषेण लृकारोपदेशश्चोद्यते, न पुनरन्येषामपि वर्णानामुपदेशश्चोद्यते, यदि किञ्चिदन्येषामपि वर्णानामुपदेशे प्रयोजनमस्तिलृकारोपदेशस्यापि तद् भवितुमर्हति । को वा विशेषः ?

प्रदीपः

ऋलृक् । अल्पीयानिति । ऋकारापेक्षः प्रकर्षः । ऋकारस्याल्पः प्रयोगस्ततोऽप्यस्याल्पतर इत्यर्थः । अल्पप्रयोगस्यापि कार्यार्थं उपदेशः कर्तव्य इत्याशङ्क्याह—

उद्द्योतः

ऋलृक् ।। [भाष्ये] अथ लृकारेति । यद्यप्येतच्चतुर्दशसूत्रीविवृतौ नन्दीश्वरकृतकाशिकायामनेकेषामृषीणां नानाविधार्थजिज्ञासायां शिवेन सर्वजिज्ञासा निवृत्तये–एषा ढक्कानिनादेन प्रकाशितेत्युक्तमितीदमनुपपन्नम्, तथापि पाणिन्युद्देश्यकं फलमस्ति नवेति एतत्तात्पर्यम् । अन्त्यवर्णचतुर्दशं तु पाणिन्युद्देशेनैवोपदिष्टमित्यपि तत्रैव स्पष्टम् ॥

भावबोधिनी

[पृ० १४० का शेष] रहे हैं जो मगध में थे, 'यह आपका वही कार्षापण (एक विशेषसिक्का है) है जो हमने मथुरा में लिया था ।' [वास्तव में] अन्य = भिन्न-भिन्न में भी रूप की समानता के कारण 'यह वही है' ऐसा व्यवहार होता है । ठीक इसी प्रकार व्याकरण शास्त्र में भी [अकार आदि अचों और हकारादि हलों= व्यञ्जनों का] एक समान रूप होने से [उन्हें मान कर किये जानेवाले] कार्य सिद्ध हो जाते हैं । [अतः यदि जातिपक्ष न भी माना जाय तो भी एक समान रूप होने से उनमें अभेदज्ञान संभव है । इससे सब निर्वाह हो सकता है । इस प्रकार का तर्क भाष्यकार की लोकव्यवहार की मान्यता का समर्थन करता है ।] ।। १ ।।

ऋलृक् ।। २ ।।

[इन चौदह सूत्रों में] लृकार के उपदेश = उच्चारण का क्या प्रयोजन है ?

लृकार के उपदेश के विषय में ही क्यों विशेषरूप से प्रश्न कर रहे हो, क्यों नहीं दूसरे वर्णों के उपदेश के विषय में भी ऐसा प्रश्न कर रहे हो ? यदि दूसरे वर्णों के भी उपदेश में कोई प्रयोजन है तो वह लृकार के उपदेश का भी हो सकता है । इसमें कौन सा विशेष = भेद है ? [सभी वर्णों के उपदेश का जो प्रयोजन है वही

(आक्षेपसाधक-भाष्यम्)

अयमस्ति विशेषः। अस्य हि ऌकारस्याल्पीयांश्चैव प्रयोगविषयः। यश्चापि प्रयोगविषयः सोऽपि क्लृपिस्थस्यैव। कृपेश्च लत्वमसिद्धम्[1]। तस्यासिद्धत्वादृकारस्यैवाच्कार्याणि भविष्यन्ति, नार्थं ऌकारोपदेशेन।

अत उत्तरं पठति—

(४२ समाधानवार्तिकम् ॥ १ ॥)

॥ * ॥ ऌकारोपदेशो यदृच्छाशक्तिजानुकरणप्लुत्याद्यर्थः ॥ * ॥

प्रदीपः

यश्चापीति। तत्र ऋकारावस्थायामेवोदात्तादिषु कृतेषु **'स्थानेऽन्तरतम'** इति स्थानिसदृश ऌकारो भविष्यति॥

उद्द्योतः

[भाष्ये] **"प्रयोगविषय"** इति कर्मधारयः। प्रयोगादन्यत्रानभिव्यज्यमानतया प्रयोगो विषय इत्युक्तः॥ **अल्पेति**। यथा मुद्गादणित्यादेः। ननु ऋकारे कार्यप्रवृत्तावपि ऌकारे कथं तत्कार्योदात्तत्वादीनां दर्शनमत आह—**तत्रेति**॥ **स्थानेऽन्तरतम इतीति**। यद्यपि कृपो रोल इत्यत्र रेफलकारयोः स्थान्यादेशभावस्तथापि तद्द्वारा ऋकारऌकारयोरपि स इति भावः॥

भावबोधिनी

ऌकारोपदेश का भी प्रयोजन हो सकता है। स्वतन्त्र रूप से इसका प्रयोजन पूछने का क्या तात्पर्य है ?]

यह विशेष = भेद है—इस ऌकार का प्रयोगविषय ' प्रयोगक्षेत्र ' वहुत थोड़ा ही है। और जो कुछ है वह भी केवल 'क्लृप्' धातु में स्थितं ऌकार का ही है। और चूँकि 'क्लृप्' धातु का लत्व (ऌ) असिद्ध है। इस लत्व = ल् के असिद्ध हो जाने के कारण ऋकार को मान कर ही अच्सम्बन्धी [अच्स्थानिक और अच्निमित्तक आदि] कार्य हो जायेंगे, इसलिए ऌकार के उपदेश का कोई प्रयोजन नहीं है।१

अतः अब उत्तर देते हैं—

(वा०) ऌकार का उपदेश यदृच्छा (रूढ संज्ञा शब्द), अशक्ति से किये गए अनुकरण और प्लुत करना आदि के लिए (किया जाता) है।

---

१. क्लृप् वास्तव में कृप् धातु है। इसमें "कृपो रो लः" पा० सू० ८।२।१८ से लत्व होता है। यह त्रिपादीस्थ होने से अपने से पूर्ववर्ती कार्यों के प्रति असिद्ध हो जाने से ऋकार = अच् मिलता है। उसी को मान कर सब कार्य हो जायँगे। तब ऌकार का कोई प्रयोगविषय ही नहीं है, अतः ऌ के उपदेश की कोई आवश्यकता नहीं है, वह भाव है।

(भाष्यम्)

लृकारोपदेशः क्रियते—यदृच्छाशब्दार्थोऽशक्तिजानुकरणार्थः प्लुत्याद्यर्थश्च।

(१) यदृच्छाशब्दार्थस्तावत्—यदृच्छया कश्चिद् लृतको नाम। तस्मिन्नच्कार्याणि यथा स्युः—दध्य् लृतकाय देहि, मध्व् लृतकाय देहि, उदङ्ङ् लृतकोऽगमत्, प्रत्यङ्ङ् लृतकोऽगमत्।

प्रदीपः

यदृच्छेति। अर्थंगतं प्रवृत्तिनिमित्तमनपेक्ष्य यःशब्दः प्रयोक्त्रभिप्रायेणैव प्रवर्तते स **यदृच्छाशब्दो** डित्थादिः। ऋकारलृकारयोः **सवर्णविधि**रित्यस्य वार्तिककार-वाक्यत्वात्सूत्रकारेणनाश्रितत्वादत्र लृकारोपदेशः कृतः॥ अर्थवत्सूत्रारम्भाच्चाव्युत्पन्ना यदृच्छाशब्दाः सन्तीत्यवगम्यते॥ गाव्यादीनां तु गवादिभिर्निवर्तितत्वादसाधुत्वम्। ऋतकशब्दस्त्वर्थाश्रयेणैव विनियुक्त इति लृतकशब्दस्यानिवर्तकः॥

उद्द्योतः

अर्थगतमिति। शब्दातिरिक्तमर्थरूपमित्यर्थः। यद्वा व्यक्तेरेव वाच्यता। तस्यां च प्रकारताविशेष्यताख्यविषयताद्वयाङ्गीकाराच्छक्तिग्रहोपपत्तिः। सविकल्पकोपपत्तिश्च तत इति भावः॥ **प्रयोक्त्रभिप्रायेणैवेति**। शक्तिबोधनं प्रयोक्त्रधीनमिति भावः। अन्यथा शब्दार्थसंबन्धस्यानित्यतापत्तिः। एवं च 'स्वेच्छयैकस्यां व्यक्तौ सङ्केत्यमानः शब्दो यदृच्छाशब्दः' इति बोध्यम्॥ ननु ऋकारस्याच्त्वे ऋलृवर्णयोः सावर्ण्याद् ऋकारेण लृकारस्यापि ग्रहणादच्कार्यसिद्धौ किम् लृकारोपदेशेनेत्यत आह—**ऋकारेति**॥ **उपदेशः कृत इति**। पाणिनये शिवेनेति शेषः। वस्तुतोऽत्र तस्यानुपदेशेऽप्रामाणिकत्वशङ्कया सवर्णविधिरपि तयोर्वक्तुमशक्य इति तदुपदेशः॥ सवर्णविधिद्वारकं फलमपि स्थलत्रय एवेति तत्रैव प्रयोजनोपन्यास इति बोध्यम्॥ ननु सन्तमसन्तं वा क्रियायोगमर्थगतमङ्गीकृत्य डित्थादीनामपि व्युत्पत्तेरर्थगतार्थरूपप्रवृत्तिनिमित्तानपेक्षशब्दसत्त्वे किं मानमत आह—

भावबोधिनी

(भा०) लृकार का उपदेश किया जाता है—(१) यदृच्छा शब्दों के लिए, (२) अशक्ति = असामर्थ्य से किए जाने वाले अनुकरण के लिए और (३) प्लुत आदि कार्यों के लिए।

(१) सबसे पहले यदृच्छा = रूढ संज्ञा शब्दों के लिए—उदा० किसी को यदृच्छा = स्वेच्छा से 'लृतक' ऐसा कह दिया गया, नाम रख दिया गया। इस लृतक के परे रहते भी अच्सम्बन्धी [और अच्निमित्तक] कार्य जिस प्रकार से किए जा सकें—दध्य्लृतकाय देहि [दधि + लृतकाय], मध्व्लृतकाय देहि [मधु + लृतकाय] उदङ्ङ्लृतकोऽगमत् [उदङ् + लृतकः] प्रत्यङ्ङ्लृतकोऽगमत् [प्रत्यङ् + लृतकः]। [इनमें पहले के दो उदा० 'इको' यणचि से यण् करने के लिए हैं और बाद के दो 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्' से ङमुट्

चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः—जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दा यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः ॥

(२) अशक्तिजानुकरणार्थः—अशक्त्या कयाचिद् ब्राह्मण्या 'ऋतक' इति प्रयोक्तव्ये 'लृतक' इति प्रयुक्तम्। तस्यानुकरणं 'ब्राह्मण्य्लृतक इत्याह',

प्रदीपः

अशक्तिजेति। अशक्तिजानुकरणस्य जातिशब्दत्वमिच्छन्ति। यस्मादनुक्रियमाणे शब्दे या जातिः समवेता तत्संबद्धमनुकार्यमनुकरणं प्रत्याययति।

उद्द्योतः

अर्थवदिति। चिन्त्यमिदम्। बहुच्पूर्वे तस्य चारितार्थ्यात् ॥ एतदर्थं तद्धितपदं तद्विशिष्टपरम्। **अप्रत्यय** इत्युक्तेश्च पचतकीत्यादौ न दोषः। प्रत्ययश्च तद्धितभिन्न एव। बहुपटवस्तिष्ठन्तीत्यादौ यं समुदायमिति न्यायेन न दोष इति कैयटाशयमन्ये ॥ ननु लृतकस्यासाधुत्वात्कथं शास्त्रविषयतेत्यत आह—**गाव्यादीनामिति।** ऋतकेन लृतकानिवृत्तौ हेतुरर्थाश्रयेणेति। स्वगतक्रियारूपार्थाश्रयेणेत्यर्थः। अर्थतः सजातीयस्यैव निवृत्तिः। एकप्रवृत्तिनिमित्तकत्वे सति अन्वाख्यातमनन्वाख्यातस्य निवर्तकमिति भावः। तद्ध्वनयन्नाह—भाष्ये **चतुष्टयीति।** शब्दानामर्थे या प्रवृत्तिः सा प्रवृत्तिनिमित्तभेदात्प्रकारचतुष्टयवतीत्यर्थः। तत्र **यदृच्छाशब्दो** नाम वक्त्रा स्वेच्छया संनिवेशितः। स चानेकविधः—एकव्यक्तिसंनिवेशितो डित्थादिरेकः, तत्र न किंचिदतिरिक्तं प्रवृत्तिनिमित्तमानन्त्यव्यभिचारयोरभावात्। किंतु शक्यस्यैवार्थस्य विषयताद्वयेन भानम्। तदुत्तरत्वादेः प्रकारत्वावच्छिन्नः स एवार्थः। यद्वा शब्दपराद्वाच्येऽर्थे एव त्वादिः। एवं क्वादिपदानां कादीनामेकत्वमते तेषु शक्तिः। ततो डित्थपदादिव शक्यार्थे एव त्वादिः। कुत्वमिति कुरिति च पर्यायौ। अनेकत्वमते तत्तज्जात्युपलक्षिते सा। टिघुभादीनां तु तच्छक्यानामानन्त्यात्तत्पदमेव प्रवृत्तिनिमित्तम्। तदेव च तदुत्तरत्वाद्यर्थः। भत्वादिपदैर्भादिसंज्ञैवोच्यते। अत एव वृद्धिसूत्रे वक्ष्यति "**कुत्वं कस्मान्न भवति चोः कुः पदस्येति ? भत्वात्। कथं "भसंज्ञे"**ति ? अनेन च भाष्येण कुकुत्वपदयोः भत्वभसंज्ञापदयोः पर्यायत्वं स्पष्टमेवोक्तम्। संज्ञा च पदमेव ॥

ननु चतुर्विधेष्वनुकरणशब्दः क्वान्तर्भवतीत्यत आह—**अशक्तिजेति** ॥ **यस्मादिति।**

भावबोधिनी

करने लिए है। लृ के अच् के अन्तर्गत उपदिष्ट होने पर ही उक्त कार्य हो सकेंगे।]

शब्दों की [अर्थों के बोध कराने में] चार प्रकार की प्रवृत्ति होती है—(क) जातिशब्द, (ख) गुण शब्द (ग) क्रियाशब्द और चौथे (घ) यदृच्छा शब्द। [किसी अर्थ का बोध कराने के लिए वक्ता द्वारा स्वेच्छा से प्रयुक्त किया जाने वाला शब्द 'यदृच्छाशब्द' कहा जाता है। ये प्रायः रूढ़ होते हैं। इनमें

कुमार्य् लृतक इत्याहे'ति[1] ॥

(३) प्लुत्याद्यर्थञ्च [लृकारोपदेशः कर्तव्यः] ॥

के पुनः प्लुत्यादयः ?

प्लुतिद्विर्वचनस्वरिताः । क्लृ३प्तशिख[2] । क्लृप्प्तः[3] । प्रक्लृप्तः[4] । प्लुत्या-

उद्द्योतः

अनुक्रियमाणशब्दव्यक्तयो बह्व्यः । प्रत्यभिज्ञा तु जातिनिबन्धना रूपसादृश्यनिबन्धना वेति भावः ॥ एतेऽपि यदृच्छाशब्दाः, स्वेच्छयैव वक्त्रा शब्दपरतया प्रयोगाद् इत्यन्ये ॥

प्लुत्यादिकं च, 'गुरोरनृत' इति प्लुतः ॥ 'अनचि चेति' द्वित्वम् ॥ प्रपूर्वात्क्ऌपेरन्तर्भावितण्यर्थात्कर्मणि क्ते 'गतिरनन्तर' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे, वर्ज्यमानस्वरेण शिष्टस्यानुदात्तत्वे 'उदात्तादनुदात्तस्ये'ति स्वरितत्वम् ॥ अनृत' इति निषेधस्तु न, ऋदिद्लृदिदिति पृथगनुबन्धकरणेन क्वचित्परस्पराग्रहणज्ञापनात् ॥

भावबोधिनी

अन्वर्थता नहीं होती है ।]

(२) अशक्ति से होने वाले अनुकरण के लिए [लृकार के उपदेश की आवश्यकता का उदा०]—किसी ब्राह्मणी ने किसी अर्थ के विषय में 'ऋतक' ऐसा प्रयोग करने के स्थान पर असामर्थ्य [उच्चारणावयवों के विकृत होने आदि] से 'लृतक' ऐसा प्रयोग कर दिया । उस (ब्राह्मणी के कथन) का अनुकरण —"ब्राह्मण्य्लृतक इत्याह' 'कुमार्यलृतक इत्याह, यह है ।

---

१. कहीं पर किसी ब्राह्मणी को और कुमारी को 'ऋतक' ऐसा बोलना था । किसी असामर्थ्य से वैसा न बोल कर उन्होंने 'लृतक' ऐसा बोल दिया । उनके कथन का अनुकरण नकल करके कोई दूसरा कहता है—'ब्राह्मणी + लृतक इत्याह, कुमारी + लृतक इत्याह ।' यहाँ लृ यदि अच् में उपदिष्ट होगा, तभी 'यण्' हो सकेगा, अन्यथा सन्धिरहित पूर्वोक्त प्रयोग होगा । 'ब्राह्मण्य्लृतक इत्याह; कुमार्य्लृतक इत्याह; ऐसा नहीं होगा । इसलिए भी लृ उपदिष्ट है ।

२. क्लृ३प्तशिख—इसमें 'गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम्' 'पा० सू० ८।२।८६। से ऋ को अच् मान कर प्लुत होता है । ऋदित्, लृदित् ऐसे अनुबन्धों के कारण कहीं-कहीं ऋ और लृ स्वतन्त्र भी होते हैं ।

३. क्लृप्तः—इसमें लृ को अच् मान कर अच् से परे यर् = प् का द्वित्व 'अनचि च' (पा० सू० ८।४।४७) से होता है ।

४. प्रक्लृप्तः—इसमें 'प्र' इसका "गतिरनन्तरः" (६।२।४९) से प्रकृतिस्वर = उदात्त होता है । उसके बाद अनुदात्त लृ' स्वरित होता है—"उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः" (८।४।६६) सूत्र से । 'लृ' को अच् माने बिना ये ३ कार्य सम्भव नहीं हैं ।

दिषु कार्येषु क्रृपेर्लत्वं सिद्धम्। तस्य सिद्धत्वादच्कार्याणि न सिद्धयन्ति। तस्माद् लृकारोपदेशः क्रियते ॥

(अथ प्रयोजननिराकरणभाष्यम्)

नैतानि सन्ति प्रयोजनानि।

(४३ प्रयोजनप्रत्याख्यानवार्तिकम् ॥ २ ॥)

॥ * ॥ न्याय्यभावात्कल्पनं संज्ञादिषु ॥ * ॥

(भाष्यम्)

न्याय्यस्य ऋतकशब्दस्य भावात् कल्पनं संज्ञादिषु साधु मन्यन्ते—ऋतक

प्रदीपः

न्याय्यभावादिति । ऋतकशब्दो न्याय्यः **'कृदन्तं नाम कुर्यादिति'** स्मृतावुक्तत्वात्। 'ऋतिः' सौत्रो धातुः, तत औणादिकः **'क्वुन् शिल्पिसंज्ञयोरपूर्वस्यापीति'** क्वुन् प्रत्ययः ॥ **संज्ञादिष्विति** । आदिशब्देनैतद्दर्शयति-जातिगुणक्रियानिमित्ता अपि शास्त्रान्विता एव प्रयोक्तव्या इति॥ सर्वशब्दव्युत्पत्तिपक्षे किम् **अर्थवत्सूत्रेणेति** चेत्, शिष्टप्रयुक्तानामेवाव्युत्पत्तिपक्षोऽप्यस्तीति ज्ञापनायार्थवत्सूत्रोपादानम्। अनुकरणशब्दानामव्युत्पन्नत्वात्तदर्थं च ॥

उद्द्योतः

न्याय्य इति । संज्ञात्वेन कल्पयितुमिति शेषः ॥ तत्र हेतुमाह—**कृदन्तमिति** । प्रकृतिप्रत्ययादिविभागेनान्वाख्याततत्वमेव न्याय्यत्वमित्याशयेन शङ्कते—**सर्वशब्देति** । शिष्टप्रयुक्तत्वमपि न्याय्यत्वमिति परिहारः ॥ न च तस्यैव प्रयोगे लृतकशब्दो बोधकोऽपि न स्यादिति वाच्यम्,बोधकत्वेऽप्यसाधुत्वान्न शास्त्रीयकार्यनिमित्तत्वमित्याशयात्। तद्ध्वनितं भाष्ये "साधु मन्यन्ते" इति ग्रन्थेन ॥ **ऋतक एवासाविति** । ऋतकशब्दप्रतिपाद्य एवासौ, न लृतकशब्दप्रतिपाद्य इत्यर्थः ॥

भावबोधिनी

(३) और प्लुत आदि कार्यों के लिए भी [लृकार का उपदेश करना चाहिए ।]

वे प्लुत आदि कार्य कौन से हैं ?

१—प्लुत, २—द्विर्वचन = द्वित्व, ३—स्वरित । क्लृ३प्तशिख । क्लृप्तः । प्रक्लृप्तः । प्लुत आदि कार्यों में कृप् का लत्व सिद्ध है, उसके रहने के कारण अच्कार्य नहीं सिद्ध होते हैं । इस कारण लृकार का उपदेश किया जाता है ।

ये पूर्वोक्त प्रयोजन नहीं हैं—

(वा०) क्योंकि न्याय्य = उचित कल्पना-योग्य होने से संज्ञा आदि में [ऋतक का ही] प्रयोग करना चाहिए ।

(भा०) न्याय्य = प्रकृति+प्रत्ययादि के योग से निष्पन्न होने वाले 'ऋतक'

एवासौ, न लृतक इति ॥

(व्याख्यान्तरभाष्यम्)

अपर आह—न्याय्य ऋतकशब्दः शास्त्रान्वितोऽस्ति। स कल्पयितव्यः साधुः संज्ञादिषु—ऋतक एवासौ न लृतकः ॥

(प्रत्याख्यानबाधकभाष्यम्)

अयं तर्हि यदृच्छाशब्दोऽपरिहार्यः—लृफिडः लृफिड्डश्चेति।

(प्रत्याख्यानसाधकभाष्यम्)

एषोपि ऋफिडः, ऋफिड्डश्च।

प्रदीपः

अपर आहेति। पूर्वमुक्तम्-ऋतक एव न्याय्यत्वात्प्रयोक्तव्यो न तु लृतकशब्द इति। इदानीं तु ऋतकशब्दस्यैवायमपभ्रंशोऽशक्तिजत्वाद् लृतक इत्युच्यते ॥

अयं तर्हीति। ऋतकशब्दोऽन्वाख्यातत्वाद्भवतु वा लृतकशब्दस्य निवर्तकः। ऋफिड ऋफिड्ड इत्येतौ त्वनन्वाख्याताविति कथम् लृफिडलृफिड्ड—इत्येतयोर्निवर्तकौ स्यातामिति भावः।

एषोऽपीति। उणादयो बहुलमित्येतावन्वाख्याताविति भावः।

उद्द्योतः

इदानीं त्विति। भाष्ये कल्पयितव्य इत्यस्य विनियुक्तत्वेन ज्ञेय इत्यर्थः। साधुऋतक एव नामत्वेन कृतो न लृतकः। अशक्त्या तु तथोच्चारणमित्यपभ्रंशत्वान्न शास्त्रविषय इति भावः॥ अशक्तिजत्वादिति। जिह्वाऽपाटवजत्वादित्यर्थः। एवं चासाधुरेवेति भावः॥

लृतकाद् लृफिड्डे वैषम्यं दर्शयति— ऋतकशब्द इति॥ लृतकशब्दस्येति। अनन्वाख्यातस्येत्यादिः॥

फिडफिड्डयोरुणादिष्वदर्शनादाह—उणादय इति। बाहुलकसिद्धावेतावित्यर्थः॥

भावबोधिनी

शब्द के होने के कारण संज्ञा आदि में उस ऋतक का ही प्रयोग उचित=साधु माना जाता है—यह ऋतक ही है लृतक नहीं है। [अतः लृतक को न मान कर ऋतक ही साधु माना जाता है। 'ऋ' होने से सभी कार्य सम्भव हैं।]

दूसरा व्याख्याकार कहता है-न्याय्य ऋतक शब्द शास्त्रीय प्रक्रिया से युक्त,उचित है, यही व्याकरण शास्त्रीय नियमों के अनुसार बनता है। इसी साधु शब्द को संज्ञा आदि में कल्पित करना चाहिए—यह ऋतक ही है लृतक नहीं है। [आशय यह है—ऋत् इस सौत्र धातु से क्वुन्=अक प्रत्यय करके 'ऋतकः' यही शुद्ध शब्द रूप बनता है। इसी का प्रयोग समझना चाहिए, लृतक का नहीं।]

यदि ऐसा है तब तो इस यदृच्छा का कोई परिहार संभव नहीं है—लृफिडः, लृफिड्डः। [क्योंकि इनका कोई शुद्ध मूल शब्द नहीं है। इनके लिए लृकार का उपदेश

कथम् ?

अर्तिप्रवृत्तिश्चैव हि लोके लक्ष्यते । फिडफिड्डावौणादिकौ प्रत्ययौ ॥

त्रयी च शब्दानां प्रवृत्तिः—जातिशब्दाः, गुणशब्दाः क्रियाशब्दा इति । न सन्ति यदृच्छाशब्दाः ॥

प्रदीपः

अर्तिप्रवृत्तिरिति । अर्तेः फिड-फिड्ड प्रकृतित्वेन प्रवृत्तिरित्यर्थः ॥ **न सन्तीति** । अद्य-त्वेऽपि यदा नाम क्रियते, तदा प्रशस्यरूपा क्रिया गुणो वाध्यारोप्यत इति भावः ॥

उद्द्योतः

अर्तिप्रवृत्तिश्चैवेति। च तथा फिडफिड्डयोः स एव प्रकृतिर्न तु लृ इति धात्वन्तरं कल्प्यम्। **संज्ञासु धातुरूपाणीति** तु अनादिशिष्टप्रयोगसाधने उपायमात्रं न त्वाधुनिक-क्रियमाण-संज्ञानुग्राहकमिति भावः ॥ एवं च देशभाषानुसारेण क्रियमाणं कूचीमञ्चीत्याद्यसाधु, शास्त्राविषयश्चेत्युक्तम् ॥ **अर्तेरिति** । यतस्तस्य लोके प्रवृत्तिर्लक्ष्यतेऽतः फिडादिप्रकृतित्वेनापि तस्यैव प्रवृत्तिरित्यर्थः ॥ एवं यदृच्छाशब्दानङ्गीकृत्य शास्त्रान्वितानां क्वचिच्छिष्टप्रयुक्ता-नामेव यत्रकुत्रचित्संज्ञात्वेन विनियोगो नान्येषामित्येवम् लृतकलृफिडादीनां शास्त्रविषय-त्वाभावान्न तदर्थं लृकारोपदेश इत्युक्तम् ॥ इदानीं न सन्त्येव यदृच्छाशब्दा इति पक्षा-वष्टम्भेन तदर्थत्वं प्रत्याचष्टे—[भाष्ये] त्रयी चेति । चेनेदं ध्वनितम् ॥ नन्वेवं डित्थादीनां क्वान्तर्भावोऽत आह—अद्यत्वेऽपीति । एवं च सर्वेऽपि व्युत्पन्नाः क्रियादिशब्दा एवेति भावः ॥ **प्रशस्यरूपेति** । अत्यन्तप्रशंसा—योग्येत्यर्थः । एवं च येषां क्रियागुणादिप्रवृत्तिनि-मित्तकत्वं तेषां क्रियाद्यारोपेणार्थबोधकत्वमिति तात्पर्यम् । यद्वा पूर्वपूर्वडित्थादिगतप्रश-स्तगुणक्रियारोपेण तत्प्रवृत्तिनिमित्तक एव डित्थादिभ्यो बोधः । आद्ये डित्थे तु तद्व्य-क्तेरेव विषयताद्वयेन भानमिति सैव प्रवृत्तिनिमित्तमपीति तस्य भाव इति सूत्रे भाष्ये उपपादयिष्यते ॥

भावबोधिनी

मानना ही चाहिए ।]

यह भी—'ऋफिड' और 'ऋफिड्ड' है ।

कैसे ?

कारण यह है कि लोक में अर्ति = ऋधातु का प्रयोग देखा जाता है । और 'फिड, फिड्ड' ये दो औणादिक प्रत्यय हैं ।

और शब्दों की [अर्थ के विषय में] प्रवृत्ति तीन ही प्रकार की है—(१) जातिशब्द, (२) गुणशब्द, (३) क्रियाशब्द । यदृच्छा शब्द तो हैं ही नहीं । [अतः इनके लिए लृकारोपदेश की आवश्यकता नहीं हैं ।]

(प्रयोजनवादिभाष्यम्)

अन्यथा कृत्वा प्रयोजनमुक्तम्, अन्यथा कृत्वा परिहारः । सन्ति यदृच्छाशब्दा इति कृत्वा प्रयोजनमुक्तम्, न सन्तीति परिहारः ॥

समाने चार्थे शास्त्रान्वितोऽशास्त्रान्वितस्य निवर्तको भवति । तद्यथा—देवदत्तशब्दो देवदिण्णशब्दं निवर्तयति, न गाव्यादीन् ॥

प्रदीपः

अन्यथा कृत्वेति । अव्युत्पत्तिपक्षाश्रयेणाचार्येणोपदिष्ट ऌकारः । वार्तिककारस्तु व्युत्पत्तिपक्षाश्रयणेन प्रत्याचष्टे ॥ **समाने चेति ।** इह च भिन्नार्थत्वम् । ऌतकशब्दो हि यदा संज्ञात्वेन विनियुज्यते क्वचित् पिण्डे तदा तच्छब्दरूपाध्यासः, ऋतके तु विपर्ययः । भिन्नस्वरूपौ चैतौ शब्दाविति भावः ॥

उद्द्योतः

अव्युत्पत्तीति । संज्ञाशब्दा अव्युत्पन्ना इति पक्षाश्रयणेनेत्यर्थः ॥ **आचार्येणेति ।** शिवो वेदपुरुषो वात्राचार्यः । एवं च यदृच्छाशब्दसद्भावाश्रयेण प्रयोजने उक्ते तदनाश्रयणेन तत्प्रयोजननिराकरणमयुक्तमितिभावः ॥ ऋतकशब्द ऌतकशब्दस्य साधुत्वाभावकल्पक इत्याद्यं दूषणमप्ययुक्तमित्याह—**भाष्ये समाने चेति** ॥ तत्रार्थशब्दः प्रवृत्तिनिमित्ताभिप्राय इत्याह— **इह चेति** ॥ **तच्छब्दस्वरूपस्य** व्यक्तिस्वरूपस्य चार्थे प्रवृत्तिनिमित्तत्वेनाध्यास इत्यर्थः ॥ **विपर्यय इति ।** क्रिया प्रवृत्तिनिमित्तमित्यर्थः ॥ **भिन्नस्वरूपौ** भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तौ । यदि तु ऋतकोऽपि शब्दप्रवृत्तिनिमित्तकस्तदा भिन्नरूपत्वादेव प्रवृत्तिनिमित्तविपर्ययः । व्यक्तेरेव प्रवृत्तिनिमित्तत्वमितिपक्षे ऋतकसङ्केतविषयव्यक्तेऌतकसङ्केतविषयव्यक्तिर्भिन्नैवेति तद्विपर्ययोऽस्त्येवेति बोध्यम् ॥

भावबोधिनी

एक प्रकार का कथन करके प्रयोजन कहा और दूसरा प्रकार करके खंडन [=परिहार] कहा । यदृच्छा शब्द हैं—यह मानकर ऌकार के उपदेश का प्रयोजन कहा, और यदृच्छा शब्द नहीं हैं—यह मान कर उस [ऌकारोपदेश] का परिहार = न करना कह दिया । [शङ्का और समाधान दोनों किसी एक पक्षविशेष को मान कर ही होते हैं । अलग पक्ष में शङ्का और अलग में परिहार उचित नहीं होता है ।

वाच्यार्थ समान रहने पर ही व्याकरण शास्त्र द्वारा संस्कारयुक्त शुद्ध शब्द अशास्त्रीय अशुद्ध शब्द का निवर्तक होता है । उदाहरणार्थ = देवदत्त शब्द देवदिण्ण के प्रयोग की निवृत्ति करा सकता है न कि गावी आदि की । [क्योंकि किसी अर्थविशेष के लिए प्रयुक्त होने वाला साधु शब्द उसी अर्थ के लिए प्रयुक्त असाधु का प्रयोग हटाता है । अन्य किसी अर्थवाचक असाधु का प्रयोग नहीं रोक सकता । ये ऋतक और ऌतक तो भिन्न-भिन्न शब्द हैं । अतः 'ऋतक' यह 'ऌतक' की निवृत्ति नहीं कर सकता है ।]

(प्रत्याख्यानभाष्यम्)

नैष दोषः। [1]पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति ॥

प्रदीपः

पक्षान्तरैरपीति। यथा द्रव्यपक्षे **सरूपाणा**मित्यस्यारम्भः, जातिपक्षे तु प्रत्याख्यानम्। एवमस्यापीत्यर्थः। अव्युत्पन्नसंज्ञाशब्दपक्षेऽपि पारम्पर्यायाताः शिष्टप्रयुक्ता एव संज्ञाः कर्तव्याः॥

उद्द्योतः

भाष्ये समाधत्ते—**पक्षान्तरैरपीति**॥ **जातिपक्षे त्विति**। यत्तु—अक्षादिनानार्थानामेकशेषाय तत्पक्षेप्यावश्यकम्—इति। तत्तु जातिगतजातिस्वीकारेण परिहृतम्। **पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्तीति** वार्तिककृतैवमुक्तम्॥ वस्तुतश्चतुष्टयीपक्षेऽपि दोषपरिहारः सुकरः॥ यदुक्तम्—ऋतको न ऌतकनिवर्तक इति। मा भूत्तस्य निवर्तकत्वम्, शिष्टप्रयोगाभावात्तु तन्निवृत्तिः॥ न्याय्यत्वमपि वार्तिके शिष्टप्रयुक्तत्वमेवेत्यभिसन्धाय भगवतानुक्तमपि स्वयं मन्दबुद्ध्यनुग्रहाय स्फुटमाह—**अव्युत्पन्नेति**॥ **पारम्पर्यायाताः** अनादयः। एवं च शिष्टाप्रयुक्तयदृच्छाशब्दा असाधुत्वेन शास्त्राविषया इति भाष्यतात्पर्यम्॥ यत्तु—चतुष्टयीति पक्षे ऌतकादीनां टिघुभादिवच्छास्त्रविषयत्वमेवेत्यस्माद्भाष्याल्लभ्यत—इति॥ तन्न, पक्षभेदेनैकस्य शास्त्रविषयत्वतदविषयत्वाङ्गीकारे न वेति सूत्रस्थभाष्यविरोधात्। टिघुभादीनां पाणिन्यादिशिष्टप्रयुक्तत्वेन साधुत्वाच्छास्त्रविषयत्वेऽपि अन्येषां तद्विषयत्वे मानाभावाच्च। किं च साध्वसाधुर्बहिर्भूतानामपि शास्त्रविषयत्वे 'साध्वनुशासनेऽस्मिञ्शास्त्रे' इति तत्र तत्र भाष्योक्त्यसङ्गतिः। किं च शास्त्रविषयत्वमथ तद्वयव्यङ्ग्यसाधुत्वाभाव इत्यशक्यमिति दिक्॥

(इति यदृच्छाशब्दनिराकरणम्॥)

भावबोधिनी

नहीं ऐसा दोष नहीं है। दूसरे पक्षों का सहारा लेकर भी परिहार (दोषों का खण्डन आदि) किये जाते हैं। [इसलिए यदृच्छा शब्दों के लिए ऌकार के उपदेश की कोई आवश्यकता नहीं हैं।]

---

१. द्रव्य = व्यक्ति अनेक हैं। उनका बोध कराने के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग प्राप्त है। इसलिए "सरूपाणाम्" (पा० सू० १।२।६७) सूत्र बनाया होता है। परन्तु जातिपक्ष मान कर इस सूत्र का प्रत्यख्यान कर दिया गया, क्योंकि जातिरूप अर्थ एक है, एक ही शब्द का प्रयोग प्राप्त है। सूत्र की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार व्यक्तिपक्ष में 'अणुदित्' सूत्र में अणग्रहण है और जातिपक्ष में अण् का प्रत्याख्यान है। अतः पक्षभेद से भी प्रत्याख्यान हो सकता है।

(॥ ४४ ॥ द्वितीयप्रयोजनप्रत्याख्यानवार्तिकम् ॥ ४ ॥)

॥*॥ अनुकरणं शिष्टाशिष्टाप्रतिषिद्धेषु यथा लौकिकवैदिकेषु ॥*॥

(भाष्यम्)

अनुकरणं हि शिष्टस्य वा साधु भवति, अशिष्टाप्रतिषिद्धस्य वा नैव तद्दोषाय भवति, नाभ्युदयाय ॥ यथा लौकिकवैदिकेषु । यथा लौकिकेषु वैदिकेषु च कृतान्तेषु ।

लोके तावद्—य एवमसौ ददाति, य एवमसौ यजते, य एवमसावधीते इति । तस्यानुकुर्वन् दद्याच्च यजेत चाधीयीत च । सोऽप्यभ्युदयेन युज्यते ॥

वेदेऽपि—"य एवं विश्वसृजः सत्राण्यध्यासते" इति, तेषामनुकुर्वन्

प्रदीपः

[१]प्रयोजनान्तरमपि वार्तिककारः प्रत्याचष्टे—**अनुकरणमिति** । अनुकार्यस्य

उद्द्योतः

अनुकरणं शिष्टस्य वा अशिष्टाप्रतिषिद्धस्य वा भवति । तत्राद्यं साधु,अन्त्यं न दोषाय नाप्यभ्युदयायेति भाष्येऽन्वयः । अर्थात्प्रतिषिद्धानुकरणस्य दुष्टत्वं बोध्यम् ॥ ननु शिष्टानुकरणं नासाधु, अशिष्टाप्रतिषिद्धस्य वा नासाधु । आद्यस्याभ्युदयजनकत्वाद्, अन्त्यस्याभ्युदयाजनकत्वेऽपि दोषाजनकत्वात् । एवं च प्रकृते किमायातमत आह—**अनुकार्यस्य**

भावबोधिनी

(वा०) अनुकरण शिष्ट का अथवा जो न शिष्ट है और न प्रतिषिद्ध है उसका [साधु माना जाता है], जैसा कि लौकिक और वैदिक कार्यों में [देखा जाता है]।

(भा०) अनुकरण तो (व्याकरण शास्त्र द्वारा संस्कृत =) शिष्ट का ही साधु माना जाता है अथवा जो न शिष्ट है और न प्रतिषिद्ध उसका अनुकरण साधु माना जाता है, यह (दूसरा वाला अनुकरण) न तो किसी दोष को उत्पन्न कराता है और न किसी मङ्गल को । जैसा कि लौकिक और वैदिक कार्यों=सिद्धान्तों में देखा जाता है ।

पहले लौकिक उदा० 'जो इस प्रकार से दान करता है, जो इस प्रकार से यज्ञ करता है, जो इस प्रकार से (वेदादि का) 'अध्ययन करता है' इसका अनुकरण करता हुआ यदि कोई दान दे, यज्ञ करे, और अध्ययन करे तो वह भी कल्याण से युक्त हो जाता है, उसे भी पुण्यलाभ होता है ।

---

१. **प्रयोजनान्तरमिति** । एवमाद्यं प्रयोजनं निरस्येत्यादिः । (छाया)

तद्वत्सत्त्राण्यध्यासीत। सोऽप्यभ्युदयेन युज्यते।

अशिष्टाप्रतिषिद्धं यथा—य एवमसौ हिक्कति, य एवमसौ हसति, य एवमसौ कण्डूयतीति। तस्यानुकुर्वन् हिक्केच्च, हसेच्च, कण्डूयेच्च, नैव तद्दोषाय स्यान्नाभ्युदयाय॥

यस्तु खल्वेवमसौ ब्राह्मणं हन्ति, एवमसौ सुरां पिबतीति तस्यानुकुर्वन् ब्राह्मणं हन्यात्सुरां वा पिबेत्, सोऽपि मन्ये पतितः स्यात्।

(प्रयोजनसमर्थनभाष्यम्)

विषम उपन्यासः। यश्चैवं हन्ति, यश्चानुहन्ति, उभौ तौ हतः। यश्चापि

प्रदीपः

दुष्टत्वादनुकरणस्यापि दुष्टत्वं मन्यते सुरापानानुकरणवत्॥

भाष्यकारस्त्वनुकरणार्थकत्वं समर्थयते—**विषम इति**। न ह्यनुकार्यस्य दोषेणानुकरणस्य दुष्टत्वमिति दर्शयति—**यश्चेति**। विहितकरणाद्धर्मोत्पत्तिः प्रतिषिद्धाचरणाच्चाधर्मोत्पत्तिर्न त्वनुमानेन धर्माधर्मयोर्व्यवस्थेति मन्यते। सुरापाणादौ तु तस्या एव क्रियाया अनुष्ठानात्सादृश्याभावान्नास्त्यनुकरणत्वम्। दानादीनां स्मार्तत्वाल्लौकिकत्व-

उद्द्योतः

दुष्टत्वादिति। अर्थलब्धं तदादाय प्रकृतोपयोग इत्यर्थः॥ अत एव भाष्ये तद्दृष्टान्तेनोपपादयिष्यति—**यस्तु खल्विति**। एवं चासाध्वनुकरणस्यासाधुत्वाच्छास्त्राविषयत्वात्तदर्थता लृकारोपदेशस्य न युज्यत इति भावः॥ भाष्ये **यजेत वेति**। यागोऽत्र स्मार्तो ग्राह्यः॥ **सादृश्याभावादिति**। न चैकजातीयेष्वपि व्यक्तिभेदेन सादृश्यसम्भवः। सुरापान-

भावबोधिनी

वेद में भी—"जो ये प्रजापतिसम्बन्धी (दीर्घकालसाध्य) यज्ञ करते हैं, इनका अनुकरण करता हुआ जो उसी प्रकार से यज्ञों का अनुष्ठान करे वह भी अभ्युदय = मङ्गल से युक्त होता है।"

अशिष्ट और अप्रतिषिद्ध का उदा० जो इस प्रकार से हिचकी लेता है, जो इस प्रकार से हँसता है, जो इस प्रकार से खुजलाता है। उसका अनुकरण = नकल करता हुआ यदि कोई हिचकी ले, हँसे, और खुजलावे, वह (कार्य) न तो दोष के लिए होता है और न अभ्युदय = मङ्गल के लिए। [ऐसा कार्य हानि-लाभ कुछ भी नहीं करता है।]

परन्तु 'जो इस प्रकार से ब्राह्मणवध करता है, इस प्रकार से सुरापान करता है, उसका अनुकरण = नकल करता हुआ ब्राह्मणवध कर डाले अथवा सुरापान कर डालें, वह निश्चित रूप से पतित = पापभागी होगा, मैं ऐसा मानता हूँ। [इससे स्पष्ट है कि यदि अनुकार्य दोषग्रस्त है तो अनुकरण भी दोषग्रस्त ही होगा। इस कारण अशुद्ध का अनुकरण भी अशुद्ध होगा जिससे वह व्याकरण शास्त्र

पिबति, यश्चानुपिबति, उभौ तौ पिबतः ॥

यस्तु खल्वेवमसौ ब्राह्मणं हन्ति एवमसौ सुरां वा पिबतीति तस्यानुकुर्वन्स्नातानुलिप्तो[१] माल्यगुणकण्ठः कदलीस्तम्भं छिन्द्यात्पयो वा पिबेत्, न स मन्ये पतितः स्यात् ॥

प्रदीपः

मुच्यते ॥ **स्नातानुलिप्त इति** । स्वस्थचित्तत्वं दर्शयति । अस्वस्थेन हि चित्तेनाकार्यं क्रियते । **माल्यगुणकण्ठ इति** । लोकमध्ये प्रकाशते इत्यर्थः । अकार्यं ह्यप्रकाशं क्रियते । तत्र **लृतकशब्दोऽपि** यदा ऋतकार्थे प्रयुज्यते तदापशब्दः, यदा त्वनुकार्यं प्रत्याययति तदा साधुरेवार्थभेदाद् अश्वगोण्यादिवत् ॥

उद्द्योतः

त्वादेरेव तादृशस्थले सादृश्येन तदतिरिक्तसादृश्याभावादित्याशयात् । तदाह—नास्त्येति ॥ दानादीनां कथं लौकिकत्वेनोपन्यासोऽत आह—स्मार्तत्वादिति ॥ अस्वस्थेनेति । आस्तिकत्वे सत्यपीति भावः ॥ माल्यगुणकण्ठ इति ॥ मालायां साधूनि माल्यानि=पुष्पाणि तैर्युक्तो गुणः = सूत्रं कण्ठे यस्येत्यर्थः । गड्वादित्वात् परनिपातः । अकार्यं हीति । इह लोके भीरुणेत्यर्थः ॥ [अर्थभेदेन साधुत्वे दृष्टान्तमाह—अश्वेति ॥]

भावबोधिनी

का विषय ही नहीं बन सकता, तब लृकारोपदेश की क्या आवश्यकता ?]

यह (उपर्युक्त) उपन्यास = दृष्टान्त उचित नहीं है। कारण यह है—जो इस प्रकार से ब्राह्मण का वध करता है (उसका अनुकरण करता हुआ) दूसरा जो भी वध करता है, वे दोनों (अनुकार्य और अनुकर्ता) वध करते हैं (समान रूप से वधरूपी पाप कर्म के भागी होते हैं ।) और जो (सुरा) पीता है (उसका अनुकरण करता हुआ । जो दूसरा भी (सुरा) पीता है, वे दोनों पीते हैं, सुरादि पान करते हैं ।

परन्तु 'जो इस प्रकार से ब्राह्मण का वध करता है, जो इस प्रकार से सुरादि पीता है—ऐसा उस (हत्यारे और सुरापायी) का अनुकरण करता हुआ [कोई दूसरा व्यक्ति] स्नान करके चन्दनादि लगा कर गले मे फूलों की माला पहने हुए कदली-स्तम्भ = केले के पेड़ = तने को काट डाले, अथवा दूध – जल पी ले, मैं तो समझता हूँ कि वह पतित = पापभागी नहीं होता है ।

विमर्श—अनुकरण = पश्चात् करण मात्र नहीं समझना चाहिए । वार्त्तिककार ने प्रतिषिद्ध का अनुकरण दोषाधायक माना है। परन्तु भाष्यकार का तात्पर्य कुछ अलग ही है । यदि सर्वतः अनुकरण किया जाता है तभी उससे हानि-लाभ होते हैं । अंशतः अनुकरण से वे सभी हानि लाभ नहीं देखे जाते हैं । किसी ने किसी को ब्राह्मण का काट कर वध करते देखा । उसका अनुकरण करता हुआ वह स्नानादि

---

२. स्नातानुलिप्तः—पूर्वं स्नातः अनु = पश्चात् चन्दनादिना लिप्तः ।

(प्रयोजनप्रत्याख्यानभाष्यम्)

एवमिहापि य एवमसावपशब्दं प्रयुङ्क्ते इतितस्यानु कुर्वन्नपशब्दं प्रयुञ्जीत, सोऽप्यपशब्दभाक् स्यात् ॥

(समाधानभाष्यम्)

अयं त्वन्योऽपशब्दपदार्थकः[1] शब्दो यदर्थं उपदेशः कर्तव्यः । न चापशब्द-पदार्थकः शब्दोऽपशब्दो भवति ।

अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम् । यो हि मन्यतेऽपशब्दपदार्थकः शब्दोऽपशब्दो भवतीति, अपशब्द इत्येव तस्यापशब्दः स्यात् । न चैषोऽपशब्दः ।

(प्रयोजनभाष्यम्)

अयं खल्वपि भूयोनुकरणशब्दोऽपरिहार्यः, यदर्थं उपदेशकर्तव्यः—साध्ल्̥-

प्रदीपः

अपशब्द इत्येवेति । अस्य हि गाव्यादयोऽपभ्रंशा वाच्याः ॥

अयमिति । असाधोरनुकरणमित्येतदत्र नास्तीति भावः ॥

उद्द्योतः

भाष्ये प्रयोजनप्रत्याख्यानवादी शङ्कते—एवमिहापीति ॥

प्रयोजनवादी समाधत्ते—अयं त्वन्य इति । अस्य हीति । एवं च तत्तदर्थे व्याकरणाननुगतत्वमपशब्दत्वमिति भावः ॥

भाष्ये तुष्यतु दुर्जनन्यायेन साध्वनुकरणार्थत्वं ल्̥कारोपदेशस्याह—अयं खल्वपीति ।

भावबोधिनी

करके स्वस्थ और प्रसन्न चित्त से किसी केले के पेड़ को काट कर समाप्त करता है। यहाँ अनुकरण है किन्तु पाप-जनकता = दोषाधायकता नहीं है। इसीलिये अनुकार्य विजातीय अनुकरण के होने पर भी अनुकार्य के समान फल नहीं होता है। इसलिए 'लृतक' शब्द भी तभी अपशब्द माना जाता है जब वह लृतक अर्थ में प्रयुक्त होता है। किन्तु जब उसका अर्थ अनुकार्य लृतक होता है तब तो वह साधु ही मानना चाहिए क्योंकि अर्थ भिन्न हो जाता है। इसलिए लृतक सर्वथा अशुद्ध ही नहीं मानना चाहिए।

(अनु०) इसी प्रकार [हनन-अनुहननवत् और पान और अनुपानवत्] यहाँ (प्रस्तुत स्थल में) भी 'जो कोई इस प्रकार से अपशब्द का प्रयोग करता है' उसका अनुकरण करता हुआ अपशब्द का प्रयोग करे, वह अपशब्द [के प्रयोग से होने वाले पाप] भागी होगा।

---

१. **अपशब्दपदार्थक** इति । यदाऽपशब्दस्य लृतकशब्दस्यानुकरणम् अनुकार्यशब्दोपस्थापकमात्रं तदा तत् साधु । अपशब्दलृतके शब्दपदार्थकत्वेऽपि तस्य साधुत्वात्तदर्थं उपदेश आवश्यकः इत्याशयः । (छाया)

-कारमधीते मध्व्लृकारमधीत इति ।

(खण्डनभाष्यम्)

क्वस्थस्य पुनरेतदनुकरणम् ?

क्लृपिस्थस्य ॥

यदि क्लृपिस्थस्य, क्लृपेश्च लत्वमसिद्धम् । तस्यासिद्धत्वादृकार एवाच्-कार्याणि भविष्यन्ति ॥

भावबोधिनी

यह लृतक शब्द तो दूसरा है जिसका अर्थ अपशब्द लृतक है, इसके लिए उपदेश करना चाहिए ।१

और जो शब्द अपशब्द का वाचक होता है अर्थात् जिस शब्द का अर्थ कोई अपशब्द होता है वह अपशब्द नहीं होता है । और ऐसा समझना आवश्यक है । क्योंकि जो ऐसा मानता है—अपशब्द का वाचक शब्द अपशब्द होता है अर्थात् जिस शब्द का अर्थ अपशब्द होता है, उसके लिए तो अपशब्द ही अपशब्द हो जायगा अर्थात् उसका अपशब्द कहना ही असाधु होने लगेगा । ओर यह (अपशब्द पदार्थक शब्द) अपशब्द नहीं हैं ।

[इससे स्पष्ट है कि अनुकार्य अपशब्द हो सकता है परन्तु अनुकरण शब्द अपशब्द नहीं हो सकता ।]

और यह (साधु) ऌ अनुकरण शब्द है इसका परिहार = परित्याग करना सम्भव नहीं है, जिसके लिए लृकार का उपदेश करना चाहिये—साध्व्लृकारमधीते, मध्व्लृकारमधीते । [साधु + लृकारम्, मधु + लृकारम् । इसमें शुद्ध लृ का अनुकरण है । क्योंकि अनुकर्त्ता कहता है 'यह लृकार बहुत अच्छी तरह पढ़ता है, बहुत मधुर रीति से पढ़ता है । इसमें अनुकार्य और अनुकरण दोनों शुद्ध ही हैं । इसके लिए लृ कहना ही पड़ेगा ।]

यह किस शब्द में स्थित लृ का अनुकरण है ?

क्लृप् धातु में स्थित (लृकार) का ।

यदि क्लृप् धातु में वर्तमान लृकार का अनुकरण है तब तो उस क्लृप् का लत्व असिद्ध है । क्योंकि उस के असिद्ध होने से लृकार में ही अच्सम्बन्धी कार्य हो जायेंगे ।

---

१. यहाँ ऋतक का अपभ्रंश लृतक नहीं है अपितु अपभ्रंश लृतक का अनुकरण लृतक शब्द है इसलिए अनुकार्य का उपस्थापक होने से यह लृतक (अनुकरेण) अपशब्द नहीं है, साधु शब्द है । अतः 'अन्य अपशब्द पदार्थकः = अपशब्द = लृतकः पदार्थः तस्य स तादृशः' यह भाव है । इसके लिए 'लृ' का उपदेश आवश्यक है ।

(प्रयोजनभाष्यम्)

भवेत्तदर्थेन नार्थः स्यात् । अयं त्वन्यः क्लृपिस्थ पदार्थकः शब्दः, यदर्थं उपदेशः कर्तव्यः ॥

(खण्डनभाष्यम्)

न कर्तव्यः । इदमवश्यं कर्तव्यम्—"प्रकृतिवदनुकरणं भवति" इति ॥

किं प्रयोजनम् ?

'द्वि पचन्त्वित्याह' "तिङ्ङतिङः" (८।१।२८) इति निघातो यथा स्यात् । 'अग्नी इत्याह' "ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्" (१।१।११) इति प्रगृह्यसंज्ञा यथा स्यात् ॥

प्रदीपः

भवेदिति । प्रयोगस्थस्येदमनुकरणम् प्रयोगे च नास्ति **'पूर्वत्रासिद्ध'** मिति भावः ॥

प्रकृतिवदिति । तत्र यथा क्लृपेर्लत्वस्यासिद्धत्वादृकारद्वारेण ऌकारस्याच्कार्यं तथानुकरणस्यापीत्यर्थः । **द्विरिति ।** पचन्तु पचन्त्विति केनचिदुक्ते **द्विः पचन्त्वित्यनुकरणम् ।** एतच्च क्रियासाधनाद्यनभिधानात्तिङन्तं न भवति । एवमग्नी इत्यनुकरणं द्व्यर्थानभिधानान्न द्विवचनान्तम् ॥ ननु गम्ऌ सृप्ऌ इत्यादिस्थ स्य यदानुकरणं तदा कथं प्रकृतिवद्भावः ? **द्युताद्य्ऌदित** इति ऌकारे परतो यणादेश करणादित्संज्ञानुवादाच्च धात्वनुबन्धस्य ऌकारस्याच्कार्याण्यनुमीयन्ते ततस्तदनुकरणस्य सिद्धः प्रकृतिवद्भावः ॥

उद्द्योतः

यद्यप्यर्थशून्यवर्णानां न साधुत्वम्, तथापि वर्णात्कारविधानेन तेषां साधुत्वमितिभावः ॥

भवेत्तदर्थेनेति । तदर्थेन क्लृपिस्थऌकारार्थेन ऌकारस्योपदेशेन प्रयोजनं न भवति— एवं यद्यपि भवेत्तथापि तदनुकरणार्थेनार्थ इत्यर्थः । ननु क्लृपिस्थस्या सिद्धत्वात्कथं तदनुकरणमत आह—**प्रयोगस्थस्येति ॥ प्रयोगे** अनुकरणप्रयोगे । शास्त्रे तदीयकार्ये वाऽसिद्धत्वं पौर्वापर्यस्य तत्रैव संभवात् । न चैवं प्रकृते इति भावः ॥

ऋकारद्वारेणेति । ऋकारबुद्ध्येत्यर्थः ॥ भाष्ये—**द्विःपचन्त्विति ।** पचन्त्विति द्विराहेत्यन्वयः । असत्यतिदेशे तिङन्तत्वाभावे हेतुमाह—**एतच्चेति । द्व्यर्थेति ।** एतदर्थमेव द्विवचनमित्यन्वर्थसंज्ञाकरणम् ॥ **नन्विति ।** एवं च पाठाभावे मूलस्यैवाच्त्वाभावा-

भावबोधिनी

उस क्लृप् में स्थित लृ के लिये उपदेश की आवश्यकता न हो, किन्तु यह [साधु लृकारम्, मधु लृंकारम्] लृकार तो क्लृप् में स्थित लृ रूप पदार्थ वाला, उसका वाचक है इसके लिए तो लृ का उपदेश करना ही है। [क्लृप् का लृ तो "पूर्वत्रासिद्धम्" के अनुसार असिद्ध होने से ऋ हो जाता है। इस अच् को मान कर कार्य हो सकते हैं। परन्तु प्रयोग = अनुकरण में जो लृ है वह तो शास्त्र

(खण्डनोपसंहारभाष्यम्)

यदि-प्रकृतिवदनुकरणं भवतीत्युच्यते, अपशब्द एवासौ भवति कुमार्य्-लृतक इत्याह, ब्राह्मण्य्लृतक इत्याह। अपशब्दो ह्यस्य प्रकृतिः ॥

उद्द्योतः

कथं तदनुकरणेऽच्कार्यमिति तदर्थं उपदेश आवश्यक इति भावः ॥ अनुमीयन्त इति। इदं चिन्त्यम्। आनुमानिकवचनेन कृतस्य वर्णस्य प्रत्याख्यानायोगात्। तस्माद्गम्लृ इत्यादिस्थ लृकारो धर्माजनकत्वान्न साधुरिति वक्तुं युक्तम्। एवं चाशक्तिजानुकरणेति वार्तिकेऽशक्तिजपदं व्यर्थमिति कैयटतात्पर्यम् ॥

एवं साध्वनुकरणार्थत्वे लृकारोपदेशस्य प्रकृतिवदित्याश्रयणेन खण्डिते तेनैवाशक्तिजानुकरणार्थत्वमपि खण्डयति पूर्वपक्षी भाष्ये—यदि प्रकृतिवदिति ॥

भावबोधिनी

से असिद्ध नहीं होगा। उसके लिए तो लृ का उपदेश करना अपरिहार्य है।

नहीं, करना पड़ेगा। यह तो अवश्य कहना होगा "अनुकरण प्रकृति के समान ही होता है।"

क्या प्रयोजन है ?

"द्विः पचन्तु इत्याह" (दो बार पचन्तु—इसका प्रयोग करता है) इसमें "तिङ्ङतिङः" (पा० सू० ८।१।२८) सूत्र से निघात जिस प्रकार से हो सके। 'अग्नी इत्याह' यहाँ भी [ईकारान्त द्विवचन मान कर] "ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्" (पा० सू० १।१।११) इससे प्रगृह संज्ञा जिस प्रकार से हो सके।

विमर्श—पचन्तु पचन्तु—ऐसा किसी ने कहा, उसका अनुसरण करके दूसरा कोई 'द्विः पचन्तु—इत्याह' यह बोलता है। यहाँ 'पचन्तु' पद क्रियावाचकता आदि वाला नहीं है। इसलिए 'तिङ्ङतिङः' से निघात नहीं हो सकेगा। 'अग्नी इत्याह' वहाँ अग्नि शब्द द्विवचन का बोधक न होने से "ईदूदेद्द्विवचनम्" से प्रगृह्य संज्ञा नहीं हो सकेगी। इसलिए यह मानना पड़ता है कि अनुकरण प्रकृति के समान ही होता है। चूंकि प्रकृतिभूत क्लृप का लृ असिद्ध है अतः उसके आधार पर अनुकरण का भी असिद्ध होगा, ऋकार ही होगा। अच् मान कर कार्य हो जायेंगे। लृकार के उपदेश की आवश्यकता नहीं है।

(अनु०) यदि ऐसा कहा जाता है—'अनुकरण प्रकृति के समान होता है', तब तो 'कुमार्य्लृतक इत्याह' 'ब्राह्मण्य्लृतक इत्याह' यह तो अपशब्द ही है। कारण यह है कि इसकी प्रकृति (अनुकार्य) अपशब्द है। [अतः यह अनुकरण लृतक भी अपशब्द ही है। अतः अनुकार्य भी अपशब्द है। चूंकि शास्त्र के विषय शुद्ध ही हैं अपशब्द नहीं। अतः लृतक का उपदेश आवश्यक नहीं है।]

(प्रयोजनभाष्यम्)

न चापशब्दः प्रकृतिः। नह्यपशब्दा उपदिश्यन्ते। न चानुपदिष्टा प्रकृतिरस्ति॥

(इत्यशक्तिजानुकरणखण्डनमण्डनम्)

(४५ तृतीयप्रयोजनप्रत्याख्यानवार्तिकम् ॥ ४ ॥)

॥ * ॥ एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् प्लुत्यादयः ॥ * ॥

प्रदीपः

नचापशब्द इति। सिद्धान्तवादी। प्रकरणाद्धि शास्त्रीया प्रकृतिराश्रीयते, शास्त्रनिबन्धनं च कार्यमतिदिश्यते, अपशब्दश्च न शास्त्रीया प्रकृतिरनुपदिष्टत्वात्। नचापशब्दत्वं शास्त्रीयं कार्यं नापि तदतिदेष्टुं शक्यम्। नहि साधोरसाधुत्वातिदेशो युक्तिमान्। तत्त्वं भाष्यकारेणाशक्तिजानुकरणार्थत्वं ऌकारोपदेशस्य स्थापितम्॥

उद्द्योतः

ननु मा भूदपशब्दोपदेशः, प्रकृतित्वं तु कथं नेत्यत आह—**प्रकरणादिति।** अतिदेशस्य शास्त्रीयत्वमनेन दर्श्यते। तत्र च प्रत्यासत्त्या शास्त्रीयप्रकृत्यादेरेव ग्रहणमुचितमिति भावः॥ उपलक्षणं भाष्यमित्याह—**शास्त्रनिबन्धनं चेति॥ नापि तदतिदेष्टुमित्यादि** चिन्त्यम्। अब्राह्मणे ब्राह्मणत्वाद्यतिदेशवत्संभवादिति कश्चित्॥ **तदेवमिति।** अशक्तिजस्य शास्त्रीयप्रकृतित्वाभावान्न तदनुकरणेऽतिदेशप्रवृत्तिरित्यपशब्दत्वाभावादच्कार्यसिद्ध्यर्थं ऌकारोपदेश इत्यर्थः॥

भावबोधिनी

[सिद्धान्तवादी कहता है—] और अपशब्द प्रकृति नहीं होती है। (पाणिन्यादि आचार्यों द्वारा) अपशब्दों का उपदेश नहीं किया जाता है। और अनुपदिष्ट प्रकृति बन नहीं सकती है।[1]

[इससे स्पष्ट है कि अशक्तिजन्य लृ के अनुकरण के लिए ऌकार का उपदेश करना चाहिए—ऐसा भाष्यकार का मत है।]

---

१. कुमार्य् लृतक इत्यादौ 'प्रकृतिवदि' त्यतिदेशेनापशब्दत्वमापाद्य दोषो वारितस्तथापि प्रकृतिवदित्यत्र प्रकृतिपदेनोपदिष्टा शास्त्रीयैव प्रकृतिर्गृह्यते नान्येति प्रकृतिवदित्यतिदेशस्यात्र प्रवृत्तिरेव नेति अशक्तिजस्यानुकरणार्थम् ऌकारोपदेश इति तात्पर्यम्॥

(भाष्यम्)

"एकदेशविकृतमनन्यवद्भवति" इति प्लुत्यादयोऽपि भविष्यन्ति ॥

(प्रयोजनवाद्याक्षेपभाष्यम्)

यदि 'एकदेशविकृतमनन्यवद्भवति' इत्युच्येत, "राज्ञः क च" (५।४।१४०) राजकीयम् "अल्लोपोऽनः" (६।४।१३४) इति लोपः प्राप्नोति ॥

(प्रत्याख्यातृसमाधानभाष्यम्)

एकदेशविकृतमनन्यवत् षष्ठीनिर्दिष्टस्य ।

प्रदीपः

एकदेशविकृतस्येति । ऋकारे रेफभागस्य ले कृते स एव ऋकार इति प्रत्यभिज्ञानादिति भावः ॥

षष्ठीनिर्दिष्टस्येति । राज्ञः क चेत्यत्र राजन्शब्दः षष्ठीनिर्दिष्टो न त्वन् इति लोपाभावः ॥

उद्द्योतः

इदानीं प्लुत्याद्यर्थत्वं तस्य परिहरति भाष्ये—एकेदेशेति ॥ रेफभागस्येति । 'वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन गृह्यन्त' इति पक्षे इत्यर्थः ॥ प्रत्यभिज्ञानादिति । एवं च छिन्नपुच्छश्वदृष्टान्तेन लोकन्यायसिद्धमस्य ऋत्वमित्यर्थः । व्याख्यानभाष्ये अनन्यवद् इत्यस्यान्यवन्नेत्यर्थः । अन्यसादृश्यस्यापि निषेधे तत्त्वं दृढीकृतम् ॥

सिद्धान्त्येकदेशी वर्तिं दृष्ट्वा स्थानिवत्सूत्रमनेनोपन्यस्तमित्याशयेनाह–षष्ठीनिर्दिष्ट-

भावबोधिनी

(वा०) एक देश से विकृत अन्य नहीं हो जाता है, इसलिए प्लुतकार्य आदि [हो जाते हैं ।]

(भा०) 'एकदेश = अवयव के विकार से विकृत अवयवी अन्य के समान नहीं हो जाता है ।' इस परिभाषा से प्लुतकार्य आदि भी हो जायेंगे । [ऋकार में रेफ भाग का ल हो जाने पर भी वह ऋ ही रहता है, अतः उसे ही मानकार प्लुत, द्वित्व और स्वरित—तीनों कार्य हो जायेंगे । अलग से ऌ का उपदेश आवश्यक नही है ।]

यदि, 'एकदेश = अवयव से विकृत अवयवी अन्य के समान नहीं होता है, वही रहता है ।' ऐसा कहा जाता है तब तो "राज्ञः क च" (पा० सू० ५।४।१४०) से ककार आदेश करने पर 'राजकीयम्' यहाँ 'अल्लोपोऽनः' (पा० सू० ६।४।१३४) से अलोप प्राप्त होता है ।

विमर्श—लोक में जैसे पूँछ कट जाने पर भी कुत्ता कुत्ता ही रहता हैं उसी प्रकार ऋ के रेफ का ल् करने पर भी वह ऋ ही माना जाता है । इससे क्लृप्तशिख में

(प्रयोजनवादिभाष्यम्)

यदि—षष्ठीनिर्दिष्टस्येत्युच्यते, 'क्लृ३प्तशिख' इति प्लुतो न प्राप्नोति। नह्यत्र ऋकारः षष्ठीनिर्दिष्टः॥ कस्तर्हि? रेफः॥

(प्रत्याख्यातृभाष्यम्)

ऋकारोऽप्यत्र षष्ठीनिर्दिष्टः॥ कथम्? अविभक्तको निर्देशः—कृपः उः रः

प्रदीपः

यद्येवं 'कृपो रो ल' इत्यत्रापि ऋकारः षष्ठ्या न निर्दिष्ट इत्यनन्यत्वं न प्राप्नोतीत्याह—यदीति॥

उद्द्योतः

स्येति॥ तत्संबन्ध्येकदेशविकृतमादेशरूपमित्यर्थः। नन्वल्लोपोऽन इत्यत्रान्नपि षष्ठीनिर्दिष्ट एवेत्यत आह—राज्ञ इति। येन विकारेण यस्य विकृतस्य यद्रूपमेकदेशविकृतन्यायेन प्रार्थ्यते तद्रूपावच्छिन्नस्य तेन रूपेण तद्विकारविधौ षष्ठीनिर्दिष्टस्येति तदर्थ इति भावः॥

भाष्ये प्लुतो न प्राप्नोतीति द्विर्वचनादेरप्युपलक्षणम्॥ कस्तर्हि रेफ इति। कृप इति त्ववयवषष्ठीति भावः॥

कृप उरिति॥ कृपे रेफस्य लस्तदवयवऋकारस्य च लकारघटित आदेश इत्यर्थः।

भावबोधिनी

प्लुत, क्लृप्तः में द्वित्व और प्रक्लृप्त में स्वरित ये तीनों कार्य अच् मानकर हो जाते हैं। परन्तु इसी प्रकार 'राजन्' शब्द से शैषिक छ प्रत्यय और न् का क् आदेश ये दोनों कार्य 'राज्ञः क च" सूत्र से होने पर भी 'राजक् ईय' में राजन् शब्द ही मान कर 'अल्लोपोऽनः' से अलोप प्रसक्त होगा। क्योंकि न् का क् करने पर भी वह राजन् ही माना जायगा।

(अनु०) षष्ठी विभक्ति वाले से निर्दिष्ट ही शब्दस्वरूप एकदेश के विकृत होने से अन्यवत् नहीं होता है। ['राज्ञः क च' (४।२।१४०) इसमें राजन् षष्ठी-निर्दिष्ट है अन् नहीं है। अतः अक् को अन् नहीं माना जा सकता। लोप का प्रसङ्ग नहीं आता है।]

यदि यह कहा जाय कि षष्ठी-निर्दिष्ट का एकदेश से विकृत अन्यवत् नहीं होता है तब तो 'क्लृ३प्तशिख' यहाँ प्लुत नहीं प्राप्त होता है क्योंकि यहाँ ['कृपो रो लः' इस सूत्र में] ऋकार षष्ठी-निर्दिष्ट नहीं है। [अतः यहाँ तो अन्य ही हो जायगा।]

तो कौन (षष्ठी-निर्दिष्ट) है?

रेफ (षष्ठी-निर्दिष्ट)।

[नहीं,] यहाँ ऋकार भी षष्ठी-निर्दिष्ट है।

कैसे?

रुः "कृपो रो लः" (८।२।१८) इति ॥

(प्रत्याख्यातुरेव भाष्यम्)

अथवा पुनरस्तु अविशेषेण ॥

(आक्षेपस्मारणभाष्यम्)

ननु चोक्तं—"राज्ञः क च" राजकीयम् "अल्लोपोनः" इति प्राप्नोतीति ।

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

नैष दोषः । वक्ष्यत्येतत्—"श्वादीनां सम्प्रसारणे नकारान्तग्रहणमनकारान्तप्रतिषेधार्थम्" (वा०) इति । तत्प्रकृतमुत्तरत्रानुवर्तिष्यते—"अल्लोपोऽनः" नकारान्तस्येति ।

प्रदीपः

अथवेति । षष्ठीनिर्दिष्टस्येति नापेक्ष्यते ॥

नकारान्तस्येति । न च राजन्शब्दः कादेशे कृते नकारान्तो भवति, श्वेव पुच्छे

उद्द्योतः

स्थानिनिर्देश एव तादृशादेशकल्पक इति भावः ॥ एतेन तस्यावयवषष्ठ्यन्तत्वेन स्थानषष्ठीनिर्दिष्टत्वाभावादिदं चिन्त्यमित्यपास्तम् ॥

ननु स्थानिवत्सूत्रे हि तथा । प्रकृते च न तेनातिदेश उच्यते, किं तु च्छिन्नपुच्छश्वदृष्टान्तेन प्रत्यभिज्ञयाऽनन्यत्वमुच्यते । तत्र षष्ठीनिर्दिष्टस्येति वक्तुमेवाशक्यमित्याशयेनाह भाष्ये—अथवेति ॥

ननु कादेशेऽन्त्वमिवैकदेशविकृतन्यायेन नकारान्तत्वमपि कुतो नेत्यत आह—न च

भावबोधिनी

यह अविभक्तिक (विनाषष्ठी का) निर्देश है—कृप उः रः लः = कृपो रो लः । [कृप के ऋ के र् का ल् होता है—ऐसा सूत्रार्थ होने से 'ऋ' भी षष्ठीनिर्दिष्ट हो जाता है । अनन्यवत् ही माना जायगा ।]

अथवा सामान्यरूप से ही रहे । [अवयव के विकृत होने से अवयवी विकृत नहीं होता है—इसमें षष्ठी-निर्दिष्ट होना आवश्यक नहीं है ।]

अरे, अभी कहा गया है—"राज्ञः क च" राजकीयम् में 'अल्लोपोऽनः' सूत्र से अलोप प्राप्त होता है । [यहाँ राजन् के षष्ठीनिर्दिष्ट और अन् के षष्ठीनिर्दिष्ट न होने पर भी राजक् में राजन् ऐसी बुद्धि हो जाने से 'अल्लोपोऽनः' से अलोप प्राप्त ही है ।]

नहीं, यह दोष नहीं है, [क्योंकि] आगे कहा जायगा श्वन् आदि के सम्प्रसारण में ['श्वयुवमघोनामतद्धिते' पा० सू० ६।४।१३३ से श्वन् आदि के सम्प्रसारण-विधान के प्रसङ्ग में] नकारान्त का ग्रहण है अनकारान्त के प्रतिषेध के लिए । [श्वन् आदि

(प्रयोजनबाधाक्षेपभाष्यम्)

इह तर्हि क्लृ३प्तशिख "अनृत" (८।२।८६) इति प्रतिषेधः प्राप्नोति ॥

(४६ प्रत्याख्यातृसमाधानवार्तिकम् ॥ ५ ॥)

॥ * ॥ रवत्प्रतिषेधाच्च ॥ * ॥

रवत्प्रतिषेधाच्चैतत्सिध्यति । "गुरोररवतः' इति वक्ष्यामि ॥

प्रदीपः

छिन्ने न पुच्छवानिति भावः ॥

अरवत इति । रोऽस्यास्ति नित्यमिति नित्ययोगे मतुप् । तेन ऋकार एव रवान् न तु वर्तक इत्यादावकारः । न रवानरवानिति समासः । नित्ययोगप्रतिपादनाय बहुव्रीहिर्न कृतो—गुरोररस्येति ॥

उद्द्योतः

राजन्निति । एकदेशपदेन ससंबन्धिकतयोपस्थितावयवविधर्म एव विकारविशिष्टे आरोप्यते, न त्ववयव एव, लोकव्यवहारादिति भावः ॥

भाष्ये इह तर्हीति । एकदेशविकृतन्यायेन ऋत्वादिति भावः ॥ रोऽस्यास्तीति । इदं चिन्त्यम्—अवयवादावेव मत्वर्थौ नानन्तरादाविति वर्तक इत्यादौ रवत्वस्योपपादयितुमशक्यत्वान्नित्ययोगपर्यन्तधावनमफलमिति ॥

भावबोधिनी

जिन शब्दों में न् सुनाई देता है, तदन्त का ही सम्प्रसारण हो अन्यों का न हो—इसके लिए वार्तिककार ने नकारान्तग्रहण किया है ।] प्रकरणप्राप्त वह (नकारान्तग्रहण) उत्तरवर्ती सूत्र में अनुवृत्त होगा 'अल्लोपोऽनः=नकारान्त अन् के अ का लोप होता है । [राजक् + ईय में नकारान्त नहीं है अतः अलोप की आपत्ति नहीं है । "श्वयुवमघोनामतद्धिते" ६।३।१३३ में 'नकारान्तग्रहणमिष्यते' ऐसा है । इसके आगे 'अल्लोपोऽनः' ६।४।१३४ में भी 'नकारान्तस्य' की अनुवृत्ति हो जाती है । अतः उक्त आपत्ति नहीं है ।]

[यदि ऋ के रेफ का लृ होता है तब उसमें रेफ बुद्धि हो जायगी, एकदेशविकृत होने से अन्यवत् नहीं होगा तब] तो यहाँ 'क्लृ३प्तशिख' में 'अनृतः' इससे प्रतिषेध प्राप्त होता है । ['गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम्' ८।४।८६ में ऋभिन्न कहा गया है । तब प्लुत कैसे होगा ?]

(वा०) रवान् के प्रतिषेध से [इष्ट सिद्ध हो जायगा ।]

रेफवान् के प्रतिषेध से प्लुत सिद्ध हो जायगा । ['गुरोरनृतः' इसके स्थान पर] "गुरोररवतः" ऐसा कहेंगे । [जो रेफवाला न हो उसका प्लुत होता है । चूंकि क्लृप्तशिख रेफवाला नहीं है, प्लुत में बाधा नहीं है ।]

(आक्षेपभाष्यम्)

यदि 'अरवतः' इत्युच्यते, होतृ+ऋकारः 'होत्त्३कारः' अत्र न प्राप्नोति ॥

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

"गुरोररवतो ह्रस्वस्य" इति वक्ष्यामि ॥

(सिद्धान्तिभाष्यम्)

स एष सूत्रभेदेन लृकारोपदेशः प्लुत्याद्यर्थः सन् प्रत्याख्यायते, सैषा महतो

प्रदीपः

ह्रस्वस्येति । तेन ह्रस्वस्यैव रवतः प्लुतनिषेधो, न दीर्घस्य ॥

वार्तिककारस्य लृकारप्रत्याख्यानं निष्प्रयोजनमित्याह—सैषेति ॥ २ ॥

उद्द्योतः

भाष्ये स एष इति प्लुत्याद्यर्थं विद्यमान लृकारोपदेशोऽरवतो ह्रस्वस्येति गुरुन्यासरूपसूत्रभेदेन प्रत्याख्यायत इति यत्तदयुक्तमित्यर्थः ॥ कुत इत्यत आह—सैषेति । यतः सैषा प्रत्याख्यानात्मिका उक्तिर्महतो वंशस्तम्बाल्लट्वानुकर्षाभिन्नेत्युक्ते यथा महतो वंशस्तम्बाल्लट्वानुकर्षणमयुक्तमेवम् लृकारप्रत्याख्यानमिति गम्यते । तदाह—

भावबोधिनी

यदि 'अरवतः' [रेफ़वाले से भिन्न का] ऐसा कहा जाता है तब तो 'होतृ+ऋकारः=होतॄ३कारः यहाँ भी प्लुत नहीं होगा । ['अनृतः' में तो ह्रस्व ऋकार को न होकर दीर्घ को होता है । किन्तु 'अरवतः' में तो ह्रस्व और दीर्घ दोनों ऋकारों में नहीं होगा क्योंकि दोनों रेफवान् होते हैं । अतः अब अगला समाधान दिया जाता है ।]

दोषवारण के लिए 'गुरोः अरवतो ह्रस्वस्य' ऐसा न्यास कहेंगे । [ह्रस्व जो रेफवान् उस का नहीं होता है, अतः दीर्घ रेफवान् का होने में बाधा नही है । 'होतॄ३कारः' में प्लुत हो जायगा ।]

इस प्रकार प्लुत, द्विर्वचन और स्वरित कार्यों के लिए आवश्यक भी लृकारोपदेश का प्रत्याख्यान सूत्रभेद (सूत्रस्वरूप परिवर्तित) करके किया जा रहा है । यह तो बहुत बड़े लम्बे बाँस से लट्वा=पक्षीविशेष या फलविशेष को खींचना या तोड़ना है ।[1]

---

१. कैयट ने लिखा है—अशक्तिज अनुकरण के लिए लृकारोपदेश है—ऐसा भाष्यकार मानते हैं । इसको नागेश ने और स्पष्ट किया है—"अशक्तिजस्य शास्त्रीयप्रकृतित्वाभावान्न तदनुकरणेऽतिदेशप्रवृत्तिरित्यपशब्दत्वाभावाद् 'अच्कार्यसिद्ध्यर्थं लृकारोपदेश' इत्यर्थः ।" (उद्द्योतः)

वंशस्तम्बाल्लट्वानुकृष्यते ॥ २ ॥

(शिवसूत्रे)

एओङ् ॥ ३ ॥ ऐऔच् ॥ ४ ॥

(संध्यक्षरेषु अतपरत्वस्थापनभाष्यम्)

इदं विचार्यते—'इमानि सन्ध्यक्षराणि तपराणि वोपदिश्येरन् 'एत् ओत् ङ्' 'ऐत् औत् च्' इति, अतपराणि वा यथान्यासम्—' इति ॥

प्रदीपः

एओङ् ॥ ऐऔच् ॥ इदं विचार्यत इति । तपरातपरसन्ध्यक्षरोपदेशो विचार्यत इत्यर्थः ॥ तत्रोपदिश्येरन्नित्यत्रासत्त्वभूता यद्यपि क्रियाभिधीयते, तथापि बुद्ध्या परामृष्टा सत्त्वरूपतामापादिता विचारक्रियायां कर्मभावमनुभवति । यथा 'पश्य मृगो धावती' ति सरणं दर्शने ॥

उद्द्योतः

निष्प्रयोजनमिति । सूत्रभेदपरिकल्पनं विना क्लृप्तशिखे प्लुतसाधनस्याशक्यत्वान्निष्प्रयोजनमित्यर्थः ॥ वंशस्तम्बादिति । ल्यब्लोपे पञ्चमी । तमवलम्ब्येत्यर्थः । लट्वा पक्षिविशेषः फलविशेषो वा । तद्यथा बह्वायाससाध्यमल्पफलं न युक्तं तथा लृकारोपदेशप्रत्याख्यानमपीत्यर्थः ॥ २ ॥

एओङ् ॥ ३ ॥ ऐऔच ॥ ४ ॥ विचार्यत इति । क्त्वाचिन्तान्यायेनायं विचार इति बोध्यम् ॥ इदंपदार्थमाह—तपरेति ॥ असत्त्वभूतेति । एवंचेदमा परामर्शोऽनुपपन्न इति भावः ॥ बुद्ध्या परामृष्टेति । उपदेशपदार्थभूतेत्यर्थः ॥ कर्मभावमिति । इदंपदवाच्यत्वेनेति भावः ॥ यथेति । इदं चिन्त्यम् । कर्तृकर्मेतरकारकाभाववत्त्वस्यैवासत्त्वपदार्थत्वात् ॥

भावबोधिनी

विमर्श—जिस प्रकार कोई पुरुष बहुत लम्बे बाँस को लेकर किसी छोटी सी चिड़िया को या फल को गिराता है उसी प्रकार से लृ के उपदेश का प्रत्याख्यान करना है । अनेक व्याख्यायें बदलना, सूत्र का स्वरूप बदलना—इतना अनावश्यक परिश्रम करने की तुलना में लृ का उपदेश और अस्तित्व मानने में ही लाघव है ॥ २ ॥

एओङ् । ऐऔच् । (भा० सू० ३-४)

तपरत्व की युक्तता और अयुक्तता का विवेचन

यहाँ (प्रस्तुत सूत्रों में) यह विचारणीय है—'ये सन्ध्यक्षर = ए, ओ, ऐ, औ तपर उपदिष्ट किए जाँय—एत् ओत् ङ्, ऐत् औत् च; अथवा अतपर जैसा कि सूत्रों में पढ़ा गया है वैसा ? [तपर=त है बाद में जिसके वह तपर हैं । ए आदि के बाद त् लगाना आवश्यक है अथवा जैसा पढ़ा गया वही ठीक है ?]

कश्चात्र विशेषः ?

(४७ तपरपक्षदूषणवार्तिकम् ॥ १ ॥)

॥ * ॥ संध्यक्षरेषु तपरोपदेशश्चेत्तपरोच्चारणम् ॥ * ॥

सन्ध्यक्षरेषु तपरोपदेशश्चेत्तपरोच्चारणं कर्तव्यम् ।

(४८ तपरत्वपक्षदूषणवार्तिकम् ॥ २ ॥)

॥ * ॥ प्लुत्यादिष्वज्विधिः ॥ * ॥

प्लुत्यादिष्वजाश्रयो विधिर्न सिध्यति ॥ गो३त्रात नौ४त्रात इत्यत्र "अनचि च" (८।४।४७) इत्यच उत्तरस्य यरो द्वे भवत इति द्विर्वचनं न प्राप्नोति ।

प्रदीपः

कश्चात्रेति । कार्ये को विशेष इति प्रश्नः ॥

तपरोपदेशश्चेदिति । यद्यप्युपदेश उच्चारणं तथापि तपरोपदेशे फलं चेदस्ति ततस्तपरोच्चारणं कर्तव्यमित्यर्थः । संध्यक्षराणीत्यन्वर्था पूर्वाचार्यसंज्ञा संधीयमानानावयवत्वात् ॥

उद्द्योतः

पक्षद्वये स्वरूपवैलक्षण्यस्यानुभवसिद्धत्वेन तद्विषयः प्रश्नोऽनुचितोऽत आह—कार्ये इति ॥

भेदाभावादुद्देश्यविधेयभावोऽनुपपन्न इत्याशङ्क्य परिहरति—यद्यपीत्यादि ॥ फलं चेदिति । संप्रदाने घञिति भावः ॥ फलस्यैव करणत्वविवक्षया करणे घञित्यन्ये ॥ सन्धीयमानावयवत्वादिति । अइउणिति शिष्यमाणवर्णसदृशावयवसन्धानेनास्य निष्पन्नत्वादित्यर्थः ॥

भावबोधिनी

इन तपर और अतपर) में [कार्य में] क्या भेद पड़ता है ?

(वा०) सन्ध्यक्षरों (ए, ओ, ऐ औ) में यदि तपरोपदेश [में कोई फल] है तो तो तपर का उच्चारण [करना चाहिए]।

इन सन्ध्यक्षरों में यदि तपर के उपदेश [में कोई फल सम्भव] हो तो तपर का उच्चारण करना चाहिए । [इन अक्षरों को प्राचीन आचार्य सन्ध्यक्षर कहते थे क्योंकि अ के साथ इ उ ए ओ की सन्धि की जाती है ।]

तपरत्वपक्ष में दोष

(वा०) प्लुत आदि हो जाने पर अच्-विधि [नहीं हो सकेगी] ।

(भा०) [यदि तपरोपदेश किया जायगा तो] प्लुत आदि हो जाने पर अजाश्रय (अच् को मान कर होने वाली) विधियाँ नहीं हो सकेंगी । जैसे—

इह च प्रत्यङ्ङै४तिकायन उदङ्ङौ४पगव इति "अचि" इति (८।३।३२) ङमुडागमो न प्राप्नोति ॥

(४९ तपरत्वपक्षदूषणवार्तिकम् ॥ ३ ॥)

॥ * ॥ प्लुतसंज्ञा च ॥ * ॥

प्लुतसंज्ञा च न सिध्यति ॥ ऐ३तिकायन औ३पगव "ऊकालोज् ह्रस्वदीर्घप्लुतः" (१।२।२७) इति प्लुतसंज्ञा न प्राप्नोति ॥

प्रदीपः

प्लुत्यादिष्विति । प्लुतसंज्ञामभ्युपगम्याच्कार्याणि न सिध्यन्तीत्युच्यते ॥

प्लुत एव न प्राप्नोतीति दर्शयितुमाह—प्लुतसंज्ञा चेति । त्रिमात्रस्याचः प्लुतसंज्ञा विधीयते, तपरत्वे च त्रिमात्रस्याग्रहणादच्त्वाभावः । तत्रैचां प्लुतो विधीयमान इकारो-

उद्द्योतः

भाष्ये प्लुतिग्रहणं त्रिमात्रपरम् । आदिना चतुर्मात्रग्रहणम् ॥

नन्वोमभ्यादाने इत्यादिनान्तरतमपरिभाषासंस्कृतेनैज्रूपप्लुतविधानादनच्त्वेपि तेषां प्लुतसंज्ञा भविष्यतीत्यत आह—तत्रैचामिति । ताभ्यामपि तेषां यथाकथंचिदान्तर-

भावबोधिनी

गो३त्रात, नौ४त्रात—इन लक्ष्यों में "अनचि च" (पा० सू० ८।४।४७) इस सूत्र से 'अच् से उत्तरवर्त्ती यर् का द्वित्व होता है' [अब] यह द्वित्व नहीं प्राप्त हो सकता । [क्योंकि ओत् ऐसा हो जाने से 'गो' में ओ अच् न होने से अच् से परे यर् नहीं मिल पाता । 'नौ४त्रात' यहाँ 'प्लुतौ ऐच इदुतौ' इस वचन से उत्तर भाग वाले को तीन मात्रायें और पूर्व भाग वाले की एक मात्रा (अ + उ = १ + ३ = ४) मिल कर चार मात्राएं हो जाती हैं । यह भी अच् न हो सकने से इसमें भी त्रात के त् का द्वित्व नहीं हो सकेगा] और 'प्रत्यङ्ङै४तिकायनः' 'उदङ्ङौ४पगवः' आदि में 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम् (पा०सू० ८।३।३२) इससे अच् परे ङुमुट् का आगम नहीं प्राप्त होता है । [क्योंकि अकेला अतपर ऐ४, औ४ अच् नहीं माना जा सकता । यहाँ भी नौ४त्रात के समान ही ऐ और औ ४-४ मात्राओं वाले समझने चाहिए । तपरनिर्देश मानने पर केवल द्विमात्रिक ए, ओ, ऐ, औ ही अच् माने जायेंगे । अतः त्रिमात्रिक और चतुर्मात्रिक ऐ आदि के अच् न होने से उन्हें मान कर कोई कार्य नहीं हो सकेगा ।]

(वा०, और प्लुतसंज्ञा [नहीं सिद्ध होगी] ।

(भा०) और प्लुतसंज्ञा भी नहीं सिद्ध होगी ?

—ऐ३तिकायनः, औ३पगवः—इनमें 'ऊकालो-ऽज्ह्रस्वदीर्घप्लुतः' (१।२।२७)

(अतपरपक्षाभ्युपगमभाष्यम्)

सन्तु तर्ह्यतपराणि ।

(५० अतपरपक्षदूषणवार्तिकम् ॥ ४ ॥)

॥ * ॥ अतपर एच इग्घ्रस्वादेशे ॥ * ॥

यद्यतपराणि "एच इग्घ्रस्वादेशे" (१।१।४८) इति वक्तव्यम् ॥

किं प्रयोजनम् ?

एचो (ङो) ह्रस्वादेशशासनेष्वर्धं एकारोऽर्ध ओकारो वा मा भूदिति ॥

प्रदीपः

काराभ्यां गृहीत ईकार ऊकारश्च स्यात् ।

अतपर इति । असतीह तपरत्वे एकारौकाराभ्यां मात्रिकयोरर्धैकाराधौकारयोर्ग्रहणा-दच्त्वाद्ध्रस्वत्वाद्विधानं स्यादिति सूत्रं कर्तव्यम् । तपरत्वे तु तयोरग्रहणात्प्राप्त्यभावः ॥

उद्द्योतः

तम्यसत्त्वादिति भावः ॥

भाष्ये अर्ध एकार इति । मात्रिकत्वेनार्धत्वम् । समांशवाचिनोऽपि पुंस्त्वमेतद्भाष्य-प्रामाण्यात् ॥

भावबोधिनी

इससे ऊकाल अच् की ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत संज्ञा [होती है वह इनमें] नहीं प्राप्त होगी । [क्योंकि तपर होने पर केवल द्विमात्रिक ए ओ ऐ औ ही अच् होंगे त्रिमात्रिक नहीं । ये दो दोष तपरपक्ष में हैं ।]

अतपर पक्ष की युक्तता

[तपरनिर्देश मानने पर उक्त दोष आते हैं] तब तो अतपर [यथान्यास] ही रहें—

(वा०) अतपर निर्देश में एच् के ह्रस्वादेश में इक् [ऐसा कहना होगा ।]

(भा०) यदि अतपर [जैसा कि वास्तव में पठित है वैसा] निर्देश मानने पर 'एच् के ह्रस्वादेश में 'इक् ही हो' ऐसा कहना होगा ।

[इस प्रकार के वचन का] क्या प्रयोजन है ?

एच् के ह्रस्वादेश के विधान में आधा एकार अथवा आधा ओकार न होने लग जाय । [अतः नियम करना होगा कि जहाँ भी एच् का ह्रस्व आदेश होगा वहाँ इक् ही होगा, आधा ए, आधा ओ नहीं ।]

(प्रतिबन्दीसमाधानभाष्यम्)

ननु च यस्यापि तपराणि, तेनाप्येतद्वक्तव्यम् । इमावैचौ समाहारवर्णौ—मात्राऽवर्णस्य, मात्रेवर्णोवर्णयोस्तयोर्ह्रस्वादेशशासनेषु कदाचिदवर्णः स्यात् कदाचिदिवर्णोवर्णौ; मा कदाचिदवर्णो भूदिति ॥

(प्रतिबन्दीनिराकरणभाष्यम्)

प्रत्याख्यायत एतत्—"ऐचोश्चोत्तरभूयस्त्वात्" इति ॥

प्रदीपः

ननु चेति । सूत्रारम्भं प्रति न कश्चिद्विशेष इत्यर्थः । अतपरत्वे एच इति वक्तव्यं, तपरत्वे त्वैच इति । ऐचोर्विश्लिष्टावर्णत्वात्संश्लिष्टावर्णविधैकाराद्यौकारौ न भवतः ॥

ऐचोश्चेति । अर्धमात्रावर्णस्याध्यर्धमात्रेवर्णोवर्णयोर्भूयसा च व्यपदेशो मल्लग्रामादिवदितीकारोकारावेव भविष्यतः ॥

उद्द्योतः

भाष्ये 'तेनाप्येतद्वक्तव्यम्' । इत्यत्र एतच्छब्देन नियामकं सूत्रं परामृश्यते ॥ सूत्रन्यासभेदेऽपि गुरुलाघवकृतो विशेषो नास्तीत्याह—सूत्रारम्भं प्रतीति ॥ विश्लिष्टेति । उपलभ्यमानेत्यर्थः ॥ संश्लिष्टेति । स्पष्टमनुपलभ्यमानेत्यर्थः । एवं चैङ्विषये नावर्णप्राप्तिः । अर्धैङोस्तु तपरनिर्देशेऽनच्त्वाद् ह्रस्वत्वमेव नेति भावः ॥ एङोः शुद्धतालव्यादित्वमेवेति न तयोः स्थानेऽवर्णप्राप्तिरिति तत्त्वम् ॥ संश्लिष्टावर्णाविति कैयटस्याप्यत्रैव तात्पर्यम् ॥

भाष्ये प्रत्याख्यायत एतदिति । एतद् ऐज्विषयमेच इगिति सूत्रम् । वर्तमानसामीप्ये लट् ॥ भूयसा चेति । तद्द्वारकभूयःस्थानसाम्यादित्यर्थः ॥ [इदं च मतमष्टमेऽपि भाष्ये स्पष्टम् ॥ शब्दपरविप्रतिषेधेनोत्तरभागसदृश इति विवरणोक्तं तु चिन्त्यम् । अन्तरङ्गत्वेन पूर्वसदृशस्यैवापत्तेः । स्पष्टं चेदं 'नित्यः परयणादेशः' इत्यादिना 'अचः परस्मिन्—' इत्यत्र भाष्ये ॥]

भावबोधिनी

क्यों श्रीमान् ! जिसके मत में तपर हैं उसे भी तो यह वचन कहना ही होगा । [कारण यह है कि] ये ऐच् (ऐ औ) समाहार वाले वर्ण हैं—एक मात्रा अवर्ण की है, दूसरी मात्रा इवर्ण अथवा उवर्ण की है । इन एचों के ह्रस्वादेश के विधान में कभी अवर्ण हो जायगा और कभी इवर्ण अथवा उवर्ण । परन्तु कभी भी अवर्ण [ह्रस्वादेश] न हो । [इसके लिए तपरत्व समर्थक को भी 'एच इग् ह्रस्वादेशः' ऐसा वचन कहना होगा । अतः यह वचन-कल्पना दोष दोनों मतों में हैं ।]

इस वचन (एच इग् ह्रस्वादेशे) का प्रत्याख्यान कर दिया जायगा क्योंकि "ऐच् में उत्तर भाग = इ, उ अधिक हैं ।" [अतः अल्पभाग अवर्ण को छोड़कर अधिक भाग इ उ का ही साम्य लेकर 'स्थानेऽन्तरतमः' (१।१।५०) से ह्रस्व इ, उ ही होंगे । अतिरिक्त वचन की आवश्यकता नही है ।]

(समाधानसिद्धान्तिभाष्यम्)

यदि प्रत्याख्यानपक्षः, इदमपि प्रत्याख्यायते—"सिद्धमेङः सस्थानत्वात्" इति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

ननु चैङः सस्थानतरावर्ध एकारोऽर्ध ओकारः ॥

(समाधानभाष्यम्)

न तौ स्तः। यदि हि तौ स्यातां तावेवायमुपदिशेत् ॥

प्रदीपः

सिद्धमेङ इति। अर्धैकारार्धौकारौ न स्तः, तत्र तालव्यं एकार ओष्ठ्य ओकार इति तयोः स्थाने इकारोकारावेव भविष्यतः ॥

तावेवेति। ताभ्यामुपदिष्टाभ्यां दीर्घप्लुतयोरपि ग्रहणं सिध्यतीति भावः। गुण-संज्ञायां तु दीर्घावेकारौकारौ निर्देश्यौ ॥

उद्द्योतः

भाष्ये इदमपीति। एङ्विषयमपीत्यर्थः ॥ सस्थानत्वादिति। इकारोकाराभ्यां समानस्थानत्वादित्यर्थः। तदाह—तालव्य इति। तालव्य एवेत्यर्थः।

भाष्ये तावेवेति। लाघवादिति भावः ॥ ग्रहणमिति। प्रदेशेष्विति शेषः ॥ नन्वेवं मात्रिकयोरेव गुणसंज्ञा स्यादत आह—गुणेति। एवमपि अत्र ह्रस्वपाठेऽर्धमात्रालाघवं भवति ॥

भावबोधिनी

यदि [ऐकार और ओकार के विषय में उस ह्रस्वादेशविधायक सूत्र के] प्रत्याख्यान को माना जाता है तो एङ्=ए ओ के विषय में भी उस वचन का प्रत्याख्यान करना है क्योंकि "सिद्धमेङः सस्थानत्वात्" (का०)। [भाव यह है कि एङ् के ह्रस्वादेश करने पर इ, उ ही होंगे, क्योंकि ए, ओ के तुल्यस्थानवाले (सस्थान) इ, उ ही हैं। अतः एङ् के ह्रस्व जब होंगे, इ, उ ही होंगे, अ नहीं। अतः इसके लिए वचन की आवश्यकता नहीं है।]

क्यों श्रीमन्! एङ् के अधिक तुल्य स्थान वाले अर्ध एकार और अर्ध ओकार हैं। [अतः एङ् के ह्रस्व ये अर्ध एकार, ओकार ही होने लगेंगे। अतः वचन आवश्यक है।]

नहीं, ये अर्ध एकार अर्ध ओकार नहीं हैं। यदि ये (अर्ध एकार, अर्ध ओकार) होवे तो आचार्य इन्हीं का उपदेश करते। [क्योंकि अर्ध एकार अर्ध ओकार द्वारा दीर्घ आदि का भी ग्रहण हो जाता।]

(आक्षेपभाष्यम्)

ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधी-यते—सुजाते एश्वसूनृते, अध्वर्यो ओद्रिभिः सुतम्, शुक्रं ते एन्यद्, यजतं ते एन्यत्—इति ॥

(समाधानभाष्यम्)

पारिषदकृतिरेषा तत्रभवताम् । नैव हि लोके नान्यस्मिन्वेदेऽर्ध एकारोऽर्ध ओकारो वास्ति ॥

(५१ अतपरपक्षदूषणवार्तिकम् ॥ ५ ॥)

॥ * ॥ एकादेशे दीर्घग्रहणम् ॥ * ॥

एकादेशे दीर्घग्रहणं कर्तव्यम्—"आद्गुणो दीर्घः" (६।१।८७), "वृद्धिरेचि दीर्घः" (६।१।८८) इति ॥

किं प्रयोजनम् ?

प्रदीपः

सुजात इति । अन्तः पादस्थस्याव्यपरस्याकारस्यार्धमेकारमर्धमोकारं च विदधति॥

पारिषदकृतिरिति । गीतिवशात्तथोच्चारणमित्यर्थः ॥

उद्द्योतः

अकारस्यार्धमिति । सुजाते ए अश्वेति अकारलेखस्तु प्रामादिकः ॥

शास्त्रविशेषाध्यायिनां समवायः परिषत् पर्षद्वा तत्र भवा कृतिरित्यर्थः ॥

तदेवमतपरतपरवादिमतसाधारण्येनैव इगितिसूत्रस्य कर्तव्यताकर्तव्यते उपपाद्यात-परवादिमतेऽसाधारणदूषणमाह—भाष्ये एकादेशे इति । एकः पूर्वपरयोर्दीर्घ इति सूत्रं

भावबोधिनी

क्यों श्रीमान् ! छान्दोग = सामवेद की सात्यमुग्रि और राणायनीय शाखा के लोग अर्ध एकार और अर्ध ओकार पढ़ते हैं—'सुजाते एश्वसूनृते, अध्वर्यो ओद्रिभिः सुतम्, शुक्रं ते एन्यद्, यजतं ते एन्यद् । [यहाँ अश्व आदि के अकार का उच्चारण न करके उसके स्थान पर अर्ध एकार या ओकार का उच्चारण करते हैं । अतः इनकी सत्ता है ।]

यह तो उन पूज्य विद्वानों (एक शाखाविशेष के अध्येताओं) के समुदाय में होने वाली एक स्थिति विशेष हे । [सामान्य प्रयोग नहीं है । केवल उस शाखा के लोग गाते समय बोलते हैं । अतः अर्ध एकार या ओकार का कहीं भी प्रयोग = उपलब्धि न होने से उनके आदेश का अवसर नहीं है । वचन की आवश्यकता नहीं है ।]

(वा०) एकादेश में दीर्घ-ग्रहण [करना होगा ।]

आन्तर्यतस्त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्रचतुर्मात्रा आदेशा मा भूवन्निति। खट्वा इन्द्रः खट्वेन्द्रः, खट्वा उदकम् खट्वोदकम्, खट्वा ईषा खट्वेषा, खट्वा ऊढा खट्वोढा, खट्वा एलका खट्वैलका, खट्वा ओदनः खट्वोदनः, खट्वा ऐतिकायनः खट्वैतिकायनः, खट्वा औपगवः खट्वौपगव इति॥

प्रदीपः

आन्तर्यत इति। अन्यस्यासम्भवादिदमत्र नास्ति—प्लुतश्च विषये स्मृत इति॥

उद्द्योतः

कार्यमित्यर्थः॥ अन्यस्यासम्भवादिति। अयं भावः—यथा स्थाध्वोरित्यत्रातपरत्वे स्थाघ्वोर्दीर्घस्य स्थाने घुमास्थेत्येव दीर्घकारे सिद्धे पुनर्वचनमदीर्घार्थमित्यविशेषाद् ह्रस्वप्लुतयोः प्रसङ्गे तदुक्तं प्लुतश्च विषये इति। एवं च दूराद्धूतादिविषयेऽप्यनेनैव प्लुते पक्षेनुवाददोषस्तत्र, इह तु प्लुत एव प्राप्नोतीति खट्वा इन्द्र इत्यादिविषयक-शास्त्रवैयर्थ्यमेवेत्यनुवाददोषः सोढव्य एवेति वैषम्यमिति॥ [वस्तुतोऽस्य टित्वाभावादेत-द्विषये प्लुताप्रवृत्तेश्चिन्त्यमेवेदमिति स्थाध्वोरितिसूत्रे निरूपयिष्यामः॥]

भावबोधिनी

(भा०) [जहाँ पूर्व और पर के] एक आदेश का विधान है उसमें 'दीर्घ' का ग्रहण करना चाहिए।—"आद्गुणः दीर्घः", "वृद्धिरेचि दीर्घः" [ऐसा कहना चाहिए।]

[ऐसा कहने का] क्या प्रयोजन है?

[जहाँ पूर्व और पर मिलकर] ३ या ४ मात्रा वाले स्थानी हैं उन तीन और चार मात्रा वाले स्थानियों के स्थान पर स्थानी के आन्तर्य=सादृश्य के आधार पर तीन और चार मात्राओं वाले आदेश न होने लग जाँय, [केवल दो मात्राओं वाले ही आदेश हों—इसके लिए एकादेश-विधायक सूत्रों में 'दीर्घ' का ग्रहण करना चाहिए। जैसे]—खट्वा + इन्द्रः—खट्वेन्द्रः, खट्वा + उदकम्—खट्वोदकम् [यहाँ पूर्व की दो मात्राएं और पर की एक मात्रा मिल कर तीन मात्राएं स्थानी की हो जाती हैं।] खट्वा + ईषा—खट्वेषा, खट्वा + ऊढा—खट्वोढा, खट्वा + एलका—खट्वैलका, खट्वा + ओदनः—खट्वौदनः, खट्वा + ऐतिकायनः—खट्वै-तिकायनः खटवा + औपगवः-खट्वौपगवः। [इनमें पूर्व और पर दोनों की दो-दो मात्राएं होने से स्थानी चार मात्राओं वाले हैं। अतः स्थानी के सादृश्य के आधार पर गुण और वृद्धि रूपी एकादेश तीन और चार मात्राओं वाले प्राप्त होवे हैं। उनको रोकने के लिए, द्विमात्रिक ही करने लिए 'दीर्घग्रहण' करना चाहिए।]

(आक्षेपभाष्यम्)

तर्त्तर्हि दीर्घग्रहणं कर्तव्यम् ॥

(समाधानभाष्यम्)

न कर्तव्यम्। उपरिष्टाद् योगविभागः करिष्यते—"अकः सवर्णे"(६।१।१०१) एको भवति ॥ ततो—"दीर्घः" दीर्घश्च स भवति, यः स 'एकः पूर्वपरयोः' (६।१।७५) इत्येवं निर्दिष्ट इति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

इहापि तर्हि प्राप्नोति—पशुं, विद्धं, पचन्तीति ॥

(समाधानभाष्यम्)

नैष दोषः। इह तावत्पशुमिति, "अम्येकः" इतीयता सिद्धम्। सोयमेवं सिद्धे सति यत्पूर्वग्रहणं करोति तस्यैतत्प्रयोजनम्—यथाजातीयकः पूर्वस्तथा-जातीयक उभयोर्यथा स्यादिति ॥

उद्द्योतः

(भाष्ये यः स इति प्रसिद्धयर्थकम् ॥)

भावबोधिनी

[यदि ऐसा है] तो क्या दीर्घग्रहण करना चाहिए ?

[दीर्घग्रहण] नहीं करना चाहिए। कारण यह है कि [गुण और वृद्धि के विधायक सूत्रों के] आगे के दीर्घविधायक सूत्र का इस प्रकार विभाजन कर दिया जायगा—'अकः सवर्णे एकः भवति।' [अक् से बोध्य स्वरों का सवर्ण स्वर परे रहते पूर्व और पर का एक आदेश होता है।] इसके बाद यह सूत्र होगा 'दीर्घः' और जो 'एकः पूर्वपरयोः' के द्वारा निर्दिष्ट अर्थात् पूर्व और पर के स्थान पर एक आदेश होता है, वह 'दीर्घ' होता है। [अतः इस प्रकार के सूत्रस्वरूप से ही निर्वाह हो जायगा। अलग से दीर्घग्रहण की आवश्यकता नहीं है।]

[उक्त योग-विभाग से गुण, वृद्धि में निर्वाह हो जाता है परन्तु] इनमें भी [दीर्घ] प्राप्त होता है—पशुम्, विद्धम्, पचन्ति।[1] [क्योंकि इन सभी में एकादेश होता है।]

---

१. पशुम्—पशु + अम् में 'अमि पूर्वः' (६.१.१०७) से पूर्वरूप एक आदेश होता है। विद्धम्—व्यध् + क्त में "ग्रहिज्या" (६.१.१६) सूत्र से य् का सम्प्रसारण इ करने के बाद "सम्प्रसारणाच्च" (६.१.१०८) सूत्र से 'अ' का पूर्वरूप होता है, इ हो जाता है। यह भी पूर्व इ और पर अ के स्थान पर ही होता है। पचन्ति—पच्+अ+अन्ति में 'शप् = अ' और 'अन्ति' के अ दोनों के स्थान पर 'अतो गुणे' (६.१.९७) से पररूप एकादेश होता है। इन सभी में 'एकः पूर्वपरयोः' (६.१.७५) का सम्बन्ध होने से 'दीर्घ' का भी सम्बन्ध होने लगेगा। फलतः उक्त रूप नहीं बन सकेंगे।

विद्धमिति । पूर्वं इत्येवानुवर्तते ॥ अथवाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—नानेन सम्प्रसारणस्य दीर्घो भवतीति । यदयं हल उत्तरस्य सम्प्रसारणस्य दीर्घत्वं शास्ति ॥

पचन्तीति । "अतो गुणे परः" इतीयता सिद्धम् । सोऽयमेवं सिद्धे सति

प्रदीपः

अम्येक इति । प्रथमयोरिति सिद्ध एतदपि किमर्थमुच्यते इति चेद् 'वा छन्दसी' त्यत्रानुवृत्त्यर्थम् । तस्मात् पूर्वश्रुतिः पूर्वरूपार्था सैवोत्तरत्रानुवर्तत इति विद्धमिति पूर्वरूपं भविष्यति ॥ अथवेति । विधिनियमसंभवे विधिरेव बलीयानिति विधेर्बलीयस्त्वान्नियमो न भवति हल एव दीर्घत्वं यथा स्याद्, उतम् इत्यादौ मा भूदिति ॥

उद्द्योतः

वा च्छन्दसीत्यत्रेति । वा च्छन्दसीत्यस्यात्रानुवृत्त्यर्थमित्यर्थः ॥ पूर्वरूपार्थेति । पूर्वव्यक्त्यात्मकपूर्वरूपार्थेत्यर्थः ॥ भाष्ये पर इतीयतेति । ह्रस्वत्वादिरूपमिति भावः ॥ सिद्धान्ते तु रूपग्रहणं स्पष्टार्थमेव, अस्य भाष्यस्य पूर्वपक्ष्युक्तित्वात् ॥

भावबोधिनी

नहीं, यह दोष नहीं । पहले 'पशुम्' को लीजिए । इसमें तो 'अमि एकः' इतने ही सूत्र से सिद्ध हो जाता अर्थात् एकादेश हो जाता । परन्तु ऐसा करने पर भी कार्य की सिद्धि सम्भव रहने पर भी आचार्य ने जो 'पूर्व' का ग्रहण किया । ['अमि पूर्वः' ऐसा सूत्रस्वरूप बनाया] उसका यही प्रयोजन है—अम् से पूर्ववर्ती स्वर जिस प्रकार का है उसी प्रकार का स्वर दोनों (पूर्व और पर) के स्थान पर हो सके । [अन्यथा 'पूर्वः' इसके ग्रहण का कोई फल ही नहीं दिखाई देता है ।]

विद्धम् । [व्यध्+क्त में सम्प्रसारण इ करने के बाद 'सम्प्रसारणाच्च' इस सूत्र में] 'पूर्वः' इसकी ही अनुवृत्ति होती है । [अतः पूर्व+पर दोनों के स्थान में पूर्व के ही सदृश आदेश होता है । अतः ह्रस्व इ हीं होगा । कोई दोष नहीं है ।]

अथवा आचार्य पाणिनि की प्रवृत्ति (व्यवहार) बतलाती है कि 'सम्प्रसारणाच्च' इससे सम्प्रसारण दीर्घ आदेश नहीं होता है, कारण यह है ये पाणिनि 'हलः' (६।४।२) इस सूत्र द्वारा हल्=व्यञ्जन से उत्तरवर्ती सम्प्रसारण के दीर्घ होने का विधान करते है । [यदि सम्प्रसारण का स्वतः दीर्घ होना सम्भव रहता तो उसे स्वतन्त्र रूप से दीर्घ-विधान करने की कोई आवश्यकता नहीं थी । अतः यह सूत्र ही सम्प्रसारण के दीर्घभाव का ज्ञापक बनता है ।]

पचन्ति । [पच्+अ (=शप्)+झि=अन्ति में] 'अतो गुणे परः' [गुण= अ, ए, ओ परे रहते पूर्व+पर दोनों के स्थान पर परवर्ती हो जाता है] इसी से प्रस्तुत

यद् रूपग्रहणं करोति, तस्यैतत्प्रयोजनम्—यथाजातीयकं परस्य रूपं तथाजातीयकमुभयोर्यथा स्यादिति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

इह तर्हि खट्वर्श्यो मालर्श्य इति दीर्घवचनादकारो न, अनान्तर्यादेकारौकारौ न ॥ [तत्र को दोषः ?] विगृहीतस्य श्रवणं प्रसज्येत ॥

उद्द्योतः

अकारो नेति । रपरत्वेपि द्विमात्रत्वरूपदीर्घत्वासम्भव एव ॥ विगृहीतस्येति । दीर्घश्रुतिपरिभाषयोर्विरोधेन जातिपक्षे व्यक्तिपक्षे वा तद्विषयकलक्षणानुपप्लवादिति भावः ॥

भावबोधिनी

पचन्ति रूप सिद्ध होना सम्भव था फिर भी आचार्य पाणिनि ने ['एङि पररूपम्' ६।१।९४ में रूप का ग्रहण किया और इसी की अनुवृत्ति करके] 'अतो गुणे पररूपम्' ऐसा किया, इस 'रूप' के ग्रहण का यह प्रयोजन है—दोनों स्थानियों में परवर्ती का जैसा रूप होता है वैसा ही आदेश दोनों के स्थान पर हो सके। [अतः पच् अ + अन्ति में 'अ' ही होता है, दीर्घ आ नहीं हो सकता । अन्यथा 'रूप' का ग्रहण व्यर्थ हो जायगा।]

[इस प्रकार उक्त तीनों स्थलों पर दीर्घ की प्रसक्ति नहीं है। अतः 'आद्गुणः दीर्घः' 'वृद्धिरेचि दीर्घः' ऐसे सूत्र बनाने से कार्य हो जायेंगे। अतिरिक्त वचन की आवश्यकता नहीं है। त्रिमात्रिक, चतुर्मात्रिक आदेशों की आपत्ति भी नहीं है।]

अच्छा, यदि ऐसा है तो 'खट्वर्श्यः' 'मालर्श्यः' इनमें दीर्घवचन (आ) के कारण (ह्रस्व अ गुण नहीं हो सकता और अनान्तर्य=असादृश्य के कारण एकार तथा ओकार नहीं हो सकते।

तो इससे दोष क्या होगा ?

विगृहीत = खट्वा ऋश्यः ऐसे अलग-अलग ही सुनाई देंने लगेंगे, [गुण नहीं होगा]।

विमर्श—जो एओङ् ऐऔच् में तपर नहीं करना चाहता उसे पूर्व और पर स्थानियों के स्थान पर होने वाले एकादेश में त्रिमात्रिक और चतुर्मात्रिक आदेशों को रोकने के लिए गुण और वृद्धि के विधायक सूत्रों में 'दीर्घ' का ग्रहण करना होगा। जिसके कारण ये आदेश दीर्घ अर्थात् द्विमात्रिक ही हों त्रिमात्रिक या चतुर्मात्रिक नहीं। इस अतिरिक्त 'दीर्घ' ग्रहण की कल्पना से बचने के लिये अतपरत्ववादी सूत्रों का योग-विभाग करता है—'अकः' 'सवर्णे दीर्घः' सूत्र में 'अकः सवर्णे'

(समाधानभाष्यम्)

न ब्रूमो—यत्र क्रियमाणे दोषस्तत्र कर्तव्यमिति ॥
किं तर्हि ?
यत्र क्रियमाणे न दोषस्तत्र कर्तव्यमिति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

क्व च क्रियमाणे न दोषः ?

(समाधानभाष्यम्)

संज्ञाविधौ । वृद्धिरादैच् दीर्घः, अदेङ् गुणो दीर्घ इति ॥

भावबोधिनी

और 'दीर्घः' यह योगविभाग किया जाता है। 'पूर्व और पर दोनों के स्थान पर जो एक आदेश होता है वह दीर्घ होता है'। अतः गुण और वृद्धि भी पूर्व-पर दोनों के स्थान में होने वाले हैं, अतः ये भी दीर्घ = द्विमात्रिक ही होंगे त्रिमात्रिक और चतुर्मात्रिक नहीं।

जहाँ ए ओ गुण हैं वहाँ तो ठीक है परन्तु जहाँ 'अ' गुण होना है वहाँ दोष होगा, जैसे—खट्वा + ऋश्यः यहाँ ऋ का पूर्ण सादृश्य किसी गुण के साथ नही होने से आ के आधार पर 'अ' होता है, अब नहीं होगा, क्योंकि एकादेश दीर्घ होता है 'अ' गुण दीर्घ होता ही नहीं है और ए ओ गुण के साथ स्थानियों का कोई सादृश्य नहीं है। अतः अ, ए, ओ—इनमें से कोई भी गुण न हो सकने से खट्वा ऋश्यः ऐसा अलग-अलग ही सुनाई देने लगेगा। अतः योग-विभाग से 'दीर्घ' आदेश की कल्पना ठीक नहीं है।

(अनु०) हम यह नहीं कहते हैं कि जहाँ 'दीर्घ' का ग्रहण करने पर दोष है वहाँ भी इसका ग्रहण करना चाहिए।

तो क्या [करना चाहिए] ?

जहाँ दीर्घ का ग्रहण करने पर कोई दोष नहीं है वहीं करना चाहिए। [जहाँ किसी दोष की सम्भावना है वहाँ दीर्घ का ग्रहण नहीं करना चाहिए।]

तो फिर कहाँ पर दीर्घ का ग्रहण करने में कोई दोष नहीं है ?

संज्ञा-विधायक सूत्रों में। 'वृद्धिः आदैच् दीर्घः' 'अदेङ् गुणः दीर्घः।' [अतः जो ऐ, औ वृद्धिसंज्ञक हैं, ए ओ गुणसंज्ञक हैं उन्हीं के साथ दीर्घ का सम्बन्ध है। 'अ' गुण के साथ नहीं है। अतः खट्वा + ऋश्यः में अ गुण और रपर होने में बाधा नहीं है।]

(आक्षेभाष्यम्)

तर्त्तर्हि दीर्घग्रहणं कर्तव्यम् ॥

(सिद्धान्तिसमाधानभाष्यम्)

न कर्तव्यम् ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

कस्मादेवान्तर्यतस्त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्रचतुर्मात्रा आदेशा न भवन्ति ?

(समाधानभाष्यम्)

तपरे गुणवृद्धी ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

ननु च तः परो यस्मात् सोऽयं तपरः ॥

प्रदीपः

तपरे इति । तपरसंज्ञिसहचरिते गुणवृद्धिसंज्ञे इत्यर्थः ।

तादपीति । तन्त्रन्यायाश्रयणादेकस्यैव द्विशक्तित्वादेकशेषाश्रयणाद्वाऽनेकार्थाभिधान-

उद्द्योतः

ननु गुणवृद्धिसंज्ञयोस्तपरत्वाभावात्पूर्वोक्तदोषापरिहृतेश्च भाष्यमयुक्तमित्याशङ्क्याह—तपरसंज्ञीति । तपरशब्दनिर्दिष्टे संज्ञिनि गुणवृद्धिसंज्ञे प्रवर्तेते । एवं च त्रिमात्रादीनां तत्र संज्ञितयाऽनिर्देशान्नोक्तदोष इति भावः ॥

भावबोधिनी

यदि ऐसा है तब तो [उन संज्ञा-विधायक सूत्रों में] 'दीर्घ' का ग्रहण करना चाहिए ?

[उनमें दीर्घ ग्रहण] नहीं करना चाहिए ।

[यदि 'दीर्घ' का ग्रहण नहीं करते हैं तो] किस सादृश्य के आधार पर त्रिमात्रा और चतुर्मात्रा वाले स्थानियों [खट्वा + उदकम्, खट्वा + ओदनः आदि] में त्रिमात्रिक [गुण] और चतुर्मात्रिक [वृद्धि] आदेश नहीं होते हैं ? [स्थानी के सादृश्य के कारण तीन और चार मात्राओं वाले ही गुण या वृद्धि आदेश होने चाहिए।]

गुण और वृद्धि तपर हैं । [अतः 'तपरस्तत्कालस्य' १।१।७०) के अनुसार उच्चारण का समकालिक द्विमात्रिक ही गुण या वृद्धि संज्ञा वाला होगा । तात् परः = तपरः । अतएङ्, आद् ऐच् में त् से परे द्विमात्रिक ही एङ् ऐच् हैं । कोई दोष नहीं है ।]

क्यों जी, [तात् परः—तपरः यही नहीं है अपि तु] त् है पर = बाद में जिसके वह भी तपर है । [अतः अत्, आत् ये ही तपर होंगे, एङ्, ऐच् नहीं ।]

(समाधानभाष्यम्)

नेत्याह, तादपि परस्तपर इति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

यदि तादपि परस्तपरः "ऋदोरब्" (३।३।५७) इतीहैव स्यात्—यवः स्तवः; लवः पव इत्यत्र न स्यात् ॥

(समाधानभाष्यम्)

नैष तकारः ॥

कस्तर्हि ?

दकारः ॥

प्रदीपः

मिति भावः ॥

उद्द्योतः

भाष्ये ननु चेति । एवंचैङचौ न तपराविति भावः ॥

नेत्याहेति । स एव तपर इति नेत्याहेत्यर्थः ॥ अर्थभेदेन शब्दभेदे—तन्त्रन्यायेति । तद्भेदेऽपि शब्दैक्यपक्षे आह—एकस्यैव द्विशक्तित्वादिति ॥ एकशेषेति । समाहारद्वन्द्व-विषये एकशेषाभावेनैकवचनानुपपत्त्येदं चिन्त्यम् ॥

भावबोधिनी

[यही]नहीं, ऐसा कहते हैं;त् से परे भी—तपर है । [अर्थात् 'तः परः यस्मात् सः' ऐसा बहुव्रीहि ही नहीं माना जाता अपितु 'तात् परः' ऐसा तत्पुरुष भी है । तन्त्र के बल से तपर की दोनों व्याख्यायें करके आ ऐच्, अ, एङ् दोनों ही तपर हो जाते हैं । सभी में तत्काल वाले का ही ग्रहण होता है । कोई दोष नहीं है ।]

यदि त् से पर भी 'तपर' है तब तो 'ऋदोरप्' (३।३।५७) यह सूत्र इन्हीं में लगेगा—यवः, स्तवः; और लवः, पवः में नहीं लगेगा । ['ऋत् उ' में त् से परे उ है अतः एकमात्रिक उकार वाले यु, स्तु से ही अप् प्रत्यय होगा, लू, पू—इन द्वि मात्रिकों से अप् नहीं होगा । जब कि 'तः परः यस्मात् सः तपरः' ऐसे बहुव्रीहि में 'ऋ' तपर होता है उ नहीं । ह्रस्व, दीर्घ सभी उकारों से अप् होता है ।]

'ऋदोरप्' में यह तकार नहीं है ।

तो फिर क्या है ?

दकार है । [अतः तपर का प्रसङ्ग नहीं है ।]

(आक्षेपभाष्यम्)

किं दकारे प्रयोजनम्, ?

(प्रतिबन्दीसमाधानभाष्यम्)

अथ किं तकारे ? यद्यसन्देहार्थस्तकारः, दकारोऽपि । अथ मुखसुखार्थस्तकारः, दकारोऽपीति ॥

(इति सन्ध्यक्षरेष्वतपर-पाठनिर्णयः ॥)

प्रदीपः

बहुव्रीहिवादी चोदयति—किं दकार इति ॥

समासद्वयवादी तं प्रत्याह—अथ किं तकार इति । तव केवलबहुव्रीहिवादिनो निष्प्रयोजनं तपरत्वम्, ऋकारस्यानणुत्वाद्भिन्नकालानां ग्रहणाप्रसङ्गाद् गुणानां चाभेदकत्वात्तत्प्राप्त्यर्थत्वाभावात् । अथ तवासन्देहार्थो मुखसुखार्थो वा तकार एवं मम दकार इत्यर्थः ॥ तित्स्वरितमित्यत्रत्यभाष्येणास्य विरोधः । तत्र हि—तिति प्रत्ययग्रहणं चोदितम्, इह मा भूत्—दिव उत् द्युभ्यामिति, ततो दित्त्वाश्रयणेन प्रत्याख्यातम्, तपरसूत्रे च तकारश्चत्वंभूतो निर्दिश्यते । तेन तत्कालस्य ग्राहको दकारः'—इत्युक्तम् । इह च दकाराभ्युपगमेन लवादिषु दोषः परिहृतः ॥ अत्राहुः—थकारस्थानिको धकारस्थानिको वा दकारोऽत्र विवक्षितः—कस्तर्हि दकार इति ॥

उद्द्योतः

मुखसुखार्थं इति पाठे मयूरव्यंसकादित्वात्समासः ॥ ननु एङैजिति संज्ञायास्तात्परत्वेऽपि संज्ञिनामेकारादीनां किमागतमिति चेत्, न । तपरशब्दबोध्योऽपि वर्णस्तत्कालस्यैव संज्ञेत्यर्थान्न दोषः ॥ गुणानां चेति । अणुषु गुणानां तत्त्वाभावेऽपि अनणुत्वादेव दीर्घादिविषये तत्त्वमिति भावः ॥ ननु दित्त्वे दिव उदित्यत्र तत्कालग्रहणं न स्यादत आह—तपर सूत्रे चेति ॥ इहेति । तपरसूत्रे दकारानाश्रयणेन चेत्यपि बोध्यम् ॥ थकारस्थानिक इति । तस्य चैतद्दृष्ट्याऽसिद्धत्वान्न तत्र तपरसूत्रप्रवृत्तिरिति भावः ॥

भावबोधिनी

दकार में क्या प्रयोजन है ?

[तपरवादी आप ही कहिए] तकार में क्या प्रयोजन है ?

यदि सन्देहनिवृत्ति के लिए तकार है तो दकार भी सन्देहनिवृत्ति के लिए है । और यदि [ऋ और उ का एक साथ उच्चारण करने में कष्ट होता है अतः] मुखसुखार्थ=उच्चारण-सौविध्य के लिए तकार है तो दकार भी [इसी के लिए है] ।

(अथ वर्णैकदेशग्रहणाग्रहणनिर्णयः ॥)

(भाष्यम्)

इदं विचार्यते—य एते वर्णेषु वर्णैकदेशा वर्णान्तरसमानाकृतय एतेषामवयवग्रहणेन ग्रहणं स्याद्वा न वेति ॥

कुतः पुनरियं विचारणा ?

इह हि समुदाया अप्युपदिश्यन्ते, अवयवा अपि । अभ्यन्तरश्च समुदायेऽ-

प्रदीपः

वर्णान्तरसमानाकृतय इति । आकारादिष्वकारादिसदृशा अवयवा ऋकारलृकारयो रेफलकारसदृशाववयवौ संध्यक्षरेष्वकारेकारोकारसदृशाः, तत्र केवलवर्णकार्यमवयवेषु भवति नवेति विचारः ॥ इह हि समुदाया अपीति । ऋलृएओऐऔ इति ॥ अवयवा अपीति । अइउण्ऋट्लृणिति ॥ तत्र समुदायपरे निर्देशे सन्निहिता अप्यवयवा नान्तरीयकत्वादेजादिसंज्ञां न लभन्ते, अवयवपरे च निर्देशे समुदायो न संज्ञाभाक्; यथा

उद्द्योतः

अवयवग्रहणेनावयवसदृशवर्णग्रहणेन ग्रहणं स्यान्नवेति भाष्यार्थः । तत्फलितमाह—तत्र केवलेति ॥ नन्वकारेण एङवयवग्रहणसन्देहवद् अकारादीनामेङादिसंज्ञा प्राप्नोतीति विचारोऽपि कुतो नेत्यत आह—तत्र समुदायेति । अत एव प्राटतीत्यादौ न पररूपम् ॥ तत्र दृष्टान्तमाह—अवयवपरे चेति । यथावयवपरे निर्देशे समुदायो न संज्ञाभाग् एवं

भावबोधिनी

विमर्श—'ऋदोरप्' सूत्र में ऋ त् उ में त् न रखने पर ऋ का यण् होकर र्+उ=रु बनेगा अतः 'रोरप्' ऐसा सूत्राकार होगा । इसमें यह सन्देह हो सकता है कि ऋ ह्रस्व है अथवा ॠ दीर्घ । इस सन्देह को 'त्' लगाकर दूर किया जा सकता है। यदि सन्देहनिवृत्ति तकार का प्रयोजन है तो दकार का भी यही प्रयोजन हो सकता है, यह मान लेना चाहिए । यदि ऋ उ ऐसा दो स्वरों का एक साथ उच्चारण करते हैं तो कष्ट होता है अतः बीच में 'त्' लगाते हैं। यह मुखसुख दकार का भी प्रयोजन हो सकता है । इसलिए द् मानकर सभी उकारों का ग्रहण करना चाहिए ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि एओङ् ऐऔच् में तपरनिर्देश की कोई आवश्यकता नहीं है । पाणिनि द्वारा पठित रूप निर्दोष है ।

वर्णों के एकदेश (अवयव) के ग्रहण और अग्रहण का विवेचन

अब यह विचार करना है—प्रत्याहारस्थ वर्णों में जो वर्णों के एकदेश (अवयव), दूसरे स्वतन्त्र वर्णों के समान आकृति वाले हैं, उन एकदेशों (अवयवों) का अवयव-

वयवः, तद्यथा वृक्षः प्रचलन् सहावयवैः प्रचलति । तत्र समुदायस्थस्या-

प्रदीपः

हयवेत्यादावनच्कस्य हलो दुःखेनोच्चार्यत्वान्निर्दिष्टोऽप्यकारोऽन्यत्र प्राधान्येन निर्देशा-द्धलादिसंज्ञां न प्रतिपद्यते इति दध्यत्रेत्यादावनच्क एव यणादेशः प्रवर्तते । तत्रासत्या-मप्येजादिसंज्ञायामयादयः समुदायादेशा अपि नान्तरीयकत्वादवयवान्निवर्तयन्ति । एवं स्थिते अग्नइन्द्र इत्यादौ यत्रावयवकार्यं प्राप्नोति समुदायकार्यं च तत्रान्तरङ्गत्वात्तत्र च साक्षाच्चोदितत्वात्प्रत्यक्षत्वात्परत्वाच्चावयवकार्यप्रसङ्गः । अवयवावगतिपूर्वकत्वाद्धि

उद्द्योतः

समुदायपरे निर्देशेऽवयवा न तद्भाज इत्यर्थः । तदुपपादयति—यथेति ॥ अन्यत्रेति । सर्वस्यावयवस्यान्यत्र पृथङ्निर्देशे समुदायनिर्देशः स्वपर एव, सर्वस्यावयवस्यान्यत्रा-निर्देशे तु समुदायनिर्देशो निर्दिष्टावयवपर इति विवेकः । नन्वेजादिसंज्ञानामवयववृत्तित्वे कथमेचो निवर्तकेनायादिना तदवयवस्य निवृत्तिरत आह—तत्रासत्यामपीति । तन्निवृत्तिं विना समुदायनिवृत्तेः कर्तुमशक्यत्वादिति भावः ॥ अवयवकार्यं दीर्घः ॥ समुदायकार्यमय् ॥ तत्र च साक्षादिति । दीर्घे । अयादिकार्ये हि समुदायव्यवधानेनावयवो

भावबोधिनी

ग्रहण से ग्रहण होगा अथवा नहीं । [किसी वर्ण में कोई अवयव स्वतन्त्र दूसरे वर्ण के समान है उस अवयव का उस दूसरे स्वतन्त्र वर्ण के ग्रहण से ग्रहण होगा अथवा नहीं होगा ।]

ऐसा विचार करना कहाँ से [प्रतीत] हुआ ?

[ऐसा विचार करना इसलिए आवश्यक हुआ क्योंकि] यहाँ व्याकरण शास्त्र में वर्णसमाम्नाय में समुदायों (ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ औ) का भी उपदेश किया गया है तथा अवयवों (अ, इ, उ) का भी । और अवयव समुदाय के भीतर ही होता है, जिस प्रकार जब वृक्ष हिलता है तब अवयवों (शाखा, पत्तिओं आदि) के साथ ही हिलता है । [अवयवों के बिना समुदाय का कोई कार्य नहीं होता है ।] इस स्थिति में समुदायस्थ अवयवों का अवयव के ग्रहण से ग्रहण होगा अथवा नहीं [समुदाय जब अवयवों के साथ ही कोई कार्य करता है तब समुदाय रूपी वर्ण के अवयवों के साथ ही वह भी कार्य कर सकेगा ।] अतः यह विचार करना आवश्यक है [कि जिन वर्णों में अवयव स्वतन्त्र वर्णों के समान प्रतीत होते हैं उन वर्णावयवों का स्वतन्त्र वर्णों के रूप में भी ग्रहण होना चाहिए अथवा नहीं होना चाहिए ?]

विमर्श—यहाँ का विवेचन लोकव्यवहार पर आधृत है । अइउण्, ऋलृक्, एओङ्, ऐऔच्—इनमें स्वतन्त्र अकार आदि भी हैं और अ+इ=ए आदि समुदाय भी है । अब प्रश्न है कि समुदाय ए ओ में अवयवरूपेण विद्यमान अ, इ आदि

व्यवस्थावयवग्रहणेन ग्रहणं स्याद्वा न वेति जायते विचारणा ॥

प्रदीपः

समुदायावगमस्य समुदायकार्यं बहिरङ्गम् । अयादीनां चावकाशः—अग्न आयाहीति । नन्वत्रापि यणादेशोऽवयवस्य प्राप्नोति ॥ येन नाप्राप्ते इति वा मध्येऽपवादा इति वा यण एवायादयो बाधकाः स्युः । तत्र यथा दधीन्द्र इत्यत्र दधिशब्दस्थ इकारः सवर्ण-दीर्घत्वं प्रतिपद्यते, एवमेकारस्थोपि प्रतिपद्येत । प्रत्याहारे एओङ्ऐऔजित्यत्रावयवानां प्राधान्येनानिर्देशादित्येवं ग्रहणपक्षाशङ्काबीजमुपन्यस्तम् । इदानीमग्रहणपक्षाशङ्काबीज-मुपन्यस्यते—अभ्यन्तरश्चेति । तिरोहितत्वादवयवानां समुदायकार्ये पारतन्त्र्यात् स्वकार्यस्याप्रयोजकत्वान्नरसिंहवज्जात्यन्तरयोगाद्वर्णान्तरसारूप्यमात्रेण तत्कार्याप्रवर्त-नादित्यर्थः ॥

उद्द्योतः

नोदितो न साक्षादिति भावः ॥ साक्षाच्चोदितत्वं प्रत्यक्षत्वे हेतुः ॥ नन्वयादिरनव-काशोऽत आह—अयादीनामिति ॥ नन्विति । ततश्च विध्यन्तरपूर्वकोऽयादिः सर्वस्य बाधकः स्यादिति भावः ॥ परिहरति—येनेति ॥ प्राधान्येनानिर्देशादिति । अस्यैजादि-संज्ञाभावेऽपि स्वतन्त्राकारेण ग्रहणं स्यादिति शेषः ॥ भाष्ये अभ्यन्तरश्चेति । तदुच्चारणं विना समुदायोच्चारणस्याशक्यत्वादित्यर्थः ॥ तदाह—तद्यथा वृक्ष इति ॥ तदुप-पादयति—तिरोहितत्वादित्यादिना ॥ समुदायकार्ये पारतन्त्र्यादिति । समुदायसंपादन-रूपे कार्ये पारतन्त्र्यादित्यर्थः ॥ स्वकार्यस्याप्रयोजकत्वादिति । स्वकार्यनिरूपित-प्रयोजकत्वाभावादित्यर्थः ॥ तत्प्रयोजकत्वाभावे हेतुः—नरसिंहवदिति । तदवयवे नरत्वाद्यभाववदेतदवयवेऽप्यत्वाद्यभाव इति भावः ॥

भावबोधिनी

का स्वतन्त्र रूप से ग्रहण करना चाहिए अथवा नहीं । लोक में यह देखा जाता है समुदाय का कोई कार्य अवयवों के साथ ही होता है । समुदाय में अवयव तिरोभूत हो जाते हैं, अपने कार्य के प्रति प्रयोजक नहीं होते हैं । जैसे नरसिंह में नरत्व आदि कुछ नहीं कर सकते । इसी प्रकार ए ओ आदि में अकार आदि का कोई स्वतन्त्र कार्य नहीं हो सकता । जब समुदाय का कार्य होता है तब नान्तरीयकतया अवयवों का भी हो जाता है, स्वतन्त्रतया नहीं ।

परन्तु कभी-कभी केवल अवयव का भी कार्य देखा जाता है उससे समुदाय कार्य-भाक् नहीं होता है उसी प्रकार ऋ, लृ, ए, ओ आदि में अवयव भी स्वतन्त्रतया कार्यभाग् होने चाहिए या नहीं । इसी का विवेचन किया जा रहा है ।

(भाष्यम्)

कश्चात्र विशेषः ?

(५२ ग्रहणपक्ष आक्षेपवार्तिकम् ॥ ६ ॥)

॥*॥ वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन चेत्संध्यक्षरे समानाक्षरविधिप्रतिषेधः ॥*॥

(भाष्यम्)

वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन चेत्सन्ध्यक्षरे समानाक्षराश्रयो विधिः प्राप्नोति। स प्रतिषेध्यः॥ अग्ने इन्द्र, वायो उदकम्, "अकः सवर्णे दीर्घः" (६।१।१०१) इति दीर्घत्वं प्राप्नोति॥

(५३ आक्षेपान्तरवार्तिकम् ॥ ६ ॥)

॥ * ॥ दीर्घे ह्रस्वविधिप्रतिषेधः ॥ * ॥

प्रदीपः

समानाक्षरेति। समानशब्देन पूर्वाचार्यनिर्देशादकोऽभिधीयन्ते। दश समाना इति वचनात्। तेन समानकार्यं प्राप्नोतीत्यर्थः॥

उद्द्योतः

वचनादिति। अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ दश समाना इति पूर्वव्याकरण-वचनादित्यर्थः॥ समानकार्यम्। अग्रूपसमानाक्षरकार्यमित्यर्थः। सवर्णकार्यमिति। पाठे सवर्णदीर्घरूपकार्यमित्यर्थः॥

भावबोधिनी

[वर्ण के अवयवों के ग्रहण होने अथवा न होने में] क्या अन्तर होता है ?

(वा०) वर्णों के एकदेश=अवयव वर्णों के ग्रहण से यदि [स्वतन्त्र रूप से] गृहीत होते हैं तो सन्ध्यक्षरों में समानाक्षरविधि का प्रतिषेध करना होगा।

(भा०) वर्णों के एकदेश=अवयव भी यदि वर्णों (स्वतन्त्रवर्णों) के ग्रहण से गृहीत होते हैं अर्थात् अवयवों को भी अपने सदृश स्वतन्त्र वर्ण के रूप में मान लिया जाय तो सन्ध्यक्षरों (ए, ओ, ऐ औ) में समान अक्षरों को मान कर होने वाली (दीर्घादि) विधि प्राप्त होती है। उस (सवर्णदीर्घादि विधि) का प्रतिषेध करना होगा—'अग्ने + इन्द्र, वायो+उदकम्' इनमें "अकः सवर्णे दीर्घः" (६।१।१०१) से दीर्घत्व प्राप्त होता है। [क्योंकि 'अग्ने' के 'ए' में अ + इ है, बाद में इन्द्र है, सवर्ण अक्षर परे है, 'वायो' के 'ओ' में अ+उ है बाद में उदक है, समानाक्षर परे है। अतः दोनों इकारों और उकारों को मानकर दीर्घ विधि प्राप्त है। उसका प्रतिषेध करना होगा।]

(भाष्यम्)

दीर्घे ह्रस्वाश्रयो विधिः प्राप्नोति, स प्रतिषेध्यः। आलूय, प्रलूय "ह्रस्वस्य पिति कृति तुग्" (६।१।७१) इति तुक् प्राप्नोति ॥

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

नैषः दोषः, आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—'न दीर्घे ह्रस्वाश्रयो विधिर्भवति' इति। यदयं दीर्घाच्छे तुकं शास्ति ॥

(आक्षेपसाधकभाष्यम्)

नैतदस्ति ज्ञापकम्, अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम् ॥

किम् ?

"पदान्ताद्वा" (६।१।७६) इति विभाषां वक्ष्यामीति ॥

उद्द्योतः

भाष्ये दीर्घाच्छे इति। दीर्घस्य च्छे तुगिति हि तदर्थः॥ ननु ह्रस्वस्येत्यत्राच इत्येव सिद्धे ह्रस्वग्रहणसामर्थ्यादेव तुग्नेति चेन्न, पदलाघवाभावादित्याशयात् ॥

अस्ति हीति। तत्र दीर्घादित्यस्याभावे कुडचच्छायेत्यादावपि विकल्पः स्यादिति भावः ॥

भावबोधिनी

(वा०) दीर्घ में ह्रस्व मानकर होने वाली विधि का प्रतिषेध [करना होगा।]

(भा०) दीर्घ अक्षर में ह्रस्व को मान कर होने वाली विधि प्राप्त होती है, उसका प्रतिषेध करना होगा। उदाहरणार्थ—'आलूय, प्रलूय।' [इनमें दीर्घ का अवयव जो ह्रस्व उकार उसे मान कर] 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (६।१।७१) सूत्र से तुक् प्राप्त होता है। [अब उसका प्रतिषेध करना पड़ेगा।]

[पूर्वोक्त आपत्तिरूप] दोष नहीं है, क्योंकि आचार्य पाणिनि की प्रवृत्ति यह सूचित करती है कि दीर्घ अक्षर में ह्रस्व को मान कर होने वाली विधि प्रवृत्त नहीं होती है,क्योंकि ये आचार्य दीर्घ को 'छ' परे रहते भी ['दीर्घात्' सूत्र से] तुक् आगम का अनुशासन करते हैं। [यदि दीर्घ में भी ह्रस्वाश्रित कार्य सम्भव होता तो 'छे च' इसी सूत्र से काम हो जाता, "दीर्घात्' सूत्र नहीं बनाना पड़ता। यह सूत्र बनाना ज्ञापित करता है कि दीर्घ में ह्रस्वाश्रित विधि नहीं होती है।]

नहीं, यह ज्ञापक नहीं [बन सकता]। इस सूत्र (वचन) को बनाने का कुछ और ही प्रयोजन है ?

[दूसरा] कौन सा [प्रयोजन] है ?

'पदान्ताद्वा' (६।१।७६) यह विभाषा कही जायगी। [इसमें 'दीर्घात्' इसकी अनुवृत्ति हो, सर्वत्र विभाषा न हो, इसलिए यह सूत्र अलग बनाया गया, व्यर्थ नहीं है,

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

यत्तर्हि योगविभागं करोति। इतरथा हि "दीर्घात्पदान्ताद्वा" इत्येव ब्रूयात् ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

इह तर्हि—खट्वाभिः, मालाभिः, "अतो भिस ऐस्" (७।१।९) इत्यैस्भावः प्राप्नोति ॥

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

तपरकरणसामर्थ्यान्न भविष्यति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

इह तर्हि—याता, वाता "अतो लोप आर्धधातुके" ६।४।४८) इत्यकारलोपः प्राप्नोति ॥

(आक्षेपकबाधकभाष्यम्)

ननु चात्रापि तपरकरणसामर्थ्यादेव न भविष्यति ॥

भावबोधिनी

ज्ञापक नहीं बन सकता। यदि 'दीर्घात्' सूत्र न होकर उसकी अनुवृत्ति नहीं होगी तब कुड्यच्छाया, दधिच्छाया' आदि में भी विकल्प से तुक् होने लगता। 'दीर्घात्'—सूत्र रहने पर दीर्घ में विकल्प और ह्रस्व में नित्य तुक होता है।]

यदि ऐसा है [और व्यर्थ न होने से ज्ञापक बनना सम्भव नहीं है] तब तो पाणिनि ने जो योगविभाग किया, अलग-अलग 'दीर्घात्' और 'पदान्ताद् वा' ये दो सूत्र बनाए। [यही ज्ञापक बनेगा।] अन्यथा 'दीर्घात्पदान्ताद् वा' यह एक ही सूत्र बना देते। क्योंकि अपदान्त दीर्घ 'चेच्छिद्यते' आदि में 'छे च' इसी सूत्र से ए के अवयव इ = ह्रस्व अक्षर को मान कर नित्य तुक् हो जाता। अलग से 'दीर्घ' से नित्य तुक् करना व्यर्थ होता। अतः 'दीर्घात्' यह योगविभाग ज्ञापक ही है कि दीर्घ में ह्रस्वाश्रित विधि नहीं होती है।]

[उक्त सूत्र ज्ञापक है अतः दीर्घ में ह्रस्वाश्रित तुक् नहीं होता है] किन्तु यहाँ 'खट्वाभिः, मालाभिः' आदि में 'अतो भिस ऐस्' (७।१।९) सूत्र से भिस् का ऐस् आदेश प्राप्त होता है। [क्योंकि दीर्घ 'आ' में ह्रस्व अ भी है। अतः तदाश्रित कार्य प्राप्त होता है।]

['अतः' इस प्रकार के] तपरकरण के सामर्थ्य से तुक् नहीं होगा। [यदि दीर्घ से भी ह्रस्व मानकर तुक् होने लगे तब तो तपरकरण व्यर्थ होगा। अतः यहाँ ऐस् नहीं होगा।]

तो फिर 'याता, वाता' आदि में 'अतो लोपः' (६।४।४८) सूत्र से आर्धधातुक प्रत्यय परे अ का लोप प्राप्त होता है। [क्योंकि 'या', 'वा' के दीर्घ आ में ह्रस्व अ भी है। उसी का लोप होगा।]

(आक्षेपसाधकभाष्यम्)

अस्ति ह्यन्यत्तपरकरणे प्रयोजनम् ॥ किम् ? सर्वस्य लोपो मा भूदिति ॥

(प्रयोजनबाधकभाष्यम्)

अथ क्रियमाणेऽपि तपरे परस्य लोपे कृते पूर्वस्य कस्मान्न भवति ?

(प्रयोजनसाधकभाष्यम्)

परलोपस्य स्थानिवद्भावादसिद्धत्वाच्च ॥

प्रदीपः

असिद्धत्वाच्चेति । असिद्धवदत्राभादित्यनेन ।

उद्द्योतः

असिद्धवदिति । [1]चिणो लुङ्न्यायेनेति भावः ।

भावबोधिनी

क्यों श्रीमान् ! यहाँ भी ['अतः' इस प्रकार के] तपरकरण के सामर्थ्य से ही [दीर्घ आ के अवयवभूत ह्रस्व अ का] लोप नहीं होगा ।

['अतो लोपः' सूत्र में] तपरकरण का कुछ दूसरा ही प्रयोजन है ।

[दूसरा प्रयोजन] कौन सा है ?

सभी अकारों का लोप न होने लगे अर्थात् तपर के अभाव में "अस्य लोपः' ऐसा होने से "अणुदित्" सूत्र के बल से सभी अकारों का ग्रहण हो जाने से दीर्घ आ का भी लोप होने लगेगा । तपर करने पर नहीं होगा ।]

तो तपर कर देने पर भी [दीर्घ के अवयवभूत] बाद वाले अ का लोप कर देने पर पुनः [अवशिष्टह्रस्व] पूर्व अकार (अवयव) का लोप किस कारण नहीं होगा ?

[दीर्घ के अवयवभूत] परवर्त्ती अ-लोप का स्थानिवद्भाव हो जाता है और ['असिद्धवदत्राभात्' ६.४.२२ से परवर्ती अलोप] असिद्ध हो जाता है ।[1] [अतः पूर्ववर्ती अवयव अ का लोप नहीं होता है।]

---

१. 'अपाचितराम्' आदि लक्ष्यों में अपाचि + त + तराम् अवस्था में 'चिणो लुक्' (६.४.१०४) से 'त' प्रत्यय का लुक् कर देने पर पुनः चिण् से परे तराम् के 'त' का लुक् प्राप्त होता है परन्तु 'असिद्धवदत्राभात्' (६.४.२२) से पूर्व 'त' लोप असिद्ध हो जाता है। बीच में इसका व्यवधान हो जाने से "तराम्' के त का लोप नहीं होता है। वैसे ही यहाँ भी पहले लोप किये गये 'अ' को असिद्ध मानकर उसका व्यवधान होने से पुनः अलोप नहीं होता है।

(समाधानसाधकभाष्यम्)

एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—'नाकारस्थस्याकारस्य लोपो भवति' इति। यदयम् "आतोऽनुपसर्गे कः" (३।२।३) इति ककारमनुबन्धं करोति॥

कथं कृत्वा ज्ञापकम् ?

कित्करणे एतत्प्रयोजनम्—कितीत्याकारलोपो यथा स्यादिति। यद्याकारस्थस्याकारस्य लोपः स्यात्, कित्करणमनर्थकं स्यात्। परस्याकारस्य लोपे कृते द्वयोरकारयोः पररूपे हि सिद्धं रूपं स्याद्—गोदः कम्बलद इति। पश्यति त्वाचार्यो—नाकारस्थस्याकारस्य लोपः स्यादिति, अतः ककारमनुबन्धं करोति॥

(समाधानबाधकभाष्यम्)

नैतदस्ति ज्ञापकम्। उत्तरार्थमेतत्स्यात् "तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः" (३।२।५) इति॥

उद्द्योतः

भाष्ये उत्तरार्थमेतदिति। इह किंचित्करो इतीति न्यायस्तु नाश्रितः। अत्र केवलाकारोच्चारणे उत्तरत्र ककाराकारयोरुच्चारणे गौरवादिति भावः॥

भावबोधिनी

यदि ऐसा है तो आचार्य पाणिनि की प्रवृत्ति(व्यवहार) यह बतलाती है—"आकार में अवयवरूपेण विद्यमान अ का लोप नहीं होता है, क्योंकि पाणिनि 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३.२.३) सूत्र में [अ प्रत्यय में] ककार अनुबन्ध लगाते हैं। [क प्रत्यय करके क् अनुबन्ध लगाकर लोप करके 'अ' प्रत्यय करते हैं।]

यह [ककार अनुबन्धकरण] किस प्रकार से ज्ञापक होता है ?

कित् प्रत्यय करने में यही प्रयोजन है—कित् प्रत्यय परे रहते ['आतो लोप इटि च' ६.४.६४ सूत्र से धातु के] आकार का लोप जिस प्रकार से हो सके। यदि क प्रत्यय परे होने पर आकार में अवयवरूपेण विद्यमान 'अ' का भी लोप हो सके तो कित् करना अनर्थक हो जायगा। कारण यह है कि [आ=अ+अ में] बाद वाले अ अवयव का लोप ['अतो लोपः' ३.२.३ से ही] कर देने पर [धातु का बचा हुआ ह्रस्व अ और प्रत्यय अ—इन] दोनों अकारों का ['अतो गुणे' सूत्र से] पररूप कर देने पर रूप सिद्ध हो ही सकता है—गोदः, कम्बलदः। परन्तु आचार्य पाणिनि यह देखते हैं, समझते हैं कि आकार के अवयवभूत अकार का लोप नहीं हो सकता। [अतः पररूप करके उक्त रूप सिद्ध नहीं हो सकते। सम्पूर्ण दीर्घ आ का ही लोप करना आवश्यक है] इसीलिए ककार अनुबन्ध लगाते हैं। [अन्यथा 'क' प्रत्यय करते हुए अ के साथ क् अनुबन्ध लगाने का कोई प्रयोजन नहीं है।]

(समाधानबाधकभाष्यम्)

यर्त्तर्हि "गापोष्टग्" (३।२।८) इत्यनन्यार्थं ककारमनुबन्धं करोति ॥

(५० आक्षेपवार्तिकम् ॥ ८ ॥)

॥ * ॥ एकवर्णवच्च ॥ * ॥

(भाष्यम्)

एकवर्णवच्च दीर्घो भवतीति वक्तव्यम् ॥

किं प्रयोजनम् ?

प्रदीपः

यत्तर्हीति । नन्वसति कित्त्वे आकारस्थस्याकारस्य लोपे कृते द्वयोरकारयोः पररूपस्य धातुं प्रत्यन्तवद्भावाच्छन्दोगायेत्यत्रातो धातोरित्याकारलोपप्रसङ्गः । नैष दोषः, सन्निपातपरिभाषया लोपो न भविष्यति । अकारं ह्याश्रित्य यशब्दः कृतो, लोपस्यानिमित्तम् । दीर्घत्वं तु कष्टायेति निपातनाद्भवति ॥

उद्द्योतः

सन्निपातेति । न च दीर्घेणैव स निवर्तितो, दीर्घेऽप्यत्वजातिसंबन्धसत्त्वेन न तथा सन्निपातक्षतिः । लोपे तु तस्यापि निवृत्तेस्तद्विरोधस्य स्पष्टत्वादिति भावः ॥ परे तु जातिपक्षे तपरसूत्रं व्याप्यजातिनिर्देशस्यैव बोधकमिति यत्वनिमित्तसन्निपातस्य दीर्घेण निवृत्तिर्जातैव न कस्याप्यनुवृत्तिस्तस्माद्व्याप्यात्वजातियत्रादिसंनिपातनिमित्तो दीर्घो न स्वसंनिपातविघातकलोपनिमित्तम् । सन्निपातपरिभाषायाश्च स्वप्रवृत्तेः प्राङ् निमित्तभूतो यादृशः सन्निपातः स्वातिरिक्तताद्विघातकस्य स्वयमनिमित्तमित्यर्थः । मात्राकालिकत्वसमानाधिकरणव्यापकजातिनिर्देशपक्षेऽप्यङ्गसंज्ञा तर्ह्यनिमित्तं स्यादिति कृन्मेजन्तसूत्रवक्ष्यमाणभाष्यरीत्या यादेशनिमित्तसन्निपातस्य न लेशतोऽपि सत्तेति वदन्ति ॥ प्रातर्ऋतं तदॢकार इत्यादौ 'रो रि' तोर्लीति तु नापादितं, तस्याभितोऽज्भागसत्त्वेन तेन व्यवधानात्तदप्राप्तेः ॥

भावबोधिनी

यह ज्ञापक नहीं हो सकता । यह 'क' तो उत्तरवर्ती सूत्र में अनुवृत्ति के लिए होगा—'तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः' (३.२.५) । [इसमें 'क' कित् होने से गुण-निषेध होता है । अतः कित् करण व्यर्थ नहीं है, ज्ञापक नहीं बन सकता ।]

यदि ऐसा है तब तो 'गापोष्टक्' (३.२.८) सूत्र में [आकारलोप के अतिरिक्त] अन्य प्रयोजन के लिए नहीं अपितु आलोप के लिए ही ककार अनुबन्ध करते हैं । [वही ज्ञापक होगा कि आकार के अवयव अकार का लोप नहीं होता है । अन्यथा कित् करण व्यर्थ होगा । अतः यह दोष नहीं आता है ।]

(वा०) [दीर्घ वर्ण] एक वर्ण के समान [ही होता है ।]

वाचा तरतीति द्व्यज्लक्षणष्ठन्मा भूदिति। इह च वाचो निमित्तम्, "तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ" इत्यनुवर्तमाने "गोद्व्यच" (५।१।३९) इति द्व्यज्लक्षणो यन्मा भूदिति ॥

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

अत्रापि गोनौग्रहणं ज्ञापकम्—'दीर्घाद् द्व्यज्लक्षणो विधिर्न भवति' इति ॥

प्रदीपः

एकवर्णवदिति। अवयवसंख्याश्रयणेन वाक्शब्दस्य द्व्यच्त्वात्तन्निमित्तं कार्यं प्राप्नोतीत्येकवर्णवदित्यतिदेशः क्रियते ॥

गोनौग्रहणं ज्ञापकमिति। सामान्येन ज्ञापकं वर्णावयवाश्रयकार्याभावस्येति अग्न एहीत्यादावेङः पदान्तादतीत्याद्यपि न भवति ॥

उद्द्योतः

अग्ने इन्द्रेत्यादौ सवर्णदीर्घव्यावृत्तये आह—सामान्येनेति ॥ गोद्व्यचोऽसङ्ख्ये'ति गोग्रहणं नौद्व्यचष्ठन्निति नौग्रहणम् ॥ वर्णावयवाश्रयकार्याभावस्येति। वर्णावयवेषु भेदेनाप्रतिभासमानेषु वर्णाश्रयकार्याभावस्येत्यर्थः। तेन मातॄणामित्यादौ णत्वादिसिद्धिः। भेदेन प्रतिभासात् ॥

भावबोधिनी

(भा०) [यदि दीर्घ स्वर एक-एक मात्रा वाले दो स्वरों का संयुक्त रूप है तब] दीर्घ एक वर्ण के समान होता है, ऐसा कहना होगा।

[ऐसा कहने का] क्या प्रयोजन है ?

वाचा तरति—इत्यादि अर्थ में [एक ही दीर्घ आ आदि को दो ह्रस्व स्वरों वाला] दो अच् निमित्तक ठन् प्रत्यय 'नौद्व्यचष्ठन्' (४.४.७) से न होने लगे। और 'वाचः निमित्तम्' इस अर्थ में 'तस्य निमित्तं सयोगोत्पातौ' (५।१।३८) की अनुवृत्ति रहने पर 'गोद्व्यचोऽसंख्या' (५।१।३९) से दो अच् निमित्तक यत् प्रत्यय न होने लगे। [वाच् के दीर्घ आ में दो ह्रस्व अकार मान कर दो अचों वाला हो जाने से ठन् और यत् आदि प्रत्यय प्राप्त होंगे। ये न हो इसके लिए दीर्घ को एक वर्ण के समान ही कहना पड़ेगा।]

इनमें भी गो और नौ का ग्रहण इस बात का ज्ञापक है—दीर्घ वर्ण से दो अचों को मानकर होने वाला कार्य नहीं होता है। [क्योंकि यदि ओ और औ के अवयव अ+उ, अ+ओ को मानकर ये भी दो अचों वाले हो जाते हैं तो 'द्व्यच्' मान कर ही प्रत्यय संभव है सूत्रों में 'गो', 'नौ' का ग्रहण व्यर्थ है। यही ज्ञापक बनता है कि दीर्घ के अवयवों को मानकर कार्य नहीं होता है। अतः एकवर्णवत् कहने की आवश्यकता नहीं है।]

(ग्रहणवादिभाष्यम्)

नैतदस्ति ज्ञापकम् । वृद्ध्यर्थमेतत्स्यात्—नार्नमनिः ॥

(अग्रहणवादिभाष्यम्)

यत्तर्हि तृप्नोतिशब्दं पठति ॥

(एकदेशिभाष्यम्)

यच्चापि नृनमनशब्दं पठति ॥

(बाधकस्मरणभाष्यम्)

ननु चोक्तम्—वृद्ध्यर्थमेतत्स्यात् ॥

(समाधानभाष्यम्)

बहिरङ्गा वृद्धिरन्तरङ्गं णत्वम् । असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे (१०) ॥

उद्द्योतः

बहिरङ्गा वृद्धिरिति । त्रिपाद्यामपि बहिरङ्गपरिभाषा प्रवर्तत इति वार्तिकमते-नैतत् । भाष्यमते तु तृप्नोतिशब्दपाठस्यैव ज्ञापकता बोध्या ॥ ऋतो नो ण इति ।

भावबोधिनी

यह (पाठ) ज्ञापक नहीं है । यह तो वृद्धि [करने के बाद 'नार्नमनिः' में रेफ से परे न का णत्व प्राप्त है उस] का निवारण करने के लिये हो सकता है । [चरितार्थ होने से ज्ञापक नहीं माना जा सकता ।]

तो फिर जो 'तृप्नोति' शब्द का पाठ किया है । [वह ज्ञापक होता है कि ऋ से परे न का ण होता है । इसलिए अग्रहणवादी को ऋकार से परे णत्व कहने की आवश्यकता नहीं है ।]

और जो 'नृनमन' का पाठ है । [वह भी ज्ञापक हो ही सकता है ।]

नहीं, यह कहा जा चुका है कि 'नार्नमनिः' में वृद्धि[में णत्व की निवृत्ति]के लिये है । [नृनमन से अपत्य अर्थ में इञ् करने पर आदिवृद्धि और रपर कर देने से 'नार्नमनिः' में रेफ से परे होने से ही णत्व प्राप्त है । उसीका वारण करने के लिए 'नृनमन' का पाठ है । वह ऋकार से परे णत्व का ज्ञापक नहीं बन सकता ।]

वृद्धि बहिरङ्ग है और णत्व अन्तरङ्ग है, अन्तरङ्ग की कर्तव्यता में बहिरङ्ग असिद्ध होता है । [अतः 'नृनमन' में पहले ऋ को मानकर प्राप्त णत्व की निवृत्ति के लिये इस शब्द का पाठ मानना चाहिए ।]

अथवा उपरिष्टाद्योगविभागः करिष्यते—"ऋतः" नो णो भवति। ततः—"छन्दस्यवग्रहात्" (८।४।२६) ऋत इत्येव॥

(५८ आक्षेपवार्तिकम् ॥ १२ ॥)

॥ * ॥ प्लुतावैच इदुतौ ॥ * ॥

(भाष्यम्)

[1]एतन्न वक्तव्यम्। यस्य पुनर्गृह्यन्ते गुरोष्टेरित्येव प्लुत्या तस्य सिद्धम्॥

प्रदीपः

गुरोष्टेरिति। ऐकारो गुरुस्तस्य टेरिति सिद्धम्। तन्त्रन्यायाश्रयणाच्च गुरोरपि स्थाने प्लुतो भवति—दे३वदत्तेति॥

उद्द्योतः

मातृणामित्यादौ दीर्घस्य बहिरङ्गासिद्धत्वाण्णत्वम्। यद्वा प्रशास्तॄणामिति निर्देशाण्णत्वम्। अत्र तपरत्वं मुखसुखार्थमेव। उत्तरत्राऽप्येवमेव, फलाभावाद्। ध्वनितं चेदं वृत्तौ॥

ननु गुर्ववयवटेरित्यर्थाऽङ्गीकारे गुरुरूपटेः प्लुतो न स्यादत आह—तन्त्रेति। स्थानषष्ठ्यन्तावयवषष्ठ्यन्तयोर्गुरुशब्दयोरित्यर्थः। गुर्ववयवटिश्चैच एव सम्भवति, नान्यस्य आकारादेः, तदवयवस्य व्यपवृक्तत्वाभादिति भावः॥

भावबोधिनी

अथवा आगे वाले सूत्र का विभाग करके पढ़ेंगे—"ऋतः" [ऋकार से अव्यवहित न का ण होता है।] इसके बाद "छन्दस्यवग्रहात्' (८।४।२६) इसमें 'ऋतः' की अनुवृत्ति करेंगे। [ऋकारान्त अवग्रह पूर्वपद से उत्तरवर्त्ती का णकारादेश होता है वेद विषय में।' इसलिए ऋकार से परे भी णत्व सम्भव है—मातॄणाम्, पितॄणाम्। अग्रहणपक्ष में भी 'ऋकाराच्चेति वक्तव्यम्' वचन की आवश्यकता नहीं है।]

[इस प्रकार अग्रहणपक्ष में उक्त कोई भी दोष नहीं है।]

(वा०) ऐच् के अवयव इत् उत् (इ, उ) प्लुत होते हैं।

(भा०) ऐच् के अवयव इ, उ प्लुत होते हैं—यह [अग्रहणवादी को] कहना होगा। किन्तु जिसके मत में [अवयव का भी स्वतन्त्र वर्ण के रूप में] ग्रहण होता है उसके अनुसार तो 'गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम्" (८।२।८६) सूत्र से 'टि' (अन्तिम अज्भाग इ, उ) का प्लुत करके कार्य सिद्ध हो जाता है।

---

१. 'ऐचः प्लुतिप्रसङ्गे तदवयवाविदुतौ प्लुतौ भवतः' इत्यर्थकमैचां चतुर्मात्रत्वसाधकमिदं सूत्रं कर्तव्यमेवेति गौरवमग्रहणपक्षे। ग्रहणपक्षे तु गुरोरैचोऽवयवभूतस्य टेरिकारस्योकारस्य वा प्लुतिः 'गुरोरनृत' इत्यनेनैव सिद्धेति लाघवम् इति भावः॥

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

यस्यापि न गृह्यन्ते तस्याप्येष न दोषः। क्रियत एतन्न्यास एव ॥

(५९ आक्षेपवार्तिकम् ॥ १३ ॥)

॥ * ॥ तुल्यरूपे संयोगे द्विव्यञ्जनविधिः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

तुल्यरूपे संयोगे द्विव्यञ्जनाश्रयो विधिर्न सिध्यति–कु३क्कुटः, पि३प्पली, पि३त्तमिति। यस्य पुनर्गृह्यन्ते तस्य द्वौ ककारौ, द्वौ पकारौ, द्वौ तकारौ ॥

प्रदीपः

क्रियते न्यास एवेति। अवश्यकर्तव्यतां दर्शयति। व्यपवृक्तत्वेपि भागयोर्विवृततरत्वात् प्रयत्नभेदादिकारोकाराभ्यामग्रहणादच्त्वाभावात् ॥

तुल्यरूप इति। तुल्यरूपावयवत्वात्संयोगस्तुल्यरूपस्तस्यैकवर्णत्वं पूर्वपक्षे, सिद्धान्ते तु वर्णद्वयरूपता। आशूच्चारणात्तु भ्रान्तमेकत्वज्ञानमिति शिष्टसमाचारः ॥

उद्द्योतः

अच्त्वाभावादिति। तन्मूलटित्वाभावाच्चेत्यपि बोध्यम् ॥

संयोग इति। संयोगसंज्ञार्ह इत्यर्थः ॥ तस्यैकवर्णत्वमिति। एवं च संयोगसंज्ञा न स्यादिति भावः॥ 'संयोगे' इति भाष्यं तु संयोगार्ह इत्यर्थपरमिति तात्पर्यम् ॥

शिष्टसमाचारः = शिष्टव्यवहारः ॥

भावबोधिनी

जिसके मत में ग्रहण नहीं होता है उसके मत में भी यह (प्लुत न हो सकना) दोष नहीं है क्योंकि यह प्लुत तो 'प्लुतौ ऐच इदुतौ' (८।२।१०६) इस सूत्र में किया ही गया है। [तब इसके करने का प्रश्न ही नहीं उठता है।]

(वा०) तुल्य रूप वाले संयोग में दो व्यञ्जनों को मानकर होने वाली विधि [नहीं सिद्ध होती है]।

(भा०) जहाँ एक ही वर्ण दो वार प्रयुक्त है ऐसे तुल्यरूप वाले व्यञ्जनों के संयोग स्थल में अलग-अलग दो व्यञ्जनों को मानकर होने वाली विधि नहीं प्रवृत्त हो सकती है। [क्योंकि अग्रहणवादी समुदाय को एक ही वर्ण मानता है इसलिए]—"कु३क्कुटः, पि३प्पलः, पि३त्तम् [इनमें क्कु, प्प, त्त—ये एक ही व्यञ्जन होंगे। संयोग संज्ञा नहीं होगी। तब पूर्व की गुरु संज्ञा न होने से 'गुरोरनृतः' सूत्र से इनमें प्लुत नहीं हो सकेगा] ग्रहणवादी के मत में दोनों ककार, पकार, तकार अलग-अलग [मिलकर संयोग हैं]। [अतः संयोग परे रहते पूर्व की गुरु संज्ञा होने से उसके प्लुत होने में बाधा नहीं है।]

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

यस्यापि न गृह्यन्ते तस्यापि द्वौ ककारौ, द्वौ पकारौ, द्वौ तकारौ ॥

कथम् ?

मात्राकालोऽत्र गम्यते । न च मात्रिकं व्यञ्जनमस्ति । अनुपदिष्टं सत्कथं शक्यं विज्ञातुम् । असच्च कथं शक्यं प्रतिपत्तुम् ॥

(आक्षेपसाधकभाष्यम्)

यद्यपि तावदत्रैतच्छक्यते वक्तुं—यत्रैतन्नास्ति—'अण् सवर्णान् गृह्णाति' इति । इह तु कथम्–सय्ँयन्ता, सव्ँवत्सरः, यल्ँलोकम्, तल्ँलोकमिति यत्रैतदस्त्यण् सवर्णान् गृह्णातीति ?

उद्द्योतः

[भाष्ये] मात्राकालोऽत्रेति । बहुव्रीहिः, संयोगोऽन्यपदार्थः ॥ मात्रिकव्यञ्जनाभावेऽनुपदिष्टत्वं हेतुः । कुक्कुट इत्याद्युच्चारणं तु न उपदेशः ॥ अनुपदिष्टत्वं नाम अक्षरसमाम्नायेऽपठितत्वं ग्राहकशास्त्रेणागृहीतत्वं च ॥ अनुपदिष्टं सत्=सत्त्वेन कथं शक्यं विज्ञातुमित्यर्थः । एवं चानुपदिष्टस्यासत्त्वात् तत्प्रतिपत्तिरशक्येत्याह—असच्चेति । क्वचित्तु 'असच्चे'त्यादिग्रन्थो न दृश्यते ॥ अनेन ल्कारापाठे तस्यासत्त्वशङ्कया तयोः सावर्ण्यविधिरप्यशक्य इति सूचितम् ॥

यत्रैतदस्तीति भाष्ये । हलोऽनन्तरा इत्यत्र यकारादिभिरस्य ग्रहणे हल्द्वयाभाव इति भावः ॥

भावबोधिनी

जिसके मत में ग्रहण नहीं है उसके मत में भी दोष नहीं है, क्योंकि उसके लिये भी दो ककार, दो पकार और दो तकार हैं ।

किस प्रकार ?

इस (संयोग) में उच्चारण की मात्रा का काल प्रतीत होता है । व्यञ्जन कोई भी एकमात्रिक नहीं होता है । [अर्धमात्रिक ही होता है] और उपदिष्ट न होने से [व्यञ्जन एक मात्रा कालवाला] कैसे समझा जा सकता है । और जो है ही नहीं,उसका ज्ञान कैसे हो सकता है । [अतः यहाँ क्क, प्प, त्त में एक मात्रा का भ्रम है वास्तव में ये अर्ध मात्रा के दो हैं । इनकी संयोग संज्ञा में बाधा नहीं है ।]

[पूर्व पक्षी का तर्क] जहाँ 'अण् सवर्णों का ग्राहक (बोधक) होता है' [इत्यर्थक 'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः' सूत्र की] प्रवृत्ति नहीं होती है वहाँ यद्यपि यह कहा जा सकता है । [जैसा कि क्क, प्प, त्त में है किन्तु इनका न तो वर्णसमाम्नाय में उपदेश है और न 'अणुदित्' से ही बोध्यता है । अतः यहाँ ये दो स्वतन्त्र व्यञ्जन होने से संयोग संज्ञा और पूर्व के प्लुत में बाधा नहीं है ।] परन्तु जहाँ 'अण् सवर्ण का ग्राहक है', ('अणुदित् सूत्र लगता है) जैसे—सय्ँयन्ता, सव्ँवत्सरः, यल्ँलोकम्,तल्ँलोकम्—[यहाँ अण् होने से निरनुनासिक और अनुनासिक यवल का एक से ही ग्रहण होगा, एक ही माने जाएगे । तब इनमें] कैसे सवर्ण संज्ञा और पूर्व का प्लुत होगा ?

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

अत्रापि मात्राकालो गृह्यते। न च मात्रिकं व्यञ्जनमस्ति। अनुपदिष्टं सत्कथं शक्यं विज्ञातुम्। असच्च कथं शक्यं प्रतिपत्तुम्॥ ३-४॥

(शिवसूत्रम्)

हयवरट्॥ ५॥

(अथ हकारस्य द्विरुपदेशाधिकरणम्, आक्षेपभाष्यम्)

सर्वे वर्णाः सकृदुपदिष्टाः, अयं–हकारो द्विरुपदिश्यते—पूर्वश्चैव परश्च। यदि

प्रदीपः

अत्रापीति। सानुनासिकनिरनुनासिकौ द्वावत्र वर्णावित्यर्थः॥

हयवरट्॥ पूर्वश्चेति। पूर्वपरोच्चारणक्रियाभेदादेकस्यैव हकारस्य पूर्वपरव्यपदेशः॥

उद्द्योतः

सानुनासिकेति। अणुदिच्छास्त्रं हि विद्यमानस्य लोकसिद्धस्य सवर्णस्य ग्राहकमेव, न त्वप्रसिद्धसवर्णकल्पकमिति भावः॥

हयवरट्॥ नन्वयं हकार इत्यनेनैकत्वं हकारस्य सूचितमिति कथं तद्विरुद्धं पूर्वश्चेत्यादिना भेदाश्रयणमत आह—पूर्वपरेति। एतद्भाष्यादेकत्वं वर्णानामित्येव पक्षो भगवतः सम्मत इति ज्ञायते॥ भाष्ये यदि पुनरिति। न चैवं परहकाराभावे

भावबोधिनी

[अग्रहणवादी का उत्तर] यहाँ भी ('अणुदित्' सूत्र से सवर्णग्रहणस्थल में भी) मात्राकाल का ग्रहण होता है, [प्प आदि मात्राकालिक हैं]। परन्तु व्यञ्जन तो मात्राकाल वाले होते ही नहीं है। [वे तो सदैव अर्धमात्रा काल वाले होते हैं।] जब आचार्य ने उनका उपदेश ही नहीं किया है तो उसका ज्ञान सत् रूप से कैसे हो सकता है। जिसकी सत्ता ही नहीं है उसे कैसे माना जा सकता है।

[अतः तुल्य रूप वाले दो व्यञ्जन संयुक्त ही रहेंगे। उनमें संयोग संज्ञा और उनके पूर्व की गुरुसंज्ञा तथा प्लुतविधान में कोई दोष नहीं है। अतः वर्णैकदेश का वर्णग्रहण से ग्रहण मानना भाष्यकार का अभिमत न होने से ठीक नहीं है।] ॥३-४॥

हयवरट् ॥५॥

[वर्णसमाम्नाय में अकारादि] सभी वर्णों का एक ही बार उपदेश = उच्चारण है, पर इस हकार का दो बार उपदेश है—पूर्व (इस सूत्र में) और पर ('हल्॰' इस अन्तिम सूत्र में)। यदि केवल पहले ही उच्चारित कर दिया जाय अथवा केवल

पुनः पूर्वं एवोपदिश्येत, पर एव वा । कश्चात्र विशेषः ?

(६० पूर्वत्रानुपदेशे दूषणवार्तिकम् ॥ १ ॥)

॥ * ॥ हकारस्य परोपदेशेऽड्ग्रहणेषु हग्रहणम् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

हकारस्य परोपदेशेऽड्ग्रहणेषु हग्रहणं कर्तव्यम् "आतोऽटि नित्यम्" (८।३।३) "शश्छोटि" (८।४।६२) "दीर्घादटि समानपादे" (८।३।९) हकारे

प्रदीपः

शश्छोटीति । हकारपरस्य शकारस्यासम्भवात् प्रसङ्गोच्चरितमेतत् ॥

उद्द्योतः

लकारस्याप्यभावेन तन्त्राद्याश्रयणेन हलन्त्यमित्यत्रान्योन्याश्रयपरिहारो वक्ष्यमाणो विरुध्येतेति वाच्यम् । रन्त्यं हरिति न्यासेन लन्त्यं हलिति न्यासेन वा तत्परिहारात्लाघवाभावेऽपि एवं कर्तुं शक्यं न वेत्येवं विचारतात्पर्यात् । यद्वा रन्त्यमित्यस्यैवावृत्त्या हर्वोधकसूत्रसमुदायान्त्यमिदित्यर्थः ॥ परे तु—परहकाराभावेऽपि "ल्" इत्येव सूत्रं कार्यं प्रातिशाख्यादिप्रसिद्धहलादिप्रत्याहारसिद्धयर्थम् । तदर्थे रान्तस्यापि शक्तिकल्पने गौरवाद् । हलन्त्यमित्यस्यावृत्त्या 'हल्प्रत्याहारबोधकसूत्रसमुदायान्त्यमिद्' इत्यप्यर्थं इत्यदोष इत्याहुः ॥

अड्ग्रहणेष्विति । अड् गृह्यते येषु सूत्रेष्वित्यर्थः ॥ शश्छोटीत्यस्योदाहरणादाने बीजमाह—हकारपरस्येति । न च तच्-श् हित्याहेत्युदाहरणसम्भवः । शास्त्रबोधितं सौत्रं च विहाय हलामुच्चारणार्थाचं विनोच्चारणास्यासाधुत्वेन तादृशोदाहरणाभाव

भावबोधिनी

बाद वाले में ही उच्चारित किया जाय अर्थात् कहीं भी एक ही बार उपदिष्ट किया जाय। इसमें क्या अन्तर पड़ता है ?

हकार के पूर्वोपदेश न करने में दोष

(वा०) हकार का केवल परोपदेश करने पर अट्-ग्रहणवाले (जिनमें अट् प्रत्याहार का ग्रहण है ऐसे) सूत्रों में हकार का ग्रहण [अलग से करना होगा] ।

(भा०) यदि हकार का उपदेश केवल बाद वाले सूत्र में ही किया जायगा तो जिन-जिन सूत्रों में अट् का ग्रहण है उन-उन में हकार का भी [अलग से] ग्रहण करना होगा । जैसे "आतोऽटि नित्यम्' (८।३।३) 'शश्छोऽटि' (८।४।६३) 'दीर्घादटि समानपादे' (८।३।९) इनमें यह भी कहना होगा—"और हकार परे रहते ।" जिससे यहाँ भी हो सके—"महाँ हि सः ।" [महान्+हि में "दीर्घादटि समानपादे" सूत्र से न् का रु और 'आतोऽटि नित्यम्' से अनुनासिकत्व 'भोभगो अघो०' से रु का य् और 'हलि सर्वेषाम्" सूत्र से य् लोप होकर 'महाँ हि सः'

चेति वक्तव्यम् । इहापि यथा स्यात्—महाँ हि सः ।

(६१ पूर्वत्रानुपदेशे दूषणवार्तिकम् ॥ २ ॥)

॥ * ॥ उत्वे च ॥ * ॥

(भाष्यम्)

उत्वे च हकारग्रहणं कर्तव्यम् । "अतो रोरप्लुतादप्लुते" "हशि च" (६।१।१०९-१०) हकारे चेति वक्तव्यम् । इहापि यथा स्यात्—पुरुषो हसति, ब्राह्मणो हसतीति ॥

प्रदीपः

उत्वे चेति ॥ अशत्वमपि न प्राप्नोतीति वक्तव्यं भो हसतीति रोर्यत्वार्थम् ॥

उद्द्योतः

इत्याशयाद् । अत्र च भाष्ये एतदुदाहरणादानमेव मानम् । आतोऽटिदीर्घायटीत्युभयोरुदाहरणं महाँ हि स इति । अट्कुप्विति सूत्रेऽपि ग्रहणफलमर्हेणेति बोध्यम् ॥

अशत्वमपीति । इदमिण्त्वस्याप्युपलक्षणम् । तेन लिलिहिढ्वे इत्यादौ विभाषेट इति ढत्वविकल्पसिद्धिरिति केचित् ॥ भाष्ये हशि चेति सिद्धान्तरीत्या निर्देशः । इदानीं तु यशिचेति सूत्रम् ॥

भावबोधिनी

होता है । हकार का अलग से ग्रहण करने पर ही उक्त कार्य सम्भव होते हैं । 'शश्छोऽटि' का उल्लेख 'अट्' के ग्रहण के कारण ही किया गया है वास्तव में इसमें ह् की आवश्यकता नहीं है क्योंकि 'श् ह्' ऐसा प्रयोग कहीं नहीं मिलता है ।]

(वा०) और उत्व में भी [हकार-ग्रहण करना होगा ।]

(भा०) उत्व का विधान करने वाले शास्त्रों में भी हकार का ग्रहण करना होगा । "अतो रोरप्लुतादप्लुते' (६।१।११३) "हशि च" (६।१।११४) इनमें 'हकार परे भी रु का उ होता है' ऐसा कहना होगा । जिससे कि यहाँ भी हो सके—"पुरुषो हसति, ब्राह्मणो हसति ।'

विमर्श—जब केवल 'हल्' में ही हकार रहेगा तो 'हशि च' यह सूत्रस्वरूप न होकर 'यशि च' ऐसा ही सूत्रस्वरूप होगा । फलस्वरूप—पुरुषो हसति' में उत्वादि नहीं हो सकेगा । क्योंकि यश् परे रहते ही रु का उत्व हो सकेगा, अतः अलग से 'हकारे च' यह कहना होगा । तभी प्रयुक्त उत्वविशिष्ट रूप सम्भव होगा—ब्राह्मणो हसति आदि ।

इसी प्रकार 'भोभगो-अघो-अपूर्वस्य योऽशि' सूत्र की 'भो हसन्ति, देवा हसन्ति' आदि में प्रवृत्ति कराने के लिये अश् के साथ-साथ हकार का भी ग्रहण करना होगा । इण् ग्रहणवाले सूत्र में भी हकार का ग्रहण करना होगा ।

(पूर्वोपदेशाङ्गीकारभाष्यम्)

अस्तु तर्हि पूर्वोपदेशः ।

(६२-६३ परत्रानुपदेशे दूषणवार्तिकम् ॥ ३-४ ॥)

॥ * ॥ पूर्वोपदेशे कित्त्व-क्सेड्विधयो झल्ग्रहणानि च ॥ * ॥

(भाष्यम्)

यदि पूर्वोपदेशः कित्त्वं विधेयम्-स्निहित्वा स्नेहित्वा, सिस्निहिषति सिस्नेहिषति "रलोऽव्युपधाद्धलादेः" (१।२।२६) इति कित्त्वं न प्राप्नोति ॥

क्सविधिः । क्सश्च विधेयः—अधुक्षत् अलिक्षत्, "शल इगुपधादनिटः क्सः" ३।१।४५) इति क्सो न प्राप्नोति ॥

इड्विधिः । इट् च विधेयः—रुदिहि । वलादिलक्षण (७।२।३५) इण् न प्राप्नोति ॥

झल्ग्रहणानि च ॥

किम् ?

भावबोधिनी

(अनु०) यदि ऐसी स्थिति है तो पहले ही उपदेश किया जाय ।

परवर्त्ती हकार का उपदेश न करने पर दोष

(वा०) केवल पूर्व का उपदेश रहने पर कित्व, क्स, इड्विधि नहीं बन सकेंगी और झल्ग्रहण वाले सूत्र [हकाररहित हो जायेंगे] ।

(भा०) यदि केवल पहले ही हकारोपदेश किया जाय तो कित्व का विधान करना होगा—'स्निहित्वा, स्नेहित्वा, सिस्निहिषति सिस्नेहिषति'—इनमें "रलो ऽव्युपधाद्धलादेः संश्च' (१.२.२६) सूत्र से होने वाला कित्व नहीं हो सकेगा । [क्योंकि 'स्निह' आदि हकारान्त धातुयें अब रलन्त नहीं होंगी । 'हल्' सूत्र न रहने पर 'रल्' न बनकर 'रस्' होगा । ह नहीं आयेगा । इसलिए इसमें अलग से हकारग्रहण करना होगा ।]

क्सविधि—और क्स का विधान करना होगा—अधुक्षत् अलिक्षत्—इनमें 'शल इगुपधादनिटः क्सः' (३।१।४५) सूत्र से 'क्स' नहीं प्राप्त होता है । ['हल्' सूत्र न होने पर 'शल्' न होकर 'शर्' होगा । इसमें हकार नहीं आयगा । अतः 'दुह्', 'लिह्' आदि हकारान्त धातुयें शलन्त नहीं हो सकेंगी । अतः इनमें च्लि का क्स नहीं हो सकेगा । इसके लिए भी 'हकार ग्रहण' करना पड़ेगा ।]

इट्विधि—और इट् का विधान करना पड़ेगा । रुदिहि—यहाँ ["रुदादिभ्यः सार्वधातुके" ७।२।७६ से] वलादि मान कर होने वाला इट् आगम नहीं हो सकेगा । [उसके लिए भी अलग से हकारग्रहण करना होगा क्योंकि अब 'वल्' न होकर 'वर्' होगा, उसमें हकार नहीं आता है ।]

अहकाराणि स्युः ॥

तत्र को दोषः ?

"झलो झलि" (८।२।२६) इतीह न स्यात्-अदाग्धाम्, अदाग्धम् । तस्मा-त्पूर्वश्चैवोपदेष्टव्य परश्च ॥

(उपसंहारभाष्यम्)

यदि च किंचिदन्यत्राप्युपदेशे प्रयोजनमस्ति, तत्राप्युपदेशः कर्तव्यः ॥

(इति हकारस्य द्विरुपदेशाधिकरणम्)

प्रदीपः

यदि च किञ्चिदिति । प्रयोजनार्थो हि वर्णानामुपदेशो न स्वरूपप्रतिपत्त्यर्थः ॥

उद्द्योतः

अहकाराणि स्युरिति । अतस्तत्र हकारग्रहणं कर्तव्यमिति भावः ॥ अदाग्धामिति । घत्वस्यासिद्धत्वादिति भावः ।

स्वरूपप्रतिपत्त्यर्थ एवायमक्षरसमाम्नाय इति भ्रमं वारयति—भाष्ये यदि किंचि-दिति । तद्व्याचष्टे—प्रयोजनार्थ इति । शास्त्रीयप्रयोजनार्थ इत्यर्थः । एवं चाद्यहकार-स्याशिगोरपि प्रयोजनं सूचितम् । अत एव मञ्चा हसन्तीति पुंयोगादिति सूत्रे भाष्य-

भावबोधिनी

झल् का जिन सूत्रों में ग्रहण है ।

[उनमें] क्या [करना होगा] ?

वे सूत्र हकाररहित होने लगेंगे ।

तब क्या दोष होगा ?

"झलो झलि" (८।२। ६) इस सूत्र से—अदाग्धाम्, अदाग्धम्—में स् का लोप नहीं हो सकेगा । [अदाह् स्+ताम् में झल् से परे न होने से 'स्' का लोप नहीं होगा क्योंकि 'झरो झरि' ऐसा सूत्र होने पर उसमें ह नहीं आयेगा । फलतः स् का लोप करने के लिये हकार का ग्रहण करना पड़ेगा ।]

[केवल पूर्व या केवल पर में किसी एक सूत्र में उपदेश करने से दोष होवे हैं] इसलिए [हयवरट् इसमें] पूर्व में और ('हल्' इसमें) पर में दोनों सूत्रों में हकार का उपदेश करना चाहिए ।

यदि पूर्व और पर इन दो स्थानों के अतिरिक्त तीसरे या चौथे प्रत्याहार में भी हकार के उपदेश में कोई प्रयोजन है, तो वहाँ भी हकार का उपदेश करना चाहिए । [इसका कारण स्पष्ट है कि वर्णों का उपदेश स्वरूप-परिचय के लिये नहीं है अपितु

(अथ रेफोपदेशस्थानाधिकरणम्)

इदं विचार्यते—अयं रेफो यकारवकाराभ्यां पूर्वं एवोपदिश्येत-हरयवडिति, पर एव वा यथान्यासमिति । कश्चात्र विशेषः ?

(६४ यथान्यासोपदेशदूषणवार्तिकम्)

॥ * ॥ रेफस्य परोपदेशेऽनुनासिकद्विर्वचनपरसवर्णप्रतिषेधः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

रेफस्य परोपदेशेऽनुनासिकद्विर्वचनपरसवर्णानां प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥

अनुनासिकस्य—स्वर्नयति प्रातर्नयति । "यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' (८।४।४५) इत्यनुनासिकः प्राप्नोति ॥

द्विर्वचनस्य—मद्रह्लदः भद्रह्लदः, "यरः" (८।४।४६) इति द्विर्वचनं

प्रदीपः

इदमिति । उभयत्रापि दोषप्रयोजनसद्भावात् प्रश्नः ॥

स्वर्नयतीति । णकारोऽत्र प्राप्नोति । नह्यत्र सवर्णग्रहणमस्ति ॥ भद्रह्लद इति ।

उद्द्योतः

प्रयोगः सङ्गच्छते । एतेन पूर्वहकारोपदेशप्रयोजनवार्तिके न्यूनता परिहृता ॥ कर्तव्य इत्यस्य स्यादिति शेषः । उपदेशोऽत्रोच्चारणमात्रम् ॥ अन्यत्रापि । प्रत्याहारान्तरे । सर्वथा हकारस्य द्वेधोपदेशः कर्तव्य इत्यत्रास्य तात्पर्यम् ॥

दोषप्रयोजनेति । अन्यतरपक्षीयदोष एवान्यतरपक्षे प्रयोजनमिति बोध्यम् ॥

णकारोऽत्रेति । स्थानेऽन्तरतमत्वादिति भावः ॥ ननु रेफस्य सवर्णाभावात्कथमत्रा-

भावबोधिनी

इष्ट लक्ष्यों की सिद्धि के लिये है । अतः जहाँ भी उपदेश करने से इष्ट सिद्ध होता है वहाँ सर्वत्र उपदेश किया जा सकता है ।]

रेफ के स्थान के उपदेश का विवेचन

अब यह विचार करना है कि [प्रस्तुत सूत्र में] यह रेफ यकार-वकार से पहले उपदिष्ट (उच्चारित) किया जाय—हरयवट् ऐसा, अथवा पर उपदिष्ट किया जाय जैसा कि आचार्य का न्यास=सूत्र है—हयवरट् । [चूंकि दोनों स्थितियों में दोष है अतः इसका विचार आवश्यक है । इसीलिये लिखते हैं] इन दोनों स्थितियों में क्या अन्तर है ?

यथान्यास उपदेश में दोष

(वा० रेफ का [यकार-वकार के] बाद में उपदेश मानने में अनुनासिक, द्विर्वचन और परसवर्ण का प्रतिषेध [करना चाहिए] ।

(भा०) [यकार-वकार के बाद—हयवरट् ऐसा] पर र उपदेश करने में अनुनासिक, द्विर्वचन और परसवर्ण का प्रतिषेध करना होगा ।

प्राप्नोति।

परसवर्णश्च—कुण्डं रथेन, वनं रथेन "अनुस्वारस्य ययि–" (८।४।५८) इति परसवर्णः प्राप्नोति ॥

(इति यथान्यासे दूषणानि)

(यकारात्पूर्वंरपाठाभ्युपगमभाष्यम्)

अस्तु तर्हि पूर्वोपदेशः।

(६५-६६ पूर्वोपदेशदूषणवार्तिके ६-७)

॥ * ॥ पूर्वोपदेशे किस्त्वप्रतिषेधो व्यलोपवचनं च ॥ * ॥

(भाष्यम्)

यदि पूर्वोपदेशः कित्त्वं प्रतिषेध्यम्। देव्रित्वा दिदेविषति "रलोऽव्युपधादिति" (१।२।२६) कित्त्वं प्राप्नोति ॥

प्रदीपः

द्विर्वचने कृते तस्यासिद्धत्वाद् रोरीति रेफलोपो नास्ति, हलो यमामिति लोपस्तु पाक्षिक इति पक्षे रेफद्वयश्रवणप्रसङ्गः ॥ कुण्डं रथेनेति। अनुनासिकेनैव परसवर्णेन भाव्यमिति नियमाभावाद्रेफः प्राप्नोति, तस्य चासिद्धत्वाद् रोरीति लोपो नास्ति ॥

उद्द्योतः

नुनासिकोऽत आह—न ह्यत्रेति ॥ ननु द्वित्वेऽपि रोरीति हलोयमामिति वा लोपान्न दोषोऽत आह—द्विर्वचन इति ॥

भावबोधिनी

अनुनासिक का प्रतिषेध–स्वर्नयति, प्रातर्नयति। यहाँ 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' (८।४।४५) सूत्र से [रेफ का ण] अनुनासिक प्राप्त होता है। [क्योंकि यर् में रेफ आ जाने से सदृशतम होने से रेफ का ण अनुनासिक प्राप्त होता है। इसका प्रतिषेध कहना होगा।]

द्विर्वचन का [प्रतिषेध करना होगा]—भद्रह्रदः, भद्रह्रदः—यहाँ ['अचो रहाभ्यां द्वे" ८।४।४६ सूत्र से] यर् का द्वित्व प्राप्त होता है। [इसका प्रतिषेध करना होगा।]

परसवर्ण का [प्रतिषेध करना होगा]—'कुण्डं रथेन, वनं रथेन—' यहाँ 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (८।४।५४)सूत्र से अनुस्वार का परसवर्ण प्राप्त होता है। [क्योंकि रेफ भी यर् के अन्तर्गत हो जाता है। अतः प्राप्त परसवर्ण का प्रतिषेध करना होगा।]

[यदि पूर्वोक्त दोष हैं] तब तो [यकारवकार से] पूर्व में ही रेफ का उपदेश रहे।

पूर्व में रेफ का उपदेश करने में दोष

(वा०) [यकारवकार से] पूर्व में रेफ के उपदेश में कित्त्व का प्रतिषेध और वकारयकार का लोप [कहना होगा।]

(दूषणनिराकरणभाष्यम्)

नैष दोषः, नैवं विज्ञायते—'रलः व्युपधाद्' इति ॥

किं तर्हि ?

"रलः अव् व्युपधाद्" इति ॥

'किमिदम् अव् व्युपधाद्' इति ?

अवकारान्ताद्व्युपधादव्व्युपधादिति ॥

(भाष्यम्)

व्यलोपवचनं च ॥ व्योश्च लोपो वक्तव्यः । गौधेरः, पचेरन्, यजेरन्, 'जीवे

उद्द्योतः

भाष्ये अव्व्युपधाविति । अव् इति लुप्तपञ्चमीकम् ॥ ननु पूर्वोपदेशे इग्यण इत्यादौ यथासङ्ख्यनिर्वाहः कथमिति चेन्न, संज्ञाविधानसामर्थ्येन तत्र तद्भावितपक्षाश्रयणान्न दोषः ॥

भावबोधिनी

(भा०) यदि [यकारवकार के] पूर्व में रेफ का उपदेश किया जाता है तो 'कित्व' का प्रतिषेध करना होगा—देवित्वा, दिदेविषति—इनमें 'रलोऽव्युपधाद्धलादेः संश्च' (१।२।२६) इससे कित्व प्राप्त होता है । [क्योंकि 'हयवट्' ऐसा सूत्र होने से वकार भी रल् में आता है । दिव् रलन्त हो जाती है । इससे परे क्त्वा और सन् कित् होने लगेंगे, उनका प्रतिषेध करना पड़ेगा ।]

यह दोष नहीं है । क्योंकि ऐसा नहीं समझा जाता है—'रलोव्युपधात्' ।

तो कैसा [समझा जाता] है ?

'रलः अव् व्युपधात्' ऐसा [समझा जाता] है ।

यह 'अव् व्युपधात्' क्या है ? [इस प्रकार के रूपपरिवर्तन से क्या फल निकलता है] ?

अवकारान्त व्युपध [इकारोपध उकारोपध]—'अव् व्युपधात्' है अर्थात् वकारान्त न हो, इकार अथवा उकार उपधा में हो ऐसी रलन्त धातु से परे सन् और क्त्वा कित् होते हैं । दिव् तो वकारान्त है । अतः यह सूत्र नहीं लगेगा । कित्व की प्राप्ति नहीं है । तब निषेध का प्रश्न नहीं है ।]

और व्यलोप कहना होगा । वकार तथा यकार का लोप कहना होगा । गौधेरः, पचेरन्,यजेरन् । 'जीवे रदानुक्' उणादि सूत्र से] जीरदानुः[1] । इनमें 'लोपो व्योर्वलि'

१. गौधेरः—गोधाया अपत्यम्—इस अर्थ में 'गोधाया ढ्रक' (४।१।१२९) से ढ्रक् प्रत्यय गोधा+ढ्रक्, क् की इत्संज्ञा लोप, आदिवृद्धि, 'आयनेयीनीयियः' (७।१।२) सूत्र से ढ का एय आदेश, गोधा + एय् र आलोप । अब 'लोपो व्योर्वलि' से य् लोप नहीं होगा । क्योंकि 'र' वल् में नहीं

रदानुक्'—जीरदानुः । वलीति लोपो न प्राप्नोति ॥

(दूषणनिराकरणभाष्यम्)

नैव दोषः, रेफोऽप्यत्र निर्दिश्यते—"लोपो व्योर्वलि" (६।१।६६) इति रेफे च वलि चेति ॥

(यथान्यासाऽभ्युपगमभाष्यम्)

अथ वा पुनरस्तु परोपदेशः ॥

(आक्षेपस्मारणभाष्यम्)

ननु चोक्तम्* रेफस्य परोपदेशेऽनुनासिकद्विर्वचनपरसवर्णप्रतिषेधः* इति ।

भावबोधिनी

(६।१।६६) से वल् परे रहते व् य् का लोप नहीं प्राप्त होता है । [वह कहना होगा ।]

यह [य् व् लोप न होना] दोष नहीं है, क्योंकि इस सूत्र में रेफ का भी निर्देश है—"लोपो व्योर्वलि ['लोपो व्योर्वलि' ऐसा पदच्छेद और 'रोरि' से र् का लोप होने से] रेफ और वल् परे य् व् लोप होता है । [इसलिये रेफ परे रहते भी व् य् का लोप संभव है । अतिरिक्त वचन नहीं कहना होगा ।]

[रेफ का पूर्व में उपदेश करने पर आपतित दोषों का निराकरण करने के लिए पाणिनि के सूत्र 'लोपोव्योर्वलि' का स्वरूप ही बदलना पड़ता है । यह तो अति गौरव की बात है । अतः अब सिद्धान्त प्रस्तुत किया जाता है—]

सिद्धान्तः—रेफ का परोपदेश ही संगत है

अथवा तो फिर बाद में ही रेफोपदेश रहे ।

क्यों, यह कहा जा चुका है—"रेफ का यदि परोपदेश किया जाता है तो अनुनासिक, द्विर्वचन और परसवर्ण का प्रतिषेध करना पड़ेगा ।"

आता है । इसी प्रकार पच् + विधिलिङ् = झ, शप् = अ, सीयुट् = ईय्—पच् अ + ईय् झ, 'झस्य रन्' सूत्र से झ का रन्,अ + ई का गुण—पचेय्रन्, इसी प्रकार यज् से यजेय्रन् इनमें भी य् लोप नहीं हो सकेगा क्योंकि वल् में रेफ न होने से सूत्र नहीं लग सकेगा । अतः य् के लोप का विधान अलग से करना पड़ेगा । जीव धातु से 'जीवे रदानुक्' (उणादि सूत्र) से रदानुक् प्रत्यय करने पर 'जीव्रदानु' यहां व् लोप नहीं प्राप्त होगा । इसके लिए भी अलग से वचन कहना पड़ेगा । अतः 'हयवट्' अर्थात् रेफ के पूर्वोपदेश में ये दोष आपतित होते हैं ।

(समाधानभाष्यम्)

अनुनासिकपरसवर्णयोस्तावत्प्रतिषेधो न वक्तव्यः, रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति ॥

प्रदीपः

रेफोष्मणामिति । अनुनासिकपरसवर्णविधाने हि स्थानेन्तरतमपरिभाषोपस्थानाद्दोषाभावः । नहि रेफस्य णकारोऽन्तरतमो, नाप्यनुस्वारस्य रेफः ॥

उद्द्योतः

भाष्ये रेफोष्मणामिति । विजातीया इति शेषः । तेन सजातीयेषु सत्स्वपि न दोषः ॥ ननु मा भूद्रेफस्य विजातीयः सवर्णस्तथाप्यनुनासिकविधौ सवर्णग्रहणाभावादनुनासिकः स्यादेवेत्यत आह—अनुनासिकपरेति ॥ नहि रेफस्येति ॥ न च रेफस्य णकारः स्थानेन्तरतमो भवत्येवेति वाच्यम् । स्थानेऽन्तरतम इति सप्तम्यन्तपाठे स्थानप्रयत्नोभयान्तरतमस्पर्शे चिन्मात्रमित्यादौ चरितार्थोऽनुनासिकविधिः प्रयत्नासदृशे रेफे न प्रवर्तते इति भावात् ॥ नापीति । यद्यप्यन्तरतमानन्तरतमयोः प्राप्तावन्तरतम एवेति स्थानेन्तरतम इत्यनेन नियमः,कुण्डं रथेनेत्यादौ चानन्तरतमस्यैव प्राप्तिरितीदमयुक्तम् । तथापि सम्भवदनुस्वारान्तरतमकेऽङ्कित इत्यादौ चरितार्थः परसवर्णविधौ रेफे न प्रवर्तते इति भावः । इदं जातिपक्षे इति केचित् ॥ वस्तुतो व्यक्तिपक्षेऽपि तादृशव्यक्तौ चरितार्थोऽस्यां व्यक्तौ न प्रवर्तते इति वक्तुं शक्यम् । तद्वक्ष्यतीकोयणचीत्यत्र कैयटः—"द्रव्येऽपि पदार्थे उत्सर्गापवादभावः सन्दिग्धत्वाश्रयोरस्त्येव" इति ॥ केचित्तु स्थानेन्तरतम इति सप्तम्यन्तपाठप्रत्याख्यानपरभाष्यविरोधेनास्या युक्तेरसम्भवदुक्तिकत्वम् । किं चैवं सति ऊष्मग्रहणं भाष्ये व्यर्थं स्यात् । तस्मादनुनासिकविधौ सवर्णपदापकर्षपरं भाष्यम्, रेफोष्मणामिति । अस्य चानुनासिकोऽनुस्वारान्तरतमश्च सवर्णो नास्तीत्यर्थः । अत एव महिष्मानित्यादौ सूत्ररीत्या स्थानप्रयत्नोभयान्तरतमञकारसम्भवेऽपि नानुनासिकः, नाज्झलाविति निषेधेन सवर्णत्वाभावादिति भाष्याशय इत्याहुः ॥

भावबोधिनी

अनुनासिक और परसवर्ण का तो प्रतिषेध नहीं करना पड़ेगा । क्योंकि रेफ और ऊष्म = शषसह के सवर्ण होते ही नहीं हैं । [अतः ये दोनों दोष प्रसक्त ही नहीं है, तब प्रतिषेध की क्या आवश्यकता ।[1]]

---

१. 'हयवरट्' इस न्यास में यर् में रेफ भी है अतः 'स्वर्नयति' आदि में रेफ का अनुनासिक प्राप्त होता है 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' (८।४।४५) । परन्तु इस सूत्र में 'परसवर्ण' घटक सवर्ण की अनुवृत्ति होने से 'स्थानेऽन्तरतमः' की प्रवृत्ति होती है । अतः स्थान और प्रयत्न दोनों का सादृश्य लेकर ही रेफ का

(भाष्यम्)

द्विर्वचनेऽपि । नेमौ रहौ कार्यिणौ द्विर्वचनस्य ॥

किं तर्हि ॥

प्रदीपः

नेमौ रहाविति । हकारवद्रेफोऽपि न कार्यीत्यर्थः । तत्रैकवाक्यतायां सामान्यविशेषविध्योर्लोकव्यवहारादेव शब्दार्थसम्बन्ध-परिज्ञानात् सामान्यविधेर्विशेषविधिर्बाधकः । प्रत्यक्षश्च विशेषविधिः, सामान्यविधिस्त्वनुमेय इति रेफस्य कार्यित्वं निमित्तत्वेन बाध्यते । दध्युदकादौ तु स्थानित्वेन निमित्तत्वमिकस्तस्मादित्युत्तरस्येत्यादेर्ज्ञापकान्न बाध्यते । लक्ष्यस्थित्यपेक्षणाद्वा बाध्यबाधकभावो न ॥ क्वचिदपेक्षा नास्ति । यथा—चिचीषतीति दीर्घत्वद्विर्वचनयोः ॥

उद्द्योतः

नन्वयत्वादप्रसक्तद्वित्वस्य हस्य ग्रहणमयुक्तमत आह—हकारवदिति । ननु एककर्तृकयोर्भोजनपरिवेषणयोर्युगपदसम्भवादस्तु तत्र बाधः, प्रकृते तु लक्ष्यभेदेन भिन्नवाक्यावगतनिमित्तकार्यिभावः किं न स्यात् । यथाऽवगतकार्यत्वस्यापि इको निमित्तत्वं दध्युदकादावत आह—तत्रेति । लक्ष्यभेदेन कार्यित्वनिमित्तत्वसम्भवेऽऽपीत्यर्थः ॥ सामान्यविशेषविध्योरेकवाक्यतायामित्यन्वयः । शब्दोः=वाक्यात्मा । अर्थः = तदर्थः । सम्बन्धः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः ।तेषां परिज्ञानं तद्यथा लोकव्यवहारादेव, तथा तयोर्बाध्यबाधकभावः—सम्भवेऽपि भवतीत्येतदपि लोकव्यवहारादेव ब्राह्मणेभ्यो

भावबोधिनी

द्विर्वचन में भी [प्रतिषेध की आवश्यकता नहीं है क्योंकि] ये र् और ह् द्रिर्वचन के कार्यी नहीं हैं, इनका द्वित्व नहीं किया जाता है ।[1]

तो क्या है ?

अनुनासिक और परसवर्ण किया जा सकता है । अनुनासिक ण में मूर्धा स्थानकृत सादृश्य है किन्तु प्रयत्नकृत नहीं है क्योंकि ण का स्पष्ट प्रयत्न है और रेफ का ईषत्स्पृष्ट । अतः सदृशतम न होने से रेफ तथा ऊष्म वर्णों का कोई दूसरा आदेश होता ही नहीं है । अतः प्रथम और तृतीय दोष नहीं है ।

१. 'अचो रहाभ्यां द्वे' सूत्र में रेफ और हकार को यर् के द्वित्व में प्रत्यक्षतः कारण कहा गया है । सामान्यतया रेफ द्वित्व के कार्यी यर् में भी है । अतः वह निमित्त भी है और कार्यी भी । परन्तु जब यह कहा जाता है सभी ब्राह्मणों को भोजन कराया जाय, माठर और कौण्डिन्य भोजन परोसें ।' तब ब्राह्मण होने पर ये दोनों परोसते ही हैं स्वयं भोजन नहीं करते हैं । वैसे ही रेफ जब द्वित्व का निमित्त बन गया तब स्वयं द्वित्व का कार्यी = उद्देश्य नहीं बन सकता ।

निमित्तमिमौ रहौ द्विर्वचनस्य। तद्यथा—'ब्राह्मणा भोज्यन्तां माठरकौण्डिन्यौ परिवेविषाताम्' इति। नेदानीं तौ भुञ्जाते ॥

(इति रेफोपदेशस्थानाधिकरणम्।)

(अथायोगवाहोपदेशाधिकरणम्, भाष्यम्)

इदं विचार्यते—इमेऽयोगवाहा न क्वचिदुपदिश्यन्ते, श्रूयन्ते च। तेषां

प्रदीपः

इम इति। विधानादेषां साधुत्वं स्यात्। प्रत्याहारप्रतिबद्धं तु कार्यं न प्राप्नोति ॥ के पुनरिति। तत्स्वरूपप्रश्नः ॥ कथमिति। प्रवृत्तिनिमित्तप्रश्नः। अयुक्ता इत्यस्यैव

उद्द्योतः

दधि दीयतां तक्रं कौण्डिन्यायेत्यादिरूपादवगतमित्यर्थः। विशेषसन्निधाने सामान्यशब्दस्य तद्व्यतिरिक्तपरत्वं च तद्बीजम् ॥ परिज्ञानवदिति पाठः। एवं चाचो रहाभ्यामित्यत्र सामान्यविशेषविधित्वाभावेऽपि तत्र बाधे यद्बीजं तत्प्रकृतेऽप्यस्त्येवेत्याह—प्रत्यक्षश्चेति। अविलम्बितप्रतीतिकत्वं प्रत्यक्षत्वम्। विलम्बिततत्कत्वं चानुमेयत्वम् ॥ लक्ष्येति। ज्ञापकाल्लक्ष्यानुरोधाद्वा सत्यपि सामान्यविशेषभावे क्वचिद्बाधकत्वं विशेषविधेर्नाश्रीयते जातिव्यक्तिपक्षयोरुभयोरपीति भावः ॥ क्वचिदपेक्षा नास्तीति। बाध्यबाधकभावस्येति शेषः ॥ यथेति। बाध्यबाधकभावाभावे दृष्टान्तोऽयम्। न तु कार्यित्वनिमित्तत्वयोः समावेशे इति बोध्यम् ॥ केचित्तु तक्रकौण्डिन्यन्यायोऽपि सामान्यविषयानाक्रान्तविषयाभावरूपानवकाशत्वमूलक एव। अस्ति च प्रकृते तत्। न ह्येतद्बोध्यनिमित्तत्वं सामान्यपरत्वंप्रयुक्तकार्यित्वानाक्रान्तं क्वचिदप्यस्ति,सर्वत्राचः परत्वादनचीत्यस्य प्राप्तेः। अतोऽयुक्तो लक्ष्यानुरोधात्सामान्येन कार्यित्वबाधः। न चैवमिको यणित्यादौ, मत्वर्थ इत्यादौ सामान्यप्राप्तनिमित्तत्वाभावेन कार्यित्वस्य चारितार्थ्यादिति भाष्याभिप्रायमाहुः ॥

ननु कार्यार्थ इत्यत्र कार्यं साधुत्वं चेत् खरवसानयोरित्यादिना सिद्धमत आह—विधानादिति। उपदिश्यन्त इति पाठं भाष्ये वर्तमानसामीप्ये लट्। उपदिष्टा इत्यर्थः ॥

भावबोधिनी

ये [र् ह्] तो द्विर्वचन के निमित्त [कारण] हैं। जैसे 'ब्राह्मणों को भोजन कराया जाय, माठर तथा कौण्डिन्य भोजन परोसें।' इस भोजनकाल में ये दोनों स्वयं भोजन नहीं करते हैं। [इसी प्रकार रेफ और ह द्वित्व नहीं प्राप्त कर सकते। अत 'हयवरट्' यह परोपदेश ठीक है।]

अयोगवाहों के उपदेश की आवश्यकता

अब यह विचार किया जाता है—ये अयोगवाह-संज्ञक वर्ण कहीं भी उपदिष्ट नहीं है, परन्तु सुनाई तो देते हैं। [शास्त्र में और लोकव्यवहार में सर्वत्र ये सुने जाते

कार्यार्थं उपदेशः कर्तव्यः ॥

के पुनरयोगवाहाः ?

विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयानुस्वारनासिक्ययमाः[1] ॥

प्रदीपः

हेतुकथनम् अनुपदिष्टाश्चेति । अयुक्ताः प्रत्याहारलक्षणेन पाठाभावादसम्बद्धा इत्यर्थः । उपदेशो द्विविधः-पाठो ग्रहणकशास्त्रेण प्रत्यायनं च । स द्विविधोऽप्येषां नास्तीत्यर्थः ॥ चशब्दो हेतौ । यतोऽनुपदिष्टास्ततोऽयुक्ता इत्यर्थं । क्वचित्तु चशब्दो न पठ्यते ॥

उद्द्योतः

प्रवृत्तिनिमित्तेति । प्रकृते भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगिरूपः प्रकारः थमर्थं इति भावः । केन प्रवृत्तिनिमित्तेनायोगवाहशब्दवाच्यत्वैषामित्यत्र तात्पर्यम् ॥ नन्वनुपदिष्टाश्चेति चकारश्रवणादनुच्चारितत्वमयोगवाहशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तान्तरमित्याभाति, तदयुक्तम् । अनुपदेशपदार्थस्यानुच्चारणस्य तत्राभावात् । प्रयोगेषूच्चारितत्वाद् । न च प्रत्याहार-सूत्रानुच्चारितत्वं तथा; यदयुक्ता इत्यनेनैव तदर्थलाभेन पौनरुक्त्यापत्तेरत आह— अयुक्ता इत्यस्यैव हेतुकथनमिति । प्रत्याहारबोधकलक्षणेनायुक्ता इत्यन्वयः । तद्व्याचष्टे—पाठाभावादिति । ग्रहणकशास्त्रेण प्रदेशे प्रवर्त्तमानेन यो वर्णस्तेषां ग्राहकस्तस्य पाठाभावादित्यप्यर्थः ॥ एषां नास्तीति । अतोऽयुक्ता इत्यर्थः । एवं चाक्षरसमाम्नायेऽयुक्ताः सन्तो वहन्ति=प्रयोगं निर्वाहयन्तीत्ययोगवाहपदव्युत्पत्तिर्दर्शिता ॥ न पठ्यत इति । तत्र यत इत्यध्याहार्यमिति भावः ॥

भावबोधिनी

हैं ।] अतः व्याकरणशास्त्र-सम्बन्धी कार्यों के लिये इन आयोगवाहों का भी उपदेश करना चाहिए ।

अयोगवाह नामक वर्ण कौन से हैं ?

विसर्जनीय=विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, नासिक्य और यम ।

---

१. तथा च कात्यायनप्रातिशाख्यम् उव्वटभाष्यसंकलितम् ।

५ अथायोगवाहाः ॥ का० प्रा० ८ अध्याये ८ सूत्रम् ॥

(उ० भा०) व्याख्यायन्त इति शेषः, तथाहि—

ᳵ क इति जिह्वामूलीयः ॥ ८।९ ॥

ᳶ प इत्युपध्मानीयः ॥ ८।१० ॥

अं इत्यनुस्वारः ॥ ८।११ ॥

अः इति विसर्जनीयः ॥ ८।१२ ॥

हुँ इति नासिक्यः ॥ ८।१३ ॥

(उ० भा०) अयमृक्शाखायां प्रसिद्धः ॥

कुँ खुँ गुँ घुँ इति यमाः ॥ ८।१४ ॥

कथं पुनरयोगवाहाः ?
यदयुक्ता वहन्ति, अनुपदिष्टाश्च श्रूयन्ते ?

(भाष्यम्)

क्व पुनरेषामुपदेशः कर्तव्य ?

(६७ सिद्धान्तवार्तिकम् ॥ ८ ॥)

॥ * ॥ अयोगवाहानामट्सु णत्वम् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

अयोगबाहानामट्सूपदेशः कर्तव्यः ॥
किं प्रयोजनम् ?
णत्वम् । उरःकेण, उर≍केण, उरःपेण, उर≍पेण । "अड्व्यवाये"(८।४।२) इति णत्वं सिद्धं भवति ॥

उद्द्योतः

भाष्ये उरःकेणेति । उरः कायतीति सुबुत्पत्तेः पूर्वं समासेऽपि सोपपदादाविति न सत्वम् । पाशकल्पककाम्येष्वेव तत्प्रवृत्तेः ।

भावबोधिनी

ये अयोगवाह किस लिये [कहे जाते] हैं ?
चूंकि [अक्षरसमाम्नाय में] इनका योग = सम्बन्ध = उपदेश नहीं किया गया है फिर भी कार्य करते हैं और अनुपदिष्ट (पाणिनि द्वारा अनुच्चारित) भी ये सुनाई देते हैं । [इसमें क्रमविपर्यय करके ऐसा अर्थ करना चाहिए—चूंकि पाणिन्यादि द्वारा साक्षात् उपदेश नहीं किया गया है इसलिये प्रत्याहार से अयुक्त = असम्बद्ध होते हुए ही शास्त्रीय कार्यों का वहन = निर्वाह करते हैं । इसलिये अयोगवाह यह अन्वर्थ नाम है[1] ।]

इन अयोगवाहों का उपदेश कहाँ-कहाँ हो ?

इन अयोगवाहों का उपदेश कहाँ-कहाँ किया जाय ?
(वा०) अयोगवाहों का अट् में [अन्तर्भाव करना चाहिए । जिससे णत्व [सिद्ध हो] ।
(भा०) अयोगवाहों का अट् के अन्तर्गत उपदेश करना चाहिए ।
इसका क्या प्रयोजन है ?

---

१. एवञ्चाक्षर-समाम्नायेऽयुक्ताः सन्तो वहन्ति = प्रयोगं निर्वाहयन्तीत्ययोगवाह-पदव्युत्पत्तिर्दर्शिता । (उद्द्योतः) न विद्यते योगः = सम्बन्धो येषां समाम्नाये ते—अयोगाः । वहन्ति ते वाहाः, अयोगाश्च ते च वाहाश्चेति बोध्याः । (छाया)

(६८ सिद्धान्तवार्तिकम् ॥ ९ ॥)

॥ * ॥ शर्षु जश्भावषत्वे ॥ * ॥

(भाष्यम्)

शर्षूपदेशः कर्तव्यः ॥

किं प्रयोजनम् ?

जश्भावषत्वे । अयमुब्जिरुपध्मानीयोपधः पठ्यते । तस्य जश्त्वे कृते उब्जिता उब्जितुमित्येतद् रूपं यथा स्यात् ॥

(उपध्मानीयोपधदूषणभाष्यम्)

यद्युब्जिरुपध्मानीयोपधः पठ्यते, उाब्जजिषतीत्युपध्मानीयादेरेव द्विर्वचनं

प्रदीपः

शर्ष्विति । शर्षु पाठे झल्त्वमिति झलां जश् झशीति जश्त्वं सिध्यति ।

उपध्मानीयादेरिति । यदि द्विर्वचने पूर्वत्र कर्तव्ये जश्त्वमसिद्धमथापि पूर्वत्रा-

उद्द्योतः

ननु शराम् जशो भवन्तीति लक्षणाभावाच् शर्षु पाठस्य न जश्भावः प्रयोजनमत आह—शर्षु पाठे इति ।

यदीति । पूर्वत्र द्विर्वचने इत्यन्वयः ॥ ननु पूर्वं द्वित्वे जश्त्वात्पूर्वमेव हलादिः शेषे

भावबोधिनी

णत्व । उरःकेण, उर≍केण, उरःपेण, उर⌒पेण । इनमें 'अट् के व्यवधान में भी' णत्व हो सके । [उरः कायति, उरःपाति आदि में कृत् प्रत्यय करने पर उरःक, उरःप बने हैं । तृतीया एकवचन में 'अट्कुप्वाङ्' (८।४।२) से तभी णत्व होगा जब विसर्ग और उपध्मानीय भी अट् मान लिए जायँ ।]

(वा०) शर् के अन्तर्गत [भी कहना चाहिए जिससे] जश्त्व और षत्व हो सके ।

(भा०) [अयोगवाहों का] शरों में भी उपदेश (अन्तर्भाव) करना चाहिए ।

इसका क्या प्रयोजन है ?

जश् आदेश होना और षत्व करना[प्रयोजन है]। 'उब्ज' यह धातु उपध्मानीयोपध पठित है । इस उपध्मानीय का जश्त्व कर देने पर—'उब्जिता, उब्जितुम्' यह रूप जिस प्रकार से हो सके [उसके लिए शर् में उपदेश करना चाहिए । चूंकि शर् झल् के अन्तर्गत आ जाते हैं इसलिए 'झलां जश् झशि' (८।४।५३) से उपध्मानीय का जश् होने पर उक्त रूप बन जाते हैं । उपध्मानीय का ओष्ठ स्थान है अतः जश् = जबगडद में सादृश्य के आधार पर उपध्मानीय के स्थान पर 'ब्' ही होता है ।]

(शंका) यदि √'उब्ज' धातु उपध्मानीयोपध पठित है तो 'उब्जिजिषति' आदि [सन्नन्त] में उपध्मानीय आदि का ही द्विर्वचन प्राप्त होता है । [अर्थात्—

प्राप्नोति। दकारोपधे पुनर् "न न्द्राः संयोगादयः" इति (६।१।३) प्रतिषेधः सिद्धो भवति॥

(दकारोपधदूषणभाष्यम्)

यदि दकारोपधः पठ्यते, का रूपसिद्धिः—उब्जिता उब्जितुमिति ?

(दकारोपधदूषणनिराकरणभाष्यम्)

'असिद्धे भ उद्जेः'। इदमस्ति—"स्तोः श्चुना श्चुः" (८।४।४०) इति, ततो वक्ष्यामि "भ उद्जेः" उद्जेः श्चुना सन्निपाते भो भवतीति॥

(आक्षेपभाष्यम्)

तर्हि वक्तव्यम्॥

(समाधानभाष्यम्)

न वक्तव्यम्, निपातनादेव सिद्धम्॥

प्रदीपः

सिद्धीयमद्विर्वचन इति सिद्धं सर्वंथोबिब्जिषतीति प्राप्नोति।

निपातनादिति। द्विर्वचनं कथम्। निपातनाद्वाक्यशेषोऽनुमीयते—असिद्धप्रकरणे

उद्द्योतः

कथमुपध्मानीयस्याभ्यासे जश्त्वं, झश्परत्वाभावात्। अभ्यासे चर्चेत्यनेन त्वान्तरतम्यात्प्रकृतिचरां चर एवेति उपध्मानीय एव स्यादिति चेच्चिन्त्यमेवैतत्। उपध्मानीयश्रवणापादनेनापि भाष्यसामञ्जस्यात्। अन्त्ये तु द्वित्वे कृतेऽपि द्वित्वाश्रयस्य कार्ये कर्तव्येऽसिद्धत्वं नेत्यपि पूर्वत्रासिद्धीयमित्यस्यार्थं इति परत्वाज्जश्त्वे कृत एव हलादिः शेष इत्याशयान्न दोषः॥

द्विर्वचनं कथमिति। वकाररहितस्येति शेषः॥ ननु निपातनाल्लक्षणमात्रं स्यान्न

भावबोधिनी

'अजादेर्द्वितीयस्य' (६।१।२) के अनुसार उपध्मानीय-सहित द्वितीय एकाच् का ही द्वित्व प्राप्त होता है इसलिए 'उब्जिजिषति' यह इष्ट रूप नहीं बनेगा अपितु 'उबिब्जिषति' ऐसा ही रूप प्रसक्त होगा।] परन्तु जब दकारोपध 'उद्ज्' ऐसा पाठ माना जाता है तब तो 'नन्द्राः संयोगादयः' (६।१।३) सूत्र से द् के द्वित्व का प्रतिषेध सिद्ध होता है। [फलतः 'उद्ज् इस्' में द्वितीय एकाच् = 'जिस्' का ही द्वित्व होता है। इष्ट रूप सिद्ध हो जाता है।]

यदि दकारोपध (उद्ज) धातु पढ़ी जाती है तब—उब्जिता, उब्जितुम्—इन रूपों की सिद्धि कैसे होगी ? [क्योंकि द् का श्चुत्व होने पर उज्जिता उज्जितुम् होने लगेंगे।]

(वा०) असिद्ध = त्रिपादी के सूत्रों में 'भः उद्जे' यह [सूत्र पढ़ा जायगा]।

(भा०) 'स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।४०) यह सूत्र है। इस सूत्र के आगे यह

किं निपातनम् ?

"भुजन्युब्जौ पाण्युपतापयोः" (७।३।६१) इति ॥

(समाधानबाधकभाष्यम्)

इहापि तर्हि प्राप्नोति—अभ्युद्गः, समुद्ग इति ॥

अकुत्वविषये तन्निपातनम् ॥

प्रदीपः

स्तोश्चुरित्यत्रोद्जे भ इति । तत्र न न्द्रा इति दकारस्य द्विर्वचननिषेधः कर्तव्यो न तु द्विर्वचनमिति पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचन इत्यस्याप्रवृत्त्या भत्वस्यासिद्धत्वादिष्टद्विर्वचनसिद्धिः ॥ अथापि न वाक्यशेषानुमानं, निपातनमेव प्रतिपादकं, तथापि दकारोपधोपदेशसामर्थ्याद्द्विर्वचने कृते दकारस्य वत्वं प्रवर्तते ॥

उद्द्योतः

तु प्रदेशविशेषावच्छिन्नमत आह—अथापीति । न चाभ्युद्ग इत्यादौ दकारोच्चारणं सार्थकं; नैतदुब्जे रूपमिति भाष्योक्त्या दोषाभावात् । उपतापातिरिक्तविषयेऽस्माद् घञ् नानभिधानादिति तदाशयः ॥ अकुत्वविषये निपातनमिति पक्षान्तरे त्वाद्यमेव समाधानम् ॥

भावबोधिनी

पढ़ देंगे—"भः उद्जेः" इसका अर्थ यह होगा–श्चु=शकार और चवर्ग के सन्निपात=योग में 'उद्ज् के सकार-तवर्ग का 'भ' आदेश होता है । [यह आदेश चवर्ग जकार से अव्यवहित पूर्ववर्ती दकार का ही होता है । इसलिए 'उभ्ज्' हो जाने पर 'झलां जश् झशि'' (८।४।४३ से जश्त्व करने पर 'उब्ज' हो जाता है । इससे उब्जिता, उब्जितुम् रूपों में बाधा नहीं है ।]

तो क्या ऐसा अपूर्व वचन कहना चाहिए ?

नहीं कहना चाहिए । निपातन से ही कार्य सिद्ध हो जाता हैं ।

क्या निपातन है ?

"भुजन्युब्जौ पाण्युपतापयोः" (७।३।६१) [इस सूत्र में पाणिनि ने 'ब्' उच्चारण किया है—न्युब्ज, इससे अनुमान कर लिया जाता है कि 'द' का 'भ' निपातित है और जश्त्व से 'भ' का 'ब्' होता है ।]

यदि ऐसा है तब यहाँ भी उक्त आदेश प्राप्त होता है—अभ्युद्गः, समुद्गः । [कारण यह है कि "बाधकान्येव निपातनानि भवन्ति' इस वचन से सर्वत्र द् का भ ही होगा । फलतः उक्त प्रयोगों में द् का श्रवण नहीं हो सकेगा ।]

[नहीं, कोई दोष नहीं है, क्योंकि] उक्त निपातन वहीं होता है जहाँ कुत्व का विषय नहीं है । [जहाँ "चजोः कुः घिण्यतोः" सूत्र से कुत्व प्राप्त रहता है और उसका अभाव निपातन किया जाता है वहीं पर द् का भ होता है । अतः 'अभ्युद्गः' आदि में दोष नहीं है ।]

(समाधानसाधकभाष्यम्)

अथवा नैतदुब्जे रूपं, समेरेतद् द्व्युपसर्गाड्डो विधीयते । अभ्युद्गतोऽभ्युद्गः, समुद्गतः समुद्ग इति ॥

(प्रयोजनभाष्यम्)

षत्वं च प्रयोजनम् । सर्पिःषु धनुःषु । 'शर्व्यवाये' इति षत्वं सिद्धं भवतीति "नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि" (८।३।५८) इति विसर्जनीयग्रहणं न कर्तव्यं भवति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

नुमश्चापि तर्हि ग्रहणं शक्यमकर्तुम् ।
कथं सर्पींषि धनूंषि ?
अनुस्वारे कृते 'शर्व्यवाये' इत्येव सिद्धम् ॥

प्रदीपः

अकुत्स्वविषय इति । विशिष्टविषयमनुमानमित्यर्थः ॥

उद्द्योतः

अनुस्वारस्य शर्त्वादिति । यद्यपि इण्कवर्गाभ्यामुत्तरो नुमा व्यवहितः सकारः

भावबोधिनी

अथवा—अभ्युद्गः, समुद्गः—ये रूप 'उद्ज्' धातु के नहीं हैं अपि तु [अभि और उत् तथा सम् और उत् इन] दो उपसर्गों सहित 'गम्' धातु से 'ड' (अ) प्रत्यय करने पर [अम् का लोप हो जाने से] बने है—अभ्युद्गतः = अभ्युद्गः, समुद्गतः = समुद्गः । [किसी के प्रति सम्मानादि प्रकट करने के लिये उठकर खड़ा हुआ = अभ्युद्गत = अभ्युद्ग है । और सम्प्राप्त = समुद्गत = समुद्ग है । अतः इनमें 'उद्ज्' का प्रसंग नहीं है ।]

और [शर् में पाठ में] षत्व भी प्रयोजन है । सर्पिःषु, धनुःषु । 'शर् के व्यवधान में भी षत्व सिद्ध हो जाता है, इसलिये "नुम्-विसर्जनीय-शर्व्यवायेऽपि' (८।३।५८) इस सूत्र में विसर्जनीयग्रहण नहीं करना पड़ता है । [विसर्ग=अयोगवाह शर् के अन्तर्गत हो जाता है अतः सूत्र में अलग से 'विसर्जनीयग्रहण' की आवश्यकता नहीं पड़ती है ।]

यदि ऐसा है तब तो नुम् का भी ग्रहण नहीं किया जा सकता है ।

तब 'सर्पींषि, धनूंषि' [इनमें षत्व] कैसे होगा ?

[नुम् के नकार का] अनुस्वार कर देने पर [और अनुस्वार के अयोगवाह होने से शर् के अन्तर्गत आ जाने से] 'शर्व्यवाये' इतने से ही [षत्व] सिद्ध हो जाता है।

(समाधानभाष्यम्)

अवश्यं नुमो ग्रहणं कर्तव्यम्। अनुस्वारविशेषणं नुम्ग्रहणम्—नुमो योऽनुस्वारस्तत्र यथा स्याद्, इह मा भूत्—पुंस्विति ॥

(वार्तिकावतरणभाष्यम्)

अथवाऽविशेषेणोपदेशः कर्तव्यः ॥

किं प्रयोजनम् ?

(६९ सिद्धान्तवार्तिकम् ॥ १० ॥)

।*। अविशेषेण संयोगोपधासंज्ञाऽलोन्त्यद्विर्वचनस्थानिवद्भावप्रतिषेधाः*।

प्रदीपः

अवश्यमिति। अनुस्वारस्य शर्त्वात्तद्व्यवाये षत्वे सिद्धे नुम्ग्रहणं नियमार्थम्—नुमो योऽनुस्वारस्तत्रैव यथा स्यादन्यत्र मा भूत्—पुंस्विति ॥

अविशेषेणेति। प्रयोजनविशेषमनपेक्ष्य सकलप्रयोजनोद्देशेन यत्र यत्र प्रयोजनसिद्धिस्तत्र तत्रोपदेशः कार्य इत्यर्थः ॥

उद्द्योतः

सुहिन्सु इत्यादौ सम्भवति, तथापि तदनभिधानमिति भावः। पुंस्वित्यत्र संपुङ्कानामित्येतत्प्रवृत्तिपरविवरणग्रन्थस्तु चिन्त्य एव। तस्य समस्सुटि, पुमः खय्यम्परे, कानाम्रेडिते इति सूत्रत्रयमात्रविषयत्वात् ॥

ननु सूत्रविशेषानाश्रयणे तत्प्रत्याहारासन्निवेशात्कथं तन्निबन्धनकार्यप्रवृत्तिरत आह—प्रयोजनविशेषमिति ॥ अविशेषेणेति भाष्यस्य प्रयोजनविशेषनिर्देशं विनेत्यर्थं इति भावः ॥ यत्र यत्रेत्यादि। यद्यत्प्रयोजनसिद्धिरुद्देश्या तत्तद्विषयसकलप्रयोजनोद्देशेनेत्यर्थः ॥

भावबोधिनी

[नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि] नुम् का ग्रहण तो अवश्य ही करना चाहिए। क्योंकि नुम्ग्रहण अनुस्वार का विशेषण है। (अनुस्वार विशेष्य है इसलिये)—नुम् के स्थान पर जो अनुस्वार होता है, उसी अनुस्वार के व्यवधान में जिस प्रकार से षत्व हो सके, यहाँ न हो—पुंसु। [पुम्प्+सु में मकार के स्थान पर ही अनुस्वार होता है, नुम् के स्थान पर नहीं। अतः इसमें षत्व नहीं होता है। इसलिए नुम् का ग्रहण आवश्यक है।]

अयोगवाहों के सामान्य रूप से उपदेश का समर्थन

अथवा किसी विशेष प्रत्याहार में न पढ़कर सामान्य रूप से ही (अलादि में) इन अयोगवाहों का उपदेश करना चाहिए।

[सामान्यरूप से उपदेश का] क्या प्रयोजन है ?

(वा०) सामान्यरूप से उपदेश करने के प्रयोजन हैं—'संयोगसंज्ञा, उपधासंज्ञा, अलोऽन्त्यविधि, द्विर्वचनविधि और स्थानिवद्भाव का प्रतिषेध।

(प्रयोजनभाष्यम्)

अविशेषेण संयोगसंज्ञा प्रयोजनम्—उब्जकः "हलोऽनन्तराः संयोगः" (१।१।७) इति संयोगसंज्ञा, "संयोगे गुर्विति" (१।४।११) गुरुसंज्ञा, "गुरो" (८।२।८६) रिति प्लुतो भवति ॥

(प्रयोजनभाष्यम्)

उपधासंज्ञा च प्रयोजनम्—दुष्कृतं, निष्कृतं,दुष्पीतं, निष्पीतम् "इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्ये"ति (८।३।४) षत्वं सिद्धं भवति ॥

(प्रयोजननिरासभाष्यम्)

नैतदस्ति प्रयोजनम् । न इदुदुपधग्रहणेन विसर्जनीयो विशेष्यते ॥

किं तर्हि ?

प्रदीपः

उब्जक इति। उपध्मानीयस्य जश्त्वे कृते संयोगसंज्ञायां तस्यासिद्धत्वात् संयोगसंज्ञाऽभावादगुरुत्वाभावात् प्लुतो न स्यात् ॥

उद्द्योतः

जश्त्वे कृते संयोगसंज्ञायामिति । कार्यकालपक्षे इदम् ॥

भाष्ये इदुदुपधस्येति । विसर्गस्याल्त्वे ह्युपधात्वमिति भावः ॥

भावबोधिनी

(भा०) [अयोगवाहों का] सामान्यरूप से [अल् में] उपदेश करने के ये प्रयोजन हैं—उब्जकः । इसमें 'हलोऽनन्तराः संयोग.' (१।१।७) से संयोगसंज्ञा, 'संयोगे गुरु' (१।४।११) से संयोग परे रहते पूर्ववर्ती की गुरुसंज्ञा, 'गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम्' (८।२।८६) से प्लुत होता है । [उद्ज् धातु उपध्मानीयोपध है । यह भी वर्ण=अल् हो जाता है । यहाँ व्यञ्जन मानकर उनका संयोग, संयोग से पूर्व की गुरुसंज्ञा और गुरु का प्लुत—ये तीनों कार्य सिद्ध होते हैं ।]

और उपधा संज्ञा करना भी प्रयोजन है—दुष्कृतम्, निष्कृतम्, दुष्पीतम्, निष्पीतम् इनमें इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य' (८।३।४) सूत्र से षत्व सिद्ध होता है । [दुःकृतम् आदि में विसर्ग=अयोगवाह को अल् मान लेने से उकार आदि उपधा में हो जाते हैं। क्योंकि 'अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा' (१।१।६५) से अन्त्य अल्=विसर्ग से पूर्व इ, उ मिल जाते हैं ।]

यह [उपधासंज्ञा करके षत्व करना] प्रयोजन नहीं है क्योंकि इस सूत्र में इदुपध-उदुपध से विसर्जनीय को विशेषित नहीं किया जाता है । [इदुपध, उदुपध यह विसर्जनीय का विशेषण नहीं है ।]

तब किसका विशेषण है ?

सकारो विशेष्यते—इदुदुपधस्य सकारस्य यो विसर्जनीय इति ॥

अथवा—उपधाग्रहणं न करिष्यते, इदुद्भ्यां तु परं विसर्जनीयं विशेषयामः—इदुद्भ्यामुत्तरस्य विसर्जनीयस्येति ॥

(प्रयोजनभाष्यम्)

अलोन्त्यविधिश्च प्रयोजनम्—वृक्षस्तरति प्लक्षस्तरति "अलोन्त्यस्य' (१।१।५२) विधयो भवन्तीत्यलोन्त्यस्य सत्वं सिद्धं भवति ॥

(प्रयोजननिराकरणभाष्यम्)

एतदपि नास्ति प्रयोजनम्—"निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति" इति विसर्ज-

उद्द्योतः

इदुदुपधस्य सकारस्येति । विसर्गस्थान्युपलक्षणमेतत् । अत एव निरोपि निष्कृतमिति सिध्यति । अत एव वक्ष्यमाणपक्षान्तरेणाविरोधः । निष्कृतमित्यादौ सुबुत्पत्तेः पूर्वं समासेऽपि इण ष इति न । पाशकल्पककाम्येष्वेव तत्प्रवृत्तेः ॥

द्विर्वचनं प्रयोजनमिति । विसर्गजिह्वामूलीयादेर्द्विरुच्चारणे विशेषस्याग्रहाद् उच्चारणस्य कर्तुमशक्यत्वाच्च शास्त्रप्राप्तिमात्रेणैतत्प्रयोजनकथनमिति सन्तोष्टव्यम् ॥

भावबोधिनी

सकार को विशेषित करता है—इदुपध और उदुपध सकार का जो विसर्जनीय उसका षत्व होता है । [इदुपध और उदुपध पद का अवयव जो सकार उसके विसर्ग का षत्व होता है । अतः अन्त्य स् अल् को मानकर उपधात्व और षत्व हो जाते हैं ।]

[लाघव की दृष्टि से दूसरा समाधान है—]

अथवा [इस सूत्र में] उपाधाग्रहण नहीं किया जायगा और इत् तथा उत् से परवर्ती विसर्ग को विशेषित किया जायगा—इत्, उत् (इ, उ) से उत्तरवर्ती विसर्ग का षत्व होता है । [अतः विसर्ग और उसके स्थानिभूत रेफ तथा सकार सभी को मानकर षत्व हो जायगा क्योंकि विसर्गावस्था में इत् और उत् से परे होने चाहिए । इससे इस सूत्र का स्वरूप यह किया जा सकता है—'इदुद्भ्यामप्रत्ययस्य ।' 'विसर्जनीयस्य' यह अनुवृत्ति से सम्बद्ध हो जायगा । अतः उपधासंज्ञा और षत्व फल नहीं है ।]

और 'अलोऽन्त्यविधि भी प्रयोजन है—वृक्षस्तरति, प्लक्षस्तरति । यहाँ [वृक्षः + तरति, प्लक्षः+तरति में विसर्ग को अन्त्य अल् मान लेने से] 'अलोऽन्त्यस्य' (१।१।५२) विधियाँ होती हैं'—अन्त्य अल् विसर्ग के स्थान पर ["विसर्जनीयस्य सः' ८।३। ४ सूत्र से] सत्व सिद्ध होता है ।

[यह तभी सम्भव होता है जब विसर्ग=अयोगवाह को अल् मान लिया जाता है ।]

यह [विसर्ग का सत्व] भी प्रयोजन नहीं है, क्योंकि 'निर्दिश्यमान के स्थान

नीयस्यैव भविष्यति ॥

(प्रयोजनभाष्यम्)

द्विर्वचनं प्रयोजनम्—उर≍≍कः ः । उर≍≍पः ः । "अनचि च" (८।४।४७) अच उत्तरस्य यरो द्वे भवत इति द्विर्वचनं सिद्धं भवति ॥

(प्रयोजनभाष्यम्)

स्थानिवद्भावप्रतिषेधश्च प्रयोजनम्—यथेह भवति—उरःकेण, उरःपेणेति "अड्व्यवाय" इति णत्वम्; एवमिहापि स्थानिवद्भावात्प्राप्नोति—व्यूढोरस्केन महोरस्केनेति । तत्र "अनल्विधौ" (१।१।५६) इति प्रतिषेधः सिद्धो भवति ॥

प्रदीपः

महोरस्केनेति । पूर्वत्रासिद्धीये न स्थानिवदिति निषेधोऽयं परस्मिन्पूर्वविधावित्यस्य, न तु स्थानिवदादेश इत्यस्य ॥

उद्द्योतः

ननु सोपदादाविति सत्वस्य स्थानिवत्त्वं पूर्वत्रासिद्धीये इति निषेधान्नेत्यत आह—पूर्वत्रेति ॥

॥ इत्ययोगवाहोपदेशाधिकरणम् ॥

भावबोधिनी

पर ही आदेश होते हैं' यह परिभाषा है । [विसर्जनीयस्य सः ॥ सूत्र में स्थानी के रूप में विसर्जनीय ही साक्षात् निर्दिष्ट है अतः] विसर्जनीय का ही सत्व होता है । [अतः यहाँ अल् मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं है । अतः यह प्रयोजन भी खण्डित हो जाता है ।]

द्विर्वचन भी प्रयोजन है–उर≍≍कः उर≍≍पः इनमें "अनचि च" ८।४।४७) सूत्र से अच् से उत्तरवर्त्ती यर् का द्वित्व होता है, इस प्रकार द्विर्वचन सिद्ध होता है । [जब जिह्वामूलीय और उपध्मानीय = अयोगवाह अल्=यर् माने जायेंगे तभी उनके द्वित्व का प्रसङ्ग होगा । अतः द्वित्व करने के लिए भी इनका अल् में ग्रहण मानना चाहिए । वास्तव में एक या दो जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के उच्चारण में कोई अन्तर नहीं आता है । अतः यहाँ केवल द्वित्व-विधायक शास्त्र की प्रवृत्ति दिखाना ही प्रयोजन समझना चाहिए ।]

और स्थानिवद्भाव का प्रतिषेध करना भी प्रयोजन हैं, जैसा कि यहाँ होता है—उरःकेण, उरःपेण, इनमें 'अट् के व्यवधान में णत्व होता है ।' इसी प्रकार इनमें भी स्थानिवद्भाव से [णत्व] प्राप्त होता है—व्यूढोरस्केन, महोरस्केन । [व्यूढम् उरःयस्य सः—'इस बहुव्रीहि में "क' प्रत्यय करने पर विसर्ग का सत्व हो जाता है । इसका स्थानिवद्भाव करने पर विसर्ग = अट् बुद्धि होने से 'अड्व्यवायेऽपि' से

(अथ वर्णानामर्थवत्ताधिकरणम्, भाष्यम्)

किं पुनरिमे वर्णा अर्थवन्तः, आहोस्विदनर्थकाः ?

(वा० अर्थवत्तासाधकप्रथमवार्तिकम् ॥ ११ ॥)

॥*॥ अर्थवन्तो वर्णा धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनात् ॥*॥

(भाष्यम्)

अर्थवन्तो वर्णाः ॥

कुतः ?

धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनात् ॥

प्रदीपः

इदानीमन्यदपि वर्णगतं वस्तु विचार्यते—किं पुनरिति। पक्षद्वयेऽपि प्रतिवर्णं विभक्त्युत्पत्त्यनुत्पत्तिज्ञानं विचारस्य प्रयोजनम् ॥

उद्द्योतः

इमे इत्यनेन न हयवरट् सूत्रस्था एव गृह्यन्ते, किं तु वर्णमात्रमित्याह—इदानीमिति। अर्थवन्त इति साध्यम्। वर्णा इति पक्षः। पक्षतावच्छेदकमेव हेतुः। धातुप्रातिपदिकेत्यादिस्तु दृष्टान्तः ॥ अनुत्पत्तिज्ञानम् = अनुत्पत्त्युपायज्ञानम् ॥

भावबोधिनी

णत्व की प्राप्ति हो सकती है।] इसमें 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' (१।१।५६) इसके अनल्विधि से प्रतिषेध सिद्ध होता है।] क्योंकि 'अनल्विधौ—अल्निमित्तक-विधौ न भवति' ऐसा होने से यहाँ 'अला विधि' ही होने से स्थानिवद्भाव का निषेध सिद्ध होता है।

इससे स्पष्ट है कि वार्त्तिकोक्त पाँच में केवल तीन प्रयोजनों के लिए ही सामान्यरूप से उपदेश की युक्तता है।]

वर्णों की अर्थवत्ता का विवेचन

[यहाँ सामान्यरूप से वर्ण की अर्थवत्ता का विचार प्रस्तुत हैं—]

क्या ये सभी (सर्वविध) वर्ण अर्थवान् हैं अथवा अनर्थक हैं ?

(वा०) वर्ण अर्थवान् हैं क्योंकि धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय और निपात जो एकवर्णरूपी हैं, उनके अर्थ देखे जाते हैं।

(भा०) वर्ण अर्थवान् हैं।

कैसे ?

धातु, प्रातिपादिक, प्रत्यय, निपातों में जो एकवर्ण वाले हैं, एकवर्णरूपी हैं, उनके अर्थ देखे जाते हैं।

धातव एकवर्णा अर्थवन्तो दृश्यन्ते—एति, अध्येति अधीत इति ॥

प्रातिपदिकान्येकवर्णान्यर्थवन्ति—आभ्याम्, एभिः, एषु ॥

प्रत्यया एकवर्णा अर्थवन्तः—औपगवः, कापटवः ॥

निपाता एकवर्णा अर्थवन्तः,—अ अपेहि, इ इन्द्रं पश्य, उ उत्तिष्ठ, अ अपक्राम । धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनान्मन्यामहे—अर्थवन्तो वर्णाः-इति ।

(७१ अर्थवत्तासाधकद्वितीयवार्तिकम् ॥ १२ ॥

॥ * ॥ वर्णव्यत्यये चार्थान्तरगमनात् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

वर्णव्यत्यये चार्थान्तरगमनान्मन्यामहेऽर्थवन्तो वर्णा इति । कूपः सूपो यूप

प्रदीपः

वर्णव्यत्य इति । एकस्य वर्णस्याभ्युपगमेऽन्यापगमो = व्यत्ययः ॥ स ककारस्येति । तस्यैवान्वयव्यतिरेकावनुविधत्तेऽर्थावसाय इत्यर्थः ॥

उद्द्योतः

भाष्ये धातव इत्यादि—प्रक्रियाश्रयप्रकृतिप्रत्ययानां वाचकत्वमित्येवंरूपवर्णस्फोटाश्रयेण । अयं च शास्त्रव्यवहारमात्रोपयोगी । एतद्वासनावशादेव लोकव्यवहारेऽपि शास्त्रज्ञास्तथा व्यवहरन्ति धर्मे चैवंविधज्ञानस्योपयोग इति बोध्यम् ॥

हेत्वन्तरमाह—वर्णव्यत्यये चेति ॥ ननु कूपादौ न सिंहादाविव वर्णव्यत्ययोऽत आह—एकस्येति ॥ तस्यैवान्वयेति । ऊपशब्दस्य तु तदीयशक्त्युद्बोधकत्वरूपं द्योतकत्वं प्रादिवत् । अत एव तेषामिवैषामपि प्रातिपदिकसंज्ञापादनं करिष्यते ॥

भावबोधिनी

धातु एक वर्ण के अर्थवान् देखे जाते हैं—एति, अध्येति, अधीते । [इनमें गत्यर्थक इण्, स्मरणार्थक अधि इक् और अध्ययनार्थक अधि इङ्—इनमें 'इ' एक वर्ण हीं अर्थवाला है ।]

एक वर्ण के प्रातिपदिक भी अर्थवान् [देखे जाते हैं]—आभ्याम्, एभिः, एषु । [तृतीयादि विभक्तियाँ परे रहते इदम् का लोप आदि करने के बाद 'अ' अकेला बचता है । इसी का अर्थ देखा जाता है ।]

एक वर्ण के प्रत्यय भी अर्थवान् [देखे जाते] हैं—औपगवः, कापटवः । [इनमें उपगु + अण् कपटु + अण् में केवल अ का अर्थ = अपत्य देखा जाता है ।]

निपात भी एक वर्ण के अर्थवान् [देखे जाते] हैं—अ अपेहि, इ इन्द्रं पश्य, उ उत्तिष्ठ, अ अपक्राम । [यहाँ अकेले अ आदि के वितर्क आदि अर्थ हैं ।]

[इस प्रकार] एक वर्ण के धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय और निपातों के अर्थ देखे जाने के कारण हम मानते हैं कि—वर्ण (अकेले भी) अर्थवान् होते हैं ।

(वा०) वर्णव्यत्यय में अर्थ बदल जाने से [भी वर्णों की अर्थवत्ता है] ।

इति। कूप इति सककारेण कश्चिदर्थो गम्यते। सूप इति ककारापाये सकारोपजने चार्थान्तरं गम्यते। यूप इति ककारसकारापाये यकारोपजने चार्थान्तरं गम्यते। तेन मन्यामहे—यः कूपे कूपार्थः स ककारस्य, यः सूपे सूपार्थः स सकारस्य, यो यूपे यूपार्थः स यकारस्येति॥

(७२ अर्थवत्तासाधकतृतीयवार्तिकम् ॥ १३ ॥)

॥ * ॥ वर्णानुपलब्धौ चानर्थगतेः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

वर्णानुपलब्धौ चानर्थगतेर्मन्यामहेऽर्थवन्तो वर्णा इति। वृक्षः, ऋक्षः,काण्डीर, आण्डीरः। वृक्ष इति सवकारेण कश्चिदर्थो गम्यते, ऋक्ष इति वकारापाये

प्रदीपः

वर्णानुपलब्धौ चेति। अर्थान्तरावगमात्प्रकृतोऽर्थो न गम्यत इति विवक्षितम्॥

उद्द्योतः

तृतीयहेतुमाह—वर्णानुपलब्धौ चेति॥ अनर्थगतेरित्यस्य तद्वर्णसत्तायां योऽर्थस्तदर्थानवगतेरित्यर्थं इत्याह—अर्थान्तरेति॥

भावबोधिनी

(भा०) और वर्णों के बदल जाने से भी मानते हैं कि 'वर्ण अर्थवान् होते हैं। [जैसे—] कूपः, यूपः, सूपः। 'कूपः' इसमें ककार के साथ कोई [कुआँ रूपी] अर्थ प्रतीत होता है। परन्तु 'सूपः' इसमें ककार हटा देने पर और सकार जोड़ देने पर दूसरा (सूप=दाल) अर्थ प्रतीत होता है। इसी प्रकार 'यूपः' यहाँ ककार और सकार दोनों के हटा देने पर और यकार के बढ़ा=जोड़ देने पर दूसरा अर्थ प्रतीत होने लगता है। इससे यह मानते हैं कि--कूप शब्द में जो कूप=कुआँ रूपी अर्थ है वह ककार का है,सूप में जो सूप=दालरूपी अर्थ है वह सकार का है,यूप में जो यूप=स्तम्भादिरूपी अर्थ है वह सकार का है। [चूँकि एक वर्ण ही बदल देने पर अर्थ बदल जाता है अतः अन्वय-व्यतिरेक के बल से उसी वर्ण का वह अर्थ मानना चाहिए। इससे वर्णों की अर्थवत्ता स्पष्ट सिद्ध है।]

(वा०) वर्ण की अनुपलब्धि=अश्रवण में पूर्व प्रतीत अर्थ की प्रतीति नहीं होने से [वर्णों की अर्थवत्ता है।]

(भा०) [किसी पद-विशेष में] किसी वर्ण के उपलब्ध न होने (सुनाई न देने) पर अर्थात् उसके कम हो जाने पर [उस शब्द से] पहले वाले अर्थ की प्रतीति न हो सकने के कारण मानते हैं कि वर्ण अर्थवान् होते हैं। [जैसे—] वृक्षः, ऋक्षः। काण्डीरः। आण्डीरः।

वृक्ष.--इस वकारसहित शब्द से कोई [पेड़ रूपी] अर्थ प्रतीत होता है, किन्तु वकार हटा देनेपर 'ऋक्षः' इससे वह (पेड़) अर्थ नहीं प्रतीत होता है। [अपि तु

सोऽर्थो न गम्यते। काण्डीर इति सककारेण कश्चिदर्थो गम्यते, आण्डीर इति ककारापाये सोऽर्थो न गम्यते ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

किं तर्ह्युच्यते—'अनर्थंगतेः' इति। न साधीयो ह्यत्रार्थस्य गतिर्भवति ॥

(समाधानभाष्यम्)

एवं तर्हीदं पठितव्यं स्याद्—*"वर्णानुपलब्धौ चातदर्थंगतेः*" इति ॥

किमिदम्—अतदर्थंगतेरिति ?

प्रदीपः

इतरस्त्वर्थविगत्यभावमात्रमनेनोक्तमिति मत्वा पृच्छति—किं तर्हीति। न साधीय इति। परमतापेक्षया प्रकर्ष आरोप्यते। यथा न किंचिदयं तत्र करोतीत्युक्ते कश्चिदाह सुतरामयं करोतीति ॥

उद्द्योतः

प्रश्नमुपपादयति—भाष्ये न साधीय इति। नञि काकुः ॥ परमतापेक्षयेति। परेणानर्थंगतेरित्युक्तत्वादिहार्थंगतिरस्तीत्यभ्युपगमस्य परमते कटाक्षेण अन्यस्थलीयार्थगत्यपेक्षयात्रातिशयेनार्थंगतिरस्तीति विवक्षेति भावः ॥

भावबोधिनी

ऋक्ष=नक्षत्र (नपुंसकलिङ्ग में) और भालू (पुंल्लिङ्ग में प्रतीत होता है। इसी प्रकार काण्डीर इस ककारविशिष्ट शब्द से कोई अर्थ (काण्डवाला) प्रतीत होता है किंतु ककार हटा देने पर 'आण्डीरः' से वह पूर्वोक्त अर्थ नहीं प्रतीत होता है। [इससे भी वर्णों की अर्थवत्ता का ज्ञान होता है। काण्डीर=काण्डवान्, शरधारी। आण्डीर = अण्डवान् 'स्यात् काण्डवांस्तु काण्डीरः...' । अमरकोष २।८।६९।]

ऐसा क्यों कहा गया—"अनर्थगतेः। [अर्थ की प्रतीति न होने से—यह हेतु क्यों कहा गया] इसमें अर्थ की प्रतीति सम्यक् रूप से नहीं होती है। [अनर्थंगतेः— इससे तो ऐसा लगता है कि कोई अर्थ नहीं प्रतीत होता है जबकि कोई न कोई अर्थ अवश्य प्रतीत होता है। अतः 'अनर्थंगतेः' इस कथन से अभीष्ट अर्थ की प्रतीति नहीं होती है। यह सामान्य अर्थ ही करना ठीक है। प्रश्न लगाकर अर्थ करना—इसमें अर्थ की सम्यक् रूप से प्रतीति नहीं होती है ? ऐसा व्याख्यान उचित नहीं प्रतीति होता है। इस पंक्ति के व्याख्यान में मतभेद दिखाई देता है।]

[अनर्थंगतेः इस कथन से अच्छी प्रकार भाव नहीं समझ में आता है—] यदि ऐसा है तो अब इस प्रकार का पाठ करना चाहिए—"वर्णानुपलब्धौ चातदर्थंगतेः।"

अतदर्थंगतेः—इसका क्या अर्थ है ?

तस्यार्थस्तदर्थः, तदर्थस्य गतिस्तदर्थगतिः, न तदर्थगतिरतदर्थगतिरतदर्थगतेरिति ॥ अथवा सोऽर्थस्तदर्थस्तदर्थस्य गतिस्तदर्थगतिर्न तदर्थगतिरतदर्थगतिरतदर्थगतेरिति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

स तर्हि तथा निर्देशः कर्तव्यः ? ॥

(सिद्धान्तभाष्यम्)

न कर्तव्यः । उत्तरपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः । तद्यथा—उष्ट्रमुखमिव मुखमस्य

प्रदीपः

एवं तर्हीति । प्रकृतोऽर्थो न गम्यतेऽर्थान्तरं तु गम्यत इत्यर्थः ॥ तस्यार्थ इति । तस्य वर्णस्य ॥ परं प्रति वर्णानामर्थवत्त्वमसिद्धमिति कथं तस्येति वर्णः परामृश्यत इत्याह—सोऽर्थ इति । प्रकृतोऽर्थ इत्यर्थः ॥

उष्ट्रमुख इति । गतार्थत्वादप्रयोग एव द्वितीयमुखशब्दस्य लोपोऽभिधीयते । अत्र हि उष्ट्रो मुखमस्येत्येव विग्रहः ॥ न च प्राणी प्राण्यन्तरस्य मुखं भवतीति विशिष्टावयववृत्तिरुष्ट्रशब्दः सादृश्यान्मुखं विशिनष्टि । एवमिहाप्यनर्थगतेरित्यत्रार्थशब्देन प्रक्रान्तोऽर्थ उच्यते, नार्थमात्रमित्यर्थः ॥

उद्द्योतः

तच्छब्दार्थमाह—वर्णस्येति ॥ परे तु तच्छब्देन तद्वर्णघटितपरामर्शे न कश्चिद्दोषः ॥ अत एव पूर्वं भाष्ये सककारेण कश्चिदर्थो गम्यत इत्युक्तमित्याहुः । लाघवेन तु कर्मधारयमाह—भाष्ये सोऽर्थ इति । प्रकृतोऽर्थः = तस्मिन्वर्णे सति योऽर्थः प्रतीयते स इत्यर्थः ॥

ननु दृष्टान्ते सप्तम्युपमानपूर्वेति वचनेनोत्तरपदलोपेऽपि प्रकृते तच्छब्दलोपः केन ? किं च तच्छब्द उत्तरपदमपि न । तच्छब्देन नञः समासाभावादत आह—गतार्थत्वादिति । तथा च तद्वदत्रापि लक्षणेति भावः ॥

भावबोधिनी

तस्य = उसका, अर्थः = अर्थ—तदर्थः, तदर्थस्य = उसके अर्थ की, गतिः = प्रतीति—तदर्थगतिः, न तदर्थगतिः = उसके अर्थ की प्रतीत न होना—अतदर्थगतिः, अतदर्थगतेः—उसके अर्थ की प्रतीति न होने से [यह मानते हैं कि वर्ण अर्थवान् होते हैं । यह षष्ठी तत्पुरुष मानकर अर्थ है । आगे समानाधिकरण कर्मधारय करके षष्ठीतत्पुरुष किया जाता है—]

अथवा—स = वह, अर्थः = अर्थ—तदर्थः, तदर्थस्य = उस पूर्वानुभूत अर्थ की, गतिः = प्रतीति—तदर्थगतिः, न तदर्थगतिः = उस अर्थ की प्रतीति नहीं, अतदर्थगतेः = उस अर्थ की प्रतीति न होने से [यह मानते हैं कि वर्ण अर्थवान् होते हैं । जो अर्थ वृक्षः में था वह ऋक्षः में नहीं रहता है अतः वकार की अर्थवत्ता सिद्ध होती है ।]

तो क्या वह वार्त्तिक ऐसा—'अतदर्थगतेः' करना चाहिए ?

उष्ट्रमुखः, खरमुखः। एवमतदर्थंगतेरनर्थंगतेरिति।

(७३ अर्थवत्तासाधकचतुर्थवार्तिकम् ॥ १४ ॥)

॥ ॥ संघातार्थवत्त्वाच्च ॥ ॥

(भाष्यम्)

संघातार्थवत्त्वाच्च मन्यामहेऽर्थवन्तो वर्णा इति। येषां संघाता अर्थवन्तोऽवयवा अपि तेषामर्थवन्तः॥ येषां पुनरवयवा अनर्थकाः समुदाया अपि तेषामनर्थकाः। तद्यथा एकश्चक्षुष्मान्दर्शने समर्थः तत्समुदायश्च शतमपि समर्थम्।

उद्द्योतः

चतुर्थहेतुमाह—भाष्ये सङ्घातार्थवत्त्वाच्चेति। एका सिकतेति भाष्यप्रयोगादेव सिकताशब्दस्यैकवचनान्तत्वमपि॥

भावबोधिनी

नहीं करना चाहिए। इसमें उत्तर पद का लोप समझना चाहिए। यह इस प्रकार है—जिस प्रकार उष्ट्रमुखम् इव मुखम् अस्य सः उष्ट्रमुखः, [खरमुखम् इव मुखम् अस्य सः—] खरमुखः। [इनमें एक मुख शब्द का लोप कर दिया जाता है। उसी प्रकार अतदर्थगतेः—इसमें [नञ् से उत्तरपद तद् का लोप करने पर] 'अनर्थगतेः' बनता है।

विमर्श—उष्ट्रमुखः आदि में 'उष्ट्रः मुखम् अस्य' यह विग्रह किया जाता है किन्तु दूसरा प्राणी किसी अन्य प्राणी के मुखवाला नहीं हो सकता है अतः यहाँ सादृश्य में पर्यवसान होता है—ऊँट के सदृश मुखवाला परन्तु यह भी सम्भव नहीं है अतः 'उष्ट्रमुखम् इव मुखम् अस्य स' यही व्याख्यान उचित है। यहाँ स्वतः प्रतीत हो जाने के कारण एक 'मुख' शब्द का लोप (अप्रयोग) कर दिया जाता है। यही स्थिति प्रस्तुत स्थल में भी है क्योंकि—न तदर्थगतेः यहाँ नञ् का तत् के साथ समास है इस 'तत्' का लोप (अप्रयोग) कर देने पर भी प्रकरणप्राप्त इसका अर्थ स्वतः प्रतीत हो जाता है 'न तद् अर्थगति' में 'तत्' के लोप के बाद नञ् समास में अजादि परे रहने से नुट् होने से—अन् अर्थगति—अनर्थगतेः—ऐसा होता है। वर्ण हटने और बढ़ने पर अर्थ बदलने से वर्णों की अर्थवत्ता सिद्ध होती है।

(वा०) और समूह के अर्थवान् होने से [भी वर्ण अर्थवान् हैं।]

(भा०) वर्णसमूह का अर्थ होता है इसलिये हम मानते हैं कि वर्ण अर्थवान् होवे हैं।

जिनके समूह अर्थवान् होते हैं, उनके अवयव भी अर्थवान् होते हैं। जिनके अवयव अर्थहीन होते है उनके समूह भी अर्थहीन होते हैं। इसे इस प्रकार समझना चाहिए—आँखों वाला एक पुरुष यदि देखने में समर्थ होता है तो उनका समुदाय सौ लोग भी देखने में समर्थ होते हैं। और एक तिल तेल देने (निकालने) में समर्थ होता है तो

एकश्च तिलस्तैलदाने समर्थः; तत्समुदायश्च खार्यपि तैलदाने समर्था ॥

येषां पुनरवयवा अनर्थकाः, समुदाया अपि तेषामनर्थकाः। तद्यथा—एकोऽन्धो दर्शनेऽसमर्थस्तत्समुदायश्च शतमप्यसमर्थम्। एका च सिकता तैलदानेऽसमर्था तत्समुदायश्च खारीशतमप्यसमर्थम् ॥

(अर्थवत्तादूषणभाष्यम्)

यदि तर्हीमे वर्णा अर्थवन्तः, अर्थवत्कृतानि प्राप्नुवन्ति ॥

कानि ?

"अर्थवत्प्रातिपदिकम्" (१।२।४५) इति प्रातिपदिकसंज्ञा, "प्रातिपदिकाद्" (४।१।१) इति स्वाद्युत्पत्तिः, "सुबन्तं पदम्" (१।४।१४) इति पदसंज्ञा ॥

प्रदीपः

नलोपादीनीति। श्रवणं तु विभक्तेर्न भवति, यतो यदैवावयवानां प्रातिपदिकसंज्ञा प्रवर्तते तदैव समुदायस्यापि। तत्र तदन्तर्गतत्वाद्विभक्तेर्लुका भवितव्यम्। समासग्रहणेन च तुल्यजातीयस्य सुबन्तावयवसमुदायस्य प्रातिपदिकसंज्ञा निवार्यते, न त्वर्थवत्समुदायमात्रस्य। येनैव चार्थेन समुदायस्यार्थवत्त्वं तेनैव तदवयवानामपीति विभक्त्युत्पत्तिश्चोद्यते ॥

उद्द्योतः

तदन्तर्गतत्वादिति। इदं चिन्त्यम् इत्थंभूतलक्षण इति सूत्रस्थस्वग्रन्थविरोधात्। तत्र हि—संज्ञाप्रवृत्त्युत्तरकालजातविभक्तेस्तन्मध्यपतितत्वेऽपि तदवयवत्वं नेत्युक्तम्। तस्मादन्तरङ्गत्वादवयवप्रातिपदिकत्वे तन्निमित्तसुपि तदनन्तरं कृदन्तत्वनिमित्तकप्रातिपदिकत्वे सुब्लोप इति वक्तुं युक्तम्। ध्वनतीत्यादौ तु न तदापत्तिः। धातुप्रत्ययान्तपदयोस्तदवयवपरत्वेन तत्र तदप्राप्तेः। धात्वादेस्तदवयवत्वं तु व्यपदेशिवद्भावेन बोध्यम्। वस्तुत इत्थंभूतेति सूत्रस्थकैयटोक्तिरयुक्तेति तत्रैव निरूपयिष्याम इति न दोषः ॥ धकारे

भावबोधिनी

उनका समुदाय खारी (एक परिमाण विशेष) भी तेल देने में समर्थ होती है।

परन्तु जिनके अवयव अर्थहीन होते हैं उनके समुदाय भी अर्थहीन होते हैं। उदाहरणार्थ—एक अन्धा देखने में असमर्थ होता है तो उनका समुदाय सौ अन्धे भी देखने में असमर्थ होते हैं। और बालू का एक कण तेल देने में असमर्थ होता है तो उसका समूह सैकड़ों खारी भी तेल देने में असमर्थ होती हैं।

यदि ये वर्ण अर्थवान् होते हैं तो इनमें अर्थवत्ता मानकर होने वाले कार्य भी प्राप्त होते हैं।

वे कौन से [कार्य] हैं ?

"अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्'(१।२।४५) इस सूत्र से होने वाली प्रातिपदिक संज्ञा, "ङ्याप् प्रातिपदिकात्" (४।१।१) से 'प्रातिपदिक को मानकर 'स्वौजसमौट्'

तत्र को दोषः ?

"पदस्य" (८।१।२) इति नलोपादीनि प्राप्नुवन्ति—धनं वनमिति ॥

(७४ अर्थवत्तायां दोषनिराकरणवार्तिकम् ॥ १६ ॥)

॥ * ॥ संघातस्यैकार्थ्यात्सुबभावो वर्णात् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

संघातस्यैकत्वमर्थः । तेन वर्णात्सुबुत्पत्तिर्न भविष्यति ॥

प्रदीपः

तत्र परिहारमाह—संघातस्येति । वृक्ष इत्यत्रैकत्वं विभक्त्या द्योत्यते । तच्चैकमित्येकैव विभक्तिरुत्पद्यते । यथा बहवो द्रष्टारो दृश्यमर्थमेकेनैव प्रदीपेन पश्यन्ति । सा चोत्पद्यमाना समुदायादेव तन्त्रेण सर्वानुग्राहिण्युत्पद्यते समुदायद्विर्वचनवत् । पदसंज्ञा तु समुदायस्यैव भवति, न प्रत्येकम्, असुबन्तत्वाद् 'यस्मात् प्रत्ययविधि'-रित्यनुवर्तनाद् ।

उद्द्योतः

जश्त्वमादिपदार्थः ॥ सुबन्तावयवसमुदायस्येति । सुबन्तावयवेति बहुव्रीहिस्ततः कर्मधारयः । इदमुपलक्षणम्—भेदे सति यदर्थयोः संसर्गस्तद्द्वारकार्थवत्समुदायस्य, तेन तिङन्तसमुदायस्य व्यावृत्तिः । प्रकृते न भेद इत्याह—येनैव चेति ॥

तच्चैकमिति । सङ्घातस्यैकत्वमिति भाष्यस्य सङ्घातस्याप्येकत्वमर्थः । एवं च विभक्तिः समुदायादेवेति भावः ॥ ननु समुदायादुत्पद्यमाना विभक्तिः सर्ववर्णसम्बन्धिनी चेत् प्रतिवर्णं पदत्वं प्राप्नोतीत्यत आह—पदसंज्ञा त्विति । यतश्चार्थबोधनाय विभक्त्युत्पत्तिस्तस्य संज्ञा प्रवर्तते, न त्वेषामिति भावः ॥ केचित्तु विभक्तिः प्रकृत्यर्थगतप्रकृतिबोध्यसङ्ख्याद्योतिका । सङ्ख्या च समुदायस्यैवार्थो, न प्रत्येकवर्णानामिति न तेभ्यः स्वाद्युत्पत्तिः । एकत्वं सङ्घातस्यार्थ इति भाष्यस्वरसात् ॥ प्रकृत्यंशे वर्णव्यत्ययापाययोः सङ्ख्यान्तरानुपजननात्सा समुदायस्यैवार्थ इति तद्भावः । न चाव्ययेभ्य इवैकवचनं दुर्वारम्, सङ्ख्यारहितार्थप्रतिपादकेषु तथास्वीकारेपि वस्तुतः सङ्ख्या-

भावबोधिनी

(४।१।२) सूत्र से सु आदि प्रत्यय होने लगेंगे और "सुप्तिङन्त पदम्' (१। ।१४) से सुबन्त की पद संज्ञा प्राप्त होती है।

इसमें अर्थात् उक्त कार्य हो जाने पर क्या दोष होता है ?

"पदस्य ='नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८।२।६) सूत्र से नलोप आदि प्राप्त होते हैं--धनम्, वनम् । [धनम् में ध् पदान्त होने से जश्त्व प्राप्त होता है ।]

[वास्तव में यह दोष नहीं है क्योंकि--]

(वा०) समूह का एक अर्थ होने से प्रत्येक वर्ण से सुप् की उत्पत्ति नहीं होती है।

(७५ अनर्थकतासाधकप्रथमवार्तिकम् ॥ १६ ॥)

॥ * ॥ अनर्थकास्तु प्रतिवर्णमर्थानुपलब्धेः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

अनर्थकास्तु वर्णाः ॥

कुतः ?

प्रतिवर्णमर्थानुपलब्धेः । न हि प्रतिवर्णमर्था उपलभ्यन्ते ॥

किमिदं प्रतिवर्णमिति ? ॥

वर्णं वर्णं प्रति—प्रतिवर्णम् ॥

प्रदीपः

अनर्थकास्त्विति । धात्वादिव्यतिरिक्ता वर्णाः पक्षाक्रियन्तेऽन्यथा शास्त्रविरोधः प्राप्नोति ॥ किमिति । असमासशङ्कया प्रश्नः, समासेन तूत्तरम् । तेनैव वीप्सा द्योतितेति द्विर्वचनं न भवति ॥

उद्द्योतः

वत्यर्थे सङ्ख्यानभिधायकत्वाद्युत्पत्तौ मानाभावात् । एवं चैषां प्रकृतित्वमेव नेति न केवला प्रकृतिरित्यस्यापि न विषयः । एतेन प्रत्येकं पदसंज्ञानुग्रहाय द्विवंचनवैषम्यात् स्यादेव प्रत्येकं सुब्धुत्पत्तिरित्यपास्तमित्याहुः ॥

अनुमानेन साधितामर्थवत्तां प्रत्यक्षविरोधेन दूषयति—अनर्थकास्त्विति ॥ सर्ववर्णानां पक्षत्वे हेतोर्भागासिद्धत्वं स्यादत आह—धात्वादीति ॥ विपक्षे बाधकमाह—अन्यथेति ॥ वर्णव्यत्ययेत्यादिहेतोरर्थानुपलब्धेरिति हेतोश्च धात्वाद्यतिरिक्तवर्णविषयत्वे एव सङ्गतेरित्यपि बोध्यम् ॥ असमासाशङ्कयेति । तथा च वीप्सा न प्रतीयेतेति भावः । तेनैवेति । वीप्सायां तस्य विधानादिति भाव ॥

भावबोधिनी

(भा०) समूह का भी एकत्व अर्थ होता है इस कारण वर्ण से सुप् की उत्पत्ति नहीं होती है । [समुदाय से ही उत्पद्यमान विभक्ति तन्त्रबलेन सभी अवयवों की भी अनुग्राहिका हो जाती है, जैसे समुदाय का द्वित्व होने पर अवयवों का भी हो जाता है । अतः अवयवों की अलग से पद संज्ञादि कार्य नहीं होते हैं ।]

वर्णों की अर्थहीनता का विचार

(वा०) प्रत्येक वर्ण से अर्थ की प्रतीति नहीं होती है अतः वर्ण अर्थहीन हैं ।

(भा०) वर्ण तो अर्थहीन हैं ।

कैसे [अर्थहीन हैं] ?

प्रत्येक वर्ण से अर्थ की उपलब्धि नहीं होने से । प्रत्येक वर्ण से अर्थ की प्रतीति नहीं होती है । [अतः वर्ण अर्थहीन ही हैं ।]

(७६ अनर्थकत्वसाधकद्वितीयवार्तिकम् ॥ १७ ॥)

॥*॥ वर्णव्यत्ययापायोपजनविकारेष्वर्थदर्शनात् ॥*॥

(भाष्यम्)

वर्णव्यत्ययापायोपजनविकारेष्वर्थदर्शनान्मन्यामहे—अनर्थका वर्णा इति ॥ वर्णव्यत्यये—कृतेस्तर्कः, कसेः सिकताः, हिंसेः सिंहः। वर्णव्यत्ययो नार्थव्यत्ययः॥

अपायो=लोपः—हतः, घ्नन्ति, घ्नन्तु, अघ्नन्। वर्णापायो नार्थापायः ॥

प्रदीपः

वर्णव्यत्ययेति। यदुक्तम् वर्णव्यत्यये चार्थान्तरगमनाद्वर्णानुपलब्धौ चानर्थगतेः इति, तस्यानैकान्तिकत्वमुद्भाव्यते ॥

उद्द्योतः

ननु वर्णव्यत्ययादिष्वर्थदर्शनं नार्थवत्त्वाभावसाधकमत आह—यदुक्तमिति। एवं चार्थवत्त्वसाधकहेतौ व्यभिचारप्रदर्शनद्वारानर्थकतासाधकत्वमस्य ॥ भाष्ये अर्थदर्शनादित्यस्य वर्णव्यत्ययाद्यभावे योऽर्थस्तस्यैव दर्शनादित्यर्थः ॥ नार्थव्यत्यय इत्यस्य नार्थान्तरावगतिः, किं तु तस्यैवावगतिरित्यर्थः ॥

भावबोधिनी

यह 'प्रतिवर्णम्' क्या है ?

वर्ण वर्ण अर्थात् प्रत्येक वर्ण से [अर्थ की प्रतीति नहीं होने से वर्णों को अर्थहीन मानना चाहिए।]

(वा०) वर्णों के व्यत्यय, उपजन और विकार में अर्थ देखे जाने से [वर्ण अर्थहीन हैं]।

(भा०) वर्णों के व्यत्यय, वर्णों के अपाय (लोप), वर्णों के उपजन (वर्णागम) और वर्णों के विकार (आदेश)—इनके होने पर अर्थ देखा जाने के कारण मानते हैं—वर्ण अनर्थक होते हैं।

वर्णव्यत्यय होने पर [एक वर्ण के दूसरे वर्ण के स्थान पर और दूसरे के पहले वर्ण के स्थान पर आ जाने पर भी अर्थ देखा जाता है]—जैसे—कृती धातु छेदन (काटना) अर्थ वाली है, [वर्णों का व्यत्यय करने पर] इससे 'तर्कः' [होने पर भिन्न अर्थ देखा जाता है], कस गत्यर्थक से सिकताः, [कस के स्थान पर सक होता है] हिंसि=हिंस से सिंहः बनता है। इनमें वर्ण आपस में अदल बदल जाते हैं किन्तु अर्थ नहीं बदलता है, वही रहता है। [यह सामान्य बात है क्योंकि 'पिकः', 'कपि.' 'राक्षसाः साक्षराः' आदि में कहीं-कहीं वर्णव्यत्यय में अर्थ का परिवर्तन भी देखा जाता है।]

अपाय=लोप, जैसे—हतः, घ्नन्ति, घ्नन्तु, अघ्नन्। इनमें न्, अ वर्णों का अपाय=लोप होता है किन्तु अर्थ का अपाय नहीं होता है। [अर्थ तो मूल धातु का वही रहता है। यह भी वर्ण की अर्थहीनता में प्रमाण है।]

उपजनः=आगमः—लविता, लवितुम् । वर्णोपजनो नार्थोपजनः ॥ विकार=आदेशः । घातयति घातकः । वर्णविकारो नार्थविकारः ॥ यथैव वर्णव्यत्ययापायोपजनविकारा भवन्ति तद्वदर्थव्यत्ययापायोपजनविकारैर्भवितव्यम् । न चेह तद्वद् । अतो मन्यामहे—अनर्थका वर्णा इति ॥

(तटस्थाक्षेपभाष्यम्)

उभयमिदं वर्णेषूक्तम्—अर्थवन्तोऽनर्थका इति च ॥ किमत्र न्याय्यम् ?

(समाधानभाष्यम्)

उभयमित्याह ॥

प्रदीपः

उभयमित्याहेति । यत्रान्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थवत्ता शक्यते कल्पयितुं तत्रैवासावभ्युपगन्तव्या, न सर्वत्रेत्यर्थः ॥

उद्द्योतः

उभयस्य न्याय्यत्वं विषयभेदेनेत्याह—यत्रान्वयेति । यथा एति इत इत्यादौ ॥ न सर्वत्र—कूपादावित्यर्थः ॥

भावबोधिनी

उपजन = आगम, जैसे—लविता, लवितुम् । इनमें इट्=इ आगम हो जाने पर भी अर्थ नहीं बढ़ता है । [धातु का मूल अर्थ ही रहता है । यह भी वर्ण की अर्थहीनता में प्रमाण है ।]

विकार = आदेश, जैसे—घातयति, घातकः [यहाँ हन् के ह का घ और न् का त् आदेश] वर्णविकार होता है किन्तु अर्थ का विकार कोई नहीं होता है । [यह भी वर्णों की अर्थहीनता सिद्ध करता है ।]

जिस जिस प्रकार से वर्णों के व्यत्यय, अपाय, उपजन और विकार होते हैं उसी प्रकार अर्थ के भी व्यत्यय, अपाय, उपजन और विकार होने चाहिए । परन्तु यहाँ (पूर्वोक्त उदाहरणों में) ऐसा नहीं होता है । इस कारण हम यह मानते हैं—वर्ण अनर्थक (अर्थहीन) होते हैं ।

[प्रारम्भ में पाँच वार्त्तिकों से वर्णों की अर्थवत्ता सिद्ध करने बाद में दो वार्त्तिकों से वर्णों की अर्थहीनता भी सिद्ध की गई है । ऐसी स्थिति में कौन सा पक्ष उचित है, या दोनों उचित हैं—इसका निर्णय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—]

वर्णों में दोनों ही बातें कही गईं—वर्ण अर्थवान् हैं और अर्थहीन भी हैं । इनमें क्या उचित है ? [कोई एक पक्ष उचित है अथवा दोनों ?]

[अर्थवत्ता और अनर्थकता] दोनों ही ठीक हैं—ऐसा [वैयाकरण] कहता है ।

कुतः ?

स्वभावतः। तद्यथा समानमीहमानानां चाधीयानां च केचिदर्थैर्युज्यन्ते अपरे न। न चेदानीं कश्चिदर्थवानिति कृत्वा सर्वैरर्थवद्भिः शक्यं भवितुम्, कश्चिद्वाऽनर्थक इति कृत्वा सर्वैरनर्थकैः। तत्र किमस्माभिः शक्यं कर्तुम्—यद्धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपाता एकवर्णा अर्थवन्तोऽतोन्येऽनर्थका इति। स्वाभाविकमेतत् ॥

भावबोधिनी

कैसे [दोनों ठीक हैं] ?

स्वभाव से। [वर्णों के स्वभाव से पूर्वोक्त दोनों पक्ष उचित हैं।] इसे इस प्रकार समझना चाहिए—समान रूप से इच्छा करने वाले या प्रयत्न करने वाले लोगों में और समानरूप से [किसी ग्रन्थविशेष के] अध्ययन करने वाले छात्रों में कुछ का ही अर्थ (सफलता और पदार्थज्ञान) के साथ योग होता हैं, दूसरों का नहीं। इसलिये अर्थोपजनादि के विवेचन करते समय कोई वर्ण यदि अर्थवान् हो जाता है तो उसी आधार पर सभी अर्थवान् नहीं हो सकते, अथवा कोई अनर्थक हो जाता है तो उसी आधार पर सभी अनर्थक नहीं हो सकते।

उपर्युक्त स्थिति में हम (वैयाकरण) क्या कर सकते हैं जो एक वर्ण वाले धातु, प्रत्यय, प्रातिपदिक और निपात अर्थवान् होते हैं, उनसे भिन्न [दूसरे धातु आदि] अनर्थक होते हैं। यह तो स्वाभाविक बात है।[वैयाकरण इसमें कुछ नहीं कर सकते।]

विमर्श—भाष्यकार ने शास्त्र और लोक दोनों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि वर्ण अर्थवान् भी होते हैं और अनर्थक भी। वर्णों की स्वाभाविक शक्तिमत्ता और अशक्तिमत्ता के आधार पर ही उनकी अर्थवत्ता अथवा अनर्थकता का निर्णय किया जाना चाहिए। यहाँ एक लौकिक दृष्टान्त दिया गया है—"समानम् ईहमानानां चाधीयानानां च केचिदर्थैः युज्यन्ते अपरे न।' यहाँ 'समानम्' इसे 'ईहमानानाम्' तथा 'अधीयमानानाम्' इन दोनों के साथ अन्वित करना चाहिए। लोक में देखा जाता है कि एक ही इच्छा से अनेक लोग कोई कार्य प्रारम्भ करते हैं परन्तु उनमें कुछ ही सफल हो पाते हैं, दूसरे असफल हो जाते हैं। इसी प्रकार किसी गुरु के यहाँ सभी छात्र समान रूप से एक ही साथ किसी विषय (शास्त्रादि) का अध्ययन करते हैं परन्तु उनमें कुछ ही (प्रतिभाशाली) अध्यापित पदार्थ का ज्ञान कर पाते हैं, दूसरे मूर्ख ही रह जाते हैं। कुछ बीच की (ज्ञान और अज्ञान उभय अवस्था में रह जाते हैं। इन सभी में उन कार्यकर्ताओं और छात्रों की अपनी अपनी शक्ति ही प्रधान कारण होती है। ठीक यही स्थिति वर्णों में भी है। कुछ ऐसे होते हैं कि उनमें एक एक वर्ण रहने पर भी अर्थवत्ता रहती है, जब कि कुछ में नहीं रहती है। अतः यह विषय स्वाभाविक शक्ति पर ही आधृत है। इसमें वैयाकरण या कोई दूसरा कोई तर्क नहीं कर सकता।

(आक्षेपभाष्यम्)

कथं य एष भवता वर्णानामर्थवत्तायां हेतुरुपदिष्ट—'अर्थवन्तो वर्णा धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनाद्वर्णव्यत्यये चार्थान्तरगमनाद्वर्णानुपलब्धौ चानर्थगतेः संघातार्थवत्त्वाच्च' इति ?

(समाधानभाष्यम्)

संघातान्तराण्येवैतान्येवंजातीयकानि अर्थान्तरेषु वर्तन्ते—कूपः सूपो यूप इति। यदि हि वर्णव्यत्ययकृतमर्थान्तरगमनं स्यात्, भूयिष्ठः कूपार्थः सूपे स्यात्, सूपार्थश्च कूपे, कूपार्थश्च यूपे, यूपार्थश्च कूपे, सूपार्थश्च यूपे, यूपार्थश्च सूपे। यतस्तु खलु न किंचित्सूपस्य वा यूपे, यूपस्य वा कूपे, कूपस्य वा यूपे,

प्रदीपः

संघातान्तराणीति। तदुक्तं—

'न कूपसूपयूपानामन्वयोऽर्थस्य विद्यते।

अतोऽर्थान्तरवाचित्वं संघातस्यैव गम्यते॥' इति।

उद्द्योतः

न कूपसूपेति। वर्णानामर्थवत्त्वे ऊपशब्दस्य त्रिष्वन्वयादर्थान्वयः स्यात्,न च दृश्यते। अतः समुदायान्तरत्वप्रयुक्तमेवार्थान्तरत्वं तदर्थावगतिश्च न तु व्यत्यादिकृतमित्यर्थः॥ ननु ककारसकारयकाराणामेवार्थवत्त्वमूपस्तु शक्त्युद्बोधक एवेति कस्यार्थस्य सत्ता तत्र

भावबोधिनी

(अनु०) [जब अर्थवत्ता या अनर्थकता स्वाभाविक है तब] आपने वर्णों की अर्थवत्ता में जो ये हेतु दिये हैं—"वर्ण अर्थवान् हैं—धातु, प्रातिपादिक, प्रत्यय और निपातों के अर्थ देखे जाने से, (२) वर्णव्यत्यय में दूसरे अर्थ की प्रतीति होने से, (३) वर्ण की अनुपलब्धि में पूर्व प्रतीत अर्थ की प्रतीति न होने से, (४) और समूह के अर्थवान् होने से"—इनका क्या किया जायगा ?

[समाधान] कूप, सूपः, यूपः—ये वर्णसमूह ही हैं, स्वतन्त्र शब्द रूप हैं जो दूसरे दूसरे अर्थों में विद्यमान हैं। [ऐसा नहीं है कि 'कूप' वर्णसमूह का 'ऊपः' शब्द लेकर उसमें कभी स् मिलाकर 'सूपः' और कभी 'य्' मिलाकर 'यूपः' बना दिया जाता है. ऐसा नहीं होता है। ये सभी अलग अलग स्वतन्त्र वर्णसमुदाय हैं जिनका अर्थ विशेष में शक्तिग्रह होता है और उस उस अर्थ का बोध होता है।]

यदि वर्णो के व्यत्यय (उलटफेर) से भिन्न भिन्न अर्थो की प्रतीत होने लगे तब तो—'कूप' का बहुत सा अर्थ 'सूप' शब्द में होने लगे और 'सूप' शब्द का बहुत सा अर्थ 'कूप' में होने लगे, और 'कूप' शब्द का बहुत सा अर्थ 'यूप' में होने लगे, 'यूप' का बहुत सा अर्थ 'कूप' में होने लगे,और 'यूप' का ही बहुत सा अर्थ 'सूप' में होने लगे [कारण स्पष्ट है कि कूप, यूप, सूप में क्, य्, स् की तुलना में 'ऊप' अंश अधिक है।

सूपस्य वा कूपे, कूपस्य वा सूपे, यूपस्य वा सूपे। अतो मन्यामहे—संघातान्तराण्येतान्येवजातीयकान्यर्थान्तरेषु वर्तन्त इति।

इदं खल्वपि—भवता वर्णानामर्थवत्तां ब्रुवता साधीयोऽनर्थकत्वं द्योतितम्। यो हि मन्यते—यः कूपे कूपार्थः स ककारस्य, यः सूपे सूपार्थः स सकारस्य, यो यूपे यूपार्थः स यकारस्येति। ऊपशब्दस्तस्यानर्थकः स्यात्॥

उद्द्योतः

तत्रापाद्यत इति चेत्तर्हि भग्नमेव वर्णानामर्थवत्त्वम्। तत्रैव पदे ऊ-पयोरर्थाभावात्। किं च सङ्ख्या समुदायस्यैवार्थ इत्यपि नियन्तुमशक्यं, कूपगतैकत्वस्य यूपादिभिरप्रतीत्या संख्ययापि कादिभिरन्वयव्यतिरेकसत्त्वाद्। द्विवंचनेन वैषम्यं तु प्रागुक्तमेव। तस्मात्समुदायस्यैवार्थवत्त्वम्। तदेव ध्वनयन्नाह—भाष्ये इदं खल्वपीति॥

भावबोधिनी

अतः कूपादि से जो जो अर्थ प्रतीत होता है उस उसमें 'ऊप' का महत्त्व अधिक है। चूंकि 'ऊप' अंश सभी में है तो सभी में अर्थसाङ्कर्य, दो दो मिले अर्थों की प्रतीति का प्रसङ्ग आयेगा।]

परन्तु जिस कारण से 'सूप' का थोड़ा सा भी अर्थ 'यूप' में नहीं दिखाई देता है, अथवा 'यूप' का थोड़ा सा भी अर्थ 'कूप' में नहीं दिखाई देता है, अथवा 'कूप' का थोड़ा सा भी अर्थ 'यूप' में नहीं दिखाई देता है अथवा 'यूप' का थोड़ा सा भी अर्थ 'सूप' में नहीं दिखाई देता है—इसी से हम मानते हैं कि ये इसी प्रकार के वर्ण-समुदाय ही अलग अलग अर्थों में विद्यमान हैं, शक्त हैं। [अर्थात् वर्ण अलग अलग अर्थ की प्रतीति नहीं कराते हैं समूह रूप से ही अर्थ के बोधक होते हैं। इसलिए प्रत्येक वर्ण की अर्थवत्ता नहीं सिद्ध होती है, नहीं माननी चाहिए।]

आप (वर्णों के स्वतन्त्र अर्थ के समर्थक) ने वर्णों की अर्थवत्ता ['वर्णव्यत्यये चार्थान्तरगमदात्' इस पूर्वोक्त वार्तिक के व्याख्यान द्वारा] सिद्ध करते हुए उन वर्णों की अर्थहीनता का ही अच्छी प्रकार से प्रतिपादन कर दिया है अर्थात् उक्त हेतु से वर्णों की अर्थवत्ता सिद्ध न होकर अर्थहीनता ही सिद्ध हो जाती है। कारण यह है कि जो [वर्ण का अर्थवादी] यह मानता है—कूप शब्द में जो कुआँ अर्थ है वह ककार का है, सूपः में जो सूप=दाल अर्थ है वह सकार का है, यूप में जो यूप=यज्ञीय पशुबन्धन स्तम्भादि अर्थ है वह यकार का है—अर्थात् कूप, सूप, यूप से जो भिन्न-भिन्न अर्थ प्रतीत होते हैं वे ककार, सकार, यकार इन वर्णों के हैं, तब तो वर्ण के अर्थवत्ता के समर्थक के मत में 'ऊप' शब्द अनर्थक होने लगेगा। [कूप, यूप, सूप में केवल प्रथम वर्ण से ही अर्थ मानने पर बाद वाले 'ऊ' और 'प' की अनर्थकता स्वयं सिद्ध हो जाती है। अतः वर्ण नहीं अपितु वर्णों का समूहविशेष सूपादि ही भिन्न-भिन्न अर्थों का वाचक मानना चाहिये।]

(आक्षेपभाष्यम्)

तत्रेदमपरिहृतम्—*संघातार्थवत्त्वाच्च* इति ॥

(समाधानभाष्यम्)

एतस्यापि प्रातिपदिकसंज्ञायां परिहारं वक्ष्यति ॥

प्रदीपः

एतस्यापीति । दृष्टो ह्यतदर्थेन गुणेन गुणिनोऽर्थभावः । सुराङ्गवद्रथाङ्गवच्चेति ॥

उद्द्योतः

दृष्टो हीति । अतदर्थेन रथाङ्गेन गुणिनो रथस्य यथार्थवत्ता तथा प्रकृतेपीति भावः ॥इति वर्णानामर्थवत्ताधिकरणम् ॥

(अथ प्रत्याहारेष्वित्संज्ञकग्रहणाभावाधिकरणम्, भाष्यम्)

अइउण्, ऋलृक्, एओङ्, ऐऔच् ।

(७७ आक्षेपवार्तिकम् ॥ १८ ॥ ॥)

भावबोधिनी

[वर्णों की अर्थवत्ता के जो हेतु दिये गये उनमें सभी का खण्डन कर दिया गया इनमें अकेला एक ही बचा है जिसका खण्डन यहाँ न करके आगे प्रातिपदिक संज्ञा-विधायक सूत्र में किया जायगा—]

तो भी इस कारण का खण्डन नहीं किया गया है—'संघातार्थवत्त्वाच्च' (और समूह के अर्थवान् होने से वर्ण अर्थवान् नहीं हैं) ।

इस कारण का भी खण्डन प्रातिपदिक संज्ञा के विवेचन के समय किया जायगा ।

विमर्श—पहिया, धुरा, छत्र आदि अवयव अलग-अलग रहते हुये गमन क्रिया नहीं करते हैं परन्तु मिलकर 'रथ' बन जाने पर वह क्रिया करने में समर्थ हो जाते हैं । इसी प्रकार सुरा की सामग्री अलग-अलग खा लेने पर नशा नहीं पैदा करती है, सुरा बन जाने पर नशा करने लगती है । ऐसे ही अनेक दृष्टान्त है जिनसे यह अत्यन्त स्पष्ट है कि अवयव अकेले कुछ नहीं कर पाते हैं वे ही जब समूह रूप में एक अवयवी बन जाते हैं तब कार्य करते हैं । यही बात वर्णों में और उनके समूह में भी देखी जाती है । अकेला वर्ण वाचक नहीं होता है, समूह रूप में वाचक बन जाता है । इसलिए सामान्यतया वर्ण अलग-अलग रहने पर अर्थहीन ही होते हैं । प्रातिपदिक संज्ञा सूत्र का वार्तिक कैय्यट ने प्रदीप में लिख दिया है ।

प्रत्याहारों में इत्संज्ञक वर्णों का ग्रहण नहीं होता है

अइउण्, ऋलृक्, एओङ्, ऐऔच् ।

॥*॥ 'प्रत्याहारेऽनुबन्धानां कथमज्ग्रहणेषु न' ॥*॥

य एतेऽक्षु प्रत्याहारार्था अनुबन्धाः क्रियन्ते, एतेषामज्ग्रहणेन ग्रहणं कस्मान्न भवति ?

किं च स्यात् ?

दधि णकारीयति, मधु णकारीयति, "इको यणचि" (६।१।७७) इति यणादेशः प्रसज्येत ॥

(७८ सिद्धान्तसमाधानवार्तिकखण्डम् ॥ १९ ॥)

॥ * ॥ आचारात् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

किमिदमाचारादिति ?

आचार्याणामुपचारात् । नैतेष्वाचार्या अच्कार्याणि कृतवन्तः ॥

प्रदीपः

आचारादिति । आचारो व्यवहारः । वृष्टिमृजिकृषेरिति यण् न कृतः ॥

उद्द्योतः

भाष्ये अज्ग्रहणेष्विति । प्रत्याहारे=अक्षरसमाम्नायेऽज्ग्रहणेषु=अच्प्रत्याहारग्राहकेषु पठितानामनुबन्धानां प्रत्यासत्त्याक्षु ग्रहणं कुतो नेत्यर्थः ॥ तत्फलितार्थमाह—य एते इति । अक्षु । तद्बोधकसूत्रेषु प्रागुक्तेषु ॥ प्रत्याहारार्थाः=तदुपकारकाः ॥ अज्ग्रहणेन= अच्शब्देन ॥ अणगादिप्रत्याहारेषु तेषां ग्रहणे फलाभावं मनसि निधायाज्ग्रहणेने-त्युक्तम् । न च हशादौ टग्रहणस्यापत्तिः । हल्षु उच्चारणार्थाकारोच्चारणेनो-च्चारणार्थवर्णहीनहलां हल्घटितप्रत्याहारे ग्रहणाभावस्य वक्तुं शक्यत्वात् ॥

भावबोधिनी

(वा०) प्रत्याहार=अक्षरसमाम्नाय में अज्ग्रहण=अच् शब्द से अनुबन्धों का ग्रहण क्यों नहीं होता है ?

(भा०) अचों=स्वरों में प्रत्याहार के लिए जिन अनुबन्धों को लगाया गया है, इनका अज् शब्द से [अचों के अन्तर्गत] ग्रहण क्यों नहीं होता है ?

[यदि ग्रहण हो तो] क्या होने लगेगा ?

दधि+णकारीयति, मधु+णकारीयति—इत्यादि में [ण् को भी अच् मान लेने पर] 'इको यणचि' (६।१।७७) सूत्र से यण् आदेश प्रसक्त होगा ।

[अनुबन्धों का ग्रहण न होने में निम्न कारण हैं—]

(वा०) आचार से [अनुबन्धों का ग्रहण नहीं होता है] ।

(भा०) 'आचार' से 'यह क्या है, इसका क्या तात्पर्य है ?

आचार्यों के उपचार=व्यवहार से [यह ज्ञात होता है कि ण् आदि अनुबन्धों

(७९ सिद्धान्तसमाधानवार्तिकखण्डम् ॥ २० ॥)

॥ * 'अप्रधानत्वात्' ॥ * ॥

(भाष्यम्)

अप्रधानत्वाच्च । न खल्वप्येतेषामक्षु प्राधान्येनोपदेशः क्रियते ॥

क्व तर्हि ?

हल्षु ॥

कुत एतत् ?

एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते— यत्तुल्यजातीयांस्तुल्यजातीयेषूपदिशति— अचोऽक्षु हलो हल्षु ॥

प्रदीपः

अप्रधानत्वाच्चेति । प्रधानाप्रधानसंनिधौ प्रधानमेव कार्याणां प्रयोजकमिति परार्थानामनुबन्धानामच्संज्ञा न प्रवर्तत इत्यर्थः ॥ शैलीति । शीले भवा शैली समवधानपूर्विका प्रवृत्तिः (प्रकृतिः) । यथा लोके ब्राह्मणैः सह ब्राह्मणा भोज्यन्ते, क्षत्रियैः सह क्षत्रिया इति एवमिहाप्याचार्येण वर्णा निर्दिष्टा इत्यर्थः ॥

उद्द्योतः

(भाष्ये) प्राधान्येन प्रत्याहारेषु ग्रहणार्थत्वेन ॥ परार्थेति । अजादिस्वरूपबोधनार्थत्वेन परार्थत्वम् । यथाकारादयः संज्ञिविशेषसमर्पणायोपात्ता न तथा णादय इत्यर्थः ॥ अप्रधानत्वमप्याचार्याचारेण साधयति—[भाष्ये] आचार्यस्येति । आचार्यशब्देनानादिः शब्दपुरुषः । एवं चान्यत्र संज्ञिविशेषसमर्पणायोपात्तत्वादितामसञ्ज्ञित्वमेवेति भावः ॥

भावबोधिनी

का अच् में ग्रहण नहीं होता है क्योंकि] पाणिन्यादि आचार्यों ने इन [अनुबन्धों] के परे रहने पर इन्हें अच् मानकर कोई कार्य नहीं किया है । ["तृषिमृषिकृषेः' (१।२।२५) में 'क्' को अच् मानकर 'इ' का यण् नहीं किया है । इसी प्रकार 'मुखनासिकावचनः' (१।१।८) में भी क् को अच् मानकर 'सि' के इ का यण् नहीं किया है । यही सिद्ध करता है कि अनुबन्ध अचों में नहीं माने जाते ।]

(वा०) अप्रधान होने से [भी अनुबन्धों का ग्रहण नहीं होता है] ।

(भा०) और अप्रधान होने के कारण भी [अनुबन्धों का अचों के ग्रहण से ग्रहण नहीं होता है] । अनुबन्धों का अचों में प्रधानतया उपदेश नहीं किया गया गया है ।

तो कहाँ [प्रधानतया किया गया है] ?

हल् में ।

ऐसा कैसे [कहते हो] ?

आचार्य की ऐसी शैली (प्रतिपादन की पद्धति)दिखाई देती है—तुल्यजातिवालों में ही तुल्यजातिवालों को उपदिष्ट किया है,उच्चारित किया है । अचों=स्वरों को अचों=

(८० सिद्धान्तसमाधानवार्तिकखण्डम् ॥ २१ ॥)

॥ * ॥ 'लोपश्च बलवत्तरः' ॥ * ॥

(भाष्यम्)

लोपः खल्वपि तावद्भवति ॥

(८१ सिद्धान्तसमाधानरीत्यन्तरवार्तिकम् ॥ २१ ॥)

॥ * ॥ ऊकालोऽजिति वा योगस्तत्कालानां यथा भवेत् ।
अचां ग्रहणमच्कार्यं तेनैषां न भविष्यति ॥ * ॥

प्रदीपः

लोपश्चेति । परत्वान्नित्यत्वाद्वा आदिरन्त्येनेत्यनेनाच्संज्ञाविधानकालेनुबन्धानां लोपादसन्निधानादच्संज्ञा न प्रवर्तते । अनुबन्धा ह्युच्चारण एव सन्ति इत्संज्ञाप्रतिबद्धं च कार्यमसन्त एव प्रतिपादयन्ति, स्वतस्तु न किञ्चित्कार्यं प्रतिपद्यन्ते ॥

उद्द्योतः

परत्वादित्याद्यन्तरङ्गत्वोपलक्षणम् । एवं च पूर्वमनुबन्धलोपादादिरन्त्येनेति संज्ञाविधानकालेऽसंनिधानादित्यन्वयः । एवं चानुबन्धसदृशभिन्नानामेव मध्यगसदृशानां ग्राह्यतां बोधयतीति भावः ॥ भाष्ये लोपः खल्वपि तावदिति । सर्वतः प्रथममित्यर्थः ॥ यत्तु एवमपि लणित्यकारस्य हल्षु ग्रहणापत्तेराचारादित्येव समाधिरत्र युक्त इति ॥ तन्न । अतो लरान्तस्येति सूत्रे लकारोच्चारणेन लण्सूत्रस्थस्यानुनासिकत्वाभावज्ञापनात् । एवं च तस्यानुबन्धत्वमेव न, किंतूच्चारणार्थत्वमेव । अत एव भाष्येऽइउणित्यादिसूत्रचतुष्टयोपादानेनैवैतद्विचारप्रवृत्तिः कृता । श्लोके चाज्ग्रहणेष्वित्येवोक्तम् । उरण्रपरसूत्रे च लपरत्वस्योपसंख्यानमेव कार्यमिति तुल्यास्यसूत्रे वक्ष्यते ॥

भावबोधिनी

स्वरों में और हलों = व्यंजनों को हलों में । [सहोपदेश के कारण भी यह माना जाता है कि मध्य में आये विजातीय वर्णों को उनके ग्रहण में नहीं लिया जाता है ।]

(वा०) और लोप बलवत्तर है ।

(भा०) और [इन अनुबन्धों का] लोप बलवत्तर है । [अतः यह अवश्य होता है । तब इनका अस्तित्व न होने के कारण इनके ग्रहण का प्रसङ्ग ही नहीं है ।]

(वा०) अथवा—'ऊकालोऽच्' यह योगविभाग किया जाता है जिससे तत्काल= उ, ऊ उ३ के समान काल वाले वर्णों की अच् संज्ञा हो सके, इसी से अचों का ग्रहण होता है, इस कारण इन ण् क् आदि का अच् सम्बन्धी कार्य नहीं होता है ।

(भाष्यम्)

अथवा योगविभागः करिष्यते—"ऊकालोऽच्" उ ऊ उ ३ इत्येवं-कालोऽज्भवति । ततो "ह्रस्वदीर्घप्लुतः" ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञश्च भवति-ऊकालोच्॥

(आक्षेपभाष्यम्)

एवमपि कुक्कुट इत्यत्रापि प्राप्नोति ॥

(समाधानभाष्यम्)

तस्मात्पूर्वोक्त एव परिहारः ॥

प्रदीपः

ऊकालोजिति । सिद्धेऽच्त्वे योगविभागेन कालविशेषावच्छिन्नस्याच्त्वं नियम्यते, ततोऽनुबन्धानामूकालत्वाभावादच्त्वाभावः ॥

एवमपीति । ककाराकृतेरुपदेशान्मात्रिकस्याच्त्वं मन्यते ॥

उद्द्योतः

भाष्ये तत्कालानामचां ग्रहणमच्पदेन यथा स्यादिति योगविभागः कार्य-इत्यन्वयः ॥ सिद्धेऽच्त्व इति । अकारादीनामुपदेशात्सवर्णग्रहणाच्चेति भावः ॥

ननु ककारद्वयस्य मात्रिकवर्णत्वं कथम्, एकस्यैव ऋलृगित्यत्रोपदेशादत आह—ककाराकृतेरिति ॥

भावबोधिनी

(भा०) अथवा योगविभाग किया जायगा—"ऊकालोऽच्" [यही एक सूत्र बनाया जायगा । इसका यह अर्थ होगा—उ ऊ ऊ३ इस प्रकार से एक मात्रा, दो मात्राओं और तीन मात्राओं के काल के समान काल वाले अच् होते हैं । इसके बाद दूसरा सूत्र यह होगा—"ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत ।' इसका अर्थ होगा—ऊकाल अच् की ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत संज्ञा होता है । [अर्थात् एकमात्रिक अच् ह्रस्व, द्विमात्रिक अच् दीर्घ और त्रिमात्रिक अच् प्लुत माना जाता है । [चूंकि अनुबन्धों में जो ण् क् आदि हैं उनकी अर्धमात्रा है । अतः वे अच् हैं ही नहीं । तब उनका ग्रहण कैसे होगा ?]

[यदि मात्राकाल के आधार पर अच् होंगे तब तो दो व्यञ्जनों की आधी-आधी मात्रा मिला देने पर संयुक्त व्यञ्जन की एकमात्रा होने से वह अच् कहा जाना चाहिए—यही लिख रहे हैं—]

यदि ऐसा है तो भी 'कुक्कुटः' 'यहाँ भी क्क् में अच्त्व प्राप्त होता है ।

इस [दोष] के कारण ['एओङ्' इस सूत्रोक्त] पूर्वोक्त ही परिहार है । ['न च मात्रिकं व्यञ्जनमस्ति' आदि परिहार पहले 'एओङ्' सूत्रभाष्य में लिखा जा चुका है । अतः उसी के आधार पर यहाँ क्क् भी मात्रिक नहीं माना जा सकता । अतः अच् नहीं हो सकता ।]

(भाष्यम्)

एष एवार्थः ॥ अपर आह—

॥*॥ ह्रस्वादीनां वचनात् प्राग्यावत्तावदेव योगोऽस्तु ।
अच्कार्याणि यथा स्युस्तत्कालेष्वक्षु कार्याणि ॥ * ॥

[इति प्रत्याहारेष्वितां ग्रहणाभावाधिकरणम् ॥]

प्रदीपः

अत्र च यद्यप्ययं परिहारोऽस्ति, द्वावेतौ ककारौ, न च वर्णद्वयेनैका जातिर्व्यज्यते इति । तथापि पूर्वमेव 'मात्राकालोऽवगम्यते । न च मात्रिकं व्यञ्जनमस्ती'त्युक्तत्वात्पुनरिह नोक्तः ॥

उद्द्योतः

न च वर्णद्वयेनेति । जातिरपि स्वपर्याप्त्यधिकरणव्यङ्ग्यैव तद्द्वारैव च कार्यभागिति भावः ॥

भाष्ये एष एवार्थ इति । अपर आहेत्यादिना वार्तिककृतोक्त इत्यर्थः ॥ ह्रस्वादीनामिति । ह्रस्वदीर्घप्लुत इत्यतः प्राग्यावद् ऊकालोऽजिति तावदेवास्तु पृथक् सूत्रम् । फलं दर्शयति—अच्कार्याणीति । अज्निमित्तिकार्याणि तत्कालेष्वक्षु कर्तुमर्हाणि यथा स्युरित्यन्वयः ॥

(इति प्रत्याहारेष्विद्ग्रहणाभावाधिकरणम् ।)

भावबोधिनी

[वार्तिककार द्वारा कहा गया] यह अर्थ है । इसी को दूसरे आचार्य कह रहे हैं—['ऊकालोऽज् ह्रस्वदीर्घप्लुतः' इस सूत्र में] ह्रस्व आदि के कहने से पहले जितना अंश है उतना ही एक सूत्र रहे अर्थात् 'ऊकालोऽच्' इतना एक सूत्र रहे, जिसके फलस्वरूप तत्काल=ऊकाल के सदृश कालवाले अचों में तत्कार्य=अच्सम्बन्धी, अज्निमित्तक कार्य हो सकें। [भाव यह है कि उ=एकमात्रिक, ऊ=द्विमात्रिक, ऊ३ त्रिमात्रिक काल के समान जिस-जिस के काल होते हैं वहीं-वहीं अच् माना जाता है, उससे भिन्न को अच् नहीं माना जाता है। इसलिये 'कुक्कुटः' में क्क् की एक मात्रा मानकर अच् कहना सम्भव नहीं है। अतः अचों में इन अनुबन्धों का ग्रहण नहीं होता है।]

(अन्तःस्थानामणूपदेशप्रयोजनाधिकरणम् ॥)

(आक्षेपभाष्यम्)

अथ किमर्थमन्तःस्थानामणूपदेशः क्रियते ?

(समाधानभाष्यम्)

इह सय्ँ य्ँयन्ता सव्ँ व्ँवत्सरः यल्ँ ल्ँलोकं तल्ँ ल्ँलोकमिति परसवर्णस्यासिद्धत्वादनुस्वारस्यैव द्विर्वचनम्। तत्र परस्य परसवर्णे कृते तस्य यय्ग्रहणेन ग्रहणाद् पूर्वस्यापि परसवर्णो यथा स्यात् ॥

प्रदीपः

अथ किमर्थमिति। अजुदित्सवर्णस्येति कस्मान्न कृतमिति प्रश्नः॥ इण् ग्रहणेन ग्रहणार्थस्त्वन्तःस्थानामत्रावश्यकर्तव्य उपदेशो—गीर्ष्वित्यादौ मूर्धन्यो यथा स्यादिति ॥

उद्द्योतः

अणः सूत्रपदेशः = अणूपदेशः = अण्शब्दोच्चारणम्। तदन्तःस्थानां बोधकम् अणुदिदित्यत्र किमर्थं क्रियत इत्यर्थो भाष्यस्येत्याह—अजुदिदिति ॥ अण्सु अण्मध्ये। तेनात्र स्थाने किमर्थं उपदेश इति तु नार्थं इत्याह—इण्ग्रहणेनेति ॥

एह सय्ँ य्ँयन्तेत्यादिभाष्यं गुणा भेदका इति पक्षे। अभेदकत्वपक्षे चेदमेत्राण्-

भावबोधिनी

य्व्र्ल्=अन्तःस्थों के अण् में उपदेश का प्रयोजन

प्रश्न यह है कि अन्तस्थः=य्व्र्ल् इनका अणों में उपदेश किसलिये किया गया है ? ['अणुदित्सवर्णस्य' के स्थान पर 'अजुदित् सवर्णस्य' ऐसा सूत्र क्यों नहीं बनाया गया ?]

यहाँ—सयन्ता सवत्सरः, यंलोकम्, तंलोकम्—इस अवस्था में ['वा पदान्तस्य' ८।४।५९ से अनुस्वार का परसवर्ण और अनचि च' ८।४।४७ से द्वित्व—ये दोनों कार्य प्राप्त होते हैं परन्तु 'पूर्वत्रासिद्धम्' के अनुसार पर होने से] परसवर्ण असिद्ध हो जाता है और अनुस्वार का ही द्वित्व होता है—संयन्ता आदि। अब बाद वाले अनुस्वार का परसवर्ण 'य्ँ' करने पर संय्ँयन्ता आदि में इस य्ँ का भी यय् के ग्रहण से ग्रहण हो जाने के कारण पूर्ववर्ती अनुस्वार—सं य्ँ यन्ता—का भी परसवर्ण जिस प्रकार से हो सके इसके लिये अण् में अन्तःस्थ गृहीत हैं। ['अणुदित्' के द्वारा तभी सवर्ण का ग्रहण होगा जब य्व्र्ल् अण् में उपदिष्ट किये जांय। अतः अण् में यण् का भी उपदेश होने से सवर्णग्राहकता के आधार पर सानुनासिक भी यय् ही माने जाते हैं, इनके परे रहते पूर्व अनुस्वार का भी परसवर्ण हो जाता है। यह सभी उदाहरणों के लिये अपेक्षित है। तभी सव में द्वित्व के बाद अनुनासिक परे रहते प्रथम अनुस्वार का भी परसवर्ण सम्भव होता है।]

(समाधानबाधकभाष्यम्)

नैतदस्ति प्रयोजनम्। वक्ष्यत्येतत्—द्विर्वचने परसवर्णत्वं सिद्धं वक्तव्यम्" इति। यावता सिद्धत्वमुच्यते परसवर्ण एव तावद्भवति ॥

(समाधानसाधकभाष्यम्)

परसवर्णे तर्हि कृते तस्य यग्रंहणेन ग्रहणाद्द्विर्वचनं यथा स्यात् ॥

(समाधानबाधकभाष्यम्)

माभूद् द्विर्वचनम्।

(समाधानसाधकभाष्यम्)

ननु च भेदो भवति—सति द्विर्वचने त्रियकारकम्, असति द्विर्वचने द्वियकारकम् ॥

प्रदीपः

ननु च भेद इति। श्रुतिकृतोऽस्त्येव भेदः, सूक्ष्मत्वात्तु दुर्लक्ष्यः ॥

उद्द्योतः

ग्रहणं मानमिति भावः। यथास्थितसूत्रन्यासे इदम्। जातिपक्षेणाण्ग्रहणप्रत्याख्याने तु न कश्चिद्विचारः। एवं गुणा अभेदका इति न्याय्यपक्षेऽपि न विचार इति बोध्यम् ॥

भाष्ये वक्ष्यत्येतदिति। सिद्धत्ववचनं चावश्यकम्। अन्यथा परस्यानुस्वारस्य वा पदान्तस्येति परसवर्णे तस्यासिद्धत्वात्पूर्वस्यानुस्वारस्य ययीत्यस्यानापत्तौ रूपासिद्धयापत्तेः ॥

तर्हि द्विर्वचनसिद्धिरेव फलमित्याह—परसवर्णे तर्हीति।

ननु न भेदोऽनुपलब्धेरत आह—श्रुतिकृत इति ॥

भावबोधिनी

नहीं,यह प्रयोजन नहीं है। आगे यह कहा जायगा'—द्विर्वचन में परसवर्णत्व सिद्ध ही रहता है।' चूंकि परसवर्ण का सिद्धत्व ही कहा गया है [अतः द्वित्व के पहले] परसवर्ण ही होता है।

[अब स यँ यन्ता आदि में 'अनचि च' से द्वित्व करने पर स यँ यँ यन्ता आदि रूप बनते हैं। यही लिख रहे हैं—]

तब तो परसवर्ण कर देने पर उस अनुनासिक 'यँ' का यय् के ग्रहण से ग्रहण होने के कारण उसी सानुनासिक यर् का ही द्वित्व होगा, इसके लिये सवर्णग्राहकता की आवश्यकता नहीं है।—['स यँ यँ यन्ता रूप बन जाता है।]

द्वित्व न हो [क्या हानि है द्वित्व के बिना ही प्रयोग होने में क्या दोष है] ?

क्यों जी, [द्वित्व होने और न होने पर] रूप में भेद हो जाता है—द्वित्व करने पर तीन यकारों वाला और द्वित्व न करने पर दो यकारों वाला रुप होता है। [अतः कुछ भेद तो है ही।]

(समाधानबाधकभाष्यम्)

नास्ति भेदः, सत्यपि द्विर्वचने द्वियकारकमेव ॥

कथम् ?

"हलो यमां यमि लोपः" (८।४।६४) इत्येवमेकस्य लोपेन भवितव्यम् ॥

(समाधानसाधकभाष्यम्)

एवमपि भेदः । सति द्विर्वचने कदाचिद्द्वियकारकम्, कदाचित् त्रियकारकम् । असति द्वियकारकमेव ॥

स एष कथं भेदो न स्यात् ?

यदि नित्यो लोपः स्याद् । विभाषा च स लोपः ॥

(समाधानबाधकैकदेशिभाष्यम्)

यथाऽभेदस्तथास्तु ॥

उद्द्योतः

(भाष्ये) यदि नित्यो लोपः स्यादिति । तदा भेदो न स्यादित्यर्थः ॥ विभाषा चेति । चस्त्वर्थे ॥

एकदेश्याह—यथाऽभेद इति । यथा द्विर्वचनप्रवृत्त्यप्रवृत्त्योर्भेदो न भवति तथैवास्तु । मानुवृतद् विभाषाग्रहणमिति भावः ॥

भावबोधिनी

नहीं, कोई भेद नहीं है, द्वित्व होने पर भी दो यकारों वाला ही रूप रहता है ।

कैसे ?

'हलो यमां यमि' (८।४।६४) सूत्र से एक यकार का लोप हो जायगा । [अतः दो यकारों वाला ही रूप रह जायगा, कोई भेद नहीं होगा ।]

ऐसा होने पर भी [द्वित्व के बाद यकार का लोप कर देने पर भी] भेद रहता ही है । क्योंकि द्वित्व करने पर कभी दो यकारों वाला और कभी तीन यकारों वाला रूप होगा । [क्योंकि द्वित्व वैकल्पिक है अतः अभावपक्ष में दो यकारों वाला रूप भी होगा ।] द्वित्व न होने पर तो दो यकारों वाला ही रूप होगा ।

तो फिर यह भेद किस प्रकार से नहीं हो सकता ?

यदि वह लोप नित्य हो जाय । परन्तु वह लोप तो वैकल्पिक है । [इसलिये लोपाभाव पक्ष में तीन यकारों वाला और लोपपक्ष में दो यकारों वाला रूप होने से दोनों में कुछ भेद रहता ही है ।]

तब तो जिस प्रकार से रूपों में अभिन्नता हो, कोई अन्तर न हो वैसा ही हो । [अतः लोपविधायक में विकल्प की अनुवृत्ति नहीं करनी चाहिए ।]

(समाधानसाधकसिद्धान्तिवार्तिकम्)

॥ * ॥ अनुवर्तते विभाषा, शरोऽचि यद्वारयत्ययं द्वित्वम् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

यदयं "शरोऽचि" (८।४।४९) इति द्विर्वचनप्रतिषेधं शास्ति, तज्ज्ञापयत्याचार्योऽनुवर्तते विभाषेति ॥

(जिज्ञासाभाष्यम्)

कथं कृत्वा ज्ञापकम् ?

(तस्यैव हेतुसूचकमुत्तरार्धम्)

॥*॥ नित्ये हि तस्य लोपे प्रतिषेधार्थो न कश्चित् स्यात् ॥ १ ॥*॥

(भाष्यम्)

यदि नित्यो लोपः स्यात्, प्रतिषेधवचनमनर्थकं स्यात् । अस्त्वत्र द्विर्वचनम्,

उद्द्योतः

तृतीयो ज्ञापकमुपन्यस्यति—अनुवर्तत इत्यादिना । झरो झरीति लोपे इत्यर्थः ।

भावबोधिनी

(वा०) [लोपविधायक 'हलो यमां यमि लोपः' ८।४।६४ में 'झयो होऽन्यतरस्याम्' ८।४।६२ सूत्र से] विकल्प की अनुवृत्ति होती है जो कि आचार्य पाणिनि 'शरोऽचि' (८।४।४९) सूत्र से द्वित्व का वारण करते हैं ।

(भा०) चूंकि आचार्य पाणिनि ने 'शरोऽचि' इस सूत्र से द्वित्व का प्रतिषेध किया है [रेफ हकार से परे शर् का द्वित्व नहीं होता है अच् परे रहते । इसलिये 'कर्षति' आदि में एक ही 'ष' रहता है ।] यह निषेध ही इस बात का ज्ञापक है कि 'हलो यमां यमि' इस सूत्र में विभाषा की अनुवृत्ति होती है ।

[यदि लोप नित्य होता तो द्वित्व के बाद भी लोप कर देने से रूप में अन्तर नहीं आता, निषेध करने की कोई आवश्यकता नहीं थी । फिर भी पाणिनि ने द्वित्व का जो निषेध किया, वही यह ज्ञापित करता है कि लोप वैकल्पिक हैं । अतः लोपपक्ष में रूपों में अन्तर देखकर द्वित्व का निषेध करना पड़ा । यही सब आगे लिख रहे हैं—]

यह किस प्रकार से ज्ञापक बनता है—

(वा०) उसका लोप नित्य होने पर प्रतिषेध का कोई फल नहीं रह जायगा ।

(भा०) यदि लोप नित्य होता तो [द्वित्व का] प्रतिषेध-वचन अनर्थक हो जाता । क्योंकि [कर्षति] द्वित्व हो जाय, "झरो झरि सवर्णे (८।४।६५) सूत्र से [द्वित्वविषयीभूत शर् का] लोप हो जायगा । [अतः द्वित्व करने न करने पर रूप में कोई अन्तर नहीं आता है] परन्तु आचार्य पाणिनि यह देखते हैं कि "झरो झरि

"झरो झरि सवर्णे" इति लोपो भविष्यति। पश्यति त्वाचार्यः—विभाषा सलोप इति ततो द्विर्वचनप्रतिषेधं शास्ति॥

(समाधानवाचकभाष्यम्)

नैतदस्ति ज्ञापकम्। नित्येऽपि तस्य लोपे स प्रतिषेधोऽवश्यं वक्तव्यः। यदेतद् "अचो रहाभ्याम्" इति द्विर्वचनम्, लोपापवादः स विज्ञायते॥

कथम्?

यर इत्युच्यते। एतावन्तश्च यरः। यदुत झरो वा यमो वा। यदि चात्र लोपः स्याद्द्विर्वचनमनर्थकं स्यात्॥

किं तर्हि तयोर्योगयोरुदाहरणम्?

उद्द्योतः

अभ्यस्ततया हलो यमामित्यस्यापि वैकल्पिकत्वं सिद्धमिति भावः।

लोपापवाद इति। यद्यपि हर्य्यनुभव इत्यादौ तदुदाहरणे लोपेऽप्राप्तेऽपि द्विर्वचनमारभ्यते तथापि कृते द्वित्वे पश्चाल्लोपेऽपि द्विर्वचनं व्यर्थमित्याशयेनापवादत्वोक्तिरिति भावः॥ तयोर्योगयोः। लोपविधायकयोः॥ प्रत्तमित्यादौ दाधातोः क्ते आतस्तकारोऽच उपसर्गादित्यनेन। आदित्ये आदित्याद्भवाद्यर्थण्यान्ताण्ण्यः॥

भावबोधिनी

सवर्णे" सूत्र से होने वाला लोप वैकल्पिक है इसलिए द्विर्वचन का प्रतिषेध करते हैं। [अन्यथा द्वित्व होने और लोप न होने पर रूप दूसरा होगा और द्वित्व होने तथा लोप भी होने पर दूसरा। रूपभेद न हो—इसीलिए द्वित्व का निषेध किया गया।]

यह [द्वित्वनिषेध] ज्ञापक नहीं है। क्योंकि उसका लोप नित्य होने पर भी वह प्रतिषेध तो अवश्य कहना होगा। कारण यह है "अचो रहाभ्याम्" (८।४।४६) यह द्वित्वविधायक शास्त्र जो है वह लोपविधायक शास्त्र का अपवाद है—ऐसा समझा जायगा। [अन्यथा यदि सर्वत्र लोप ही होता रहेगा तो द्वित्व करने का कोई फल नहीं होगा। अतः व्यर्थ होकर द्वित्व लोप का अपवाद बन जाता है।]

कैसे [ज्ञापक बनता है] ?

["अचो रहाभ्याम्" से द्वित्व] यर् का कहा जाता है। और जो भी ये यर् प्रत्याहार के वर्ण हैं, वे या तो झर् में आते हैं या यम् में। [अतः कहीं 'झरो झरि सवर्णे' और कहीं 'हलो यमां यमि' से] लोप नित्य ही होता रहेगा तब द्वित्वविधान व्यर्थ होने लगेगा। [अतः जब हर स्थिति में लोप होना अनिवार्य है तब द्वित्व करने का लाभ ही क्या है। अतः द्वित्वविधान व्यर्थ होकर लोप का अपवाद बन जाता है, यह बात ज्ञापित होती है।]

[यदि द्वित्व अपवाद है] तो दोनों 'झरो झरि सवर्णे' (८।४।६४) और 'हलो यमां यमि' (८।४।६५) सूत्रों के कौन से उदाहरण होंगे ?

यदकृते द्विर्वचने त्रिव्यञ्जनः संयोगः—प्रत्तम्, अवत्तम्, आदित्यः ॥

इहेदानीं कर्त्ता हर्त्तेति द्विर्वचनसामर्थ्याल्लोपो न भवति । एवमिहापि लोपो न स्यात् कर्षति वर्षतीति । तस्मान्नित्येऽपि लोपेऽवश्यं स प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥

(उपसंहारभाष्यम्)

तदेतदत्यन्तं संदिग्धं वर्त्तते आचार्याणां—विभाषानुवर्त्तते नवेति ॥५॥

प्रदीपः

तदेतदिति । ज्ञापकत्वमस्य विघटयति ॥ आचार्योपदेशपारम्पर्यात्तु ज्ञायते—अनुवर्त्तते विभाषेति । तस्मात्त्रिव्यञ्जनसंयोगश्रवणायाणणुदिदिति णकारेण प्रत्याहारः कृतो न चकारेणेति स्थितम् ॥ ५ ॥

उद्द्योतः

तद्व्याचष्टे—ज्ञापकत्वमस्य विघटयतीति । सर्वथाऽसम्भवीत्युपसंहरतीत्यर्थः ॥ ज्ञापकेन तदनुवृत्ति साधयतस्तत्खण्डनेऽनुवृत्तिः सन्दिग्धैवेति भावः ॥ लण्सूत्रे विभाषा सलोप इत्युक्तेराह—आचार्येति । अण्ग्रहणाज् ज्ञापकादित्यपि कश्चित् । तत्तु वार्त्तिककृताण्ग्रहणप्रत्याख्यानान्नोक्तम् ॥ ५ ॥ (इत्यन्तःस्थोपदेशाधिकरणम् ।)

भावबोधिनी

जिनमें द्वित्व किये बिना ही (पहले ही) तीन व्यञ्जनों का संयोग रहता है—प्रत्तम्, अवत्तम्, आदित्यः । [ये लोपविधायक सूत्रों के उदाहरण हैं । क्योंकि प्र दा + क्त=त में 'अच उपसर्गात्तः' सूत्र से 'दा' का दत् करने पर प्र द् त् त में एक झर्=त् का लोप होता है । आदित्य से ण्य=य करने पर आदित्य+य में भसंज्ञा अलोप के बाद 'आदित्य्‌य में यम्=य् का लोप होता है । ऐसे स्थल लोप शास्त्रों के उदाहरण होंगे ।]

यहाँ अब कर्त्ता, हर्त्ता आदि में "अचो रहाभ्याम्' से विहित द्वित्व व्यर्थ न हो इस लिए लोप नहीं होता है । ठीक इसी प्रकार 'कर्षति' वर्षति' आदि में भी [द्वित्व सामर्थ्य से] लोप नहीं होगा । अतः लोप के नित्य होने पर भी वह द्वित्व का प्रतिषेध ['शरोऽचि' सूत्र] कहना ही होगा । [क्योंकि उपर्युक्त रीति से द्वित्व लोप का अपवाद होने से प्राप्त ही होगा । अतः उसका प्रतिषेध करना आवश्यक होने से 'शरोऽचि' सूत्र चरितार्थ है, व्यर्थ नहीं है, ज्ञापक नहीं माना जा सकता]

इस स्थिति में यह अत्यन्त सन्दिग्ध ही है कि आचार्यों के मत में 'लोपविधायक शास्त्र में ('झरो झरि सवर्णे' और 'हलो यमां यमि' सूत्रों में 'झयो होऽन्यतरस्याम्' सूत्र से] अन्यतरस्याम्=विकल्प की अनुवृत्ति होती है अथवा नहीं ।'

[समस्त विवेचन का निष्कर्ष यही है कि तीन व्यञ्जनों का श्रवण हो सके—इसी के लिये 'अणुदित्' सूत्र में अण् प्रत्याहार लिया गया, अच् नहीं । इसीलिये अण में यण्=य्व्र्ल् का उपदेश किया गया ॥ ५ ॥

(शिवसूत्रम्)

लण् ॥ ६ ॥

(व्याख्यानत इति परिभाषाधिकरणम्, आक्षेपभाष्यम्)

अयं णकारो द्विरनुबध्यते पूर्वश्चैव परश्च। तत्राण्ग्रहणेष्विण्ग्रहणेषु च संदेहो भवति—पूर्वेण वा स्युः, परेण वेति ॥

(प्रत्याक्षेपभाष्यम्)

कतमस्मिंस्तावदण्ग्रहणे संदेहः ?

(प्रत्याक्षेपसमाधानभाष्यम्)

"ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" (६।३।१११) इति ॥

(८२ सिद्धान्तिसमाधानवार्तिकम् ॥ १ ॥)

[॥ * ॥ असंदिग्धम् ॥ * ॥]

(भाष्यम्)

असंदिग्धम्—पूर्वेण, न परेण ॥

प्रदीपः

लण् ॥ ६ ॥ सन्देहो भवतीति। किं प्रत्यासत्तिराश्रीयतेऽथ व्याप्तिरिति सन्देहः ॥

उद्द्योतः

लण् ॥ ६ ॥ किमिति । क्व प्रत्यासत्तिः, क्व व्याप्तिरिति सन्देह इत्यर्थः ॥

भाष्ये कतमस्मिन्निति । वक्ष्यमाणरीत्या सर्वत्र निर्णायकसत्त्वात् प्रश्नः ॥ कतस्मिन्निति पाठेपि डतरादिविधौ उपाधिप्रत्याख्यानान्न दोष इति बोध्यम् ॥

भावबोधिनी

लण् ॥ ६ ॥

यह णकार पूर्व सूत्र (अइउण्) और पर सूत्र (लण्)—इन दो में अनुबन्धरूप से जोड़ा गया है। इसलिये जिनमें अण् ग्रहण है और इण् ग्रहण है उनमें सन्देह होता है—पूर्ववर्ती ण् से अथवा परवर्ती 'ण्' से ? [अण्, इण् को अइउण् (१) तक ही माना जाय या 'लण्' (६) तक—यह सन्देह होना स्वाभाविक है।]

अण् प्रत्याहार कहाँ पूर्व ण् से और कहाँ पर ण् से

किस अण् ग्रहणवाले सूत्र में सन्देह होता है [कि पूर्व ण् से लिया जाय या पर ण् से] ?

'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (६।३।१११) इस सूत्र में ?

(वा०) असन्दिग्ध है।

(हेत्वाक्षेपभाष्यम्)

कुत एतत् ?

(८३ सिद्धान्त्येकदेशिहेतुवार्तिकम् ॥ २ ॥)

॥ * ॥ पराभावात् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

नहि ढ्रलोपे परेऽणः सन्ति ॥

(हेतुनिरासभाष्यम्)

ननु चायमस्ति—आतृढ आवृढ इति ॥

(सिद्धान्तिसमाधानभाष्यम्)

एवं तर्हि सामर्थ्यात्पूर्वेण, न परेण । यदि हि परेण स्यादण्ग्रहणमनर्थकं स्याद् "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽचः—"इत्येव ब्रूयात् ॥

उद्द्योतः

नहि ढ्रलोप इति । वर्ढेत्यादौ गुणोऽसिद्ध इति भावः ।

भावबोधिनी

(भा०) असदिग्ध = निःसन्देह यहाँ पूर्व ण् से ही अण् लिया जाता है पर ण् से नहीं ।

ऐसा कैसे [ज्ञात होता है] ?

(वा०) परवर्ती अण् न होने से ।

(भा०) ढ् और र् का लोप होने पर परवर्ती णकार को मानकर होने वाले अण् (प्रत्याहार के वर्ण) हैं ही नहीं । [चूंकि जहाँ भी ढ् र् निमित्तिक ढ् र् का लोप होता है वहाँ 'अइउण्' = अण् के बोध्य ही वर्ण पूर्व में रहते हैं, ऋ लृ आदि नहीं रहते हैं । अतः पूर्व ण् से ही यहाँ अण् समझना चाहिए ।]

क्यों जी, यह तो [परवर्त्ती ण् से अण् वाला उदाहरण] है—आतृढः, आवृढः । [आतृढ्+ढ, आवृढ्+ढ ये तृह्, और वृह्, धातुओं के क्त प्रत्यय के रूप हैं । इनमें "ढो ढे लोपः" से प्रथम ढ् का लोप हो जाने पर आतृ+ढः, आवृ+ढः में ऋ का दीर्घ हो सकता है । इसके लिए 'ढ्रलोपे' सूत्र में परवर्ती ण् से अण् मानना चाहिए ।]

यदि ऐसा है तब तो सामर्थ्यवश पूर्ववर्त्ती ण् से ही अण् लिया जाता है परवर्ती ण् से नहीं । कारण यह है कि यदि परवर्त्ती ण् से अण् लेना इष्ट होता तो 'अण्' ग्रहण व्यर्थ हो जाता 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽचः।' [ढ् रेफ के लोप में पूर्ववर्त्ती अच् का दीर्घ होता है], यही कहना चाहिए था । [क्योंकि 'हयवरट्, लण्' में दीर्घ होने वाला कोई

अथ वैतदपि न ब्रूयाद् । अचो ह्येतद्भवति—ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

अस्मिंस्तर्ह्यण्ग्रहणे संदेहः—"केऽणः" (७।४।१३) इति ॥

(समाधानभाष्यम्)

असंदिग्धं पूर्वेण, न परेण ॥

कुत एतत् ?

पराभावात् ॥

नहि के परेऽणः सन्तिः ॥

(हेतुनिरासभाष्यम्)

ननु चायमस्ति—गोका, नौकेति ॥

प्रदीपः

नहि के पर इति । नन्वल्पोपानदुपानत्केति ह्रस्वे कर्तव्ये 'नहो: धः' इत्यस्यासिद्ध-

उद्द्योतः

दीर्घोऽच इत्येवेति । मात्रालाघवाभावेपि संग्राह्यलाघवायासन्देहाय चेति भावः ॥
[भाष्ये अचो हीति । अचश्चेति परिभाषणादिति भावः ॥]

भावबोधिनी

वर्ण है ही नहीं । अतः 'अचः' ही कहना उचित था ।]

अथवा 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽचः ऐसा कहने की आवश्यकता नहीं है, अर्थात् 'अचः' इसे भी कहना आवश्यक नहीं है, केवल 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घः' इतना ही सूत्र बनाना चाहिए था। कारण यह है कि ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत ये तो अच् के ही होते हैं। [अन्य किसी के होते ही नहीं हैं। अतः कोई व्यावर्त्य न होने के कारण 'अचः' कहने की भी आवश्यकता नहीं है। इसलिए स्पष्ट है कि 'अण्' ग्रहण के कारण पूर्ववर्ती ण् से ही लेना है और 'अ, इ, उ का ही दीर्घ करना इष्ट है।]

तब 'केऽणः' (७।४।१३) इस सूत्र में [अण् के ण् में] सन्देह है। [यहाँ पूर्व ण् से लिया जाय या पर ण् से ?]

असन्दिग्ध (निःसन्देह) पूर्व ण् से ही है परवर्त्ती ण् से नहीं।

ऐसा कैसे है ?

चूंकि 'क' परे रहते इससे पूर्व में परवर्त्ती ण् से गृहीत अण् के बोध्य कोई वर्ण रहते ही नहीं हैं। [अतः अभाव के कारण पर अण् का ग्रहण नहीं होता है।]

क्यों जी, गोका, नौका—यह तो पर अण् है। [गो और नौ शब्दों से स्वार्थिक 'क' प्रत्यय कर देने पर 'ओ' 'औ' पूर्व में हैं और यह पर अण् से बोध्य हैं। अतः इनका ह्रस्व करने के लिए परवर्त्ती ण् से अण् समझना चाहिए।]

(सिद्धान्तिभाष्यम्)

एवं तर्हि सामर्थ्यात्पूर्वेण, न परेण। यदि हि परेण स्यादण्ग्रहणमनर्थकं स्यात्। "केऽचः" इत्येव ब्रूयात्।

अथवैतदपि न ब्रूयात्। अचो ह्येतद्भवति—ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति॥

(आक्षेपभाष्यम्)

अस्मिंस्तर्ह्यण्ग्रहणे सन्देहः—"अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः" (८।४।५७) इति॥

(समाधानभाष्यम्)

असंदिग्धं पूर्वेण, न परेण॥

कुत एतत्?

प्रदीपः

त्वादस्ति के परतो हकारः, तथा गीष्केत्यादौ रेफः॥ अत्राहुः। न मु न इत्यत्र नेति योगविभागेन धत्वादीनामसिद्धत्वाभावात्तेषु च कृतेषु हकारादीनामभावः॥

उद्द्योतः

तथा गीष्केति। विसर्गस्यासिद्धत्वादिति भावः॥ तेषु च कृतेष्विति। परत्वादिति भावः। योगविभागस्य भाष्यानारूढत्वाद् गीष्केत्यादिभाष्यात्के परे इति भाष्याच्च तेषामनभिधानं वक्तुं युक्तम्॥

भावबोधिनी

यदि ऐसा है तो सामर्थ्यवश पूर्व ण् से ही अण् लिया जाता हैं पर ण् से नहीं। क्योंकि यदि परवर्त्ती ण् से अण् लेना इष्ट होता तो 'अण्ग्रहण' अनर्थक हो जाता। 'केऽचः' यही सूत्र कहना चाहिए था। [क्योंकि हयवरल को दीर्घ न होने से 'अच्' का ही प्राप्त होता और उसी का होता भी है अतः उसी को कहना चाहिए था।]

अथवा अचः' इसे भी कहने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि अचों के ही ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत होते हैं। [अतः 'के' इतना ही सूत्र करना चाहिए था। तब 'केऽणः' यह अण्ग्रहण करना इस बात का द्योतक है कि पूर्ववर्त्ती ण् से ही अण् लेना चाहिए।]

तब फिर 'अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः' (८।४।५७) इसके अण् में सन्देह होता है [पूर्व ण् से लिया जाय अथवा पर ण् से 'अण्' माना जाय] ?

असन्दिग्ध (निःसन्देह) पूर्ववर्त्ती ण् से ही अण् है, परवर्त्ती ण् से नहीं।

ऐसा कैसे [ज्ञात होता] है?

पर अण् नहीं होने से। क्योंकि पद के अन्त में कहीं भी परवर्त्ती ण् से अण् होते ही नहीं हैं। [अतः अभाव के कारण बाद वाले अण् को न लेकर पूर्व ण् से बोध्य अण् ही लिये जाते हैं। 'अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः' ८।४।५७ अवसान = पद

पराभावात् । न हि पदान्ताः परेऽणः सन्ति ॥

प्रदीपः

नहि पदान्ता इति ॥ ननु च भोभगोइत्यत्राशग्रहणस्य प्रयोजनं वक्ष्यते वृक्षव् करोतीत्यत्र हलि सर्वेषामिति लोपो मा भूद् इति । [तत्र वृक्षं वृश्चतीति क्विपि कृते वृक्षवृश्चमाचष्टे इति णिचि टिलोपे च कृते वृक्षवयतेर्विचि कृते वृक्षव् इति भवति । क्विपि तु क्वौ लुप्तं क्वौ विधिं प्रति च न स्थानिवदिति निषेधात्सम्प्रसारणप्रसङ्गो लोपो व्योर्वलीति वलोपप्रसङ्गश्च । विचि तु स्थानिवद्भावाद्वल्निमित्तो लोपो न भवति । हलि सर्वेषामित्यनेन तु लोपे क्रियमाणे पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवदिति स्थानिवत्त्वनिषेधाद्वलोपः प्राप्तोऽशग्रहणानुवृत्त्या निवर्त्यते ॥] तत्कथमुच्यते—न हि पदान्ता इति ? ॥ उच्यते—अप्रगृह्यस्येति पर्युदासेनाच एवानुनासिकेन भाव्यं न तु हल इत्युक्तं—न हि पदान्ता इति । कार्यभाज इत्यर्थः ॥

उद्द्योतः

नहि पदान्ता इति । पदानामेवानुनासिकोऽवसाने जायत इत्याश्रित्येदमुक्तम् । न तु तत्र पदान्ताधिकारोऽस्ति ॥ लोप इति । अशा हलो विशेषणादिति भावः ॥

[निषेधात्सम्प्रसारणप्रसङ्ग इति । चिन्त्यमिदम् । णौ परतस्तत्प्रकृतिभूतप्राति-पदिकस्य टिलोपविधानेन वृश्चतेः स्थानित्वे मानाभावेन वकारे एकदेशविकृतन्यायेन वृश्चतित्वस्य दुर्लभत्वात् । अर्धाधिकविकारेण प्रत्यभिज्ञाभावाच्च । अत एव राजकीय-मित्यादौ अल्लोपो न । व्रश्च एव टिलोपस्थानित्वे तु प्रकृतिभावापत्तिः । एतेन विचि एकदेशविकृतन्यायेन वृश्चतित्वात्षत्वापत्तिः । न च णिलोपस्य स्थानिवत्त्वान्न षत्वम् । पूर्वत्रासिद्धीये तन्निषेधादिति परास्तम् ॥ न च व्रश्चेति सूत्रे पदाधिकारेण व्रश्चान्त-त्वमेकदेशविकृतन्यायेन सुलभमिति वाच्यम् । स्कोरिति सूत्रादन्ते ग्रहणमनुवर्त्य वैयधि-करण्येनैवान्वयाश्रयणेनादोषात् । अत एवान्तेग्रहणं चरितार्थम् । अर्धाधिकविकाराच्च । एवं च वृक्षभृज्जो णिजन्तात्क्विपि वृक्षम् इत्यादौ षत्वं नेत्याहुः । वलोपप्रसङ्ग-श्चेति । इदमुपलक्षणं क्वौ विधौ स्थानिवत्त्वनिषेधादूठ्प्रसङ्गश्चेत्यपि बोध्यम् ॥] पर्युदासेनेति । क्रियमाणेऽप्यण्ग्रहणे इत्यर्थः ॥ भाष्येपि न सत्त्वं निषिध्यते किं तु कार्यित्वमेवेत्याह—कार्यभाज इति । एवं चानुनासिकप्राप्तियोग्याः पदान्ता न सन्ती-त्यर्थः ॥ वस्तुतोस्या अग्रे सिद्धान्त्युक्तित्वेन तदज्ञानेनैव पूर्वपक्षस्यौचित्येनैवं भाष्य-व्याख्यानमनुचितं, पूर्वपक्षस्य सन्देहस्य चानुत्थानात् ॥ तस्मादष्टमाध्यायस्थं भाष्यमेक-देश्युक्तिरित्येवोचितम् । व्याख्यातं च तत्रोपाध्यायैरित्थमेव ॥

भावबोधिनी

के अन्त में वर्तमान अप्रगृह्य अण् का विकल्प से अनुनासिक होता है । चूंकि कहीं भी अ, इ, उ को छोड़ कर दूसरे अण् वाले वर्ण पद के अन्त में मिलते ही नहीं है । अतः यहाँ भी पूर्व ण् से ही अण् माना जाता है ।]

(हेतुनिरासभाष्यम्)

ननु चायमस्ति—कर्तृँ हर्तृँ इति ॥

(सिद्धान्तिभाष्यम्)

एवं तर्हि सामर्थ्यात्पूर्वेण, न परेण । यदि हि परेण स्याद्, अण्ग्रहणमनर्थकं स्याद् "अचोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः" इत्येव ब्रूयात् ।

अथवैतदपि न ब्रूयात्, अच एव हि प्रगृह्या भवन्ति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

अस्मिस्तर्ह्यण्ग्रहणे संदेहः—"उरण्परः" (१।१।५१) इति ॥

(समाधानभाष्यम्)

असंदिग्धं पूर्वेण, न परेण ॥

प्रदीपः

अचोऽप्रगृह्यस्येति । हलो हि न भाव्यमित्यत्राण्ग्रहणसामर्थ्यात्पूर्वेणेति स्थितम् ॥

उद्द्योतः

भाष्ये कर्तृँहर्त्रिति एचामप्युपलक्षणम् । अत एवाचोऽप्रगृह्यस्येत्युक्तम् । अन्यथाऽकोऽप्रगृह्यस्येति वदेत् ॥

भावबोधिनी

क्यों जी, यह तो है—कर्तृँ, हर्तृँ । [यहाँ ऋकार पद के अन्त में है । यह अइउण् के बाहर है । अतः यहाँ अनुनासिक करने के लिये बाद वाला ण् ही समझना चाहिए ।]

यदि ऐसा है तब तो सामर्थ्यवश पूर्व ण् से ही लिया जाता है परवर्त्ती ण् से नहीं । क्योंकि यदि परवर्त्ती ण् से अण् लिया जाता होता तो अण् ग्रहण अनर्थक हो जाता, 'अचोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः' ऐसा ही सूत्र बनाया जाता, 'अणः' के स्थान पर 'अचः' बोला जाता ।

अथवा 'अचोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः' ऐसा [अणः के स्थान पर अचः का प्रयोग] भी नहीं करना था, क्योंकि अच् ही प्रगृह्य होते हैं । [अच् से भिन्न कोई प्रगृह्य होता ही नहीं है । अतः व्यावर्त्य न होने से 'अचः' यह भी कहने की आवश्यकता नहीं थी । 'अप्रगृह्यस्यानुनासिकः' यही सूत्राकार होना चाहिए था । ऐसा न करके जो 'अणः' इसका ग्रहण किया वह सिद्ध करता है कि यहाँ भी अण् को पूर्ववर्त्ती 'ण्' से ही लेना चाहिए परवर्त्ती ण् से नहीं ।]

तब फिर इसमें सन्देह होता है—'उरण् रपरः' । (१।१।५१) इसमें अण् पूर्व से है अथवा पर से ?

निःसन्देह पूर्ववर्त्ती ण् से ही है परवर्त्ती से नहीं ।

कुत एतत् ?

पराभावात् ।

न ह्यृः स्थाने परेऽणः सन्ति ॥

(हेतुनिरासभाष्यम्)

ननु चायमस्ति—कर्त्रर्थं हर्त्रर्थमिति ।

(आपत्तिप्रश्नभाष्यम्)

किं च स्याद् यद्यत्र रपरत्वं स्याद् ?

(आपत्तिदर्शनभाष्यम्)

द्वयोः रेफयोः श्रवणं प्रसज्येत ॥

(आपत्तिबाधकभाष्यम्)

"हलो यमां यमि लोपः" (८।४।६४) इत्येवमेकस्यात्र लोपो भविष्यतीति ॥

(आपत्तिसाधकभाष्यम्)

विभाषा स लोपः, विभाषा श्रवणं प्रसज्येत ॥

(आपत्तिबाधकभाष्यम्)

अयं तर्हि नित्यो लोपः "रो रि" (८।३।१४) इति ॥

पदान्तस्येत्येवं सः ॥

उद्द्योतः

भाष्ये रोरीति । त्रिपाद्यां बहिरङ्गासिद्धत्वाभावादिति भावः ॥

भावबोधिनी

ऐसा कैसे [ज्ञात होता] है ?

पर अण् न होने से ।

चूंकि ॠकार के स्थान पर परवर्ती ण् वाले अण् होते ही नहीं है । [अतः उनका सन्देह करना व्यर्थ है ।]

क्यों जी, यह तो है—कर्त्रर्थम्, हर्त्रर्थम् । [कर्तृ+अर्थम्, हर्तृ+अर्थम् में ॠ के स्थान पर यण् र् होता है । यह 'र्' अण् बन सकता है यदि बाद वाले ण् से अण् माना जाय । इसीलिये यह लिखा गया है ।]

अच्छा, यदि यहाँ [कर्त्रर्थम् हर्त्रर्थम् में] रपरत्व हो जाय तो क्या [अनर्थ] हो जायगा ?

दो रेफ सुनाई देने लगेंगे ।

"हलो यमां यमि लोपः' (८।४।६४) इस सूत्र से एक रेफ का लोप हो जायगा । [अतः एक ही रेफ सुनाई देगा, कोई अनुपपत्ति नहीं है ।]

वह लोप तो वैकल्पिक है । अतः विकल्प से रेफ सुनाई देने लगेगा । [जब लोप नहीं होगा, तब दो रेफ सुनाई देने लगेंगे ।]

अच्छा तो 'रो रि' (८।३।१४) यह तो नित्य लोप है । [इसी से एक रेफ का लोप हो जाने पर सदैव एक ही रेफ सुनाई देगा । कोई हानि नहीं है ।]

(आपत्तिबाधकभाष्यम्)

न शक्यः स पदान्तस्यैत्येव विज्ञातुम् । इह हि लोपो न स्यात्,—जर्गृधेर्लङ् अजर्घाः, पास्पर्द्धेः अपास्पा इति ॥

(आपत्तिसाधकभाष्यम्)

इह तर्हि—मातॄणां पितॄणामिति रपरत्वं प्रसज्येत ॥

प्रदीपः

अजर्घा इति । गृधेर्यङ्लुकि रुगागमेऽभ्यासस्य कृते लङि सिपि शब्लुकि गुणरपरत्वसिब्लोपघष्भावजश्त्वरुत्वरलोपदीर्घत्वेषु रूपम् ॥

उद्द्योतः

भष्भावः । एकाचो बशो भषित्यनेन । तत्र ह्येकाच इति झषन्तस्येति च धातोरिपेक्षया व्यधिकरणषष्ठीति भावः ॥ रुत्वम् । दश्चेत्यनेन ॥

भावबोधिनी

यह लोप तो पदान्त का होता है । [यहाँ पदान्त रेफ नहीं है । लोप नहीं हो सकेगा ।]

नहीं, वह लोप पदान्त रेफ का होता है—ऐसा नहीं कहा जा सकता । कारण यह है कि यहाँ लोप नहीं हो पायेगा—जर्गृध् से लङ् में—[1]अजर्घाः और पास्पर्ध् से लङ् में अपास्पाः[2] ।

[पदान्त का सम्बन्ध नहीं करते हैं] तो 'मातॄणाम्', पितॄणाम्' यहाँ रपरत्व का प्रसङ्ग आयगा । [क्योंकि यहाँ ऋ का दीर्घ आदेश होता है ।]

---

१. 'गृधु अभिकाङ्क्षायाम्' धातु से क्रियासमभिहार अर्थ में यङ् प्रत्यय और 'यङोऽचि च' (२।४।७४) से इसका लुक् करके प्रत्ययलक्षण से द्वित्व, अभ्यास-कार्य करने के बाद जगृध्, रुक् = र् आगम, लङ् में अट्, सिप्—अजर्गृध्+सि, सिलोप 'एकाचो बशो भष्' (८।२।३७) से भष्भाव ग का घ, उपधागुण, रपर चर्त्वं ध् का त्—अजर्घत् 'दश्च' (८।२।७३) से रुत्व अज र्घर् र् (द्=त् का रु) । 'रो रि' (८।३।१४) लोप के बाद 'अजर्घ र्' में लुप्त रेफ से पूर्व अण् अ का दीर्घ, रेफ का विसर्ग—अजर्घाः ।

२. इसी प्रकार स्पृध् से भी यङ् और उसका लुक् करने के बाद प्रत्ययलक्षण से सारी प्रक्रिया करनी चाहिए । लङ् मध्यमपुरुष एकवचन—अपस्पर्ध्—सि, उपधा-दीर्घ, सि का हल्ङ्यादि लोप—अपास्पर्ध् जश्त्व करने पर द् का रु—अपास्पर् र्—में रेफलोप के बाद 'ढ्रलोपे' सूत्र से अण् का दीर्घ, र् का विसर्ग—अपास्पाः । विशेष ज्ञान के लिये सिद्धान्तकौमुदी की यङ्लुक-प्रक्रिया देखनी चाहिए ।

(आपत्तिसाधकभाष्यम्)

आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—नात्र रपरत्वं भवतीति । यदयम् "ऋत इद्धातोः" (७।१।१००) इति धातुग्रहणं करोति ॥

कथं कृत्वा ज्ञापकम् ?

धातुग्रहणस्यैतत्प्रयोजनम्—इह मा भूत्-मातॄणां पितॄणामिति । यदि चात्र रपरत्वं स्याद्धातुग्रहणमनर्थकं स्याद् । रपरत्वे कृतेऽनन्त्यत्वादित्त्वं न भविष्यति । पश्यति त्वाचार्यो—नात्र रपरत्वं भवतीति । ततो धातुग्रहणं करोति ॥

(आपत्तिसाधकभाष्यम्)

इहापि तर्हि न प्राप्नोति—चिकीर्षति, जिहीर्षतीति ॥

प्रदीपः

इहापि तर्हीति । धातुग्रहणेन हि लिङ्गेनाधातोरेव रपरत्वं निवर्तितम् । धातोस्तु रपरत्वे सत्यनन्त्यत्वान्न प्राप्नोतीति प्रश्नः ॥

उद्द्योतः

भाष्ये इहापि तर्हि इत्यस्य—ऋत इत्वमिति शेषः । ननु धातुग्रहणेन ऋकारस्य

भावबोधिनी

आचार्य पाणिनि की प्रवृत्ति बतलाती है कि जहाँ ऋ का दीर्घ होता है वहाँ रपरत्व नही होता है जो कि पाणिनि 'ऋत इद्धातोः (७।१।१००) सूत्र में धातु का ग्रहण करते हैं ।

यह धातुग्रहण कैसे ज्ञापक बनता है ?

उक्त सूत्र में धातुग्रहण का यह प्रयोजन है—इन मातॄणाम्, पितॄणाम् में ऋ का इत्व आदेश न हो । [क्योंकि यह धातु के रूप नहीं हैं ।] यदि 'मातॄणाम्', 'पितॄणाम्' में [ऋ का दीर्घ ॠ कर देने पर अण् मानकर] रपरत्व हो जाय तो 'धातु' का ग्रहण व्यर्थ हो जायगा । कारण यह है कि रपर कर देने पर ऋ अन्त में न रहकर 'र्' अन्त में हो जाता है, इसलिये [मातॄणाम् पितॄणाम् में] इत्व होगा ही नहीं । [मातर्णाम् यहाँ अंगसंज्ञक जो शब्द रूप होगा उसके अन्त्य में ऋ नहीं है रेफ है । अतः अनन्त्य ऋ का इत्व प्राप्त ही नहीं है । तब 'धातोः' के ग्रहण का कोई फल नहीं है । अतः वही व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि 'मातॄणाम्' आदि में दीर्घ करने पर रपरत्व नहीं होता है । यही लिख रहे हैं] आचार्य पाणिनि यह देखते हैं कि 'मातॄणाम्', 'पितॄणाम्' में रपरत्व नहीं होता है । इस कारण से उक्त सूत्र में 'धातोः का ग्रहण करते हैं । [दीर्घ ऋकारान्त अङ्ग रहता है । इत्व की प्राप्ति होती है । उसका वारण करने के लिये 'धातोः' का ग्रहण है—ऋकारान्त धातु का ही इत्व होता है । इसलिए मातॄणाम् आदि में रपरत्व नहीं होता है ।]

(आपत्तिबाधकभाष्यम्)

मा भूदेवम् । "उपधायाश्च" (७।१।१०७) इत्येवं भविष्यति ॥

(आपत्तिसाधकभाष्यम्)

इहापि तर्हि प्राप्नोति—मातॄणां पितॄणामिति ॥ तस्मात्तत्र धातुग्रहणं कर्त्तव्यम् ॥

(सिद्धान्तिसमाधानभाष्यम्)

एवं तर्हि—सामर्थ्यात्पूर्वेण, न परेण । यदि परेण स्याद्, अण्ग्रहणमनर्थकं स्याद् "उरऋपरः" इत्येव ब्रूयात् ॥

प्रदीपः

इहापीति ॥ तस्माद्धातुग्रहणस्य सप्रयोजनत्वान्न ज्ञापकत्वमित्यर्थः ॥

उद्द्योतः

दीर्घो न रपर इति ज्ञापनादजुझ्नेति दीर्घस्याप्यरपरत्वात् कथमत्रेत्वाप्राप्तिरत आह—धातुग्रहणेनेति ।

भाष्ये—तस्मात्तत्रेति । न च इह किंचित्त्रपो इतीत्ति न्यायेन ज्ञापकत्वमप्यस्त्विति वाच्यम् । गॄइत्यादेरनुकरणे प्रकृतिवदनुकरणमित्यस्याभावे ग्रोयङीत्यादाविस्त्वाभावार्थमिहापि तदावश्यकत्वात् । गत्यन्तराभावे एव तन्न्यायेन ज्ञापकत्वाश्रयणाच्च । तदाह—तस्मादिति । एवं च रपरत्वेऽपि मातॄणामित्यादौ उपधायाश्चेतीत्ववारणेन धातुग्रहणस्य चारितार्थ्येन रपरत्वनिवृत्तौ न ज्ञापकतेत्यर्थः ॥

भावबोधिनी

यदि ऐसा है तो यहाँ भी नहीं प्राप्त होता है—चिकीर्षति, जिहीर्षति । [कारण यह है कि कृ+स इस अवस्था में 'अज्झनगमां सनि' सूत्र से ऋ का दीर्घ करने पर रपर होने पर कॄर्+स ऐसा होगा, अब यहाँ भी ऋकारान्त धातु न होने से 'ऋत इद्धातोः' (७।१।१००) की प्राप्ति ही नहीं हो सकती ।]

ऐसा न हो [अर्थात् 'ऋत इद्धातोः' सूत्र से इत्व न हो, क्या हानि है ?] "उपधायाश्च" (७।१।१०७) इस सूत्र से ही इत्व हो जायगा ।

[यदि 'चिकीर्षति' में 'उपधायाश्च' से इत्व हो सकता है तो फिर] यहाँ 'मातॄणाम् पितॄणाम्' में भी इत्व प्राप्त होता है । इस कारण ['ऋत इद्धातोः'] सूत्र में धातु का ग्रहण करना चाहिए । [यदि धातु का ग्रहण नहीं होगा तो मातॄणाम् आदि में दीर्घ और रपर के बाद भी इत्व आदेश की अतिप्रसक्ति होती है । इसे रोकने के लिये 'धातोः' का ग्रहण आवश्यक है । अतः चरितार्थ होने से ज्ञापक नहीं बन सकता। अतः मातॄणाम् आदि में रपरत्व रोकना संभव नहीं है ।]

यदि ऐसा है, तब तो सामर्थ्यवश ही पूर्व 'ण्' से अण् लिया जाता है पर 'ण्' से नहीं । यदि परवर्त्ती ण् से अण् यहाँ लिया जाता तब तो अण् ग्रहण अनर्थक हो जाता—'उरऋपरः' ऐसा कह दिया जाता । [चूंकि ऋ के स्थान पर होने वाला

(आक्षेपभाष्यम्)

अस्मिंस्तर्ह्यण्ग्रहणे संदेहः—"अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः"(१।१।२९)इति ॥

(समाधानभाष्यम्)

असंदिग्धं परेण, न पूर्वेण ॥

(हेत्वाक्षेपभाष्यम्)

कुत एतत् ?

(८४ सिद्धान्तवार्तिकम् ॥ ३ ॥)

॥ * ॥ सवर्णेऽण् तपरं ह्युऋ॑त् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

यदयम्—"उऋ॑द्" इत्यृकारे तपरकरणं करोति, तज्ज्ञापयत्याचार्यः—परेण, न पूर्वेणेति ॥

प्रदीपः

सवर्णे इति । अचीकृतदिति ऋकारस्य ऋकार एव यथा स्यात् ॠकारो मा भूदि-

उद्द्योतः

भाष्ये सामर्थ्यात्पूर्वेणेति । न च गम्लेत्यादौ यणादेशे लपरत्वार्थमेव परेणाण्ग्रहणं स्यादिति सामर्थ्यं कथम् । ऋकारांशे हलूरूपाणि रोरीति प्रवृत्त्या फलाभावेन तत्साहचर्याद् ऌकारांशेपि हलूरूपाणि अप्रवृत्तिरित्याशयात् । रलयोः समानश्रुतित्वेन तत्रापि रोरीत्यस्य प्रवृत्तेरित्यन्ये ॥ ऌकारे यण्घटितप्रयोगानभिधानमेवैतद्भाष्यप्रामाण्यादित्यन्ये ॥

भाष्ये—सवर्णेण् तपरमिति । यदुऋ॑त्सूत्रे तपरं करोति तज्ज्ञापकं—सवर्णेऽण्ग्रहणं

भावबोधिनी

अण् पूर्व ण् से ही लेना इष्ट है इसीलिये अण् ग्रहण किया गया है ।]

तो फिर इस सूत्र में अण्ग्रहण में सन्देह होता है—'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः (१।१।६९)

असन्दिग्ध रूप से परवर्त्ती (लण् के) ण् से ही लिया जाता है, पूर्ववर्ती (अ इ उ ण् के) ण् से नहीं ।

ऐसा कैसे [ज्ञात होता है] ?

(वा०) सवर्णबोधक ("अणुदित") सूत्र में अण् बादवाले ण् से है क्योंकि 'उऋ॑त्' सूत्र में ऋकार में जो तपरकरण करते हैं ।

(भा०) आचार्य पाणिनि 'उऋ॑त्' में जो तपर करते हैं अर्थात् अकेला 'ऋ' न कहकर 'ऋत्' ऐसा कहते हैं, वे यह ज्ञापित करते हैं कि—"अणुदित्' सूत्र में परवर्ती ण् से अण् लिया जाता है, पहले वाले ण् से नहीं ।

विमर्श—'उऋ॑त्" (७।४।७) णि, चङ् परे रहते उपधा के स्थान में ऋत्=ऋ आदेश करता है । यदि ऋत् न कहकर केवल 'ऋ' कहा जाता तो 'अणुदित्'(१।१।६९)

(आक्षेपभाष्यम्)

इण्ग्रहणेषु तर्हि संदेहः ॥

(समाधानभाष्यम्)

असंदिग्धम् परेण, न पूर्वेण ॥

(हेतुजिज्ञासाभाष्यम्)

कुत एतत् ?

प्रदीपः

त्येवमर्थं तपरत्वं क्रियते। यदि च पूर्वेण णकारेणाण्ग्रहणं स्यादृकारोऽनण्त्वाद्भिन्नकालस्य ग्राहक एव न भवतीति ऋकारो नैव स्थानी, नाप्यादेशः प्रसजतीति किं तपरत्वेन। कृतं तज्ज्ञापकं परेणाण्ग्रहणस्य ॥

उद्द्योतः

परणकारकमिति वार्तिकाक्षरार्थः ॥ इत्येवमर्थमिति। ह्रस्वो यथा स्याद् दीर्घो माभूदित्येवमर्थमित्यर्थः ॥ ऋकार इति उद्देश्यसमर्पक इत्यर्थः। न च भाव्यमानत्वेन सवर्णग्रहणाप्रसक्तेस्तद्वैयर्थ्यम्, तपरत्वाभावे आदेशान्तरनिवृत्त्यर्थत्वेन स्वरूपाभ्यनुज्ञानार्थत्वेनापूर्वबोध्यत्वाभावेन चाविधेयत्वात्। कृते तु तपरत्वे भाव्यमानतापीत्यन्यत् ॥

भावबोधिनी

इस सवर्णग्राहक शास्त्र से सभी सवर्ण अक्षरों की उपस्थिति होने लगती। इसलिए अचीकृतत् की कृत् धातु के दीर्घ ॠ के स्थान पर इसका सदृशतम आदेश दीर्घ ॠ ही होने लगता। फलस्वरूप अचीकृतत् में ह्रस्व ऋ नहीं सुनाई पड़ता। इसी दोष को दूर करने के लिए ऋ का ऋत् अर्थात् ह्रस्व आदेश किया गया।

यदि 'अणुदित्' सूत्र में पूर्ववर्त्तीण् से अण् माना जाता तो ऋ उसमें नहीं आ पाती और सवर्णग्राहकता का प्रसङ्ग ही नहीं आता। जब अतिप्रसङ्ग नहीं है तब उसका वारण करने लिए 'उर्ऋत्' में तपर-करण की आवश्यकता नहीं थी। चूंकि पर ण् से ही अण् यहाँ लिया जाता है। इसमें 'ऋ' भी आता है। उसके भी सभी भेदों का ग्रहण प्रसक्त होता है, उसका वारण करने के लिए तपरकरण किया गया है। इसलिए एकमात्रिक 'ऋ' ही आदेश होता है। अतः यह 'तपरकरण' पर णकार से ग्रहण में ज्ञापक हैं।

निष्कर्ष यह है कि 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' इस एक सूत्र में ही बाद वाले ण् से अण् प्रत्याहार लिया जाता है। इसके अतिरिक्त सभी स्थलों पर 'अण्' पहले वाले 'ण्' से ही लिया जाता है।

(अनु०) तो फिर इण्ग्रहण वाले सूत्रों में सन्देह हैं [उनमें पहले वाले ण् से लिया जाय अथवा बाद वाले ण् से] ?

निःसन्देह परवर्त्ती ण् से ही, न कि पूर्व ण् से।

(८५ सिद्धान्तहेतुवार्तिकम् ॥ ४ ॥)

॥ * ॥ य्वोरन्यत्र परेणेण् स्यात् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

यत्रेच्छति पूर्वेण; संमृद्य ग्रहणं तत्र करोति—य्वोरिति । तच्च गुरु भवति ॥

कथं कृत्वा ज्ञापकम् ?

तत्र विभक्तिनिर्देशे संमृद्यग्रहणे चार्धचतस्रो मात्राः,प्रत्याहारग्रहणे पुनस्तिस्रो मात्राः । सोयमेवं लघीयसा न्यासेन सिद्धे सति यद्गरीयांसं यत्नमारभते तज्ज्ञापयत्याचार्यः—परेण, न पूर्वेणेति ॥

प्रदीपः

अर्धचतस्र इति । अर्धेन चतस्रः । चतुर्थी हि मात्रा तत्रार्धेति ॥

उद्द्योतः

भाष्ये संमृद्येति । आदेशेन तौ निवर्त्येत्यर्थः । अर्धचतुर्था इति वक्तुमुचितमत आह—अर्धेनेति ॥ भाष्ये—तिस्रो मात्रा इति । 'इणः' इति पदच्छेदाभिप्रायेणेदम् । तदुक्तम्—विभक्तिनिर्देशे इति । संहितायां तु सार्धमात्राद्वयमेवेति बोध्यम् ॥

भावबोधिनी

ऐसा कैसा [ज्ञात होता है] ?

(वा०) य्वोः=इ उ का [जहाँ ग्रहण है वहाँ ऐसा ही कहा गया है], अन्यत्र परवर्त्ती ण् से ही इण् लिया जाता है ।

(भा०) आचार्य को जहाँ पूर्ववर्त्ती ण् से ग्रहण करना इष्ट है वहाँ संमर्दन करके [इ+उ में यण् करके द्विवचन] 'य्वोः' ऐसा लिखते हैं । [जैसा कि "अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' ।६।४।७७ में किया है ।] और यह ['इण्' की तुलना में] गौरवग्रस्त है ।

यह कैसे ज्ञापक होता है ?

[इ+उ का यण् रुप] संमर्दन करके और विभक्ति के साथ 'य्वोः' इस निर्देश में साढ़े तीन मात्रायें हैं और 'इण्' प्रत्याहार के ग्रहण(इणः)में तीन ही मात्रायें हैं । इस स्थिति में लघुभूत तीन मात्रावाले (इणः' ऐसे) न्यास से कार्य सिद्ध रहने पर भी जो गुरुभूत [य्वोः' ऐसे सूत्र को] करने का प्रयास करते हैं, वे आचार्य इससे ज्ञापित करते हैं—इण् पर ण् से ही लिया जाता है पूर्व ण् से नहीं ।

विमर्श—'अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः' इस प्रसिद्धि के अनुसार मात्रालाघव का अत्यन्त महत्त्व है । 'इणः' (इ ण् अ :=)में तीन मात्रायें और 'य्वोः' में साढ़े तीन मात्रायें हैं । यदि इण् पूर्व ण् से लेना इष्ट होता तो 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ"(६।४।७७)में 'य्वोः' का उल्लेख न करके लाघव की दृष्टि से 'इणः' का ही उल्लेख किया जाना चाहिए था क्योंकि 'अइउण्' में इण् से इ, उ ले लिये जाते ।

(आक्षेभाष्यम्)

किं पुनर्वर्णोत्सत्ताविवार्यं णकारो द्विरनुबध्यते ?

(८६ समाधानवार्तिकम् ॥ ५ ॥)

॥ * ॥ व्याख्यानाच्च द्विरुक्तितः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

एतज्ज्ञापयत्याचार्यो--भवत्येषा परिभाषा-"व्याखयानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि संदेहादलक्षणम्" इति ।—"अणुदित्सवर्णस्य--" इत्येतत्परिहाय पूर्वेणाण्-ग्रहणम्, "परेणेण्ग्रहणम्" इति व्याखयास्यामः ॥ ६ ॥

प्रदीपः

किं पुनरिति । वर्णोत्सत्तिर्वर्णोच्छेदः । वर्णान्तरमनुबन्धः किं न क्रियते इत्यर्थः ॥ व्याख्यानत इति । न्यायादागमाद्वा शब्दशक्तिरनुसरणीयेत्यर्थः ॥ ६ ॥

उद्द्योतः

अणादिग्रहणेषूक्तमॆहद्भिर्यत्नैः सन्देहपरिहारे प्रतिपत्तिगौरवमिति लाघवाय वर्णा-न्तरमेव किं नानुबध्यत इत्याशयेनाह—भाष्ये किं पुनरिति ॥

एतत् = वक्ष्यमाणम् । आचार्यः शिवः । ननु ज्ञापितेति प्रवर्तकतया निवर्त्तकतया वा नास्य चारितार्थ्यमत आह—न्यायादिति । उक्तो न्यायः । आगम उपदेशपरम्परा । तत्सिद्ध एवायमर्थो णकारानुबन्धनरूपस्वव्यवहारेण बोध्यत इत्यर्थः । एवंच व्याख्यानेनैव—पूर्वणकारेण केचित्, केचित्परणकारेणेति निर्णये ज्ञापकानुसरणक्लेशो वृथेति सूचितम् ॥६॥

भावबोधिनी

'च्वोः' इस गुरुभूत को बनानें से यह ज्ञापित होता है कि इण् में बाद वाला 'ण्' ही लिया जाता है । इससे इ,उ के बाद वाले वर्ण भी इसमें आ सकें ।

(अनु०) [अभी तक अण् और इण् में पूर्व से लिया जाय या पर से—इसका स्पष्टीकरण अनेक तर्कों और प्रमाणों से किया गया । परन्तु ऐसे एक ही अनुबन्ध की दो बार लगाने का औचित्य क्या था—इसका विचार प्रस्त है—]

क्या मानों दूसरे वर्णों की उत्सत्ति=उच्छेद था, दूसरा कोई वर्ण था ही नहीं जो इस णकार को ही दो बार अनुबन्ध बनाया गया ?

(वा०) णकार का दो बार उच्चारण होने से और (इस कारण होने वाले सन्देह को) व्याख्यान से [निश्चित किया जायगा कि कहाँ पहला और कहाँ बाद वाला ण् है]।

(भा०) आचार्य पाणिनि यह ज्ञापित करते हैं कि यह परिभाषा होती है 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्' (सन्देह होने पर आचार्यों के व्याख्यान द्वारा विषय का विशेष निश्चय किया जाता है, केवल सन्देह हो जाने से

(शिवसूत्रम्)

ञमङणनम् ॥ ७ ॥ झभञ् ॥ ८ ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

किमर्थमिमौ मुखनासिकावचनावुभावनुबध्येते, न ञकार एवानुबध्यते ?

(प्रत्याक्षेपभाष्यम्)

कथं—यानि मकारेण ग्रहणानि ?

(प्रत्याक्षेपसमाधानभाष्यम्)

[सन्तु ञकारेण ॥]

(आक्षेपभाष्यम्)

[कथं] "हलो यमां यमि लोपः" (८।४।६४) इति ॥

(इष्टापत्तिभाष्यम्)

[अस्तु ञकारेण] "हलो यञां यञि लोपः" इति ॥

(इष्टापत्तिबाधकभाष्यम्)

नैवं शक्यम् । झकारभकारपरयोरपि झकारभकारयोर्लोपः प्रसज्येत ॥

उद्द्योतः

ञमङणनम् ॥ ७ ॥ झभञ् ॥ ८ ॥

भावबोधिनी

शास्त्र अलक्षण (अननुष्ठापक या अप्रमाण नहीं होता है ।) "अणुदित्" इस सूत्र को छोड़कर अन्यत्र सर्वत्र पूर्व ण् से ही 'अण्' लिया जाता है और 'इण् सर्वत्र पर ण् से ही लिया जाता है' ऐसी व्याख्या करेंगे । [अतः अब कहीं भी सन्देह नहीं रह जाता है] ॥ ६ ॥

ञमङणनम् ॥ ७ ॥ झभञ् ॥ ८ ॥

[एक सूत्र बनाना भी सम्भव है ।]

ये म् और ञ् दो मुखनासिकावचन (अनुनासिक वर्ण) किस लिये अनुबन्ध बनाए गये हैं [दोनों में] अकेला 'ञ' ही क्यों नहीं अनुबन्ध लगा दिया गया ? [अर्थात् दो सूत्र न बनाकर "ञमङणनझभञ्' ऐसा एक ही सूत्र क्यों नहीं बनाया गया ?]

तो फिर जिनमें मकार से ग्रहण हैं उनमें क्या होगा, वे कैसे सम्भव होंगे ?

[वे भी ञकार से ही मान लिये जायँ ।]

'हलो यमां यमि लोपः' (८।४।६४) यह कैसे होगा ?

[यह भी ञकार से हो जाय—] 'हलो यञां यञि लोपः ।' ऐसा हो जाय ।

ऐसा नहीं किया जा सकता । कारण यह है कि[झ तथा भ भी यञ् में आ जायेंगे इसलिये] झकार और भकार परे रहते पूर्ववर्ती झकार और भकार का भी लोप होने लगेगा ।

(इष्टापत्तिसाधकभाष्यम्)

न झकारभकारौ झकारभकारयोः स्तः ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

कथं—"पुमः खय्यम्परे" (८।३।६) इति ?

(इष्टापत्तिभाष्यम्)

एतदप्यस्तु ञकारेण "पुमः खय्यञ्परे" इति ॥

(इष्टापत्तिसाधकभाष्यम्)

नैवं शक्यम् । झकारभकारपरेऽपि हि खयि रुः प्रसज्येत ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

न झकारभकारपरः खयस्ति ॥

(इष्टापत्तिभाष्यम्)

कथं—"ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्" (८।३।३२) इति ?

(इष्टापत्तिबाधकभाष्यम्)

एतदप्यस्तु ञकारेण "ङञो ह्रस्वादचि ङञुण्नित्यम्" इति ॥

(इस्टापतिसाधकभाष्यम्)

नैवं शक्यम् । झकारभकारयोरपि हि पदान्तयोर्झकारभकारावागमौ

उद्द्योतः

भाष्ये—न झकारेत्यादि । अज्व्यहितहल्मात्रानुकरणं तु सूत्रादन्यत्र नास्तीति हयवरट्सूत्रे प्रपञ्चितम् ॥

भावबोधिनी

नहीं, झकार और भकार परे रहते [कहीं भी] झकार और भकार नहीं हैं। [अतः इनके लोप का प्रसंग नहीं है। अतः इस सूत्र में कोई अनुपपत्ति नहीं है।]

तब फिर 'पुमः खय्यम्परे' (८।३।६) इस सूत्र में [अम् प्रत्याहार के विषय में] क्या होगा ?

यह अम् प्रत्याहार भी ञकार से ही मान लिया जाय—'पुमः खय्यञ्परे।' [अम्परक खय् परे रहने के स्थान पर अञ्परक खय् परे रहते—ऐसा मान लिया जायगा।]

ऐसा नहीं किया जा सकता। झकारपरक और भकारपरक खय् परे रहते भी [पुम् के म् का] रुत्व होने लगेगा।

नहीं, झकारपरक और भकारपरक खय् कहीं नहीं है। [अतः रुत्व का प्रसङ्ग नहीं है।]

तो फिर 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्' (८।३।३२] में क्या होगा ? [यहाँ भी मकार से प्रत्याहार है।]

यह भी ञकार से ही मान लिया जाय 'ङञो ह्रस्वादचि ङञुण् नित्यम्।' [ऐसा सूत्रस्वरूप कर दिया जाय।]

ऐसा नहीं किया जा सकता। क्योंकि पदान्त में विद्यमान झकार और भकार

स्याताम् ॥

(इष्टापत्ति-साधकभाष्यम्)

न झकारभकारौ पदान्तौ स्तः ॥

(इष्टापत्तिबाधकैकदेशिभाष्यम्)

एवमपि पञ्चागमास्त्रय आगमिनो वैषम्यात्संख्यातानुदेशो न प्राप्नोति ॥

(इष्टापत्तिसाधकैकदेशिभाष्यम्)

सन्तु तावद् येषामागमानामागमिनः सन्ति ।

झकारभकारौ पदान्तौ न स्त इति कृत्वा आगमावपि न भविष्यतः ॥

प्रदीपः

झभञ् ॥ न झकारेति । [झकारस्य] भकारस्य [च] पदान्तस्य जश्त्वेन भाव्यमिति तस्य भावः । उज्झेर्झकारः संयोगान्तस्येति लुप्यते इति तस्याप्यभावः ॥

सन्तु तावदिति । उद्देशानुदेशाभ्यां संख्यासाम्याद्यथासंख्ये लब्धे प्रयोगे यस्यागम-

उद्द्योतः

झकारभकारयोरपि हि पदान्तयोरिति । पदान्तयोस्तयोः सतोस्ततः परस्याजादेः पदस्य झभौ स्यातामित्यर्थः ॥

एवमपि पञ्चागमा इति । लक्ष्यसंस्कारकालिकं संख्यासाम्यं यथासंख्यसूत्रप्रवृत्तौ निमित्तमिति मन्यते ॥

सिद्धान्ती तु प्रतिपत्तिकालिकमेव संख्यासाम्यं तत्प्रवृत्तौ निमित्तमित्याह—

भावबोधिनी

को भी झकार और भकार आगम होने लगेंगे ।

नहीं, क्योंकि झकार और भकार पदान्त में हैं ही नहीं । [जहाँ भी पदान्त भ् रहता है उसका नित्य जश्त्व करने से ब् हो जाता है । 'उज्झ' का झकार संयोगान्त-लोप हो जाने पर झ् भी पदान्त में नहीं मिलता है ।]

ऐसा होने पर भी [दोष रह जाता है क्योंकि] आगम पाँच हैं [—ञ्ण्न्झ्भ्] और आगमी [ङ्, ण्, न्] तीन ही हैं । इस कारण दोनों की संख्या में भेद हो जाने से 'यथासंख्य' शास्त्र की प्रवृत्ति न होने से क्रमशः आगम नहीं हो सकेंगे ।

[यदि ऐसा तो] जिन [ञ् ण् न्] आगमों के आगमी [ङुट्, णुट्, नुट्] हैं उन्हीं को आगम हों । चूंकि झकार और भकार पदान्त में मिलते नहीं हैं, यह मानकर इनको आगम भी नहीं होंगे । [अतः जो तीन मिलते हैं उन्हीं तीन को मानकर क्रमशः तीन आगम हो जायेंगे । कोई अनुपपत्ति नहीं है ।]

विमर्श—उक्त विवेचन के आधार पर यह प्रतीत होता है कि 'ञमङणनम्, झभञ्—इन दोनों को मिलाकर 'ञमङणनझभञ्' ऐसा एक सूत्र बनाने पर भी कोई

(अथाक्षरशब्दनिर्वचनम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

अथ किमिदमक्षरमिति ?

(८७) सिद्धान्तसमाधानवार्तिकम् ॥ १ ॥

॥ * ॥ 'अक्षरं न क्षरं विद्यात्' ॥ * ॥

(भाष्यम्)

न क्षीयते न क्षरतीति वाऽक्षरम् ॥

प्रदीपः

स्यागमी विद्यते स प्रवर्तते नान्य इत्यर्थः ॥

किमिदमिति । अक्षरसमाम्नाय इति व्यवहाराद् यो वा इमां स्वरशोऽक्षरश इति चोक्तत्वात्प्रश्नः ॥

अक्षरं न क्षरमिति । क्रियाशब्दोऽयं नित्यस्यार्थस्य वाचक इति दर्शयति । अत्र

उद्द्योतः

सन्त्विति ॥ येषामागमानामागमिनः सन्ति ते भवन्तु इत्यर्थः ॥ अनुदेशः=प्रतिनिर्देशः । भगवता तु स्पष्टप्रतिपत्तयेऽनुबन्धद्वयमदर्शि ॥ ७ ॥ ८ ॥

इति व्यवहारादिति । अइउण्सूत्रेऽयं व्यवहारो भाष्ये ॥ प्रश्न इति । तद्घटकीभूताक्षरपदार्थावगमायेति भावः ॥

(भाष्ये)अक्षरमित्यस्य नक्षरमिति विग्रहप्रदर्शनम् ॥ तच्चेति । अक्षरं चेत्यर्थः ॥ ब्रह्मतत्त्वस्यैव तत्त्वे हेतुगर्भविशेषणमाह—परमार्थतो नित्यमिति । यतस्तत् प्रागभावाप्रतियो-

भावबोधिनी

अनुपपत्ति नहीं आती है। अतः दो सूत्रों को बनाने की आवश्यकता नहीं थी। परन्तु अनेक क्लिष्ट कल्पनायें करने की अपेक्षा दो सूत्र बनाने में ही लाघव देखकर दो सूत्र बनाना और दो अनुबन्धों को लगाना उचित समझा गया। अतएव नागेश ने लिखा है—"येषामागमानामागमिनः सन्ति, तेषां भवन्तु इत्यर्थः।.........भगवता तु स्पष्टप्रतिपत्तयेऽनुबन्धद्वयमदर्शि।" (देखें उद्योत)

अक्षर पद की व्याख्या

[चतुर्दशसूत्री को 'अक्षरसमाम्नाय' कहा जाता है। 'व्याकरणाध्ययन के प्रयोजनों में लिखा गया है "यो वा इमां स्वरशोक्षरशश्च वाचं विदधाति।" अतः अक्षर पद का आशय स्पष्ट करना आवश्यक होने से यहाँ विचार किया जा रहा है—]

यह 'अक्षर' क्या है ? [अक्षर इस पद का क्या अर्थ है ?]

(वा०) जो क्षर नहीं होता है वह अक्षर है।

(भा०) जो क्षय=विनाश को नहीं प्राप्त करता है वह अक्षर है। ['क्षि' क्षये

(८८ सिद्धान्तसमाधानान्तरवार्तिकम् ॥ २ ॥)

॥ * 'अश्नोतेर्वा सरोक्षरम्' ॥ * ॥

(भाष्यम्)

अश्नोतेर्वा पुनरयमौणादिकः सरन् प्रत्ययः । अश्नुते इत्यक्षरम् ॥

(८९ सिद्धान्तसमाधानान्तरवार्तिकम् ॥ ३ ॥)

॥ * ॥ 'वर्णं वाहुः पूर्वसूत्रे' ॥ * ॥

प्रदीपः

क्षियः क्षरतेर्वा विनाशार्थस्य नञ्पूर्वस्य रूपम् । तच्च ब्रह्मतत्त्वं परमार्थतो नित्यम् । व्यवहारनित्यतया तु वर्णपदवाक्यस्फोटानां जातिस्फोटस्य वा ॥

अश्नोतेर्वेति । सरन्प्रत्ययस्यानुबन्धलोपे कृतेऽनुकरणं सर इति । तत्रार्थमश्नुते=व्याप्नोतीत्यक्षरं पदं वाक्यं वा ॥

उद्द्योतः

गित्वे सति ध्वंसाप्रतियोगित्वरूपनित्यत्ववदित्यर्थः ॥ नन्वेवं प्रकृते किमायातमत आह—व्यवहारनित्यतया चेति । सर्वेषां शब्दानामाकाशादिवत् सृष्ट्यादावुत्पत्तिः प्रलये च नाश इत्यर्थः । एवंच व्यवहारनित्यतयाऽक्षरब्रह्मसादृश्यवतां तेषां पदादिरूपाणामयं वर्णसमाम्नायः शास्त्रप्रवृत्तिद्वारा बोधक इत्यक्षरसमाम्नाय इति चतुर्दशसूत्रीविषयव्यवहारोपपत्तिः । एवंच शब्दे औपचारिकोऽक्षरपदप्रयोग इति भावः ॥ न्यायादिनयेऽप्याह—जातिस्फोटस्य वेति ॥

भाष्ये अश्नोतेर्वेति ॥ तद्याचष्टे—अर्थमश्नुते इति । वर्णानामनर्थकत्वेन चिन्त्यमिदम् । नानादेशेषु युगपदेकस्यैव शब्दस्याभिव्यक्तिदर्शनेन स्फोटस्यापि व्यापकत्वमिति भाष्यार्थ इत्यन्ये ॥

भावबोधिनी

और 'क्षर विनाशे' इनमें से किसी भी धातु से प्रत्यय करके अक्षर यह यौगिक क्रियापद बनता है । अतः यह परमतत्त्व ब्रह्मरूप है ।]

(वा०) अथवा अश्नोति=जो व्याप्त करता है वह अक्षर है ।

(भा०) अथवा 'अशू व्याप्तौ' धातु से औणादिक सरन् प्रत्यय होता है । अश्नुते=व्याप्त करता है । वह अक्षर है । [अश्+सरन् श् का ष् क, स का ष, क्+ष्=क्ष्+अक्षर । जो अर्थ को व्याप्त करता है । अतः अक्षर व्यापक और अर्थ व्याप्य होता है ।]

(वा०) अथवा पूर्वसूत्र (=प्राचीन वैयाकरणों के सूत्र) में वर्ण को अक्षर कहा गया है ।

(भाष्यम्)

अथवा पूर्वसूत्रे वर्णस्याक्षरमिति संज्ञा क्रियते ॥

(अथाक्षरसमाम्नायोपदेशप्रयोजनम्)

(९० प्रश्नवार्तिकम् ॥ १ ॥)

|| * || 'किमर्थमुपदिश्यते' || १ || * ||

अथ किमर्थमुपदेशः क्रियते ?

(९१ समाधानवार्तिकम् ॥ २ ॥)

|| * || 'वर्णज्ञानं वाग्विषयो यत्र च ब्रह्म वर्तते ||
तदर्थमिष्टबुद्ध्यर्थं लघ्वर्थं चोपदिश्यते' || २ ||

प्रदीपः

वर्णं बाहुरिति । रूढिरियं वर्णस्येत्यर्थः ॥

पूर्वसूत्रे इति । व्याकरणान्तरे वर्णा अक्षराणीति वचनात् ॥

किमर्थमिति । वर्णानां साधुत्वस्याप्रतिपाद्यत्वात्पदस्यैव साधुत्वान्वाख्यानात्प्रश्नः ॥

उद्द्योतः

ननु न्यायादिनयेऽव्याप्यवृत्तिषु विनाशिषु वर्णेषु कथं तद्व्यवहारोऽत आह—वर्णं बाहुरिति । चघटितः पाठोऽत्र प्रामादिकः, व्याख्यानभाष्ये अथवेत्युक्तेः ॥ नन्वनन्त-रोक्तयोगाभावात्कथं तेषु प्रयोगोऽत आह—रूढिरिति । तदुक्तं भाष्ये—अक्षरमिति संज्ञेति । व्याकरणान्तरे । इति पूर्वसूत्रशब्दे षष्ठीतत्पुरुष इति भावः ॥ एवं चाक्षर-समाम्नाय इत्यस्य श्रुतिरूपो वर्णसंघात इत्यत्र तात्पर्यम् ॥ (इत्यक्षरशब्दनिर्वचनम् ॥)

भाष्ये उपदिश्यत इति । अक्षरसमाम्नायोपदेशः किमर्थं इत्यर्थः ॥ पूर्वं कृतोऽप्ययं विचारः कंचिद्विशेषं वक्तुं पुनः क्रियते ॥

भावबोधिनी

(भा०) अथवा प्राचीन वैयाकरणों के ("वर्णाः अक्षराणि" इस) सूत्र में वर्ण की संज्ञा अक्षर की गई है । [अतः वर्ण = अक्षर हैं ।]

वर्णोपदेश का उद्देश्य

[प्रथम आह्निक के अन्त में यद्यपि वर्णों के उपदेश के प्रयोजन बताये जा चुके हैं तथापि कुछ और विशेष बात कहने के लिये यहाँ पुनः कहा जा रहा है]

वर्ण-समाम्नाय का उपदेश किसलिए किया जा रहा है ? [क्योंकि केवल वर्णों से किसी की साधुता या असाधुता का ज्ञान नहीं होता है ।]

(वा०) यह वर्णसमाम्नाय (अक्षरसमाम्नाय) वर्णज्ञान (= जिससे वर्णों का ज्ञान होता है ऐसा) है, वाग्विषय = वाणी का प्रतिपादक (निबन्धन) है, जिस पद

(भाष्यम्)

सोयमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारकवत्प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः, सर्ववेदपुण्यफलावाप्तिश्चास्य ज्ञाने भवति, मातापितरौ चास्य स्वर्गे लोके महीयेते ॥

इति श्रीमद्भगवत्पञ्जलिविरचिते महाभाष्ये प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमे पादे द्वितीयमाह्निकम् ॥ २ ॥

(इति माहेश्वरीयं विधिशेषप्रकरणम्)

प्रदीपः

वर्णज्ञानमिति । वर्णा येन शास्त्रेण ज्ञायन्ते तद्वाचो विषयः, शास्त्रेण वाग्विषीयते= भावध्यते, शास्त्रेण तस्याः परिज्ञानादित्यर्थः ॥ यत्र चेति । ब्रह्म वेदः पदे वर्तते । तस्य च शास्त्रं विषयः, लौकिकानां वैदिकानां च शास्त्रं विषय इत्यर्थः ॥ तदर्थमिति । शास्त्रप्रवृत्त्यर्थमित्यर्थः ॥ इष्टबुद्ध्यर्थमिति । कलादिदोषरहितवर्णज्ञानार्थमित्यर्थः॥ लघ्वर्थमिति । अनुबन्धकरणार्थमित्यर्थः ॥ वाक्समाम्नाय इति । एतावद्भिरेव वर्णैर्वाग्व्यवहार इत्यर्थः ॥ पुष्पितः फलित इति । दृष्टादृष्टफलाभ्यामभ्युदयनिःश्रेयसाभ्यां च ॥ चन्द्रतारकवदिति । अनादित्वान्नित्यत्व वाग्व्यव्यवहारस्य सूचयति ॥ ब्रह्मराशिरिति । ब्रह्मतत्त्वमेव शब्दरूपतया प्रतिभातीत्यर्थः ॥ सर्ववेदेति । सर्ववेदाध्ययनकृतस्य पुण्यस्य यत्फलं तत्प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ मातापितराविति । माहात्म्यातिशयः शास्त्रस्य प्रत्याहारमात्रफलाख्यानद्वारेणान्वाख्यायते ॥ महीयेते इति । पूजां प्राप्नुत इत्यर्थं । महीयशब्दः कण्ड्वादियगन्तः ॥

॥ इत्युपाध्यायजैयटपुत्रकैयटकृते महाभाष्यप्रदीपे प्रथमाध्यायस्य प्रथमे पादे द्वितीयमाह्निकम् ॥ २ ॥

उद्द्योतः

येन शास्त्रेणेति । चतुर्दशसूत्र्यात्मकेन तन्मूलकपाणिनिव्याकरणेन चेत्यर्थः ॥ तत् शास्त्रम् ॥ वाचोविषयः । बन्धनं प्रतिपादकमित्यर्थः ॥ भाष्ये यत्रचेत्यनेन वाक् परामृश्यते इत्याह—पदे वर्तत इत्यादिना ॥ शास्त्रं विषय इति । प्रतिपादकमित्यर्थः ॥ वर्णज्ञानं शास्त्रं वाचो विषयः ॥ का सा वाग् ? यत्र ब्रह्म च वर्तते चात्पुराणादि इति भाष्याक्षरार्थः ॥ तदर्थमित्येतद्व्याचष्टे—शास्त्रप्रवृत्त्यर्थमिति ॥ कलादीति । इदं प्रयोजनं

भावबोधिनी

रूप वाणी में ब्रह्म = वेद विद्यमान है [वाणी के प्रतिपादक इस] शास्त्र की प्रवृत्ति के लिए, इष्टवर्णों का ज्ञान कराने के लिए और लघ्वर्थ (प्रत्याहारों के बन जाने से लाघव से शास्त्र की प्रवृत्ति) के लिये [इस वर्णज्ञान = वर्णों=अक्षरों के ज्ञान कराने वाले] इस अक्षरसमाम्नाय का उपदेश किया गया है ।

उद्द्योतः

पस्पशान्ते दूषितम् ॥ अनुबन्धकरणार्थमिति । लघ्वर्थमित्यक्षराणामत्रार्थे स्वारस्यं चिन्त्यम् । अनुबन्धकरणमूलकप्रत्याहारद्वारा लाघवेन शास्त्रप्रवृत्त्यर्थमित्यर्थो वा[1] ॥ वाक्समाम्नायः । वाक्सङ्ग्रहोपाय इत्यर्थः ॥ तदाह—एतावद्भिरेवेति । दृष्टफलेनाभ्युदयेन वा पुष्पितः । अदृष्टफलेन निःश्रेयसेन वा फलितः ॥ वाग्व्यवहारस्येति । तत्संग्राहकस्य चतुर्दशसूत्रीरूपस्येत्यर्थः ॥ यथाश्रुते हि भाष्येऽक्षरसमाम्नायोद्देशेन प्रवृत्तविशेषणानामन्यपरतया योजने भाष्यविरोधः । अत एवैतत्प्रतीकमुपादाय हरिणा "अस्याक्षरसमाम्नायस्य वाग्व्यवहारजनकस्य न कश्चित्कर्तास्त्येवमेव वेदे पारंपर्येण स्मर्यमाणम्" इति व्याख्यातम् ॥ ब्रह्मतत्त्वमेवेति । तदुक्तं नन्दिकेश्वरेण—

'अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमेश्वरः ॥

इत्यादिना सर्ववर्णानां महेश्वररूपता वर्णेभ्य एव च महदादिसृष्टिरित्यर्थपरतया चतुर्दशसूत्रीं योजयता ॥ तदाह सर्ववेदेत्यादि ॥ अन्ये तु वर्णज्ञानं चतुर्दशसूत्र्यात्मकं शास्त्रं वाचो वेदशास्त्रपुराणरूपायाः सकलवाचो विषयो बन्धनम् । यत्र च वर्णसमाम्नाये ब्रह्म बोध्यतया वर्तते । व्याख्याता चैषा चतुर्दशसूत्री ब्रह्मपरतया नन्दिकेश्वरेण[2] । तदर्थं सकलवाग्ज्ञानार्थं ब्रह्मबोधनार्थं च । अनेन सकलवेदाध्ययनेन यत् फलं तदक्षरसमाम्नायज्ञानेन सूचितम् । तद्वक्ष्यति—सर्ववेदेत्यादि । सोयमित्यादि भाष्यग्रन्थश्चैतच्छ्लोकपूर्वार्धस्यैव व्याख्यानपरः । तत्र वर्णज्ञानमित्यस्य व्याख्या सोयमक्षरसमाम्नाय इति । वाग्विषय इत्यस्य व्याख्या वाक्समाम्नाय इति, सर्ववाग्रूपत्वात् ।

भावबोधिनी

(भा०) यह अक्षरसमाम्नाय वाणी का संग्रहोपाय है, अर्थात् इतने अक्षरों से वाणी का व्यवहार होता है, इसे [दृष्टफल अथवा अभ्युदय से] पुष्पित, और [अदृष्टफल अथवा निःश्रेयस् से] फलित, चन्द्रमा और तारागणों के सदृश विभूषित [अनादिकाल से सिद्ध, नित्य] ब्रह्मतत्त्व [अर्थात् ब्रह्मतत्त्व ही शब्दरूपेण भासित] जानने योग्य है, जानना चाहिए । इस (अक्षरसमाम्नाय) के ज्ञान में समस्तवेदों के पुण्य का फल प्राप्त होता है, [अर्थात् सभी वेदों के अध्ययन के समान इनके अध्ययन से

---

१. लघ्वर्थं चेति भाष्ये चकारेणानुबन्धकरणार्थत्वं समुच्चीयते । तदेव कैयटेनोक्तमिति न दोष इत्यपरे ॥ छाया ॥

२. नन्दिकेश्वरेणेति । तथाहि सा नन्दिकेश्वरकाशिका श्रीमदुपमन्युकृतव्याख्यासहिता प्रकाश्यते—

नमः शिवाय देवाय सर्वज्ञाय परात्मने ।
यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां व्यक्ताव्यक्तमिदं जगत् ॥ १ ॥

उद्द्योतः

तदध्ययनतन्मूलव्याकरणाध्ययनाभ्यां पुष्पितः। फलितः तदर्थभावनया जनिततत्त्वज्ञानरूपफलः। चन्द्रतारकवत् प्रतिमण्डित इत्यनेनास्यानादित्वं सूचयति। तादृशोऽयं ब्रह्मराशिर्वेदितव्यः। बोध्यबोधकयोरभेदात्॥ सर्ववेदेति। सर्ववेदाध्ययनजन्यपुण्यफलस्य चित्तशुद्धिरूपस्य प्राप्तिरस्य ज्ञानेऽध्ययनमात्रे भवति। इदमेव पूर्वं पुष्पितत्वम्। तादृशपुत्रवत्त्वेन च मातापित्रोः स्वर्गे पूजा भवति। यथा कृतराजसूययुधिष्ठिररूपपुत्रेण पाण्डोः स्वर्गे पूजेति। इष्टबुद्ध्यर्थमित्यादि तु प्राग्व्याख्यातत्वान्न व्याख्यातमित्याहुः॥

॥ इति कालोपनामकशिवभट्टसुतसतीगर्भजनागेशभट्टकृते भाष्यप्रदीपोद्द्योते प्रथमाध्यायस्य प्रथमे पादे द्वितीयमाह्निकम्॥

भावबोधिनी

भी पुण्य प्राप्त होता है।] इस (अक्षरसमाम्नाय) के अध्येता और ज्ञाता व्यक्ति के माता और पिता स्वर्गलोक में सम्मान प्राप्त करते हैं। [अर्थात् इसके ज्ञाता और अध्येता के व्यक्तिगत पुण्यलाभ के साथ-साथ इसके माता, पिता भी पुण्य लाभ करके स्वर्ग में प्रतिष्ठित होते हैं। अतः शास्त्र द्वारा शुद्ध प्रयोग का सामर्थ्य दृष्टफल रूप और स्वर्गप्राप्तिरूप अदृष्टफल दोनों प्राप्त होते हैं।

[इस श्लोक वार्तिक की व्याख्या नागेश ने कुछ भिन्न रूप से की है।]

॥ इस प्रकार श्रीमद्भगवान् पतञ्जलि द्वारा विरचित व्याकरण-महाभाष्य में प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में द्वितीय आह्निक समाप्त हुआ॥

॥ इस प्रकार जयशङ्करलाल त्रिपाठी द्वारा विरचित 'भावबोधिनी' व्याख्या में व्याकरणमहाभाष्य के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में द्वितीय आह्निक समाप्त हुआ॥

गुरुं शिवं[1] कुमारं च शिवतत्त्वविशारदम्।
प्रणम्य नन्दिकेशादीन् शिवभक्तान् मुहुर्मुहुः॥ २॥
काशिकामादिसूत्राणां नन्दिकेशकृतां शुभाम्।
लोकोपकारिणीं दिव्यां व्याकरोमि यथामति॥ ३॥
नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥ १॥

---

१. 'श्रीशंकरं कु' 'श्रीशं गुरुं कु' पा० १।

इह खलु सकललोकनायकः परमेश्वरः परमशिवः सनकसनन्दनसनत्कुमारादीन् श्रोतॄन् नन्दिकेशपतञ्जलिव्याघ्रपाद्वसिष्ठादीनुद्धर्तुंकामो डमरुनिनादव्याजेन चतुर्दश-सूत्र्यात्मकं तत्त्वमुपदिदेश । तदनु ते सर्वे मुनीन्द्रवर्याश्चिरकालमाश्रितानामस्माकं तत्त्वं चतुर्दशसूत्र्यात्मकमुपदिदेशेति मत्वा अस्य सूत्रजालस्य तत्त्वार्थं नन्दिकेश्वरो जानातीति नन्दिकेश्वरं प्रणिपत्य पृष्टवन्तस्ततस्तेषु पृष्टवत्सु स षड्विंशतिकारिकारूपेण तत्त्वं सूत्राणामुपदेष्टुमिच्छन्निदमाचक्षे—नृत्तावसाने इति । अहमिति शेषः । नटराजराज इत्यनेन मङ्गलानि दर्शितानि । विश्वरूपविलासवैचित्र्यचमत्कारप्रवीणत्वान्नटराजराजः ताण्डवाख्यरासमात्रविलासवैचित्र्यचमत्कारप्रवीणत्वस्य त्वन्यत्र नटादावपि सत्त्वात् । स त्वात्मतत्त्वं वागाद्यगोचर इति ज्ञापनार्थं ढक्कानिनादव्याजेन सनकादीनुद्धर्तुंकामो नवपञ्चवारं चतुर्दशवारं स्वान्तर्गतमात्मतत्त्वं प्रकटयितुं नृत्तावसाने ननाद नादितवान् ॥ अहं तदेतद् विततनिनादोद्भूतवर्णात्मकमाद्यमतिरहस्यमेतच्छिवसूत्रजालं शिवसंबन्धि-सूत्रसमूहं वा विमर्शे विचार्य स्फुटीकरोमीत्यर्थः । 'विमर्शे' इति छान्दसं बोध्यम् ॥१॥

अत्र सर्वत्र सूत्रेषु अन्त्यवर्णचतुर्दशम् ।
धात्वर्थं समुपादिष्टं पाणिन्यादीष्टसिद्धये ॥ २ ॥

अनुबन्धाः पाणिन्याद्युद्देश्यका एवेत्याह—अत्रेति । एष्वित्यादिरर्थः । अन्त्यं वर्णेति वा पाठः । उभयथापि बहुव्रीहिः । कदम्बमन्यपदार्थः समासान्तः । चतुर्दशेति वा पाठः । तदा तत्पुरुषः । द्वयेकयोरितिवच्चतुर्दशेति प्रयोगः । केषुचित्पुस्तकेषु अन्त्यवर्णं चतुर्दशकमिति पाठः । धात्वर्थं धातुमूलकशब्दशास्त्रप्रवृत्त्यर्थमित्यर्थः । अन्त्यवर्णजालं शब्द इति न्यायेन । तथा चोक्तमिन्द्रेण—'अन्त्यवर्णसमुद्भूता धातवः परिकीर्तिताः' इति ॥ २ ॥

अइउण् ॥ १ ॥

अकारो ब्रह्मरूपः स्यान्निर्गुणः सर्ववस्तुषु ।
चित्कलामिं समाश्रित्य जगद्रूप उणीश्वरः ॥ ३ ॥

तत्राद्येन सूत्रेण सर्ववर्णानां समस्तभुवनानां च समुद्भवरूपं स्वात्मतत्त्वमुपदिष्ट-मित्याह—अकारो ब्रह्मेति । अः=परमेश्वरो निर्गुणः इं=मायामाश्रित्य उः=व्यापकः सगुणः ईश्वरः ण्=आसीत् इति सूत्रार्थः सूचितः । [सर्ववस्तुषु परापश्यन्तीमध्यमा-वैखर्यादिषु इं चित्कलामित्यत्र गायत्रीमं चेतिवदीकारो बोध्यः । अत्र ईकारस्तु सूत्रे नोदितः इकार एव प्रकटितः । सर्गसंभवकाले अ, इ, उ, ऋ, ऌ इति वर्णपञ्चकमेव सर्वेषामेकोनपञ्चाशदक्षराणां भूतपञ्चकानां पञ्चवर्गाणां क्रमेण योनिरिति] । अत्र प्रमाणम्—'असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायत' इति श्रुतिः । असद्ब्रह्म वै निश्चयेन अग्रे सृष्टेः पूर्वमिदमक्षरात्मकमासीत् । ततोक्षरात् असतो वै सत् सगुणमजायत जातमित्यर्थः ॥ तदुक्तं गीतायाम् 'अक्षराणामकारोस्मी'ति ॥ ३ ॥

अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमेश्वरः ।
आद्यमन्त्येन संयोगादहमित्येव जायते ॥ ४॥

अतएवाह—अकार इति । 'आदिरन्त्येन सहेता' इत्यादिरकारोन्त्योहकारः अकारादिहकारान्ता वर्णास्ततः परमात्मनः समभवन्नित्यर्थः । परमः शिव इति पाठान्तरम् ॥ ४ ॥

सर्वं परात्मकं पूर्वं ज्ञप्तिमात्रमिदं जगत् ।
ज्ञप्तेर्बभूव पश्यन्ती मध्यमा वाक् ततः स्मृता ॥ ५ ॥

वक्त्रे विशुद्धचक्राख्ये वैखरी सा मता ततः ।
सृष्ट्याविर्भावमासाद्य मध्यमा वाक् समा मता ॥ ६ ॥

ईश्वर एवानादिजीवोपाध्याश्रितकर्मप्रेरितप्राणव्यापारानन्तरं नाभौ पराख्यं मायापरिणाममुपेत्य हृदि पश्यन्त्याख्यमुपेत्य विशुद्धचक्रे मध्यमाख्यमुपेत्य पश्चाद्वक्त्रे वैखर्याख्यमवाप्य वेदादिरूपो भवतीत्यर्थः । श्रुतिरपि-"वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे" इति । सूक्ष्मा वागेव विश्वाकारेण विपरिणमते विवर्तते वेति बोध्यम् ॥ श्रुत्यन्तरमपि-'वाचैव विश्वं बहुरूपं निबद्धं तयैवैकं प्रविभज्योपभुङ्क्ते' इति ॥ ॥६॥

अकारं संनिधीकृत्य जगतां कारणत्वतः ।
इकारः सर्ववर्णानां शक्तित्वात्कारणं गतम् ॥ ७ ॥

जगत्स्रष्टुमभूदिच्छा यदा ह्यासीत्तदाभवत् ।
कामबीजमिति प्राहुर्मुनयो वेदपारगाः ॥ ८ ॥

अकारो ज्ञप्तिमात्रं स्यादिकारश्चित्कला मता ।
उकारो विष्णुरित्याहुर्व्यापकत्वान्महेश्वरः ॥ ९ ॥

तत्र सर्वत्रेकारस्यैव स्वतन्त्रतामाह-अकारमिति ॥७॥ जगत्स्रष्टुमिति । उक्तंच—
स्वप्रकाशपरमात्मवस्तुनो दृश्यमानजगतः सिसृक्षया ॥
कामतः परशिवप्रकाशितं कामबीजमिदमेव निश्चितम् ॥' इति ॥
बीजं विन्दुद्वयारूढं सार्धयोनिस्वरूपकम् ॥
महाकामकलारूपमात्मानं चिन्तयेत्प्रिये ॥"

इति च ॥ ८ ॥ उक्तमेव द्रढयति—अकार इति । उकार इति । उ व्यापकत्वेन ण् ईश्वर आसीदित्यर्थके उणीश्वरः इत्यत्रेति भावः ॥ ९ ॥

ऋलृक् ॥ २ ॥

ऋलृक् सर्वेश्वरो मायां मनोवृत्तिमदर्शयत् ।
तामेव वृत्तिमाश्रित्य जगद्रूपमजीजनत् ॥ १० ॥

ननु सर्ववेदान्तेषु परमेश्वर एक इति निश्चितत्वान्मायामीं चित्कलां समाश्रित्य जगद्रूपोऽभूदित्युक्तेऽद्वैतहानिर्जायेतेत्याशङ्क्याह—ऋलृगिति । ऋ परमेश्वरः लृ मायाख्यां मनोवृत्ति क् अदर्शयत् । तामेवाश्रित्य स्वेच्छया जगज्जनयामासेत्यर्थः । ऋ परमेश्वर इत्यत्र 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्' इति श्रुतिः प्रमाणम् । तं तत्पदार्थं परं ब्रह्म ऋ सत्यमित्यर्थः ॥ श्रुत्यन्तरमपि—'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इति । श्रीतन्त्रेऽपि—'मत्तो ह्यभून्मनोरूपं लृकारः परमेश्वरि' इति । ऋलृवर्णौ यथा तादात्म्यमापन्नौ तथेत्यर्थः ॥ १० ॥

वृत्तिवृत्तिमतोरत्र भेदलेशो न विद्यते ।
चन्द्रचन्द्रिकयोर्यद्वद्यथा वागर्थयोरपि ॥ ११ ॥
स्वेच्छया स्वस्य चिच्छक्तौ विश्वमुन्मीलयत्यसौ ॥
वर्णानां मध्यमं क्लीबमृलृवर्णद्वयं विदुः ॥ १२ ॥

तदाह—भेदलेश इति । वास्तव इत्यर्थः ॥ ११ ॥ १२ ॥

एओङ् ॥ ३ ॥

एओङ्मायेश्वरात्मैक्यविज्ञानं सर्ववस्तुषु ।
साक्षित्वात्सर्वभूतानां स एक इति निश्चितम् ॥ १३ ॥

ननु 'जनयामास' इत्युक्ते जन्यजनकभावेऽद्वैतहानिः स्यादित्याशङ्क्य तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदिति श्रुतिमाश्रित्याह—एओङ्मायेश्वरेति ॥ जन्यजनकत्वं च स्वस्यैव तद्रूपेण वर्तमानत्वादिति नाद्वैतहानिः । अकारोकाराभ्यां निष्पन्नप्रणवरूपेणौकारेण सगुणनिर्गुणयोरैक्ये बोधिते तेनैव दृष्टान्तेन सर्वत्रैक्यबुद्धौ द्वैतनिरासो ध्वनितः । समष्टिव्यष्टिभेदेन पूर्ववर्णयुतद्वितीयस्य तद्युततृतीयस्य च समन्वयबोधकमिदं सूत्रम् । अ अक्षरात्मकः इ मायायुक्तः सन्प्रज्ञानस्वरूपः प्रज्ञानात्मा [सर्ववस्तूनामेकत्वात् अद्वैतोपपत्तिः, न नानात्वं जन्यजनकत्वं च ।] स्वयं प्रविश्य तद्रूपेण वर्तत इत्यर्थः ॥ वटबीजन्यायेन च पूर्वसूत्रद्वयजनितवर्णपञ्चकमेव सकलजगत्कारणमिति प्रागुक्तम् । उत्तरसूत्रवर्णानामपि तस्मादेव सम्भवः । समष्टिव्यष्टिभेदेषु पूर्ववर्णयुतद्वितीयस्य पूर्ववर्णयुततृतीयस्य च समन्वयबोधकमिदं सूत्रम् । समन्वयबोधनमप्येकत्वेनोक्तम् । अत्राप्यपरञ्चे सर्ववेदसम्मतत्वं च । तथा च सनकदक्षिणामूर्त्तिसंवादमहावाक्यविवरणे—

शृणु त्वं सावधानेन चतुर्णामपि साम्यता ।
वेदानां च महाभाग चतुष्काणामिहोच्यते ॥ १ ॥
ब्रह्मशब्देन यद्वस्तु तत्त्वज्ञानमितीरितम् ।
प्रज्ञानं ब्रह्म यस्माद्धि तस्माद्ब्रह्मास्म्यहं ततः ॥ २ ॥
तद्ब्रह्म सर्वसाक्षीति तत्त्वमस्येव तत्त्वतः ।
अन्यत्ववारणत्वायाऽयमात्मेत्यपि वर्ण्यते ॥ ३ ॥

इति ॥ १३ ॥

ऐऔच् ॥ ४ ॥

ऐ औच् ब्रह्मस्वरूपः सन् जगत्स्वान्तर्गतं ततः ।
इच्छया विस्तरं कर्तुमाविरासीन्महामुनिः ॥ १४ ॥

स्वात्मभूतस्य परमेश्वरस्य जगत्कारणत्वं कथमित्याशङ्क्याह—ऐ औजिति । ततः स्वान्तर्गतं जगद्विस्तारयितुमिच्छुः ऐ ज्ञानशक्तियुक्त इति अतः पूर्वसूत्रगत एव सः । अकारेकारदीर्घयोगस्यैव ऐकारत्वमेकत्वं च । संप्रज्ञानस्वरूपपरमेश्वरो यः स पूर्वसूत्रगत एव, अकारदीर्घस्य उकारदीर्घस्यैव योगे औकारत्वं यः सः प्रज्ञानात्मा मायाशबलितः स ऐकारो यः स आईआऊ इत्यादिर्भावि उक्तः । उक्तं चेश्वरविमर्शिन्याम्—अकारेकारोकाराणां ह्रस्वदीर्घाणां संयोगात्सर्वसंभूतिरिष्यत इति ॥ इच्छया जगद्विस्तारयितुमुद्युक्त इत्यर्थः । अत्राह—

प्रणवेन जगद्व्याप्तं मायायामवतिष्ठते ॥

इति ज्ञानोत्तमे ॥ एवं तत्तत्समुदायानां त्रयोदशवर्णाच्छिवादिप्रकृत्यन्तानामुद्भवः । प्रकृतिपुरुषविवेकमुत्तरत्र कथयत्यस्मिन् सूत्रे उपहारत्वेन पठितम् । अत्र ह्रस्वदीर्घप्रभेदाच्चतुर्दशस्वराणामेव संकीर्तनं चतुर्दशभुवनचतुर्दशचक्रचतुर्दशप्रकाराणामिति निष्कर्षः । तदुक्तं शिवगौरीसंवादे महामन्त्रतत्त्वप्रकाशिन्याम्—

तत्त्वमत्र महेशानि मम रूपं त्वमेव हि ॥
चतुर्दशात्मकं चक्रं स्वरचक्रमितीरितम् ॥
त्रयोदशात्मकं तुर्यमावयोर्मन्त्रमम्बिके ॥
उच्छूनकाले विन्द्वात्मा तस्मादक्षरसंभवः ॥
विन्दुस्फोटनमात्रेण वर्णानां च समुद्भवः ॥
तस्मादाकाशमुख्यानि भूतानि समजायत ॥
बिन्दुः श्रीचक्रराजस्य परब्रह्मात्मकस्त्विति ॥
चतुर्दशात्मकः पश्चाच्चक्राकारेण संभवः ॥
उत्पन्नभुवनान्यत्र चतुर्दश चतुर्दशेति ॥ १४ ॥

हयवरट् ॥ ५ ॥

भूतपञ्चकमेतस्माद्धयवरण्महेश्वरात् ॥
व्योमवाय्वम्बुवह्न्याख्यभूतान्यासीत्स एव हि ॥ १५ ॥

तत आत्मनः सकाशादाकाशादिभूतसंभवमाह—भूतपञ्चकमिति । स एवेति । परमेश्वर एवेत्यर्थः ॥ १५ ॥

हकाराद्व्योमसंज्ञं च यकाराद्वायुरुच्यते ॥
रकाराद्वह्निस्तोयं तु वकारादिति सैव वाक् ॥ १६ ॥

हकारादित्यादि। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूत आकाशाद्वायुः वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी' इति श्रुतिः ॥ १६ ॥

लण् ॥ ६ ॥

आधारभूतं भूतानामन्नादीनां च कारणम् ॥
अन्नाद्रेतस्ततो जीवः कारणत्वाल्लणीरितम् ॥ १७ ॥

एतस्मात्परमेश्वराद्भूतपञ्चकमाकाशादिकं प्रपञ्चकारणमासीदित्युक्तम्, तत्राकाशादिभूतचतुष्टयमेवोक्तं न पृथिवीत्याकाङ्क्षायामाह—आधारेति। भूतानां प्राणिजातानामुद्भिज्जस्वेदजजरायुजाण्डजादीनां प्रधानाधारत्वादाधारभूता पृथिवी पुनश्चान्नपानादीनां कारणत्वात्प्रत्येकत्वेन लणित्युदीरितमित्यर्थः॥ अन्नाद्रेत इति न्यायात् ॥ १७ ॥

ञमङणनम् ॥ ७ ॥

शब्दस्पर्शौ रूपरसगन्धाश्च ञमङणनम् ॥
व्योमादीनां गुणा ह्येते जानीयात्सर्ववस्तुषु ॥ १८ ॥

ततः पृथिव्यादीनां कारणत्वेन स्थितानां तन्मात्राणामुत्पत्तिक्रममाह—शब्देति ॥ व्योमादीनामिति। व्योमादीनां गुणानेककारणानुत्पत्तिक्रमे तान् जानीयात् सर्ववस्तुष्विति। अत्र केषांचिद्ग्रन्थे अकारादिक्षकारान्ताः षट्त्रिंशत्त्वमयाः कतिचित्तन्त्रराजादिग्रन्थे पञ्चभूतक्रमेण लिपिप्रकारेण। एवमन्यत्र वीजनिर्णयभेदा वहवः सन्ति अत्र तु तन्त्रोक्तप्रकारेणोद्घाटितम्।

'पञ्चवर्गेष्वन्तिमावर्णाः शब्दस्पर्शादयो गुणाः ॥'

इति वचनात्। सर्वजगत्कारणभूतस्य वर्णरूपपुरुषस्य सर्वेषां चेति व्योमादिगुणा इत्यर्थः ॥१८॥

झभञ् ॥ ८ ॥

वाक्पाणी च झभञासीद्विराड्रूपचिदात्मनः ॥
सर्वजन्तुषु विज्ञेयं स्थावरादौ न विद्यते ॥
वर्गाणां तुर्यवर्णा ये कर्मेन्द्रियमया हि ते ॥ १९ ॥

घढधष् ॥ ९ ॥

घढधष् सर्वभूतानां पादपायू उपस्थकः ॥
कर्मेन्द्रियगणा ह्येते जाता हि परमार्थतः ॥ २० ॥

ततः सूत्राभ्यां कर्मेन्द्रियवर्गमुद्घाटयति—वाक्पाणी चेति। विराड्रूपस्य शिवस्य प्राणिजातस्य च झकारभकारौ स्थावरादिषु विना विराड्रूपं विज्ञेयमित्यर्थः॥ अथ

क्रमप्राप्तं पादादिकमाह—घढधषिति। परमार्थत इति। परमशिवसकाशात् इमे कर्मेन्द्रियगणाः सर्वजन्तूनां पादपायूपस्था घढधवर्णा जाता इत्यर्थः। ॥ २० ॥

जबगडदश् ॥ १० ॥

श्रोत्रत्वङ्नयनघ्राणजिह्वा धीन्द्रियपञ्चकम् ॥
सर्वेषामपि जन्तूनामीरितं जबगडदश् ॥ २१ ॥

अथ क्रमप्राप्तं ज्ञानेन्द्रियसम्भवमाह—श्रोत्रेति।

"वर्गाणां मध्यवर्णोत्थो ज्ञानेन्द्रियगणः स्मृतः" ॥

इति वचनशासनाज्जबगडदवर्णसमूहो ज्ञानेन्द्रियगण इति तस्य सर्वत्रस्थस्यैव ज्ञानेन्द्रियगणः समुत्पन्न इति सर्वत्र सर्वेषां प्राणिजातानामेते वर्णा ज्ञानेन्द्रियाणां जनका इति वा ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥ २१ ॥

खफछठथचटतव् ॥ ११ ॥

प्राणादिपञ्चकं चैव मनो बुद्धिरहंकृतिः।
बभूव कारणत्वेन खफछठथचटतव् ॥ २२ ॥

वर्गद्वितीयवर्णोत्थाः प्राणाद्याः पञ्च वायवः।
मध्यवर्गत्रयाज्जाता अन्तःकरणवृत्तयः ॥ २३ ॥

ततः प्राणादिपञ्चकमनोबुद्ध्यहंकाराः समुन्मील्यन्ते—प्राणादीति ॥ २२ ॥

वर्गेति। एतैरष्टवर्णैः प्राणादिपञ्चकं मनोबुद्ध्यहंकृतयश्च जगतां कारणत्वेन संभूता इत्यर्थः ॥ २३ ॥

कपय् ॥ १२ ॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव सर्वेषामेव सम्मतम्।
सम्भूतमिति विज्ञेयं कपय् स्यादिति निश्चितम् ॥ २४ ॥

ततः सर्वप्राणिकारणत्वेनाद्यन्तवर्गद्वयाद्यक्षरग्रहणेन सम्पुटीभावं प्रकृतिपुरुषाभ्यां प्रकाशयति—प्रकृतिमिति। ककारपकारजातौ प्रकृतिपुरुषावित्यर्थः ॥ २४ ॥

शषसर् ॥ १३ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणानां त्रितयं पुरा।
समाश्रित्य महादेवः शषसर् क्रीडति प्रभुः ॥ २५ ॥
शकाराद्राजसोद्भूतिः षकारात्तामसोद्भवः।
सकारात्सत्त्वसंभूतिरिति त्रिगुणसंभवः ॥ २६ ॥

तत्रावस्थात्रयं निरूपयति—सत्त्वमित्यादि। पुरा सृष्टेः प्राक् शषसवर्णसंभूतान् सत्त्वरजस्तमोगुणानाश्रित्य परमशिवः सर्वभूतेषु क्रीडतीत्यर्थः ॥ २५ ॥ ॥ २६ ॥

प्रथमाध्याये प्रथमपादे तृतीयाह्निकम्

अथ पाणिनीयं विधिशेषप्रकरणम्

वृद्धिरादैच् (१।१।१) ॥

(असाधुत्वनिराकरणाधिकरणम्, आक्षेपभाष्यम्)

कुत्वं कस्मान्न भवति "चोः कुः (८।२।३०) "पदस्य" इति ?

प्रदीपः

वृद्धिरादैच् ॥१॥ कुत्वं कस्मान्न भवतीति। अनेकशक्तेः शब्दस्य शक्त्यवच्छेदेन

उद्द्योतः

वृद्धिरादैच् ॥ द्विपदं सूत्रं, कृतमनयोः साधुत्वमिति भाष्यदर्शनात्। अन्यथोद्देश्यानेकत्वाद् वृद्धिशब्दस्यावृत्तिर्वाक्यार्थबोधाय कार्या स्यात्। द्वन्द्वे तु समाहारस्यैकस्योद्देश्यस्य शब्दतः संभवात् तां विनापि सिध्यति। न च समाहारे टच्प्रसङ्गः, समासान्तविधेरनित्यत्वात्। प्रतेरंश्वादय इति सूत्रेंश्वादिगणे राजन्शब्दपाठाल्लिङ्गात्। अन्यथा राजाह इति टचा सिद्धे किं तेन ॥ यद्वा पदत्रयं, पस्पशायां भाष्ये वृद्धिः, आद्, ऐजिति पदविभागदर्शनात्। वृद्धिशब्दस्त्वावृत्त्या योज्यः। अत्र पक्षेऽनयोरिति भाष्यं खण्डयोरित्यर्थकम् ॥

असाधुशब्दोच्चारणे पाणिनेरश्रद्धेयतापत्त्या तदुक्तपदानां साधुत्वं विचारयति—भाष्ये कुत्वमित्यादि। ननु ऐच्छब्दस्यादिरन्त्येनेत्यनेन कृत्रिमतया लौकिकवैदिकहिव-

भावबोधिनी

प्रणम्य परमात्मानमक्षरं शाश्वतं विभुम्।
तृतीयमाह्निकं भाष्ये व्याचष्टे 'जयशङ्करः' ॥

[आदैच् के चकार का] कुत्व (क् आदेश) क्यों नहीं किया गया है क्योंकि "चोः कुः" (८।२।३०) सूत्र पद के अन्त्य चवर्ग का कवर्ग आदेश करता है ?

हल् ॥ १४ ॥

तत्त्वातीतः परः साक्षी सर्वानुग्रहविग्रहः।
अहमात्मा परो हल् स्यामिति शंभुस्तिरोदधे ॥ २७ ॥

॥ इति नन्दिकेश्वरकृता काशिका समाप्ता ॥

सर्वतत्त्वजनकः स्वयं तत्त्वातीत इति ज्ञापनार्थमेतत्सूत्रं चकारेत्याह—तत्त्वातीत इति। सर्वानुग्रहः साक्षी तत्त्वातीतो हल् स्यामिति ढक्कानिनादव्याजेन सर्वेषां मुनिजनानां तत्त्वमुपदिशन् तिरोदधे इत्यर्थः ॥ हकारः शिववर्णः स्यादिति शैवागमस्थितिरिति शिवम् ॥ २७ ॥

इति आदिसूत्रनन्दिकेश्वरकाशिकायास्तत्त्वविमर्शिन्युपमन्युकृता सम्पूर्णा ॥

प्रदीपः

शब्दत्वाद्वा शास्त्रप्राप्तिरस्तीति प्रश्नः । तत्र कुशब्दः पञ्चसु वर्णेष्वासक्तरूपो वाचकत्वेन विनियुक्त इति कुशब्दे वाचकशब्दस्वरूपे प्रवृत्तिनिमित्ते भावप्रत्ययः ॥

उद्द्योतः

संज्ञिनि विनियोगान्नित्यत्वाच्च सर्वसंज्ञानां लौकिकत्वादादैच्छब्दस्यानुकरणशब्दत्वाज्जाति-भूतत्वेन कथं सुबादिशास्त्रप्राप्तिः । लौकिकत्वं च लोकेऽर्थबोधनाय प्रयुक्तशब्दत्वमत आह—अनेकेति ॥ नित्यत्वाच्चेति । चो हेतौ । यतः शब्दार्थसंबन्धस्य नित्यत्वात्सर्व-संज्ञानां नित्यत्वमतो लौकिकत्वाच्छास्त्रप्राप्तिरित्यन्वयः ॥ लोकेऽर्थान्तरेऽप्रसिद्धानामपि संज्ञानां नित्यत्वमिति बोधयितुं सर्वशब्दः ॥ नन्वेवं वृद्धिरादैजित्यादीनां वैयर्थ्यमत आह—शक्तीति । शक्त्यवच्छेदस्तत्संकोचः । विनियोगो विशेषे नियमः । अभिमता-तिरिक्तार्थान्तरव्युदासाय च सः ॥ परिसंख्यायां चात्र शास्त्रे प्रायेण नियमव्यवहार इति बोध्यम् । यद्वा—शक्त्यवच्छेदः शक्तिनिश्चयः 'शब्दार्थस्यानवच्छेदे' इत्यादाव-वच्छेदशब्दस्य तदर्थकत्वदर्शनात् । फलरूपे हेतौ तृतीया ॥ विनियोगः उपदेशः । शक्ति-निश्चयफलकोपदेशादित्यर्थः । एवंच तत्सङ्केतकरणरूपप्रकरणादर्थान्तराप्रतीतिरिति बोध्यम् ।। इदमेव युक्तं, सर्वार्थवाचकत्वेपि सङ्केतरूपत्वेनाज्ञातशक्तिबोधकतया विधि-त्वसंभवेनैषां नियमार्थत्वासंभवात् ॥ नन्वेवं लौकिकार्थबोधो न स्यादत उक्तम्—अनेकशक्तेरिति । स्वशास्त्रे एव प्रकरणादन्यार्थाबोध इति भावः । अनेकस्मिन्ननेका वा शक्तिरस्येति विग्रहः । अन्त्ये सर्वनाम्नो वृत्तिमात्र इति पुंवत्त्वम् । कोपधप्रतिषेधे तद्धितवुग्रहणाद्वा 'स्त्रिया' इति पुंवत्त्वम् । आश्रयभेदादेव शक्तिभेद इति मते आद्यः । निरूपकभेदाद्भेदे द्वितीयः । नित्ये शब्दार्थसंबन्धे पुरुषव्यापारात्प्रागवाचकस्य न पुरुष-वाचकता शक्या कर्तुमतः सर्वे सर्वार्थवाचका इत्यभ्युपगमादनेकशक्तित्वावसायः । तादात्म्यमेव च शब्दार्थयोः शक्तिः । अत्र पक्षे गौणमुख्यविभागः प्रसिद्ध्यप्रसिद्धिमूलः । 'अन्यायोऽनेकार्थत्वमिति' त्वश्रद्धेयमेवेति निरूपितं मञ्जूषायाम् । अत्र लौकिकशब्दत्वं साध्यम् । शास्त्रीयसंज्ञात्वसमानाधिकरणं नित्यत्वं हेतुः । अतो न वैदिकेषु व्यभिचारः । सर्वसंज्ञानामिति वदता सूचितमिदम् ॥ अपूर्वाः संज्ञाः क्रियन्त इति पक्षेपि लौकिकत्वं साधयति—अनुकरणेति । अयमपि लौकिकत्वे हेतुः आदिरन्त्येनेत्यनेन संज्ञात्वेन विनियुक्तस्यैच्शब्दस्यानुकरणं सूत्रे, लक्षणया तेनैवोपस्थापितयोरैकारौकार-योस्तात्पर्यवशाच्छाब्दबोधविषयतेति बोध्यम् । अनुकरणे च सर्वशब्दानां साधुत्वेन शास्त्रविषयतेति भावः ॥ यत्त्वैजित्याद्यन्तावयवद्वारा समुदायानुकरणमिति । तन्न । तथासत्यादिरन्त्येनेति सूत्रवैयर्थ्यापत्तेः । वृद्धिशब्दादेः शास्त्रविषयताया एवमप्यनुप-पादनाच्च ॥ नन्वनुकरणत्वाननुभवः । किं च त्रयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति पक्षे उक्तहेतु-द्वयस्याप्यभावोऽत आह—जातीति । वैयाकरणव्यवहाराच्च तत्सिद्धिरिति भावः ॥

(समाधानभाष्यम्)

भत्वात् ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

कथं भसंज्ञा ?

(समाधानभाष्यम्)

"अयस्मयादीनि च्छन्दसि" (१।४।२०) इति ॥

(समाधानबाधकभाष्यम्)

छन्दसीत्युच्यते, न चेदं छन्दः ॥

उद्द्योतः

अत्र पक्षे जातिबोधार्थमेव संज्ञासूत्राणीति बोध्यम् । अत्रापि पक्षे लौकिकत्वं संज्ञापक्षवदेव बोध्यम् ॥ हरदत्तस्तु—वृद्धिशब्दो वृधेर्भावे क्तिन्नन्तः । अभेदोपचाराच्च वृद्धियुक्तादैक्षु वृत्तिः । लक्षणयैव सिद्धे सूत्रं नियमार्थं, वृद्धियुक्तप्लुतदीर्घेकारादीनां बोधो माभूदिति त्रयीपक्षे सूत्रार्थमाह ॥ तन्न । अदेङ्गुण इत्यादावसंभवात् ॥ ननु कुत्वमित्यत्र संज्ञात्वपक्षे ककारादिपञ्चकगतप्रवृत्तिनिमित्ताभावाद्भावप्रत्ययोऽनुपपन्नः । किं चात्र ककारस्य प्राप्तिर्न तु कुवृत्तिधर्मस्येति कुत्वमित्यसङ्गतमत आह—तत्रेति । आसक्तरूपः संबद्धस्वरूपः । एवं च कुशब्दः कुशब्दवत्ककारादिषु शक्त इत्येवं शक्तिग्रहात्कुशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वम् । संबन्धश्चानादिव्यवहारसिद्धतादात्म्यम् । तादात्म्येन कुशब्दं प्रवृत्तिनिमित्तीकृत्य शक्तित्वेन तस्य ग्रहे बाधकाभावात् ॥ केचित्तु शब्दस्य स्वरूपं कुशब्दत्वं सामान्यं तत्कादिष्वारोपितं प्रवृत्तिनिमित्तं तद्व्यक्तिश्च वाचिकेत्याहुः ॥ तेन च कुत्वशब्देन स्वार्थाश्रयः ककारो लक्ष्यते इति ककारः कस्मान्नेति चोद्यपर्यवसानम् ॥ वस्तुतः कुत्वकुपदयोर्भत्वभसंज्ञापदयोश्च पर्यायतेति ऋलृक् सूत्रे निरूपितमिति न कश्चिद्दोषः ॥

भावबोधिनी

भत्व (भसंज्ञा) के कारण [पद संज्ञा का बाध हो जाने से कुत्व नहीं होता है ।]

भसंज्ञा कैसे होती है ? [क्योंकि आगे यकारादि अजादि नहीं है—यचि भम् ।]

'अयस्मयादीनि छन्दसि' (१।४।२०) सूत्र से ।

यह सूत्र तो 'छन्दसि' (वेदविषय में) ऐसा कहा जाता है, और यह पाणिनीय सूत्र तो छन्दः = वेद नहीं है ।

(समाधानसाधकभाष्यम्)

छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

यदि भसंज्ञा, "वृद्धिरादैजदेङ् गुणः" (१।१।१-२) इति जश्त्वमपि न प्राप्नोति ॥

(समाधानभाष्यम्)

उभयसंज्ञान्यपि छन्दांसि दृश्यन्ते । तद्यथा—'स सुष्टुभास ऋक्वता गणेन' पदत्वात्कुत्वम्, भत्वाज्जश्त्वं न भवति । एवमिहापि पदत्वाज्जश्त्वम्,

प्रदीपः

छन्दोवदिति । न वैशेषिकादिसूत्राणि, अपि त्वङ्गत्वाद् व्याकरणसूत्राण्येव । इष्टिश्चेयम्—छन्दोवदिति ॥

उद्द्योतः

अङ्गत्वात् । पदपदार्थबोधनद्वारा वेदोपकारकत्वात् । मुखं व्याकरणमित्यादिनाङ्गत्वनिरूपणाच्च । प्रधानं च षड्स्वङ्गेषु व्याकरणमिति पस्पशायां भाष्योक्तेश्च ॥ अस्यामिष्टौ नार्षत्वं प्रयोजकं नैवेष्टिरस्ति 'छन्दोवत्कवयः कुर्वन्तीति यू स्त्र्याख्याविति सूत्रे भाष्योक्तेः । तस्मादङ्गत्वमेव प्रयोजकमिति भावः ॥ ननु छन्दसि विहितस्य सूत्रे कथं प्रवृत्तिरत आह—इष्टिरिति । तथा च भाष्यकारीयातिदेशात्सूत्रेषु छन्दःकार्यप्रवृत्तिरिति भावः ॥

भाष्ये जश्त्वमपीति । संहितया पाठे इत्यर्थः ॥

उभयसंज्ञान्यपीति । उभे संज्ञे येषामिति विग्रहः । संज्ञाद्वयहेतुककार्यदर्शनेन

भावबोधिनी

(इष्टि०) व्याकरणसूत्र वेद के समान होते हैं । [अतः वेदविषयक भसंज्ञाविधायक सूत्र लगता है । यह वार्त्तिक नहीं हैं अपि तु भाष्यकार का इष्टिवचन है । यह भी सूत्र, वार्तिक के समान ही प्रमाण माना जाता है ।]

[छन्दोवत् मानकर] यदि भसंज्ञा होने से कुत्व नहीं होता है तो 'वृद्धिरादैजदेङ् गुणः' इस (संहिता पाठ) में ["झलां जशोऽन्ते" ८।२।३९ से च् का] जश्त्व भी नहीं प्राप्त होता है ।

वेद दोनों संज्ञाओं वाले देखे जाते हैं' अर्थात् एक में ही भसंज्ञा और पदसंज्ञानिमित्तक कार्य देखे जाते हैं । क्योंकि 'वेद में दृष्टानुविधि होती है । अतः विपर्यय नहीं किया जा सकता ।] उदाहरणार्थ—"स सुष्टुभास ऋक्वता गणेन' । यहाँ 'ऋक्वता' में पदसंज्ञा के कारण ['चोः कुः' से च् का] कुत्व होता है, और भसंज्ञा के कारण

भस्वात्कुत्वं न भविष्यति ॥

(अथ तद्भावितपक्षनिराकरणाधिकरणम् ।)

(उभयपक्षस्वरूप-तद्भावितपक्षदूषणभाष्यम्)

किं पुनरिदं तद्भावितग्रहणम्—वृद्धिरित्येवं ये आकारैकारौकारा भाव्यन्ते, तेषां ग्रहणम्, आहोस्विदादैज्मात्रस्य ?

प्रदीपः

किं पुनरिति । उभयथा शास्त्रे दर्शनात्पक्षद्वयेऽपि दोषसम्भवात्प्रश्नः ॥

उद्द्योतः

तद्वत्त्वकल्पनेति भावः ॥ (इत्यसाधुत्वनिराकरणम् ॥)

ननु सूत्रादादैज्मात्रग्रहणपक्ष एव प्रतीयत इति प्रश्नानुपपत्तिरत आह—उभयथेति । लुगादिसंज्ञासु तद्भावितपक्षस्य, लोपसंज्ञायामदर्शनमात्रस्येति भावः ॥ ननु टिघुभादिसंज्ञास्वतद्भावितानामेव ग्रहणं दृश्यते, इति सोपि पक्षः शङ्कितुमुचित इति चेत्; न । तत्र हि तद्भावितासम्भवादतद्भावितानामेव ग्रहणम्, न च तथा प्रकृते इति

भावबोधिनी

जश्त्व नहीं होता है । [अतः 'क्' का 'ग्' नहीं होता है ।] इसी प्रकार 'वृद्धिरादैजदेङ् गुणः' में पदसंज्ञा के कारण जश्त्व तो होता है, साथ ही भसंज्ञा के कारण कुत्व नहीं होता है । [अतः लक्ष्यसिद्धि के अनुसार विधिशास्त्र की प्रवृत्ति करनी चाहिए । कोई दोष नहीं है ।]

तद्भावित और अतद्भावित पक्षों का विचार

[व्याकरणशास्त्र में कुछ शब्दरूप स्वभावतः सिद्ध रहने वाले ही प्रयुक्त होते हैं और कुछ के लिए विशेष विधि की जाती है । जिन्हें किसी विधि आदि से किया जाता हैं वे तद्भावित होते हैं, इनसे भिन्न अतद्भावित । वृद्धिसंज्ञक आ, ऐ, औ भी ऐसे हैं । इनमें कहीं पर स्वभावतः ये रहते हैं और कहीं वृद्धि शब्द का उच्चारण करके इनका विधान किया जाता है । अतः यह निर्णय करना आवश्यक है कि किस प्रकार के आत् ऐच् वृद्धिसंज्ञक माने जांय ।]

क्या यह सूत्र तद्भावित के ग्रहण वाला है—'वृद्धि' इस प्रकार के शब्द का उच्चारण करके जो आकार, ऐकार और औकार किये जाते हैं उनका ग्रहण है अथवा आदैच् (आ, ऐ, औ) मात्र का ? [अर्थात् जहाँ वृद्धि शब्द के उच्चारण के बाद आ, ऐ, औ बनते हैं । उनकी वृद्धि संज्ञा [होती है । अथवा सभी प्रकार के आ, ऐ, औ की ।]

किं चातः ?

यदि तद्भावितग्रहणम्, शालीयो मालीय इति वृद्धलक्षणश्छो न प्राप्नोति। आम्रमयम्, शालमयम्, वृद्धिलक्षणो मयण्न प्राप्नोति। आम्रगुप्तायनिः, शालगुप्तायनिः, वृद्धलक्षणः फिञ् न प्राप्नोति॥

(आदैज्मात्रग्रहणे दूषणभाष्यम्)

अथादैज्मात्रस्य ग्रहणम्, सर्वो भासः सर्वभाम इति "उत्तरपदवृद्धौ सर्वं च" (६।२।१०५) इत्येष विधिः प्राप्नोति॥ इह च—तावती भार्या यस्य तावद्भार्यः,

उद्द्योतः

उभयथेत्युक्तम्। वृद्धिशब्दे तन्त्राद्यङ्गीकारे तद्भावितग्रहणम्। वृद्धिशब्दैकत्वे द्वितीयः पक्ष इति भावः॥ भाष्ये वृद्धिलक्षणो मयडिति। नित्यं वृद्धशरादिभ्य इत्यस्य वृद्धसंज्ञाद्वारा वृद्धिलक्षणत्वं बोध्यम्॥ 'वृद्धलक्षण' इति पाठे एषां वृद्धित्वाभावेन समुदायानां वृद्धत्वाभावादित्यर्थः॥ फिञिति। उदीचां वृद्धादगोत्रादिति। न च प्राचामवृद्धादिति फिनाप्येतत्सिद्धम्, पुंवद्भावनिषेधोऽप्याम्रगुप्तायनीभार्य इत्यादौ जातेश्चेति सिद्ध इति इति वाच्यम्। आम्रगुप्तायनेरपत्यं युवेत्यर्थेऽणो ण्यक्षत्रियार्षञित इति लुकि आम्रगुप्तायनिरित्येव रूपं पितरि पुत्रे चेष्यते, फिनि तु ञितः परत्वाभावान्न सिध्येत्। न चाब्राह्मणगोत्रमात्राद्युवप्रत्ययस्योपसंख्यानमिति तत्सिद्धिः। ब्राह्मणगोत्रे तदप्रवृत्तेः॥

भाष्ये—एष विधिरिति। पूर्वपदान्तोदात्तत्वमित्यर्थः॥ तावद्भार्ये आ सर्वनाम्न

भावबोधिनी

इस [प्रश्न] का क्या तात्पर्य है ?

यदि तद्भावित आ, ऐ, औ का ग्रहण होता है तो—शालीयः, मालीयः—इनमें [["वृद्धाच्छः" ४।२।१४ सूत्र से] वृद्ध को मानकर होने वाला छ प्रत्यय नहीं प्राप्त होता है।

आम्रमयम्, शालमयम्—इनमें [नित्यं वृद्धशरादिभ्यः ४।३।१४४ सूत्र से] वृद्धलक्षण मयट् प्रत्यय नहीं प्राप्त होता है।

आम्रगुप्तायनिः शालगुप्तायनिः—इनमें ['उदीचां वृद्धादगोत्रात्' ४।१।१५७सूत्रसे] वृद्धलक्षण 'फिञ्' प्रत्यय नहीं प्राप्त होता है।

[कारण स्पष्ट है कि उपर्युक्त सभी शब्दों में जो 'आ' है वह 'वृद्धि' शब्द से विहित = तद्भावित नहीं है, स्वभावतः है। अतः उसकी वृद्धि संज्ञा न हो सकने से वृद्ध संज्ञा भी नहीं होगी। फलतः वृद्ध मानकर होने वाले कार्य भी नहीं होंगे।]

अच्छा तो [अतद्भावित पक्ष माना जाय—] आदैच् मात्र = सभी आ, ऐ, औ का ग्रहण कर लिया जाय। [इससे उपर्युक्त लक्ष्यों में प्रत्यय तो सिद्ध हो जाते हैं किन्तु]—

यावद्भार्यः "वृद्धिनिमित्तस्य—" (६।३।३९) इति पुंवद्भावप्रतिषेधः प्राप्नोति ॥

(सिद्धान्तभाष्यम्)

अस्तु तर्हि—आदैज्मात्रस्य ग्रहणम् ॥

(आक्षेपस्मारणभाष्यम्)

ननु चोक्तम्—सर्वो भासः सर्वभास इति "उत्तरपदवृद्धौ सर्वं च" (६।२।१०५) इत्येष विधिः प्राप्नोतीति ॥

(समाधानभाष्यम्)

नैष दोषः। नैवं विज्ञायते—उत्तरपदस्य वृद्धिरुत्तरपदवृद्धिरुत्तरपदवृद्धाविति ॥

उद्द्योतः

इत्यात्वस्य वतुनिमित्तमिति पुंवत्त्व-निषेधप्राप्तिः ॥

यदि प्रथमपक्षे दोषो दुरुद्धरोऽस्तु तर्हीत्यन्वयः ॥

भावबोधिनी

सर्वो भासः—सर्वभासः[1]—यहाँ पर 'उत्तरपदवृद्धौ सर्वं च' (६।२।१०५) सूत्र से सर्व शब्द का अन्तोदात्तत्व प्राप्त होता है [क्योंकि 'भासः' यह उत्तरपद वृद्धसंज्ञक परे है।] और 'तावती भार्या यस्य सः–तावद्भार्यः, यावती भार्या यस्य सः—यावद्भार्यः– इनमें 'वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे' (६।३।३९) सूत्र से पुंवद्भाव का प्रतिषेध प्राप्त होता है। [कारण यह है कि 'आ सर्वनाम्नः' ६।२।९१ से आत्व होता है, इसकी भी वृद्धि संज्ञा होने लगेगी और इस आत्व का वतुप् निमित्त है। अतः वृद्धिनिमित्त तद्धित परे होने से पुंवद्भाव का प्रतिषेध होने लगेगा।]

[तद्भावितपक्ष के लिये वृद्धि शब्द की आवृत्ति करनी पड़ती है—वृद्धि शब्द द्वारा जिन आ, ऐ, औ का विधान होता है, वे वृद्धिसंज्ञक होते हैं। यह गौरव होता है अतः दूसरा अतद्भावितपक्ष ही सिद्धान्त है—]

अच्छा तो—आदैच् मात्र का ग्रहण हो। [सभी आ, ऐ, औ वृद्धि कहे जाते हैं।]

क्यों जी, यह कहा गया है कि [आदैच् मात्र का ग्रहण करने पर] सर्वो भासः—सर्वभासः—इस [कर्मधारय तत्पुरुष में] "उत्तरपदवृद्धौ सर्वं च'' (६।२।१०५) से [पूर्वपद सर्व का अन्तोदात्तत्व] यह विधि प्राप्त होती है।

---

१. यह विग्रह कर्मधारय तत्पुरुष सूचित करने के लिये है। क्योंकि तत्पुरुष में ही समास का अन्तोदात्त होता है। बहुव्रीहि में पूर्वपद का प्रकृतिस्वर होने से पूर्वपद 'सर्व' का अन्तोदात्त होना ही इष्ट है।

कथं तर्हि ?

"उत्तरपदस्य" इत्येवं प्रकृत्य या वृद्धिस्तद्वत्युत्तरपदे, इत्येवमेतद्विज्ञायते । अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम् । तद्भावितग्रहणे सत्यपीह प्रसज्येत—सर्वः कारकः सर्वकारक इति ॥

(द्वितोयदूपणनिराकरणभाष्यम्)

यदप्युच्यते—इह तावती भार्या यस्य तावद्भार्यः यावद्भार्यं इति च

प्रदीपः

उत्तरपदस्येत्येवमिति । तत्र हि वृद्धौ सर्वं चेत्यप्युच्यमाने वृद्धिमात्रस्योत्तरपदस्याभावात्तत्सामर्थ्याद्वृद्धिमदुत्तरपदं ग्रहीष्यत इत्यतिरिच्यमानमुत्तरपदग्रहणं सामर्थ्यादुत्तरपदाधिकारमवगमयति ॥

उद्द्योतः

तद्वत्युत्तरपदे इति । समासाक्षिप्तोत्तरपदशब्देन सामानाधिकरण्यायोत्तरपदस्येत्येवं वृद्धिर्यस्मिन्निति बहुव्रीहिरिति भावः ॥ तत्राधिकारलक्षणायां बीजमाह—तत्र हीति ॥ न च आ अवतीति औः सर्वस्य औः—सर्वौरित्यादौ वृद्धिरूपोत्तरपदसम्भवः । न चैकादेशे व्यपवर्गाभावः । नेन्द्रस्येति निषेधेन पूर्वोत्तरपदसम्बन्धिकार्यस्यैकादेशात्प्राक् प्रवृत्तिस्वीकारात् । तथा च सर्वशब्दान्तोदात्तत्वे शेषनिघातेन औकारस्यानुदात्तत्वे एकादेशस्य स्वरितो वानुदात्ते इति पाक्षिकः स्वरितः स्यादिति वाच्यम् ॥ तादृशानामभिधाने दृढतरमानाभावात् । स्वरितत्वाद्वाधिकारलाभ इति बोध्यम् ॥

भावबोधिनी

यह दोष नहीं है । क्योंकि ऐसा नहीं समझा जाता है—उत्तरपदस्य वृद्धिः—उत्तरपदवृद्धिः, उत्तरपदवृद्धौ अर्थात् उत्तरपद की वृद्धि रहने पर—ऐसा नहीं माना जाता है ।

तब कैसा [माना जाता है] ?

'उत्तरपदस्य' (७।३।१०) इस प्रकार का अधिकार करके जो वृद्धि की जाती है, ऐसी वृद्धि से युक्त उत्तरपद रहने पर [पूर्वपद 'सर्व' का अन्तोदात्त होता है]—ऐसा समझा जाता है । और ऐसा (पूर्वोक्त) अर्थ अवश्य करना चाहिए । कारण यह है कि तद्भावित के ग्रहण पक्ष रहने पर भी यहाँ [पूर्वपद का अन्तोदात्तत्व] प्रसक्त होने लगेगा—सर्वःकारकः—सर्वकारकः । [कारण यह है कि कृ + ण्वुल्=अक में 'अचो ञ्णिति' सूत्र से वृद्धि आर् का विधान करने से वृद्धिसंज्ञक है । अतः तद्भवित वृद्धि 'आ' है । सर्व का अन्तोदात्तत्व प्राप्त होता है । यह तभी रोका जा सकता है जब 'उत्तरपद के अधिकार में विहित वृद्धि ही यहाँ मानी जाय ।]

"वृद्धिनिमित्तस्य (६।३।३९)" इति पुंवद्भावप्रतिषेधः प्राप्नोतीति ॥ नैष दोषः । नैवं विज्ञायते—वृद्धेर्निमित्तं वृद्धिनिमित्तं वृद्धिनिमित्तस्येति ॥

कथं तर्हि ?

वृद्धेर्निमित्तं यस्मिन्सोऽयं वृद्धिनिमित्तः वृद्धिनिमित्तस्येति ॥

किं च वृद्धेर्निमित्तम् ?

योऽसौ ककारो ञकारो णकारो वा ॥

अथवा यः कृत्स्नाया वृद्धेर्निमित्तम् ॥

प्रदीपः

वृद्धेर्निमित्तं यस्मिन्निति । निमित्तशब्दोपादानसामर्थ्याद्व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिराश्रीयतेऽन्यथा वृद्धेस्तद्धितस्येत्येव ब्रूयात् । वृद्धिनिमित्तत्वाच्च तद्धितस्य तद्धित एव वृद्धिशब्देनाभिधायिष्यते । अथवा वृद्धेः सम्बन्धी यस्तद्धित इति वैयधिकरण्येन सम्बन्ध

उद्द्योतः

अन्यथा वृद्धेरिति । वृद्ध्यात्मकतद्धिताभावाद्वृद्धिनिमित्तग्रहणम् [[1]इतिभावः ॥ नन्वर्शःशब्दादर्शआद्यचि टाप्यर्शसेत्यादौ वृद्धिरूपसम्भव इत्यरुचेराह—अथवेति ॥] व्यधिकरणबहुव्रीह्याश्रयणसामर्थ्यादिव व्यपदेशिवद्भावाप्रवृत्तिरिति भावः ॥ तेषामेवेति । एवशब्दोऽप्यर्थे । विशिष्टस्य निमित्तत्वे विशेषणानामपि तत्त्वमिति भावः ॥ ननु वृत्तावभेदैकत्वसंख्यावगतेर्बहुवचनान्तेन विग्रहोऽनुपपन्नोऽत आह—निमित्तेति ।

भावबोधिनी

और जो यह कहा जाता है—तावती भार्या यस्य सः-तावद्भार्यः, यावती भार्या यस्य सः—यावद्भार्यः—यहाँ 'वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे' (६।३।३९) सूत्र से पुंवद्भाव का प्रतिषेध प्राप्त है । यह दोष नहीं है । यह ऐसा नहीं समझा जाता है—'वृद्धेर्निमित्तं वृद्धिनिमित्तम्, वृद्धिनिमित्तस्य' अर्थात् 'वृद्धि के निमित्त का' यह षष्ठीतत्पुरुष नहीं है ।

तो कैसा [समझा जाता है] ?

वृद्धि का निमित्त है जिसमें – वह वृद्धिनिमित्त है, उस वृद्धिनिमित्त (तद्धित) का । [यहाँ बहुव्रीहि है और वह भी व्यधिकरण । यह तद्धित का विशेषण है । वृद्धि का निमित्त होने से तद्धित को भी वृद्धि शब्द से कह दिया गया ।]

तो वृद्धि का निमित्त कौन है ?

जो यह [अनुबन्ध रूप में] ककार, णकार अथवा ञकार है । [क्योंकि 'वृद्धिरेचामादेः' 'किति च' ये सूत्र ण्, ङ्, क् इत् वाले प्रत्यय परे ही वृद्धि करते हैं ।]

अथवा जो सम्पूर्ण वृद्धि का निमित्त है वह वृद्धिनिमित्त [समझना चाहिए] ।

---

१. कोष्ठकान्तर्गतः पाठ सर्वत्र नैव दृश्यते ।

कश्च कृत्स्नाया वृद्धेर्निमित्तम् ?
यस्त्रयाणामाकारैकारौकाराणाम् ॥

(अथ संज्ञासूत्रत्वसाधनाधिकरणम् ।)
(९२ आक्षेपवार्तिकप्रथमखण्डम् ॥ १ ॥)

॥ * ॥ संज्ञाधिकारः संज्ञासंप्रत्ययार्थः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

"अथ संज्ञा" इत्येवं प्रकृत्य वृद्धयादयः शब्दाः पठितव्याः ॥

प्रदीपः

आश्रयिष्यते ॥ योऽसौ ककार इति । ककणेषु सत्सु वृद्धिर्भवतीति तेषामेव निमित्तत्वम् ॥ अथवेति । निमित्तशब्दोपादानादेवाश्रितबहुत्वसंख्यो वृद्धिशब्दः समस्यते,वृद्धीनां निमित्तं वृद्धिनिमित्तमिति ।

संज्ञाधिकार इति वार्तिकम् । तस्य व्याख्यानमथ संज्ञेत्येवमिति । अथशब्दः संज्ञायाः

उद्द्योतः

तत्र कार्त्स्न्यं प्रतिपत्तिकालिकं न प्रयोगसमवायीति न पारिषद्याभार्ये दोषः । न च वैयाकरणभार्येपि निषेधापत्तिः, इष्टापत्तेः । अत एवादैज्मात्रस्येति पक्षेऽत्र दोषानुद्भावनम् । तद्भावितानामेवेति पक्षेऽपि न स्वाभ्यामिति सूत्रे ऐजंशेपि वृद्धिपदसम्बन्धेन निषेधप्रवृत्तिरत्र सूपपादा । अत एव देवकाशिंशपेति सूत्रे भाष्यकृता तत्सम्बन्धो दर्शित इत्याहुः ॥ आदैज्मात्रग्रहणादेव मालादीनां चेति सार्थकम् । अन्यथास्याऽवृद्धत्वादस्थेऽवृद्धमित्येत्र सिद्धे किं तेन ॥ (इति तद्भावितपक्षनिराकरणम् ॥)

वार्तिकमिति । सूत्रेऽनुक्तदुरुक्तचिन्ताकरत्वं वार्तिकत्वम् ॥ एतेन सूत्रव्याख्यानाय

भावबोधिनी

सम्पूर्ण वृद्धियों का निमित्त कौन है ?

जो आकार, ऐकार, औकार—तीनों [वृद्धियों] का निमित्त है वही वृद्धिनिमित्त है ।। [वतुप् तद्धित केवल आ=वृद्धि का निमित्त बनता है, ऐ, औ का नहीं । अतः यह वृद्धिनिमित्त ही नहीं माना जाता है । तब पुंवद्भाव में बाधा नहीं है । इसलिये सभी प्रकार के आ, ऐ, औ वृद्धिसंज्ञक होते हैं । यही सिद्धान्त पक्ष है ।]

संज्ञासूत्रत्व का उपपादन

(वा०) संज्ञा का अधिकार करना चाहिए संज्ञा का बोध कराने के लिए ।

(भा०) 'अथ संज्ञा' (अब संज्ञा का विधान प्रारम्भ होता है)—ऐसा कहकर 'वृद्धि' आदि शब्द पढ़े जाने चाहिए ।

किं प्रयोजनम् ?

संज्ञासम्प्रत्ययार्थः। वृद्ध्यादीनां शब्दानां 'संज्ञा' इत्येष सम्प्रत्ययो यथा स्यात् ॥

(९२ आक्षेपसाधकवार्तिकद्वितीयखण्डम् ॥ १ ॥)

॥ ॥ इतरथा ह्यसंप्रत्ययो यथा लोके ॥ ॥

(भाष्यम्)

अक्रियमाणे हि संज्ञाधिकारे वृद्ध्यादीनां संज्ञेत्येष सम्प्रत्ययो न स्यात् ॥

इदमिदानीं बहुसूत्रमनर्थकं स्यात् ॥

अनर्थकमित्याह। कथम् ?

'यथा लोके' ॥ लोके ह्यर्थवन्ति चानर्थकानि च वाक्यानि दृश्यन्ते। अर्थ-

प्रदीपः

प्रस्तावद्योतनार्थः ॥ वृद्ध्यादीनामिति। सम्प्रत्यय इत्येतदपेक्षया कर्मणि षष्ठी। वृद्ध्या-दयः संज्ञात्वेन यथा प्रतीयेरन्नित्यर्थः ॥

यथा लोके इति ॥ कात्यायनेनासम्प्रत्यये लोको दृष्टान्तत्वेनोपात्तः। भाष्यकारस्तु वाक्याध्याहारेणानर्थकत्वे लोकं दृष्टान्तत्वेन योजयति—बहुसूत्रमिति। बहुव्रीहिः।

उद्द्योतः

प्रवृत्तस्य कात्यायनस्यायुक्ता दुरुक्तचिन्तेत्यपास्तम् ॥ प्रस्तावेति। वार्तिकेऽधिकारश-ब्दोक्तः स इति भावः ॥ वृद्ध्यादीनां संज्ञात्वाद्भेदनिबन्धनषष्ठ्यनुपपन्नेत्यत आह—सम्प्रत्यय इति ॥ भाष्ये—संज्ञेत्येष इति। शब्दार्थज्ञानानामितरेतराध्यासादिदं नानु-पपन्नम् ॥

भाष्यकारस्त्विति। अधिकारं विनाऽसम्प्रत्यये दृष्टान्तस्य लौकिकस्याभावादर्था-परिज्ञाने दृष्टान्तानुपयोगाच्चेति तद्भावः ॥ वाक्याध्याहारेणेति। इदमिदानीमिति-

भावबोधिनी

[ऐसा अधिकार करने का] क्या प्रयोजन है ?

संज्ञाओं का बोध कराने के लिए। वृद्धि (गुण) आदि शब्दों का 'संज्ञा हैं' ऐसा ज्ञान जिस प्रकार से हो सके। [इसलिए 'संज्ञा' यह अधिकार करना चाहिए।]

(वा०) अन्यथा ज्ञान नहीं हो सकेगा जैसा कि लोक में [नहीं होता है]।

(भा०) यदि 'संज्ञा' ऐसा अधिकार नहीं किया जायगा तो 'वृद्धि' आदि का 'संज्ञा' इस प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकेगा।

[जब 'संज्ञा' इस रूप से ज्ञान नहीं हो सकेगा तो] इस समय बहुत से सूत्र व्यर्थ होने लगेंगे। [अथवा बहुत से सूत्रों का प्रकरण व्यर्थ होने लगेगा।]

बहुत से सूत्र अनर्थक होने लगेंगे—ऐसा कहते हैं। कैसे ?

वन्ति तावत्—'देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन' 'देवदत्त गामभ्याज कृष्णाम्' इति। अनर्थकानि—'दश दाडिमानि षडपूपाः कुण्डमजाजिनं पललपिण्डः अधरोरुकमेतत्कुमार्याः स्फैयकृतस्य पिता प्रतिशीनः' इति॥

(९३ आक्षेपान्तरवार्तिकम् ॥ २ ॥)

॥ * ॥ संज्ञासंज्ञ्यसंदेहश्च ॥ * ॥

प्रदीपः

प्रकरणं चान्यपदार्थः। समाहारे द्विगुर्वा ॥ अर्थवन्ति चेति। यथा लोकोऽर्थवन्ति प्रयुङ्क्ते एवमनर्थकान्यपीत्यर्थः। यावदाप्तत्वमाचार्यस्य न साधितं तावदनर्थकत्वशङ्का, झटिति समन्वयानवगमाद्वा ॥ दश दाडिमानीति। पदार्थानां समन्वयाभावादत्रानर्थक्यम् ॥

उद्द्योतः

वाक्याध्याहारेणेत्यर्थः ॥ ननु द्विगौ अकारान्तोत्तरपदत्वात् स्त्रीत्वे ङीप्स्यादत आह—बहुव्रीहिरिति। अन्यपदार्थस्याशाब्दत्वाद्बहुव्रीहिर्दुर्ज्ञेयोऽत आह—समाहारे इति। पात्रादित्वात्स्त्रीत्वाभावः। अत एव त्रिसूत्रीत्यादि सङ्गच्छते। बहुसूत्रशब्दस्यैव तत्र पाठादित्यभिमानः॥ नन्वनर्थकदृष्टान्तेऽर्थवन्तीत्यादि व्यर्थमत आह—यथेति। यद्यप्यन्वितार्थकपदसमूह एव वाक्यम्। तथापि भाष्ये पदसमूहे एव वाक्यशब्दः प्रयुक्तोऽनर्थकानि वाक्यानीति न विरुद्धम् ॥ झटिति विनाचार्याचारादिज्ञानेन ॥ पदार्थानाम् कुण्डमजाजिनमित्यादीनाम्। स्फ्यकृतोऽपत्यं स्फैयकृतः ॥

भावबोधिनी

जैसा लोक में होता है। लोक में अर्थवान् और अनर्थक दोनों प्रकार के वाक्य देखे जाते हैं। पहले अर्थवान् (सार्थक) वाक्य जैसे—'देवदत्त ! इस सफेद गाय को डंडे से हाँको। देवदत्त ! इस काली गाय को हाँको। [ये दोनों वाक्य सार्थक हैं।]

अनर्थक वाक्य जैसे—दश अनार। छः पुए। मिट्टी का कुण्ड। बकरी का चमड़ा। मांसपिण्ड। कुमारी का लहंगा या कच्छी। स्फ्यनामक यज्ञीयपात्र को बनाने वाले पुत्र के प्रतिश्याययुक्त पिता। [यहाँ परस्पर सम्बन्ध न होने से इनका कोई अर्थ वाक्यार्थ के रूप नहीं है।]

विमर्श—लोक में जैसे कभी सार्थक और कभी निरर्थक वाक्य देखे जाते हैं। इसी प्रकार व्याकरणशास्त्र में कुछ वाक्य सार्थक होंगे और कुछ अनर्थक। क्योंकि 'संज्ञा' यह अधिकार न होने पर अनेक सूत्रों का अपेक्षित अर्थ नहीं बन पायेगा, अतः वे अनर्थक होने लगेंगें। परन्तु वैयाकरण तो अर्धमात्रा का भी गौरव नहीं सहना चाहते हैं। अतः अनेक सूत्रों की अनर्थकता ठीक नहीं है।

(वा०) संज्ञा और संज्ञी का असन्देह [कहना होगा]।

(भाष्यम्)

क्रियमाणेऽपि संज्ञाधिकारे संज्ञासंज्ञिनोरसन्देहो वक्तव्यः ॥ कुतो ह्येतत्—वृद्धिशब्दः संज्ञा, आदैचः संज्ञिन इति । न पुनरादैचः संज्ञा, वृद्धिशब्दः संज्ञीति ?

(आक्षेपनिराकरणभाष्यम्)

यत्तावदुच्यते—'संज्ञाधिकारः कर्तव्यः संज्ञासम्प्रत्ययार्थं' इति ॥ न कर्तव्यः ।

(९४ सिद्धान्तवार्तिकप्रथमखण्डम् ॥ ३ ॥)

॥ * ॥ आचार्याचारात्संज्ञासिद्धिः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

आचार्याचारात्संज्ञासिद्धिर्भविष्यति ॥

किमिदम्—आचार्याचारादिति ?

आचार्याणामुपचारात् ।

प्रदीपः

आचार्याचारादिति । आचार्याणां व्यवहारादित्यर्थः ॥

उद्द्योतः

उपचारो नाम गौणी वृत्तिरिति भ्रमं व्युदस्यति—व्यवहारादिति । अनेन व्यवहाराच्छक्तिग्रह उक्तः । स च शक्तिग्राहकशिरोमणिः ॥

भावबोधिनी

(भा०) संज्ञा—ऐसा अधिकार कर देने पर भी संज्ञा और संज्ञी का असन्देह कहना चाहिए अर्थात् संज्ञा का अधिकार होने पर भी संज्ञा और संज्ञी के विषय में होनेवाले सन्देहों को दूर करना पड़ेगा । क्योंकि यह कैसे समझा जाय कि वृद्धि शब्द संज्ञा है और आत् ऐच् संज्ञी हैं ? यह क्यों नहीं समझा जाय कि 'आदैच्' संज्ञा है और 'वृद्धि' संज्ञी हैं ?

जो यह कहा जाता है—"संज्ञा का ज्ञान कराने के लिए 'संज्ञा'—ऐसा अधिकार करना चाहिए ।" अर्थात् 'संज्ञा' ऐसा कह कर सूत्र बनाना चाहिए । नहीं बनाना चाहिए । ['संज्ञा' इस अधिकार सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं है ।]

[अधिकार के अभाव में 'संज्ञा है' इसका ज्ञान कैसे होगा ? इसका उत्तर दिया जा रहा है–]

(वा०) आचार्यों के आचार से संज्ञा की सिद्धि [हो जायगी] ।

(भा०) आचार्यों के आचार से संज्ञा की सिद्धि हो जायगी ।

आचार्यों का आचार—यह क्या है ? अर्थात् इस का तात्पर्य यहाँ क्या है ?

आचार्यों के उपचार से । [यहाँ आचार=उपचार=व्यवहार का वाचक है । आचार्यों का व्यवहार देखकर संज्ञा की सिद्धि हो जायगी ।]

(सिद्धान्तिवार्तिकद्वितीयखण्डम् ॥ ३ ॥)

॥ * ॥ यथा लौकिकवैदिकेषु ॥ * ॥

(भाष्यम्)

तद्यथा लौकिकेषु वैदिकेषु च कृतान्तेषु ॥ लोके तावन्मातापितरौ पुत्रस्य जातस्य संवृतेऽवकाशे नाम कुर्वाते–देवदत्तो यज्ञदत्त इति । तयोरुपचाराद-दन्येऽपि जानन्ति इयमस्य संज्ञेति ॥ वेदे याज्ञिकाः संज्ञां कुर्वन्ति—स्फ्यो, यूपः, चषाल इति । तत्रभवतामुपचारादन्येऽपि जानन्ति—इयमस्य संज्ञेति ॥

(दार्ष्टान्तिकभाष्यम्)

एवमिहापि; इहैव तावत्केचिद्व्याचक्षणा आहुः—वृद्धिशब्दः संज्ञा, आदैचः

प्रदीपः

वृद्धिशब्दः संज्ञेति । वृद्धिशब्दस्य प्रत्यायनशक्तिर्व्याख्यानेनैव प्रकाश्यते । यथादैचां

उद्द्योतः

भाष्ये वेदे याज्ञिका इति । यज्ञकाण्डद्रष्टार ऋषय इत्यर्थः । वेदकर्तृत्ववत्संज्ञा-कर्तृत्वं तेषां द्रष्टव्यम् ॥

भावबोधिनी

(वा०) जैसा लौकिक और वैदिक [सिद्धान्तों] में [देखा जाता है ।] ।

(भा०) जैसा कि लौकिक और वैदिक कृतान्तों = सिद्धान्तों = व्यवहारों में [देखा जाता है] । पहले लोक में [देखा जाता है कि] माता और पिता, एकान्त स्थान (अपने घर के भीतर) में, उत्पन्न हुए (नवजात) पुत्र का देवदत्त, यज्ञदत्त—ऐसा नाम रखते हैं । उन माता तथा पिता के व्यवहार से [उन्हें उसी नाम से पुकारता हुआ देखकर] दूसरे लोग भी यह जान जाते हैं कि उसका वह नाम=संज्ञा है ।

वेद में भी याज्ञिक लोग संज्ञा रखते हैं—(पदार्थों को अलग-अलग नाम से प्रयुक्त करते हैं) 'स्फ्यः, यूपः, चषालः' । [स्फ्य—यह लकड़ी का बना हुआ खड्ग-समान लम्बा-टेढ़ा यज्ञीय पात्रविशेष । यूप = यज्ञीय पशु को बाँधने का खैर या बेल का खूंटा जिसे छील कर, तराश कर बनाया गया है । चषाल = उक्त यूप के अग्रभाग (मुख) पर रखा जाने वाला 'यूपवलय' नामक काष्ठविशेष] याज्ञिकों द्वारा किये जानेवाले व्यवहार से (व्यवहार को देखकर) दूसरे लोग भी यह जान जाते हैं—इस वस्तु की यह संज्ञा = नाम है ।

[जिस प्रकार विभिन्न ऋषिगण वेद मन्त्रों के द्रष्टा ही हैं तथापि उन्हें कर्ता भी कह दिया जाता है । उसी प्रकार यज्ञकाण्ड के द्रष्टा ऋषियों को उनका कर्ता कहा जाता है । इसी लिये उन संज्ञाओं का भी कर्ता कह दिया जाता है ।]

[जैसा लोक में और वेद में देखा जाता है] इसी प्रकार यहाँ व्याकरण शास्त्र

संज्ञिन इति ॥ अपरे पुनः "सिचि वृद्धिः" (७।२।१) इत्युक्त्वाऽऽकारैकारौकारानुदाहरन्ति। तेन मन्यामहे—यया प्रत्याय्यन्ते सा संज्ञा, ये प्रतीयन्ते ते संज्ञिन इति ॥

(आक्षेपान्तरानुवादभाष्यम्)

यदप्युच्यते—क्रियमाणेऽपि संज्ञाधिकारे संज्ञासंज्ञिनोरसन्देहो वक्तव्य इति ॥

प्रदीपः

वर्णानामिति वर्णत्वम् ॥ अपर इति। प्रदेशाद्वा संज्ञासंज्ञ्यभिव्यक्तिः। संज्ञासूत्रार्थाद्वा प्रदेशार्थस्य व्यवस्थेति भावः ॥

उद्द्योतः

भाष्ये इहैवेति। वृद्धिरादैच् सूत्रे एवेत्यर्थः ॥ असत्याः शक्तेर्व्याख्यानेनोत्पादयितुमशक्यत्वादाह—वृद्धिशब्दस्येति। प्रत्यायनशक्तिः प्रत्यायने बोधजनने कारणीभूता शक्तिः। भाष्ये उदाहरन्तीति। वृद्धिरादैजिति सूत्रार्थकथनार्थं तत्प्रदेशत्वेन सिचि वृद्धिरित्युक्त्वा तदुदाहरणत्वेनाकार्षीद् अक्षैषीदश्रौषीदित्युदाहरन्तीत्यर्थः। एवं च वृद्धिशब्दस्य प्रत्यायकत्वमादैचां प्रत्याय्यत्वं निर्णीय वृद्धिरादैच्सूत्रस्य संज्ञाबोधकत्वं वृद्धिशब्दस्य संज्ञात्वं च निर्णयन्तीति भावः ॥ तेन=अपराचार्योक्तोदाहरणेन ॥

भावबोधिनी

में भी है। इसी सूत्र के विषय में व्याख्या करते हुए कुछ लोग कहते हैं—वृद्धि शब्द संज्ञा है, आद् ऐच् संज्ञी हैं।

दूसरे लोग—'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' (७।२।१) यह कह कर आकार, ऐकार और औकार को [वृद्धि शब्द के अर्थ के रूप में] उदाहृत करते हैं। [अकार्षीद्, अक्षैषीत्, अश्रौषीत्—आदि लक्ष्यों में आ, ऐ, औ का वृद्धि शब्द से व्यवहार करते हैं।] इन से हम यह मान लेते हैं—जिससे ज्ञान कराया जाता है वह संज्ञा है और जिनका ज्ञान कराया जाता है वे संज्ञी हैं। [व्याख्यान देखकर वृद्धि का संज्ञा रूप से और आदैच् का संज्ञी रूप से ज्ञान हो जाता है। अथवा लक्ष्यों में व्यवहार देख कर यह ज्ञात होता है कि यह संज्ञा है और यह संज्ञी है। वहाँ कोई 'संज्ञी' ऐसा अलग से उपक्रम नहीं करता है।]

और जो यह भी कहा जाता है—"संज्ञा का अधिकार किये जाने पर भी संज्ञा और संज्ञी के विषय में असन्देह कहना चाहिए।" [यह भी कहने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि]

(९५ सिद्धान्तवार्तिकम् ॥ ४ ॥)

॥ * ॥ संज्ञासंज्ञ्यसंदेहश्च ॥ * ॥

(भाष्यम्)

संज्ञासंज्ञिनोश्चासन्देहः सिद्धः ॥

कुतः ?

आचार्याचारादेव । उक्त आचार्याचारः ॥

(९६ सिद्धान्तहेतुवार्तिकप्रथमखण्डम् ॥)

॥ * ॥ अनाकृतिः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

अथवाऽनाकृतिः संज्ञा, आकृतिमन्तः संज्ञिनः । लोकेऽपि ह्याकृतिमतो मांसपिण्डस्य देवदत्त इति संज्ञा क्रियते ॥

प्रदीपः

अनाकृतिरिति । आकृत्या साहचर्याद्भेदो लक्ष्यते । तेनायमर्थः—वृद्धिशब्दः एकत्वात्संज्ञा, आदैचां बहुत्वात्संज्ञित्वम् । लाघवार्थं हि संज्ञाकरणम् । यथा—सर्वादीनि

उद्द्योतः

नन्वाकृतिर्जातिस्तद्भेद आदैक्ष्वपि तदभावस्तु न वृद्धिशब्देऽपीत्यत आह—आकृत्येति । बहुव्रीहिरिति भावः ॥ अनाकृतिरित्येतन्न्यायसिद्धमित्याह—लाघवार्थमिति ॥ नन्वेकस्यापि तव्यादेरनेकाः कृत्कृत्यप्रत्ययसंज्ञाः क्रियन्तेऽत आह—प्रयोजनेति । सति हि प्रयोजने तथा, प्रकृते तु न तथा, प्रयोजनाभावादिति भावः ॥ प्रत्यभिज्ञानिमित्तकम् ।

भावबोधिनी

(वा०) संज्ञा और संज्ञी का असन्देह [सिद्ध] है ।

(भा०) संज्ञा और संज्ञी का असन्देह [स्वतः] सिद्ध है । [अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है ।]

कैसे ?

आचार्यों के आचार=व्यवहार से ही । आचार्यों का आचार=व्यवहार [ऊपर] कहा ही जा चुका है । [उक्त व्यवहार के कारण किसी के विषय में सन्देह करने की स्थिति नहीं आती है ।]

(वा०) अनाकृति [आकार-रहित संज्ञा होती है] ।

(भा०) अथवा अनाकृतिः=जिसकी कोई आकृति=आकार नहीं होता है वह संज्ञा होती है और जिनकी आकृति=आकार होता है वे संज्ञी होते हैं । [आकृति शब्द भेद का लक्षक है । अतः जिनमें भेद=अनेकत्व है वे संज्ञी हैं जो एक है वह संज्ञा है । जैसे 'वृद्धि' एक है अतः संज्ञा है, आदैच् भेदवान् अनेक हैं अतः संज्ञी हैं ।]

(सिद्धान्तिहेतुवार्तिकद्वितीयखण्डम् ॥ ५ ॥)

॥ * ॥ लिङ्गेन वा ॥ * ॥

(भाष्यम्)

अथ वा--किंचिल्लिङ्गमासज्य वक्ष्यामि--इत्थंलिङ्गा संज्ञेति। वृद्धिशब्दे च तल्लिङ्गं करिष्यते, नादैच्छब्दे ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

इदं तावदयुक्तम्। यदुच्यते—आचार्याचारादिति ॥

किमत्रायुक्तम् ?

प्रदीपः

सर्वनामानीत्यनेकस्यैका संज्ञा क्रियते, न त्वेकस्यानेका संज्ञा, प्रयोजनाभावात् ॥ आकृतिमत इति। अवस्थाभेदेष्वपि स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानिमित्तकं देवदत्तत्वादिकं सामान्यमस्तीत्याकृतिमत इत्युक्तम् ॥

लिङ्गेन वेति। कलादिना वर्णदोषेणेत्यर्थः ॥

तमेवोपालभ्येति। यो हि सूत्रकारमुपालभते—अगमकं ते सूत्रमिति, स कथं वृत्तिकारान्प्रामाण्येनाश्रयतीत्यर्थः ॥ अपरितुष्यन्निति। त्वयापि परिहारान्तरं ब्रुवताऽऽचार्याचारो न प्रमाणत्वेनाश्रित इत्यर्थः ॥

उद्द्योतः

प्रत्यभिज्ञाप्रमाणकमित्यर्थः। वस्तुतो भाष्ये आकृतिमत इत्यस्य भेदवत इत्यर्थः। अवस्थाभेदेन च तत्रारोपितः सः। आरोपितभेदेन च जातिसत्त्वे न मानम्। अत एव देवदत्तेत्यादौ न ङीषिति कश्चित् ॥

स कथं वृत्तिकारानिति। तस्यैवेति भाष्यस्य तदीयस्यैवेत्यर्थं इति भावः ॥

भावबोधिनी

लोक में भी आकृति वाले मांसपिण्ड की 'देवदत्त' ऐसी संज्ञा (नाम) की जाती है। [आकृति=भेद, बाल्य, यौवन, वार्धक्य इन अवस्थाओं के आधार पर मांसपिण्ड भिन्न-भिन्न होता है किन्तु 'देवदत्त' आदि संज्ञा सदैव अभिन्न=वही एक रहती है।]

(वा०) अथवा लिङ्ग से [संज्ञा का ज्ञान होता है]।

(भा०) अथवा कोई लिङ्ग (कल आदि दोष या और कोई चिह्न) लगा कर यह कहेंगे—इस प्रकार के चिह्न वाली संज्ञा है। और वह लिङ्ग 'वृद्धि' शब्द में लगाया जायगा, आदैच् शब्द में नहीं। [अतः अलग से सन्देहनिवृत्ति करने का उपाय आवश्यक नहीं है।]

यह ठीक नहीं है। जो यह कहा गया--आचार्याचार=आचार्यों के व्यवहार से [संज्ञा की सिद्धि हो जायगी]।

इस (वक्तव्य) में क्या असंगत है ?

तमेवोपालभ्य 'अगमकं ते सूत्रम्' इति, तस्यैव पुनः प्रमाणीकरणमित्येतदयुक्तम्। अपरितुष्यन् खल्वपि भवाननेन परिहारेण "अनाकृतिर्लिङ्गेन वा" इत्याह ॥

(तृतीयहेतौ गौरवाक्षेपभाष्यम्)

तच्चापि वक्तव्यम् ॥

(तृतीयहेतुस्वीकारे लाघवप्रदर्शकभाष्यम्)

यद्यप्येतदुच्यते। अथवैतर्हि इत्संज्ञा न वक्तव्या। लोपश्च न वक्तव्यः। संज्ञालिङ्गमनुबन्धेषु करिष्यते। न च संज्ञायाः निवृत्तिरुच्यते। स्वभावतः संज्ञा संज्ञिनं प्रत्याय्य स्वयं निवर्तते। तेनानुबन्धानानामपि निवृत्तिर्भविष्यति ॥

प्रदीपः

तच्चापीति। लिङ्गेन वेत्येतद्वक्तव्यमित्यर्थः। अनाकृतिः संज्ञेत्येतत्तु न्यायसिद्धत्वान्न वक्तव्यम् ॥

उद्द्योतः

लिङ्गेन वेत्येतदिति। लिङ्गासङ्गः इत्थंलिङ्गा संज्ञेति च वक्तव्यमित्यर्थः ॥

भावबोधिनी

यही असंगत है कि पहले [सूत्रकार से ऐसा कहना] 'सूत्रकार ! आपका सूत्र अबोधक है, उससे अपेक्षित बोध नहीं हो पाता है' [उससे पद-पदार्थ का सम्बन्ध ही नहीं ज्ञात होता है] ऐसा निन्दावचन कहने के बाद उन्हीं सूत्रकार को (अथवा उसके व्याख्याकारों को) प्रमाण मानना—ऐसा तो ठीक नहीं होता है।

इसके अतिरिक्त आप स्वयं भी पूर्वोक्त (परिहार) तर्क से सन्तुष्ट नहीं है इसीलिए दूसरे परिहार दिये हैं—अनाकृतिः, लिङ्गेन वा।'

तो क्या वह 'लिङ्गेन वा' वचन भी कहना होगा, चिह्न लगाना होगा। ['अनाकृतिः' ऐसा कहना आवश्यक नहीं है क्योंकि ऐसा तो न्यायसिद्ध है।]

यद्यपि 'लिङ्गेन वा' यह कहा जाता है। [ऐसा गौरव प्रतीत होता है परन्तु वास्तव में लाघव ही है] क्योंकि ऐसा होने पर इत्संज्ञा नहीं कहनी होगी, [उनका] लोप नहीं कहना होगा, अनुबन्धों में संज्ञा के [परिचायक] चिह्न लगा दिए जायेंगे। और संज्ञा की निवृत्ति के लिए कोई वचन नहीं किया जाता है। संज्ञी का प्रत्यायन कराने के बाद संज्ञा स्वतः निवृत्त हो जाती है [ऐसा संज्ञा का स्वभाव होता है।] इस कारण अनुबन्धों की भी [स्वतः] निवृत्ति हो जायगी।

हाँ, इस प्रकार से कार्यनिर्वाह तो हो सकता है किन्तु अपाणिनीय [पाणिनिप्रयोक्त रीति से भिन्न] हो जाता है।

(आक्षेपभाष्यम्)

सिद्ध्यत्येवम् । अपाणिनीयं तु भवति ॥

(सिद्धान्तिभाष्यम्)

यथान्यासमेवास्तु ॥

(आक्षेपस्मारणभाष्यम्)

ननु चोक्तम्--"संज्ञाधिकारः संज्ञासम्प्रत्ययार्थं इतरथा ह्यसम्प्रत्ययो यथा लोके" इति ॥

प्रदीपः

अथवैतर्हीति । एवं सतीत्यर्थः । ङकारादिष्वनुबन्धेषु कलादिकमासङ्क्ष्यते । ततश्च तेषां संज्ञात्वे सति ङदात्मनेपदमिति करिष्यते । संज्ञाश्च संज्ञिनं प्रत्याय्य स्वयं निवर्तन्त इतीत्संज्ञा लोपश्च न वक्तव्यौ भवत इत्यर्थं ॥

उद्द्योतः

ङकारादिष्विति । धात्वादिपठितेष्वित्यर्थः । ननु संज्ञालिङ्गे कृतेऽपीत्संज्ञाद्यभावे कथं तेषां निवृत्तिरत आह—भाष्ये स्वभावतः संज्ञेति । तद्व्याचष्टे—संज्ञाश्च संज्ञिनमिति ॥

भाष्ये अपाणिनीयं त्विति । अनन्तस्थलेषु दोषविशिष्टपठने आनुनासिक्यादिवत् प्रतिज्ञाकरणे च दुर्ज्ञेयत्वादिति भावः ॥

भावबोधिनी

विमर्श—'वृद्धि' ही संज्ञा है और 'आद् ऐच्' संज्ञी हैं—इसको सिद्ध करने के लिए वार्तिककार ने अनेक वार्तिक प्रस्तुत किये । 'लिङ्गेन वा' इसी में औचित्य प्रतीत होता है । ये कल आदि लिङ्ग संज्ञा में लगाने से अपने-अपने संज्ञी की प्रतीति कराने के बाद स्वयं निवृत्त=लुप्त हो जाते हैं । इसके लिए स्वतन्त्र वचन की आवश्यकता नहीं है । इन लिङ्गों का लगाना गौरवग्रस्त भी नहीं है क्योंकि ये ही लिङ्ग अनुबन्धों के स्थान पर भी लगा देने चाहिए । इससे न तो अनेक अनुबन्ध कहने होंगे, न उनका लोप कहना होगा । जैसे संज्ञा प्रत्यायन के बाद स्वयं निवृत्त हो जाती है वैसे ही अनुबन्धों के स्थान पर लगाये गये ये चिह्न भी स्वतः निवृत्त हो जायेंगे । अतः यह पक्ष लघुभूत ही है ।

परन्तु इस कल्पना से पाणिनि के अनेक सूत्रों का स्वरूप उच्छिन्न हो जायगा । अतः ऐसे चिह्न न तो संज्ञा के लिए और न अनुबन्धों के कार्य के लिए ही लगाना उचित है ।

(अनु०) [सिद्धि संभव रहने पर भी अपाणिनीयत्व का प्रसङ्ग है अतः] जैसा न्यास=सूत्र बनाया गया वैसा ही रहे ।

क्यों जी, अभी कहा गया था 'संज्ञाका ज्ञान कराने के लिए संज्ञा' ऐसा अधिकार करना चाहिए । क्योंकि ऐसा न होने पर यह ज्ञान नहीं हो सकेगा कि कौन संज्ञा है

(समाधानभाष्यम्)

न च यथा लोके, तथा व्याकरणे। प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म। तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुम्, किं पुनरियता सूत्रेण॥

किमतो यदशक्यम् ?

अतः संज्ञासंज्ञिनावेव॥

प्रदीपः

प्रमाणभूत इति। प्रामाण्यं प्राप्त इत्यर्थः। भू प्राप्तावित्यस्याऽऽधृषाद्वेति णिजभावे रूपम्। वृत्तिविषये च प्रमाणशब्दः प्रामाण्ये वर्तते॥ दर्भपवित्रेति प्रमादाभावं

उद्द्योतः

ननु भवतेर्जन्मार्थत्वेनाभूततद्भावप्रतीत्या च्वौ सति प्रमाणीभूत इति स्यात् तद-विवक्षायां तु प्रमाणमाचार्यः प्रकारान्तरेण भूत इति अर्थः स्यादत आह—प्रामाण्य-मिति। वृत्तिविषये इति प्रकृताभिप्रायम्॥ प्रमादः पिशाचादिसम्बन्धः॥ आगमः सम्प्रदायः प्रकृतभाष्योक्तिर्वा॥ भाष्ये अनर्थकेनेति। बोध्यार्थरहितेनेत्यर्थः। तेन पारायणे सर्वेषामदृष्टार्थत्वेपि दृष्टप्रयोजनराहित्यरूपमनर्थकत्वं वर्णपदसूत्राणामस्त्येवेति न वक्ष्य-माणसूत्रादिप्रत्याख्यानासङ्गतिः॥ संज्ञासंप्रत्ययाय = संज्ञात्वनिश्चयाय॥ भाष्ये किमत इति। अतः तादृशकर्तृकत्वात् किम् कथमर्थवत्त्वं यद् = यतस्तद् अशक्यम् = अशक्य-निरूपणमित्यक्षरार्थः॥

भावबोधिनी

और कौन संज्ञी; जैसा कि लोक में देखा जाता है। [लोकव्यवहार से ही यह ज्ञान होता है कि यह संज्ञा है, यह संज्ञी है ।]

नहीं, जैसा लोक में होता है वैसा व्याकरण में नहीं भी होता है। कारण यह है कि प्रामाण्य को प्राप्त (प्रामाणिक), कुशों के पवित्र (पैंती) को हाथ में लेने वाले, अथवा कुश धारण करने से पवित्र हाथों वाले आचार्य पाणिनि ने पवित्र स्थान पर, पूर्वाभिमुख हो, बैठकर बड़े प्रयत्न से सूत्रों का प्रणयन किया था। उन सूत्रों में एक भी वर्ण अनर्थक नहीं हो सकता, तो फिर इतने बड़े पूरे सूत्र के लिये क्या कहना। [जब एक भी वर्ण का आनर्थक्य असंभव है तो 'वृद्धिरादैच्' इस पूरे सूत्र के आनर्थक्य का प्रश्न ही नहीं उठता है।]

[एक भी वर्ण] अनर्थक नहीं हो सकता, इससे क्या [लेना देना] ?

इससे यह है कि ये संज्ञा और संज्ञी ही हैं।

(आक्षेपभाष्यम्)

कुतो नु खल्वेतत्—संज्ञासंज्ञिनावेवेति । न पुनः साध्वनुशासनेऽस्मिञ्शास्त्रे साधुत्वमनेन क्रियते ?

(आक्षेपनिराकरणभाष्यम्)

कृतमनयोः साधुत्वम् ॥

कथम् ?

प्रदीपः

दर्शयति ॥ प्राङ्मुख इति । प्राच्या अभ्युदयहेतुत्वात् ॥ महतेति मनःप्रणिधानं दर्शयति ॥ एतच्च सर्वमागमाद्बोद्धव्यम् । एवमानर्थक्ये परिहृते संज्ञासंप्रत्ययाय पक्षान्तराणि प्रश्नमुखेन प्रतिक्षिपति—किमत इति ॥

उद्द्योतः

साध्वनुशासन इति । अनेन साधुत्वपक्षस्याकाण्डता वारिता ॥

भावबोधिनी

विमर्श—'यहाँ भाष्य की 'किमतो यदशक्यम् ? अतः संज्ञासंज्ञिनावेव' इन पंक्तियों की व्याख्या में कुछ लोगों ने भ्रान्ति उत्पन्न करा दी है । भाष्यकार ने तो पाणिनि की शक्ति-सामर्थ्य की प्रशंसा करते हुए एक भी वर्ण के अनर्थक होने का खण्डन किया है । इसमें प्रयुक्त 'अशक्यम्' को लेकर 'किमतो यदशक्यम्; की व्याख्या यह देखी जाती है—"इससे क्या यदि एक वर्ण भी अनर्थक नहीं है । इससे यही आता है कि वृद्धि शब्द संज्ञा है और आदैच् संज्ञी ।;; (चारुदेवशास्त्री पृ० १२७) । परन्तु ऐसी व्याख्या उचित नहीं प्रतीत होती है । 'अतः, किम्, यद् अशक्यम्; इस प्रकार का सम्बन्ध करना चाहिए और उद्द्योतकार नागेश के आधार पर यह अर्थ करना चाहिए-"भाष्ये—किमत इति । अतः तादृशकर्तृकत्वात्, किम् = कथमर्थवत्त्वं यद् = यतस्तत्, अशक्यम्=अशक्यनिरूपणमित्यक्षरार्थः ।

निष्कर्ष यह है कि यह सूत्र विधि या परिभाषा आदि माना नहीं जा सकता और अनर्थक भी नहीं माना जा सकता । इसलिए संज्ञा सूत्र ही है । फलतः वृद्धि को संज्ञा और 'आदैच्' को संज्ञी ही समझना चाहिए । इस स्थल की विभिन्न व्याख्याओं के लिए निर्णय सागर प्रेस से मुद्रित महाभाष्य पृ० १६०-६१ देखना चाहिए ।

(अनु०)यह कैसे कि 'ये दोनों(वृद्धि आदैच्)संज्ञा और संज्ञी ही हैं । यह क्यों नहीं कि साधु का अनुशासन करने वाले इस व्याकरण शास्त्र में इन दोनों का शाधुत्व ही इससे किया जा रहा हो ? [जिस प्रकार 'क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे' सूत्र से 'क्षय्यजय्य' का साधुत्व बतलाया जाता है उसी प्रकार इन दोनों का भी बताया जा रहा है ?]

इन दोनों का साधुत्व तो किया जा चुका है ।

कैसे ?

वृधिरस्मायविशेषेणोपदिष्टः प्रकृतिपाठे, तस्मात् क्तिन्प्रत्ययः। आदैचोऽप्यक्षरसमाम्नाये उपदिष्टाः॥

(आक्षेपभाष्यम्)

प्रयोगनियमार्थं तर्हीदं स्यात्—वृद्धिशब्दात्परे आदैचः प्रयोक्तव्या—इति॥

(आक्षेपनिराकरणभाष्यम्)

नेह प्रयोगनियम आरभ्यते॥

किं तर्हि?

प्रदीपः

कृतमनयोरिति। आदैच्छब्दस्य द्वन्द्वत्वादनयोरिति द्विवचननिर्देश॥ आदैच इति। तेषां च द्वन्द्वनिर्देशोऽयमादैच्छब्द इत्यर्थः॥

प्रयोगनियमार्थमिति। आदैज्वृद्धिरिति प्रयोगो मा भूदित्यर्थः॥

नेहेति। प्रयुज्यत इति प्रयोगस्तस्य स्वतन्त्रस्य पदस्य प्रयुज्यमानस्य नियमो

उद्द्योतः

द्वन्द्वत्वादिति। अनयोरित्यस्य पदयोरिति विशेष्यम्॥ पदानामेव साधुत्वान्वाख्यानादिति भावः॥ भाष्ये अविशेषेणेति। प्रत्ययविशेषमनादायेत्यर्थः॥ ननु वर्णसमाम्नाये आकाराद्युपदेशेप्यादैच्छब्दस्य किमागतमत आह—तेषां चेति। संज्ञाग्रहणद्वारेणेति शेषः॥ तपर इति आदिरन्त्येनेति च तेषां कृतयोरादैच्संज्ञयोर्द्वन्द्वनिर्देशेन द्वन्द्वशास्त्रेण कृतं साधुत्वमित्यर्थः। ऐजित्यपि तन्मूलकादिरन्त्येनेत्यनेन बोधितमित्याशयेन भाष्ये—अक्षरसमाम्नाये उपदिष्टा इत्युक्तम्॥

ननूपसर्जनं पूर्वं, परश्चेत्यादिभिः प्रयोगनियम आरभ्यत एवेत्यत आह—प्रयुज्यत इति॥ स्वतन्त्रस्येति गत्युपसर्गनिरासः। तौ हि द्योतकत्वात्परतन्त्रौ॥ पदावयवस्येति।

भावबोधिनी

प्रकृतिपाठ=धातुपाठ में इस (व्याकरण के अध्येता) के लिए 'वृध' धातु का सामान्य रूप से उपदेश किया जा चुका है, इस धातु से परे (भाव मे) क्तिन् प्रत्यय होता है। [इसलिये 'वृद्धि' का उपदेश हो चुका है।] और 'आदैच्' भी अक्षरसमाम्नाय में उपदिष्ट हैं। [अतः इनका भी साधुत्व कहा जा चुका है। इसलिए यह सूत्र इन दोनों पदों का साधुत्व बतलाने वाला नहीं है।]

तो फिर यह सूत्र इन पदों के प्रयोग का नियम करने के लिए हो—वृद्धि शब्द के बाद आदैच् का प्रयोग होना चाहिए। [आदैच् वृद्धिः—ऐसा नहीं होना चाहिए।]

इस व्याकरण शास्त्र में प्रयोग (= प्रयुज्यमान पदों) का नियम नहीं बताया जाता है।

तो फिर क्या [बताया जाता है] ?

संस्कृत्य संस्कृत्य पदान्युत्सृज्यन्ते तेषां यथेष्टमभिसम्बन्धो भवति। तद्यथा—आहर पात्रम्, पात्रमाहरेति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

आदेशास्तर्हीमे स्युः। वृद्धिशब्दस्यादैच आदेशाः ॥

(आक्षेपनिराकरणभाष्यम्)

षष्ठीनिर्दिष्टस्यादेशा उच्यन्ते। न चात्र षष्ठीं पश्यामः ॥

प्रदीपः

नारभ्यते, अपि तु पदावयवस्य प्रकृतिप्रत्ययोपसर्जनागमादिरूपस्य। लोके च केवल एव वृद्धिशब्दः प्रयुज्यत इति न तस्यानेन नियमः क्रियते, लोके प्रयुक्तानामिदमनुशासनम् ॥

षष्ठीनिर्दिष्टस्येति। स्थानशब्दोऽर्थवाची तिष्ठन्त्यस्मिञ्शब्दा इति स्थानम्। न च वृद्धिशब्दार्थमादैचो वक्तुं शक्तास्तेनात्र षष्ठ्यर्थाभावादिति तात्पर्यम्। तथा हि षष्ठ्यभावेऽपि तदर्थसद्भावाद्भवत्येव स्थान्यादेशभावो यथा 'नाभि नभं च' 'परश्री परशुं च' इति ॥

उद्द्योतः

आदिना द्योतकाः ॥ युक्त्यन्तरमाह—लोके चेति। शिष्टलोकाभिप्रायम्, प्रयुक्तानां चेदमनुशासनमिति भावः ॥ केवलः=आदैच्पदासम्बद्धः ॥ भाष्ये संस्कृत्येति। साधुत्वेनान्वाख्यायेत्यर्थः ॥ अभिसम्बन्धः पौर्वापर्यलक्षणः ॥

षष्ठ्यभावेपि नाभि नभमित्यादावादेशदर्शनादाह—स्थानेति। [षष्ठीस्थाने इति—] सूत्रगत इति शेषः। तत्र हि सूत्रे स्थानशब्दोऽधिकरणव्युत्पत्त्यर्थवाची भावव्युत्पत्त्या प्रसङ्गवाची च तन्त्रेणोपादीयते। अन्यथा केवलार्थशब्दं प्राप्तिशब्दं वोपाददीत। एवं च—याऽनियोगा षष्ठी सा प्रसङ्गनिरूपितसम्बन्धार्थिकैवेत्येकोऽर्थः। द्वितीये तु षष्ठीशब्दो लक्षणया स्थानिपरः। स्थाने इति सप्तमी वाच्यस्यार्थस्याधिकरणत्वविवक्षया बोध्या। योगशब्दश्च युज्यत इति व्युत्पत्त्या आदेशवाची ततोर्शआद्यच्। तेन स्थानी

भावबोधिनी

प्रकृति प्रत्ययादि का संस्कार करके पदों को स्वतन्त्र रूप से छोड़ दिया जाता है। उन पदों का अभीष्ट रूप से सम्बन्ध (पौर्वापर्यनिर्धारण) किया जाता है। उदाहरणार्थ—आहर पात्रम्, (लाओ पात्र) पात्रम् आहर (पात्र लाओ)। [अतः संस्कृत भाषा में जब क्रिया, कर्ता आदि के पौर्वापर्य का कोई नियम नहीं है तब व्याकरणशास्त्रीय प्रयोग में पौर्वापर्य-क्रम कैसे बताया जा सकता है।]

तो फिर ये आदेश ही हों—वृद्धि शब्द के आदैच् आदेश हो जायँ।

[आदेश नहीं माने जा सकते क्योंकि] षष्ठीनिर्दिष्ट के ही आदेश होते हैं। और प्रस्तुत सूत्र में षष्ठी नहीं देखते हैं। [अतः इन्हें आदेश भी नहीं मान सकते।]

(आक्षेपभाष्यम्)

आगमास्तर्हीमे स्युर्वृद्धिशब्दस्यादैच आगमाः ॥

(आक्षेपनिरासभाष्यम्)

आगमा अपि षष्ठीनिर्दिष्टस्यैवोच्यन्ते । लिङ्गेन च । न चात्र षष्ठीं, न खल्वप्यागमलिङ्गं पश्यामः ॥

(सिद्धान्तसमाधानभाष्यम्)

इदं खल्वपि भूयः सामानाधिकरण्यमेकविभक्तित्वं च । द्वयोश्चैत-

प्रदीपः

आगमा अपीति । अत्राप्यर्थोऽपेक्ष्यते । अनागमकानामर्थे सागमका इत्यर्थः ॥ लिङ्गेन चेति । देशविशेषप्रतिपत्तये टकारादिलिङ्गं तत्र क्रियत इत्यर्थः ॥

इदं खल्वपीति । विशेषणविशेष्यभावनिराकरणेन संज्ञापक्षं स्थापयति ॥ 'देवदत्तः

उद्द्योतः

स्वार्थाभिधानसमर्थादेशवानित्यर्थ इति भावः ॥ भाष्यस्य तु षष्ठीनिर्दिष्टस्य स्थानिनो योऽर्थस्तस्य वाचका उच्यन्ते । न चात्रादैक्षु षष्ठीनिर्दिष्टस्य स्थानिनोऽर्थानभिधेयत्वेन पश्याम इत्यर्थः ॥ षष्ठ्यर्थाभावादिति । षष्ठीवोध्यस्थान्यर्थाभिधानसामर्थ्याभावादिति भावः ॥ तदर्थसद्भावादिति । आदेशस्य स्थान्यर्थबोधनसामर्थ्यसद्भावादित्यर्थः । वस्तुतस्तु स्थानं प्रसङ्ग एव । स चार्थवत एव, अर्थप्रत्यायनाय शब्दप्रयोगात् । एवं चार्थप्रयुक्त एव स्थान्यादेशयोः सम्बन्ध इति स्थान्यर्थाभिधानसमर्थस्यैवादेशतेति वदन्ति ॥

अत्रापीति । वस्तुतोऽवयवषष्ठ्यं वागमा उच्यन्ते इत्यर्थो भाष्यस्य ॥ कलादिलिङ्गभ्रमव्यावृत्तये आह—देशेति । देशविशेषप्रतिपत्त्यर्थयत्नसाध्यागमप्रतीतिर्यत्नाभावे नेत्यर्थः ॥

इदं खल्वपीति भाष्यं पूर्वोक्तपक्षाणामसम्भवं प्रतिपादयति ॥ [तद्व्याचष्टे—

भावबोधिनी

तो फिर ये आगम हो जाँय—वृद्धि शब्द को आदैच् आगम होते हैं ।

[ये आगम भी नहीं हैं क्योंकि] आगम भी षष्ठीनिर्दिष्ट के ही कहे जाते हैं और [ट् या क् आदि] लिङ्ग से निर्दिष्ट रहते हैं । इस सूत्र में तो न षष्ठी देखते हैं और न ही आगम का कोई लिङ्ग । [इस प्रकार आगम का कोई भी हेतु न होने से आगम कहना भी कठिन है ।]

[पूर्वोक्त पक्षों के असंभव होने पर अब संज्ञा-संज्ञिभाव में दृढ़तर प्रमाण दे रहे हैं—]

यहाँ सामानाधिकरण्य (समान अर्थवत्ता) और एक प्रकार की विभक्तियाँ हैं,

द्भवति ॥

कयोः ?

विशेषणविशेष्ययोर्वा संज्ञासंज्ञिनोर्वा ॥

प्रदीपः

पचती'त्यस्ति सामानाधिकरण्यं न त्वेकविभक्तित्वम्, गौः अश्व इत्यस्त्येकविभक्तित्वं न तु सामानाधिकरण्यमित्युभयोरुपादानम्। संज्ञासंज्ञिनोरप्यस्ति विशेषणविशेष्यत्वं प्रसिद्ध्यप्रसिद्धिवशात्तु भेदेनोपादानम्। तत्तु सामानाधिकरण्यं शब्दयोरेव केचिदि-

उद्द्योतः

विशेषणेति ॥] अस्तिसामानाधिकरण्यमिति । न च तादृशे संज्ञासंज्ञित्वसम्भावनेति भावः ॥ इत्युभयोरिति । विशेषणविशेष्यत्वसंज्ञासंज्ञित्वसम्भावनास्थलप्रदर्शनायेत्यर्थः ॥ संज्ञासंज्ञिनोरपीति । उद्भिदादिसंज्ञा हि स्वरूपेणैव संज्ञिनं सजातीयाद्यागान्तराद्वि-जातीयाच्च होमादेर्व्यवच्छिनत्तीति विशेषणम्। संज्ञी च व्यवच्छेद्यः सन्विशेष्यः। विषयताविशेषरूपमपि तत्तयोरस्त्येवेति भावः ॥ प्रसिद्धीति । द्वयोर्हि प्रतीतेत्यादिना भाष्ये उक्तमेतत्। यद्वा सत्यपि व्यवच्छेद्यव्यवच्छेदकभावे संज्ञासंज्ञिनोर्विशेष्यविशेषण-भावो लोके न प्रसिद्ध इत्यर्थः ॥ ननु सामानाधिकरण्यं नाम द्वयोः शब्दयोरेकाभिधेय-सम्बन्धः, तत्तु न युक्तम्। सामानाधिकरण्यस्य शब्दधर्मत्वेन विशेषणत्वादेश्चार्थ-धर्मत्वेन विशेषणविशेष्ययोः सामानाधिकरण्यमिति भाष्यासङ्गतेः। संज्ञासंज्ञिनोरेका-भिधेयसम्बन्धाभावेन संज्ञासंज्ञिनोर्वा सामानाधिकरण्यमित्यस्याप्यसङ्गतेरत आह— तत्त्विति ॥ भिन्नप्रवृत्तीत्यनेन पर्यायनिरासः ॥ वस्तुत इदं चिन्त्यम्। अघ्न्ये देवि सरस्वति इडे काव्ये विहव्ये एतानि तेऽघ्न्ये नामानीत्यादौ 'नामन्त्रिते समानाधिकरणे' इत्यस्य व्यावृत्तये तत्र सामान्यवचनग्रहणमिति तत्सूत्रस्थभाष्यविरोधापत्तेः। युगपदधि-करणवचनतापक्षे पट्वीमृद्व्याविप्यत्र समानाधिकरणलक्षणपुंवद्भावशङ्कापरभाष्य-विरोधापत्तेश्च ॥ विशेषणत्वादिकं चोपपद्यत इत्याह—विशेषणेति। भाष्ये 'संज्ञासंज्ञिनो'-रित्यत्र संज्ञिपदेन संज्ञिसमर्पकः शब्दोऽभिप्रेतः। संज्ञाशब्दे च शब्दः प्रवृत्तिनिमित्तं संज्ञिनि तत्सम्बन्धात्। संज्ञिबोधकशब्दे च संज्ञिगततत्तद्धर्मः प्रवृत्तिनिमित्तम्। एवं च वृद्धिशब्दवदभिन्ना आदैच इति बोधः। वृद्धिशब्दवत्त्वं च लोकसिद्धतादात्म्येने-

भावबोधिनी

यह विशेष बात है। यह (सामानाधिकरण्य तथा एकविभक्तित्व) दो का ही होता है।

किन दो का ?

या तो विशेष्य, विशेषण का या फिर संज्ञा, संज्ञी का। [अतः इन्हीं दो में से कोई एक होना चाहिए।]

तत्रैतत् स्याद्विशेषणविशेष्ये इति ॥

तच्च न, द्वयोर्हि प्रतीतपदार्थकयोर्लोके विशेषणविशेष्यभावो भवति। न चादैच्छब्दः प्रतीतपदार्थकः। तस्मात्संज्ञासंज्ञिनावेव ॥

(सिद्धान्तभाष्यम्)

तत्र त्वेतावान्सन्देहः—कः संज्ञी का संज्ञेति ? स चापि क्व सन्देहः।

प्रदीपः

च्छन्ति । द्वाभ्यां शब्दाभ्यां भिन्नप्रवृत्तिनिमित्ताभ्यामेकस्याधिकरणस्याभिधेयस्य प्रतिपादनाद्विशेषणविशेष्यार्थप्रतिपादनाच्च विशेषणविशेष्यत्वम् ॥ अन्ये तु—नीलमुत्पलमिति प्रवृत्तिनिमित्तयोर्जातिगुणयोरेकमधिकरणमाश्रय इति सामानाधिकरण्यं विशेषणविशेष्यभावं चार्थयोरेव मन्यन्ते ॥ न चादैच्छब्द इति। न ह्यस्य कश्चिल्लौकिकोऽर्थः प्रसिद्ध इत्यर्थः ॥

उद्द्योतः

त्याशयः ॥ अन्ये त्विति । संज्ञासंज्ञिनोस्तूक्तं प्रवृत्तिनिमित्तमिति सामानाधिकरण्यम् । एकविभक्तिकत्वं त्वत्र पक्षे शब्दद्वारा बोध्यम् । विभक्तिशब्देन शक्तिर्वा । भाष्ये संज्ञासंज्ञिनोरित्यस्य तत्प्रवृत्तिनिमित्तयोरित्यर्थः ॥ अन्येत्विति मतेऽरुचिबीजं तु प्रतीतपदार्थकयोरिति बहुव्रीहिस्वरसभङ्गः ॥ विशेषणविशेष्यभावो भवतीत्यस्य तदर्थप्रतिपादकत्वं भवतीत्यर्थः ॥ ननु वैयाकरणानामादैच्छब्दः प्रतीतपदार्थक एवेत्यत आह—नहीति । वृद्धिशब्दार्थान्वययोश्च इति शेषोऽत्र द्रष्टव्यः ॥ केचित्तु वृद्धयादिशब्दाः शब्दपरा एव । वृद्धिशब्दाभिन्ना आदैच इति बोधः । तदुक्तं हरिणा—

"वृद्धयादयो यथा शब्दाः स्वरूपोपनिबन्धनाः ।
आदैच्प्रत्यायितैः शब्दैः सम्बन्धं यान्ति संज्ञिभिः ॥" (वा०प० १।५९)

इति । सामानाधिकरण्यं चैकविशेष्यकप्रतीतिजनकत्वमित्याहुः ॥

भावबोधिनी

[जब समानार्थप्रतिपादकत्व और समान-विभक्तकत्व में दोनों सम्भव हैं] तो यहाँ वृद्धि और आदैच् विशेष्य विशेषण ही रहें, माने जा सकते हैं ।

नहीं, यह नहीं हो सकता, क्योंकि प्रसिद्ध अर्थवाले ही दो पदों का विशेष्य-विशेषणभाव लोक में देखा जाता है । [जिन दोनों पदों के अर्थ प्रसिद्ध होते हैं उन्हीं का अथवा प्रसिद्ध दो पदार्थों का ही विशेष्य-विशेषणभाव लोकव्यवहार में देखा जाता है ।] और आदैच् शब्दों का अर्थ प्रसिद्ध (सर्वज्ञात) नहीं है । इस (उपर्युक्त कारण) से ये वृद्धि और आदैच् संज्ञा और संज्ञी ही हैं ।

[संज्ञा संज्ञी ही हैं, ऐसा निर्णय हो जाता है] तो भी यहाँ यह सन्देह रहता है—कौन संज्ञी है और कौन संज्ञा ?

और इस प्रकार का सन्देह भी कहाँ होता है जहाँ दोनों पद समान अक्षरों वाले

यत्रोभे समानाक्षरे ॥ यत्र त्वन्यतरल्लघु सा संज्ञा, यद्गुरु स संज्ञी ॥

कुत एतत् ?

लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम् ॥ तत्राप्ययं नावश्यं गुरुलघुतामेवोपलक्षयितुमर्हति ॥

किं तर्हि ?

अनाकृतितामपि । अनाकृतिः संज्ञा, आकृतिमन्तः संज्ञिनः । लोकेऽपि ह्याकृतिमतो मांसपिण्डस्य देवदत्त इति संज्ञा क्रियते ॥

(समाधानान्तरभाष्यम्)

अथवाऽऽवर्तिन्यः संज्ञा भवन्ति । वृद्धिशब्दश्चावर्तते, नादैच्छब्दः । तद्यथा—इतरत्रापि देवदत्तशब्द आवर्तते, न मांसपिण्डः ॥

प्रदीपः

आवर्तिन्य इति । देवदत्तादिशब्दा हि दानादिप्रतिपादनायावर्तन्ते ॥

उद्द्योतः

भाष्ये यत्रोभे इति । प्रत्यय, अनीयरित्यादौ ॥ लघ्वर्थमित्यस्य लाघवार्थमित्यर्थः ।

न मांसपिण्ड इति । रस्थस्यापि नामोच्चारणमात्रेण दानादिसम्भवादिति भावः॥

भावबोधिनी

होते हैं । परन्तु जहाँ दोनों में कोई एक लघु (कम अक्षरों वाला) होता है वहाँ वही संज्ञा होता है । जो गुरु (अधिक अक्षरोंवाला) होता है वह संज्ञी होता है ।

ऐसा कैसे [माना जाता] है ?

क्योंकि व्यवहार में लघुता के लिए संज्ञा की जाती है । इसमें भी यह (अध्येता या सूत्रकार या संज्ञा-संज्ञिभाव) केवल गौरव लाघव को ही आवश्यकरूप से निर्णायक नहीं मान सकता ।

तो फिर किसको [निर्णायक मान सकता है] ?

अनाकृतिता (आकृतिहीनता) को भी । संज्ञा अनाकृति = आकृतिरहित और संज्ञी आकृतिमान् होते हैं । कारण स्पष्ट है लोक में भी आकृतिवाले मांसपिण्ड की 'देवदत्त' ऐसी संज्ञा की जाती है । [संज्ञा=मांसपिण्ड आकारवाला है, 'देवदत्त' शब्दरूप होने से आकारहीन है ।]

अथवा [विधिसूत्रों में] जिनकी बारबार आवृत्ति होती है वे संज्ञायें हैं । [विधिसूत्रों में] वृद्धि शब्द की ही बार-बार आवृत्ति होती है, आदैच् शब्द की नहीं । यह उसी प्रकार है जैसे लोक में भी देवदत्त, देवदत्त ऐसा कहकर शब्द की बार-बार आवृत्ति की जाती है, मांसपिण्डरूपी अर्थ की आवृत्ति नहीं की जाती है । [मांसपिण्ड रूपी आकार=अर्थ सामने न रहने पर भी उसका नाम लेकर ही अनेक कार्य सम्पादित किये जाते हैं । इसलिए लाघव, अनाकृति और आवृत्ति—इन तीन कारणों से स्पष्ट है कि 'वृद्धि' संज्ञा है और 'आदैच्' संज्ञी ।]

(समाधानान्तरभाष्यम्)

अथवा पूर्वोच्चारितः संज्ञी, परोच्चारिता संज्ञा ॥

कुत एतत् ?

सतो हि कार्यिणः कार्येण भवितव्यम् ?

तद्यथा—इतरत्रापि सतो मांसपिण्डस्य देवदत्त इति संज्ञा क्रियते ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

कथं "वृद्धिरादैज्" इति ?

(समाधानभाष्यम्)

एतदेकमाचार्यस्य मङ्गलार्थं मृष्यताम् । माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौ-

प्रदीपः

अथवेति । सत्यसति वा संज्ञिनि बुद्धया विषयीकृते शब्देन पूर्वनिर्दिष्टे संज्ञा प्रवर्तत इत्यर्थः ॥ ततश्च—अदेङ् गुण इत्यादावदेङादयः संज्ञिनो गुणादयः संज्ञाः ॥

इह तु मङ्गलार्थोऽन्यथा पाठक्रमः, आर्थस्त्वन्यथा क्रमः । अन्ये तु सिद्धिहेतवो

उद्द्योतः

सतो हीत्यादिना न भावरूपं विवक्षितम्,अभावस्यापि लोपादिसंज्ञादर्शनात् । नापि विद्यमानत्वं, प्रत्ययविधौ संज्ञाविशिष्टस्यापि विधानादत आह—बुद्ध्येति । अत एव 'सावर्णिर्भविता मनुरित्यादौ न दोषः । एवं च सच्छब्देन पूर्वं बुद्धया विषयीकृतत्वं विवक्षितमित्यर्थः ॥ बुद्धिसत्तासमाविष्ट एव चार्थः शब्देन बोध्यत इति सिद्धान्तात् । तत्त्वं हि पूर्वोच्चारितस्यैव भवतीत्याह—शब्देन पूर्वमिति ॥

भाष्ये माङ्गलिको मङ्गलप्रयोजनः ॥ महतः अर्थतः ॥ एकैकं सूत्रं शास्त्रमिति शास्त्रौघस्येत्युक्तम् ॥ मङ्गलादीनीत्यादिना स्वप्रयोजनं श्रोतृप्रयोजनं चोक्तम् ॥ प्रथन्ते= विस्तृतानि भवन्ति । तेन समाप्तिरर्थाक्षिप्ता ॥ आर्थस्त्वन्यथेति । आदैज् वृद्धि-

भावबोधिनी

अथवा [सूत्र में] जिसका उच्चारण पहले होता है वह संज्ञी होता है और जिसका उच्चारण बाद में होता है वह संज्ञा होती है ।

ऐसा कैसे [कहते हो] ?

क्योंकि विद्यमान (अस्तित्वविशिष्ट) कार्यी (पदार्थ) का ही कार्य किया जाता है । अन्यत्र (लोक में) भी विद्यमान मांसपिण्ड की ही 'देवदत्त' ऐसी संज्ञा होती है । [विशेष स्पष्टीकरण प्रदीप-उद्द्योत में देखें ।]

तो 'वृद्धिरादैच्' (१।१।१) यह कैसे ? [इसमें तो 'वृद्धि' संज्ञा का पहले उल्लेख हैं और आदैच् संज्ञी का बाद में] ।

घस्य मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते। मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाणि भवन्त्यायुष्मत्पुरुषकाणि चाध्येतारश्च वृद्धियुक्ता यथा स्युरिति॥ सर्वत्रैव हि व्याकरणे पूर्वोच्चारितः संज्ञी, परोच्चारिता संज्ञा "अदेङ् गुणः" इति यथा॥

प्रदीपः

भविष्यन्ति॥ अपृक्त एकाल्प्रत्यय इति तु परिभाषा, न संज्ञेति नास्ति व्यभिचारः। अपृक्तशब्देन ह्येकाकी कथ्यत इत्यनेनानियमेन ग्रहणे प्राप्ते नियमः क्रियते॥

उद्द्योतः

रित्याकारः। आनुपूर्वीज्ञानस्यासत्तिविधया हेतुत्वादिति भावः॥ कथं तर्हि वृद्धिशब्दस्य संज्ञात्वप्रतीतिरत आह—अन्ये त्विति। लाघवादयः। आदैचो वृद्धिपदाभिन्ना इत्यर्थः। एवं चानुपूर्वीव्यत्यासेन विलम्बेन बोधजनकशब्दोच्चारणं मङ्गलार्थं क्षम्यतामिति बोध्यम्। अत्रैकशब्दः प्रथमार्थकः प्रथमं तथाकरणं मङ्गलार्थमेव। एवं चान्यत्रापि तथाकरणमुद्देश्यविधेयभावेनान्वये तादृशस्यैव साधुत्वमिति भ्रमवारणार्थमित्याहुः॥ परिभाषेति। तदा हि यत्रापृक्तपदं तत्रैकालित्याद्युपतिष्ठत इत्यर्थात्प्राथम्यं युक्तमेवेत्यर्थः॥ वस्तुत इदं वृद्धिसूत्रेपि सुवचम्। किं चैवमपृक्तसंज्ञायामित्यादि भाष्यवार्त्तिव्यवहारानुपपत्तिः॥ केचित्तु परिभाषात्वेपि एकाल्प्रत्यय इत्येतदुद्देशेनापृक्तपदवद्देशस्थत्वं विधेयम्, पदपरत्वार्थं तत्रापि लक्षणावश्यकत्वेन सामानाधिकरण्यान्वयार्थं तावत्पर्यन्तलक्षणाया उचितत्वात्। पदत्रयाध्याहारे गौरवाच्च। एवं च परिभाषात्वेऽप्युद्देश्यत्वेन तस्यैव पूर्वपाठो युक्तः। आनुपूर्वीव्यत्यासाद् बोधस्तूभयोः सम इति वदन्ति॥

भावबोधिनी

आचार्य का यह एक (दोष) मङ्गल के लिए सहन कर लेना चाहिए। [यह 'वृद्धि' का पहले प्रयोग मङ्गल के लिए किया गया है।] माङ्गलिक (अध्येताओं का मङ्गल चाहनेवाले) आचार्य [अर्थ की दृष्टि से] महान् शास्त्रौघ (सूत्ररूपी शास्त्रों के समूह) के मङ्गल के लिए 'वृद्धि' शब्द का प्रयोग आदि में करते हैं। कारण यह है कि मंगल जिनके आदि में होता है ऐसे शास्त्र विस्तार प्राप्त करते हैं (उनका विस्तार होता है), और [अध्ययन करनेवाले शास्त्रार्थ में जीतते हैं] वीर (अपराजित) पुरुष वाले होते हैं, आयुष्मान्=दीर्घजीवी पुरुषों वाले होते हैं और अध्येता वृद्धियुक्त होवें—इसलिए ऐसा प्रयोग किया गया है।

व्याकरणशास्त्र में सर्वत्र (अधिकांश स्थलों में) पहले उच्चारित संज्ञी और बाद में उच्चारित संज्ञा होती है। उदाहरणार्थ—'अदेङ्गुणः।' [यहाँ 'अदेङ्' ये संज्ञी हैं, 'गुण' यह संज्ञा है।]

(सिद्धान्तिभाष्यम्)

दोषवान् खल्वपि संज्ञाधिकारः। अष्टमेऽपि हि संज्ञा क्रियते—"तस्य परमाम्रेडितम्" (८।१।२) इति। तत्रापीदमनुवर्त्यं स्यात् ॥

(समाधानान्तरभाष्यम्)

अथवाऽस्थानेऽयं यत्नः क्रियते। न हीदं लोकाद्भिद्यते। यदीदं लोकाद्भिद्येत ततो यत्नार्हं स्यात्। तद्यथा—अगोज्ञाय कश्चिद् गां सक्थनि कर्णे वा गृहीत्वोपदिशति—अयं गौरिति। न चास्मायाचष्टे—'इयमस्य संज्ञा' इति। भवति चास्य संप्रत्ययः ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

तत्रैतत्स्यात्—'कृतस्तत्र पूर्वैरभिसम्बन्धः' इति ॥

प्रदीपः

अस्थान इति। अन्तरेणापि संज्ञाशब्दप्रयोगं लोकव्यवहारवदत्र संज्ञासंज्ञिसम्बन्धः सिध्यतीत्यर्थः ॥

उद्द्योतः

भाष्ये अनुवर्त्यं स्यादिति। तच्चासम्बद्धबहुव्यवायादशक्यमिति भावः ॥

(भाष्ये) अस्थाने=अनवसरे। भिद्यते=विलक्षणं भवतीत्यर्थः ॥

भावबोधिनी

और 'संज्ञा' ऐसा अधिकार दोषवाला भी है। क्योंकि आठवें अध्याय में भी संज्ञा की गई है 'तस्य परम् आम्रेडितम्' (८।१।२) [द्विरुक्त के बादवाले रूप की आम्रेडित संज्ञा होती है।] वहाँ भी इस अधिकार की अनुवृत्ति करनी होगी। [और ऐसा करना कठिन होगा क्योंकि बीच में अनेक सूत्रों से असम्बद्ध का आगे सम्बन्ध करना उचित नहीं है।]

अथवा 'संज्ञा' ऐसा अधिकार रूपी प्रयत्न का यह उचित प्रसंग नहीं है, ऐसा करना ठीक नहीं है। कारण यह है कि यह (संज्ञा—ऐसा निर्देश न करना) लोक से अलग नहीं है। यदि ऐसा करना लोक से भिन्न होता तब तो करना चाहिए था [क्योंकि किसी को ज्ञान नहीं हो सकने से वैसा करना आवश्यक था]। उदाहरणार्थ—लोक में जिसे गाय का ज्ञान (पहचान) नहीं रहता है उसके लिए कोई (गोज्ञाता) व्यक्ति कान या सक्थि (घुटने का ऊपरी हिस्सा, पुट्ठा) को पकड़कर गाय को बतलाता है 'यह गाय है।' परन्तु इस (गाय को न पहचानने वाले) से यह नहीं कहता है 'यह इसकी संज्ञा=नाम है'। और इसे अच्छी प्रकार से ज्ञान हो जाता है, वह गाय को भलीभाँति पहचान लेता है।

ऐसे स्थल पर ऐसा हो सकता है—'वहाँ (गाय के बारे में) पहले के लोगों द्वारा संज्ञा-संज्ञिभाव का व्यवहार हो चुका रहता है।' [अर्थात् जो पहले से 'गो'

(समाधानभाष्यम्)

इहापि कृतः पूर्वैरभिसम्बन्धः ॥

कैः ?

आचार्यैः ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

तत्रैतत् स्यात्—यस्मै तर्हि सम्प्रत्युपदिशति तस्याकृत इति ॥

(समाधानभाष्यम्)

लोकेऽपि हि यस्मै सम्प्रत्युपदिशति तस्याकृतः । अथ तत्र कृतः, इहापि कृतो द्रष्टव्यः ॥

उद्द्योतः

अभिसम्बन्ध = संज्ञासंज्ञिभावः । ततो ज्ञातुं शक्य इति भावः ॥

तस्याकृत इत्यस्य तेनाज्ञात इत्यर्थः । तथा च तेन कथं प्रतिपत्तुं शक्य इति भावः ॥

अथ तत्रेति । अनुमानादिना ज्ञात इत्यर्थः ।

(इति संज्ञाधिकार-संज्ञासंज्ञिसन्देहापाकरणाधिकरणम्)

भावबोधिनी

शब्द और 'सास्नादिमान्' अर्थ पद-पदार्थ का सम्बन्ध जानता है वह व्यवहार करता है उसीसे दूसरों को ज्ञान होता है ।]

यहाँ (वृद्धि और आदैच् के विषय में) भी पूर्ववर्तियों द्वारा अभिसम्बन्ध (संज्ञा-संज्ञिभाव का व्यवहार) किया जा चुका है ।

किनके द्वारा ?

[पूर्ववर्त्ती] आचार्यों के द्वारा । [अतः यहाँ लोक से भिन्न स्थिति नही है ।]

यहाँ ऐसा हो सकता है कि जिसे अब (सबसे पहले) उपदेश (वृद्धि और आदैच् विषयक ज्ञान) कराया जा रहा है उसे तो संज्ञासंज्ञिभाव ज्ञात नहीं है, अज्ञात है। [उसी के लिए संज्ञा का अधिकार किया जाय]

[किन्तु यह बात भी लोक से भिन्न नहीं है क्योंकि] लोक में भी जिसे इस समय (सबसे पहले) गोविषयक ज्ञान कराया जाता है (गो शब्द संज्ञा और मांसपिण्डरूपी अर्थ का ज्ञान कराया जाता है) उसका तो पहले से अज्ञात = असिद्ध ही रहता है । यदि वहाँ (लोक में अनुमानादि से) किया हुआ रहता है तो यहाँ शास्त्र में भी [पहले से] किया हुआ सिद्ध रहता है । [इस प्रकार लोक से भिन्न नहीं होने से 'संज्ञा' इस अधिकार की कोई आवश्यकता नहीं है ।]

(अन्योन्याश्रयपरिहाराधिकरणम्)

(९८ अथान्योन्याश्रयाक्षेपवार्तिकम् ॥ १ ॥)

॥*॥सतो वृद्ध्यादिषु संज्ञाभावात्तदाश्रय इतरेतराश्रयत्वादप्रसिद्धिः॥*॥

(भाष्यम्)

सतः संज्ञिनः संज्ञाभावात्। तदाश्रये संज्ञाश्रये संज्ञिनि वृद्ध्यादिष्वितरेतराश्रयत्वादप्रसिद्धिः ॥

का इतरेतराश्रयता ?

सतामादैचां संज्ञया भवितव्यम्, संज्ञया चादैचो भाव्यन्ते। तदेतदितरेतराश्रयं भवति। इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते। तद्यथा—नौर्नावि बद्धा नेतरत्राणाय भवति ॥

प्रदीपः

सतो वृद्ध्यादिष्विति। विधौ चायं दोषो नानुवादे—वृद्धिर्यस्येत्यादौ। तत्र च संज्ञाविधानस्य चरितार्थत्वान्मृजेर्वृद्धिरित्यादौ वृद्धिशब्द एवादेशः प्राप्नोति ॥

उद्द्योतः

सतो वृद्ध्यादिष्विति। सतो निष्पन्नस्य संज्ञाभावात्संज्ञासंबन्धात् तदाश्रये=संज्ञाश्रये संज्ञया संज्ञिविधायके शास्त्रे मृजेर्वृद्धिरित्यादौ॥ वृद्ध्यादिषु वृद्ध्यादिपदेषु ॥ इतरेतराश्रयत्वादप्रसिद्धिः वाक्यार्थाप्रसिद्धिरित्यर्थः। अविद्यमाने संबन्धस्य वक्तुमशक्यत्वादिति भावः ॥

भावबोधिनी

अन्योन्याश्रय दोष का परिहार

(वा०) पहले से विद्यमान संज्ञी पदार्थ की ही [वृद्धि आदि] संज्ञा होने से संज्ञा के आश्रयवाले संज्ञी में वृद्धि आदि में इतरेतराश्रय के कारण [वाक्यार्थ की] अप्रसिद्धि [अनुपपत्ति] होगी।

(भा०) पहले से ही विद्यमान संज्ञी (पदार्थ) की संज्ञा (नाम) की जाती है, इस कारण उस संज्ञा के आश्रय संज्ञी (= संज्ञा द्वारा संज्ञी के विधायक 'मृजेर्वृद्धिः' आदि सूत्र) में वृद्धि आदि पदों में इतरेतराश्रय (अन्योन्याश्रय) दोष के कारण [सूत्र-वाक्यार्थ बोध में] अप्रसिद्धि होने लगेगी, सूत्रार्थबोध सम्भव नहीं हो सकेगा।

यहाँ कौन सा इतरेतराश्रयत्व (अन्योन्याश्रयत्व) दोष है ?

पहले से रहनेवाले आत् ऐच् की वृद्धि संज्ञा होवे और वृद्धि संज्ञा द्वारा आत् ऐच् किये जाते हैं, बनाये जाते हैं। [जब आदैच् रहें तो संज्ञा की जाय और संज्ञा की जाय तो आदैच् बनें।] इस प्रकार एक के होने पर दूसरा और दूसरे के होने पर पहला होने से अन्योन्याश्रय दोष आता है। और अन्योन्याश्रित कार्य नहीं होते हैं। जैसे कि एक नाव में बँधी हुई दूसरी नाव एक दूसरे की रक्षा करने में समर्थ नहीं होती है। [बिना मांझी के किनारे नहीं आ सकती।]

(इतरेतराश्रयिदृष्टान्तभाष्यम्)

ननु च भो इतरेतराश्रयाण्यपि कार्याणि दृश्यन्ते। तद्यथा—नौः शकटं वहति, शकटं च नावं वहति ॥

(दृष्टान्तनिरासभाष्यम्)

अन्यदपि तत्र किंचिद्भवति जलं स्थलं वा। स्थले शकटं नावं वहति। जले नौः शकटं वहति ॥

(इतरेतराश्रयिदृष्टान्तान्तरभाष्यम्)

यथा तर्हि त्रिविष्टब्धकम् ॥

(दृष्टान्तान्तरनिराकरणभाष्यम्)

तत्राप्यन्ततः सूत्रकं भवति ॥

प्रदीपः

ननु च भो इति। नौशकटस्याभिमतदेशान्तरप्राप्तिरितरेतराश्रयेति चोद्यम् ॥

[तत्रापीति।] सामग्र्यन्तरानुप्रवेशेन चोत्तरम् ॥

उद्द्योतः

वहनक्रियायामितरेतराश्रयत्वाभावेपि तत्फलतीत्याह (भाष्ये)—नौःशकेति। सामग्र्यन्तरेति। कारणान्तरेत्यर्थः। सूत्रकं कीलकादि ॥ न च सामान्यलक्षणया भूतभाविसकलविषयकशक्तिग्रहः संभवत्येव। अन्यथा तवापि तत्तद्बोद्धबुद्धौ असंनिहित-सकलाकारविषयकशक्तिग्रहासंभावेनानुवादेपि दोषः स्यात्। सामान्यलक्षणानङ्गीकारेऽपि शक्तिग्रहबोधादीनां समानप्रकारकत्वेनैव कार्यकारणभावाभ्युपगमान्न दोष इति वाच्यम्; जातिप्रकारकशक्तिग्रहस्य स्वाश्रयीभूतसकलव्यक्तिबोधकत्वेप्यनुत्पन्ने

भावबोधिनी

क्योंजी, अन्योन्याश्रय दोष से दूषित भी कार्य होते देखे जाते हैं। जैसे—नाव बैलगाड़ी को ढोती है, और बैलगाड़ी नाव को ढोती है। [यहाँ एक दूसरे को ढोती हैं। अन्योन्याश्रय है तो भी कार्य होता है।]

उक्त कार्य में कुछ और भी तो होता है जल अथवा स्थल। स्थल में बैलगाड़ी नाव को ढोती है। और जल में नाव बैलगाड़ी को ढोती है। [अतः दोनों से भिन्न तीसरा अधिकरण सहायक होता है। अतः यहाँ अन्योन्याश्रय दोष नहीं है।]

अथवा जैसे त्रिविष्टब्धक। [परस्पर बँधे हुए तीन बासों को त्रिविष्टब्धक कहा जाता है। ये तीनों परस्पर मिलकर खड़े होते हैं। जैसा कि लकड़ी आदि तौलते समय तराजू टांगने के लिए बनाये जाते हैं। यहाँ तो तीनों परस्पराश्रित होकर ही कार्य करते हैं। अतः अन्योन्याश्रय दोष कार्यबाधक नहीं है।]

यहाँ [त्रिविष्टब्धक में] भी तीनों के बीच में सूत्रक [रस्सी या कील आदि] होता ही है। [इसी से परस्पर बँधे रहकर कार्य करने में समर्थ देखे जाते हैं।]

(आक्षेपोपसंहारभाष्यम्)

इदं पुनरितरेतराश्रयमेव ॥

(९८ अन्योन्याश्रयवारकसिद्धान्तिवार्तिकम् ॥ २ ॥)

॥ * ॥ सिद्धं तु नित्यशब्दत्वात् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

सिद्धमेतत् ॥

कथम् ?

नित्यशब्दत्वात् । नित्याः शब्दाः, नित्येषु शब्देषु सतामादैचां संज्ञा क्रियते, न च संज्ञया आदैचो भाव्यन्ते ॥

प्रदीपः

सिद्धं त्विति । न हि मृजेर्वृद्धिरपूर्व आकारो भाव्यते किं तु मृजावुपदिष्टे मार्ष्टीत्यादीनामसाधुत्वबुद्धिः प्राप्नोतीति तेषां साधुत्वान्वाख्यानं क्रियते ॥

उद्द्योतः

जात्याश्रयत्वसंबन्धस्य वक्तुमशक्यतया भाविव्यक्तेर्जात्याश्रयत्वाभावात् तद्बोधासंभवेन मृजेर्वृद्धिरित्यत्र तज्जन्योत्पत्तिज्ञप्त्योः परस्पराश्रय इति भावात् । वृद्धिरादैजित्यस्य विद्यमानेषु बुद्धिस्थेषु चारितार्थ्येन भाविनामुद्देश्यत्वासंभवेन तत्र वृद्धिपदस्य शक्तिग्रहासंभवाच्च ।

यद्यप्यस्य सूत्रस्य शाटकं वयेत्यादाविव भाविसंज्ञाविज्ञानेन सिध्यति, यथा च तत्रोत्पत्त्यनन्तरं गृहीतशक्तिकशाटकसादृश्याच्छाटकपदशक्तिग्रहस्तथा प्रकृतेपि स्पष्टं चेदमिग्यण इति सूत्रे भाष्ये । तथाप्यत्र वास्तवमेव परिहारमाह—भाष्ये सिद्धं त्विति । एतच्च मञ्जूषायां विस्तरेण निरूपितम् ॥

भावबोधिनी

परन्तु प्रस्तुत स्थल में तो यह [वृद्धि संज्ञा और आदैच् संज्ञी] इतरेतराश्रित ही हैं। [अतः इनसे बोध नहीं हो सकेगा ।]

(वा०) शब्द नित्य होने से यहाँ कार्य सिद्ध है ।

(भा०) यह सिद्ध है । [अन्योन्याश्रय दोष का परिहार सिद्ध है ।]

कैसे ?

शब्द नित्य होने से । शब्द नित्य हैं, नित्य शब्दों में विद्यमान ही आदैच् की वृद्धि संज्ञा की जाती है, यह नहीं है कि वृद्धि संज्ञा से आदैच् बनाये या उत्पन्न कराये जाते हैं ।

(आक्षेपभाष्यम्)

यदि तर्हि नित्याः शब्दाः, किमर्थं शास्त्रम् ?

(९९ आक्षेपवारकसिद्धान्तिवार्तिकम् ॥ ३ ॥)

॥ * ॥ किमर्थं शास्त्रमिति चेन्निवर्तकत्वात्सिद्धम् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

निवर्तकं शास्त्रम् ॥

कथम् ?

मृजिरस्मायविशेषेणोपदिष्टः। तस्य सर्वत्र मृजिबुद्धिः प्रसक्ता। तत्रानेन निवृत्तिः क्रियते—मृजेरक्ङित्सु प्रत्ययेषु मृजिप्रसङ्गे मार्जिः साधुर्भवतीति ॥

(इत्यन्योन्याश्रयनिराकरणाधिकरणम्)

(अथ समुदितसंज्ञानिराकरणाधिकरणम्)

(१०० आक्षेपवार्तिकम् ॥ ४ ॥)

[॥ * ॥ वृद्धिगुणसंज्ञयोः प्रत्येकं वचनम्[1] ॥ * ॥]

भावबोधिनी

शब्दनित्यत्वपक्ष में शास्त्र की उपयोगिता

यदि शब्द नित्य हैं तो व्याकरण शास्त्र किस लिए है ?

(वा०) यदि पूछो कि शास्त्र किस लिए है ? निवर्त्तक होने से [इसकी उपयोगिता] सिद्ध है।

(भा०) शास्त्र निवर्त्तक है। [अप्रसङ्ग में शास्त्र की प्रवृत्ति रोकना शास्त्र का प्रयोजन है।]

कैसे ?

इस (साधुशब्द के जिज्ञासु) के लिए 'मृज्' (मृजूष्) धातु का सामान्यरूप से (शुद्ध अकेला) उपदेश [धातुपाठ में] किया गया है। इस (जिज्ञासु) की तिबादि सभी स्थलों पर 'मृज्' इसी प्रकार बुद्धि होती है, वह सभी में 'मृज्' रूप को ही शुद्ध समझता है। इसी प्रकार की बुद्धि के होने पर यह ["मृजेर्वृद्धिः" सूत्र मृज् बुद्धि की] निवृत्ति करता है—कित् और ङित् से भिन्न प्रत्यय होने पर 'मृज्' के स्थान पर 'मार्ज्' यह रूप शुद्ध होता है। [अतः अनिष्ट की निवृत्ति कराते हुए इष्ट की उपपत्ति कराना ही शास्त्र का फल है,नवीन शब्दों की उत्पत्ति कराना नहीं। अतः शब्दनित्यत्व पक्ष में शास्त्र की उपयोगिता सुरक्षित है।]

---

[1] टि० इदं वार्त्तिकमेतदीयं भाष्यं च न सर्वत्रोपलभ्यते, उपयोगित्वादत्रापि संयोजितम्।

(भाष्यम्)

[वृद्धिगुणसंज्ञयोः प्रत्येकं ग्रहणं कर्तव्यम् ॥]

प्रत्येकं वृद्धिगुणसंज्ञे भवत इति वक्तव्यम् ॥

किं प्रयोजनम् ?

समुदाये मा भूतामिति ॥

(१०१ आक्षेपवारकसिद्धान्तिवार्तिकम् ॥ ५ ॥)

॥ * ॥ अन्यत्र सहवचनात्समुदाये संज्ञाऽप्रसङ्गः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

अन्यत्र सहवचनात्समुदाये वृद्धिगुणसंज्ञयोरप्रसङ्गः । यत्रेच्छति सहभूतानां

प्रदीपः

प्रत्येकमिति । यद्यपि नित्यशब्दत्वेनेतदपि व्यवतिष्ठते तथापि न्यायव्युत्पादनायोपन्यासः ॥ समुदाये मा भूतामिति । अन्यथा मृजेर्वृद्धिरित्यादौ समुदाय आदेशः प्राप्नोति । समुदायावयवसन्निधौ क्व तात्पर्यं कस्य च नान्तरीयकत्वमिति विचार्यते ॥

अन्यत्रेति । यत्नसाध्या समुदायप्रतिपत्तिरिति यत्नाभावे न भवतीत्यर्थः ॥ ननु

उद्द्योतः

न्यायेति । वक्ष्यमाणन्यायद्वयेत्यर्थः ॥ ननु वृद्धिर्यस्येत्यादौ समुदायासम्भवात् प्रत्येकमेव संज्ञेत्यत आह—अन्यथेति । एवं च तमादाय तत्रापि सम्भवः । द्वन्द्वनिर्देशात् समुदायस्यैव स्यादिति भावः ॥ समुदायेति । "मातापित्रोर्मृतेऽहनी"तिवद्बोधे साहित्यं न तु क्रियानिष्पत्तौ इति भावः ॥

भावबोधिनी

समुदितों की संज्ञा का निराकरण

(वा०) वृद्धि और गुण संज्ञाओं में 'प्रत्येक' की ऐसा कहना चाहिए ।

(भा०) वृद्धि संज्ञा और गुण संज्ञा में 'प्रत्येक' का ग्रहण करना चाहिए । [आ, ऐ, औ में] प्रत्येक वृद्धिसंज्ञावाला [और अ, ए, ओ में प्रत्येक] गुण संज्ञा वाला होता है—ऐसा कहना चाहिए ।

['प्रत्येक' इसे कहने का] क्या प्रयोजन है ?

[आ, ऐ, औ इस समुदाय और अ, ए, ओ इस] समुदाय की वृद्धि संज्ञा और गुण संज्ञा न होने लगे ।

(वा०) अन्य सूत्रों में 'सह' का ग्रहण करने के कारण समुदाय में संज्ञा होने का प्रसङ्ग नहीं है ।

(भा०) अन्यत्र अर्थात् इन संज्ञा सूत्रों से भिन्न सूत्रों में 'सह' शब्द का ग्रहण

कार्यं करोति तत्र सहग्रहणम्। तद्यथा "सह सुपा" (२।१।४) "उभे अभ्यस्तं सह" (६।१।२१) इति ॥

(१०२ आक्षेपवारकसिद्धान्तिवार्तिकम् ॥ ६ ॥)

॥ * ॥ प्रत्यवयवं च वाक्यपरिसमाप्तेः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

प्रत्यवयवं च वाक्यपरिसमाप्तिर्दृश्यते। तद्यथा—देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्त्रा

प्रदीपः

सहग्रहणं नियमार्थं स्यात्समुदायस्यैव समाससंज्ञा यथा स्यान्नावयवानामिति ॥ नैतदस्ति, उभयत्र तात्पर्याभावाद्युगपदुभयत्र प्रसङ्गाभावाल्लिङ्गत्वमेव सहग्रहणस्यान्यत्र समुदाये तात्पर्यं नास्तीत्यस्यार्थस्य ॥ उभे अभ्यस्तं सहेति। अत्र सहग्रहणे वार्तिककारस्य[1] कर्तव्यत्वेन स्थितम्। भाष्यकारस्तूभेग्रहणस्यैतत्प्रयोजनं स्थापयिष्यति ॥

प्रत्यवयवं चेति। अत्र वाक्यशब्देन वाक्यार्थः फलमुच्यते। तच्च देवदत्तादीनां भोजनम्। तस्य चैतदेव रूपं यत्प्रत्येकपरिसमाप्त्या सम्पद्यतेऽन्नादनादिरूपत्वात्तृप्ति-

उद्द्योतः

उभयत्रेति। समुदायेऽवयवे चेत्यर्थः ॥ उभयत्र तात्पर्याभावे हेतुर्युगपदिति। फलाभावादिति भावः ॥ यद्यपि पर्यायः प्राप्नोति, तथापि समासविधिनियमोभयपरत्वे गौरवमित्यतो लिङ्गत्वकल्पनमेवोचितमित्यत्र तात्पर्यम् ॥ भाष्यकारस्त्विति। तदेकदेशीत्यर्थः। द्वे इत्यनुवृत्त्यैव सिद्धे उभेग्रहणं सहार्थकमिति भावः ॥

न ज्ञापकादेव, किं तु युक्तितोपि प्रत्येकं संज्ञेत्याह भाष्ये—प्रत्यवयवमिति ॥ ननु प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिमुपक्रम्य प्रत्येकं भुजिसमाप्त्युक्तिरयुक्ता, न हि भुज्यर्थोऽत्र

भावबोधिनी

रहता है [अतः वहाँ वह विधि समूह में प्रवृत्त है, यहाँ 'सह' का ग्रहण नहीं है।] इसलिए [आ, ऐ, औ तथा अ, ए, ओ इनके] समूह में वृद्धि संज्ञा और गुणसंज्ञा का प्रसङ्ग नहीं आता है। आचार्य पाणिनि जहाँ सहभूत=सम्मिलितों की संज्ञा का कार्य करना चाहते हैं वहाँ 'सह' का ग्रहण करते हैं। जैसा कि 'सह सुपा' (२।१।४) और 'उभे अभ्यस्तम्' (६।१।५) में 'सह' [और उभे] किया है।

(वा०) और प्रत्येक अवयव में वाक्यार्थ की परिसमाप्ति होने से भी ['प्रत्येक' ग्रहण आवश्यक नहीं है]।

(भा०) वाक्यघटक प्रत्येक अवयव में वाक्य (वाक्यार्थ भोजनादिफल) की परिसमाप्ति (पर्यवसान) देखी जाती है। उदाहरणार्थ—देवदत्त-यज्ञदत्त-विष्णुमित्राः

---

१. यह 'सह' ग्रहण वार्त्तिककार ने कहा है। देखें प्रदीप०

भोज्यन्तामिति। न चोच्यते प्रत्येकमिति। प्रत्येकं च भुजिः परिसमाप्यते॥

(आक्षेपभाष्यम्)

ननु चायमप्यस्ति दृष्टान्तः—"समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः" इति। तद्यथा—

प्रदीपः

फलत्वाच्च भोजनस्य। नाटचक्रिया तु समुदाये समाप्यते। गीतादिक्रियासमुदायरूपत्वात्तस्याः। संयोगसंज्ञा त्वन्वर्थत्वात्समुदाये प्रवर्तते। वृद्धिसंज्ञा तु लक्ष्ये पृथगादैचां दर्शनाद् मालादीनां चेति लिङ्गाच्च प्रत्येकं व्यतिष्ठते॥

गर्गाः शतं दण्डयन्तामिति। अत्र शतस्येप्सिततमत्वात् प्राधान्यम्, अपादानस्यान-

उद्द्योतः

वाक्यार्थः। किं तु ण्यन्तार्थोत आह—अत्रेति। वाक्यार्थस्तु अत्र प्रयोजकव्यापारस्तस्य समुदायविषयत्वसम्भवात्फलग्रहणम्। तच्च प्रयोज्यव्यापाररूपमित्याह—तच्चेति॥ ननु विशिष्टपरिमाणस्यादनीयस्य भोजनक्रिया समुदाये पर्याप्तेत्यपि वक्तुं शक्यमत आह—तृप्तिफलत्वाच्चेति॥ सर्वापि क्रिया प्रत्येकं समाप्यत इति भ्रमो न कार्य इत्याह—नाटचेति॥ गीतादीति। आदिना नृत्तवाद्यादि॥ अन्वर्थत्वात्—संयुज्यन्ते वर्णा अत्रेति॥ लक्ष्यानुसारात्तत्र समुदाये वाक्यपरिसमाप्तेराश्रयणमिति तत्त्वम्॥ प्रकृतेऽन्यतरन्यायाश्रयणे हेतुमाह—वृद्धिसंज्ञेति॥ लिङ्गादिति। प्रस्थेऽवृद्धमिति निषेधबाधनार्थं हि तदिति भावः॥ न च नामधेयरूपमानादीनामाद्युदात्तार्थं तत्; तस्य वा नामधेयस्येति पक्षे वृद्धत्वादिति वाच्यम्; अभिव्यक्तेति न्यायेन तत्राप्रवृत्तेः॥

समुदाये समाप्तौ युक्तिमाह—अत्र शतस्येति। एवं चाकथितसूत्रे दण्डिरपि परिगणनीय इति भाव इत्येके॥ उद्देश्यत्वरूपमार्थं प्राधान्यं शतस्येत्यनुद्देश्यत्वेन गर्गा गुणकर्म। दण्डेश्च स्वसम्प्रदानकदानानुकूलव्यापारानुकूलव्यापारः शासनरूपोऽर्थः।

भावबोधिनी

भोज्यन्ताम्' (देवदत्त, यज्ञदत्त और विष्णुमित्र खिलाये जायँ)। इस वाक्य में 'प्रत्येक' ऐसा नहीं कहा जाता है, अर्थात् तीनों में प्रत्येक को भोजन कराया जाय, ऐसा नहीं कहा जाता है किन्तु भोजन क्रिया तो प्रत्येक में पर्यवसित होती है। [इसी प्रकार 'प्रत्येक' ऐसा कहे बिना भी प्रत्येक की ही वृद्धि और गुण संज्ञा होगी समूह की नहीं[1]।]

क्यों श्रीमन्! यह भी तो दृष्टान्त है—"समुदाय में वाक्यार्थ की परिसमाप्ति होती है।" उदाहरणार्थ—'गर्गाः शतं दण्डयन्ताम्।' (गर्ग-गोत्रोत्पन्न लोगों से सौ रुपये

---

१. कहाँ प्रत्येक का और कहाँ समूह का उपयोग होता है—इसके लिए कैयटीय प्रदीप देखें।

'गर्गाः शतं दण्ड्यन्ताम्' इति । अर्थिनश्च राजानो हिरण्येन भवन्ति । न च प्रत्येकं दण्डयन्ति ॥

(समाधानभाष्यम्)

सत्येतस्मिन्दृष्टान्ते यदि तत्र सह ग्रहणं क्रियते, इहापि प्रत्येकमिति वक्तव्यम् । अथ तत्रान्तरेण सहग्रहणं सहभूतानां कार्यं भवति, इहापि नार्थः प्रत्येकमिति वचनेन ॥

प्रदीपः

प्राप्ता गर्गा गुणकर्म, न च गुणभेदे प्रधानस्य भेद इति शतदण्डनं समूहे परिसमाप्यते ॥ अर्थिनश्चेति । शतस्य प्राधान्यं प्रतिपाद्यते । दण्डपरायां हि चोदनायां शतस्य प्राधान्यमतो वाक्यादवगम्यते ॥

अथ तत्रान्तरेणेति । न्यायादन्वर्थत्वाच्च समाससंज्ञायाः समुदाये परिसमाप्तौ

उद्द्योतः

शासनं नियन्त्रणम् । तत्र ण्यन्त इव 'कर्तुरि'त्युभयोः कर्मत्वम् । कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे धात्वर्थप्रधानव्यापारविशेषणफलाश्रयत्वेन गर्गाणां शाब्दं प्राधान्यम् । तत्रैव प्रधाने कर्मणि लकारः । "प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्" इत्युक्तेः । दुहादिष्वस्याप्रामाणिकः पाठ इति वक्ष्यते ॥ अपादानस्थानप्राप्ता इत्यनेन चानुद्देश्यत्वमात्रमभिप्रेतमिति परे ॥ शतस्य प्राधान्यमिति । शारीराभिहननलक्षणदण्डव्यावर्तनेनेति भावः ॥

नन्वन्तरेणापीति वाच्ये सार्वकालिकासत्त्वप्रतिपादकमपिशब्दरहितमयुक्तमत

भावबोधिनी

दण्ड (जुर्माना) लिया जाय ।) राजा लोग तो हिरण्य (धन) को लेने वाले होते हैं किन्तु वे प्रत्येक से सौ सौ रुपये दण्ड नहीं लेते हैं । [सभी से मिलाकर सौ रुपये दण्ड लेते हैं । अतः यहाँ दण्ड क्रिया में सौ का प्राधान्य है ।]

इस (द्वितीय) दृष्टान्त के होने पर यदि [भोजनन्याय संभव मानकर] वहाँ ('सह सुपा' आदि सूत्रों में) 'सह' का ग्रहण किया जाता है तब तो प्रस्तुत स्थल में भी (गर्ग-दण्डनन्याय संभव होने से) 'प्रत्येक' यह कहना चाहिए ।

यदि वहाँ ('सह सुपा' से होने वाली समास संज्ञा में) सह—ग्रहण के बिना ही सहभूत = समुदाय का कार्य (समास संज्ञा) होता है तो प्रस्तुत स्थल (वृद्धि संज्ञा) में भी 'प्रत्येक' इस वचन की कोई आवश्यकता नहीं है ।

विमर्श—'देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्राः भोज्यन्ताम्' इस लौकिक दृष्टान्त से यह ज्ञात होता है कि प्रत्येक का कथन किये बिना भी प्रत्येक को भोजन कराया जाता है । अतः वाक्यार्थ = भोजन रूप फल का प्रत्येक में पर्यवसान होता है । इसके विपरीत

(आक्षेपभाष्यम्)

इग्ग्रहणं किमर्थम् ?

(१०५ समाधानवार्तिकम् ॥ १ ॥)

॥ * ॥ इग्ग्रहणमात्सन्ध्यक्षरव्यञ्जननिवृत्त्यर्थम् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

इग्ग्रहणं क्रियते ॥

किं प्रयोजनम् ?

आकारनिवृत्त्यर्थं सन्ध्यक्षरनिवृत्त्यर्थं व्यञ्जननिवृत्त्यर्थं च ॥

प्रदीपः

इको गुणवृद्धी ॥ ३ ॥ इग्ग्रहणमिति । वक्ष्यमाणज्ञापकवशादाकारादिनिरासादिक एव गुणवृद्धी भविष्यत इति प्रश्नः ॥

आत्सन्ध्यक्षरेति । आकारादीनां स्थानित्वस्य निवृत्त्यर्थमित्यर्थः ॥

उद्द्योतः

इको गुण० ॥ ३ ॥ गुणवृद्धिग्रहणस्योत्तरत्र निषेध्यसमर्पणायावश्यकत्वेऽपि इक्पदस्येक स्थान इत्यर्थार्थमावश्यकत्वेऽपि योगविभागविषयकोऽयं प्रश्नो भाष्ये इग्ग्रहणमिति ॥

ननु इग्ग्रहणेनाकारादीनां निवृत्तिरशक्या कर्तुमत आह—स्थानित्वस्येति ॥

भावबोधिनी

इक्—इसके ग्रहण की उपयोगिता का उपपादन

[प्रस्तुत सूत्र में] 'इक्' का ग्रहण किस लिए है ?

(वा०) इक् का ग्रहण आत् (आ), सन्ध्यक्षर (ऐ, औ) और व्यञ्जनों की निवृत्ति के लिए है।

भा०) इक् का ग्रहण किया जाता है।

[इक् का] क्या प्रयोजन है ?

आकार की निवृत्ति के लिए, सन्ध्यक्षरों की निवृत्ति के लिए और व्यञ्जनों की निवृत्ति के लिए।

विमर्श—प्रस्तुत सूत्र इक्=इ, उ, ऋ, ऌ के स्थान पर ही गुण और वृद्धि का नियम करता है। यदि इस सूत्र में इक् का ग्रहण नहीं होगा तो स्थानी का नियम नहीं हो सकेगा और आ, ऐ, औ तथा व्यञ्जन इन सभी स्थानियों के स्थान पर गुण और वृद्धि होने का प्रसंग आने लगेगा। अतः इक् का ग्रहण करने से यह नियम बन जाता है कि गुण और वृद्धि इक् के स्थान पर ही होती है, दूसरे के स्थान पर

नोट—कृपया पृ० सं० ३३७–३५२ को ३२५–३४० समझ कर पढ़ें।

(प्रथमप्रयोजनोपपादनभाष्यम्)

आकारनिवृत्त्यर्थं तावद्—याता वाता । आकारस्य गुणः प्राप्नोति । इग्ग्रहणान्न भवति ॥

(द्वितीयप्रयोजनोपपादनभाष्यम्)

सन्ध्यक्षरनिवृत्त्यर्थम्—ग्लायति म्लायति । सन्ध्यक्षरस्य गुणः प्राप्नोति । इग्ग्रहणान्न भवति ॥

प्रदीपः

आकारस्याङ्गान्त्यस्य वृद्धिविधावभावाद्विशेषाभावाच्चाकारस्य चातो लोप इति लोपविधानादाकारस्य गुणप्रसङ्गमुदाहरति—यातेति ॥

ग्लायतीति । एचां द्विमात्रत्वाविशेषात् प्रयत्नाधिक्याभावादैकारोपदेशेऽप्येकारो गुणः स्यात् ॥

उद्द्योतः

ननु आकारस्य वृद्ध्युदाहरणादाने गुणांशे च अकारोदाहरणादाने किं बीजमत आह—आकारस्येति । वृद्धिविधौ सिचिवृद्धिविधौ । अयासीदित्यादौ अपवादत्वात्सगिड्भ्यां सा बाध्यते इति भावः ॥ इतरवृद्धिविधौ सम्भवेऽप्याह—विशेषाभावादिति । अकारस्येति । ण्यल्लोपाविति पूर्वविप्रतिषेधेनातो लोपस्य वृद्धिगुणबाधकत्वादिति भावः ॥ पुत्रीयतीत्यादौ त्वविशेष इति बोध्यम् । आकारस्य गुणेति । सार्वधातुकार्धधातुकयोरित्यनेन ॥

नन्वैकारोच्चारणसामर्थ्याद् गुणो नेत्यत आह—एचामिति । सर्वेषां विवृत एव प्रयत्न इत्यभिमानः ॥

भावबोधिनी

नहीं । इस नियम के कारण यह परिभाषा सूत्र माना जाता है । इक् ग्रहण के कारण होनेवाले प्रयोजनों पर आगे विचार किया जा रहा है ।

(अनु०) आकार [स्थानी] की निवृत्ति के लिए उदा०—याता, वाता ['या' और 'वा' से लुट् लकार या तृच् प्रत्यय का रूप है ।] इनमें [या के] आकार के स्थान पर ['सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४सूत्र से) गुण (अ) प्राप्त होता है परन्तु [इस परिभाषा सूत्र में] इक् के ग्रहण के कारण नहीं होता है । क्योंकि 'आ' इक् नहीं हैं ।]

सन्ध्यक्षरों (ऐ, औ इन स्थानियों) की निवृत्ति के लिए—ग्लायति, म्लायति । [ग्लै + अति, म्लै + अति इनमें] सन्ध्यक्षरों का गुण प्राप्त होता है । इक् ग्रहण के कारण नहीं होता है । [क्योंकि सन्ध्यक्षर इक् नहीं हैं । अतः इनके स्थान में भी गुण न हो ।].

(तृतीयप्रयोजनोपपादनभाष्यम्)

व्यञ्जननिवृत्त्यर्थम्—उम्भिता उम्भितुम् उम्भितव्यम् । व्यञ्जनस्य गुणः प्राप्नोति । इग्ग्रहणान्न भवति ॥

(प्रथमप्रयोजननिराकरणभाष्यम्)

आकारनिवृत्त्यर्थेन तावन्नार्थः । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—नाकारस्य गुणो भवतीति । यदयम् "आतोऽनुपसर्गे कः" (३।२।३) इति ककारमनुबन्धं करोति ॥

कथं कृत्वा ज्ञापकम् ?

कित्करण एतत्प्रयोजनम्—कितीत्याकारलोपो यथा स्याद् । यदि चाकारस्य गुणः स्यात्, कित्करणमनर्थकं स्याद् । गुणे कृते द्वयोरकारयोः पररूपेण सिद्धं रूपं स्याद्—गोदः कम्बलद इति । पश्यति त्वाचार्यो—नाकारस्य गुणो भवतीति,

प्रदीपः

उम्भितेति । भकारस्यौष्ठ्यत्वादोकारो गुणः स्यात् ॥

पररूपेणेति । अतो लोपस्तु न भवत्यार्धधातुकोपदेशे यदकारान्तं तस्य लोपविधानात् ॥

उद्द्योतः

आर्धधातुकोपदेश इति । गुणनिष्पन्नश्च तदुत्तरकालिक इति भावः ॥

भावबोधिनी

व्यञ्जन (स्थानी) की निवृत्ति के लिए—उम्भिता, उम्भितुम्, उम्भितव्यम् । इनमें [उम्भ् का भकार ओष्ठ्य है अतः उसके स्थान पर ओ गुण प्राप्त होता है—] व्यञ्जन = भ् का गुण प्राप्त होता है किन्तु इक् के ग्रहण के कारण नहीं होता है । [क्योंकि भ् व्यञ्जन इक् में नहीं है ।]

उक्त प्रयोजनों का खण्डन

[प्रथम प्रयोजन का खण्डन] आकार [के स्थानित्व] की निवृत्ति के लिए [इक् ग्रहण] प्रयोजन नहीं है । क्योंकि आचार्य (पाणिनि) की प्रवृत्ति यह ज्ञापित करती है—आकार का गुण नहीं होता है । जो कि आचार्य 'आतोऽनुपसर्गे कः'' (३।२।३) इस सूत्र से विहित प्रत्यय में 'क्' अनुबन्ध लगाते हैं । [क प्रत्यय में क् व्यञ्जन अनुबन्ध होने से लुप्त होने पर 'अ' ही शेष बचता है ।]

किस प्रकार से ज्ञापक होता है ?

कित् करने में यह प्रयोजन है—कित् प्रत्यय परे रहते ['आतो लोप इटि च' ६।४।६४ सूत्र से धातु के] आकार का लोप जिस प्रकार से हो सके । यदि आकार

ततः ककारमनुबन्धं करोति[१] ॥

(द्वितीयप्रयोजननिराकरणभाष्यम्)

सन्ध्यक्षरनिवृत्त्यर्थेनापि नार्थः । उपदेशसामर्थ्यात्सन्ध्यक्षरस्य गुणो न भवति ॥

(तृतीयप्रयोजननिराकरणभाष्यम्)

व्यञ्जननिवृत्त्यर्थेनापि नार्थः । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—न व्यञ्जनस्य गुणो भवतीति । यदयं जनेडं शास्ति ॥

प्रदीपः

उपदेशसामर्थ्यादिति । प्रतिपत्तिलाघवार्थमेकारमेवोपदिशेदित्यर्थः ॥

उद्द्योतः

प्रतिपत्तिलाघवम् प्रक्रियालाघवम् । "तेभ्योऽपि विवृतावेङौ ताभ्यामैचौ तथैव च ॥" इति पाणिनीयशिक्षोक्तेः प्रयत्नलाघवमपि बोध्यम् ॥

भावबोधिनी

के स्थान में भी गुण हो पाता तो [क को] कित् करना अनर्थक हो जाता[१] । क्योंकि [आ का] गुण [अ] कर देने पर दोनों अकारों के स्थान पर पररूप कर देने से रूप सिद्ध हो जाता—गोदः, कम्बलदः । परन्तु आचार्य पाणिनि यह देखते हैं कि—आ का गुण नहीं होता है । अतः [आ का लोप करने के लिए] ककार को अनुबन्ध बनाते हैं ।

[द्वितीय प्रयोजन का खण्डन]

सन्ध्यक्षर ऐ औ [के स्थानित्व] की निवृत्ति के लिये भी मानना व्यर्थ है क्योंकि ऐ, औ इनके उपदेश करने के सामर्थ्य से ही ज्ञात होता है कि] सन्ध्यक्षरों का गुण नहीं होता है । [यदि ऐ औ का उपदेश करने के बाद गुण करके ए ओ करना पाणिनि को इष्ट होता तो लाघव की दृष्टि से पहले 'ए ओ' का ही उपदेश कर देते । परन्तु ऐसा नहीं किया है । अतः यह ज्ञापित करता है कि इन सन्ध्यक्षरों ऐ, औ के स्थान पर गुण नहीं होते हैं । अतः द्वितीय प्रयोजन भी नहीं है ।]

[तृतीय प्रयोजन का खण्डन]

व्यञ्जन [के स्थानित्व] की निवृत्ति के लिए भी मानना व्यर्थ है । । क्योंकि आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापित करती है—व्यञ्जन के स्थान पर गुण नहीं होता है । क्योंकि ये आचार्य 'जन' धातु से 'ड' प्रत्यय का अनुशासन (विधान) करते हैं ।

---

१. गां ददाति—इस विग्रह में 'आतोऽनुपसर्गे कः'' से 'क' प्रत्यय क् अनुबन्ध की इत्संज्ञा, लोप, उपपद समास, विभक्तिलोप—गोदा + अ । यदि आ का गुण होता तो गोद + अ बनने पर 'अतो गुणे' सूत्र से पररूप हो जाता—गोदः बन ही जाता । क् अनुबन्ध की क्या आवश्यकता थी । यह क् आलोप के लिए ही है । अतः ज्ञापक बनता है—आकार का गुण नहीं होता है ।

कथं कृत्वा ज्ञापकम् ?

डित्करण एतत्प्रयोजनम्—डितीति टिलोपो यथा स्याद्। यदि व्यञ्जनस्य गुणः स्याद् डित्करणमनर्थकं स्याद्। गुणे कृते त्रयाणामकाराणां पररूपेण सिद्धं रूपं स्यादुपसरजो मन्दुरज इति। पश्यति त्वाचार्यो—न व्यञ्जनस्य गुणो भवतीति। ततो जनेर्डं शास्ति॥

(प्रथमप्रयोजनबाधकज्ञापकनिराकरणभाष्यम्)

नैतानि सन्ति ज्ञापकानि। यत्तावदुच्यते—कित्करणं ज्ञापकं नाकारस्य

प्रदीपः

यदयं जनेरिति। यद्येवं मिदेर्गुणो विधीयमानो ज्ञापकेन व्यञ्जनस्य निरस्तत्वादिग्ग्रहणाभावाच्च सर्वादेशः प्राप्नोति। मिद इर्मिदिरित्याश्रयणादिकारस्यैव भविष्यतीत्यदोषः॥

उद्द्योतः

इग्ग्रहणेति। ततश्च मिदेरिति नावयवषष्ठी, किन्तु स्थानषष्ठीति सर्वादेशो गुणः स्यादित्यर्थः॥

भावबोधिनी

किस प्रकार से ज्ञापक होता है ?

डित् करने में यही प्रयोजन है–डित् परे रहते ['टेः' ६।४।१४३ सूत्र से पूर्व की] टि का लोप जिस प्रकार से हो सके। यदि व्यञ्जन का भी गुण हो सकता तो डित् करना व्यर्थ हो जाता,क्योंकि गुण कर देने पर तीनों अकारों का [दो बार]पररूप कर देने पर इष्ट रूप सिद्ध ही हो जाता–उपसरजः, मन्दुरजः। परन्तु आचार्य पाणिनि यह देखते हैं कि—व्यञ्जन का गुण नहीं होता है। इसीलिए 'जन् धातु से ड होता है' (३।२।९७) ऐसा 'ड' का विधान करते हैं।

विमर्श—मन्दुरायां जायते—इस विग्रह में 'जनेर्डः' सूत्र से 'ड' प्रत्यय ड् अनुबन्ध लोप, उपपद समास, विभक्तिलोप के बाद मन्दुरा जन्+अ बनता है। यदि 'न' व्यञ्जन का भी गुण होता तो ज+अ+अ में 'अतो गुणे' सूत्र से दो बार पररूप एकादेश कर देने पर–'मन्दुरजः' आदि रूप बनना सम्भव था। तब टि का लोप करने के लिए डित् प्रत्यय की क्या आवश्यकता थी। वही डित् करण व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि व्यञ्जन का गुण नहीं होता है। अतः जन् की टि का लोप करने के लिये डित् करण चरितार्थ होता है। इस प्रकार यह तीसरा प्रयोजन भी नहीं है।],

ज्ञापकों का खण्डन--इक् ग्रहण की आवश्यकता

ये पूर्वोक्त ज्ञापक नहीं [बन सकते] हैं। जो यह कहा जाता है—'कित् करण

गुणो भवतीति ॥ उत्तरार्थमेतत्स्यात्—"तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः" (३।२।५) इति ॥

(प्रथमप्रयोजनबाधकज्ञापकान्तरभाष्यम्)

यर्त्तहि "गापोष्टक्" (३।२।८) इत्यनन्यार्थं ककारमनुबन्धं करोति ॥

(द्वितीयप्रयोजनबाधकसामर्थ्यदूषकभाष्यम्)

यदप्युच्यते—उपदेशसामर्थ्यात्सन्ध्यक्षरस्य गुणो न भवतीति ॥ यदि—

प्रदीपः

यत्तावदिति । विशेषप्रतिपादनाय सकलज्ञापकाक्षेपः । केचिदाहु—टकः कित्वेन ज्ञापकेनाकारनिवृत्त्यर्थत्वे निराकृते यदप्युच्यत इति ज्ञापकाक्षेपो ग्रन्थच्छायां न पुष्णाति । तस्मादार्थेन क्रमेण सर्वज्ञापकभङ्गोपन्यासं कृत्वा यथासम्भवं ज्ञापकसमर्थनं कर्त्तव्यम् ॥

आयादयोऽपीति । ऐकारोच्चारणस्याविकृतरूपश्रवणार्थत्वादिति भावः ॥

उद्द्योतः

भाष्ये नैतानि सन्ति ज्ञापनीति । च्छत्रिन्यायेन ॥ ननु नैतानि सन्ति ज्ञापकानीति प्रतिज्ञायाग्रे ज्ञापकसमर्थनमयुक्तमित्यत आह—विशेषेति । 'टकः कित्वं ज्ञापकम् । यं विधिं प्रति' इत्यादिविशेषप्रतिपादनायेत्यर्थः ॥ शङ्कते—केचिदिति ॥ यदप्युच्यते इति समुच्चयार्थापिशब्देनेति शेषः ॥ आर्थेन सामर्थ्यप्राप्तेन ॥ भङ्गेति । भङ्गसहश इति भावः ॥

भावबोधिनी

ज्ञापक है कि आकार का गुण नहीं होता है।' [यह कथन उचित नहीं है क्योंकि] यह क प्रत्यय तो उत्तरवर्त्ती सूत्र में अनुवृत्ति के लिए मान लिया जाय—"तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः" (३।२।५)। ['तुन्दपरिमजः' आदि में कित् प्रत्यय परे होने से गुण न हो इसके लिए 'क' प्रत्यय कित् है। यह व्यर्थ नहीं है। अतः ज्ञापक नहीं माना जा सकता।]

तो फिर 'गापोष्टक्' (३।२।८) इसमें तो किसी अन्य कार्य के लिए नहीं [अपितु केवल आकार-लोप के लिए ही] ककार अनुबन्ध लगाते हैं। [यही ज्ञापक बन जाता है। सामगः आदि में 'गा' के आ का लोप करने के लिए कित् प्रत्यय किया गया है। यदि 'आ' का भी गुण होता तो पररूप से निर्वाह सम्भव होने पर कित् करना व्यर्थ हो जाता। अतः यह कित् करण व्यर्थ होने से ज्ञापक बनता है कि 'आ' का गुण नहीं होता है।]

और यह भी जो कहा जाता है—उपदेश के सामर्थ्य से सन्ध्यक्षरों का गुण नहीं होता है। [यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि] यदि—सन्ध्यक्षरों के स्थान में जो जो

यद्यत्सन्ध्यक्षरस्य प्राप्नोति, तत्तदुपदेशसामर्थ्याद् बाध्यते। आयादयोऽपि तर्हि न प्राप्नुवन्ति ॥

(सामर्थ्यदूषणनिराकरणभाष्यम्)

नैष दोषः। यं विधिं प्रत्युपदेशोऽनर्थकः स विधिर्बाध्यते। यस्य तु विधेर्निमित्तमेव नासौ बाध्यते। गुणं च प्रत्युपदेशोऽनर्थकः, आयादीनां पुनर्निमित्तमेव ॥

(तृतीयप्रयोजनबाधकज्ञापकनिराकरणभाष्यम्)

यदप्युच्यते—जनेर्डवचनं ज्ञापकम् ?—न व्यञ्जनस्य गुणो भवतीति ॥

प्रदीपः

यं विधिमिति। आयादेशस्यैकार एव निमित्तमित्यायादेशो न बाध्यते। न हि ग्लायित्येवं पाठः शक्यः कर्तुम्, त्वया ग्लायत इत्यादिरूपासिद्धिप्रसङ्गात्। न ध्याख्येति निपातनाच्चात्वं गुणवन्न बाधिष्यते ॥

उद्द्योतः

ग्लायत इत्यादीति। आदिना जग्लावित्यादि ॥ नन्वेवमात्वमपि बाध्येत। न हि तस्य ऐकारो निमित्तं गूले इति पाठेऽपि सुकरत्वाद् अत आह—नध्याख्येति। ध्या इति कृतात्वनिर्देशेनैकारोच्चारणस्यात्वाबाधकत्वज्ञापनादिति भावः ॥ न चास्य सौत्रत्वम्। बाधकत्वमङ्गीकृत्य सौत्रत्वकल्पनापेक्षयाऽबाधकत्वज्ञापनस्य लघुत्वादित्याहुः ॥ न च रैशब्दादिभ्य आचारक्विपि रायतीत्यादौ सन्ध्यक्षरस्य गुणः स्यादिति वाच्यम्। एजन्तेभ्य आचारक्विबभाव एतद्भाष्यप्रामाण्यादित्यदोषात् ॥ गुणवदिति वैधर्म्ये दृष्टान्तः ॥

भावबोधिनी

प्राप्त होता है वह वह उपदेश-सामर्थ्य से बाधित कर दिया जाता है [ऐसा होगा] तब तो [ऐ औ के स्थान पर] आय् और आव् भी नहीं प्राप्त हो सकेंगे। [अतः उपदेशसामर्थ्य से ऐ औ का गुण रोकना ठीक नहीं है।]

यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि जिस विधि के प्रति उपदेश अनर्थक होता है उसी विधि का बाध होता है। [और जिस विधि का निमित्त ही यह (सन्ध्यक्षर ऐ औ) है उसका बाधक नहीं होता है। [क्योंकि आय् आव् के निमित्त ऐ औ ही हैं अतः आय् आव् विधि का बाध नहीं होता है।] और गुण के प्रति उपदेश अनर्थक है, आय् आदि का तो निमित्त ही है। [अतः गुण का ही बाध करेगा, आय् आदि आदेश का नहीं। इसलिए दोष नहीं है।]

यह भी जो कहा जाता है—'जन् धातु से ड प्रत्यय होता है' यह वचन ज्ञापक है—व्यञ्जन का गुण नहीं होता है। [परन्तु यह भी ठीक नहीं है क्योंकि] "किसी

कुतो ह्येतत्—जनेर्गुण उच्यमानोऽकारो भवति, न पुनरेकारो वा स्यादोकारो वेति ?

(ज्ञापकसाधकभाष्यम्)

आन्तर्यतोऽर्धमात्रिकस्य व्यञ्जनस्य मात्रिकोऽकारो भविष्यति ॥

(ज्ञापकबाधकभाष्यम्)

एवमप्यनुनासिकः प्राप्नोति ॥

(ज्ञापकसाधकभाष्यम्)

पररूपेण शुद्धो भविष्यति ॥

प्रदीपः

परस्वेणेति । रूपग्रहणस्येदमेव प्रयोजनम्—यादृक् परस्य रूपं तादृगेव यथा स्यादिति ॥

उद्द्योतः

ननु पररूपेऽपि गुणानामभेदकतया कदाचित्सानुनासिकोऽपि स्यादत आह—रूपग्रहणस्येति ॥ परे तु—अत्र पररूपशब्देन परशब्देन वा यदुपस्थितं रूपं प्रयोगस्थं तस्य ग्रहणम्, स्थाने जायमानः किंगुणक इत्याकाङ्क्षायामन्तरतमपरिभाषयाभय-गुणकः। प्रकृते चोभयात्तरतमासम्भवात् परशब्देन यद्गुणस्योपस्थितिस्तद्गुणक एव भविष्यतीति भाष्याशयाद्रूपग्रहणस्येत्यादि चिन्त्यम्। गुणानां शब्दत्वादिवत् शब्द-स्वरूपत्वाभावेन व्यावृत्त्यसम्भवश्च रूपग्रहणेनेत्याहुः ॥

भावबोधिनी

अन्य से वह कार्य सिद्ध रहते हुए जिस विधि का आरम्भ किया जाता है, विधिसूत्र बनाया जाता है, वही ज्ञापन के लिए होता है। परन्तु [उपसरजः, मन्दुरजः आदि में] जन् धातु के [न् का अ] गुण करने से सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि ऐसा कैसे होता है—जन् का गुण कहा जाता हुआ अकार ही होता है, एकार अथवा ओकार नहीं ? जन् का न् व्यञ्जन है। उसका सादृश्य अ, ए, ओ—इन तीनों के साथ एक सा है। अतः केवल 'अ' हो, ए ओ, न हों—इसमें कोई प्रमाण नहीं है।]

[व्यञ्जन अर्ध मात्रावाला होता है इसलिए] सादृश्य के कारण अर्धमात्रिक व्यञ्जन का एकमात्रिक 'अ' गुण होगा। [द्विमात्रिक ए, ओ नहीं होंगे। इसलिए निर्वाह सम्भव रहने पर विधि बनाना व्यर्थ होकर ज्ञापक होती है।]

ऐसा होने पर भी [न् अनुनासिक स्थानी के स्थान पर] अनुनासिक अकार गुण प्राप्त होता है।

सिद्धे विधिरारभ्यमाणो ज्ञापकार्थो भवति । न च जनेर्गुणेन सिद्ध्यति ।

(ज्ञापकबाधकभाष्यम्)

एवं तर्हि गमेरप्ययं डो वक्तव्यः । गमेश्च गुण उच्यमान आन्तर्यत ओकारः प्राप्नोति ॥ तस्मादिग्ग्रहणं कर्तव्यम् ॥

प्रदीपः

गमेरप्ययमिति । सप्तम्यां जनेर्ड इत्यतोऽन्येष्वपि दृश्यत इत्यत्र डोऽनुवर्तमानो गमेरपि विधीयत इत्यज्ञापकं डित्वमिति व्यञ्जननिवृत्त्यर्थं सूत्रं स्थितम् ॥

उद्द्योतः

ननु गमेरप्ययं ड इति भाष्यमनुपपन्नं गमो 'गमश्चान्तात्यन्ताध्वदूरपारेति' सूत्रे पठितेनान्यत्रापि दृश्यत इति वार्तिकेन नगोऽग इत्यादौ डस्य सत्त्वादत आह— सप्तम्यामिति । सप्तम्यां जनेरित्युत्तरं पठितेऽन्येष्वपि दृश्यत इति सूत्रे दृशिग्रहणस्य सर्वोपाधिव्यभिचारार्थत्वेन तेनैव प्रकृत्यन्तरादपि डे सिद्धेन्तात्यन्तेति प्रकरणस्थं वार्तिकं न कार्यमिति भावः ॥ भाष्ये आन्तर्यत ओकार इति । स्थानत आन्तर्यादिति भावः ॥ ननु तनोतेर्डडः सन्वच्चेति डित्करणान्न व्यञ्जनस्य गुण इति चेन्न । उणादीनामव्युत्पत्तिपक्षाङ्गीकारात् ॥ नचैवमपि स्थानप्रयत्नान्तरतमेषु इकारादिषु चरितार्थानि गुणादिशास्त्राणि व्यञ्जने न प्रवर्त्तन्त इति वाच्यम् । ईशादौ शकारे तथाप्यतिप्रसंगात् । सूत्रमते स्थानप्रयत्नैक्यादिति भाष्याशयः । स्थानेन्तरतमे इति सप्तम्यन्तपाठस्य भाष्ये प्रत्याख्यानेनास्या युक्तेरसंभवदुक्तिकत्वाच्च ॥

(इति योगविभागप्रयोजननिरूपणाधिकरणम् ॥)

भावबोधिनी

पररूप द्वारा शुद्ध हो जायगा । [पररूप में जैसा परवर्त्ती का रूप होता है वैसा ही होता है । प्रत्यय का अ शुद्ध निरनुनासिक है । अतः पररूप में भी ऐसा शुद्ध ही होने से कोई दोष नहीं है ।]

यदि ऐसा है तब तो यह 'ड' प्रत्यय 'गम्' से भी कहना होगा[1] । कारण यह है, गम् के मकार का गुण कहा जाने पर [ओष्ठस्थानिक म् का ओष्ठस्थानिक] ओकार

---

१. "सप्तम्यां जनेर्डः' (३।२।९७) सूत्र से 'ड' की अनुवृत्ति 'अन्येष्वपि दृश्यते' (३।२।१०१) में होती है । यही 'ड' गम् से भी कहना होगा । अन्यथा 'अ' करने पर सादृश्य के आधार पर गम् के म् का गुण 'ओ' होने लगेगा । जब 'ड' किया जाता है तो डित् करने के कारण 'गम्' की टि = अम् का लोप होकर इष्ट रूप बनता है । इस प्रकार 'ड' का डित् करना सप्रयोजन है, व्यर्थ नहीं है अतः ज्ञापक नहीं बन सकता कि 'व्यञ्जन का गुण न हो ।'

(अथ इक्पदोपस्थापकलिङ्गाधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

यदीग्ग्रहणं क्रियते, द्यौः, पन्थाः, सः, इममिति, एतेऽपीकः प्राप्नुवन्ति ॥

(१०६ सिद्धान्तिसमाधानवार्तिकम् ॥ २ ॥)

॥ * ॥ संज्ञया विधाने नियमः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

संज्ञया ये विधीयन्ते तेषु नियमः ॥

प्रदीपः

संज्ञयेति । गुणवृद्ध्यनुवृत्त्यैव गुणवृद्ध्योरिकः सिद्ध (स्थानि) त्वाद्द्वितीयं गुणवृद्धिग्रहणमाश्रितगुणवृद्धिशब्दव्यापारार्थं विज्ञायते । तेन गुण इत्येवं यो गुणः वृद्धिरित्येवं या वृद्धिरिति विज्ञायते । अथवा गुणवृद्धिमात्रग्रहणे गुणवृद्ध्यधिकारादेव सिद्धे पुनर्गुणवृद्धिग्रहणं गुणवृद्धिशब्दव्यापाराश्रयणार्थं विज्ञायते ॥

उद्द्योतः

भाष्ये एतेपीति । औकारादयः ॥ एषूदाहरणेष्विकः प्राप्नुवन्तीत्यन्वयः ॥ स इत्यत्र तु न स्यादेवेति भावः ॥ त्यदादीनाम इत्यत्र त्वदादीनामिति तु तदोः सः सावित्युत्तरार्थं स्यात् संज्ञोपसर्जनव्यावृत्त्यर्थं च स्यादिति बोध्यम् ॥

आश्रितेति । आश्रितो गुणवृद्धिशब्दव्यापार उच्चारणं येषु आदेशेषु विधीयमानेषु तदर्थमित्यर्थः ॥ तेनेति ॥ इत्येवमित्यध्याहृत्य स्वरूपपदार्थकेनान्यतरेण विशेषणादीदृशार्थलाभ इति भावः ॥ अत एव संबन्धानुवृत्तिप्रदर्शनपरभाष्ये गुणवृद्धी इत्युच्चार्य गुणवृद्धिग्रहणमनुवर्त्तत इति उक्तम् उपक्रमस्थगुणवृद्धिग्रहणसामर्थ्यादित्येतद्भाष्यस्वारस्यादाह—अथ वेति । पुनरुपादानसामर्थ्यादिहत्यं गुणवृद्धिग्रहणं गुणवृद्धिशब्दविहितगुणवृद्धिलाक्षणिकमिति भावः ॥

भावबोधिनी

ही सादृश्य के कारण प्राप्त होता है । [तत्र पररूप करके इष्टरूप नहीं बनाया जा सकता ।] अतः व्यञ्जन का गुण रोकने के लिए इक् का ग्रहण करना आवश्यक है ।

गुणवृद्धि—शब्दों की अनुवृत्ति

यदि इस सूत्र में 'इक्' का ग्रहण किया जाता है तो—द्यौः, पन्थाः, सः, इमम्—[इनमें] ये (औ आदि आदेश) भी इक् के स्थान पर ही प्राप्त होते हैं । ['दिव औत् (७।१।८४) सूत्र से 'द्यौः' में 'औ' होता है, 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' (७।१।८५) से 'पन्था' में 'आ' होता है । 'सः' 'इमम्' आदि में 'त्यदादीनामः' से 'अ' होता है । गुण और वृद्धि संज्ञक हैं अतः ये आदेश भी इक् के ही स्थान पर होंगे । अतः उक्त उदाहरणों में नहीं हो सकेंगे ।]

(आक्षेपभाष्यम्)

किं वक्तव्यमेतत् ॥

(समाधानभाष्यम्)

नहि ॥

कथमनुच्यमानं गंस्यते ?

गुणवृद्धिग्रहणसामर्थ्यात् ॥

(आक्षेपसाधकभाष्यम्)

कथं पुनरन्तरेण गुणवृद्धिग्रहणमिको गुणवृद्धी स्याताम् ?

(समाधानसाधकभाष्यम्)

प्रकृतं गुणवृद्धिग्रहणमनुवर्तते ॥

क्व प्रकृतम् ?

"वृद्धिरादैजदेङ्गुणः" इति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

यदि तदनुवर्तते "अदेङ्गुणो वृद्धिश्च" इत्यदेङां वृद्धिसंज्ञाऽपि प्राप्नोति ॥

प्रदीपः

अदेङामिति । पूर्वसूत्रे संज्ञासंज्ञिसंबन्धायोपात्तो यादृशो वृद्धिशब्दस्तादृश एवोत्तर-

उद्द्योतः

यादृश इति । स्वरूपपदार्थक इत्यर्थः ॥ नन्वेवं सति उत्तरत्र निषेध्यसमर्पणार्थं

भावबोधिनी

(वा०) गुण और वृद्धि संज्ञा से जिनका विधान किया जाता है उनमें नियम है ।

(भा०) गुण अथवा वृद्धि संज्ञा से जिन आ, ऐ, औ का विधान किया जाता है उन्हीं में नियम होता है–[इक् के स्थान पर ही गुण अ, ए, ओ और वृद्धि=आ, ऐ, औ होते हैं । चूंकि उक्त शब्दों में ऐसा विधान नहीं है अतः 'इकः' इसकी भी उपस्थिति नहीं होती है । अतः जिसके स्थान पर विहित हैं उसी के स्थान पर होते हैं ।]

तो क्या यह कहना होगा ? [गुण या वृद्धि संज्ञा के द्वारा जिनका बिधान है वे ही इक् के स्थान पर होते हैं । दूसरों के लिए नियम नही है । ऐसा कहना आवश्यक है ?]

नहीं । [ऐसा कहने की आवश्यकता नहीं है ।]

बिना कहे किस प्रकार प्रतीत होगा ?

गुण और वृद्धि के ग्रहण के सामर्थ्य से ।

सूत्र में गुण और वृद्धि के ग्रहण के बिना यह कैसे होगा—इक् के स्थान पर

(समाधानभाष्यम्)

सम्बन्धमनुवर्तिष्यते—"वृद्धिरादैच्" । "अदेङ्गुणः" इति वृद्धिरादैच् ।

प्रदीपः

अनुवर्तते इत्यदेङामित्युक्तम् । तेनैतन्न चोदनीयं, वृद्धिशब्दोनुवर्तमान आदैचः प्रत्याय-यतीत्यादैचां गुणसंज्ञा प्राप्नोतीति ॥

संबन्धमिति । संबध्यत इति संबन्धं, कर्मणि घञ् । नपुंसकस्याभिधेयत्वान्नपुंसक-निर्देशः । आदैज्ग्रहणसंबद्धं वृद्धिग्रहणमदेङ्गुण इत्यत्रानुवर्तते, तेनादेङ्मिनं संबध्यते । इह त्वनुवृत्तमादैचौ जहाति । कान्तारोत्तरणाय सार्थस्येव त्यागोपादाने ॥

उद्द्योतः

गुणवृद्धिग्रहणस्य चारितार्थ्येन सामर्थ्यं दुरुपपादम् । अनुवर्तमानस्य स्वरूपपरत्वेन निषेध्यसमर्पकत्वाभावादिति चेत् । न, आगन्तूनामन्ते निवेश इति न्यायेनादेङ्सूत्रे गुणपदोत्तरं वृद्धिपदोपस्थित्वा तत्साहचर्येण तत्र सूत्रे स्वरूपपरत्वं तस्य, उत्तरत्र तु योग्यतयाऽर्थपरत्वम् । इक इति सूत्रेऽपि न धात्वित्यादिसाहचर्येणार्थपरत्वमिक इति षष्ठीनिर्देशाच्चेति भाष्याशयात् ॥

नपुंसकस्येति । घञजपः पुंसीति तु प्रायिकमिति भावः ॥ यत्तु भावविषयमेवैत-दिति । तन्न । मासं भक्षोऽस्येति कर्मण्यणिति सूत्रस्थभाष्यप्रयोगविरोधात् । तेनेति । अत्रादैजित्यनुवृत्तिर्न स्वकार्याय, किं तु वृद्धिशब्दस्यान्यसंबन्धनिवृत्तये इति भावः ॥ भाष्ये वृद्धिरादैजदेङ्गुण इति सूत्रक्रमनिर्देशः । पुनर्वृद्धिरादैजित्यभिधानमदेङित्यत्र संवन्धानुवृत्तिं दर्शयितुम् । इको गुणवृद्धी इत्युक्तिस्तु यथानासाभिप्रायेण ॥ आदैजदे-ङ्ग्रहणमिति । स्वरितत्वाप्रतिज्ञानेनादेङ्ग्रहणवदादैजित्यपि निवृत्तमित्यर्थः ॥ क्वचित्तु आदैजग्रहणं निवृत्तमित्येव पाठः ।

भावबोधिनी

गुण वृद्धि होते हैं । [केवल "इकः" इतना ही सूत्र बनाने पर उक्त अर्थ की प्रतीति कैसे होगी । अतः गुणवृद्धि का ग्रहण कहना ही होगा ।]

गुण और वृद्धि प्रकृत हैं, उनका प्रकरण है, उनकी अनुवृत्ति कर ली जायगी ।

[1]कहाँ उनका प्रकरण (प्रस्ताव) है ?

'वृद्धिरादैज्' 'अदेङ्गुणः' । [इन सूत्रों में वृद्धि और गुण का प्रस्ताव है । इनसे अनुवृत्ति करते हैं ।]

यदि उनकी अनुवृत्ति होती है तो 'अदेङ्गुणः वृद्धिश्च' ऐसा होने के कारण अत् और एङ् (अ, ए, ओ) की वृद्धि संज्ञा भी प्राप्त होती है । [क्योंकि दोनों का सम्बन्ध अद् एङ् के साथ होने से दोनों संज्ञायें प्रसक्त होंगी ।]

[यह दोष नहीं है क्योंकि] आदैच् से सम्बद्ध ही 'वृद्धि' की अनुवृत्ति होती है—

---

१. पूर्व सूत्रों में प्रथमान्त एकवचन है और प्रस्तुत सूत्र में 'गुणवृद्धी' यह द्विवचनान्त है । अतः शंका करनेवाले का आशय यह है कि 'गुणवृद्धी' ऐसा तो कहीं नहीं है । अतः इनका स्थान बताना आवश्यक है ।

ततः—"इको गुणवृद्धी" इति, गुणवृद्धिग्रहणमनुवर्तते, आदैजदेङ्ग्रहणं निवृत्तम् ॥

(समाधानान्तरभाष्यम्)

अथवा मण्डूकगतयोऽधिकाराः। यथा मण्डूका उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छन्ति तद्वदधिकाराः ॥

(एकदेशिसमाधानान्तरभाष्यम्)

अथवैकयोगः करिष्यते—"वृद्धिरादैजदेङ्गुणः" तत "इको गुणवृद्धी" इति।

प्रदीपः

अथवेति। वृद्धिशब्दस्येहाकाङ्क्षावशादुपस्थानं नत्वदेङित्यत्र ॥

अथवैकयोग इति। एको भवतिरध्याह्रियते। वृद्धिरादैजदेङ्गुणो भवतीत्येक-वाक्यत्वं सम्पद्यते। यद्यपि प्रतिपत्तिकाले भवतिक्रिया भिद्यते तथाप्येककाला

उद्द्योतः

ननु मण्डूकस्य चेतनत्वात्तथा गतिसम्भवेऽपि शब्दस्य कथं सेत्यत आह—वृद्धि-शब्दस्येति। स्वरितत्वासङ्गादनुवर्तमानस्यापीति शेषः ॥ इहेति। इक इति सूत्र इत्यर्थः। अदेङित्यत्र तु न सम्बन्धः। गुणसंज्ञासम्बन्धेनादेङां निराकाङ्क्षत्वादिति बोध्यम् ॥

नन्वेकयोगत्वं नैकार्थत्वं भिन्नविषयसंज्ञाद्वयविधानात्। नापि निरन्तरपाठः, तस्ये-दानीमपि सत्त्वेन करिष्यत इत्यस्यासङ्गतेः। णेरणावित्यादौ एकयोगेऽप्यनुवृत्तिदर्शना-च्चात आह—एक इति ॥ प्रतिपत्तिकाले लक्ष्यसंस्कारकवाक्योपप्लवकाले ॥ एककालेति। आदैज् वृद्धिसंज्ञोऽदेङ्गुणसंज्ञो भवतीति संग्राहकवाक्यार्थबोध एककाल

भावबोधिनी

वृद्धिरादैच्। 'अदेङ्गुणः' 'वृद्धिरादैच्'। इसके बाद 'इको गुणवृद्धी' इसमें गुण और वृद्धि की ही अनुवृत्ति होती है, आदैच् की निवृत्ति हो जाती है। अर्थात् प्रथम सूत्र 'वृद्धिरादैच्' द्वितीय सूत्र 'अदेङ् गुणः' में तो 'वृद्धिरादैच्' पूरे सूत्र की अनुवृत्ति होती है किन्तु तृतीय प्रस्तुत सूत्र 'इको गुणवृद्धी' में 'गुणवृद्धी' का ही अनुवर्तन हो जाता है। इसमें अदेङ् और आदैच् की अनुवृत्ति नहीं होती है। अतः 'गुणवृद्धी' के ग्रहण की आवश्यकता नहीं है केवल 'इकः' सूत्र रहे।]

[दूसरा परिहार यह है—] अथवा मेढक के समान चालवाली अनुवृत्ति भी होती है। जैसे मेढक कूद कूद कर [कुछ स्थान छोड़ छोड़कर] चलते हैं इसी प्रकार अधिकार=अनुवृत्ति भी किसी किसी सूत्र को छोड़कर चलती है। [अतः 'वृद्धिः' यह 'अदेङ्गुणः' को छोड़कर प्रस्तुत सूत्र 'इकः' में अनुवृत्त हो जाता है। अतः एङ् के साथ वृद्धि और आदैच् के साथ गुण के सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता है।]

[तीसरा परिहार यह है—] अथवा-एक ही सूत्र बनाया जायगा—वृद्धिरादैज-

न चैकयोगेऽनुवृत्तिर्भवति ॥

(समाधानान्तरभाष्यम्)

अथवा—

"अन्यवचनाच्चकाराकरणाच्च प्रकृतापवादो विज्ञायते, यथोत्सर्गेण प्रसक्तस्यापवादो बाधको भवति० ॥"

अन्यस्याः संज्ञाया वचनाच्चकारस्य चानुकर्षणार्थस्याकरणात्प्रकृताया वृद्धि-

प्रदीपः

प्रतिपत्तिरित्यादैच्सम्बद्धा वृद्धिसंज्ञाऽदेङ्सम्बद्धा गुणसंज्ञेति नास्ति वृद्धिसंज्ञाया अदेङ्भिः सम्बन्धः ॥

अथवान्यवचनादिति । यथा कप्रत्ययेनाण् बाध्यतेऽसन्दिग्धत्वादनवकाशत्वात्ता-

उद्द्योतः

इति भावः ॥ समूहालम्बनात्मक एको वाक्यार्थबोध इति तात्पर्यम् । यद्वा आदैज् वृद्धिसंज्ञोऽदेङ्गुणसंज्ञश्च भवत इत्येको वाक्यार्थबोध इति तात्पर्यम् । प्रतिपत्तिर्वाक्यार्थबोधः । णेरणावित्यादौ अवान्तरवाक्यार्थभेदान्न दोषः ॥ केचित्तु—एककाला प्रतिपत्तिर्भवतु । तावतापि स्वरितत्वगुणप्राप्तवृद्धिपदसम्बन्धाभावः कुत इति चिन्त्यम् । न च स्वविषयवाक्यजबोधानन्तरं निराकाङ्क्षतयान्यत्रान्वयाप्राप्तौ हि तत्प्राप्तये स्वरितासङ्गो न ह्येतदेकयोग इति वाच्यम् । व्यवधाननिबन्धनायामनेकसम्बन्धाप्राप्तावनेकसम्बन्धाय स्वरितत्वासङ्ग इत्यस्यापि वक्तुं शक्यत्वात् ॥ तस्मादयमत्र भाष्यार्थः—तदधीते तद्वेदेत्यत्र द्विस्तद्ग्रहणादेकयोगेऽनुवृत्त्यभावः—इति । स्पष्टं चेदं तदस्मिन्नस्तीति सूत्रे भाष्ये । एकयोगत्वं च द्वयोः संहितापाठ एव ॥ वस्तुत एकयोगेऽप्यनुवृत्तिर्भवति, तदस्यास्त्यस्मिन्निति सूत्रे द्विस्तद्ग्रहणाभावात्, तदधीत इति सूत्रे तु बालानां सुखबोधाय द्विस्तद्ग्रहणमित्यप्युक्तं तत्रैव । अतोऽत्र भाष्येऽयं समाधिरेकदेशिन इत्याहुः ॥

भावबोधिनी

देङ्गुणः । इसके बाद दूसरा सूत्र 'इको गुणवृद्धी' यह होगा । और एक सूत्र में [उसी में प्रयुक्त किसी पद की] अनुवृत्ति नहीं होती है । [अतः 'वृद्धि' का सम्बन्ध अदेङ् के साथ नही हो सकता ।]

[चौथा परिहार यह है—] अथवा "दूसरा सूत्र बना देने के कारण और चकार का प्रयोग न करने के कारण प्रकरण से प्राप्त होनेवाली वृद्धि संज्ञा का अपवाद यह गुण संज्ञा है, जिस प्रकार उत्सर्ग से प्राप्त होनेवाले प्रत्यय का अपवाद शास्त्र बाध कर लेता है ।"

[पूर्वोक्त वाक्य की व्याख्या भाष्यकार कर रहे हैं—] गुण इस दूसरी संज्ञा को कहने के कारण और अनुकर्षणार्थक चकार का प्रयोग न करने के कारण प्रकृत =

संज्ञाया गुणसंज्ञा बाधिका भविष्यति। यथोत्सर्गेण प्रसक्तस्यापवादो बाधको भवति॥

(समाधानान्तरभाष्यम्)

अथवा वक्ष्यत्येतद्—"अनुवर्तन्ते च नाम विधयः। न चानुवर्तनादेव भवन्ति।

प्रदीपः

त्पर्याच्च कविधेः। अणस्तु विपर्ययात्। एवमदेङ्गुण इत्यत्र वृद्धिग्रहणमनुवृत्तं सत्सन्दिह्यते—किमुत्तरार्थमिहास्यानुवृत्तिरथेहार्थापीति। सावकाशा च वृद्धिसंज्ञा, तात्पर्यं च नास्ति। गुणसंज्ञा तु तात्पर्यादसन्देहान्निरवकाशत्वाच्च वृद्धिसंज्ञासम्बन्धमदेङां बाधते। प्रत्ययसंज्ञा तु संज्ञिविशेषेणासंयुक्ताधिकारेणैव विधीयमाना कृत्यादिसंज्ञाविषयेऽपि प्रवर्तते॥

अथवेति। विभाषा तिलमाषोमेत्यत्र ह्यु माभङ्ग्योरधान्यत्वात्खञोऽप्राप्तौ चोदितायां

उद्द्योतः

ननु वृद्धिगुणसंज्ञयोः सामान्यविशेषत्वाभावात्कथमुत्सर्गापवादसाम्यमत आह—यथेति। आत इत्युपादानादेव तद्विषये कस्यासन्दिग्धत्वम्। अत एव तदतिरिक्तावकाशविरहस्तदुद्देशेनैव प्रवृत्तिरूपं तात्पर्यं च॥ ननु गुणसंज्ञया वृद्धिसंज्ञावत् कृत्यादिसंज्ञयापि प्रत्ययसंज्ञा बाध्येतेत्यत आह—प्रत्ययेति। न तव्याद्याकाङ्क्षय प्रत्ययसंज्ञायाः सम्बन्धः। येन सन्निहितकृत्यादिसंज्ञया निराकाङ्क्षत्वान्न प्रत्ययसंज्ञय सम्बन्धः स्यात्। किं तु संज्ञाकाङ्क्षया॥ सा हि स्वस्य बहुविषयत्वलाभाय कतिपयानन्तरविषयलाभेऽपि पुनः पुनर्विषयानन्तरमाकाङ्क्षते। बहुविषयत्वं चास्याः संज्ञिविशेषासम्बन्धेनाधिकारकरणादवसीयत इति भाव॥ प्रकृते तु न तथेति बोध्यम्॥

खञोऽप्राप्ताविति। यता मुक्ते इति शेषः। मण्डूकगतयोऽधिकारा इत्यस्यैव

भावबोधिनी

प्रकरणप्राप्त वृद्धि संज्ञा की गुण संज्ञा बाधिका हो जायगी। [अतः गुणसंज्ञा के संज्ञी में वृद्धि संज्ञा नहीं प्रवृत्त हो सकती।] जैसा कि उत्सर्ग (सामान्य) शास्त्र द्वारा प्राप्त [अण् आदि] का अपवाद शास्त्र [द्वारा प्राप्त 'क'] बाधक होता है। [अतः वहाँ केवल 'क' ही होता है। वैसे ही केवल गुण संज्ञा होगी, गुण और वृद्धि दोनों नहीं। अतः तीन सूत्र रहने पर भी कोई अनुपपत्ति नहीं है।]

[पाँचवाँ परिहार यह है—] अथवा ["विभाषा तिलमाषोमाभङ्गाणुभ्यः' ५।२।४ इस सूत्र में भाष्यकार गोनर्दीय] यह कहेंगे—"विधि (विधीयमान) की अनुवृत्ति होती है, परन्तु अनुवृत्ति होने मात्र से वे सभी सम्बद्ध नहीं हो जाते हैं।"

तो फिर कैसे [सम्बद्ध होते हैं] ?

किं तर्हि ?

"यत्नाद्भवन्ति" इति ॥

(समाधानान्तरभाष्यम्)

अथवा—उभयं निवृत्तम् । तदपेक्षिष्यामहे ॥

प्रदीपः

खञ्ग्रहणस्यानुवृत्तिराश्रिता, अनुवर्तमानश्च खञ्, यत्नाभावाद् व्रीहिशाल्यादिभिर्न संबध्यते, अपि तु विभाषाश्रुत्या यत्नेन तिलादिभिरेव संबध्यते । तथेहापि वृद्धिग्रहणमदेङ्गुण इत्यत्रानुवर्तमानमपि यत्नाभावाददेङ्भिर्न संबध्यते । इह तु पुनर्गुणवृद्धिग्रहणं यत्नो भवति ॥

अथवेति । अपेक्षालक्षणं लौकिकमधिकारमाश्रयति । समुदायस्य चापेक्षायां नास्त्येतद् अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वेति गुणस्यैवापेक्षा युक्तेति । समुदायस्य भेदाभावात् ॥

उद्द्योतः

'स्वरितलिङ्गेनानुवर्तमानं यत्राकाङ्क्षा, तत्रैव संबध्यते' इति विशेषमभिधातुमयं पक्षः । स च संबन्धाय तत्र विभाषाग्रहणरूपं यत्नविशेषं कुर्वता सूत्रकृतोऽप्यभिमतः । अस्य विशेषस्य प्रागकथनं तु एतद्विशेषद्वारा पुनस्तत्परामर्शेन तत्रैव परिहारे मुख्यताबोधनायेति बोध्यम् ॥ इह त्विति । अकर्तव्यत्वविशिष्टपुनर्गुणवृद्धिग्रहणं यत्न इत्यर्थः । अनुवृत्तौ हि तदकर्तव्यं भवतीत्याहुः ॥

भाष्ये—उभयं निवृत्तमिति । स्वरितलिङ्गासङ्गेनाननुवृत्तिरेव निवृत्तिरित्यर्थः ॥ अपेक्षेति । इक इत्येतावन्मात्रस्येतराकाङ्क्षात्वात् । समुदायापेक्षायां च लक्ष्यानुसार एव बीजम् । अनन्तरस्येति न्यायेन गुणस्यैवापेक्षा युक्तेत्येतन्नास्तीत्यन्वयः । समुदायत्वं च युगपद्बुद्धौ संनिधानात् क्रमेणासंनिधानाच्चेति बोध्यम् ॥

(इति इक्-पदोपस्थापकलिङ्गाधिकरणम्)

भावबोधिनी

यत्न करने से [ही सम्बद्ध] होते हैं । [भाव यह है कि सामान्य अनुवृत्ति मात्र से किसी पद का सम्बन्ध होना अनिवार्य नहीं है । चूंकि प्रस्तुत सूत्र में अनुवृत्ति कर देने पर पुनः 'गुणवृद्धि' के ग्रहण की आवश्यकता नहीं रहती तब भी जो 'गुणवृद्धि' का ग्रहण किया गया है वह इसीलिए है कि इसमें केवल 'वृद्धि' और 'गुण' का ही सम्बन्ध हो । अदेङ्, आदैच् का न हो ।]

[छठा परिहार यह है—] अथवा 'आदैच्' तथा 'अदेङ्' दोनों की निवृत्ति है,

भावबोधिनी

उस = गुण-वृद्धि की अपेक्षा रखेंगे। [अतः केवल अपेक्षित का ही सम्बन्ध होना है। ऐसा लोक में भी देखा जाता है।]

विमर्श—प्रस्तुत सूत्र इक् के स्थान पर ही गुण (अ, ए, ओ) और वृद्धि (आ, ऐ, औ) के विधान का नियम करनेवाला परिभाषा सूत्र है। परन्तु ऐसा मान लेने पर यह समस्या आती है कि जहाँ भी अ, ए, ओ, आ, ऐ, औ होवे हैं वहाँ 'इकः' की उपस्थिति होती है। इसलिए जहाँ इक् स्थानी नहीं है वहाँ ये आदेश कैसे होंगे— द्यौः, पन्थाः, सः, इयम् आदि में ?

इसका समाधान यह है कि "इको गुणवृद्धो" (१।१।३) से पहले 'वृद्धिरादैच्' (१।१।१) और 'अदेङ् गुणः (१।१।२) सूत्र हैं'। इनसे 'वृद्धि' और 'गुण' की अनुवृत्ति मानकर कहा जा सकता था—इक् के ही स्थान पर गुण, वृद्धि (अ, ए, ओ, आ, ऐ, औ) होते हैं। इस सूत्र में दुबारा 'गुणवृद्धी' लिखने की आवश्यकता नहीं थी। फिर भी ग्रहण किया गया। इस कारण यह ज्ञापित होता है कि जहाँ 'गुण' शब्द का उच्चारण करके गुण अ, ए, ओ का विधान और 'वृद्धि' शब्द का उच्चारण करके वृद्धि = आ, ऐ, औ का विधान होता है वहीं 'इकः' की उपस्थिति होती है। इसलिए सर्वत्र यह परिभाषा नहीं उपस्थित होती है।

अब प्रश्न यह है कि अनुवृत्ति किस रूप से होती है और उसमें क्या क्या अनुपपत्तियाँ आती हैं ? अनुवृत्ति होने पर 'अदेङ् गुणः वृद्धिः च' ऐसा होगा। इससे अत् एङ् की गुण संज्ञा और वृद्धि संज्ञा दोनों प्राप्त होगी। इन सभी का समाधान करने के लिए भाष्यकार ने निम्न पक्ष प्रस्तुत किए हैं—

(१) 'अदेङ् गुणः' में आदैच् से सम्बद्ध ही वृद्धि की अनुवृत्ति होती है। इसके बाद 'इको गुणवृद्धी' में अव्यवहित पूर्ववर्त्ती से गुण और वृद्धि दोनों की अनुवृत्ति करते हैं। गुण-वृद्धि का सम्बन्ध अनुवृत्ति से सम्भव रहने पर भी सूत्र में पुनः उल्लेख करने से यह अर्थ निकलता है कि 'गुण' शब्द से और 'वृद्धि' शब्द से जहाँ गुण या वृद्धि का विधान होता है वहाँ 'इकः' की उपस्थिति होती है। अतः 'द्यौः पन्थाः' आदि में दोष नहीं है।

(२) मेढक जिस प्रकार कूद-कूदकर चलते हैं वैसे ही अनुवृत्ति भी होती है। अतः 'वृद्धिरादैच्' से ही 'इको गुणवृद्धी' में वृद्धि की अनुवृत्ति की जा सकती थी। अतः पुनः गुणवृद्धि का उल्लेख उक्त अर्थ में ज्ञापक बन जाता है।

(३) अथवा प्रथम और द्वितीय सूत्रों को मिलाकर एक सूत्र बनाया जायगा— "वृद्धिरादैजदेङ्गुणः"। इसके बाद प्रस्तुत सूत्र—'इको गुणवृद्धी' इसमें पूर्व सूत्र से गुण, वृद्धि का अनुकरण हो सकता है। इससे भी उक्त अर्थ ज्ञापित हो जायगा।

(अथ परिभाषात्वसाधकाधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

किं पुनरयमलोन्त्यशेषः, आहोस्विदलोन्त्यापवादः ?

प्रदीपः

किं पुनरिति। उभयथा सम्भवाद्दोषदर्शनाच्च प्रश्नः। तत्राङ्गस्य गुण इति षष्ठीनिर्देशाल्लिङ्गादलोन्त्यस्येत्युपतिष्ठते गुणश्रुत्या ग्विक इति। तत्र यदि पूर्वमिकाऽङ्गं विशेष्यते—इगन्ताङ्गस्य गुणो भवतीति, स च भवन्नलोन्त्यस्येत्यन्त्यस्य भवति, तदा

उद्द्योतः

षष्ठीति। स्थानषष्ठीत्यर्थः॥ षष्ठी स्थान इति परिभाषया तत्त्वनिर्णयः। अस्य च सूत्रस्य वृद्धिगुणशब्दाभ्यां विधीयमानौ वृद्धिगुणाविकः स्थाने इत्यर्थेऽवान्तरवाक्यार्थ-

भावबोधिनी

(४) 'वृद्धिरादैच्' के बाद 'अदेङ् गुणः' सूत्र बनाया गया है। अतः अदेङ् की वृद्धि संज्ञा की अपवाद गुण संज्ञा होगी। दोनों संज्ञाओं का समुच्चय नहीं माना जा सकता क्योंकि सूत्र में 'च' का उल्लेख नहीं है। इसलिए 'इको गुणवृद्धी' में गुण और वृद्धि की अनुवृत्ति सम्भव रहने पर भी पुनर्ग्रहण ज्ञापक ही होगा।

(५) अनुवृत्ति होने मात्र से किसी का दूसरे के साथ सम्बन्ध नहीं हो जाता है। उसके लिए यत्न करना पड़ता है। वह यत्न यहाँ यह है कि अनुवृत्ति से ही कार्यनिर्वाह सम्भव रहने पर भी जो 'गुणवृद्धी' का ग्रहण किया गया है वह इसीलिए है कि उक्त अभीष्ट अर्थ ज्ञापित किया जा सके।

(६) 'इको गुणवृद्धी' में 'वृद्धिरादैच्'—'अदेङ् गुणः' पूरे पूरे अनुवृत्त नहीं होते हैं। अदेङ्, आदैच् को छोड़ दिया जाता है। केवल वृद्धि और गुण की अपेक्षा होने से इन्हीं दोनों की अनुवृत्ति होती है।

सभी समाधानों से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'इकः' इतना ही सूत्र बनाने पर इक् के ही गुण और वृद्धि हो जाते, कार्य-निर्वाह हो जाता, फिर भी इस सूत्र में दुबारा 'गुणवृद्धी' का ग्रहण करना इस अर्थ का ज्ञापक होता है, 'गुणः'—इस संज्ञा शब्द का उच्चारण करके गुण (अ,ए,ओ) का और 'वृद्धि' इस संज्ञा शब्द का उच्चारण करके वृद्धि (आ,ऐ,औ) का जहाँ विधान होता है वहाँ 'इकः' यह षष्ठ्यन्त पद उपस्थित होता है। अतः इक् के ही स्थान पर गुण, वृद्धि होती है। अन्यत्र आदेश सामान्य में 'इकः' की उपस्थिति नहीं होती है। अतः 'द्यौः पन्थाः' आदि में कोई दोष नहीं है।

तच्छेष और तदपवाद पक्षों का उपपादन

क्या यह ('इको गुणवृद्धी') सूत्र 'अलोऽन्त्यस्य' (१।१।५२) का शेष (विशेषण) है अथवा 'अलोऽन्त्यस्य' का अपवाद है ?

(प्रत्याक्षेपभाष्यम्)

कथं चायं तच्छेषः स्यात्, कथं वा तदपवादः ?

(प्रत्याक्षेपसमाधानभाष्यम्)

यद्येकं वाक्यम्—तच्चेदं च, अलोन्त्यस्य विधयो भवन्ति—'इको गुण-

प्रदीपः

सोऽयं शेषो भवति। यदा त्वङ्गस्येति पूर्वमेवान्त्यमलं षष्ठी नीयते—अङ्गान्त्यस्य गुण इति पश्चादिकान्त्योल् विशेष्यते, तदा तस्यायं विशेषणत्वात्तच्छेषो भवति ॥ अथ त्वङ्गस्येति गुणवृद्धिविधौ न स्थानषष्ठी, किं तर्हीगपेक्षयाऽवयवषष्ठी, तदा स्थानषष्ठ्य-भावादलोन्त्यस्येत्यस्यानुपस्थानमिति तदपवादपक्षो भवति। अप्राप्त्यनुमानमेव हि बाधो, वचनेन प्राप्तस्य बाधायोगात्। ततश्चाङ्गावयवस्य यत्र तत्र स्थितस्येको गुणवृद्धी इत्यर्थः संपद्यते, समुच्चयस्त्वसंभवान्नोपन्यस्तः। न हि युगपद्द्वौ षष्ठ्यर्थौ सम्भवतः—स्थानेयोगोऽवयवयोगश्चेति। विकल्पोऽपि न भवत्येकत्वात्षष्ठ्यर्थस्य। तस्मात्तच्छेष-तदपवादपक्षावेवात्राशङ्कितौ ॥

यद्येकमिति। अनेकयोगव्यवहितयोरप्येकस्मिन्कार्यप्रदेशे स्वस्वनिमित्तसन्निधापित-

उद्द्योतः

बोधोत्तरमेव प्रवृत्तेरुभयोरपि समकालप्रवृत्तिकता बोध्या। गुणश्रुत्येत्यस्य गुणशब्देन विधेयत्वबोधिकयेत्यर्थः ॥ तत्र यदीति। बुद्धेः क्रमिकत्वाद्विशेषणविशेष्यभावे काम-चाराच्चेति भावः। सोस्येति। इगन्तस्येति षष्ठ्यास्तेनान्त्येत्युपसंहारादेतद्विशेषणत्वमेतत्-परिच्छेदकत्वं तस्येति भावः ॥ तदा तस्यायं विशेषणत्वादिति। तच्छेषशब्दे तन्त्रेण बहुव्रीहिषष्ठीतत्पुरुषाविति भावः ॥ [भाष्ये—'[इको] गुणवृद्धी' इति पूर्वपरान्वयि, तेनैतद्द्वयलाभ इति भावः ॥ परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावकृत एव च शेषशेषित्वव्यवहार इति बोध्यम् ॥] अथ त्विति। अवान्तरवाक्यार्थबोधकालेऽनिर्णीतार्थकत्वेन स्थान-षष्ठीत्वसंभावनया तत्प्रवृत्तावपि पश्चादिक इत्यस्योपस्थितौ मिदेरित्यादौ योग्यत्वेन तत्साहचर्येण चान्यत्राप्यवयवषष्ठीत्वनिर्णये तदसंबन्ध इति भावः ॥ बाधायोगादिति। आत्यन्तिकबाधायोगादित्यर्थः। पाक्षिकस्तु बाधः षोडशीग्रहणादौ भवत्येवेति बोध्यम् ॥ समुच्चय इति। मिदेरन्त्यस्येकश्चेत्येवमाकारः। नहीति। प्रत्यर्थशब्दनिवेशेनैकस्य नानेकाभिधायकत्वम्। तन्त्रे आवृत्तौ च न मानमिति भावः ॥

अनेकयोगेति। एवं चैकं वाक्यमिति भाष्यमयुक्तमिति भावः ॥ उत्तरम्—

भावबोधिनी

यह किस प्रकार उसका शेष (तच्छेष) है और किस प्रकार उसका अपवाद है ?

यदि यह प्रस्तुत सूत्र और वह 'अलोऽन्त्यस्य' सूत्र मिलकर एक वाक्य बन जाते हैं—

वृद्धी अलोन्त्यस्य' इति। ततोऽयं तच्छेषः॥ अथ नानावाक्यम्—तच्चेदं च, 'अलोन्त्यस्य विधयो भवन्ति', 'इको' गुणवृद्धी अन्त्यस्य चानन्त्यस्य च इति। ततोऽयं तदपवादः॥

प्रदीपः

योरङ्गाङ्गिभावाद्विशेषणविशेष्यभावादेकवाक्यतोपपत्तिः॥ अथ नानेति। अङ्गस्येतीगपे-

उद्द्योतः

एकस्मिन्नित्यादि। अङ्गाङ्गिभावश्च गुणगुणिभाव इत्याह—विशेषणेति॥ इकः स्थानित्वादिति। सा च नालोन्त्यसूत्रप्रवृत्तौ निमित्तमल्समुदायोत्तरस्थानषष्ठीत्वा-

भावबोधिनी

(१) अन्त्य अल् के स्थान में विधि (आदेश) होते हैं और [मिलाकर यह अर्थ होगा—] अन्त्य अल् इक् के स्थान पर गुण और वृद्धि होते हैं। इस अर्थ के करने पर यह ('इको गुणवृद्धी' सूत्र) उस ('अलोऽन्त्यस्य') का शेष (विशेषण, अंग) बन जाता है।

यदि भिन्न-भिन्न नाना अर्थात् दो वाक्य रहें—वह ('अलोऽन्त्यस्य') और यह ('इको गुणवृद्धी')—(१) अन्त्य अल् के स्थान में विधियाँ (आदेशादिकार्य) होती हैं; (२) इक् के स्थान में ही गुण होते हैं वह इक् अन्त्य हो या अनन्त्य (अन्त्य न) हो। [अर्थात् गुण या वृद्धि इक् के ही होते हैं चाहे वह इक् अन्त्य हो या अन्त्य न हो।] तब यह ('इको गुणवृद्धी') उस ('अलोऽन्त्यस्य) का अपवाद बन जाता है। [अतः अन्त्य अल् के स्थान पर ही न होकर किसी भी इक् के स्थान पर ही गुण और वृद्धि किये जाते हैं।]

विमर्श—"कथं चायं तच्छेषः, कथं वा तदपवादः?" इस भाष्य-पंक्ति में 'तच्छेष.' इस पद में षष्ठीतत्पुरुष और बहुव्रीहि दोनों समझने चाहिए-(१) तस्य(='अलोऽन्त्यस्य' इस सूत्र का) शेषः (=विशेषणम् अङ्गम्)—तच्छेषः। अर्थात् 'इको गुणवृद्धी' यह सूत्र 'अलोऽन्त्यस्य' का विशेषण बनता है। जब (२) सः (='अलोऽन्त्यस्य' इति विधिः) शेषः (=विशेषणम् अङ्गम्) यस्य ('इको गुणवृद्धी' इति विधेः) सः। अर्थात् 'अलोऽन्त्यस्य' यही 'इको गुणवृद्धी' का शेष=विशेषण अङ्ग बन जाता है।

उदाहरणार्थ—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) आदि अङ्गाधिकारीय सूत्रों में 'अङ्गस्य' यह षष्ठीनिर्दिष्ट है अतः 'अलोऽन्त्यस्य' (१।१।५२) सूत्र उपस्थित होता है और 'गुणो भवति' इसके कारण 'इको गुणवृद्धी' (१।१।३) यह सूत्र भी उपस्थित होता है। अब 'अङ्गस्य' इसका 'अन्त्यस्य' के साथ सम्बन्ध करते हैं— 'अङ्गान्त्यस्य गुणो भवति'। इसके बाद 'इकः' को अन्त्य अल् का विशेषण बनाते हैं—

(भाष्यम्)

कश्चात्र विशेषः ?

(१०७ तच्छेषपक्षदूषणवार्तिकम्)

॥*॥ वृद्धिगुणावलोऽन्त्यस्येति चेन्मिदिमृजिपुगन्तलघूपधर्च्छिदृशि-क्षिप्रक्षुद्रेष्विग्ग्रहणम् ॥*॥

प्रदीपः

क्षयावयवषष्ठ्यामिकः स्थानित्वात्तद्विशेषणत्वादङ्गस्यानुपस्थानमलोऽन्त्यस्येत्यस्य । ततश्चानयोर्भिन्नविषयत्वान्नानावाक्यत्वम् ॥

उद्द्योतः

भावात् । अङ्गस्येति च न स्थानषष्ठीति भावः ॥ [तदाह—] तद्विशेषणत्वादिति । अवयवित्वेन विशेषणत्वादित्यर्थः ॥ नानावाक्यत्वमिति । अत्र पक्षे पुगन्तेत्यादि नियमार्थमिति बोध्यम् ।

भावबोधिनी

"इग्रूपस्य अङ्गान्त्यस्य गुणो भवति ।" इस प्रक्रिया में 'इको गुणवृद्धी' (१।१।३) 'अलोऽन्त्यस्य' (१।१।५२) का विशेषण (शेष) बन जाता है ।

यदि 'इकः' इसे 'अङ्गस्य' इसका विशेषण बना दिया जाय तो—'इगन्ताङ्गस्य गुणो भवति' यह अर्थ होता है । इसके बाद 'अलः अन्त्यस्य' यह विशेषण रूप से अन्वित किया जाता है—'इगन्ताङ्गस्य गुणो भवति, स च भवन् अलः अन्त्यस्य' = अन्त्यस्य अलः भवति' । इस व्याख्यान में 'अलोऽन्त्यस्य' यह 'इको गुणवृद्धी' का शेष (विशेषण) बनता है ।

उपर्युक्त स्थिति तच्छेष पक्ष में हैं ।

जब दोनों सूत्रों के अर्थ अलग-अलग रहते हुए स्वतन्त्ररूप से अर्थबोध कराते हैं तब 'इको गुणवृद्धी' यह सूत्र 'अलोऽन्त्यस्य' इसका अपवाद होता है । क्योंकि 'अङ्गस्य' इसमें अवयवषष्ठी होती है, इसलिए स्थानषष्ठी के अभाव के कारण 'अलोऽन्त्यस्य' उपस्थित ही नहीं होता है । इसलिए धातु के अन्त्य और अनन्त्य दोनों में गुणवृद्धि की प्राप्ति में 'इको गुणवृद्धी' अपवाद बनकर—'इक् के ही स्थान में गुण और वृद्धि करवाता है ।

(व्याख्याभाष्यम्)

वृद्धिगुणावलोन्त्यस्येति चेन्मिदिमृजिपुगन्तलघूपधर्च्छिदृशिक्षिप्रक्षुद्रेष्विग्ग्रहणं कर्तव्यम् ॥

"मिदेर्गुणः" (७।३।८२) "इक इति वक्तव्यम्" अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति ॥

"मृजेर्वृद्धिः"(७।२।११४)"इक इति वक्तव्यम्" अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति ॥

पुगन्तलघूपधस्य गुणः, (७।३।८७) "इक इति वक्तव्यम्" अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति ॥

ऋच्छेर्लिटि गुणः (७।४।११) "इक इति वक्तव्यम्" अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति ॥

प्रदीपः

वृद्धिगुणाविति । मिदादीनामनिगन्तत्वादलोन्त्यस्येत्येतदङ्गमिग्ग्रहणं न सन्निपततीति तेषु प्रदेशेष्विग्ग्रहणं कर्तव्यम् ॥

उद्द्योतः

मिदादीनामिति । गुणादिविधौ परिभाषाद्वयस्य परस्परं संबन्धापरित्यागेनोपस्थानं तच्छेषत्वम् । तत्रैकस्या असंभवे द्वितीयापि न प्रवर्तत इति भावः ॥ भाष्ये अनन्त्यत्वाद्धीति । तच्छेषपक्षेऽनन्त्यत्वादिको गुणो न प्राप्नोतीत्यर्थः ॥

भावबोधिनी

तच्छेष पक्ष में दोष

इन (तच्छेष और तदपवाद पक्षों) में क्या अन्तर है ?

(वा०) यदि गुण और वृद्धि अन्त्य अल् के स्थान में होते हैं तो—मिद, मृज, पुगन्तलघूपध, ऋच्छ, दृश्, क्षिप्र, क्षुद्र—इनके विषय में इक् का ग्रहण [करना होगा]।

(भा०) यदि गुण और वृद्धि अन्त्य अल् के स्थान में हों-ऐसा है तो मिद, मृज, पुगन्तलघूपध, ऋच्छ, दृश्, क्षिप्र, क्षुद्र—इनके विषय में 'इक्' का ग्रहण करना होगा।

[क्रमशः विचार—]

(१) 'मिद् का गुण होता है' (७।३।८२) इसमें 'इक् के स्थान में होता है' ऐसा कहना पड़ेगा। कारण यह है कि अन्त्य में इक् न होने से नहीं प्राप्त होता है। [मिद् के इक् का गुण होता है—यह कहे बिना गुण की प्राप्ति ही नहीं हो सकती।]

(२) 'मृज् की वृद्धि होती है' (७।२।११४) इसमें 'इक् के स्थान पर होती है' ऐसा कहना पड़ेगा। क्योंकि ऋ = इक् अन्त्य में न होने से वृद्धि प्राप्त नहीं है। [मृज् के इक् की वृद्धि होती है—ऐसा कहे बिना वृद्धि की प्राप्ति नहीं होती है।]

(३) 'पुगन्त और लघूपध का गुण होता है' (७।३।८७) इसमें 'इक् के स्थान पर गुण होता है' ऐसा कहना होगा। क्योंकि अन्त्य का न होने से नहीं प्राप्त होता है।

(४) ऋच्छ का लिट् में गुण होता है 'ऋच्छत्यृताम्' (७।४।११) इसमें 'इक् के स्थान पर होता है', ऐसा कहना होगा। क्योंकि अन्त्य इक् न होने से नहीं प्राप्त होता है।

"ऋदृशोऽङि गुणः" (७।४।१४) "इक इति वक्तव्यम्" अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति ॥

क्षिप्रक्षुद्रयोर्गुणः (६।४।१५४) "इक इति वक्तव्यम्" अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति ॥

(१०७ तच्छेषदूषणान्तरवार्तिकम् ॥ ४ ॥)

॥ ० ॥ सर्वादेशप्रसङ्गश्चानिगन्तस्य ॥ * ॥

(एकदेशिव्याख्याभाष्यम्)

सर्वादेशश्च गुणोऽनिगन्तस्य प्राप्नोति । याता वाता ॥

किं कारणम् ?

प्रदीपः

दोषान्तरमप्याह—सर्वादेशप्रसङ्गश्चेति । अङ्गस्येत्येतदभेदेन सर्वाङ्गेषु व्याप्रियते ।

उद्द्योतः

अङ्गस्येति च स्थानषष्ठीति । अङ्गस्य स्थाने गुणो भवति । स च यत्रान्त्य इक्

भावबोधिनी

(५) 'ऋ और दृश् का अङ् परे गुण होता है' 'ऋदृशोऽङि गुणः' (७।४।१४) इसमें 'इक् के स्थान पर होता है' ऐसा कहना होगा। क्योंकि 'दृश्' का इक् अन्त्य न होने से गुण नहीं प्राप्त होता है।

(६) क्षिप्र और क्षुद्र का जो गुण ("स्थूलदूरयुवह्रस्व-क्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः" (६।४।१५४) प्राप्त होता है वह 'इक् के स्थान पर होता है' ऐसा कहना होगा क्योंकि अन्त्य इक् न होने से गुण प्राप्त नहीं है।

विमर्श—यदि अन्त्य अल् रूप इक् के स्थान पर गुण और वृद्धि माने जायेंगे तो उक्त सूत्रों में 'इक इति वक्तव्यम्' ऐसा जोड़ना पड़ेगा। क्योंकि सभी लक्ष्यों में अन्त्य इक् नहीं होता है। अतः गुण और वृद्धि करने के लिए यह अलग से यह कहना होगा कि पूर्वोक्त शब्दों में जो इक् है उसी के स्थान पर गुण और वृद्धि होती है। यह अतिरिक्त वचन-कल्पना गौरव होगी।

(वा०) और अनिगन्त के सर्वादेश का प्रसङ्ग होता है।

(भा०) अनिगन्त=जिसके अन्त में इक् नहीं है उस सम्पूर्ण शब्द के स्थान पर भी गुण प्राप्त होता है। [क्योंकि 'अङ्गस्य' का सम्बन्ध होने से गुण सम्पूर्ण अंग का प्राप्त होता है। जो इगन्त हैं उन्हीं में 'अलोऽन्त्यस्य' की प्रवृत्त होगी अन्य में तो अन्त्य के स्थान पर न होकर अंग के स्थान पर होने लगेगी। जैसे—] याता। वाता।

क्या कारण है ?

"अलोन्त्यस्य" इति षष्ठी चैव ह्यन्त्यमिकमुपसंक्रान्ता, अङ्गस्येति च स्थान-षष्ठी। तद्यदिदानीमनिगन्तमङ्गं तस्य गुणः सर्वादेशः प्राप्नोति ॥

(दूषणोद्धारभाष्यम्)

नैष दोषः, यथैव ह्यलोन्त्यस्येति षष्ठी अन्त्यमिकमुपसंक्रान्ता, एवमङ्गस्येत्यपि स्थानषष्ठी। तद्यदिदानीमनिगन्तमङ्गं तत्र षष्ठ्येव नास्ति, कुतो गुणः कुतः सर्वादेशः ॥

प्रदीपः

तत्रेगन्तेष्वेवालोन्त्यस्येति विधिरन्यत्र तु षष्ठ्यान्त्येऽप्यनुपसंहाराद् याता वातेति सर्वादेशो गुणः प्राप्नोति ॥

यथैव हीति। अङ्गस्येति षष्ठ्युच्चारितैवान्त्यमलं नीतेति नास्या अपरं रूपमस्तीति नास्ति सर्वादेशगुणप्रसङ्गः ॥

उद्द्योतः

तत्रान्त्यस्येक इत्यर्थं इत्यभिमानस्तदाह—भेदेनेति। शास्त्रस्य बहुविषयत्वायेत्यर्थः ॥ तत्रेगन्तेष्वेवेति। तच्छेषत्वादिति भावः ॥ अन्यत्र अनिगन्तविषये गुणशास्त्रे ॥

अन्त्यमलमिति। इक्परिभाषाशेषभूतालोन्त्यपरिभाषयेत्यर्थः॥ अङ्गस्येत्यपि स्थान-षष्ठीति भाष्येऽन्त्यमिकमुपसङ्क्रान्तेत्यनुकर्षः। एवं च संग्राहकवाक्यस्येगन्तमात्रविषयकत्वादनिगन्तविषयकलक्षणाभाव एव। आवृत्तौ च न मानमिति भावः। अत एव गांपोष्टकः किंत्वं सार्थकम् ॥

भावबोधिनी

'अलोऽन्त्यस्य' (१।१।५२) यह षष्ठी है। और यह षष्ठी अन्त्य इक् के साथ उपसंक्रान्त = अन्वित होती है। और 'अंगस्य' यह स्थानषष्ठी है। इसलिए अब जो अनिगन्त अंग है उसका गुण सर्वादेश प्राप्त होता है। [अतः तच्छेषपक्ष में यह दूसरा दोष है।]

नहीं, यह दोष नहीं है। क्योंकि जैसे 'अलोऽन्त्यस्य' (१।१।५२) यह षष्ठी अन्त्य इक् के साथ अन्वित होती है वैसे ही 'अंगस्य' यह स्थान षष्ठी भी [अन्त्य इक् के साथ ही उपसंक्रान्त=अन्वित होती है]। इसलिए अब जो अनिगन्त अंग है, उसमें षष्ठी ही नहीं है, तब कैसा गुण और कैसा सर्वादेश ? [अर्थात् अङ्ग के इक् का ही गुण होता है ऐसा अर्थ होने से 'याता' आदि में इक् न होने से गुण की प्राप्ति ही नहीं है तब सबके स्थान पर गुण होगा—ऐसा प्रश्न ही नहीं उठता है।]

(वार्तिकसमन्वयान्तरभाष्यम्)

एवं तर्हि नायं दोषसमुच्चयः ॥

किं तर्हि ?

पूर्वापेक्षोऽयं दोषः । ह्यर्थे चायं चः पठितः—

० मिदिमृजिपुगन्तलघूपधर्च्छिदृशिक्षिप्रक्षुद्रेष्विग्ग्रहणं सर्वादेशप्रसङ्गो ह्यनिगन्तस्य ० इति ।

मिदेर्गुणः 'इकः' इति वचनादन्त्यस्य न, अलोन्त्यस्य' इति वचनादिको न । उच्यते च गुणः । स सर्वादेशः प्राप्नोति ॥ एवं सर्वत्र ॥

प्रदीपः

पूर्वापेक्षोऽयमिति । मिदादिष्विग्ग्रहणं कर्तव्यमित्यत्रैवार्थे हेतुत्वेनेदमुपात्तमित्यर्थः ॥ उच्यते चेति । मिदेरिति चोदनया ।

उद्द्योतः

हिश्च हेत्वर्थं इत्याह—मिदाविष्विति ॥

(इति तच्छेषपक्षदूषणम् ।)

भावबोधिनी

यदि ऐसा है तो यह (इस वार्त्तिक में कहा गया) दोष का समुच्चय अर्थात् प्रथम से भिन्न दूसरा=दो दोष नहीं हैं ।

तो क्या है ?

पूर्ववार्त्तिक को मानकर ही [हेतुरूप में] यह दोष है । इस (द्वितीय वार्त्तिक) में यह चकार 'हि' के अर्थ (हेतु) में पढ़ा गया है । [इसलिए दोनों वार्त्तिकों को मिलाकर एक वाक्य बनाना चाहिए—]

"मिद्, मृज्, पुगन्त-लघूपध, ऋच्छ, दृश्, क्षिप्र, क्षुद्र [के गुणादिविधायक सूत्रों] में 'इक् के स्थान पर होता है, ऐसा कहना चाहिए क्योंकि अनिगन्त अंग के सम्पूर्ण के स्थान पर आदेश प्राप्त होता है ।

'मिद् का गुण होता है' 'इकः' = इक् का होता है—इस वचन से अन्त्य का नहीं होता है और 'अन्त्य अल् का होता है' इस वचन के कारण इक् का नहीं होता है [क्योंकि मिद् आदि में इग् रूप अल् अन्त्य नहीं है ।] और 'मिदादि का गुण होता है' ऐसा कहा जाता है । [इस विधिवैयर्थ्य-भिया] यह गुणादेश संपूर्ण अंग के स्थान पर प्राप्त होता है । इसी प्रकार सभी में समझना चाहिए । [इकः, अलः अन्त्यस्य गुणः भवति—ये तीन हैं । मिद् आदि में अन्त्य अल् इक् नहीं है । किन्तु गुण होने का विधान है । अतः वह सम्पूर्ण मिद् आदि के स्थान पर ही प्रसक्त होता है । इसलिए तच्छेषपक्ष=परस्पर विशेष्य-विशेषणभाव मानकर एक वाक्य बनाना ठीक नहीं है ।]

(अथ तदपवादपक्षाभ्युपगमभाष्यम्)

अस्तु तर्हि तदपवादः ॥

(१०४ तदपवादपक्षदूषणवार्तिकम् ॥ ५ ॥)

॥*॥ इङ्मात्रस्येति चेज्जुसिसार्वधातुकार्धधातुकह्रस्वाद्योर्गुणेष्वनन्त्यप्रतिषेधः ॥*॥

(भाष्यम्)

इङ्मात्रस्येति चेज्जुसिसार्वधातुकार्धधातुकह्रस्वाद्योर्गुणेष्वनन्त्यप्रतिषेधो वक्तव्यः ॥

जुसिगुणः—स यथेह भवति—'अजुहवुः अबिभयुः' इति । एवम् 'अनेनिजुः पर्यवेविषुः' अत्रापि प्राप्नोति ॥

प्रदीपः

इङ्मात्रस्येति । यद्यङ्गस्येतीगपेक्षयावयवषष्ठी तदाऽलोन्त्यस्येत्यस्य निमित्ताभावादनुपस्थानम्, स्थानषष्ठी हि तस्योपस्थाने निमित्तम् । ततश्चाङ्गावयवस्यान्त्यस्यानन्त्यस्य चेको गुणः प्राप्नोतीति दोषः । ह्रस्वस्य गुण इति समानन्यायत्वादेत-

उद्द्योतः

अनन्त्यस्य चेक इति । यद्यपि जुसि चेत्यादीनां प्रधानभूतेग्विशेषणत्वे तस्मिन्निति परिभाषया व्यवहितस्येको न भविष्यति, तथापि प्रत्ययस्याङ्गांशे उत्थिताकाङ्क्षतया

भावबोधिनी

तदपवाद पक्ष में दोष

[यदि तच्छेषपक्ष में उक्त दोष हैं] तो तदपवाद पक्ष ही रहे, अर्थात् इस 'इको गुणवृद्धी' को 'अलोऽन्त्यस्य' का अपवाद मान लिया जाय ।

(वा०) [अन्त्य अथवा अनन्त्य] इक् मात्र के ही यदि गुण, वृद्धि होते हैं, तो जुस् परे गुण, सार्वधातुक-आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते गुण, ह्रस्व आदि पूर्वक का (=जस् परे रहते) गुण और उकार के गुण — इनके विधायक सूत्रों में 'अनन्त्य' [इक् को प्राप्त गुण] का प्रतिषेध कहना होगा ।

(भा०) अन्त्य अथवा अनन्त्य इक् मात्र=केवल इक् का ही गुण यदि होता है तो-जुस् परे रहते गुण, सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते गुण, ह्रस्वादि पूर्व का (जस् परे रहते) गुण, उकार का गुण—इन विधियों में अनन्त्य इक् का प्रतिषेध कहना होगा ।

[विशेष विवरण यह है—]

(१) "जुसि च" (७।३।८३) जुस् परे रहते गुण होता है, यह गुण जैसे—अजुहवुः, अबिभयुः आदि में [अन्त्य इक् का] होता है, वैसे ही—अनेनिजुः, पर्यवेविषुः इनमें अनन्त्य इक् का भी प्राप्त होता है । ['यहाँ न हो' ऐसा प्रतिषेध कहना होगा ।]

सार्वधातुकार्धधातुकयोर्गुणः—स यथेह भवति—'कर्ता हर्ता नयति तरति' इति। एवम् 'ईहिता ईहितुम् ईहितव्यम्' इत्यत्रापि प्राप्नोति ॥

ह्रस्वस्य गुणः—स यथेह भवति—'हे अग्ने, हे वायो' इति। एवं 'हे अग्निचित् हे सोमसुद्' इत्यत्रापि प्राप्नोति ॥

जसि गुणः—स यथेह भवति—'अग्नयो, वायवः' इति। एवं 'अग्निचितः, सोमसुतः' इत्यत्रापि प्राप्नोति ॥

प्रदीपः

दुक्तम्। अङ्गस्यावयवो यो ह्रस्वस्तस्य गुण इति। न त्वत्रेक्परिभाषोपतिष्ठते, निर्दिष्टस्थानिकत्वात् ॥ अन्ये त्वाहुः—अत्रापि परिभाषोपस्थाने सति ह्रस्वेनेग्विशेष्यते ह्रस्वस्यैको गुणो यथा स्याद् दीर्घस्य मा भूदिति ॥ ओर्गुण इत्यत्राप्यस्या उपस्थानमनन्त्यस्याप्युकारस्य गुणार्थम्। असति ह्यस्या उपस्थानेऽङ्गस्येति स्थानषष्ठी स्यादङ्गं चोकारेण विशेष्यत इत्युकारान्तस्यैवाङ्गस्य गुणः स्यात् ॥

उद्द्योतः

जुसिचेत्यादिभिरप्यङ्गमेव विशेष्यत इत्यभिप्रायः ॥ समानन्यायेति। गुणप्रकरणावैरूप्याय सर्वत्राङ्गस्येत्यवयवषष्ठ्येव स्यादिति भावः निर्दिष्टेति। अनियमे नियमकारिणीत्वात्परिभाषाया इति भावः ॥ अन्ये त्विति। अयंभावः—न ह्यनियम इति श्रुतिः स्मृतिर्वा, किं तु परिभाषा लिङ्गवती फलवती चेति नियमः, फलं चेतरव्यावृत्तिर्वदितरसंग्रहोपीति ह्रस्वस्येत्यस्याङ्गविशेषणत्वव्यावर्तनेनावयवषष्ठीत्वबोधनेनानन्त्यस्यापि गुणसम्पादनमेव फलं स्यात्। अकारे तु गुणागुणयोर्न विशेष इति ॥ तदेतद्वक्ष्यति—अनन्त्यस्याप्युकारस्येति ॥ नन्वेवं ह्रस्वग्रहणं व्यर्थमत आह—दीर्घस्येति। घिसंज्ञा वर्णयोरेवेति पक्षे ङिति गुणस्याग्निचिते इत्यादौ प्रसङ्गो बोध्यः ॥

भावबोधिनी

(१) "सार्वधातुकार्धधातुकयोः" (७।३।८४) 'सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्यय परे गुण होता है, यह गुण जैसे इनमें होता है—कर्त्ता, हर्त्ता, नयति, तरति, भवति, इसी प्रकार ईहिता, ईहितुम्, ईहितव्यम्—इनमें [अनन्त्य इक्] भी प्राप्त होता है। [इनका प्रतिषेध करना होगा।]

(२) 'ह्रस्व का गुण होता है' "ह्रस्वस्य गुणः" (७।३।१०८)। यह गुण जैसे—हे अग्ने !, हे वायो ! इनमें होता है वैसे ही—हे अग्निचित् ! हे सोमसुत् ! इनमें [अनन्त्य इक् का] भी प्राप्त होता है। [इसका प्रतिषेध कहना होगा।]

(३) 'जस् परे रहते गुण होता है' "जसिच" (७।३।१०९)। यह गुण जैसे—अग्नयः, वायवः आदि में प्राप्त होता है, इसी प्रकार—अग्निचितः, सोमसुतः इनमें [अनन्त्य इक् का] भी प्राप्त होता है। [इसका प्रतिषेध कहना होगा।]

ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोर्गुणः—स यथेह भवति—'कर्तरि कर्तारौ कर्तारः' इति एवं 'सुकृति सुकृतौ सुकृतः' इत्यत्रापि ॥

घेर्ङिति गुणः—स यथेह भवति—'अग्नये वायवे' इति। एवम् 'अग्निचिते सोमसुते' इत्यत्रापि प्राप्नोति ॥

ओर्गुण—स यथेह भवति–'बाभ्रव्यो माण्डव्यः' इति। एवं 'सुश्रुत् सौश्रुतः' इत्यत्रापि प्राप्नोति ॥

(भाष्यम्)

नैष दोषः।

(१०९ सिद्धान्त्येकदेशिवार्तिकम् ॥ ६ ॥)

॥ * ॥ पुगन्तलघूपधग्रहणमनन्त्यनियमार्थम् ॥ * ॥

प्रदीपः

पुगन्तेति। भेत्तेत्यादौ गुणे सिद्धे पुनःश्रुतिर्नियमार्थेति गुरूपधस्येहितेत्यादौ न भविष्यति, नापि हे अग्निचिदित्यादावुभयनियमाश्रयणादिति भावः ॥ ननु च भेत्तेति

उद्द्योतः

पुनःश्रुतिः—पुनर्गुणविधानम् ॥ ननु चेति। बहुव्रीहिसमासः सामर्थ्यादिक्-परिभाषानुपस्थितिश्चेति भावः ॥ भिदो दकारोच्चारणं तु भिन्नो भित्तमित्यादौ चरितार्थम्, क्नोः कित्वेनानिग्लक्षणत्वेपि निषेधप्रवृत्तेः। पुग्विधानमपि क्ष्मापयतीत्यादौ

भावबोधिनी

(५)ङि और सर्वनामस्थान परे रहते ऋकार का गुण होता है 'ऋतो ङिसर्वनाम-स्थानयोः' (७।३।११०)। यह गुण जिस प्रकार–कर्त्तरि, कर्त्तारौ, कर्त्तारः में होता है, उसी प्रकार=सुकृति, सुकृतौ, सुकृतः [सुकृत् + ङि = इ, सुकृत् + औ, सुकृत् + जस्] इनमें [अनन्त्य इक् का] भी प्राप्त होता है। [इसका प्रतिषेध कहना होगा।]

(६) ङित् सुप् परे रहते घिसंज्ञक का गुण होता है–"घेर्ङिति" (७।३।१ १)। यह गुण जैसे––अग्नये, वायवे–इनमें होता है, वैसे ही––अग्निचिते, सोमसुते इनमें [अनन्त्य इक् का] भी प्राप्त होता है। [इसका प्रतिषेध करना होगा।]

(७) भसंज्ञक उकार का गुण होता है––"ओर्गुणः" (६।४।१४६)। यह जिस प्रकार इनमें होता है—बाभ्रव्यः, माण्डव्यः, इसी प्रकार सुश्रुत् से अण् करने पर–– सौश्रुतः इसमें [अनन्त्य इक् = उकार का] भी प्राप्त होता है। [इसका प्रतिषेध कहना होगा।]

[उपर्युक्त सभी सूत्रों के लक्ष्यों में जैसे अन्त्य इक्=इ, उ, ऋ, लृ का गुण होता है उसी प्रकार अन्त्य में न होने वाले भी इक् का प्राप्त होता है। उन सभी में प्रतिषेध कहना होगा। यह गौरव दोष है।]

(भाष्यम्)

पुगन्तलघूपधग्रहणमनन्त्यनियमार्थं भविष्यति–पुगन्तलघूपधस्यैवानन्त्यस्य नान्यस्यानन्त्यस्येति ॥

(नियमदूषणभाष्यम्)

प्रकृतस्यैव नियमः स्यात् ॥

किं च प्रकृतम् ?

प्रदीपः

दकारस्य ह्लेपयतीति पकारस्य च यथा स्यादिति विध्यर्थमेतत्स्यात् ॥ नैतदस्ति, पुकि अन्तः पुगन्तो, लघ्वी उपधा लघूपधा ततः समाहारद्वन्द्वनिर्देश इत्यन्त्यस्य गुणेन न भाव्यम् ॥

प्रकृतस्येति । एकेन वाक्येन नियमद्वयस्यालाभात्प्रकृतस्यैव गुणस्य नियमः स्यात् —पुगन्तलघूपधस्यैव सार्वधातुकार्धधातुकयोरिति, न तु सार्वधातुकार्धधातुकयोरेव पुगन्तलघूपधस्येति ॥

उद्द्योतः

यलोपार्थम् । ओकाररूपगुणार्थं च चरितार्थमित्याशयः ॥ पुकीति । लाघवात्तत्पुरुषे निर्णीते निषादस्थपतिन्यायेन नियमार्थत्वं न दोषावहमित्यर्थः ॥ ननु पुगन्तग्रहणं दापयत्यादौ अनन्त्यस्यानिकोपि गुणार्थं स्यादिति कथं नियमार्थत्वमिति चेन्न; गुणे उपधावृद्ध्या विशेषाभावात् ॥

प्रकृतस्यैवेति । अनन्तरस्यैवेत्यर्थः ॥

भावबोधिनी

यह [पूर्वोक्त में कोई भी] दोष नहीं है ।

(वा०) पुगन्त-लघूपध का ग्रहण अनन्त्य (अन्त्य से भिन्न) के नियम के लिए [होगा] ।

(भा०) पुगन्त-लघूपध का ग्रहण अनन्त्य के नियम के लिये होगा—यदि अनन्त्य इक् का गुण होता है तो पुगन्त और लघूपध के ही अनन्त्य इक् का होता है, अन्य किसी के अनन्त्य इक् का नहीं ।

विमर्श—यदि अनन्त्य इक् का भी गुण होता तो 'अर्पयति' और भेत्ता आदि में 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) इसी सूत्र से गुण हो जाता तब 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७।३।८६) इस सूत्र को बनाने की कोई आवश्यकता नहीं थी । अतः यह सूत्र व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है—अनन्त्य =अन्त्य से भिन्न इक् का यदि गुण हो तो वह केवल पुगन्त और लघूपध अंग का ही हो । अन्य किसी का नहीं । ईहिता—आदि में इसीलिए गुण की प्राप्त नहीं है । तब वारण करने के लिए वचन भी आवश्यक नहीं है ।

(अनु०) परन्तु यह नियम तो प्रकृत (=प्रकरण ये प्राप्त) का ही होगा ?

और क्या प्रकृत है ?

"सार्वधातुकार्धधातुकयोः" इति ॥ तेन भवेदिह नियमान्न स्याद् 'ईहिता ईहितुम् ईहितव्यम्' इति । ह्रस्वाद्योर्गुणस्त्वनियतः सोऽनन्त्यस्यापि प्राप्नोति ॥

(नियमान्तरदूषणभाष्यम्)

अथाप्येवं नियमः स्यात्—पुगन्तलघूपधस्य सार्वधातुकार्धधातुकयोरेवेति ॥ एवमपि सार्वधातुकार्धधातुकयोर्गुणोऽनियतः सोऽनन्त्यस्यापि प्राप्नोति—ईहिता ईहितुम् ईहितव्यमिति ।

(उभयविधनियमदूषणभाष्यम्)

अथाप्युभयतो नियमः स्यात्—पुगन्तलघूपधस्यैव सार्वधातुकार्धधातु-

प्रदीपः

अथापीति । अनन्तरस्य विधिर्वेति परिभाषा यदि नाश्रीयते इत्यर्थः ॥

उद्द्योतः

नन्वनन्तरस्येतिन्यायविरुद्धोऽयं नियम इत्यत आह—अनन्तरस्येति । लक्ष्यानुसार-ज्ञानाश्रयणे बीजं बोध्यम् ॥

भावबोधिनी

'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) । यह इस कारण यहाँ सम्भव है कि ईहिता ईहितुम् आदि में नियम के कारण "सार्वधातुकार्धधातुकायो" से गुण न हो । परन्तु [ह्रस्वस्य गुणः ७।३।१०७ तथा "जसि च" ७।३।१०८ आदि से] ह्रस्वादि का जो गुणविधान है, वह तो अनियत है, (प्रस्तुत नियम का विषय नहीं हो सकता है) अतः वह गुण तो अनन्त्य=अन्त्य से भिन्न इक् का भी प्राप्त होता है । क्योंकि सार्वधातुक या आर्धधातुक परे यदि किसी का गुण हो तो पुगन्त या लघूपध का ही हो—यह नियम है । [अतः उनमें तो प्रतिषेधवचन करना ही होगा ।]

अच्छा तो ऐसा भी नियम हो सकता है—पुगन्त और लघूपध का गुण हो तो सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते ही हो । [इस नियम को मान लेने पर 'ह्रस्वस्य गुणः' आदि सूत्रों से होने वाले गुण के दोष तो दूर हो जाते हैं क्योंकि वे सार्वधातुक और आर्धधातुक परे रहते नहीं होते हैं ।]

परन्तु ऐसा होने पर भी सार्वधातुक और आर्धधातुक परे रहते जो गुण-विधान है वही अनियत (नियम का विषय नही) होगा, वह अनन्त्य का भी प्राप्त होता है—ईहिता, ईहितुम्, ईहितव्यम् । [इनमें प्राप्त गुण का प्रतिषेध करना होगा ।]

अच्छा, यदि दोनों प्रकार से नियम कर दिया जाय—(१) सार्वधातुक और आर्धधातुक परे यदि गुण हो तो पुगन्त और लघूपध अंग का ही हो ।

(२) पुगन्त और लघूप धअंग का यदि गुण हो तो सार्वधातुक और आर्धधातुक परे रहते ही हो ।

कयोः । सार्वधातुकार्धधातुकयोरेव पुगन्तलघूपधस्येति ॥ एवमप्ययं जुसिगुणोऽनियतः सोऽनन्त्यस्यापि प्राप्नोति—'अनेनिजुः पर्यवेविषुः' इति ॥

(इति तदपवादपक्षदूषणप्रकरणम्)

—o—

(अथासंबद्धपरिभाषापक्षनिराकरणाधिकरणम्)

(भाष्यम्)

एवं तर्हि—नायं तच्छेषः, नापि तदपवादः । अन्यदेवेदं परिभाषान्तरम्-

प्रदीपः

अथापीति । अभ्युपेत्यवादेनोच्यते आवृत्त्यादिन्यायाश्रयणेन वा । एकस्मिंस्तु वाक्ये नियमद्वयं न लभ्यते ॥ अनेनिजुरिति । अत्र लघूपधं चाङ्गं सार्वधातुकं चास्तीति जुसि चेति गुणः प्राप्नोति । हे पिचव्य हेबुद्धे हेबुद्धय इत्यादौ चालघूपधत्वादनन्त्यस्य गुणोऽपरिहृतः ॥

एवं तर्हीति । परस्परानपेक्षयोः स्वस्वनिमित्तप्रयुक्तसन्निधानयोर्द्वयोः परिभाषयोः प्रदेशेषु स्वस्वकार्यप्रतिपादनम् । तत्र यदि कथंचिदेकविषये सन्निपातो भवति, नैतावता

उद्द्योतः

अभ्युपेत्यवादः क्लेशेनाङ्गीकार इत्याहुः ॥ पिचव्येति । उगवादित्वाद्यत् । उवर्णान्तस्याङ्गस्येको गुण इति व्याख्यानमभिप्रेत्यात्र दोषोपन्यासः ॥ परंतु सौश्रुत इत्यत्रापि प्राप्नोतीति भाष्याननुगुणा सा व्याख्येति चिन्त्योऽयं कैयट इत्याहुः ॥ क्वचित्तु कैयटपुस्तके पिचव्य इति न दृश्यत एव ॥

तच्छेष इति शब्दोऽसंभवदुक्तिकत्वग्रस्तोऽपीत्याह—परस्परेति । विशेषणविशेष्यभावमात्रेण शेषशेषिव्यवहारो न क्वापि दृष्टचर इति भावः ॥ अत एवाग्रे एतत्पक्षोक्त-

भावबोधिनी

[इस प्रकार प्रकृत और अप्रकृत दोनों गुणों का नियम हो जाता है । इसलिए उक्त दोष नहीं है । ऐसा कह सकते हैं ।] परन्तु ऐसा मान लेने पर भी जुस् परे रहते ("जुसि च" से) जो गुण होता है वह नियम का विषय नहीं होता है, वह अनन्त्य इक् का भी प्राप्त होता है—अनेनिजुः, पर्यवेविषुः। [कारण यह है कि इनमें लघूपध अंग है और सार्वधातुक प्रत्यय भी है । अतः अनन्त्य इक् का गुण प्राप्त हो है । इसका प्रतिषेध कहना होगा ।]

[इस प्रकार तदपवाद पक्ष भी दोष-ग्रस्त है ।]

स्वतन्त्र परिभाषा सूत्रत्व का उपपादन

[यदि तच्छेषपक्ष और तदपवाद पक्ष दोनों में कुछ न कुछ दोष हैं] ऐसी स्थिति में तो यह 'इकोगुणवृद्धी' सूत्र न तच्छेष (अलोऽन्त्य का शेष) है और न तदपवाद

सम्बद्धमनया परिभाषया ॥

(भाष्यम्)

परिभाषान्तरमिति च मत्वा क्रोष्ट्रीयाः पठन्ति—

॥ * ॥ नियमादिको गुणवृद्धी भवतो विप्रतिषेधेन ॥ * ॥

इति ॥ यदि चायं तच्छेषः स्यात्तेनैव तस्यायुक्तोविप्रतिषेधः । अथापि तदपवादः, उत्सर्गापवादयोरप्ययुक्तो विप्रतिषेधः ॥ तत्र नियमस्यावकाशः—

प्रदीपः

परस्परापेक्षा भवतीत्यर्थः ॥ अन्यदेवेति । अन्तरशब्दो विशेषवाचीत्यन्यान्तरशब्दयोरविरुद्धः प्रयोगोऽपर्यायत्वात् ॥

उद्द्योतः

दूषणोद्धारेऽपि नायं तच्छेष इत्युक्तिः सङ्गच्छते ॥ सन्निपात इति । जायमानोपि सन्निपातः सावकाशत्वेन विप्रतिषेधोपयोग्येव न तच्छेषत्वोपयोगी । अत एव नापवादत्वमपि । उक्तदोषाच्चेति भावः ॥ असंबद्धमनयेति भाष्यस्य शेषशेषिभावानापन्नमुत्सर्गापवादभावानापन्नं चेत्यर्थः ॥

भावबोधिनी

(अलोऽन्त्यापवाद) है । यह एक दूसरी स्वतन्त्र परिभाषा है जो इस 'अलोऽन्त्यस्य' से असम्बद्ध है । [ये दोनों स्वतन्त्र परिभाषायें अलग-अलग लक्ष्यों में कार्य करती हैं । संयोगात् किसी एक लक्ष्य में दोनों का सन्निपात हो जाने में इनमें परस्पर सम्बन्ध होने पर भी सामान्यतया दोनों का न तो शेषशेषिभाव सम्बन्ध है और न उत्सर्ग-अपवाद सम्बन्ध ।]

क्रोष्ट्रीय सम्प्रदाय के विद्वान् इसे एक अलग ही दूसरी परिभाषा के रूप में पढ़ते हैं ।

(वा०) विप्रतिषेध के कारण नियम = अलोऽन्त्यस्य परिभाषा का बाध करके 'इको गुणवृद्धी' से इक् के ही स्थान पर गुण और वृद्धि होते हैं ।

(भा०) यदि यह (इको गुणवृद्धी) परिभाषा सूत्र तच्छेष (अलोऽन्त्यविशेषण) हो तो अलोऽन्त्य सूत्र से इस 'इको गुणवृद्धी' का प्रतिषेध मानना उचित नहीं होगा । [स्वाङ्ग से स्वाङ्ग का विप्रतिषेध ठीक नहीं होगा ।] और यदि 'अलोऽन्त्य' का अपवाद हो, तो भी उत्सर्ग और अपवाद में विप्रतिषेध उचित नहीं है । [क्योंकि तुल्य बल वाले स्वस्वदेश में चरितार्थ दो का एक लक्ष्य में सम्भव होना विप्रतिषेध है । यह उत्सर्ग-अपवाद में नहीं होता है ।] इन (वार्तिकोक्त दोनों सूत्रों) में नियम=

"राज्ञः क च" (४।२।१४०) राजकीयम्। "इको गुणवृद्धी" इत्यस्यावकाशः—'चयनं चायको, लवनं लावकः" इति। इहोभयं प्राप्नोति—'मेद्यति, मार्ष्टि' इति। "इको गुणवृद्धी" इत्येतद्भवति विप्रतिषेधेन॥

(विप्रतिषेधबाधकभाष्यम्)

नैष युक्तो विप्रतिषेधः। "विप्रतिषेधे परम्" इत्युच्यते। पूर्वश्चायं योगः, परो नियमः॥

प्रदीपः

चयनमिति। अलोन्त्यपरिभाषायाः प्रयोजनाभावादत्रानुपस्थानमित्याशयः॥ चायक इति। कथमिक्परिभाषात्रोपतिष्ठते यावताऽच इति स्थानी निर्दिष्टः॥ अत्राहुः—अच इत्यस्याङ्गविशेषणतयोपयोगादचः स्थानित्वाभावाद् वृद्धिग्रहणेन लिङ्गेनेक्परिभाषात्राप्युपतिष्ठत एव॥ मेद्यतीति। इक इति वचनादिकारस्य प्राप्नोति, अलोन्त्यस्येति वचनाद् दकारस्य॥

उद्द्योतः

नियमादिति। अलोन्त्यपरिभाषायाः पूर्वाचार्यसंज्ञा नियम इति॥ तेनैव तस्यायुक्त इति। स्वाङ्गेन स्वस्येत्यर्थः। शेषशेषिणोरभेदं मत्वा तेनैवेत्याद्युक्तम्॥ नन्वङ्गस्येति स्थानषष्ठीदर्शनात्सार्वधातुकेत्यादावप्यलोन्त्यपरिभाषाप्रवृत्त्या कथमिक्परिभाषायाश्रयन मित्यत्रकाशोऽत आह—अलोन्त्येति। अङ्गेनेको विशेषणेन पुगन्तेत्यादिनियमेन च तत्प्रयोजनसिद्धेरिति भावः॥ अत्राहुरिति। अचा विशेषिताङ्गेनेको विशेषणसंभवात्प्रापयति। गावावित्यादि त्वेष न जानातीति भावः॥

भावबोधिनी

'अलोऽन्त्यस्य' का अवकाश (चरितार्थता) 'राज्ञः क च' (४।२।१४०) सूत्र के लक्ष्य 'राजकीयम्' में है। [राजन् से छ = ईय प्रत्यय हो और अन्त्य अल् = न् का क् आदेश हो।] 'इको गुणवृद्धी' इसका अवकाश (चरितार्थता)—चयनम्, चायकः, लवनम्, लावकः में है। [चि+ल्युट्=अन, चि+ण्वुल्=अक, लू+अन, लू+अक में इक् के ही गुणवृद्धि होते हैं और उक्त रूप बनते हैं। परन्तु 'मेद्यति, मार्ष्टि'—इनमें 'अलोऽन्त्यस्य' और 'इको गुणवृद्धी' इन दोनों की प्राप्ति होती है। ['मिदेर्गुणः' से गुण करते समय 'इकः' से इक् का और 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्त्य 'द्' का गुण प्राप्त होता है। 'मृजेर्वृद्धिः' से 'मृज्' में वृद्धि करने में इक् और अन्त्य=ज् दोनों के स्थान पर वृद्धि प्राप्त होती है। अब तो तुल्य वाले दोनों हैं। इनकी एक लक्ष्य में प्राप्ति होने से विप्रतिषेध है।] इनमें पूर्व विप्रतिषेध से 'इको गुणवृद्धी' ही प्रवृत्त होती है। [इसलिए इक्=इ का गुण और इक्=ऋ की ही वृद्धि होती है।]

(विप्रतिषेधसाधकभाष्यम्)

इष्टवाची परशब्दः । विप्रतिषेधे परं यदिष्टं तद्भवतीति ।

(विप्रतिषेधबाधकभाष्यम्)

एवमप्ययुक्तो विप्रतिषेधः । द्विकार्ययोगो हि विप्रतिषेधः । न चात्रैको द्विकार्ययुक्तः ॥

प्रदीपः

नैष युक्त इति । इष्टसिद्धये इत्यर्थः । यथोद्देशपक्षे च परिभाषयोः पौर्वापर्यम्, न तु कार्यकालतायाम् ॥

द्विकार्ययोग इति । द्वाभ्यां कार्याभ्यां योगो यस्य स्थानिनः स विप्रतिषेधविषयत्वाद्विप्रतिषेधः ॥

उद्द्योतः

इष्टेति । इष्टसिद्धिफलकत्वमेव हि तस्य युक्तत्वमिति भावः ॥ ननु कार्येति । द्वयोरप्येकदेशस्थत्वेन परत्वासंभवादिति भावः ॥ वस्तुतः कार्यकालपक्षेपि पाणिन्युच्चारणरूपपाठकृतं परत्वमस्त्येव । अन्यथैकत्र प्रयोगरूपदेशे सर्वेषां मेलनेन परत्वस्योच्छेद एव स्यात् । प्रयोगसाधनफलकान्येव शास्त्राणि । न चैवं कार्यकालपक्षमादाय त्रिपाद्यामेषां प्रवृत्तिर्यथोद्देशे तु पूर्वाण्येतानि प्रति त्रपाद्या असिद्धत्वेनाप्रवृत्तिरेव स्यादिति—भाष्याद्युक्तं विरुध्येतेति वाच्यम् । परिभाषायाः सिद्धत्वेन तत्पक्षेऽसिद्धेनापि कार्येण स्वार्थं तदाकर्षणसंभवादित्यष्टमे उपपादयिष्यमाणत्वाद् । ध्वनितं चेदं तस्मिन्निति निर्दिष्ट इत्यत्र भाष्यकैयटयोरिति चिन्त्यमेतत् ।

भावबोधिनी

यह विप्रतिषेध ठीक नहीं है । क्योंकि 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (१।४।२) यह कहा जाता है, अर्थात् परवर्त्ती शास्त्र की प्रवृत्ति होती है । परन्तु 'इको गुणवृद्धी' यह तो पूर्ववर्त्ती शास्त्र है और नियम = 'अलोऽन्त्यस्य' परवर्त्ती है । [तब 'इको गुणवृद्धी' की बलवत्ता कैसे होगी ?]

['विप्रतिषेधे परं कार्यम्' सूत्र में] 'पर' शब्द इष्टवाचक है । विप्रतिषेध (= तुल्यबलविरोध) में पर=जो इष्ट होता है वही होता है । [इसलिये मिद् और मृज् के गुण तथा वृद्धि में 'इक्' परिभाषा की ही प्रवृत्ति होगी ।]

ऐसा [पूर्वोक्त अर्थ] मान लेने पर भी विप्रतिषेध ठीक नहीं है । क्योंकि एक स्थानी का दो कार्यों के साथ योग वाला ही विप्रतिषेध है परन्तु यहाँ [मेद्यति, मार्ष्टि आदि में] एक स्थानी द्विकार्य योगी नहीं है । [यहाँ कार्य तो गुण या वृद्धि एक ही है किन्तु स्थानी इक् और अन्त्य अल् दो हैं ।]

(विप्रतिषेधसाधकभाष्यम्)

नावश्यं द्विकार्ययोग एव विप्रतिषेधः ।

किं तर्हि ?

असम्भवोऽपि । स चास्त्यत्रासम्भवः ॥

कोऽसावसम्भवः ?

इह तावद्—'वृक्षेभ्यः प्लक्षेभ्यः' इति—एकः स्थानी, द्वावादेशौ, न चास्ति सम्भवः यदेकस्य स्थानिनो द्वावादेशौ स्याताम् ।

इहेदानीं—'मेद्यति मेद्यतः, मेद्यन्ति' इति द्वौ स्थानिनौ, एक आदेशः, न चास्ति सम्भवः—द्वयोः स्थानिनोरेक आदेशः स्यादित्येषोऽसम्भवः ।

प्रदीपः

नावश्यमिति । द्विकार्ययोगत्वाभावे केवलोऽप्यसंभवो विप्रतिषेध इत्यर्थः ॥ इह तावदिति । दीर्घत्वं च यञ्यनन्तरे विधीयते,एत्वं च झल्यनन्तरे । न च संभवोस्ति यद् द्वयोः स्वेन स्वेन निमित्तेनानन्तर्यं स्यात् ॥ इहेदानीमिति । मिदेरित्येका षष्ठी सा

उद्द्योतः

ननु द्विकार्ययोग इत्यस्य द्वाभ्यां कार्याभ्यामन्यस्य योग इत्यर्थः, उत द्वयोः परस्परेण योग इत्यर्थः । उभयथापि त्रिपदतत्पुरुषो दुर्लभः । कर्मधारयपूर्वपदकोपि न, 'दिक्सङ्ख्ये' इति नियमेन तस्य दुर्लभत्वादत आह—द्वाभ्यामित्यादि ।। अत्रापि पक्षे विप्रतिषेधशब्देन सामानाधिकरण्यानुपपत्तेराह—विप्रतिषेधेति ॥

द्विकार्ययोगेप्यसंभवसत्त्वादाह—केवलोपीति । ननु आ ए इति, ए आ इति वादेशसंभवोस्त्येवेत्यत आह—न चेति ॥ द्वयोरिति । कार्ययोरित्यर्थः । अनन्तरे यञि दीर्घः साधुरनन्तरे झलि एत्वं साधुरित्यर्थं इति भावः ॥ आद्गुण इत्यादौ द्वयोः

भावबोधिनी

दो कार्यों के योग वाला ही विप्रतिषेध है, ऐसा आवश्यक नहीं है [अर्थात् दो कार्यों की युगपत् प्राप्ति ही विप्रतिषेध नहीं होता है ।]

तो क्या होता है ?

असम्भव भी विप्रतिषेध होता है । और वह असम्भव यहाँ है ।

वह असम्भव कौन सा है ?

[असम्भव के उदाहरण देते हैं—] पहला यह है—वृक्षेभ्यः, प्लक्षेभ्यः । इनमें अकार एक स्थानी है और ["सुपि च" सूत्र से दीर्घ तथा "बहुवचने झल्येत्" सूत्र से एत्व—ये] दो आदेश = कार्य प्राप्त हैं । और यह सम्भव नहीं है कि किसी एक स्थानी के दो आदेश (कार्य) हों ।

सत्येतस्मिन्नसम्भवे युक्तो विप्रतिषेधः ॥

(विप्रतिषेधबाधकभाष्यम्)

एवमप्ययुक्तो विप्रतिषेधः । द्वयोर्हि सावकाशयोः समवस्थितयोर्विप्रतिषेधो भवति । अनवकाशश्चायं योगः ॥

(विप्रतिषेधसाधकभाष्यम्)

ननु च—इदानीमेवास्यावकाशः प्रक्लृप्तः—चयनं चायको लवनं लावक इति ॥

(विप्रतिषेधबाधकभाष्यम्)

अत्रापि नियमः प्राप्नोति । नाप्राप्ते नियमेऽयं योग आरभ्यते । यावता च नाप्राप्ते नियमेऽयं योग आरभ्यते, ततस्तस्यापवादोऽयं योगो भवति । उत्सर्गा-

प्रदीपः

यद्यवयवसंबद्धा तदेकारस्य गुणेन भाव्यम् । अथ स्थानषष्ठी तदालोऽन्त्यस्येति वचनाद् दकारस्य । न चास्ति संभवो युगपदुभयोर्गुणस्येत्यर्थः ॥

उद्द्योतः

स्थानिनोरेकादेशस्य संभवादाह—मिदेरिति ॥ नचास्ति संभवो युगपदिति । युगपद्वाक्यार्थद्वयबोधाभावादिति भावः ॥

भावबोधिनी

और [दूसरा उदाहरण यह है—] इस समय–मेद्यति, मेद्यतः, मेद्यन्ति—इनमें दो स्थानी हैं [क्योंकि 'इको गुणवृद्धी' से 'इ' और 'अलोऽन्त्यस्य' से द्]। किन्तु (गुण रूप) एक आदेश । और यह सम्भव नहीं है कि दो स्थानियों का एक आदेश हो—अतः यह असम्भव है । [इस पूर्वोक्तरीति से] ऐसा असम्भव रहने पर विप्रतिषेध ठीक ही है । [अतः विप्रतिषेध मान कर इष्ट 'इको गुणवृद्धी' की प्रवृत्ति हो जायगी ।]

ऐसा [उक्त असम्भव] होने पर भी विप्रतिषेध ठीक नहीं है । कारण यह है कि किन्हीं दो सावकाश (= अलग-अलग चरितार्थ) शास्त्रों का एक साथ कहीं प्राप्त होना ही विप्रतिषेध होता है । परन्तु यह 'इको गुणवृद्धी' शास्त्र तो अनवकाश है, कहीं अन्यत्र चरितार्थ ही नही है ।

क्यों जी, अभी तो इसका अवकाश दिखाया गया है—चयनम्, चायकः, लवनम्, लावकः । । [इनमें इक् का ही गुण और वृद्धि है ।]

इनमें भी तो नियम = 'अलोऽन्त्यस्य' की प्राप्ति है । इस 'अलोऽन्त्य' की अवश्य प्राप्ति रहते हीं प्रस्तुत सूत्र 'इको गुणवृद्धी' बनाया गया है और चूंकि 'अलोऽन्त्य' परिभाषा की अवश्य प्राप्ति रहते ही प्रस्तुत सूत्र बनाया गया है इस कारण यह सूत्र

वादयोश्चायुक्तो विप्रतिषेधः ॥

अथापि कथञ्चिद् "इको गुणवृद्धी" इत्यास्या वकाशः स्यात्। एवमपि यथेह विप्रतिषेधादिको गुणो भवति-मेद्यति मेद्यतः मेद्यन्ति, इति, एवमिहापि स्यात्—अनेनिजुः पर्यवेविषुरिति ॥

(इत्यसंबद्धपरिभाषापक्षनिरासाधिकरणम्)

(अथ सिद्धान्तभूतपदोपस्थितिपक्षनिरूपणम्)

प्रदीपः

एवमपीति। यदीदं नारभ्येत गुणवृद्धी कस्य स्याताम् ? अलोन्त्यस्येति चेत्, येन नाप्राप्तिन्यायेन तद्बाधस्यापवादत्वाद्विप्रतिषेधानुपपत्तिरित्यर्थः। एवं च क्रोष्टीयमतमसंबद्धपरिभाषान्तरपक्षश्च नोपपद्यते ॥

उद्द्योतः

ननु उक्तरीत्या प्रयोजनाभावादलोन्त्यस्याप्रवृत्तौ "अत्रापि नियमः प्राप्नोती"त्यसङ्गतमित्यत आह—यदीदमिति। एतदभावे संभवति सामानाधिकरण्ये वैयधिकरण्यस्यान्याय्यत्वात्सर्वत्राङ्गस्येति स्थानषष्ठ्येव। एते त्वस्मिन्नवयवषष्ठी सेति भावः ॥ अथापि कथंचिदिति भाष्यस्य उक्त एवाशयः ॥ क्रोष्टीयमतं=विप्रतिषेधः। असंबद्धपरिभाषापक्षश्च तदुपजीव्यः। तत्र विप्रतिषेधरहितोऽन्त्यस्त्वयुक्त एव। क्व संनिपातः क्वान्यतरत्यागः स च कस्येत्यत्र विनिगमकाभावेन सर्वेष्टासिद्धेः। तस्माद् द्वयमप्येकपक्षभूतमेव बोध्यम् ॥

भावबोधिनी

'अलोऽन्त्य' का अपवाद हो जाता है। [क्योंकि यह नियम है "येन नाप्राप्ते यो विधिरारम्यते स तस्य बाधको भवति।" अतः अलोऽन्त्य का अपवाद यह है।] और उत्सर्ग शास्त्र तथा अपवाद शास्त्र का विप्रतिषेध उचित नहीं है।

और यदि किसी प्रकार [निष्फलता के कारण चयनम्, चायकः आदि में 'अलोऽन्त्य' की प्रवृत्ति न मानने से इनमें] "इको गुणवृद्धी" इसका स्वतन्त्र अवकाश हो भी जाय, तो भी जिस प्रकार 'मेद्यति, मेद्यतः, मेद्यन्ति' में पूर्व विप्रतिषेध से इक् का ही गुण होता है, उसी प्रकार 'अनेनिजुः' पर्यवेविषुः' में भी [इक् का] गुण होने लगेगा। [इसके फलस्वरूप—अनेनेजुः, पर्यवेवेषुः ये अनिष्ट रूप प्रसक्त होंगे। इस कारण विप्रतिषेध मान कर इक् परिभाषा की बलवत्ता माननी ठीक नहीं है और न इसे सम्बद्ध परिभाषा मानना ही ठीक है।]

इक् पदोपस्थितिपक्ष का समर्थन

[अलोऽन्त्य के साथ और स्वतन्त्र अपवाद के रूपों में प्रस्तुत सूत्र की प्रवृत्ति उचित नहीं है। अतः अब सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत है—]

(सिद्धान्तिभाष्यम्)

एवं तर्हि—वृद्धिर्भवति गुणो भवतीति यत्र ब्रूयाद् 'इकः' इत्येतत्तत्रोपस्थितं द्रष्टव्यम् ॥

किं कृतं भवति ?

प्रदीपः

एवं तर्हीति । प्रदेशार्थत्वादनयोः परिभाषयोर्गुणत्वात्परस्परेण संबन्धाभावात्प्रदेश-वाक्यपर्यालोचनया वाक्यार्थस्यावस्थानमित्यर्थः ॥

उद्द्योतः

प्रदेशार्थत्वादिति । परस्परेण संबन्धाभावादित्यन्तेन तच्छेषत्वासंभव उक्तः । पदोपस्थितिपक्षे च विधेयसमर्पकत्वेन गृहीतगुणादिपदश्रुतिरस्या लिङ्गमित्येषान्तरङ्गा । तत्त्वेन ग्रहश्च प्रथमाया विधेयविभक्तित्वेन तदन्तत्वेन पदज्ञानकाल एव । तदुक्तं भाष्ये-गुणो भवतीति यत्रेत्यादि ॥ नियमस्तु स्थानषष्ठीलिङ्गक इति अवान्तरवाक्यार्थबोधोत्तर-कालिकत्वेन बहिरङ्गः ॥ एवं च मिदादावुपस्थितेक्परिभाषायाः सामानाधिकरण्या-संभवाद्वैयधिकरण्यान्वये वृत्ते निमित्ताभावादेवालोन्त्यस्येत्यस्यानुपस्थितिः । सार्वधातु-कार्धधातुकयोरित्यादौ सामानाधिकरण्यान्वयेऽलोन्त्यस्येत्यनेनान्त्यस्यादेशव्यवस्था ॥ एतेनैकस्या अप्रवृत्तौ अपरापि न प्रवर्तेतेत्यपास्तम् ॥ पर्यालोचनयेति । प्रदेशे सति संभवे परिभाषाद्वयैकवाक्यतया वाक्यार्थः । अन्यथा त्विक्परिभाषागर्भ एव अस्या अन्तरङ्ग-त्वादित्यर्थः ॥

भाष्ये—वृद्धिर्भवत्यादि । इति शब्दो यत्रेत्यर्थः ॥ इक इत्येवदिति । सूत्रे इक इति षष्ठ्यन्तानुकरणमित्यर्थः ॥ अनुवृत्तस्य स्वरूपपरत्वेन गुणशब्दो भवती-त्याद्यर्थः स्यादतः पुनरत्र गुणवृद्धिग्रहणम् । अनुवृत्तस्यार्थपरत्वं तु न, शब्दाधिकारा-पत्तेः । उभाभ्यां च गुणशब्दवान् गुणो यत्रेत्यादिरर्थस्तदुक्तमिति यत्रेत्यादि । गुणपदं यत्र वर्तते इत्याद्यर्थस्तु न, 'अतोगुण' इत्यादावव्याप्तेः । भवतिक्रियाया अन्तरङ्गत्वाच्च । अस्मादेव गुणवृद्धिग्रहणादत्र विधीयत इत्यस्य तदर्थकस्य भवतीत्यस्य वाध्याहार इति बोध्यम् । एतन्मूलकमेवानुवादे परिभाषा नोपतिष्ठते इति । अतएव तत्-एतद्विषयमेव, अचश्चेत्येतद्विषयमेव च । अचोञ्णितीत्यादौ तु वाक्यार्थबोधकाले श्रौताच्पदेनैवाकाङ्क्षा-शान्तौ लिङ्गोपस्थितस्य दुर्बलतयानन्वय इति दिक् ॥

भावबोधिनी

यदि ऐसा [पूर्वोक्त दोष] हैं तो—जहाँ सूत्रकार ऐसे कहें—'वृद्धि होती है 'गुण होता है' वहाँ 'इकः' 'इक् के स्थान में ही' इस षष्ठ्यन्त पद को उपस्थित देखना चाहिए । [अतः वृद्धि तथा गुण के विधायक सूत्रों में 'इकः' इस पद की उपस्थिति मान कर इक् के स्थान पर वृद्धि और गुण होते हैं, ऐसा अर्थ करना चाहिए ।]

द्वितीया षष्ठी प्रादुर्भाव्यते ॥ तत्र कामचारः—गृह्यमाणेन वेकं विशेषयितुम्, इका वा गृह्यमाणम् । यावता कामचारः, इह तावन्मिदिमृजिपुगन्तलघूपधर्च्छिदृशिक्षिप्रक्षुद्रेषु गृह्यमाणेनेकं विशेषयिष्यामः—एतेषां य इगिति । इहेदानीं जुसिसार्वधातुकार्धधातुकह्रस्वाद्योर्गुणेष्विका गृह्यमाणं विशेषयिष्यामः—एतेषां गुणो भवति 'इकः' इगन्तानामिति ॥

(तच्छेषपक्षोक्तदूषणनिराकरणभाष्यम्)

अथवा सर्वत्रैवात्र स्थानो निर्दिश्यते । इह तावन्मिदेरित्यविभक्तिको निर्देशः—मिद् एः मिदेरिति ॥ अथवा षष्ठीसमासो भविष्यति—मिद इः मिदिः

प्रदीपः

अथवेति । तच्छेषपक्षोक्तदोषपरिहारः ।

भावबोधिनी

इस (पदोपस्थिति) से क्या होता है ?

एक और षष्ठी = षष्ठचन्त 'इकः' पद प्रादुर्भूत करा दिया जाता है । इन (दोनों के विशेष्यविशेषणभाव) में कामचार (स्वतन्त्रता) है—सूत्र में 'गृह्यमाण पद से इक् को विशेषित करने के लिये अथवा इक् द्वारा गृह्यमाण को विशेषित करने के लिये । [भाव यह है 'मिदेर्गुणः' में 'गृह्यमाण षष्ठचन्त 'मिदेः' को विशेषण और 'इकः' को विशेष्य बना कर—मिद् रूप अङ्ग के अवयव इक् का गुण होता है । यहाँ 'अङ्गस्य' में अवयवार्थक षष्ठी है । जब गृह्यमाण विशेष्य और 'इकः' विशेषण होता है तब—अङ्गस्य' यह स्थानषष्ठी है—तदन्त-विधि है—इगंन्त अङ्ग का गुण होता है । इनसे सब इष्ट सिद्ध हो जाता है, क्योंकि आवश्यकतानुसार विशेष्य-विशेषणभाव मान लिया जाता है ।] चूंकि विशेष्य-विशेषणभाव में स्वतन्त्रता है, इसलिये—मिद्, मृज, पुगन्त, लघूपध, ऋच्छ, क्षिप्र और क्षुद्र के विषय में [सूत्रों में] गृह्यमाण के द्वारा इक् को विशेषित करेंगे—मिद् आदि का जो इक् [उसके गुण और वृद्धि होते हैं] । और 'जुसि च' सार्वधातुकार्धधातुक,ह्रस्वादि और 'ओर्गुणः=उकार के गुण-विधान में इक् से गृह्यमाण को विशेषित करेंगे—इनका गुण होता है, जो अङ्ग 'इकः' इगन्त है उन्हीं का । [इस प्रकार लक्ष्यानुसार इक् कहीं विशेषण बनता है और कहीं विशेष्य । इससे सभी लक्ष्यों की सिद्धि हो ही जाती है ।]

[चूंकि कामचार होने पर किसी पक्ष में नियम न होने से गौरव होता है । अतः दूसरा तर्क देते हैं—]

अथवा पूर्वोक्त इन सभी में स्थानी का निर्देश तो पहले से ही है । पहले मिद् को लीजिए—'मिदेर्गुणः' (७।३।८२) में 'मिदेः' यह अविभक्तिक (विभक्तिरहित) निर्देश है—मिद् एः =मिदेः—यह [मिद् के इकार का गुण होता है ।] अथवा

मिदेरिति ॥

पुगन्तलघूपधस्येति । नैवं विज्ञायते—पुगन्ताङ्गस्य लघूपधस्य चेति ॥

कथं तर्हि ?

पुकि अन्त पुगन्तः, लघ्वी उपधा लघूपधा, पुगन्तश्च लघूपधा च पुगन्तलघूपधम्, पुगन्तलघूपधस्येति । अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्, अङ्गविशेषणे सतीह प्रसज्येत—भिनत्ति छिनत्तीति ॥

ऋच्छेरपि प्रश्लिष्टनिर्देशोऽयम्—ऋच्छति ऋ ॠ ऋताम्="ऋच्छत्यॄताम्" इति ॥

उद्द्योतः

(पुकि अन्त इति)। सुप्सुपेति समासः। भिनत्तीत्यत्र गुणापादानं क्ङितीत्यस्य निमित्तसप्तमीत्वाद् । इकः सार्वधातुकार्धधातुकयोरिति विशेषणमिति तु न युक्तम् ।

भावबोधिनी

इसमें षष्ठी समास होगा—मिदः इः=मिदि, तस्य मिदेः, अर्थात् मिद् का इ, मिदि, उसका=मिद् के इकार का गुण होता है। [इस प्रकार इकार स्थानी के रूप में निर्दिष्ट है।]

पुगन्तलघूपधस्य च। [इसमें स्थानी निर्दिष्ट है क्योंकि] पुगन्त अङ्ग और लघु उपधावाले अङ्ग का गुण हो—ऐसा अर्थ नहीं समझा जाता है।

तो फिर कैसा है ?

पुक् (आगम) परे रहते जो अन्त अक्षर है वह पुगन्त है, लघु जो उपधा वह लघूपधा है। [इन दोनों का समाहार द्वन्द्व होता है—] पुगन्तश्च लघूपधा च—पुगन्तलघूपधम्। इसका षष्ठ्यन्त रूप है—पुगन्तलघूपधस्य। [इस प्रकार पुक् आगम परे रहते जो वर्ण पहले ही हो उसका और लघुभूत जो उपधा उसका गुण होता है। इससे कहीं अनुपपत्ति नहीं होगी।] और ऐसा व्याख्यान (विग्रह) अवश्य मानना चाहिए, क्योंकि लघूपध को अंग का विशेषण मानने पर (अर्थात् लघु उपधावाला जो अंग ऐसा करने पर)-भिनत्ति, छिनत्ति इनमें भी गुण प्रसक्त होगा। [क्योंकि लघु उपधावाला अंग यहाँ है।]

'ऋच्छ' का भी [स्थानी निर्दिष्ट है क्योंकि] प्रश्लिष्ट-निर्देश है—ऋच्छति ऋ ॠ ऋताम्। [ऋच्छ के ऋ का गुण होता है।]

दृशेरपि योगविभागः करिष्यते—"उरङि गुणः" उः अङि गुणो भवति। ततो "दृशेः"—दृशेश्चाङि गुणो भवति। उरित्येव॥

क्षिप्रक्षुद्रयोरपि "यणादिपरं गुणः" इतीयता सिद्धम्। सोऽयमेवं सिद्धे सति यत्पूर्वग्रहणं करोति तस्यैतत्प्रयोजनम्—इको यथा स्यादनिको मा भूदिति॥

प्रदीपः

क्षिप्रक्षुद्रयोरपीति। अत्र च योगविभागः क्रियते—स्थूलादीनां यणादिपरं लुप्यते, ततः-पूर्वस्य च गुण इति। अत्र च स्वरितत्वात् क्षिप्रक्षुद्रशब्दावेवानुवर्तेते, स्थूलादयो निवृत्ताः, तेषां तु यणादिलोपे सति ओर्गुण इति गुणो भवतीति। असिद्धवदत्राभादित्यसिद्धत्वमनित्यत्वान्न भवति। तत्र क्षिप्रक्षुद्रयोर्यण आदिः पकारो दकारश्च, तस्माद्यणादेः परं लुप्यते, तस्मादेव च यणादेः पूर्वस्य गुण इति सिद्धम्—क्षेपिष्ठः क्षोदिष्ठ इति॥ यणादिपरमिति पञ्चमीसमासः॥ यदि तर्हि पुगन्तलघूपधस्येति स्थानी निर्दिश्यते तच्छेषपक्षाश्रयणाच्चात्रेक्परिभाषा नोपतिष्ठते तदा तस्य गुणास्थानिग्लक्षणत्वाद् भिन्नं छिन्नमित्यादौ क्ङिति चेति गुणनिषेधो न प्राप्नोति।

उद्द्योतः

तस्याङ्गांशे उत्थिताकाङ्क्षात्वात्॥ भाष्ये यणादिपरं गुण इति। यणादिपरं लुप्यतेऽत्रशिष्टस्य गुण इत्यर्थेन क्षिप्रादेः सर्वदिशो गुणः सिद्धः। स्थूलादौ तु ओर्गुण इत्येव सिद्धमिति भावः॥ ननु पूर्वस्येत्युक्तावपि यणपेक्षादेः परमित्यर्थे पूर्वस्य गुण इत्यनेनापि तत एव पूर्वस्य गुणापत्तौ स्थूलादिषु थकारादेर्गुणः स्यात्। यणादिर्यस्य तद्रूपं परं लुप्यते ततः पूर्वस्य च गुण इत्यर्थे क्षिप्रक्षुद्रयोरन्त्यस्य व्यञ्जनस्य गुणः स्यादत आह—अत्र चेति॥ अनित्यत्वादिति। आसन्नित्यत्र लोपनिवृत्त्यर्थाच् श्नसोरल्लोप इति तपरकरणादित्यर्थः। तथा हि—अस् अन्तीति स्थिते परत्वादल्लोपे तस्यासिद्धत्वात्पुनः प्रसङ्गेनाटि विकारान्यानुपूर्व्यस्याभावेन लक्ष्ये लक्षणस्येति न्यायाप्राप्तौ प्राप्तलोपवारणार्थं तपरत्वमाटोऽसिद्धत्वे व्यर्थं सत्तदनित्यत्वे ज्ञापकम्। न चाटोप्यनापत्तिः, तत्रानित्यत्वे मानाभावात्। तस्मादेव चेति। पूर्वत्वस्यावध्याकाङ्क्षायां परत्वेऽवधित्वेन बलृप्तत्वादुपस्थितत्वाच्च तस्यैवावधित्वमिति भावः। तद्ध्वनयन्व्याचष्टे पञ्चमीसमास इति। सुप्सुपेत्यनेन। अवयवभूते यणादीत्यत्र समुदिते चेत्यर्थः। न चैवं ह्रस्वशब्दे रस्वशब्दस्यापि लोपापत्तिः, स्थूलादिसाहचर्येणोपान्त्ययणादेः परस्यैव लोपादित्याहुः पक्षाश्रयणाच्चेति।

भावबोधिनी

दृश् के [विषय में भी स्थानी निर्दिष्ट है —'ऋदृशोऽङि गुणः' (७।४।१६) का योग-विभाग किया जायगा—'उरङि गुणः' यह पहला योग (सूत्र) होगा, इसका अर्थ होगा—ऋकार का अङ् परे रहते गुण होता है।' इसके बाद दूसरा योग (सूत्र) बनाया जायगा—'दृशेश्च' इसका अर्थ होगा—अङ् परे रहते दृश् का भी गुण होता है। [पूर्वसूत्र से 'उः' की अनुवृत्ति होगी। इसलिए यह अर्थ होगा—]

"अङ् परे रहते दृश् का गुण होता है और वह उसके ऋ का ही होता है।"

["स्थूलदूरयुवक्षिप्र-क्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः" (६।४।१५६) इसमें]

(वृद्धिपदप्रयोजनाधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

अथ वृद्धिग्रहणं किमर्थम् ?

(प्रत्याक्षेपभाष्यम्)

किं विशेषेण वृद्धिग्रहणं चोद्यते न पुनर्गुणग्रहणमपि। यदि किंचिद्-गुणग्रहणस्य प्रयोजनमस्ति, वृद्धिग्रहणस्यापि तद्भवितुमर्हति। को वा विशेषः ?

प्रदीपः

यथा लैंगवायन इति ॥ नैष दोषः, क्रुसनोः कित्वविधानाज् ज्ञापकादनिग्लक्षणत्वेऽपि लघूपधगुणस्य प्रतिषेधो भविष्यति ॥

उद्द्योतः

परिभाषाणामनियमे नियमकारिणीत्वाच्चेत्यपि बोध्यम्। एवं क्ष्मापयति इत्यादौ पुगन्तेति गुणे उपधावृद्धिरिति न दोषः ॥ क्रुसनोरिति। एतत् 'क्ङितिचेति' सूत्रे उपपादयिष्यते ॥

भाष्ये शङ्कते—अथ वृद्धिग्रहणमिति।

भावबोधिनी

क्षिप्र और क्षुद्र का भी [स्थानी निर्दिष्ट है क्योंकि] 'यणादि परं गुणः' इस न्यास से भी सिद्ध था।। [अर्थात् क्षिप्र, क्षुद्र में यणादि परवर्ती भाग का लोप होकर गुण होने पर इष्ट रूप बन जाते] तब फिर जो 'पूर्वस्य' यह ग्रहण किया है इसका यह प्रयोजन है—इक् का ही गुण हो अनिक् (व्यञ्जन) का न हो। [यदि क्षिप्र + इष्ठन्, क्षुद्र + इष्ठन् में यणादि भाग परवर्ती र का लोप होने में—'क्षिप् + इष्ठ क्षुद् + इष्ठ में यण् से पूर्व का ही गुण होता तब भी 'पूर्वस्य' के ग्रहण का यही फल है कि यण् से पूर्व इक् का ही गुण होता है, अनिक् व्यञ्जन द्, प् का नहीं। अतः क्षेदिष्ठः यणादि=यण् है आदि में जिसके और क्षेपिष्ठः आदि बन जाते हैं।

इस प्रकार तच्छेषपक्ष में जो दोष पहले कहे गये थे, उन सभी का निराकरण हो जाता है।]

वृद्धिग्रहण का प्रयोजन

[इक् ग्रहण का प्रयोजन सिद्ध करने के बाद प्रश्न है—] अच्छा तो, वृद्धि का ग्रहण किसलिये है ?

वृद्धि के विषय में ही विशेष रूप से यह प्रश्न क्यों किया जा रहा है, गुण-ग्रहण के विषय में ऐसा क्यों नहीं पूछा जाता ! यदि गुणग्रहण का कोई प्रयोजन है तो वृद्धिग्रहण का भी वही प्रयोजन होगा। अथवा इस प्रश्न में कौन-सी विशेष बात है [जिसे जानने के लिए ऐसा प्रश्न कर रहे हो]।

(प्रत्याक्षेपसमाधानभाष्यम्)

अयमस्ति विशेषः। गुणविधौ न क्वचित्स्थानी निर्दिश्यते, तत्रावश्यं स्थानिनिर्देशार्थं गुणग्रहणं कर्तव्यम्। वृद्धिविधौ पुनः सर्वत्रैव स्थानी निर्दिश्यते "अचो ञ्णिति" "अत उपधायाः" "तद्धितेष्वचामादेरि"ति॥

(समाधानभाष्यम्)

अत उत्तरं पठति—

(११० सिद्धान्तिसमाधानवार्तिकप्रथमखण्डम्।। ६ ।।)

॥ * ॥ वृद्धिग्रहणमुत्तरार्थम् ।। * ॥

वृद्धिग्रहणं क्रियते॥

किमर्थम् ?

उत्तरार्थम्। "क्ङिति" इति प्रतिषेधं वक्ष्यति। स वृद्धेरपि यथा स्यात्॥

प्रदीपः

गुणविधाविति। क्वचिन्न निर्दिश्यत इति नञो व्यवहितेन संबन्धः। क्वचिन्निर्दिश्यत एव, ओर्गुण इत्यादौ।

उद्द्योतः

न क्वचित्स्थानी निर्दिश्यते इत्युक्त्या—सर्वत्रैव न निर्दिश्यते-इति प्रतीयते, क्वचिदादिपदप्राग्वर्तिनञः क्वचिदादिपदवोध्याधिकरणादौ सर्वत्राभावप्रतीतेर्व्युत्पत्तिसिद्धत्वात्, तच्चायुक्तमत आह—क्वचिदिति॥

भाष्ये सिद्धान्त्याह—वृद्धिग्रहणमुत्तरार्थमिति।

भावबोधिनी

यह अन्तर है—गुणविधि में कहीं-कहीं स्थानी का निर्देश नहीं भी है। अतः उसमें स्थानी (इक्) के निर्देश के लिये गुण का ग्रहण करना ही चाहिए परन्तु वृद्धि के विधान में सर्वत्र स्थानी का निर्देश किया गया है 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) 'अत उपधायाः'(७।२।११६) तद्धितेष्वचामादे : [प्रथम में 'अचः' दूसरे में 'अतः' तीसरे में 'अचामादेः' से स्थानी का स्पष्ट उल्लेख है। अतः 'इकः' की वृद्धि के लिये कोई आवश्यकता नही है।]

इस (वार्तिक) के बाद [वार्तिककार] उत्तर पढ़ते हैं—

(वा०) वृद्धि का ग्रहण उत्तर सूत्र [में अनुवृत्ति] के लिये है।

(भा०) [प्रस्तुत सूत्र में] वृद्धि का ग्रहण किया जाता है।

किसलिए ?

उत्तरवर्त्ती सूत्र [में अनुवृत्ति] के लिये। "क्ङिति च" (१।१।५) इससे [इग्लक्षण गुण और वृद्धि का] प्रतिषेध कहा जायगा। वह प्रतिषेध जिस प्रकार से वृद्धि का भी हो सके। [इसके लिए इस सूत्र में 'वृद्धि' का ग्रहण है। यदि 'वृद्धि' इसमें नहीं रहेगा तो कित् गित् ङित् परे इग्लक्षण वृद्धि का निषेध नहीं

(पूर्वपक्षिभाष्यम्)

कश्चेदानीं क्ङिति प्रत्ययेषु वृद्धेः प्रसङ्गः । यावता "ञ्णिति" इत्युच्यते ? ॥

(११० सिद्धान्तिसमाधानवार्तिकद्वितीयखण्डम् ॥ ७ ॥)

॥ * ॥ तच्च मृज्यर्थम् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

मृजेर्वृद्धिरविशेषेणोच्यते । सा क्ङिति मा भूत्—मृष्टः मृष्टवानिति ॥

(१११ सिद्धान्तिसमाधानान्तरवार्तिकम् ॥ ८ ॥)

॥ * ॥ इहार्थं चापि ॥ * ॥

(भाष्यम्)

(इहार्थं चापि) मृज्यर्थं वृद्धिग्रहणं कर्तव्यम् । मृजेर्वृद्धिरविशेषेणोच्यते । सेको यथा स्यात् अनिको मा भूदिति ॥

प्रदीपः

मृजेर्वृद्धिरिति । तत्र हि सूत्रेऽभिमतस्थान्यनुपादानादलोऽन्त्यपरिभाषयान्त्यस्यैव स्यादित्यर्थः ॥

उद्द्योतः

पूर्वपक्ष्याह—कश्चेत्यादि ॥

अविशेषेणोच्यते । सा क्ङितीति ॥ प्रत्ययविशेषानाश्रयणमत्राविशेषः ॥

उत्तरस्याविशेषेणेत्यस्य स्थानिविशेषानुच्चारणेनेत्यर्थः ॥ तदाह—तत्र हि सूत्र इति ॥

भावबोधिनी

परन्तु कित् ङित् प्रत्यय परे रहते वृद्धि का कौन सा प्रसङ्ग है क्योंकि वृद्धि की प्राप्ति तो ञित् और णित् प्रत्यय परे ही कही गई है ।

(वा०) वह वृद्धिग्रहण मृज् धातु क लिए है ।

(भा०) मृज धातु की वृद्धि सामान्य रूप से कही गई है, किसी प्रत्यय की अपेक्षा के बिना ही कही गयी है, वह वृद्धि कित् और ङित् प्रत्यय परे न हो—मृष्टः, मृष्टवान् । [मृज् + क्त, मृज् + क्तवत्]

(वा०) यहाँ के लिये = मृजि के लिये भी [यह वृद्धिग्रहण] है ।

(भा०) यहाँ के लिये भी = मृजि के लिये भी वृद्धि का ग्रहण करना चाहिए । क्योंकि 'मृजेर्वृद्धिः' (७।२।११४) यह मृज् की वृद्धि सामान्य रूप से ही कही जाती है अर्थात् इसमें किसी प्रत्यय-विशेष की आवश्यकता नहीं है, अतः यह वृद्धि इक् के स्थान पर ही हो, अनिक् = व्यञ्जन मृज् के ज् के स्थान पर न हो ।

(११२ अन्यथोपपत्तिवार्तिकम् ॥ ९ ॥)

॥ * ॥ मृज्यर्थमिति चेद्योगविभागात्सिद्धम् ॥ * ॥

(व्याख्याभाष्यम्)

मृज्यर्थमिति चेद्योगविभागः करिष्यते—"मृजेर्वृद्धिरचः" । ततः—"ञ्णिति" ञिति णिति च वृद्धिर्भवति 'अचः' इत्येव ॥

(अन्यथोपपत्तिबाधकभाष्यम्)

यद्यचो वृद्धिरुच्यते, 'न्यमार्ट्' अटोऽपि वृद्धिः प्राप्नोति ॥

(११२ अन्यथोपपत्तिसाधकशेषभाष्यम्)

॥ * ॥ अटि चोक्तम् ॥ * ॥

प्रदीपः

अटोपीति । नन्वडागमात्पूर्वमेव परत्वाद् वृद्धिर्भविष्यतीति, लक्षणस्य च प्रवृत्तत्वादटि कृते पुनर्लक्षणं न प्रवर्तिष्यते ॥ एवं तर्हि विप्रतिषेधानपेक्षयैवात्र चोद्यपरिहारावुक्तौ ॥

उद्द्योतः

अडागमात्पूर्वमिति । लादेशेषु कृतेष्वडिति पक्षे—इदम् ॥ अटि कृते इति । विकारान्यानुपूर्व्या भेदेन लक्ष्यभेदाच्चिन्त्यमिदम् । परत्वादित्यपि चिन्त्यं, द्वयोर्योगपद्यासम्भवात् ॥ एवं तर्हीति । लावस्थायामडिति पक्षे इति भावः ॥

भावबोधिनी

(वा०) मृज् के [इक् की वृद्धि] लिये यदि [वृद्धि का ग्रहण है तब तो] योगविभाग से सिद्ध हो जाता है ।

(भा०) यदि यह वृद्धिग्रहण मृज् के लिए है तब [आवश्यक नहीं है क्योंकि] योगविभाग किया जायगा—"मृजेर्वृद्धिरचः ।" इसके बाद 'ञ्णिति' यह होगा—ञित्, णित् परे वृद्धि होती है, अच् की ही वृद्धि होती है : ['मृजेर्वृद्धि' तथा 'अचो ञ्णिति' दोनों को मिला कर पहला सूत्र होगा—(१) मृजेर्वृद्धिरचः—मृज् धातु के अच् की वृद्धि होती है । इसके वाद (२) 'ञ्णिति' होगा इसमें 'अचः' की अनुवृत्ति होने से 'ञित् और णित् परे रहते अजन्त अंग की वृद्धि होती है—यह अर्थ होगा ।]

यदि [मृज् धातु के] अच् की वृद्धि कही जाती है तब तो 'न्यमार्ट्' इसमें अट् की भी वृद्धि प्राप्त होती है । [क्योंकि आगम आगमी का अवयव होने से लकार अवस्था में ही अट् हो जाने से अ भी मृज् का अच् हो जाता है, अतः उसकी भी वृद्धि प्राप्त होती है ।]

(भाष्यम्)

किमुक्तम् ?

'अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य कार्यं भवति' इति ॥

(११३ सिद्धान्तवार्तिकम् ॥ ११ ॥)

॥*। वृद्धिप्रतिषेधानुपपत्तिस्त्विक्प्रकरणात् [तस्मादिग्लक्षणा वृद्धिः]।*।

(भाष्यम्)

वृद्धेस्तु प्रतिषेधो नोपपद्यते ।

किं कारणम् ?

इक्प्रकरणात् । इग्लक्षणयोर्गुणवृद्धयोः प्रतिषेधः । न चैवं सति मृजेरिग्लक्षणा

उद्द्योतः

भाष्ये अनन्त्यविकारे इति । तथापि सिध्यतीत्यभिमानः ॥ सिद्धान्ते त्वन्यार्थमिग्ग्रहणे कृते तेनैवाटो व्यावृत्तिसिद्धौ सा नैतदर्थेति ष्यङ इति सूत्रे वक्ष्यत इति न विरोधः ॥

भावबोधिनी

(वा०) अट् के विषय में उत्तर कहा जा चुका है ।

(भा०) क्या कहा गया है ?

अनन्त्य के विकार = आदेश में अन्त्य के सदेश (समीप वाले) का कार्य होता है ।

विमर्श—इस परिभाषा का आशय यह है अनन्त्य, अन्त्य से भिन्न दो स्थानियों का कोई विकार = आदेश प्राप्त हो तो वह अन्त्य के सदेश = समीपवर्ती के स्थान पर ही होता है । इसलिये मृज् के अन्त्य ज् के समीपवर्त्ती ऋकार की ही वृद्धि होगी । इसके लिये इस सूत्र में 'वृद्धि' ग्रहण की आवश्यकता नहीं है ।

(१) वृद्धिग्रहणमुत्तरार्थम् (२) तच्च मृज्यर्थम्, (३) इहार्थं चापि, (४) मृज्यर्थमिति चेद्योगविभागात् सिद्धम्, (५) अटि चोक्तम् ये पाँच वाक्य वार्त्तिककार अथवा भाष्यकार के ही हैं—यह सन्दिग्ध है । भाष्यप्रदीपोद्द्योत के छाया टिप्पणीकार वैद्यनाथ पायगुण्डे ने कुछ वार्त्तिक और कुछ भाष्यवचन माने हैं । विवेचन के शैली से भाष्यवचन होने की सम्भावना अधिक है । परन्तु परम्परानुसार वार्त्तिक के रूप में ही यहाँ लिखे गये हैं ।

(अनु०-वा०) वृद्धि का प्रतिषेध उपपन्न नहीं होता है क्योंकि इक् का प्रकरण है ।

(भा०) वृद्धि का प्रतिषेध नहीं उपपन्न होता है ।

क्या कारण है ?

वृद्धिर्भवति । तस्मान्मृजेरिग्लक्षणा वृद्धिरेषितव्या ॥

(इक्परिभाषानुपस्थितिसूचकभाष्यम्)

एवं तर्हि—इहान्ये वैयाकरणा मृजेरजादौ संक्रमे विभाषा वृद्धिमारभन्ते—परिमृजन्तु परिमार्जन्तु परिममृजतुः परिममार्जतुरित्याद्यर्थम् ॥ तदिहापि साध्यम् । तस्मिन् साध्ये योगविभागः करिष्यते—"मृजेर्वृद्धिरचो" भवति ॥

ततः—"अचि क्ङिति" अजादौ च क्ङिति मृजेर्वृद्धिर्भवति । परिमार्जन्ति परिमार्जन्तु, परिममार्जतुः ॥

किमर्थमिदम् ?

उद्द्योतः

तस्मान्मृजेरिति । निषेधस्य सिद्धये योगविभागमकृत्वा स्थानिसमर्पणायास्या एवोपस्थितिरङ्गीकार्येति भावः ॥

संक्रम इति । गुणवृद्धिप्रतिषेधविषयक्ङितः प्राचां संज्ञा । "अचि" इत्येव

भावबोधिनी

इक् का प्रकरण है । ["क्ङिति च" इससे] इग्लक्षण = इक् के स्थान में होने वाली गुणवृद्धि का प्रतिषेध होता है । ऐसा होने पर [इक् परिभाषा में वृद्धि का ग्रहण न होने पर तथा योगविभाग से मृज् के अच् की वृद्धि मानने पर] मृज् की वृद्धि इग्लक्षण = इक् के स्थान पर होने वाली नहीं हो पाती है । [जब मृज् की वृद्धि इग्लक्षण नहीं होगी तो कित् ङित् में 'क्ङिति च' से निषेध भी नहीं हो सकेगा क्योंकि वह सभी वृद्धियों का निषेध नहीं करता है ।] इसलिये मृज् की भी इग्लक्षण वृद्धि माननी चाहिए । [इस कारण यहाँ वृद्धि का ग्रहण करके अगले सूत्र में इसकी अनुवृत्ति माननी आवश्यक है ।]

इक परिभाषा की उपस्थिति अनावश्यक

[यदि मृज् के विषय में पूर्वोक्त स्थिति है] तो फिर दूसरे वैयाकरण लोग यहाँ= मृज् के विषय में अजादि-संक्रम में [अर्थात् गुणवृद्धि-प्रतिषेधक अजादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहते] विकल्प से वृद्धि का विधान करते हैं—परिमृजन्ति, परिमार्जन्ति, परिममृजतुः, परिममार्जतुः—इत्यादि शब्द रूपों की सिद्धि के लिये ।

यह विकल्प यहाँ भी [इष्ट होने से पाणिनीय वैयाकरणों को भी] करना चाहिए । ऐसा करना आवश्यक होने पर योगविभाग करेंगे—'मृजेर्वृद्धिरचः' ऐसा । (मृज् के अच् की वृद्धि होती है ।) इसके बाद 'अचि क्ङिति' यह दूसरा सूत्र पढ़ेंगे—अजादि कित् ङित् परे रहते भी मृज् की वृद्धि होती है । [इससे ये रूप भी बन जायेंगे—] परिमार्जन्ति, परिमार्जन्तु, परिममार्जतुः ।

यह दूसरा सूत्र किस लिए हैं ?

नियमार्थम्, अजादावेव क्ङिति, नान्यत्र ॥

क्वान्यत्र मा भूत् ?

मृष्टः मृष्टवानिति ॥

ततो "वा" वाचि क्ङिति मृजेर्वृद्धिर्भवति। परिमृजन्ति परिमार्जन्ति परिममृजतुः परिममार्जतुरिति ॥

(इक्परिभाषोपस्थितिसूचकभाष्यम्)

इहार्थमेव तर्हि सिजर्थं वृद्धिग्रहणं कर्तव्यम्। सिचि वृद्धिरविशेषेणोच्यते सेको यथा स्याद्, अनिको मा भूदिति ॥

(इक्परिभाषानुपस्थितिभाष्यम्)

कस्य पुनरनिकः प्राप्नोति ?

उद्द्योतः

वचनम्। आदाविति तु तदादिपरिभाषालभ्यार्थानुवादः। अत एवाग्रे वक्ष्यति—ततोचि क्ङितीति। एवं च ममृजे यूयं ममृजेत्यादौ विकल्पो भवत्येव ॥ एतेनादिग्रहणसामर्थ्यान्मुख्याजादाध्वेव प्रवृत्तिस्तेन पूर्वोदाहृतेषु न वृद्धिरिति हरदत्तोक्तमपास्तम् ॥ तुन्दपरिमृज इत्यत्र यदि वृद्धयभाव इष्टस्तर्हि व्यवस्थितविभाषया नेति बोध्यम् ॥ अजादावेवेति। विपरीतनियमस्तु न। इष्टानुरोधात् ॥

उत्तरार्थत्वे खण्डिते सिद्धान्त्याह—इहार्थमेवेति। [सिचि वृद्धौ स्थानिविशेषानाश्रयणरूपोऽविशेषः।]

तत् खण्डयति पूर्वपक्षी—कस्य पुनरित्यादौ ॥

भावबोधिनी

यह नियमार्थ होगा—अजादि ही कित् ङित् प्रत्यय परे रहने पर वृद्धि हो, अन्य के परे रहने पर वृद्धि न हो। [इसमें विपरीत नियम नहीं माना जाता है।]

कहाँ अन्यत्र वृद्धि न हो ?

मृष्टः, मृष्टवान्। [मृज्+क्त, मृज् + क्तवतु में कित् तो है किन्तु अजादि नहीं है। अतः इनमें वृद्धि रोकने के लिए नियम की उपयोगिता है।]

इस द्वितीय योग के बाद तीसरा योग "वा" यह होगा। [इसमें 'अचि क्ङिति' की अनुवृत्ति होती है, अतः यह अर्थ होता है—] अजादि कित् ङित् परे रहते मृज् की विकल्प से वृद्धि होती है। [इससे वैकल्पिक रूप बन जाते हैं—] परिमृजन्ति, परिमार्जन्तु, परिममृजतुः परिममार्जतुः।]

[इससे यह सिद्ध होता है कि मृज के लिए वृद्धिग्रहण की आवश्यकता है।]

[जिस प्रकार मृज् के लिये वृद्धिग्रहण आवश्यक है वैसे ही] यहाँ के लिये भी= 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' (७।२।१) से विधीयमान वृद्धि के लिए वृद्धिग्रहण आवश्यक है। [यह भी इक्स्थानिक ही हो सके—इसके लिए 'वृद्धि' ग्रहण की आवश्यकता है।] सिच् परे रहते सामान्य रूप से [किसी स्थानिविशेष की अपेक्षा के विना] ही कही जाती है, यह वृद्धि इक् के स्थान पर ही हो सके, अनिक्=इग्भिन्न व्यञ्जन के स्थान पर न हो [इसके लिये इस सूत्र में वृद्धिग्रहण आवश्यक है।

(इक्परिभाषोपस्थितिभाष्यम्)

अकारस्य । अचिकीर्षीत्, अजिहीर्षीत् ॥

(इक्परिभाषानुपस्थितिभाष्यम्)

नैतदस्ति । लोपोऽत्र बाधका भविष्यति ॥

(इक्परिभाषोपस्थितिभाष्यम्)

आकारस्य तर्हि प्राप्नोति—अयासीत्, अवासीत् ॥

(इक्परिभाषानुपस्थितिभाष्यम्)

नास्त्यत्र विशेषः सत्यां वृद्धावसत्यां वा ।

प्रदीपः

अचिकीर्षीदिति । पूर्वविप्रतिषेधादतो लोपो यथा—चिकीर्षक इत्यादौ ॥

अयासीदीति । परत्वादत्र सगिटोः कृतयोरनन्त्यत्वादाकारस्य नास्ति वृद्धिप्रसङ्ग इति यद्यपि परिहारोऽस्ति, तथापि विशेषाभावेन परिहृतत्वान्नायमाश्रितः ॥

उद्द्योतः

पूर्वविप्रतिषेधेति ॥ ण्यल्लोपावियङ्ङित्यादिः ॥ चिकीर्षक इति । अन्यथा ह्यत्र परत्वाद्-वृद्धौ युकि चिकीर्षायिक इति स्यात् ॥

परत्वादत्रेति । अपवादत्वादित्यर्थः । परशब्द उत्कृष्टवाची ॥

भावबोधिनी

अच्छा यह बतलाइये यह वृद्धि किस अनिक् = इग्भिन्न को प्राप्त होती है ?

अकार को [प्राप्त होती है]—अचिकीर्षीत् अजिहीर्षीत् । [कृ, हृ—सन्नन्त के लुङ् के सिच् परे रहते रूप हैं । इनमें अ की वृद्धि प्राप्त है ।]

ऐसा नहीं है । इनमें तो [पूर्वविप्रतिषेध से] अकार का लोप [सिच्निमित्तक वृद्धि का] बाधक हो जायगा । ['अतो लोपः' से पहले अ का लोप ही होता है । अतः वृद्धि का प्रश्न नहीं है ।]

तो फिर आकार को [वृद्धि] प्राप्त होती है—अयासीत्, अवासीत् । [यहाँ लोप का प्रसंग नहीं है ।]

इन लक्ष्यों में वृद्धि होने या न होने पर कोई अन्तर नही आता है । [अतः निष्प्रयोजन होने से 'आ' की वृद्धि नहीं होती है ।]

(इक्परिभाषोपस्थितिभाष्यम्)

सन्ध्यक्षरस्य तर्हि प्राप्नोति ॥

(इक्परिभाषानुपस्थितिभाष्यम्)

नैव सन्ध्यक्षरमन्त्यमस्ति ॥

(इक्परिभाषोपस्थितिभाष्यम्)

ननु चेदमस्ति ढलोपे कृते—उदवोढाम्, उदवोढम्, उदवोढेति ॥

(इक्परिभाषानुपस्थितिभाष्यम्)

नैतदस्ति। असिद्धो ढलोपः। तस्यासिद्धत्वान्नैतदन्त्यं भवति ॥

प्रदीपः

उदवोढामिति। ढलोपादीनामसिद्धत्वात्पूर्वं हलन्तलक्षणा वृद्धिः ततो ढलोपादिषु कृतेषु ढलोपस्यासिद्धत्वादोकारस्य न भविष्यति ॥ गोशब्दादाचारक्विपि कृतेऽगवीदिति संध्यक्षरमन्त्यमस्ति तस्य कस्माद्वृद्धिर्न भवति। उच्यते–सिचि वृद्धिरित्यत्र धातुग्रहणमृत इद्धातोरित्यत्र औपदेशिकधातुग्रहणार्थमनुवर्तत इत्यदोषः ॥

उद्द्योतः

भाष्ये—नैव सन्ध्यक्षरमिति। वृद्धियोग्यमिति शेषः। उपदेश आत्वविधानादिति भावः ॥ अन्त्यमिति। अङ्गस्य वृद्धिरित्यर्थेऽलोन्त्यपरिभाषाप्रवृत्तेरिति भावः ॥

ढलोपस्यासिद्धत्वादिति। पूर्वं हलन्तलक्षणाया वृद्धेर्जातत्वेनेदानीं सिचि वृद्धिरित्यस्य प्राप्त्या लक्ष्ये लक्षणस्येत्यस्याप्रवृत्तिरिति भावः ॥ धातुग्रहणमिति। सिचा तदाक्षेपे सिद्धे इति भावः ॥ एवंच कव्यादिभ्य आचारक्विपि अकवायीदित्यादौ वृद्धिर्नेति लभ्यते ॥ माधवस्तु वृद्धि मनुते। बहुलं छन्दसीत्यतो बहुलग्रहणानुवृत्त्या सन्ध्यक्षरान्तनामधातौ वृद्धिर्न, अन्यत्र भवत्येवेति तदाशयः ॥ तेन सेशब्दादिभ्य आचारक्विपि न वृद्धिरित्यलम्। वस्तुतस्तु नैव सन्ध्यक्षरमिति। एवगर्भतद्भाष्यप्रामाण्येन सन्ध्यक्षरान्तेभ्य आचारक्विबेव नेत्याहुः ॥

भावबोधिनी

तो फिर सन्ध्यक्षरों (ए, ओ, ऐ, औ) की प्राप्त होती है।

कहीं भी सन्ध्यक्षर अन्त में नहीं रहता है। [क्योंकि 'आदेच उपदेशेऽशिति' यह सूत्र उपदेशावस्था में ही एच् का आत्व कर देता है। अतः सिच् परे रहते एच् पूर्व में होता ही नहीं है।]

क्यों जी, ढ् का लोप कर देने पर यहाँ तो सन्ध्यक्षर पूर्व में मिल जाता है— उदवोढाम्, उदवोढम्, उदवोढ। [उद् अवह् + सिच्ताम् आदि में सिच् लोप, ढत्व, धत्व, ष्टुत्व करने पर उद् अवढ् + ढाम् 'सहिवहोरोदवर्णस्य' से अवर्ण का ओत्व और ढ् लोप करने पर उद् अवो + ढाम् में ओ=सन्ध्यक्षर है, वृद्धि हो सकती है।]

यह भी नहीं है। क्योंकि ['ढो ढे लोपः' ८।३।१३ सूत्र से होने वाला] ढ लोप

(इक्परिभाषोपस्थितिभाष्यम्)

व्यञ्जनस्य तर्हि प्राप्नोति—अभैत्सीत् अच्छैत्सीत् ॥

(इक्परिभाषानुपस्थितिभाष्यम्)

हलन्तलक्षणा वृद्धिर्बाधिका भविष्यति ॥

(इक्परिभाषोपस्थितिभाष्यम्)

यत्र तर्हि सा प्रतिषिध्यते—"नेटि" (७।२।४) इति अकोषीद् अमोषीत् ॥

(इक्परिभाषानुपस्थितिभाष्यम्)

सिचिवृद्धेरप्येष प्रतिषेधः ॥

कथम् ?

लक्षणं हि नाम ध्वनति, भ्रमति मुहूर्तमपि नावतिष्ठते ॥

प्रदीपः

लक्षणं हीति । नेटीति लक्षणमविशेषेण वृद्धिमात्रस्य निषेधं कथयतीति ध्वनतीत्युच्यते । यो ह्यव्यक्तं कथयति स ध्वनतीत्युच्यते । एवमिहाप्यस्या एव वृद्धेर्निषेध इति नास्ति व्यक्तिः ॥ स्यादेतत्-प्रतिषेधस्यैकनिषेध्ये चरितार्थत्वात्पुनः प्रतिषेध्यान्तरे प्रवृत्तिर्न स्यादित्याह—भ्रमतीति । सर्वत्र व्याप्रियत इत्यर्थः । स्यादेतत्—यावदेक-

उद्द्योतः

हलन्तलक्षणा वृद्धिर्बाधिकेति । भाष्ये इग्ग्रहणाभावे येन नाप्राप्तिन्यायेनेति भावः ॥ इत्याहेति । इत्याशङ्कायामाहेत्यर्थः ॥

भावबोधिनी

असिद्ध हो जाता है [७।२।१ इस वृद्धिविधायक की दृष्टि में] । इस ढ् लोप के असिद्ध हो जाने से यह सन्ध्यक्षर=ओ अन्त्य नहीं रह पाता है । [अपि तु ढ् रहता है ।]

[इक् परिभाषा में इक् का ग्रहण न होने से फलतः वृद्धि सूत्र में इक् की उपस्थिति न होने से—] तो फिर व्यञ्जन की प्राप्त होती है-अभैत्सीत् । अच्छैत्सीत् ।

यहाँ तो हलन्तलक्षणा ('वदव्रजहलन्तस्याचः' ७।२।३ से विधीयमान) वृद्धि बाधक हो जायगी । [अतः वही होगी ।]

तो फिर जहाँ उस हलन्तलक्षणा वृद्धि का 'नेटि' (७।२।४) से प्रतिषेध होता है, जैसे--अकोषीत्, अमोषीत् । [इनमें हलन्तलक्षण वृद्धि का प्रतिषेध हो जाने पर व्यञ्जन की वृद्धि प्राप्त होती है । उसे रोकने के लिए इक् का सम्बन्ध करना चाहिए ।]

यह ['नेटि' से होने वाला] प्रतिषेध [हलन्तलक्षण वृद्धि का ही नहीं है अपितु] 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' का भी है ।

(इक्परिभाषानुपस्थितिभाष्यम्)

अथवा "सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु" इति सिचि वृद्धिः प्राप्नोति। तस्या हलन्तलक्षणा वृद्धिर्बाधिका। तस्या अपि "नेटि" इति प्रतिषेधः॥

(इक्परिभाषोपस्थापकभाष्यम्)

अस्ति पुनः क्वचिदन्यत्रापि अपवादे प्रतिषिद्धे उत्सर्गोऽपि न भवति ?

प्रदीपः

निषेधेऽस्य व्यापारस्तावदेव द्वितीयो विधिः प्रवृत्तः, प्रवृत्तस्य च निषेधोऽशक्यः कर्तुमित्याह—मुहूर्तमिति। उभयत्रापि व्यापारान्नैकत्र विश्राम्यतीत्यर्थः॥

तस्या अपीति। अपिशब्दात्सिचि वृद्धेरपि॥

उद्द्योतः

नैकत्रेति। बाध्यसामान्यचिन्तेयम्। नेटीत्यत्र हलन्तस्येत्यनुवर्त्य हलन्तस्य या वृद्धिः प्राप्ता सा सर्वापि नेत्यर्थः। तेनालावीदित्यादौ न दोष इति बोध्यम्।

बाध्यविशेषचिन्तायामाह—भाष्ये अथवेति। तद्व्याचष्टे—अपिशब्दादिति।

स्वप्रतिषेध्यहलन्तलक्षणवृद्धिप्रतिषेधद्वारा सुष्टावसरन्यायेन सिचि वृद्धेरप्यभावः प्रतिपाद्यते इत्यर्थस्तद्ध्वनयन्नाह—भाष्ये अस्ति पुनः क्वचिदित्यादि॥

भावबोधिनी

कैसे ?

लक्षण (=शास्त्र, सूत्र) अव्यक्त रूप से कथन करता है, (सभी लक्ष्यों में) घूमता है (उन्हें अपना विषय बनाता है), किसी भी लक्ष्य में क्षण भर के लिये नहीं रुकता है। [अतः 'नेटि' यह सर्वत्र लक्ष्यों में वृद्धि का प्रतिषेध करता ही है। अतः 'अकोषीत्' आदि में सिच्लक्षण या हलन्तलक्षण कोई भी वृद्धि सम्भव नहीं है।]

अथवा "सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु" (७।२।१) इससे सिच् परे रहते वृद्धि प्राप्त होती है। इस वृद्धि का प्रतिषेध 'हलन्तलक्षण वृद्धि करती है। इसका भी प्रतिषेध 'नेटि' (७।२।४) से होता है। [इसलिए व्यञ्जन की वृद्धि का प्रसंग ही नहीं। तब इक् की उपस्थिति मानने की कोई आवश्यकता नहीं है जिसके लिए 'वृद्धि' का ग्रहण किया जाय।]

अच्छा, तो यह बतलाइये क्या कहीं अन्यत्र भी अपवाद का प्रतिषेध हो जाने पर उत्सर्ग शास्त्र भी नहीं प्रवृत्त होता है। [जैसा आप यहाँ कहते हैं कि हलन्तलक्षण वृद्धि का प्रतिषेध हो जाने पर उत्सर्ग—'सिचि वृद्धि' भी नहीं होगी।]

(इक्परिभाषानुपस्थापकभाष्यम्)

अस्तीत्याह—सुजाते अश्वसूनृते,[1] अध्वर्यो अद्रिभिः सुतम्,[2] शुक्रं ते अन्यदिति[3]। पूर्वरूपे प्रतिषिद्धेऽयादयोऽपि न भवन्ति ॥

(प्रयोजनान्तरभाष्यम्)

उत्तरार्थमेव तर्हि सिजर्थं वृद्धिग्रहणं कर्तव्यम्। सिचि वृद्धिरविशेषेणोच्यते सा क्ङिति मा भूत्—न्यनुवीत्, न्यधुवीत् ॥

प्रदीपः

अस्तीत्याहेति। नान्तःपादमव्यपर इति पाठमाश्रित्यैवमुक्तम् ॥ यद्येवं वृक्षावित्यत्र नादिचीत्यनेन पूर्वसवर्णदीर्घवद् वृद्धेरपि निषेधप्रसङ्गः। नैष दोषः, संयोद्धावित्यादेर्ज्ञापकादनन्तरस्यैव नादिचीति निषेधात् ॥

उद्द्योतः

ननु तत्र प्रकृतिभावेन साक्षादेवोत्सर्गापवादयोर्निवृत्तिर्न त्वपवादेन बाधादुत्सर्गस्येत्यत आह—नान्त इति ॥ भाष्ये न भवन्तीति। भ्रष्टावसरन्यायेनेति भावः ॥ पूर्वसवर्णदीर्घवद्वृद्धेरपीति। अवर्णादिचि यद्यत्प्राप्तं तन्नेति बाध्यसामान्यचिन्तारूपाद्यपेक्षेणेयं शङ्का ॥ ज्ञापकाद्बाध्यविशेषचिन्तैवाश्रीयते इत्युत्तरम् ॥ पूर्वसवर्णदीर्घे निषिद्धे वृद्धेरपीति पाठे भ्रष्टावसरन्यायानित्यत्वेन क्वचिदपवादनिवृत्तावपि तद्विषये उत्सर्गप्रवृत्तिर्ज्ञाप्यते इति भावः ॥

परे त्वथवेति भाष्यं पूर्वपक्ष्युक्तित्वात्प्रौढ्या। भ्रष्टावसरन्यायस्तु नास्त्येवोक्तनिर्देशात्। अत एव नान्तः पादमिति सूत्रे एङोऽतीत्यनुवर्त्य एङोऽति यद्यत्प्राप्नोति तस्य निषेध इत्यर्थमाश्रित्य सर्वनिषेधकत्वं तस्योक्तमिति वदन्ति ॥

इहार्थत्वे पूर्वपक्षिणा द्वेधा प्रौढ्यापि खण्डिते सिद्धान्ती तदभ्युपेत्याप्याह—उत्तरार्थमेवेति ॥ नुधू धातू कुटादी ॥

भावबोधिनी

होता है। [अपवाद का प्रतिषेध होने पर उत्सर्ग की भी प्रवृत्ति नहीं होती है] जैसे—(१) सुजाते+अश्वसूनृते (२) अध्वर्यो + अद्रिभिः सुतम्, (३) शुक्रं ते+अन्यदिति। इनमें ['नान्तः पादमव्यपरे' सूत्र से विधीयमान प्रकृतिभाव द्वारा] पूर्वरूप का प्रतिषेध हो जाने पर ए, ओ के अय् अव् आदेश भी नहीं होते हैं। वैसे ही 'सिचि वृद्धिः' के अपवाद 'वदव्रजहलन्तस्याचः' का प्रतिषेध 'नेटि' से करने पर 'सिचि वृद्धिः' का भी प्रतिषेध हो ही जाता है। उसकी भी प्रवृत्ति नहीं होती है।]

तब तो उत्तर सूत्र ['क्ङिति च'] में 'अनुवृत्ति' के लिए ही होता हुआ वृद्धिग्रहण 'सिचिवृद्धिः' के लिए करना चाहिए। ['सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' से होने वाली वृद्धि इग्लक्षण हो सके और 'क्ङिति च' से उसका निषेध हो सके इसके लिए यहाँ 'वृद्धि' ग्रहण करना चाहिए।] कारण यह है कि 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इसमें

---

१. ऋ० ५।७९।१। २. ऋ० ९।५१।१। ३. ऋ० ६।५८।१।

(प्रयोजनान्तरनिराकरणभाष्यम्)

नैतदस्ति प्रयोजनम् । अन्तरङ्गत्वादत्रोवङादेशे कृतेऽनन्त्यत्वाद्वृद्धिर्न भविष्यति ॥

(सिद्धान्तिभाष्यम्)

यदि तर्हि सिच्यन्तरङ्गं भवति—'अकार्षीत्, अहार्षीत्, गुणे कृते रपरत्वे चानन्त्यत्वाद्वृद्धिर्न प्राप्नोति ॥

(पूर्वपक्षिभाष्यम्)

मा भूदेवम् । "हलन्तस्य–" इत्येवं भविष्यति ।

प्रदीपः

अन्तरङ्गत्वादिति । उवङादेशः सिचमेवापेक्षते, वृद्धिस्तु सिच्परस्मैपदे ॥

उद्द्योतः

भाष्ये—अनन्त्यत्वादिति । अचोऽनन्त्यत्वादित्यर्थः ॥ नन्विकपरिभाषाभावेऽन्त्याल्मात्रस्य सा प्राप्नोतीति अनन्त्यत्वादित्यसङ्गतमिति चेत् । न, हलन्तेषु हलन्तलक्षणया बाधेनास्या वृद्धेरजन्त एव व्यवस्थितेरित्याशयात् ॥

सिद्धान्त्याह—यदि तर्हीति ॥ अत्र यदीत्यनेनापवादत्वात्तद्विषयेऽन्तरङ्गप्रवृत्तिरेव वक्तुमशक्येति ध्वनितम् ॥ इत उत्तरग्रन्थस्तु सिद्धान्त्याशयानभिज्ञपूर्वपक्ष्येकदेशि-सिद्धान्त्येकदेशिनोरिति बोध्यम् ॥

भावबोधिनी

सामान्यरूप से ही [अर्थात् किसी प्रत्ययविशेष के परे नहीं] वृद्धि कही जाती है, वह वृद्धि कित्, ङित् परे न हो सके—न्यनुवीत्, न्यधुवीत् ।

[नि पूर्व 'णू स्तवने' तुदादिगणीय कुटादि धातु का लुङ् में रूप है : इसी प्रकार निपूर्व 'धू विधूनने' तुदादिगणीय कुटादि का लुङ में रूप है । "गाङ् कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्" (१।२।१) से ङिद्वत् हो जाने से वृद्धि का निषेध हो जाता है ।]

यह प्रयोजन नहीं है । क्योंकि अन्तरङ्ग होने से यहाँ पहले उवङ् आदेश ही होता है यह कर देने पर अन्त्य इक् न होने से वृद्धि नहीं होगी । [तब प्रतिषेध का प्रश्न ही नहीं है ।]

तो फिर यदि सिच् परे रहते अन्तरंग शास्त्र की प्रवृत्ति होती हो तो—अकार्षीत्, अहार्षीत् इनमें [अन्तरंग] गुण कर देने पर और रपर हो जाने पर अच् अन्त्य न होने से वृद्धि नहीं प्राप्त होगी । [इष्ट रूप नहीं बन सकेगा ।]

ऐसा न हो [कोई हानि नहीं है] क्योंकि 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इसी से वृद्धि हो जायगी । [अतः अकार्षीत् अहार्षीत् रूप बनने में बाधा नहीं है ।]

(दूषणभाष्यम्)

इह तर्हि—न्यस्तारीत् न्यदारीत्। गुणे कृते रपरत्वे चानन्त्यत्वाद्वृद्धिर्न प्राप्नोति। हलन्तलक्षणायाश्च "नेटि" (७।२।४) इति प्रतिषेधः॥

(दूषणनिराकरणभाष्यम्)

मा भूदेवम्। "लॄन्तस्य" (७।२।२) इत्येवं भविष्यति॥

(दूषणभाष्यम्)

इह तर्हि—अलावीत् अयावीत्। गुणे कृतेऽवादेशे चानन्त्याद्वृद्धिर्न प्राप्नोति। हलन्तलक्षणायाश्च "नेटि" इति प्रतिषेधः॥

(दूषणनिराकरणभाष्यम्)

मा भूदेवम्। "लॄन्तस्य" इत्येवं भविष्यति॥

(निराकरणबाधकभाष्यम्)

"लॄन्तस्य" इत्युच्यते, न चेदं लॄन्तम्॥

(निराकरणसाधकभाष्यम्)

"लॄन्तस्य" इत्यत्र वकारोऽपि निर्दिश्यते॥

भावबोधिनी

तो फिर इनमें—न्यस्तारीद्, न्यदारीत्[1]। [अन्तरङ्ग] गुण करने पर और रपर करने पर अच् के अन्त में न होने के कारण 'सिचि वृद्धिः' से वृद्धि नहीं प्राप्त होती है। और हलन्तलक्षणा वृद्धि का तो 'नेटि' से प्रतिषेध हो जाता है। [इसलिए किस प्रकार वृद्धि होगी ?]

ऐसा न हो अर्थात् पूर्वोक्त किसी सूत्र से वृद्धि न हो। [कोई हानि नहीं है क्योंकि] "अतो ल्रान्तस्य' (७।२।२) इससे वृद्धि हो जायगी।

तो फिर यहाँ—अलावीत्, अयावीत् में। इनमें [अन्तरङ्ग] गुण करने पर और अव् आदेश करने पर अन्त्य अच् न होने से ['सिचि वृद्धिः' से] वृद्धि नहीं प्राप्त होती है। और हलन्तलक्षणा वृद्धि का प्रतिषेध "नेटि" सूत्र से हो जाता है। [तब रूप कैसे बनेंगे ?]

ऐसा न हो [=पूर्वोक्त सूत्रों से वृद्धि न हो],'अतो ल्रान्तस्य' सूत्र से हो जायगी।

वह तो 'लकारान्त और रेफान्त की वृद्धि होती है' ऐसा कहा जाता है। और यह [अलावीत्, अयावीत् दोनों रूप] लकारान्त और रेफान्त नहीं है। [अव् आदेश हो जाने से वकारान्त हो जाते हैं।]

'लॄरान्तस्य' इसमें वकार का भी निर्देश है।

---

१. निपूर्वक 'स्तॄञ् आच्छादने का लुङ् में रूप है। और निपूर्वक 'दॄ विदारणे' का भी लुङ् में रूप है।

किं वकारो न श्रूयते ?

लुप्तनिर्दिष्टो वकारः ॥

(निराकरणबाधकभाष्यम्)

यद्येवम्—मा भवानवीत्, मा भवान् मवीद्—अत्रापि प्राप्नोति ॥

(निराकरणसाधकभाष्यम्)

अविमव्योर्नेति वक्ष्यामि ॥

प्रदीपः

लुप्तनिर्दिष्ट इति । लोपो व्योर्वलीति भावः ॥ किमत्र प्रमाणमिति चेदभियुक्तस्मरणमेव ॥

उद्द्योतः

लुप्तनिर्दिष्ट इत्यत्र पूर्वं निर्दिष्टः पश्चाल्लुप्त इत्यर्थे मयूरव्यंसकादित्वात्समासः । न च गुणे वार्णादाङ्गमिति न्यायेनावं बाधित्वा वृद्धौ आवादेशेऽलावीदित्यादेः सिद्धौ वप्रश्लेषो व्यर्थ इति वाच्यम् । सिचि वृद्धिरित्यस्यापवादत्वाज्ज्ञानेनेव एतत्परिभाषाऽज्ञानेनैवास्य प्रवृत्तेरदोषात् । न च वकारप्रश्लेषेऽशवीदशावीदिति शव धातोर्नित्यवृद्ध्यापत्तिः । अस्या एकदेश्युक्तित्वेन तदज्ञानेनैवास्य भाष्यस्य प्रवृत्तेः जिरिचिर्याद्यज्ञानवद् इत्याहुः ॥ एतद्भाष्यप्रामाण्यात्स धातुः पवर्गीयान्तो बवयोः समानश्रुतित्वाल्लोके दन्त्योष्ठ्यश्रुतिरित्यन्ये ॥

अवेराटि वृद्ध्यवृद्ध्योरविशेष इति आण्निवृत्तये भाष्ये माङ् प्रयुक्तः । एकादेशे पुनरप्यविशेषस्तदवस्थ इति भवानित्युक्तं मवौ तु प्रयोजनान्तरासत्त्वेऽप्यैकरूप्याय तत्प्रयोगः ॥

भावबोधिनी

तो वह वकार सुनाई क्यों नहीं देता ?

['लोपो व्योर्वलि' ६।१।६६ सूत्र से] लुप्त हुए वकार का निर्देश है । [अतः ल्, र्, व्—इनमें से कोई भी अन्त में होने पर वृद्धि होती है । अतः अलावीत्, अयावीत् में गुण, अवादेश के बाद भी वृद्धि सम्भव है । अतः यह भी फल नहीं हो सकता ।]

यदि ऐसा है अर्थात् वकारान्त की भी वृद्धि होना मानते हो तो—मा भवान् अवीत्, मा भवान् मवीत्—इनमें भी वृद्धि प्राप्त होती है । ['अव' रणार्थक और 'मव' बन्धनार्थक के लुङ् के रूप हैं । माङ् के योग में 'अट् आट्' नहीं होते हैं ।]

'अव् और मव् की वृद्धि नहीं होती हैं' ऐसा कहेंगे ।

(आक्षेपभाष्यम्)

तद्वक्तव्यम् ।

(समाधानबाधकभाष्यम्)

न वक्तव्यम् । 'णिश्विभ्यां तौ निमातव्यौ' ।

यद्यप्येनदुच्यते । अथवैतर्हि णिश्व्योः प्रतिषेधो न वक्तव्यो भवति । गुणे कृतेऽयादेशे च यान्तानां नेत्येव प्रतिषेधो भविष्यति ॥

(भाष्यम्)

एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—न सिच्यन्तरङ्गं भवति—इति । यदयम् "अतो हलादेर्लघोः" (७।२।७) इत्यकारग्रहणं करोति ॥

कथं कृत्वा ज्ञापकम् ?

प्रदीपः

णिश्विभ्यामिति । णिश्विग्रहणमकृत्वाऽयिमयौ प्रतिषेधार्थं वक्तव्यौ । एवं सति गौरवाभावः ॥ निमातव्याविति । मेङो रूपम् । परिवर्तनीयावित्यर्थः ॥

उद्द्योतः

अयिमव्योर्नेति निषेधश्च मव्येऽरवादन्यायेनातो ल्रान्तस्येत्यस्यैव । तेनातो हलादेरिति विकल्पो भवत्येवेति बोध्यम् । सिचि वृद्धिरिति सूत्रं तु अचैषीदित्यादौ गुणे कृते चरितार्थमेतन्मते इति बोध्यम् ॥

भावबोधिनी

तो क्या 'अयिमव्योर्न' यह कहना होगा ?

नहीं कहना होगा । [ह्मयन्तक्षण-श्वसजागृणिश्व्येदिताम्' (७।२।५) सूत्र में] "णि और श्वि के स्थान पर 'अय' तथा 'मव' को पढ़ दिया जायगा ।"

यद्यपि ऐसा कहा जाता है [तो भी कुछ गौरव नहीं है, परन्तु लाघव है] क्योंकि णि और श्वि [की वृद्धि] का प्रतिषेध नहीं करना पड़ता है । गुण करने पर और अयादेश करने पर 'यकारान्तों की वृद्धि नहीं होती है' इसी से प्रतिषेध हो जायगा । [णि = इ, तथा श्वि दोनों में इ का गुण ए, और अय् आदेश करते पर यकारान्त हो जाते हैं । उसी 'ह्मयन्त' सूत्र से ही यकारान्त का प्रतिषेध होने में लाघव है । अतिरिक्त वचनकल्पना गौरव नहीं है ।

यदि ऐसा है तो आचार्य पाणिनि की प्रवृत्ति सूचित करती है—'सिच् परे रहते पहले अन्तरङ्ग कार्य नहीं होता है । क्योंकि आचार्य 'अतो हलादेर्लघोः' (७।२।७) इस सूत्र में अकार का ग्रहण करते हैं ।

किस प्रकार से ज्ञापक होता है ?

अकारग्रहणस्यैतत्प्रयोजनम्। इह मा भूत्—अकोषीत् अमोषीत्। यदि सिच्यन्तरङ्गं स्याद् अकारग्रहणमनर्थकं स्याद्। गुणे कृतेऽलघुत्वाद्वृद्धिर्न भविष्यति। पश्यति त्वाचार्यो 'न सिच्यन्तरङ्गं भवति' इति। ततोऽकारग्रहणं करोति॥

(ज्ञापकनिराकरणभाष्यम्)

नैतदस्ति ज्ञापकम्। अस्त्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम्॥

किम्?

यत्र गुणः प्रतिषिध्यते तदर्थमेतत्स्यात्—न्यकुटीत् न्यपुटीत्॥

(ज्ञापकान्तरभाष्यम्)

यत्तर्हि णिश्व्योः प्रतिषेधं शास्ति। तेन 'नेहान्तरङ्गमस्ति' इति दर्शयति॥

(पूर्वोक्तज्ञापकस्थिरीकरणभाष्यम्)

यच्च करोत्यकारग्रहणं लघोरिति कृतेऽपि॥

उद्द्योतः

नैतदस्ति ज्ञापकमिति। न्यकुटीदित्यादावन्तरङ्गतया वृद्धिबाधकगुणस्य निषेधेऽपि भ्रष्टावसरन्यायेन न वृद्ध्यभावः। सिद्धान्ते न्यायाभावादिति भावः॥

भावबोधिनी

अकार-ग्रहण का यह प्रयोजन है—अकोषीत्, अमोषीत्—इनमें वृद्धि न हो। यदि सिच् परे अन्तरङ्ग कार्य पहले हो जाय तो अकार-ग्रहण अनर्थक हो जायगा, कारण यह है कि [उक्त उदाहरणों में] गुण कर देने पर लघु न रह जाने से वृद्धि नहीं होगी। [अतः इनके वारण के लिए अकार ('अतः') का ग्रहण व्यर्थ है।] किन्तु आचार्य यह देखते हैं—सिच् परे रहते पहले अन्तरङ्ग कार्य (गुणादि) नहीं होते हैं। [तब अकुष् + ईत् इस अवस्था में वृद्धि की सम्भावना है] इसलिए अकार का ग्रहण करते हैं।

यह पूर्वोक्त ज्ञापक नहीं है। इस (अकार) के कहने में दूसरा ही प्रयोजन है।

कौन सा [दूसरा प्रयोजन है] ?

'न्यकुटीत्, न्यपुटीत् [इन कुटादिगणीय धातुओं में] जिनमें ['क्ङिति च' से] गुण का प्रतिषेध हो जाता है, उनके लिए अर्थात् उनमें वृद्धि वारित करने के लिए 'अतः' (अकार) का ग्रहण है।

तो फिर आचार्य ['ह्म्यन्तक्षण' (७।२।५) सूत्र में] जो 'णि' और 'श्वि' धातुओं [की वृद्धि] का प्रतिषेध करते हैं। इसमें यह दिखाते हैं—'यहाँ अर्थात् सिच् परे रहते अन्तरङ्ग की प्रवृत्ति नहीं होती है।'

और 'अतो ह्लादेर्लघोः' (७।२।७) इस सूत्र में 'लघोः' इस पद का ग्रहण कर लेने पर भी [उसे विशेषित करने के लिये] जो 'अतः' (अकार) का ग्रहण करते हैं। [यह भी ज्ञापक है कि सिच् परे रहते अन्तरङ्ग की प्रवृत्ति नहीं होती है।

प्रदीपः

न सिचीति न्यायादप्येतत्सिद्धयति—येन नाप्राप्तिन्यायेनान्तरङ्गस्य वृद्धया बाधनात् । प्रयोजनं च चिरिजिर्योर्यङ्लुगन्तानां च नयत्यादीनामचिरायीद् अजिरायीद् अनेनायीद् अचेचायीद् इत्यादौ सिचि वृद्धिः । अन्यथा गुणायादेशयोः कृतयोर्यान्तत्वाद्वृद्धिप्रतिषेधः स्यात् ॥

उद्द्योतः

यत्तर्हि णिश्व्योरिति । ननु णिश्विस्थानेऽविमवी इति वदन्तं प्रति णिश्विप्रतिषेधस्य ज्ञापकत्वाभिधानमयुक्तमिति चेत् । न । ज्ञापत्वे संभवति निमानासंभव इत्याशयात् ॥

भावबोधिनी

विमर्श—'अतो हलादेर्लघोः' (७।२।७) इस सूत्र में "अतः"=अकार का ग्रहण और 'ह्यचन्तक्षण-श्वस-जागृ-णिश्व्येदिताम्' (७।२।५) इस सूत्र में णि=इ और श्वि की वृद्धि का प्रतिषेध करना—ये दोनों इस बात के ज्ञापक हैं कि सिच् परे रहते अन्तरङ्ग कार्य गुण पहले नहीं होता है।

यदि अन्तरङ्ग कार्य गुण पहले हो जाय तो इनके ग्रहण की आवश्यकता नहीं है, व्यर्थ हैं। कारण यह है कि 'औनयीत्' आदि णिजन्त में और 'श्वि' में इकार का गुण ए तथा अय् आदेश कर देने पर औनय्+सिच् आदि की स्थिति में यकारान्त हो जाने से ही वृद्धि की प्राप्ति ही नहीं होती है, तब उसके निषेध का प्रश्न ही नहीं उठता है। अतः 'णि' और 'श्वि' में वृद्धि का प्रतिषेध यह ज्ञापित करता है कि इनमें पहले अन्तरंग कार्य गुण नहीं होता है, वृद्धि ही प्राप्त होती है। उसके निषेध के लिए 'णिश्वि' का ग्रहण सार्थक है।

'अतो हलादेर्लघोः' में लघु के ग्रहण से ही अकोषीत् आदि में वृद्धिवारण हो सकता था क्योंकि गुण हो जाने पर लघु नहीं रह पाता। अतः 'अकार' ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं थी। वह व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि पहले गुण नहीं होता है। इसलिये 'अकुष् + सिच् + ति आदि में लघु उकार की वृद्धि सम्भव है वह न हो, केवल अकार की वृद्धि हो, और पहले वृद्धि हो—इसको ज्ञापित करने के लिए 'अतः' (अकार) का ग्रहण है।

अपावीत् अलावीत् आदि में भी पहले गुण नहीं होता है, अतः ओ का अव् आदेश मानकर वृद्धि के लिए 'अतो ल्रान्तस्य' में वकार के प्रश्लेष की भी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि पहले ही वृद्धि हो जाती है तब आवादेश होने पर रूप बन जाते हैं। इसी प्रकार मा भवान् अवीत्, मा भवान् मवीत् में वृद्धि का वारण करने लिए 'अविमव्योर्न' यह निषेध वचन और इस अपूर्ववचन कल्पना से बचने के लिए

(सिद्धान्तिवार्तिकोपसंहारखण्डम्)

॥ * ॥ तस्मादिग्लक्षणा वृद्धिः ॥ * ॥

उद्द्योतः

भाष्ये—यच्च करोतीति । इग्ग्रहणाभावेऽकोषीदित्यादौ व्यञ्जनस्य वृद्धिवारणाय बाध्यविशेषचिन्तापक्षे त्वया सिचिवृद्धयपवादहलन्तलक्षणाया निषेधे तेन न्यायेन सिचि वृद्धयप्राप्तेः स्वीकारेण त्वद्रीत्या ज्ञापकमेवेति भावः ॥ एतेन सिच्यन्तरङ्गाभावेऽपि परत्वाद् गुणस्य वृद्धिबाधकताया दुर्वारत्वेनाकोषीदित्यादौ लघुत्वाभावादेव वृद्धयभावेऽत इति व्यर्थमेवेत्यन्त्यं ज्ञापकमसङ्गतम् । तथा णिश्व्योर्गुणे वार्णपरिभाषयाऽऽदेशं बाधित्वा प्राप्तवृद्धेर्निषेधाय णिश्विग्रहणमप्यावश्यकमित्याद्यमप्यसङ्गतमित्यपास्तम् ॥ एकदेशयुक्तित्वेनादोषात् ॥ एतदेव ध्वनयन्—'यदि तर्हि' इति सिद्धान्त्युक्तौ यद्यन्तर्भाव-सूचितं ['कृतेऽस्य चारितार्थ्येऽपि स्वप्राप्तिकाले प्राप्तस्य येन नाप्राप्तिन्यायेन बाधः' इत्येतदाह—न्यायादपीत्यादि । बाध्यसामान्यचिन्तया च सकलान्तरङ्गबाध इति बोध्यम् । एवंच न ज्ञापकोपयोगः । नापि ज्ञापकसंभवो नापि प्रयोजनं, वार्णपरि-भाषयाऽचिरायीदित्यादौ गुणे कृतेऽयादेशात्पूर्वं वृद्धिप्राप्तेः । न वा वकारप्रश्लेषस्य फलं व्याप्यविमव्योः प्रतिषेधस्येति श्वधातौ वृद्धिविकल्प एवेति बोध्यम्] ॥

भावबोधिनी

'ह्म्यन्त' सूत्र में 'णि श्वि' के स्थान पर 'अविमव्योर्न' इसको पढ़ने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि 'अतो ल्रान्तस्य' में वकार का प्रश्लेष न होने पर इनमें वृद्धि की प्राप्ति ही नहीं है । अतः प्रतिषेध की कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं है ।

अब वृद्धि ग्रहण का निष्कर्ष प्रस्तुत किया जा रहा है कि न्यनुवीत्,न्यधुवीत्' आदि पूर्वोक्त लक्ष्यों में जब अन्तरङ्ग कार्य उवङ् की प्रवृत्ति पहले नहीं होगी तो उसे बाधकर वृद्धि प्राप्त होती है, इसका निषेध करने के लिये 'सिचि वृद्धिः' को इग्लक्षणा बनाना आवश्यक है । इसके लिए प्रस्तुत सूत्र में 'वृद्धि' का ग्रहण है, साथ ही कित्, ङित् प्रत्यय परे रहते इग्लक्षण गुण और वृद्धि का निषेध हो और 'अकोषीत्' आदि में व्यञ्जन की वृद्धि और गुण न हों—इन सभी के लिये इग्लक्षणा वृद्धि करनी आवश्यक है । इसीलिये सूत्र में वृद्धि का ग्रहण करना चाहिए—यही लिख रहे हैं—]

(वा०) 'इसलिये इग्लक्षणा वृद्धि [करनी] है ।

---

१. तस्मादिति । पूर्ववद् बुद्धिस्थाद् हेतोरित्यर्थः । यस्मात् 'अकोषीद्' इत्यादौ व्यञ्जनस्य सा प्राप्नोति, न्यनुवीदित्यादौ च प्राप्नोति—तस्मादित्यर्थः । यदि—यस्मात् सिच्यन्तरङ्गं न, तस्माद्—इत्यर्थं इष्टस्तर्हि 'तस्मादुत्तरार्थं वृद्धिग्रहणम्' इत्येवोपसंहृतं स्यात् ।··· ··· ··· ···इग् लक्षणं = स्थानी यस्याः सा वृद्धि-रिति स्वीकार्येत्यर्थः ॥ (छाया)

(भाष्यम्)

तस्मादिग्लक्षणा वृद्धिरास्थेया ॥

(इति पदोपस्थितिस्थापनाधिकरणम् ॥)

(अथ स्वतन्त्रविधित्वनिराकरणाधिकरणम्)

(११४ आक्षेपवार्तिकप्रथमखण्डम् ॥ १२ ॥)

॥ * ॥ षष्ठ्याः स्थानेयोगत्वादिग्निवृत्तिः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

षष्ठ्याः स्थानेयोगत्वात्सर्वेषामिकां निवृत्तिः प्राप्नोति । अस्यापि प्राप्नोति—दधि मधु ॥

प्रदीपः

षष्ठ्या इति । स्वतन्त्रमिदं गुणवृद्ध्योर्विधायकमिति पूर्वः पक्षः ॥

उद्द्योतः

एवं च न्यनुवोदित्यादौ उवङं बाधित्वा प्राप्ताया वृद्धेर्निषेधायेग्लक्षणा सिचिवृद्धिरास्थेयेत्युपसंहरति सिद्धान्ती—तस्मादिति भाष्ये । इग्लक्षणत्वेन निषेधायाकोषीदित्यादावनिको गुणव्यावृत्तये चेति भावः ॥ बाध्यसामान्यचिन्ता भ्रष्टावसरन्यायपचैकदेशयुक्तिर्न तु सिद्धान्तः ॥ अत एव न्यस्तारीदित्युपक्रम्य हलन्तलक्षणायाश्च नेटीति प्रतिषेध इत्युक्तमित्यलम् ॥

विधायकमिति । इको यणचीत्यादि तु स्वविषयेऽस्य बाधकमिति न तद्वैयर्थ्यरूपो दोषः ॥ भाष्ये—इङ्निवृत्तिरित्यस्य गुणवृद्धिरूपादेशेनेत्यादिः ॥

भावबोधिनी

(भा०) इन (पूर्वोक्त विमर्श में प्रतिपादित) हेतुओं से इग्लक्षणा वृद्धि माननी चाहिये । [इक् लक्षणम् = स्थानी यस्याः सा तादृशी वृद्धिः स्वीकार्या—यह शब्दार्थ है ।]

स्वतन्त्र विधिसूत्रत्व का निराकरण

(वा०) ['इको गुणवृद्धी' इस सूत्र में 'इकः' यह षष्ठी] स्थानषष्ठी है इसलिए इकों की निवृत्ति [प्राप्त होती है] ।

(भा०) [प्रस्तुत सूत्र में] 'इकः' इसमें प्रयुक्त षष्ठी स्थानेयोगा षष्ठी है इसलिए जो भी इक् हैं उन सभी की [गुण और वृद्धि रूपी आदेश से] निवृत्ति प्राप्त होती हैं । इन इकों की भी निवृत्ति प्राप्त होती है—दधि, मधु ।

(अस्य स्वतन्त्रत्वे दूषणभाष्यम्)

पुनर्वचनमिदानी किमर्थं स्यात् ?

(११४ स्वतन्त्रत्वे दूषणसमाधानवार्तिक २ यखण्डम् ॥१३॥)

॥ * ॥ अन्यतरार्थं पुनर्वचनम् ॥ * ॥

प्रदीपः

अन्यतरार्थमिति ॥ नन्वनिकोऽपि यथा स्यादिति विध्यर्थं स्यात्, न तु नियमार्थम्, नियमाद्विधेर्बलीयस्त्वात् ॥ एवं मन्यते—द्वितीयं गुणवृद्धिग्रहणमनुवर्तते, तेन गुणवृद्धि-प्रदेशेषु इक इत्यस्योपस्थानान्नास्त्यनिकः प्रसङ्गः ॥

उद्द्योतः

पुनर्वचनं 'मिदेर्गुण' इत्यादिरूपम् ॥

नियमाद्विधेरिति । प्राप्तबाधादिरूपदोषापत्त्या परिसंख्यारूपो नियमो गुरुरिति भावः ॥ द्वितीयमिति । केवलविधायकत्वेऽनुवृत्त्यैव सिद्धे इहत्यगुणवृद्धिग्रहणमनर्थकं स्यादिति भावः ॥ यातीत्यादिनिर्देशैर्गुरोरपि नियमस्याश्रयणमित्यन्ये ॥

भावबोधिनी

विमर्श—'इको गुणवृद्धी' में 'इकः' में षष्ठी है और कोई विशेष सम्बन्ध अर्थ निर्धारित नहीं है इसलिए 'षष्ठी स्थानेयोगा' (१।१।४९) की उपस्थिति होने से 'स्थाने' का लाभ होगा और इक् मात्र के स्थान पर 'गुण' और 'वृद्धि' ये आदेश इस सूत्र से होने लगेंगे । फलस्वरूप कहीं भी इक् नहीं रह सकेंगे, जैसे—दधि, मधु आदि के इ, उ = इक् के स्थान पर भी यह सूत्र 'गुण', 'वृद्धि' आदेश करने लगेगा । अतः जैसे यणादेश आदि से इक् की निवृत्ति हो जाती है, वैसे ही इन आदेशों से भी इक् हट जायेंगे अतः इस सूत्र को स्वतन्त्र विधि सूत्र मानना ठीक नहीं है ।

(अनु०) [यदि 'इको गुणवृद्धी' यह स्वतन्त्र विधि सूत्र है 'अनियमे नियम-कारित्वं परिभाषात्वम्' अर्थात् परिभाषा सूत्र नहीं है तब 'मिदेर्गुणः' "मृजेर्वृद्धिः" आदि सूत्रों से] पुनः गुण और वृद्धि का विधान किस लिए है ? [पुनर्विधान ही इसके स्वतन्त्र विधि-सूत्रत्व का निराकरण करते हैं ।]

(वा०) अन्यतर के लिए [मिदेर्गुणः' 'मृजेर्वृद्धिः' आदि] पुनर्वचन है ।[1]

---

१. अन्यतरार्थमिति । पर्यायेण सर्वत्र प्राप्तयोरनेन गुणवृद्ध्योस्तत्तन्निमित्तेऽन्यतरस्य निवृत्त्यर्थमिदम्—तत्र गुण एव न वृद्धिः, मृजेर्वृद्धिरेव न गुण— इत्येवमेक एव यथा स्यादन्यतमा भूदित्येतदर्थमित्यर्थः । (छाया)

(भाष्यम्)

अन्यतरार्थमेतत्स्यात्—सार्वधातुकार्धधातुकयोर्गुण एवेति ॥

(११५ आक्षेपवार्तिकप्रथमखण्डम् ॥ १४ ॥)

॥ * ॥ प्रसारणे च ॥ * ॥

(भाष्यम्)

प्रसारणे च सर्वेषां यणां निवृत्तिः प्राप्नोति। अस्यापि प्राप्नोति–याता वाता ॥

(स्वातन्त्र्ये दूषणभाष्यम्)

पुनर्वचनमिदानीं किमर्थं स्यात् ?

प्रदीपः

प्रसारणे चेति। तुल्यन्यायत्वादुपन्यासः। इग्यण इत्यत्र इति स्थानषष्ठी। तेन यणः स्थान इग्भवति, स च संप्रसारणसंज्ञ इति वाक्यार्थः स्यात्। वाक्यभेदेन च कार्यद्वयं विधीयते ॥

उद्द्योतः

तुल्यन्यायेति। षष्ठीदर्शनरूपो न्यायः ॥ वाक्यभेदेनेति। ष्यङः संप्रसारणमित्यादिनिर्वाहाय सामान्येन संज्ञाविधानार्थं वाक्यभेद आवश्यक इति भावः ॥

भावबोधिनी

(भा०) अन्यतर=गुण और वृद्धि दोनों में से किसी एक को करने के लिये पुनः विधान किया गया है—सार्वधातुक तथा आर्धधातुक परे रहते गुण ही हो [वृद्धि न हो]। [इस सूत्र से सामान्यतया दोनों की प्राप्ति होने पर जिसका निमित्त हो वही गुण हो या वृद्धि हो, दूसरा न हो—इसी के लिये पुनर्विधान किये गये हैं। वे व्यर्थ नहीं हैं।]

(वा०) और सम्प्रसारण में भी [सभी यणों की निवृत्ति प्राप्त होती है।]

(भा०) प्रसारण=सम्प्रसारण में भी सभी यणों की निवृत्ति प्राप्त होती है। याता, वाता—इनके यणों की भी। ['इग्यणः सम्प्रसारणम्' १।१।४५ में यणः की स्थानषष्ठी होने से यण् मात्र के स्थान पर इक् होने लगेगा जिससे कहीं भी यण् नहीं रहेंगे। जैसे यहाँ षष्ठी से इक् की निवृत्ति होकर गुण और वृद्धि होंगे वैसे ही सभी यण् के इक् होंगे और उनकी संप्रसारण संज्ञा होगी। यह दोष होगा।]

अब [जब 'इग्यणः' सूत्र ही यण् मात्र का इक् कर देगा। तब "वचिस्वपियजादीनां किति" ६।१।१५ आदि सूत्रों से] पुनर्विधान किस लिये होगा, उनका क्या प्रयोजन माना जायगा ?

(११५ स्वातन्त्र्ये दूषणनिराकरणवार्तिक २ यखण्डम् ॥१५॥)

॥ * ॥ विषयार्थं पुनर्वचनम् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

विषयार्थमेतत्स्यात्—वचिस्वपियजादीनां कित्येवेति ॥

(११६ आक्षेपवार्तिकम् ॥ १६ ॥)

॥ * ॥ उरण् रपरे च ॥ * ॥

(भाष्यम्)

उरण् रपरे च सर्वेषामृकाराणां निवृत्तिः प्राप्नोति । अस्यापि प्राप्नोत—कर्तृ हर्तृ ॥

(११७ सर्वाक्षेपनिराकरणसिद्धान्तवार्तिकम् ॥ १७ ॥)

॥*॥ सिद्धं तु षष्ठ्यधिकारे वचनात् ॥*॥

(भाष्यम्)

सिद्धमेतत् ॥

प्रदीपः

कर्तृ हर्तृ इति । अन्तरतमस्याभावात्सर्वेऽप्यणः पर्यायेण प्राप्नुवन्ति ॥

सिद्धमिति । स्वातन्त्र्यमेषां निवर्तयति । तेन यत्र षष्ठी तत्रैषामुपस्थानम् । अङ्गस्य

उद्द्योतः

विषयार्थमित्यस्य निमित्तनियमार्थमित्यर्थः ॥

भावबोधिनी

(वा०) विषय=निमित्त के [नियम के लिये] पुनर्वचन हो सकता है ।

(भा०) ['वचिस्वपि०' आदि सूत्रों से जो यण् के स्थान पर इक् सम्प्रसारण किया गया है वह] पुनर्वचन विषय=निमित्त के नियम के लिये हो सकता है। [—वचिस्वपि और यजादि धातुओं का सम्प्रसारण कित् प्रत्यय परे ही हो; अकित् परे न हो—इस नियम के लिये पुनर्वचन चरितार्थ है ।]

(वा०) 'उरण् रपरः' (१।१।५१) सूत्र में भी [ऋकारमात्र की निवृत्ति प्राप्त होगी ।]

(भा०) और 'उरण् रपरः' इस सूत्र में भी सभी ऋकारों की निवृत्ति प्राप्त होगी । इसकी भी प्राप्त होती है—कर्तृ, हर्तृ । [उः अण् रपरः—यहाँ ऋ का षष्ठ्यन्त 'उः' है और स्थानषष्ठी है । अतः ऋ के स्थान पर अण् हो, वह रपर हो—यही अर्थ होगा । अतः सदृशतम का अभाव होने से ऋ के स्थान पर सभी अण् पर्याय से प्राप्त होंगे । ऋ कहीं नहीं रह सकेगा ।]

(वा०) षष्ठी के अधिकार में पढ़ने से [इष्ट] सिद्ध हो जाते हैं ।

(भा०) यह (पूर्वोक्त सभी शंकाओं का समाधान) सिद्ध हो जाता है ।

कथम् ?

षष्ठ्यधिकारे इमे योगा कर्तव्याः। एकस्तावत् क्रियते तत्रैव। इमावपि योगौ षष्ठ्यधिकारमनुवर्तिष्येते ॥

(भाष्यम्)

अथवा—षष्ठ्यधिकारे इमौ योगावपेक्षिष्यामहे ॥

प्रदीपः

वाच्यादीनामृत इद्धातोरित्यादौ ॥ इमावपीति। स्वरितत्वादनयोरन्तरालवर्तिभिश्चायोग्यत्वात्संबन्धाभावः ॥

अथवेति। षष्ठीस्थानेयोगेत्यत्र योगविभागः करिष्यते—"षष्ठी" इति,यदेतदनुक्रान्तं

उद्द्योतः

गुणादिविधावपि अधिकारलब्धा षष्ठीत्याह—अङ्गस्येति। तत्रोरण् रपर इत्यत्र षष्ठीत्यनुवर्त्यं पूर्वोक्तार्थः सुलभः। एतयोरपि तत्रानुवृत्त्या षष्ठीति संबन्धेन तदर्थलाभः॥ तत्रानुवर्त्तनं यदि लौकिकोधिकारस्तर्हि स आकाङ्क्षानिबन्धनः। न च षष्ठीस्थान इत्यस्याकाङ्क्षेत्यत आह—स्वरितत्वादिति ॥ लक्ष्यानुरोधाच्चेत्यपि बोध्यम् ॥

षष्ठीति। योगविभागे च षष्ठीति सूत्रं साकाङ्क्षमिति लौकिकोऽपेक्षालक्षणोऽधिकार

भावबोधिनी

कैसे ?

'षष्ठी स्थानेयोगा' (१।१।४९) से आरम्भ होने वाले षष्ठ्यधिकार में ये उक्त तीनों सूत्र (इको गुणवृद्धी (१।१।३) इग्यणः सम्प्रसारणम् (१।१।४५) 'उरण् रपरः' (१।१।५१) पढ़ने चाहिए। इनमें से एक ('उरण् रपरः') सूत्र तो पढ़ा ही गया है। शेष दोनों सूत्र ('इको गुणवृद्धी' 'इग्यणः सम्प्रसारणम्') भी षष्ठ्यधिकार के अन्तर्गत कर लिए जायेंगे।

अथवा-षष्ठी के अधिकार में उक्त दोनों की अपेक्षा (आकाङ्क्षावश सम्बन्ध) करेंगे।

विमर्श—'इको गुणवृद्धी', 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' और 'उरण् रपरः' इन तीनों सूत्रों को 'षष्ठी स्थानेयोगा' (१।१।४९) के अधिकार में करना चाहिए। इससे यह होगा कि जहाँ षष्ठी रहेंगी वहाँ इन सूत्रों की भी उपस्थिति होगी। इसके आधार पर उक्त सूत्रों के अर्थ इस प्रकार होंगे—

(१) जहाँ स्थाननिर्दिष्ट (स्थानषष्ठी से निर्दिष्ट) के स्थान में गुणवृद्धि शब्दों से गुणवृद्धि का विधान होता है वहाँ 'इकः' यह षष्ठ्यन्त पद उपस्थित होता है। यह 'इको गुणवृद्धी' का अर्थ होगा।

(समाधानान्तरभाष्यम्)

अथवेदं तावदयं प्रष्टव्यः—"सार्वधातुकार्धधातुकयोर्गुणो भवति" इतीह कस्मान्न भवति—याता वाता ? इदं तत्रापेक्षिष्यते—"इको गुणवृद्धी" इति ॥

प्रदीपः

तद्, यत्र षष्ठी, तत्रोपतिष्ठत इत्यर्थः । तत्र योग्यत्वादनयोरेवापेक्षा नान्येषाम् । ततः—"स्थानेयोगा" इति, षष्ठीत्येतदुपतिष्ठते ॥

अथवेति । अन्यतरार्थं पुनरिति वदताऽवश्यमेवं संबन्धः कर्तव्यो—'यत्र गुणवृद्धि-शब्दोच्चारणेन गुणवृद्धी विधीयेते तत्रेक इति उपतिष्ठते' इति । अन्यथा याता वातेत्यादिषु

उद्द्योतः

इति भावः ॥ योग्यत्वादिति । व्याख्यानाच्चेत्यपि बोध्यम् ॥ उपतिष्ठत इति । अनुवर्तत इत्यर्थः ॥

अन्यतरार्थमिति । केवले विधित्वे पुनर्गुणवृद्धिग्रहणवैयर्थ्यमुक्तमेव ॥ न तु वाक्य-

भावबोधिनी

(२) 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' का यह अर्थ होगा—जहाँ स्थाननिर्दिष्ट (स्थानषष्ठी से निर्दिष्ट) के स्थान में सम्प्रसारण किया जाता है वहाँ 'इकः' यह उपस्थित होता है ।

(३) "उरण् रपरः" इसका यह अर्थ होगा—स्थानषष्ठी से निर्दिष्ट ऋ के स्थान में जहाँ अण् किया जाता है वहाँ 'रपरः' यह पद उपस्थित होता है ।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त तीनों सूत्र स्वतन्त्र रूप से उन कार्यों के विधायक नहीं है अपितु उन उन विधि सूत्रों ("वचिस्वपि, "सार्वधातुकमार्ध०" आदि) में उक्त तत्तद् पदों के उपस्थापक हैं ।

सम्प्रसारण संज्ञा की सिद्धि तो अर्थापत्तिमूलक द्वितीय वाक्य से हो जाती है । यह पक्ष शास्त्रीय अधिकार मान कर है । आगे लौकिक अधिकार मानकर उपपादन किया जाता है ।

'षष्ठी स्थानेयोगा' (१।१।४९) में 'षष्ठी' यह एक योग होगा । इस पद को सम्बन्धी की आकांक्षा होती है इसलिये योग्य होने से तथा व्याख्यान के आधार पर उक्त दोनों सूत्रों 'इको गुणवृद्धी' और 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' की अनुवृत्ति = उपस्थिति होती है । इस प्रकार से भी उपर्युक्त पदोपस्थिति पक्ष बन जाता है । इसलिए स्वतन्त्रविधि नहीं माना जा सकता ।

(अनु०) अथवा इस (स्वतन्त्र विधि मानने वाले) से यह पूछना चाहिए—"सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते गुण होता है ।' इत्यर्थक "सार्वधातुकार्ध-

यथैव तर्हि इदं तत्रापेक्षिष्यते, एवमिहापि तदपेक्षिष्यामहे "सार्वधातुकार्धधातु-कयोः" इति ॥ इको गुणवृद्धी ॥ ३ ॥

॥ इति श्रीमद्भगवत्पतञ्जलिविरचिते महाभाष्ये प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमे पादे तृतीयमाह्निकम् ॥ ३ ॥

प्रदीपः

विध्यर्थत्वे संभवति कथमन्यतरार्थं पुनर्वचनं स्यादित्युच्यते। अवश्यकर्तव्यायां चापेक्षायामेकवाक्यतयैवापेक्षास्तु। तेनैकरूप एवार्थो, न तु वाक्यभेदेन स्वातन्त्र्यं पारतन्त्र्यं च ॥ तदपेक्षिष्यामह इति। अस्य स्वातन्त्र्यं निरसितुमित्यर्थः ॥ ३ ॥

॥ इत्युपाध्यायजैयटपुत्रकैयटकृते महाभाष्यप्रदीपे प्रथमाध्यायप्रथमपादे तृतीयमाह्निकम् ॥ ३ ॥

उद्द्योतः

भेदेनेति। एकवाक्यत्वे सम्भवति तस्यायुक्तत्वमिति भावः। एतेनेग्यण इत्यपि व्याख्यातम्। तत्रापि संज्ञाविधाने इगनुवाद्यः। अनुवाद्यत्वं च ष्यङः सम्प्रसारण-मित्यादीनां सार्थक्यायावश्यकम्। एवं चैकरूप्यायानुवाद्यत्वमेवास्तु। न तु विधेयत्वं वचिस्वपीत्यादीनां नियामकत्वापादकमिति बोध्यम् ॥ तदपेक्षिष्यामह इति। एवं च यथा विधेः स्थान्याकाङ्क्षा, तथास्यापि स्वसम्बन्धिविधेयबोधकशास्त्रापेक्षेति

भावबोधिनी

धातुकयोः" (७।३।८४) सूत्र से जो गुण होता है वह—याता, वाता—इनमें क्यों नहीं होता है ?[स्वतन्त्र विधि के समर्थक का यही उत्तर होगा—] उस गुणविधायक सूत्र में इस 'इको गुणवृद्धी' सूत्र की अपेक्षा की जायगी। [सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्ययों के परे गुण किसका किया जाय ? इस अपेक्षा में 'इको गुणवृद्धी' उपस्थित होकर इक् के ही स्थान पर गुण करेगा।]

तो फिर जैसे इस 'इको गुणवृद्धी' सूत्र की 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' में अपेक्षा होती है, वहाँ इसका सम्बन्ध किया जाता है वैसे ही यहाँ 'इको गुणवृद्धी' सूत्र में "सार्वधातुकार्धधातुकयोः" इसकी अपेक्षा करेंगे, इसका सम्बन्ध करके ही अर्थ करेंगे।

विमर्श—जैसे विधिसूत्र को स्थानी की अपेक्षा=आकाङ्क्षा होती है और उसे पूरी करने के लिये 'इको गुणवृद्धी' सूत्र का सम्बन्ध "सार्वधातुकार्धधातुकयोः" आदि में करना अनिवार्य है। ठीक इसी प्रकार इस 'इको गुणवृद्धी' परिभाषा सूत्र को भी अपने सम्बन्धी विधेय की 'आकाङ्क्षा' होने पर उस विधेय के बोधक "सार्वधातु-

उद्द्योतः

एकवाक्यतैवेति भावः ॥ एवं च स्वातन्त्र्यं दूरापास्तमेव । तदाह—अस्येति । 'आवृत्तौ तु न मानमिति शिवम् ॥ ३ ॥

॥ इति श्रीशिवभट्टसुत-सतीगर्भज-नागोजी(नागेश)भट्टकृते
भाष्यप्रदीपोद्द्योते प्रथमाध्यायस्य प्रथमे पादे तृतीयमाह्निकम् ॥

भावबोधिनी

कार्धधातुकयोः" आदि का सम्बन्ध होना अनिवार्य है। इस प्रकार दोनों की एकवाक्यता करके ही निर्वाह सम्भव है। अतः यह स्वतन्त्र विधि नहीं माना जा सकता।

**॥ इस प्रकार श्रीमद्भगवान् पतञ्जलि द्वारा विरचित महाभाष्य में
प्रथम अध्याय के प्रथमपाद में तृतीय आह्निक समाप्त हुआ ॥**

**॥ इस प्रकार जयशङ्करलाल त्रिपाठि-विरचित 'भावबोधिनी'
हिन्दी-व्याख्या में महाभाष्य के प्रथम अध्याय के प्रथम
पाद में तृतीय आह्निक समाप्त हुआ ॥**

---

१. नन्वावृत्त्या द्वितीयोऽर्थोऽत आह—आवृत्तौ त्विति। वस्तुतस्तु—अस्य विध्यर्थतावादिना पुनर्वचनस्यान्यतरार्थत्वमुक्ताशयेनैवोक्तम्, न तु कैयटोक्तरीत्येति। अत्रान्यतरार्थमित्यादिरीत्या भाष्यव्याख्यानं चिन्त्यम्। भाष्यस्य तु—अस्य विधित्वेऽपि तस्याविधित्वस्य निर्विवादत्वाद्विधिनियमसंभवे विधेरेव ज्यायस्त्वयात्तत्र दोषप्रसङ्गापादनरूपप्रतिबन्दीद्वारा तन्मुखेन निर्णयोऽत्राकङ्क्षया मिथ इति तात्पर्यं स्पष्टमेवेति शिवम् ॥ छाया ॥

प्रथमाध्याये प्रथमपादे चतुर्थमाह्निकम्

(३ परिभाषासूत्रम् ॥ १ । १ । ४ आ० १ सू०)

न धातुलोप आर्धधातुके ॥१।१।४॥

प्रदीपः

न धातुलोप आर्धधातुके ॥ ४ ॥ गुणवृद्ध्योः प्राधान्यादयं निषेधो, न तु तद्गुणभावादिक्परिभाषायाः । दीधीवेवीटामिति चासम्बद्धं परिभाषाया निषेधे स्यात् ॥ कृत्स्नस्य धातोर्लोपे गुणवृद्धिप्रसङ्गाभावादनर्थको निषेधः स्यादिति सामर्थ्याद्धात्वेक-

उद्द्योतः

न धातु ०॥४॥ प्राधान्यादिति । प्राधान्यं च संस्कार्यत्वरूपम् ॥ असम्बद्धमिति । अलोन्त्यस्येत्यनेनापि इक एव प्रसक्तया परिभाषानिषेधे वैयर्थ्यम् ॥ कृत्स्नस्येति । दुरीणो लोपश्चेति ॑रक्संनियोगेन॰ कृत्स्नधातुलोपोऽस्तीति तदसम्भवो नोक्तः ॥ अथवेति ।

भावबोधिनी

नत्वा गणेशमीशानं शारदां पितरौ गुरून् ।
चतुर्थमाह्निकं भाष्ये व्याचष्टे 'जयशङ्करः' ॥

अब प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में चतुर्थ आह्निक प्रारम्भ होता है—

धातु [के अंश] के लोप में [निमित्त भूत] आर्धधातुक (प्रत्यय) परे रहते [उस आर्धधातुक को निमित्त मानकर होने वाले गुण और वृद्धि इक् के स्थान पर] नहीं होते हैं ।

विमर्श—यद्यपि इस सूत्र से अव्यवहित पूर्ववर्ती सूत्र 'इको गुणवृद्धी' है अतः 'न = निषेध' का सम्बन्ध इसी के साथ करना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता है क्योंकि प्रधानता के कारण गुण तथा वृद्धि के साथ ही 'न' का सम्बन्ध किया जाता है क्योंकि ये ही प्रधान हैं । 'इको गुणवृद्धी' परिभाषा गुणभूत है । अतः—'गुण नहीं होता है' 'वृद्धि नहीं होती है' यही मुख्य अर्थ है ।

सम्पूर्ण धातु का लोप कर देने पर गुण और वृद्धि का प्रसंग ही समाप्त हो जाता है, तब इनका निषेध करना अनर्थक है । अतः यहाँ 'धातु' का तात्पर्य धात्वंश में है । धातु के अंश = अवयव का लोप होने पर गुण तथा वृद्धि का निषेध होता है । उस आर्धधातुक को लोप तथा गुणवृद्धि दोनों में निमित्त होना चाहिए । अतः जिस

(पदकृत्यनिर्वचनाधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

धातुग्रहणं किमर्थम् ?

(समाधानभाष्यम्)

इह—मा भूत्-लूञ्—लविता लवितुम्, पूञ्—पविता पवितुम् ॥

प्रदीपः

देशलोपोऽत्र धातुलोपोऽभिमतोऽवयवक्रिययापि समुदायस्य व्यपदेशदर्शनात् । यथा पटो दग्ध इति । अथवा समुदायशब्दोऽवयवे तद्रूपारोपाद्वर्तते ॥

धातुग्रहणमिति । उपसर्जनस्यापि यथा परामर्शस्तथा केषां शब्दानामित्यत्र प्रतिपादितम् ॥ विनापि धातुग्रहणेन लोपविशेषणमार्धधातुकग्रहणं विज्ञास्यते । अनुबन्धलोपस्य चानैमित्तिकत्वाल्लवितेति गुणनिषेधो न भविष्यतीति प्रश्नः ॥

उद्द्योतः

आद्यपक्षे अवयवधर्मस्य समुदाये आरोपोऽन्त्ये समुदायधर्मस्य प्रवृत्तिनिमित्तस्य अवयवे आरोपितत्वमिति भेदः ॥

परामर्शः = शब्देन पृथगुपादानम् ॥ प्रतिपादितमिति । बुद्ध्या पृथङ्निष्कर्षादिति भावः ॥ लोपविशेषणमिति । सूत्रे श्रुतत्वादिति भावः ॥

भावबोधिनी

आर्धधातुक प्रत्यय को मानकर धात्ववयव का लोप किया गया है उसी आर्धधातुक को मान कर होने वाले गुण-वृद्धि का निषेध होता है । यह आगे 'आर्धधातुक' ग्रहण के भाष्य में स्पष्ट किया जायगा ।

(अनु०) धातु का ग्रहण किस लिये है ? अर्थात् धात्ववयव के लोप में—इस कथन का प्रयोजन क्या है ?

इनमें [निषेध] न होने लग जाय—-लूञ्-लविता, लवितुम् । पूञ्-पविता,पवितुम् ।

विमर्श—लूञ् पूञ्–इन धातुओं के ञ् की इत्संज्ञा, लोप होता है । वास्तव में अनुबन्ध- रहित 'लू'; 'पू' की ही धातु संज्ञा होती है । अतः ञ् धात्ववयव नहीं माना जाता है, उसका लोप होने पर भी धातुलोप नहीं है, गुणनिषेध नहीं होता है । यदि धातुग्रहण नहीं रहता तो लोपमात्र में गुणवृद्धि का निषेध होने से इनमें भी गुण नहीं हो पाता ।

यद्यपि 'गुण-वृद्धि' शब्द सूत्र में श्रुत नहीं है तथापि निषेध के विषय होने से इनकी प्रधानता है । लोप निषेध का विशेषण बनता है । इस कारण 'आर्धधातुक' भी गुणवृद्धि का ही विशेषण बनेगा, लोप का नहीं । इस स्थिति में सूत्र का यह अर्थ होगा—'लोप रहने पर आर्धधातुक-निमित्तक इक्स्थानिक गुण और वृद्धि नहीं होते हैं ।' धातुग्रहण के अभाव में 'लविता, लवितुम्' आदि में निषेध प्राप्त ही होगा । उसे रोकने के लिये धातुग्रहण की आवश्यकता है ।

(आक्षेपभाष्यम्)

आर्धधातुक इति किमर्थम् ?

(समाधानभाष्यम्)

'त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति' (ऋ० सं० ४।५८।३) ॥

प्रदीपः

सिद्धान्ते तु गुणवृद्धिविशेषणमार्धधातुकग्रहणमित्यभिप्रायः ॥ अनुबन्धो न धात्वेकदेशो, यस्मादुपदेश एवेत्संज्ञा । प्रयोगे तु लूशब्द एव धातुसंज्ञः । केवलमसौ ञित्कार्यं लभते । लूशब्दस्यैव हि क्रियावाचित्वमिति तस्यैव धातुसंज्ञा युक्ता ॥

रोरवीतीति । सत्यार्धधातुकग्रहणे शब्दवत्त्वादन्यपदार्थस्य बहुव्रीहिरसन्दिग्धो भवति नान्यथा ॥ क्रमेण सूत्रप्रत्याख्यानायार्धधातुकस्य च लोपविशेषणत्वे धातुग्रहणानर्थक्य-

उद्द्योतः

सिद्धान्ते त्विति । निषेध्यत्वेन गुणवृद्धयोः शब्दप्राधान्याल्लोपस्य तद्विशेषणत्वादिति भावः ॥ न च लोपशब्दोधिकरणघञन्तः, अदर्शनं लोप इत्यादौ भावसाधनस्यैव प्रसिद्धत्वात् ॥ गणे सानुबन्धस्य पाठाद् विशिष्टस्यैव धातुत्वं स्यादत आह—अनुबन्ध इति । यस्मादिति ॥ उपदेशपदाभावेऽपि अन्तरङ्गत्वात्सर्वतः पूर्वं सा । धातुसंज्ञा तु प्रत्ययविशेषे विधित्सित इति भावः ॥ धातुसंज्ञेत्संज्ञयोः समकालत्वेऽपि न क्षतिरित्याह—लूशब्दस्यैवेति । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तस्यैव क्रियावाचित्वावगमात् । गणपठितक्रियावाचिनां च धातुत्वविधानादिति भावः ॥

रोरवीतीति । यङ्लुगन्तस्य रूपम् ॥ शब्दवत्त्वात् शब्देनोपादानात् ॥ नान्यथेति । अन्यथाऽन्तरङ्गत्वात्तत्पुरुष एव स्यादित्यर्थः ॥ ननु पदप्रयोजनचिन्ता वृत्तिकारस्यो-

भावबोधिनी

(अनु०) 'आर्धधातुके' यह किस लिये है ?

'तीन स्थानों पर बँधा हुआ शब्दरूपी वृषभ' बार-बार शब्द करता है, कहता है।' [यहाँ 'रोरवीति' में भी निषेध होने लगेगा ।]

विमर्श—प्रश्न का अभिप्राय यह है कि 'धातुलोपे' में बहुव्रीहि है—धातोः लोपः यस्मिन् तस्मिन् ।' जिस निमित्त के परे रहते धातु के अंश का लोप हो उसके परे रहते गुण वृद्धि नही होते हैं । 'रु' धातु से पौनः पुन्य अर्थ में यङ् और 'यङोऽचि च' सूत्र से अनैमित्तिक यङ् लोप होकर प्रत्ययलक्षण से द्वित्व, अभ्यासकार्य आदि होने पर 'रोरवीति' बनता है । यहाँ यङ् का लुक्=लोप किसी निमित्त के परे रहते नहीं होता है । तब गुणनिषेध की प्राप्ति नहीं है । तब 'आर्धधातुके' ग्रहण का क्या फल है ?

उत्तर यह है कि सूत्र में 'आर्धधातुके' रहने पर ही बहुव्रीहि असन्दिग्ध रूप से होना सम्भव है । यदि 'आर्धधातुके' यह नहीं रहता तब 'धातुलोपे' इसमें षष्ठीतत्पुरुष

(अथार्धधातुकपदार्थान्वयविचाराधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

किं पुनरिदमार्धधातुकग्रहणं लोपविशेषणम्—'आर्धधातुकनिमित्ते लोपे सति ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवतः'।

आहोस्विद्—गुणवृद्धिविशेषणमार्धधातुकग्रहणम्—'धातुलोपे सत्यार्धधातुकनिमित्ते ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवतः' इति ?

प्रदीपः

प्रतिपादनाय प्रत्युदाहरणोपन्यासः ॥

किं पुनरिति। आर्धधातुकग्रहणं लोपविशेषणं वा, गुणवृद्धिविशेषणं वा, बहुव्रीहिपक्षे तूभयविशेषणं वेति पक्षत्रयसम्भवात् प्रश्नः ॥

उद्द्योतः

चिता, न भाष्यकारस्येत्यत आह—क्रमेणेति। तत्तत्पदप्रयोजनखण्डनक्रमेणेत्यर्थः ॥ क्रममेवाह—आर्धधातुकस्य चेति ॥

लोपविशेषणम्। श्रुतत्वात् ॥ गुणादिविशेषणम्। प्राधान्यात्। तत्र लोपविशेषणत्वे 'आर्धधातुके परे पूर्वस्य धात्वंशस्य लोपे' इति वाच्योऽर्थस्तत्फलितमुक्तम्—भाष्ये आर्धधातुकनिमित्ते लोप इति। एवं गुणवृद्धिविशेषणत्वे 'आर्धधातुके परे प्रत्यासत्त्या पूर्वस्य धातोर्ये गुणवृद्धी' इति वाच्योऽर्थः। अनुवादेऽपि 'इको गुणवृद्धी' 'अचश्चेति' परिभाषातिरिक्तपरिभाषाणां प्रवृत्तिस्वीकारात्। तत्फलितमुक्तम्—आर्धधातुकनिमित्ते ये इति। प्राप्नुत इत्यनेन प्रसक्तस्यैव निषेध इति सूचयति ॥ बहुव्रीहीति। उभयानुग्रहायेति भावः ॥ यद्यपि धातुलोप इति समस्तमार्धधातुकविशेषणं तथापि विशेषणशब्दः परिच्छेदकपर इति न दोषः ॥

भावबोधिनी

हैं या बहुव्रीहि ? यह शंका रहेगी ही। और लाघव के कारण तत्पुरुष मानना पड़ेगा जिससे सूत्र का यही अर्थ होगा—धात्वंश का लोप रहने पर गुण-वृद्धि नहीं होते हैं। इससे 'रोरवीति' में गुणनिषेध होने लगेगा क्योंकि 'रु+यङ्' की धातुसंज्ञा होने से यङ् धात्ववयव ही है। 'आर्धधातुके' रहने पर यह दोष नहीं है क्योंकि 'धातुलोपे' में बहुव्रीहि संभव हो जाने से अनैमित्तक लोप रहने पर भी गुण-वृद्धि निषेध नहीं होता है।

(अनु०) क्या (१) यह 'आर्धधातुके' ग्रहण 'लोपे' का विशेषण है–'आर्धधातुकनिमित्तक लोप होने पर जो गुण-वृद्धि प्राप्त होते हैं वे नहीं होते हैं।'

अथवा (२) आर्धधातुक-ग्रहण गुण-वृद्धि का विशेषण है—'धात्वंश का लोप रहने पर आर्धधातुक निमित्तक जो गुणवृद्धि प्राप्त होते हैं वे नहीं होते हैं ?

(विशेषप्रश्नभाष्यम्)

किं चातः ?

(विशेषदर्शनभाष्यम्)

यदि लोपविशेषणम्—'उपेद्धः, प्रेद्धः' अत्रापि प्राप्नोति ।

अथ गुणवृद्धिविशेषणम्—'क्नोपयति' अत्रापि प्राप्नोति ॥

(उभयेष्टापत्तिभाष्यम्)

यथेच्छसि तथास्तु ॥

भावबोधिनी

[(३) एक तीसरा पक्ष यह भी हो सकता है 'आर्धधातुके' ग्रहण दोनों का विशेषण हो—आर्धधातुक-निमित्तक धात्वंश का लोप रहने पर आर्धधातुकनिमित्तक इक्स्थानिक गुण-वृद्धि नहीं होते हैं ।]

इन [पक्षों] से क्या [अन्तर आता है] ?

यदि [आर्धधातुक] लोप का विशेषण होता है तो—'उपेद्धः, प्रेद्धः'—इनमें भी [निषेध] प्राप्त होता है । [कारण यह है कि उपपूर्वक अथवा प्रपूर्वक 'इन्धी दीप्तौ' धातु से क्त प्रत्यय कित् होने से 'अनिदितां हलः' (८।४।२४) से न् का लोप उप+इध् त, प्र+इध् त, त् का ध्, जश्त्व करने के बाद 'आद्‌गुणः' (६।१।८७) से दोनों के स्थान पर गुण रूप एकादेश प्राप्त होता है । अब नहीं प्राप्त हो सकेगा क्योंकि आर्धधातुकनिमित्तक न् लोप हुआ है । अतः गुणवृद्धि का विशेषण 'आर्धधातुके' ग्रहण मानना चाहिए ।]

यदि गुण-वृद्धि का विशेषण 'आर्धधातुके' ग्रहण माना जायगा तब—'क्नोपयति' इसमें भी गुणनिषेध प्राप्त होगा । [क्योंकि 'क्नूयी' धातु से 'हेतुमति च' (३।१।२६) से णिच्, 'अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुङ्णौ' (६।३।३४) से पुक्=प् आगम करने करने पर 'लोपो व्योर्वलि (६।१।६६) से य् लोप के बाद 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७।३।८६) से उपधागुण होकर -- क्नोपि+लट् आदि में 'क्नोपयति' रूप होता है । यहाँ णिच् रूप आर्धधातुक को निमित्त मानकर उपधागुण होता है वह नहीं हो सकेगा । लोप का विशेषण मानने पर दोष नहीं है क्योंकि य् लोप में वल्=पकार निमित्त है, णिच् आर्धधातुक नहीं । अतः गुण हो जायगा । उपर्युक्त तृतीय पक्ष ही भाष्यकार का अभिप्रेत है । अतः उसमें दोष नहीं प्रस्तुत किये गये हैं ।]

जैसा चाहते हो वैसा ही रहे अर्थात् 'आर्धधातुके' को किसी का भी विशेषण बना सकते हो ।

(प्रथमपक्षाङ्गीकारभाष्यम्)

अस्तु लोपविशेषणम् ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

कथम्—'उपेद्धः, प्रेद्धः' इति ?

(समाधानभाष्यम्)

बहिरङ्गो गुणोऽन्तरङ्गः प्रतिषेधः 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' (परि०) ॥

प्रदीपः

प्रेद्ध इति । नन्वाद्गुणोऽग्निलक्षण इति तन्निषेधो न भविष्यति ॥ परिहारान्तराभिधानादेतन्नाश्रितमित्यदोषः ॥

बहिरङ्ग इति । यदा पूर्वं प्रत्ययः, पश्चादुपसर्गयोगस्तदा प्रतिषेधोऽन्तरङ्गो गुणो बहिरङ्गः ॥ यदा तु पूर्वमुपसर्गयोगस्तदा गुणोऽन्तरङ्गः पश्चात्प्रत्ययोत्पत्तौ निषेधो

उद्द्योतः

नन्वाद्गुण इति । नन्विक्स्थानिकत्वादयमपि इग्लक्षणः । न चात्राप्यनुवृत्तमिक इति स्वरूपपरम् । उत्तरसूत्रे इव स्वरूपपदार्थकत्वव्यवस्थापकशब्दाभावादिति चेत् । न, इको गुणवृद्धी इति संपूर्णमनुवर्त्यं यत्रेदं तत्र न धात्वत्युपतिष्ठत इत्यर्थेनास्यापि परिभाषात्वाङ्गीकार इति भावात् । यद्वा यत्रेदं तद्विहिते गुणवृद्धी नेत्यर्थः । तद्वक्ष्यति 'यत्रेक्परिभाषा व्याप्रियते तत्रायं निषेधः' इति इक्प्रकरणादिति भाष्यप्रतीके ॥ अर्थाधिकारेण स्वरूपपरस्यैवेक इत्यस्यानुवर्तनाद्वा ॥

यदेति । पूर्वं धातुः साधनेनेति सिद्धान्तपक्षे इत्यर्थः ॥ यदा त्विति । पूर्वं धातुरुपसर्गेणेति पक्षे पूर्वमेव जातस्य निषेधायोगादिति भावः ॥ बहिरङ्गस्यासिद्धत्वादिति । द्वितीये बहिरङ्गनिमित्तस्यासिद्धत्वाद् विधिप्रवृत्तिकालेऽनिष्पन्नत्वात् तन्निषेधाप्राप्त्येष्टसिद्धिरित्यर्थः ॥ एतेन 'जातस्य बहिरङ्गस्यान्तरङ्गे कर्तव्येऽनेनासिद्धत्वप्रतिपादनेऽपि जातेन्तरङ्गे पश्चात्प्राप्तबहिरङ्गस्यानेनासिद्धत्वप्रतिपादने मानाभावः फलाभावो ज्ञापकविरोधश्चे'त्यपास्तम् ॥ परं त्वयं पक्षः सुट्कात्पूर्व इत्यादिसूत्रेषु भाष्ये दूषित इति भाष्योक्तमेव सम्यक् ॥ नन्विति । इयं च षत्वतुकोरिति सूत्रेण ज्ञापिता । अन्यथा

भावबोधिनी

तब लोप का ही विशेषण रहे।

[लोप का विशेषण मान लेने पर] 'उपेद्धः, प्रेद्धः'—इनमें कैसे [गुण होगा] ?

गुण बहिरङ्ग है और प्रतिषेध अन्तरङ्ग है, 'अन्तरङ्ग कार्य की कर्तव्यता में बहिरङ्ग असिद्ध हो जाता है। [भाव यह है कि उप+इन्ध्+क्त आदि में गुणनिषेध को 'इन्ध् + क्त' इतने की अपेक्षा है और गुण को प्र+इन्ध् क्त इतने की है। अतः केवल धातु और प्रत्यय पर आश्रित गुणप्रतिषेध अन्तरङ्ग है और उपसर्ग तथा

(लाघवभाष्यम्)

यद्येवं, नार्थो धातुग्रहणेन ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

इह कस्मान्न भवति—लूञ्-लविता लवितुम् ?

(समाधानभाष्यम्)

आर्धधातुकनिमित्ते लोपे प्रतिषेधः । न चैष आर्धधातुकनिमित्तो लोपः ॥

प्रदीपः

बहिरङ्गः । सर्वथा बहिरङ्गस्यासिद्धत्वादिष्टसिद्धिः । ननु नाजानन्तर्य इति निषेधात् कथं परिभाषाप्रवृत्तिः ॥ यत्र कार्यविधावानन्तर्येणाचोराश्रयणं तत्र निषेधादनुपस्थानं परिभाषायाः,यथाऽक्षद्यूरिति । तत्र ह्यचो यणचीति वचनादिगचोराश्रयणम् । अस्मिंस्तु प्रतिषेधसूत्रे नास्त्यचोराश्रयणमित्यदोषः ॥

उद्द्योतः

बहिरङ्गासिद्धत्वेनैव सिद्धे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव ॥अचोरिति । द्वित्वमविवक्षितम्,धर्मिग्राहक-मानस्य तथैव सत्त्वात् । अनुपस्थानमिति । अस्यात्रेत्यादिः ॥ तत्रहीति । ततश्च यण्यूडसिद्धो नेत्यर्थः ॥ "तेनासिद्धपरिभाषाया अनित्यत्वं ज्ञाप्यते । अत एव भाष्ये—विप्रतिषेधसूत्रभिन्नस्थले न क्वाप्येतदुल्लेखो, यथाऽसिद्धपरिभाषाज्ञापकं विप्रतिषेधसूत्रे उक्तमपि पुनर्वाहऊठ् सूत्रे उक्तमिति" विवरणकृतः ॥ अस्मिन्निति । निषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वात्पश्चात्प्रवर्तमाने इत्यर्थः ॥

भावबोधिनी

धातु, प्रत्यय पर आश्रित गुण बहिरङ्ग है । जब अन्तरङ्ग प्रतिषेध करना होता है तब गुण असिद्ध रहता है, अतः निषेधक अपने निषेध्य को नहीं देखता है, फलतः गुण ही हो जाता है । 'नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः' इस परिभाषा का यहाँ विषय नहीं है । विशेष के लिये प्रदीप-उद्द्योत देखें ।]

यदि ऐसा है अर्थात् असिद्धत्व मानकर निर्वाह सम्भव है तब तो सूत्र में 'धातु' ग्रहण का कोई फल नहीं है ?

इनमें [निषेध] कैसे नहीं होता है—लूञ्—लविता, लवितुम् । पूञ्—पविता, पवितुम ? [क्योंकि धातु का ग्रहण न रहने पर लोपमात्र में गुणवृद्धि का निषेध होने लगेगा ।]

आर्धधातुकनिमित्तक लोप रहने पर ही गुणवृद्धि का प्रतिषेध होता है । और यहाँ का लोप आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मानकर होने वाला नहीं है । [लूञ्, पूञ् आदि सभी धातुओं के अनुबन्धों के लोप में किसी निमित्त की आवश्यकता नहीं पड़ती है, यह अनुबन्धलोप अनैमित्तक होता है । अतः इस लोप के होने पर भी गुणादि का निषेध नहीं होता है ।]

(द्वितीयपक्षस्वीकारभाष्यम्)

अथवा—पुनरस्तु गुणवृद्धिविशेषणम् ॥

(आक्षेपस्मारणभाष्यम्)

ननु चोक्तम्—क्नोपयतीत्यत्रापि प्राप्नोतीति ॥

(समाधानभाष्यम्)

नैष दोषः, निपातनात्सिद्धम् ॥

किं निपातनम् ?

"चेले क्नोपेः" (३।४।३३) (इति) ॥

(इत्यार्धधातुकपदार्थान्वयविचाराधिकरणम्)

(अथ परिगणनाधिकरणम्)

(भाष्यम्)

परिगणनं कर्तव्यम्—

(११८ परिगणनपूर्वपक्षिवार्तिकम् ॥ २ ॥)

॥ * ॥ यङ्यक्क्यवलोपे प्रतिषेधः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

यङ्यक्क्यवलोपे प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥

उद्द्योतः

क्नूय् धातोर्णिचि पुकि 'लोपो व्यो'रिति वलोपः ।

भावबोधिनी

अथवा—तो फिर गुण-वृद्धि का ही विशेषण [आर्धधातुकग्रहण] हो जाय, अर्थात् आर्धधातुकनिमित्तक गुण-वृद्धि नहीं होते हैं ।

क्यों जी, अभी कहा गया है—'क्नोपयति' इसमें भी निषेध प्राप्त होता है । [क्योंकि णिच् रूप आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मानकर गुण प्राप्त होता है, अब उसका निषेध होने लगेगा ।]

यह दोष नहीं है । क्योंकि निपातन से [क्नोपयति में गुण] सिद्ध है ?

कौन सा निपातन है ?

'चेलेः क्नोपेः' (३।४।३३) । [इसमें पाणिनि ने गुणयुक्त प्रयोग किया है । उसी से अन्यत्र भी गुण समझ लिया जायगा ।]

परिगणन की समीक्षा

[सम्भावित लोपों का] परिगणन = गिनती, निश्चित संख्या कर देनी चाहिए—

(वा०) यङ्, यक्, क्य तथा व—इनके लोप में [प्राप्त गुण तथा वृद्धि का] प्रतिषेध [कहना चाहिए] ।

(भा०) यङ्, यक्, क्य तथा व—इनके लोप हो जाने पर [प्राप्त होनेवाले, सम्भावित गुण और वृद्धि का] प्रतिषेध कहना चाहिए अर्थात् उक्त में से किसी का

यङ्—बेभिदिता, मरीमृजः ॥

यक्—कुषुभिता, मगधकः ॥

क्य—समिधिता, दृषदकः ॥

वलोपे—जीरदानुः (ऋ. सं. ५।८३।१) ॥

प्रदीपः

यङ्यक्क्यवल्लोप इति । व इत्यत्राकारोऽपि विवक्षितः । तेन धातुपाठे योऽकारान्तः पठितस्तस्य ग्रहणम् । अन्यथा स्त्रिविः कथं निवार्येत ॥ बेभिदितेति । बेभिद्यशब्दात्तृच्, इट्, यस्य हल इति यलोपः ॥ मरीमृज इति । यङोऽचि चेति यङो लुक् ॥ कुषुभ-मगधशब्दौ कण्ड्वादिगणपठितौ धातू ताभ्यां यक् । ण्वुल्तृचौ । यस्य हल इति यलोपः ॥ समिद्दृषच्छब्दाभ्यां क्यजन्ताभ्यां प्रत्ययौ ण्वुल्तृचौ । क्यस्य विभाषेति यलोपः ॥

उद्द्योतः

वाक्यकारः सूत्रेऽव्याप्त्यतिव्याप्तिपरिहाराय परिगणनमाह—भाष्ये परिगणनमिति ॥ अत्र यस्य हल इति लोपः समुदायलोप इति मत्वा वक्क्ययोः परिगणनं बेभिदितेत्युदाहरणं च बोध्यम् ॥

भावबोधिनी

भी यदि लोप हो चुका है तब प्राप्त या सम्भावित गुण और वृद्धि नहीं हो सकती, इनसे अन्यत्र प्रतिषेध नहीं होता है—ऐसा वचन करना चाहिए ।]

क्रमशः उदा०(१)यङ् में–बेभिदिता, मरीमृजः । (२) यक् में–कुषुभिता,मगधकः । (३) क्य में—समिधिता, दृषदकः । (४) वलोप में––जीरदानुः । [यङ् के लोप में–– बेभिदिता, मरीमृजः––[इनमें यङ् लोप है, अतः गुण का निषेध करना चाहिए क्योंकि 'भिद्+यङ् का द्वित्व तथा अभ्यास कार्य करने में 'बेभिद्य' इस यङन्त की धातुसंज्ञा होने से यङ्=य धातु का अवयव है अतः बेभिद्य=तृच्, इट् 'यस्य हलः' सूत्र से यलोप होने पर प्राप्त गुणनिषेध करना चाहिए । ['मृजः' यह मृज् का यङन्त धातु का अच् परे होने पर यङ् का लोप 'यङोऽचि च' से होता है । कहीं कहीं 'मरीमृजकः' पाठ भी है । उसमें ण्वुल्=अक परे रहते यङ्लोप समझना चाहिए । इसमें भी यङन्त की धातु संज्ञा होने से यलोप=धात्ववयव का लोप होने पर वृद्धि का निषेध करना चाहिए । यङ्लोप के उदाहरण–कुषुभिता, मगधकः । कुषुभ तथा मगध को कण्ड्वादिगणीय मानकर 'कण्ड्वादिभ्यो यक्' (३।१।२७) से यक् प्रत्यय । तृच् करने पर इट् आगम और 'अ' लोप होता है । मगध्+य से ण्वुल्=अक, होने पर य लोप होता है । तब गुण, वृद्धि का निषेध करना चाहिए । क्य लोप के उदा०— समिधिता, दृषदकः । समिध् तथा दृषद् शब्दों से इच्छा अर्थ में 'सुप आत्मनः क्यच्'

(भाष्यम्)

किं प्रयोजनम् ॥

(११८ परिगणनसाधकवार्तिकद्वितीयखण्डम् ॥ १ ॥)

॥ * ॥ नुम्लोपस्त्रिव्यनुबन्धलोपेऽप्रतिषेधार्थम् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

नुम्लोपे स्त्रिव्यनुबन्धलोपे च प्रतिषेधो मा भूदिति ॥

नुम्लोपे—अभाजि, रागः, उपबर्हणम् ॥

स्त्रिवेः—आस्रेमाणम् ॥

अनुबन्धलोपे—लूञ् लविता लवितुम् ॥

प्रदीपः

नुम्लोप इति । नुमिति नकारस्य पूर्वाचार्यसंज्ञा ॥ उपबर्हणमिति । बृहि वृद्धौ इदित्वान्नुम् । बृंहेरच्यनिटीति वार्तिकेन नलोपः ॥ आस्रेमाणमिति ।अस्रेमाणमित्यपि वेदे पठ्यते ।तत्र नञ्पूर्वात् स्त्रिवेर्मनिन् प्रत्ययो (वकारलोपः) ॥ ऊडादेशश्छान्दसत्वाद्-

उद्द्योतः

ननु भञ्जिरञ्ज्योरौपदेशिकनस्यैव 'भञ्जेश्च चिणि' 'रञ्जेश्च' 'घञि च'इत्यादिना लोप इति नुम्लोप इत्यसङ्गतमत आह—नुमितीति ॥ नन्वनिदिद्बृहिर्,बृंहिणा इदं सिद्धमत

भावबोधिनी

(३।१।८) से क्यच् प्रत्यय करने के बाद तृच् प्रत्यय परे इट् होने पर 'क्यस्य विभाषा' (६।४।५०) से य का लोप होता है। दृषद्य+ण्वुल्=अक में यलोप होता है। वलोप का उदा०-जीरदानुः। जीव्+रदानुक्, 'लोपो व्योर्वलि' (६।१।६४) में रेफ का प्रश्लेष मानकर वलोप होता है। सभी में धात्ववयव का लोप होने से गुण का निषेध कहना चाहिए।]

[इस परिगणन का] क्या प्रयोजन है ?

(वा०) नुम् (=नकार) के लोप में, स्त्रिवि धातु में तथा अनुबन्ध—के लोप में [प्राप्त गुण या वृद्धि का] निषेध न हो ।

(भा०) नुम् = नकार के लोप में, स्त्रिव धातु में तथा अनुबन्ध के लोप हो जाने पर [गुण या वृद्धि का] प्रतिषेध न होने लग जाय। क्रमशः उदा०—

(१) नुम्=न् के लोप में—अभाजि, रागः, उपबर्हणम्।

(२) स्त्रिव् के लोप में—आस्रेमाणम् ।

(३) अनुबन्धलोप में—लूञ्—लविता, लवितुम् ।

(आक्षेपभाष्यम्)

यदि परिगणनं क्रियते, 'स्यदः, प्रश्रथः, हिमश्रथः' इत्यत्रापि प्राप्नोति ॥

(समाधानभाष्यम्)

वक्ष्यत्येतद् 'निपातनात्स्यदादिषु' इति ॥

प्रदीपः

कारस्य न भवति ॥ परिगणने सति धातुग्रहणं न कर्तव्यं भवतीत्यनुबन्धलोपः प्रयोजनत्वेन पठितः ॥

उद्द्योतः

आह—वृहि वृद्धाविति । स नास्त्येवेति पूर्वपक्ष्याशयः ॥ ऊडादेश इति । ज्वरत्वर-स्रिवीत्यनेन ॥

भाष्ये इत्यत्रापि प्राप्नोतीति । वृद्धिरिति शेषः ॥ न प्राप्नोतीति पाठे—निषेध इति शेषः ॥

निपातनादिति । 'स्यदो जवे' 'अवोदैधौद्मप्रश्रथहिमश्रथाः' इति निपातनम् । अस्य नलोपमात्रफलकत्वे नलोपविधानेनैव सिद्धे निपातनवैयर्थ्यापत्तिरिति भावः ॥

भावबोधिनी

[नुम्=नकार के लोप में गुण या वृद्धि का निषेध न हो—भञ्ज् तथा रञ्ज् धातुओं में उपदेशावस्था में न्=ञ् है, 'वृहि' में इकार की इत्संज्ञा लोप के बाद नुम् आगम होता है । भञ्ज्+चिण्+लुङ्=त में 'भञ्जेश्च चिणि' (६।४।३३) सूत्र से और रञ्ज्+घञ् में 'रञ्जेश्च' (६।४।२७) सूत्र से न=ञ् का लोप करने पर उपधा के अकार की वृद्धि होती है । 'उपवृंह्+ल्युट्=अन में 'वृंहेरच्यनिटि' वार्तिक से नुम् लोप होने पर गुण होता है । स्रिव् धातु से मनिन् प्रत्यय और आङ् उपसर्ग है–आस्रिव्+मन्, 'लोपो व्योर्वलि' (६।१।६४) से व्लोप के बाद गुण होता है । लूञ् के अनुबन्ध ञ् के लोप के बाद तृच् और तुमुन् परे इट् आगम होने पर 'ऊ' का गुण और अव् आदेश होते हैं । सभी में धात्ववयवों का लोप होने से गुण और वृद्धि का निषेध प्राप्त होता है । किन्तु पूर्वोक्त परिगणन से भिन्न होने से इनमें निषेध नहीं होता है । गुण तथा वृद्धि हो जाती है । अतः परिगणन आवश्यक है ।]

यदि परिगणन किया जाता है तब तो—स्यदः, प्रश्रथः, हिमश्रथः–इनमें भी [वृद्धिनिषेध नहीं प्राप्त होता है ।] वृद्धि प्राप्त होती है [क्योंकि 'स्यन्द' तथा 'श्रन्थ' के नलोप होने पर भी घञ् परे वृद्धि का निषेध न होकर वृद्धि ही प्राप्त होगी ।]

इसके लिये आगे कहेंगे–"स्यद आदि में निपातन करने के कारण वृद्धि नहीं होती है ।' [भाव यह है कि 'स्यदो जवे' (६।४।२८) तथा 'अवोदैधौद्म-प्रश्रथ-हिमश्रथाः' (६।४।२९) सूत्रों से निपातन द्वारा इन शब्द रूपों की सिद्धि की गई है ।

(आक्षेपभाष्यम्)

तर्हि परिगणनं कर्तव्यम् ॥

(परिगणनप्रत्याख्यानभाष्यम्)

न कर्तव्यम् ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

नुम्लोपे कस्मान्न भवति ?

(१११ सिद्धान्तसमाधानवार्तिम् ॥ ३ ॥)

॥ * ॥ इक्प्रकरणान्नुम्लोपे वृद्धिः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

इग्लक्षणयोर्गुणवृद्ध्योः प्रतिषेधः । न चैषेग्लक्षणा वृद्धिः ॥

प्रदीपः

इक् प्रकरणादिति । तेन यत्रेक्परिभाषा स्थान्यन्तरनिवृत्तये व्याप्रियते तत्रायं निषेधः ॥

उद्द्योतः

तेनेति । अन्यथौर्गुण इत्यादावपि परिभाषाप्रवृत्तौ तस्यापीग्लक्षणत्वे लैगवायन इत्यादौ निषेधः स्यादिति भावः ॥ यत्रेक्परिभाषेति । न चेक इत्यनुवर्त्य 'इको न ते' इत्येव व्याख्यानमुचितमिति वाच्यम् । मरीमजः सरीसृप इत्यादाविकः प्रत्ययाव्यवहित-पूर्वत्वाभावान्निषेधानापत्तेः । तदाह भाष्ये—इग्लक्षणयोरिति । यथैतदर्थलाभस्तथोक्तम् । इक्परिभाषालक्षणयोरिति तदर्थः ॥

भावबोधिनी

यदि केवल न का लोप ही निपातन का फल होता तब तो नलोप ही करना उचित था। अतः नलोपमात्र न करके निपातन शब्द के प्रयोग से सिद्धि का यही उद्देश्य है कि प्राप्त होने वाली वृद्धि आदि भी न हो सके ।]

तब तो परिगणन करना चाहिए ?

[परिगणन] नहीं करना चाहिए ।

[तब] नुम्=नलोप में [वृद्धि का प्रतिषेध] क्यों नहीं होता है ?

(वा०) इक् का प्रकरण होने से नुम्=नलोप में वृद्धि [नहीं होती है ।]

(भा०) इग्लक्षण गुण और वृद्धि का प्रतिषेध होता है । और यह प्रस्तुत लक्ष्यों में इग्लक्षण = इक् को मानकर होने वाली वृद्धि नहीं है । [अपि तु उपधा के अ की ही वृद्धि होती है ।]

(आक्षेपभाष्यम्)

यदीग्लक्षणयोर्गुणवृद्धयोः प्रतिषेधः—'स्यदः, प्रश्रथः हिमश्रथ' इत्यत्र न प्राप्नोति ।

इह च प्राप्नोति —'अवोदः, एधः, ओद्मः' इति ॥

(१२० सिद्धान्तसमाधानवार्तिकम् ॥ ४ ॥)

॥ * ॥ निपातनात् स्यदादिषु ॥ * ॥

(भाष्यम्)

निपातनात्स्यदादिषु प्रतिषेधो भविष्यति, न च भविष्यति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

यदीग्लक्षणयोर्गुंद्धयोः प्रतिषेधः, स्त्रिव्यनुबन्धलोपे कथम् ?

(१२१ सिद्धान्तसमाधानवार्तिकम् ॥ ५ ॥)

॥ * ॥ प्रत्ययाश्रयत्वादन्यत्र सिद्धम् ॥ * ॥

भावबोधिनी

यदि इग्लक्षण गुण और वृद्धि का प्रतिषेध होता है तब तो--स्यदः, प्रश्रथः, 'हिमश्रथः' इनमें भी वृद्धि का प्रतिषेध नहीं प्राप्त होता हैं । और इनमें (गुणप्रतिषेध) प्राप्त होता है—अवोदः, एधः, ओद्मः । ['उन्दी क्लेदने' तथा 'त्रि इन्धी दीप्तौ' इन धातुओं से घञ् =अ प्रत्यय परे नलोप होता है--अव+उद, इध में गुण करने पर अव+ओद, एध, 'एङि पररूपम्' से पररूप होने पर 'अवोदः' बनता है । 'उन्दी' धातु से मनिन् प्रत्यय, नलोप करने के बाद उद्म में गुण करने पर 'ओद्मः' बनता है । इनमें इग्लक्षण गुण है । उसका निषेध होना चाहिए ।]

(वा०) स्यद आदि शब्दों में निपातन से [गुण और वृद्धि का प्रतिषेध या अप्रतिषेध होता है] ।

(भा०) स्यद आदि शब्द रूपों में निपातन के बल से [लक्ष्यानुसार गुण-वृद्धि का] प्रतिषेध होगा और नहीं भी होगा । [अतः कोई अनुपपत्ति नहीं है । परिगणन आवश्यक नहीं है ।]

यदि इग्लक्षण (इक् को मानकर होने वाली) गुण और वृद्धि का प्रतिषेध होता है तब तो स्त्रिव् में तथा अनुबन्धलोप में [इग्लक्षण गुण] कैसे होगा । [स्त्रिव्—आस्रेमाणम्, लूञ्—लविता । स्त्रिव्+मनिन्, व् लोप होता है । लूञ्+तृच् में अनुबन्धलोप होता है । यहाँ इक्स्थानिक गुण है । अतः गुण नहीं हो सकेगा ।]

(वा०) प्रत्यय पर आश्रित होने के कारण अन्यों में सिद्ध [हो जायगा] ।

(भाष्यम्)

आर्धधातुकनिमित्तो लोपे प्रतिषेधः । न चैष आर्धधातुकनिमित्तो लोपः ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

यद्यार्धधातुकनिमित्तो लोपे प्रतिषेधः, 'जीरऽदानुः' (ऋ० सं० ५।८३।१) अत्र न प्राप्नोति ॥

(१२२ सिद्धान्तसमाधानवार्तिकम् ॥ ६ ॥)

॥ * ॥ रकि ज्यः संप्रसारणम् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

नैतज्जीवेः रूपम्, रक्येतज्ज्यः सम्प्रसारणं भवति ॥

प्रदीपः

प्रत्ययाश्रयत्वादिति । लोपविशेषणमार्धधातुग्रहणमित्यर्थः ॥

जीरदानुरिति । वर्णनिमित्तोऽत्र वकारलोपो न प्रत्ययनिमित्तः ॥

रकि ज्य इति । एवं च जीरेत्यवग्रहः सिद्ध्यति । बहुव्रीहित्वाच्च जीरदानुशब्दे

उद्द्योतः

लोपेति । प्रत्ययाश्रयत्वादिति भाष्यस्य लोपे आर्धधातुकप्रत्ययनिमित्तकत्वाश्रवणादित्यर्थं इति भावः ॥

न प्रत्ययेति । प्रत्ययस्याश्रुतत्वादनाक्षिप्तत्वाच्चेति भावः ॥

अवश्यं जीरदानुशब्दस्यैवमेव व्युत्पत्तिः कार्येत्याह—एवं चेति । अवान्तरपदत्वे सत्येवावग्रह इत्युत्सर्गादिति भावः ॥ ननु रदानुप्रत्यये रेफाकार उदात्तः, समासे

भावबोधिनी

(भा०) आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मानकर होने वाले लोप में ही [गुण या वृद्धि का] प्रतिषेध होता है । परन्तु उक्त लोप ('आस्रेमाणम्' में वलोप तथा लून्-लविता में न् का लोप) आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मानकर होने वाला नहीं है । [अतः प्रतिषेध की सम्भावना नहीं है ।]

यदि आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मानकर धात्ववयव के लोप में ही प्रतिषेध होता है तब तो 'जीरदानुः' शब्द में भी [गुण का प्रतिषेध] नहीं प्राप्त होता है । [क्योंकि यहाँ भी 'जीव्+रदानुक्' में वर्ण को निमित्त मानकर ही व्लोप है ।]

(वा०) रक् प्रत्यय परे रहते 'ज्या' के सम्प्रसारण में रूप है ।

(भा०) 'जीरदानुः' यह जीव् धातु का रूप नहीं है अपि तु रक् प्रत्यय परे रहते 'ज्या' का सम्प्रसारण होता है । ['ज्या वयोहानौ' धातु से औणादिक 'रक्' प्रत्यय,

(एकदेशिभाष्यम्)

यावता चेदानीं रकि, जीवेरपि सिद्धं भवति ॥

(पूर्वपक्षभाष्यम्)

कथमुपबर्हणम् ?

(सिद्धान्तिभाष्यम्)

बृहिः प्रकृत्यन्तरम् ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

कथं ज्ञायते—बृहिः प्रकृत्यन्तरमिति ?

प्रदीपः

रेफाकार उदात्तः ॥

बृहिरिति । बृह बृहि वृद्धाविति पाठात् ॥

उद्द्योतः

त्वन्तोदात्तः स्यादत आह—बहुव्रीहाविति । जीरस्य प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तस्य बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणेत्यर्थः ॥ जीवेर्विचि तु गुणनिषेधो भवत्येव ॥ एतेनार्धधातुकत्वेन यत्र लोपे निमित्तता तत्रैव लोपे निषेध इत्यपास्तम् ॥ वार्तिकविरोधात् ॥ यङोऽचि चेत्यत्रापि तत्त्वेनानिमित्तत्वाल्लोलुव इत्याद्यसिद्ध्यापत्तेश्च ॥ धिन्व्यादिभ्यस्तु विजभाव एव ॥

भाष्ये यावता चेदानीमिति । कित्त्वेन गुणनिषेधादिति भावः । अत्र वलोपो लोपो व्योरित्यनेन ॥ इदं च यथाश्रुतसूत्रमते । वलोपप्रत्याख्याने तु रकि ऊप इत्येव शरणम् ॥

भावबोधिनी

कित् होने से 'ग्रहिज्या०' (६।१।१६) से य् का सम्प्रसारण इ, आ का पूर्वरूप, दीर्घ–जीरः । और 'दा' से 'नु' प्रत्यय करने पर 'दानुः' होता है । 'जीरः दानुः यस्य सः'–ऐसा बहुव्रीहि है । अतः कोई दोष नहीं है ।]

और चूंकि इस समय (अर्थात् परिगणन के प्रत्याख्यानकाल में) रक् प्रत्यय परे [जीरदानुः—] सिद्ध हो जाता है, तब तो जीव् धातु से भी सिद्ध होता है । [रक् प्रत्यय के कित्त्व से जैसे ज्या=जी के गुण का निषेध होता है वैसे ही 'जीव्' से भी रक् प्रत्यय परे गुणनिषेध होगा । यदि 'लोपो व्योर्वलि' में व्लोप का प्रत्याख्यान कर दिया जाय तब छान्दस प्रयोग मानकर व्लोप होगा ।]

'उपबर्हणम्' यह कैसे होगा ? [क्योंकि 'बृहि' को इदित् मानकर नुम् आगम होने के बाद न् का लोप होता है । अतः गुणनिषेध होना चाहिए ।]

'बृह्' यह दूसरी प्रकृति (= धातु) है । [क्योंकि 'बृह बृहि वृद्धौ' ऐसा धातुपाठ है ।]

(सिद्धान्तिभाष्यम्)

अचीति हि लोप उच्यते, अनजादावपि दृश्यते—निबृह्यते ।

अनिटीति चोच्यते, इडादावपि दृश्यते—निबर्हिता, निबर्हितुमिति ।

अजादावपि न दृश्यते—बृंहयति, बृंहकः ॥

(उपसंहारभाष्यम्)

तस्मान्नार्थः परिगणनेन ॥

भावबोधिनी

यह कैसे ज्ञात होता है कि 'बृह' यह दूसरी प्रकृति = धातु है ?

चूंकि 'अच् परे रहने पर [बृंहेरच्यनिटि = इड्भिन्न अजादि प्रत्यय परे रहने पर 'बृंह्' के अनुनासिक का लोप होता है—इस वार्तिक से] लोप कहा गया है, परन्तु अजादि से भिन्न प्रत्यय के परे रहते भी यह लोप देखा जाता है—निवृह्यते। [अतः यह ज्ञात हो जाता है कि 'बृहि' यह एक दूसरी भी धातु है ।]

और अनिट् परे लोप कहा गया है किन्तु इडादि प्रत्यय परे भी लोप देखा जाता है। [इससे भी ज्ञात होता है कि 'वृहि' एक अलग धातु भी है ।]—निर्बहिता, निर्बहितुम् ।

और अजादि प्रत्यय परे भी लोप नहीं होते देखा जाता है—वृंहयति, बृंहकः । [यह भी दूसरी धातु के होने में प्रमाण है ।]

इस कारण परिगणन का कोई प्रयोजन नहीं है ।

विमर्श—भाव यह है कि 'वृंहेरच्यनिटि' यह वचन अजादि अनिट् परे नलोप करता है । किन्तु 'निवृह्यते' यहाँ अजादि परे नहीं है तब भी लोप होता है । इसी प्रकार 'निर्बहिता, निर्बहितुम्' यहाँ इट् ही परे हैं तब भी लोप होता है । इसके अतिरिक्त—'बृंहयति, वृंहकः' में अजादि प्रत्यय परे रहते भी लोप नहीं देखा जाता है । इससे स्पष्ट है कि 'बृह' तथा 'वृहि' ये दो अलग-अलग धातुयें हैं । अतः 'उपबर्हणम्' यह 'वृह' का ही रूप है 'वृहि' का नहीं । इसलिए परिगणन की तथा 'वृंहेरच्यनिटि' इस वचन की आवश्यकता नहीं है । यही लिख रहे हैं—]

[अनु०]इस कारण अर्थात् रूप की सिद्धि सम्भव होने के कारण परिगणन का कोई फल नहीं है ।

(आक्षेपभाष्यम्)

यदि परिगणनं न क्रियते—'भेद्यते, छेद्यते' अत्रापि प्राप्नोति ॥

(समाधानभाष्यम्)

नैष दोषः । धातुलोप इति नैवं विज्ञायते—'धातोर्लोपो धातुलोपो, धातुलोपे' इति ॥

कथं तर्हि ?

'धातोर्लोपो यस्मिंस्तदिदं धातुलोपं—धातुलोपे' इति ॥

प्रदीपः

भेद्यत इति । गुणो णिलोपश्चार्धधातुकनिमित्त इति पक्षद्वयेऽपि दोषः । अपवादविषयपरिहाराच्चान्तरङ्गोऽपि गुणोत्र न प्रवर्तत इत्युपन्यासः ॥

कथं तर्हीति । बहुव्रीहौ सत्येकार्धधातुकनिमित्तत्वं लोपस्य गुणवृद्धयोश्चाश्रितमिति भेद्यते इत्यादौ भिन्ननिमित्तत्वाद्गुणो न निषिध्यते ॥

उद्द्योतः

पक्षद्वयेऽपीति । तन्त्रेणोभयविशेषणत्वपक्षेऽपीत्यपि बोध्यम् ॥ गुणो ण्याश्रयः ॥ णिलोपो यगाश्रयः । अपवादेति । प्रकल्प्य वापवादविषयमिति परिभाषयेति भावः । एतेन "गुणप्रतिषेधौ यत्र समानकालौ, तत्र चरितार्थो निषेधो नान्तरङ्गं गुणं बाधितुं क्षमत" इत्यपास्तम् ॥ न च भेद्यते इत्यत्राचः परस्मिन्निति णिलोपस्य स्थानिवत्त्वेन तत्राभावातिदेशस्य च सत्त्वेन स्थानिनि णिचि सति अभवतो निषेधस्य लोपेऽप्यभावातिदेशान्न दोष इति वाच्यम् । स्थानिवद्भावाश्रयणे सूत्रं प्रत्याख्यानमेवेति, तदनाश्रयणेन सूत्रवत् तदनाश्रयणेनैवायं दोष इत्याशयात् ॥

भावबोधिनी

यदि परिगणन नहीं किया जाता है तो इनमें भी [निषेध] प्राप्त होता है—भेद्यते, छेद्यते । [णिजन्त भिद्इ, छिद्इ—इनसे कर्म अर्थ में लकार यक् आदि करने पर 'भिदि+य+त, छिदि+य+त स्थिति में लघूपध गुण की अपेक्षा नित्य होने से पहले 'णि' का लोप होता है । बाद में प्रत्ययलक्षण से लघूपध गुण होता है । किन्तु अब नहीं होगा, क्योंकि धात्ववयव णि का लोप हुआ है । और आर्धधातुक प्रत्ययनिमित्तक लोप है ।]

यह दोष नहीं है । 'धातुलोपे' इसे ऐसा नहीं समझा जाता है—धातु=धात्ववयव का लोप=धातुलोप, उस धात्ववयव के लोप में, अर्थात् षष्ठी-तत्पुरुष समास नहीं है ।

तब कैसा माना जाता है ?

धातु=धात्ववयव का लोप है जिसके परे रहने पर हो वह—'धातुलोप' है, उस धातुलोप के परे [गुण-वृद्धि नहीं होते हैं । अर्थात् बहुव्रीहि समास है । अतः जिस

(उपसंहारभाष्यम्)

तस्मादिग्लक्षणा वृद्धिः ॥

(इति परिगणनाधिकरणम्)

(अथेग्लक्षणत्वे दोषनिराकरणाधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

यदि तर्हींग्लक्षणयोर्गुणवृद्ध्योः प्रतिषेधः, 'पापचकः, पापठकः, मगधकः, दृषदकः'[1] अत्र न प्राप्नोति ॥

(१ ३ सिद्धान्तिसमाधानवार्तिकम् ॥ ७ ॥)

॥ ॐ ॥ अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वात् ॥ ॐ ॥

(भाष्यम्)

अकारलोपे कृते तस्य स्थानिवत्त्वाद् गुणवृद्धी न भविष्यतः ॥

उद्द्योतः

भाष्ये—तस्मादिग्लक्षणा वृद्धिरिति । प्रतिषेध्येति शेषः । अत एवाभाजीत्यादिसिद्धिरिति भावः ॥

भावबोधिनी

आर्धधातुक प्रत्यय के परे रहते लोप होता है उसी के परे रहते गुण और वृद्धि प्राप्त हों, दोनों का निमित्त वही एक प्रत्यय हो तब निषेध होता है। 'भेद्यते छेद्यते' आदि में लोप का निमित्त यक् है और गुण का निमित्त 'तङ्'। अतः धातुलोप नहीं है। निषेध नहीं होगा।]

इस कारण अर्थात् सभी दोषों का निराकरण हो जाने के कारण इग्लक्षणा (इक् के स्थान पर होने वाली) वृद्धि [का ही प्रतिषेध करना चाहिए।]

यदि इग्लक्षण = इक् के स्थान पर ही होने वाली गुण-वृद्धि का प्रतिषेध किया जाता है तब तो—"पापचकः पापठकः, मगधकः दृषदकः'—इनमें भी ['अत उपधायाः' से प्राप्त वृद्धि का निषेध] नही प्राप्त होता है। [पापच्य, पापठ्य—इन यङन्त धातुओं से ण्वुल्=अक, 'अतो लोपः' से अलोप, 'यस्य हलः' से य् का लोप होता है। तथा कण्ड्वादिगण की मगध से यक् और दृषद् नामधातु से 'सुप आत्मनः' से क्यच् करने के बाद ण्वुल् = अक में पूर्ववत् अलोप तथा य् लोप होते हैं। इनमें भी निषेध नहीं होगा, उपधावृद्धि होने लगेगी।]

(वा०) [उक्त दोष नहीं है] अलोप का स्थानिवद्भाव हो जाने के कारण।

---

१. पापचक इत्यादि। पचिपठी यङन्तौ द्वित्वं हलादिः शेषः दीर्घोऽकित। ततो ण्वुल्। अतो लोपः। यस्य हल इति यलोपः ॥ मगधात्कण्ड्वादियक्। दृषदः सुप इति क्यच् ॥ छाया ॥

(इतीग्लक्षणत्वे दोषनिराकरणम्)

(अथ सूत्रप्रत्याख्यानाधिकरणम् ॥)

(१२४ सिद्धान्तवार्तिकम् ८)

॥*॥ अनारम्भो वा ॥*॥

(भाष्यम्)

अनारम्भो वा पुनरस्य योगस्य न्याय्यः ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

कथं 'बेभिदिता मरीमृजकः कुषुभिता समिधिता' इति ?

(समाधानभाष्यम्)

अत्राप्यकारलोपे कृते तस्य स्थानिवद्भावाद् गुणवृद्धी न भविष्यतः ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

यत्र तर्हि स्थानिवद्भावो नास्ति तदर्थमयं योगो वक्तव्यः ॥

उद्द्योतः

अकारलोप इति । अतो लोप इत्यनेन । यङ्लुगन्तात्ण्वुलि तु सूत्रमतेऽपि निषेधो न, आर्धधातुकनिमित्तलोपाभावात् ॥

मरीमृजक इति । अत्राल्लोपस्य स्थानिवत्त्वे विङ्त्यजादौ वेष्यत इति विकल्पो न, व्यवस्थितविभाषाश्रयणात् ॥

भावबोधिनी

(भा०) ['अतो लोपः' से] अकार का लोप करने पर उस अ का स्थानिवद्भाव ['अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' सूत्र से] होने के कारण गुण और वृद्धि नहीं होते हैं। [अतः केवल इग्लक्षण वृद्धि का ही निषेध करना चाहिए।]

सूत्र का प्रत्याख्यान

(वा०) [इस सूत्र को] आरम्भ नहीं करना चाहिए।

(भा०) अथवा इस सूत्र का आरम्भ न करना उचित है अर्थात् सूत्र बनाने की आवश्यकता नहीं है।

तो फिर 'बेभिदिता, मरीमृजकः, कुषुभिता, समिधिता'—इनकी सिद्धि कैसे होगी ?

इनमें भी अकारलोप करने पर उसके स्थानिवद्भाव के कारण गुण और वृद्धि नहीं होते हैं।

तब तो जहाँ स्थानिवद्भाव नहीं होता है वहाँ के लिए इस सूत्र को कहना चाहिए।

क्व च स्थानिवद्भावो नास्ति ?

यत्र हलचोरादेशः—लोलुवः पोपुवः मरीमृजः सरीसृप इति ॥

(समाधानभाष्यम्)

अत्राप्यकारलोपे कृते तस्य स्थानिवद्भावाद् गुणवृद्धी न भविष्यतः ॥

(समाधानबाधकभाष्यम्)

लुकि कृते न प्राप्नोति ॥

(समाधानसाधकभाष्यम्)

इदमिह सम्प्रधार्यम्—लुक् क्रियतामल्लोप इति । किमत्र कर्तव्यम् ?

परत्वादल्लोपः ॥

प्रदीपः

यत्र हलचोरादेश इति । लुका कृत्स्नो यङ् लुप्यत इत्याशय ॥

अत्रापीति । कृतेऽप्यकारलोपे एकदेशविकृतमनन्यवदिति यकारः प्रत्ययसंज्ञो भवत्येवेति भावः ॥

उद्द्योतः

नन्वेवं लुक्शास्त्रं व्यर्थं स्यादत आह—कृतेपीति । अवशिष्टे तच्चारितार्थ्यमिति भावः ॥

भाष्ये लुकि कृते इति । अनवकाशत्वादन्तरङ्गानपीति न्यायाच्च लुकि कृतेऽतोलोपो न प्राप्नोतीत्यर्थः ।

इतर आशयानभिज्ञ आह—परत्वादिति ॥

भावबोधिनी

वह स्थानिवद्भाव कहाँ पर नहीं होता है ।

जहाँ पर हल् तथा अच् (य् अ) दोनों का लोप रूप आदेश होता है—लोलुवः, पोपुवः, मरीमृजः, सरीसृपः । [इनमें सम्पूर्ण य का लुक्=लोप होता है । अतः अच् का स्थानिवद्भाव नहीं हो सकता । गुणवृद्धि प्राप्त है । निषेध के लिए सूत्र आवश्यक है ।]

इनमें भी अकार का लोप करने पर उसका स्थानिवद्भाव होने से गुण और वृद्धि नहीं होंगे ।

[य का] लुक् कर देने पर [अलोप] नहीं प्राप्त होता है ।

यहाँ यह निर्णय करना चाहिए कि—पहले लुक् किया जाय अथवा अलोप । इसमें क्या करना चाहिए ?

परवर्ती होने के कारण [पहले] अलोप [ही करना चाहिए ।]

(समाधानबाधकभाष्यम्)

नित्यो लुक्। कृतेऽप्यल्लोपे प्राप्नोति, अकृतेऽपि प्राप्नोति ॥

(समाधानसाधकभाष्यम्)

लुगप्यनित्यः ॥

कथम् ?

अन्यस्य कृतेऽल्लोपे प्राप्नोति, अन्यस्याकृते ॥ "शब्दान्तरस्य च प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति" ॥ परि० ॥

(समाधानबाधकभाष्यम्)

अनवकाशस्तर्हि लुक् ॥

(समाधानसाधकभाष्यम्)

सावकाशो लुक् ॥

कोऽवकाशः ?

प्रदीपः

नित्यो लुगिति। लुक्शास्त्रप्रवृत्तिर्नित्या।

अनवकाश इति। नाप्राप्ते लोपे लुगारम्भात् ॥

सावकाश इति। भिन्नविषयौ लुग्लोपौ। अकारस्य लोपो, यकारस्य लुक्। ततश्च नास्ति येन नाप्राप्तिन्यायः ॥

उद्द्योतः

ननु यस्य लोपः कृतस्तस्य लुगप्राप्तेराह—लुक्शास्त्रेति ॥

भावबोधिनी

लुक् नित्य है। क्योंकि अलोप कर देने पर भी प्राप्त होता है और अलोप न करने पर भी प्राप्त होता है। [कृताकृत-प्रसङ्गी होने से लुक् नित्य है।]

लुक् भी अनित्य है।

कैसे ?

अलोप करने पर अन्य का अर्थात् केवल य् का लुक् प्राप्त होता है और लोप न करने पर अन्य का अर्थात् हल् अच् समुदाय—य का लुक् प्राप्त होता है। "भिन्न शब्दों को प्राप्त होने वाली विधि अनित्य होती है।"

यदि ऐसा है तब तो लुक् अनवकाश है। ['लोप की अवश्य प्राप्ति में' लुक् शास्त्र बनाया गया है। अतः 'येन नाप्राप्ते' इस परिभाषा के आधार पर लुक् अनवकाश होकर लोप का बाधक बन जायगा। अतः पहले लुक् ही होगा।]

लुक् सावकाश अर्थात् चरितार्थ है।

कौन सा स्थल चरितार्थता वाला है अर्थात् किस लक्ष्य में लुक् चरितार्थ होगा।

अवशिष्टः ॥

(अभ्युपेत्य समाधानभाष्यम्)

अथापि कथंचिदनवकाशो लुक् स्याद्, एवमपि न दोषः। अल्लोपे योगविभागः करिष्यते—"अतो लोपः" (६।४।४८)। ततो "यस्य" (६।४।४९) यस्य च लोपो भवति। अत इत्येव ॥

प्रदीपः

अथापीति। यङोचि चेत्यत्र यकाराकारसमुदायस्य यङ इति निर्दिष्टस्य विवक्षितत्वादवयवे च यङ्व्यपदेशस्य गौणत्वादिति भावः ॥

उद्द्योतः

गौणत्वादिति। अतिदेशविषये गौणत्वाङ्गीकारेऽतिदेशवैयर्थ्यापत्तेरिदं चिन्त्यम् ॥ किं च भिन्नविषयेऽपि बाध्यबाधकभावो दृष्टः यथा—ध्यथो लिटीति सम्प्रारणस्य वकारे चारितार्थ्येऽपि हलादिः शेषबाधकता। भाष्यकारोऽपि मिदचोऽन्त्यादित्यस्य विषयभेदेऽपि प्रत्ययपरत्वबाधकतां वक्ष्यति ॥ तस्मात्कृते चारितार्थ्येऽपि तत्प्राप्तिकालेऽवश्यं प्राप्त्याऽपवादत्वं भवत्येवेत्याशयः ॥ असम्भव एव बाधकत्वमिति वार्तिकानुयायिना सावकाशो लुगित्युक्ते स एव 'अथापीत्याहेति तदुक्तिः—कथंचिदिति ॥ भाष्ये- अत इत्येवेति। अलोऽन्त्यपरिभाषया अत इत्यनुवृत्तेर्वेति भावः ॥ अयं च लुकोपवादः। एवं चार्थादवशिष्टस्य लुगिति बोध्यम्। अत्र च सृजो रोपधेति सूत्रादन्यतरस्यां ग्रहणस्य मण्डूकप्लुत्याऽनुवर्तनेन योगविभागस्येष्टसिद्ध्यर्थत्वेन च क्वचिदेव पृथगल्लोपो न सर्वत्रेति बोध्यम् ॥ मरीमृज इत्यत्र विकल्पस्तु न, व्यवस्थितविभाषाश्रयणात्। यद्वा तत्र विकल्प इष्ट एव। तदर्थं सूत्रकृतोऽप्येतत्कल्पनावश्यकत्वं मनसि निधायैव तामाश्रित्य सूत्रप्रत्याख्यानमेव वरमिति भाष्याशयः ॥ लोलुवादौ उवङि अनादिष्टादचः पूर्वस्य विधेरभावेन स्थानिवत्त्वाभावेऽपि नोपधागुणः, अचः पूर्वत्वेन दृष्टलोलूशब्दात्परस्य

भावबोधिनी

अवशिष्ट [अकार में चरितार्थता वाला है। लोप का अवकाश अ में है और लुक् का अवकाश य् में है। दोनों के लक्ष्य अलग-अलग हैं।]

यदि किसी प्रकार से लुक् अनवकाश भी हो तब भी कोई दोष नहीं है अल्लोप में अर्थात् 'अतो लोपः' (६।४।४८) के समीपवर्ती 'यस्य हलः' (६।४।४९) सूत्र में योगविभाग किया जायगा—(१) अ का लोप होता है। इसके बाद (२) 'यस्य' = य् का लोप होता है। इसमें भी 'अकार का ही लोप' इसकी अनुवृत्ति होगी। अर्थात् यकार के अकार का ही लोप होता है [यह अर्थ होगा।]

किमर्थमिदम् ?

लुकं वक्ष्यति तद्बाधनार्थम् ॥

ततो "हल" (६।४।४९) हल उत्तरस्य यस्य च लोपो भवतीति ॥

उद्द्योतः

गुणे कर्तव्ये पञ्चमीसमासेनाल्लोपस्य स्थानिवद्भावसौलभ्यात्। निमित्तत्वेनाश्रिता-त्पूर्वस्मादित्यर्थे तु न मानम्। अतिप्रसङ्गस्य तदनित्यत्वेनैव परिहारात्। भाष्यानुक्त-त्वादनित्यत्वाभावेऽपि पूर्वस्मात्परस्याव्यवहितस्यैव ग्रहणेन हेगौरित्यत्रादोषः। अचः पूर्वत्यंशे स्वरग्रहणाद्भाष्यप्रमाण्याच्चाव्यवधानांशबाधेऽप्यत्र तद्बाधे मानाभावात्। अतिदेशप्रवृत्तिप्राक्कालिकं च तदंशेऽव्यवधानं निविष्टम्। किं चाशास्त्रीयस्यापि तस्य तत्स्थानापन्ने तद्धर्मलाभ इति लोकन्यायेनातिदेश इति स्थानिवत्सूत्रे वक्ष्यते। लोलू इत्यस्य लोलुवादेशस्तस्य च गुणघटितो लोलोभित्यादेश इत्याहुः॥ दरीदृश इत्यत्राङ्-निमित्तगुणस्तु न। अस्याङस्तर्कैकगोचरत्वेन लाक्षणिकतया अङ्ग्रहणेनाग्रहणात्॥ अत एव दरीदृशक इत्यादौ यङन्ताण्ण्वुलि अङ्निमित्तगुणाभावः। जङ्गमक इत्यादौ यङन्ताण्ण्वुलि उपधालोपश्च अनङीति निषेधाप्रवृत्तेः॥ जङ्गम इत्यादौ तूक्तयुक्त्या समुदायलुगेवेति न दोषः॥ निजेगिल इत्यादौ ग्रो यङीति नित्यलत्वमिष्टमेव। सूत्रमतेऽपि न लुमतेति निषेधस्यानित्यत्वाद् यङ्परत्वमस्ति। न वेति विभाषेति सूत्रे भाष्ये चेदं ध्वनितमिति तत्रैव निरूपयिष्यामः॥ यदि जरीगृह्यादेः सास्मयंतेश्चाचि संप्रसारणयङिचेतिगुणाविष्टौ, तर्हि सूत्रमतेऽपि न लुमतेति निषेधानित्यत्वेन साधनीयौ। भाष्यप्रामाण्यादिष्टाविति गम्यते। अत एव पृथगल्लोपे यङो विषयापहाराभावेन अजेर्व्यादेशे यणि वेव्य इति स्यादित्यपास्तम्। योगविभागस्य क्वाचित्कत्वेन तत्र लुक एव प्रवृत्त्याऽक्षतेः॥ पुर्वादिभ्यो वान्तेभ्यो विज् नास्त्येव, अनभिधानात्। इदं च लोपो व्योरिति सूत्रे भाष्येऽपि ध्वनितम्। एतद्भाष्यविरुद्धप्रयोगाणां भाष्यानुक्ता-नामनभिधानमित्यन्ये॥ न चैवं न धातुलुक्यचीत्येव सिद्धे आर्धधातुग्रहणं व्यर्थमिति वाच्यम्। लोपार्धधातुक इत्येव षष्ठीतत्पुरुषेण लोपनिमित्ताधधातुक इत्यर्थेन लूनादेर्व्या-वृत्तिसिद्धौ धातुग्रहणवत्तस्यापि सत्त्वात्॥ भाष्ये लुकं बक्ष्यतीति। लुक् अतोलोपाप-वादः। अपवादश्च प्रायेण पश्चाद्भावीति भविष्यन्निर्देशः॥

भावबोधिनी

यह योगविभाग किस लिए है ?

[आचार्य 'यङोऽचि च' (२।४।७४) सूत्र से] लुक् का विधान करेंगे, उसका बाध करने के लिए यह सूत्र होगा।

इस 'यस्य' सूत्र के बाद (३) 'हलः' सूत्र होगा—हल् = व्यञ्जन से परवर्ती य् का लोप होता है। [अतः पहले अ का लोप कर देने पर अवशिष्ट 'य्' का लोप करने के लिए तृतीय सूत्र है।]

(आक्षेपभाष्यम्)

इहापि तर्हि परत्वाद्योगविभागाद्वा लोपो लुकं बाधेत—"कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदम् (ऋ० सं० १।७९।२)" नोनूयतेर्नोनाव ॥

(समाधानभाष्यम्)

समानाश्रयो लुग्लोपेन बाध्यते ॥

कश्च समानाश्रयः ?

प्रदीपः

समानाश्रय इति । तुल्यकालत्वादिति भावः ॥ नोनावेत्यत्र सु बहुलग्रहणानुवृत्त्याऽनैमित्तिकोऽन्तरङ्गो लुक् प्रागेव प्रत्ययोत्पत्तेर्भवति ॥

उद्द्योतः

ननु भिन्नाश्रययोरपि दीर्घवृद्ध्योरियायेत्यादौ बाध्यबाधकभावो दृष्ट इत्यत आह—तुल्यकालेति ॥ बहुलेति । यङोऽचि चेति चकारेण ॥ अन्तरङ्ग इति । प्राक्प्रवृत्तिकत्वमन्तरङ्गत्वम् । न हि तदापवादप्रवृत्तिरिति भावः ॥

भावबोधिनी

यदि ऐसी बात है तब तो परवर्ती होने के कारण अथवा योगविभाग के कारण लोप लुक् का बाध कर लेगा—"कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदम् ।" (ऋक् १।७९।२) इसमें नोनूयति=नोनवीति के लिट् के 'नोनाव' रूप में ।

विमर्श—'यङोऽचि च' (२।४।७४) इस सूत्र के दो अर्थ हैं—(१) अजादि प्रत्यय के परे रहते यङ् का लुक् होता है । (२) किसी प्रत्यय के परे न रहने पर भी यङ् का लुक् होता है । यह दूसरा अर्थ 'च' के बल से माना जाता है । फलतः यह लुक् अनैमित्तक होने से सबसे पहले होता है । इसीलिए यङ्लुगन्त धातु के रूप में यङ् कहीं नहीं सुनाई देता है । पुनः पुनः अतिशयेन वा नौति—इस विग्रह में णु=नू धातु से सूत्र से यङ् होता है और 'यङोऽचि' से उसका लुक् होता है । प्रत्ययलक्षण से यङ्परत्व मानकर द्वित्व आदि कार्य होने पर परस्मैपद लिट् प्रथम पुरुष एकवचन में—नोनाव रूप बनता है ।

पूर्वोक्त योगविभाग को मान लेने पर तो पहले अलोप ही होगा, बाद में लुक् होगा । किन्तु अ का स्थानिवद्भाव हो जाने से उपधा का गुण नहीं हो पायेगा—नो नू + अ नहीं हो सकेगा । वृद्धि भी नहीं हो सकेगी ।

(अनु०) (भा०) समान आश्रय वाले लुक् का बाध लोप से किया जाता है ।

तो समान आश्रयवाला कौन है ?

यः प्रत्ययाश्रयः, अत्र च प्रागेव प्रत्ययोत्पत्तेर्लुग्भवति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

कथम्—स्यदः प्रश्रथः हिमश्रथः 'जीरदानुः (ऋ० सं० ५।८३।१)' निकुचित इति ?

(१२५ समाधाने वार्तिकभाष्यम् ॥६॥)

॥ * उक्तं शेषे ॥ * ॥

किमुक्तम् ?

निपातनात्स्यदादिषु।

[*प्रत्ययाश्रयत्वादन्यत्र सिद्धम्[1]* ।]

रकि ज्यः सम्प्रसारणम् इति ॥

भावबोधिनी

जो लुक् प्रत्यय को मानकर होता है। परन्तु यहाँ 'नोनाव' में तो प्रत्यय को उत्पत्ति के पहले ही यङ् का लुक् हो जाता है।

विमर्श—भाव यह है कि 'यङोऽचि च' यह जिस अजादि आर्धधातुक प्रत्यय के परे रहते यङ् का लुक् करता है जैसा कि 'पापठकः' आदि में पापठय+अक में देखा जाता है वहाँ लोप और लुक् दोनों का निमित्त=आश्रय एक ही अजादि प्रत्यय होता है। अतः वहाँ पहले लोप होता है बाद में य् का लुक्। तब अ का स्थानिवद्भाव होने से गुण या वृद्धि नहीं होते हैं। परन्तु 'नोनाव' आदि में तो यङ् का लुक् अनैमित्तिक है, सबसे पहले ही किया जाता है। समानाश्रय न होने के कारण लोप से बाधित न होकर लुक् ही पहले होता है। अतः स्थानिवद्भाव का प्रसङ्ग ही नहीं है। उपधागुण आदि में कोई बाधा नहीं है। अतः इग्लक्षणा वृद्धि ही रोकनी है।

(भा०) [यदि इग्लक्षण वृद्धि का ही निषेध होता है तो] 'स्यदः, प्रश्रथः, हिमश्रथः, 'जीरदानुः' (ऋ ५।८३।१) तथा 'निकुचितः' इनमें [वृद्धि और गुण का निषेध] कैसे होगा ?

(वा०) शेष उदाहरणों के विषय में कहा जा चुका है।

(भा०) क्या कहा जा चुका है ?

'स्यद आदि में निपातन से वृद्धि नहीं होती है।'

[प्रत्यय को आश्रय मानने से अन्यत्र भी सिद्ध है।] [इससे 'जीरदानुः' बन जाता है।]

'रक् परे 'ज्या' का सम्प्रसारण होता है।

---

१. अस्य वार्तिकस्योपन्यासः प्रकृतानुपयुक्तोऽप्येकस्मृत्युपारोहेण जातः। अत एव क्वचित्पुस्तके नोपलभ्यते ॥

निकुचितेऽप्युक्तम् ।

किम् ?

'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येति' ॥ (परि०) न धातुलोप० ॥ ४ ॥

प्रदीपः

निकुचित इति । कित्त्वसंयोगेन नलोपे सत्युदुपधत्वमिति निमित्तमकित्त्वस्य न भवति ॥ यदि तर्ह्यकारलोपः क्रियते, तदा जङ्गम इत्यत्र तस्य स्थानिवद्भावादुपधालोपः प्राप्नोति ॥ नैष दोषः, अनङीति प्रतिषेधात् ॥ अनर्थकोऽयमङीति चेत् । उपधालोपस्यापि तर्ह्यप्राप्तिरजादौ प्रत्यये तस्य विधानात् ॥ ननु लोलुवादिषूवङादयः स्थानिवद्भावेन न सिद्ध्यन्ति तेषां स्थानिन्यदर्शनात् । संभवमात्रेणाप्यतिदेशो भवतीत्यदोषः ॥ ४ ॥

उद्द्योतः

अकित्त्वस्येति । उदुपधाद्भावादिकर्मणोरिति विहितस्येत्यर्थः ॥ एवंचाकित्त्वाभावे क्ङिति चेत्येव निषेधः सिद्धो निकुचित इति भावः । सन्निपातः=संबन्धः । तद्विघात इति कर्मण्यण् ॥ अजादौ प्रत्यये इति । यायायतेः क्तिचि यातिरित्यादौ आलोपानापत्तेर्वरेग्रहणस्य वैयर्थ्याच्च चिन्त्यमेतत् । अस्य समाधानं त्वस्माभिरुक्तमेव ॥ संभवेति । अत एव न पदान्तसूत्रे वरेग्रहणं चरितार्थम् । सत्यकारे यदि स्याद्यकारलोपस्तदा संभव उवङादेरिति भावः ॥ ४ ॥

भावबोधिनी

और 'निकुचितः' के विषय में भी कहा जा चुका है ।

क्या [कहा जा चुका है] ?

दो के सन्निपात=सन्निधान को मान कर होने वाला कार्य उस सन्निधान के विघात का कारण नहीं बनता है । [यहाँ पूर्वोक्त भाष्य देखना चाहिए जहाँ इन दोषों का परिहार किया गया है । केवल 'निकुचितः' विचारणीय है । नि कुन्च्+इट् क्त में कित् होने से 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (६।४।२४) सूत्र से न्=ञ् का लोप होता है—नि कुच् इत । अब उकार उपधा में मिल जाने के कारण 'उदुपधाद् भावादिकर्मणोरन्यतरस्याम्' (१।२।२१)सूत्र से विकल्प से अकित्त्व प्राप्त है । किन्तु क्त के कित्व के कारण ही यहाँ नकार का लोप होकर धातु उदुपध बनी है, वही उदुपधत्व उसी कित्व का विघातक नहीं बन सकता । अतः कित्व रहेगा ही । फलतः 'अग्रिमसूत्र' क्ङिति च' (१।१।५) से गुणनिषेध होने से कोई दोष नहीं रहता है]॥४॥

(४ परिभाषासूत्रम् ॥ १।१।४ आ. २ ॥)

[1]क्ङिति च ॥ १।१।५ ॥

(अथ सप्तम्यानिमित्तार्थत्वाधिकरणम्)

(१९५ आक्षेपवार्तिकम् ॥ १ ॥)

॥*॥ क्ङिति प्रतिषेधे तन्निमित्तग्रहणम् [उपधारोरवीत्यर्थम्]॥*॥

प्रदीपः

क्ङिति च ॥ ५ ॥ क्ङिति प्रतिषेध इति । इक इत्यनुवर्तते, गुणवृद्धी इति च । तत्र यदीक् क्ङितीत्यनेन विशेष्यते क्ङिति परतो य इगिति । तदा तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्येति परिभाषोपस्थानान्निर्दिष्टग्रहणस्य चानन्तर्यार्थत्वाच्चितं स्तुतमित्यादावेव निषेधः स्याद्, न तु भिन्नो भिन्नवानित्यादाविति तन्निमित्तग्रहणं कर्तव्यम् ॥ यदा तु

उद्द्योतः

क्ङिति च ॥ ५ ॥ तत्र यदीति । तस्मिन्नितिपरिभाषानुग्रहायेत्यर्थः ॥ यदा त्विति । निषेध्यत्वेन तयोः प्राधान्यादिति भावः ॥ नहीति । अनभिनिर्वृत्ते पूर्वपरव्यवहारस्य कर्तुमशक्यत्वात्तदनुपस्थानम् । निर्वृत्तनिषेधे तु देवदत्तहन्तृहतन्यायेन चितमित्यादाविकः श्रवणं न स्यादिति भावः ॥ निमित्तेति । अत्र यस्य च भावेनेति सप्तमी । सा च ज्ञापकत्वार्थिका । ज्ञापकत्वं च संबन्धं विनानुपपन्नं सद् विधिशास्त्र-क्लृप्तनिमित्तत्वमादाय पर्यवस्यति । एवं च निमित्ततया क्ङित्ज्ञाप्ये गुणवृद्धी नेत्यर्थः । तदाह—क्ङिन्निमित्ता हि तयोः प्रवृत्तिरिति ॥ केचित्तु सिद्धसाध्यसमभिव्याहार-न्यायेन निमित्तत्वं फलति इत्याहुः॥ परे तु—क्ङितीत्येतद् गुणवृद्धिविशेषणमेव । भवनक्रियातदभावयोरमूर्तत्वेन क्ङित्परत्वासंभवात् । इक इत्यस्याद्याप्यनुवृत्त्यनुक्तेः । अनुवृत्तावपि तस्य शब्दपरत्वात् । तस्मान्निमित्तग्रहणाभावे क्ङितीति सप्तम्या निर्दिष्टे पूर्वस्येत्युपस्थित्या क्ङिति अव्यवहिते पूर्वस्य ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते नेत्यर्थः । अनुवादे परिभाषा नोपतिष्ठत इति त्विको गुणवृद्धी अचश्चेति सूत्रद्वयविषयमेवेत्युक्तम् । भाष्ये तस्य निर्देशस्यानुपलम्भाच्च । तद्वक्ष्यति—भाष्ये—क्ङित्यनन्तरो गुण-भाव्यस्तीति । निमित्तग्रहणे तु तत्सामर्थ्यात्परिभाषानुपस्थानम्, तत्प्रत्याख्याने तु

भावबोधिनी

क्ङिति च १।१।५

कित्, गित् और ङित् परे रहने पर भी [गुण और वृद्धि नहीं होते हैं]।

'तन्निमित्तग्रहण' के प्रयोजन

(वा०) कित् और ङित् परे [गुण और वृद्धि के]प्रतिषेध के विषय में 'तन्निमित्त' का ग्रहण करना चाहिए ।

---

१. अत्र सूत्रे वार्तिके भाष्ये च क्ङ्क्ङिति' इति ककारद्वयवानेव पाठः । [दाधिमथः]

(आक्षेपभागव्याख्याभाष्यम्)

क्ङिति प्रतिषेधे तन्निमित्तग्रहणं कर्तव्यम् । क्ङिन्निमित्ते ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवत इति वक्तव्यम् ॥

(भाष्यम्)

किं प्रयोजनम् ?

(१२५ आक्षेपवार्तिकप्रयोजनखण्डम् ॥ १ ॥)

॥ * ॥ उपधारोरवीत्यर्थम् ॥ * ॥

(प्रयोजनखण्डव्याख्याभाष्यम्)

उपधार्थं रोरवीत्यर्थं च ॥

प्रदीपः

क्ङिद्ग्रहणं गुणवृद्धिविशेषणम्, तदा परसप्तम्या अप्रसङ्ग एव । न हि विहितयोर्निषेधः, अपि त्वनभिनिवृत्तयोरेवेति परिभाषानुपस्थानान्निमित्तसप्तम्येव क्ङितीति भवति, क्ङिन्निमित्ता हि तयोः प्रवृत्तिः ॥

उपधारोरवीत्यर्थमिति । उपधाया अपीकः प्रतिषेधार्थम्, रोरवीतेर्यङ्निमित्तप्रतिषेधनिवृत्त्यर्थम् । अत्र हि तिब्निमित्तो गुणो, न यङ्निमित्तः ॥

उद्द्योतः

लिङ्गादिना तदनुपस्थानम् ॥ संभवन्त्यां परसप्तम्यां यस्य चेति सप्तम्या असंभवाच्च । उपपदविभक्तेरिति न्यायात् ॥ सिद्धसाध्यसमभिव्याहारन्यायस्यापि तस्मिन्निति शास्त्रेण बाध एव । अत एव निमित्तग्रहणप्रयोजनावसरे—हत इत्युदाहरिष्यति । कैयटोक्तरीत्या इक्पदानुवृत्तावेव निमित्तग्रहणमिति वार्तिकस्योक्तिसंभवेन तत्प्रयोजनदानानुक्तिसंभवः स्पष्ट एवेत्याहुः ॥

उपधाया अपीति । उपधायां रोरवीतौ चार्थः प्रयोजनं प्रवृत्तिनिवृत्तिभ्यां प्रतिषेधो यस्य तत् तन्निमित्तग्रहणमिति भाष्यार्थं इति भावः ॥ उपधारोरवीतिभ्यामित्युपधारोरवीत्यर्थमित्यर्थेन नित्यसमास इत्यन्ये ॥

भावबोधिनी

(भा०) कित् और ङित् परे [गुण और वृद्धि के] प्रतिषेध के विषय में तन्निमित्त का ग्रहण करना चाहिए । कित् और ङित् को निमित्त मान कर जो गुण तथा वृद्धि प्राप्त होते हैं वे नहीं होते हैं—ऐसा कहना चाहिए ।

[इस तन्निमित्त-ग्रहण का] क्या प्रयोजन है ?

(वा०) उपधा [के इक् के प्रतिषेध] के लिये तथा रोरवीति [में प्रतिषेध के अभाव] के लिये तन्निमित्तग्रहण करना चाहिए ।

(भा०) उपधा के [इक् की गुण-वृद्धि रोकने के] लिये तथा 'रोरवीति' में [गुणनिषेध को रोकने] के लिए [तन्निमित्त-ग्रहण करना चाहिए ।]

(प्रथमप्रयोजनसमन्वयभाष्यम्)

उपधार्थं तावत्—भिन्नः, भिन्नवानिति ॥

किं पुनः कारणं न सिध्यति ?

क्ङितीत्युच्यते । यत्र क्ङित्यनन्तरो गुणभावीगस्ति तत्रैव स्याद्—चितम्, स्तुतम् । इह तु न स्याद्—भिन्नः, भिन्नवानिति ?

भावबोधिनी

विमर्श—इस सूत्र में 'इको गुणवृद्धी' तथा 'न' इनकी अनुवृत्ति पूर्व सूत्रों से होती है । 'क्ङिति' इसमें सप्तमी-निर्देश के कारण 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (१।१।६५) इस परिभाषा से 'अव्यवहित पूर्व'की उपस्थिति होती है । इसलिए जहाँ कित् और ङित् से अव्यवहित पूर्व इक् की गुणवृद्धी प्राप्त है वहीं यह सूत्र निषेध करेगा । इस कारण–चितः, चितवान्, स्तुतः स्तुतवान् आदि में तो गुण का निषेध होगा किन्तु जहाँ मध्य में व्यवधान है जैसा कि भिद्+क्त, छिद्+क्तवत् आदि में है, वहाँ निषेध नहीं हो सकेगा । यह अव्याप्ति दोष होता है । इसके अतिरिक्त 'रु' से यङ्, यङ्लुक्, द्वित्वादि करने पर रोरु+ई ति यहाँ भी गुण का निषेध होने लगेगा क्योंकि अव्यवहित पूर्व में इक् है । यहाँ अतिव्याप्ति दोष भी है । उक्त दोषों के समाधान के लिये वार्तिककार सूत्र में 'तन्निमित्त' का ग्रहण करना चाहते हैं । इस कारण जो कित् या ङित् प्रत्यय गुण और वृद्धि के निमित्त होते हैं उनके परे रहते ही गुण-वृद्धि का निषेध होता है । अब कोइ दोष नहीं रहता है क्योंकि क्त क्तवतु को मानकर गुण प्राप्त है ये कित् हैं अतः गुणनिषेध हो जायगा । रु+यङ् में रो रु+ई ति अवस्था में तिप् को मानकर गुण प्राप्त है, यङ् को मानकर नहीं, अतः इसमें निषेध नहीं होता है । गुण हो जाता है । इसी को भाष्यकार आगे स्पष्ट कर रहे हैं—

(अनु०) उपधा [के इक् की गुणवृद्धि के निषेध] के लिये उदा० भिन्नः,भिन्नवान् । [भिद्+क्त, भिद्+क्तवत् में कित् से अव्यवहित पूर्व इक् नहीं हैं, बीच में द् का व्यवधान है ।]

क्या कारण है जिससे [निषेध] सिद्ध नहीं हो पाता है ?

'कित् और ङित् परे' ऐसा कहा जाता है । जहाँ कित् और ङित् से अव्यवहित पूर्व में गुणभावी इक् है वहीं पर [निषेध] होगा; जैसे—चितम्, स्तुतम् । [चि+क्त, स्तु+क्त में कित् और इक् में कोई व्यवधान नहीं है] परन्तु यहाँ पर [निषेध] नहीं हो सकेगा—भिन्नः, भिन्नवान् । [क्योंकि भिद्+क्त, भिद्+क्तवत् में दोनों के बीच में 'द्' का व्यवधान है, अतः निषेध नहीं हो सकता ।]

टि० पाठकजन कृपया पृ० ४०९ से 'चतुर्थाह्निक' प्रारम्भ समझें ।

(प्रथमप्रयोजनबाधकभाष्यम्)

ननु च-यस्य गुण उच्यते, तत् क्ङित्परत्वेन विशेषयिष्यामः । पुगन्तलघूपधस्य चाङ्गस्य गुण उच्यते । तच्चात्र क्ङित्परम् ॥

(प्रथमप्रयोजनसाधकभाष्यम्)

पुगन्तलघूपधस्येति नैवं विज्ञायते—पुगन्तस्याङ्गस्य लघूपधस्य चेति ॥

कथं तर्हि ?

पुकि अन्तः पुगन्तः । लघ्वी उपधा लघूपधा । पुगन्तश्च लघूपधा च

प्रदीपः

ननु चेति । आकाङ्क्षया पुगन्तलघूपधस्येति सन्निधानं मन्यते । तथाहि 'क्ङिति गुणवृद्धी न भवतः' इत्युक्ते कस्येत्याकाङ्क्षायां 'यस्य प्राप्ते' इत्यस्ति पुगन्तलघूपधस्यापेक्षा ॥ अथवा क्ङ्कतीतिप्रत्ययग्रहणात्प्रत्ययेनाङ्गं सन्निधाप्यते । ततश्च क्ङ्ति भिन्नमित्यादौ लघूपधस्यानन्तर्यात्सिद्धो निषेधः ॥

लघूपधेति । ततश्च समुदायस्यानिर्देशादवयवस्य चेको व्यवधानात्तादवस्थ्यैवाप्राप्तिरित्यर्थः ॥

उद्द्योतः

नन्वसंनिहितं पुगन्ताङ्गादि कथं तत्परत्वेन विशेष्यमत आह—आकाङ्क्षयेति ॥ ननु निषेध्ये गुणवृद्धी प्रति क्ङित्परेग्रूपं निषेधविषयं प्रति चाकाङ्क्षा, नाङ्गं प्रतीत्यत आह—अथवेति । निषेध्यगुणादेरप्रत्यये क्ङित्प्रसङ्गेन प्रत्ययग्रहणमिति भावः ॥ एवं च प्रत्ययस्याङ्गांशे उत्थिताकाङ्क्षत्वात्तस्यैव तद्विशेषणमिति भावः ॥

आद्यव्याख्यायां परिहारभाष्यं योजयति—ततश्च समुदायस्येति ॥ द्वितीये त्विदं

भावबोधिनी

अच्छा तो—जिसका गुण कहा जाता है उसको कित् तथा ङित् के परत्व से विशेषित करेंगे । और पुगन्त एवं लघूपध अङ्ग का गुण कहा जाता है । वह अङ्ग यहाँ [भिन्नः, भिन्नवान् आदि में] कित् ङित् परक है । [किसके गुणवृद्धि नहीं होते हैं ? इस आकाङ्क्षा में 'जिसको प्राप्त है' यह उपस्थित होता है और ऐसा यहाँ पर अङ्ग ही केवल है दूसरा नहीं । अतः 'भिन्नः' आदि में भी निषेध हो जायगा । रोरवीति में नहीं होगा क्योंकि 'तिप्' परे निषेध की सम्भावना नहीं है ।]

पुगन्त-लघूपधस्य—इसको ऐसा नहीं जाना जाता है—पुगन्त अङ्ग का और लघूपध अङ्ग का गुण होता है ।

तब कैसा [जाना जाता है] ?

पुक् परे रहते जो अन्त है वह पुगन्त है । लघुभूत जो उपधा है वह लघूपधा है ।

पुगन्तलघूपधं--पुगन्तलघूपधस्येति ॥ अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम् । अङ्गविशेषणे हि सतीहापि प्रसज्येत--भिनत्ति, छिनत्तीति ॥

(द्वितीयप्रयोजनसमन्वयभाष्यम्)

रोरवीत्यर्थं च । 'त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति' ॥ (ऋ. ४।५८।३)

(आक्षेपभाष्यम्)

यदि तन्निमित्तग्रहणं क्रियते,शचङन्ते दोषः-रियति, पियति, धियति, प्रादुद्रवत्, प्रासुस्रुवत् । अत्र न प्राप्नोति ॥

प्रदीपः

तन्निमित्तपक्षस्यापि दुष्टतामाह—शचङन्ते दोष इति । सार्वधातुकनिमित्तस्य गुणस्य निषेधेऽपि लघूपधलक्षणस्य निषेधाप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥ रियतिपियतिधियतीति ।

उद्द्योतः

बोध्यम्—नाक्षिप्तविशेषणत्वं न्याय्यमिति ॥ भाष्ये—अङ्गविशेषणे हीति । पुगन्तलघूपधस्येत्यस्य बहुव्रीहिणाऽङ्गविशेषणत्वे इत्यर्थः ॥

यदीत्यनेन न स्वपक्षस्योपादेयतोच्यते । किं तूभयोः साम्यमुच्यत इत्याह—तन्निमित्तपक्षस्यापीति ॥ सार्वधातुकनिमित्तस्य । शनिमित्तस्य ॥ लघूपधलक्षणस्य

भावबोधिनी

पुगन्त और लघूपधा--पुगन्त-लघूपध है, उस पुगन्त-लघूपध का गुण होता है । और ऐसा (विग्रह) अवश्य ही जानना चाहिए । क्योंकि [पुगन्त तथा लघूपध को] अङ्ग का विशेषण मान लेने पर तो यहाँ भी [गुण] प्रसक्त होने लगेगा—भिनत्ति, छिनत्ति । [कारण यह है कि भिद्+ति, छिद्+ति में श्नम् = न विकरण मित् होंने से अन्त्य इ अच् के बाद अर्थात् बीच में होता है । भिनद्+ति, छिनद्+ति में भिनद्, छिनद् इतने की अंग संज्ञा होती है । गुण होने लगेगा । अतः अंग का विशेषण नहीं बनाना चाहिए । ऐसी स्थिति में दोष दूर करने के लिये'तन्निमित्तग्रहण' करना चाहिए ।]

और 'रोरवीति' [में गुणनिषेधाभाव] के लिये भी [तन्निमित्त-ग्रहण करना चाहिए]—"त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति ।' (ऋ० ४।५८।३) [रोरु ईति में तिप् मानकर गुण होता है, ङित् यङ् मानकर नहीं ।]

यदि 'तन्निमित्त' का ग्रहण किया जाता है तो श विकरण में और चङन्त रूप में दोष होता है--रियति, पियति, धियति, प्रादुद्रुवत्, प्रासुस्रुवत् । इनमें [गुणनिषेध]

(१२६ सिद्धान्तसमाधानवार्तिकम् ॥ २ ॥)

॥ * ॥ शचङन्तस्यान्तरङ्गलक्षणत्वात् [सिद्धम्] ॥ * ॥

(भाष्यम्)

अन्तरङ्गलक्षणत्वादत्रेयङुवङोः कृतयोरनुपधात्वात् गुणो न भविष्यति ॥

प्रदीपः

'रि पि गतौ' 'धि धारणे' इति तुदादौ पाठः ॥

उद्द्योतः

तिब्निमित्तस्य ॥

भाष्ये—अन्तरङ्गलक्षणत्वादिति। प्राधान्येनाच एव यत्रानन्तर्याश्रयणं तत्रैव नाजानन्तर्यं इति निषेधप्रवृत्तेस्तस्या अभावाच्चेति भावः ॥ नन्वदुद्रुवदित्यत्र सार्वधातुकेति गुणात्पूर्वं नित्यत्वाच्चङि द्विर्वचनेऽचीति निषेधादुवङभावे द्वित्वात्पर-त्वाल्लघूपधगुणो दुर्वार इति चेन्न। अन्तरङ्गत्वाद्द्वित्वस्यैव प्रवृत्तेः। ओणेॠदि-त्करणेनोपधाकार्यस्य द्वित्वात्प्राबल्यबोधनेऽपि न क्षतिः। ज्ञापकस्य सजातीयापेक्ष-त्वेनोपधाकार्यस्य यत्र द्वित्वसमाननिमित्तता द्वित्वनिमित्तचङ्निमित्तता वा तत्रैव तत्प्राबल्यबोधनादित्याहुः ॥

भावबोधिनी

नहीं प्राप्त होता है।

विमर्श—यहाँ आशय यह है कि 'रि, पि, गतौ, धि धारणे' ये तुदादिगणीय धातुयें हैं। तिप् प्रत्यय और 'तुदादिभ्यः शः' (३।१।७७) से श विकरण होने पर रि + श=अ + ति आदि में 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'(७।३।८४) से प्राप्त होने वाले गुण का निषेध तो श के 'सार्वधातुकमपित्' (१।२।४) सूत्र से ङित् होने से हो जाता है। किन्तु रि अ + ति इस अवस्था में लघूपध मानकर 'पुगन्तलघूपधस्य' (७।३।८६) से जो गुण प्राप्त है उसका निषेध नहीं हो सकेगा क्योंकि तिप् को मानकर गुण प्राप्त है, और यह कित् या ङित् नहीं है। प्रादुद्रुवत्, प्रासुस्रुवत् में प्र पूर्वक द्रु तथा स्रु णिजन्त से लुङ् च्लि = चङ्, द्वित्वादि के बाद–प्र अ दु द्रु + अ त्, प्र अ सु स्रु + अ त् में जो गुण 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७।३।८४) से प्राप्त होता है इसका निषेध तो चङ् के ङित् होने से 'क्ङिति च' से हो जाता है किन्तु प्र अ दु द्रु अ + त् में अंगसंज्ञक की उपेक्षा का जो गुण प्राप्त होता है उसका निषेध कैसे होगा क्योंकि तिप् यह कित् या ङित् नहीं है। अतः 'तन्निमित्तग्रहण' में भी ये दोष हैं। वास्तव में अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग की व्यवस्था से उवङ् ही होता है, गुण नहीं—यह आगे कहा जायगा।]

(वा०) अन्तरङ्ग लक्षण वाला होने के कारण श तथा चङ् अन्तवाले का सिद्ध हो जाता है।

(तन्निमित्तग्रहणस्य निर्दोषतोपसंहारभाष्यम्)

एवं क्रियते चेदं तन्निमित्तग्रहणम् । न च कश्चिद्दोषो भवति ॥

(फलान्तरप्रदर्शकभाष्यम्)

इमानि च भूयस्तन्निमित्तग्रहणस्य प्रयोजनानि--हतो हथः उपोयते औयत लौयमानिः पौयमानिः नेनिक्त–इति ॥

प्रदीपः

हतो हथ इति । यथैवादिप्रभृतिभ्यः शप इति शब्निवर्त्यते एवमकारोऽपि निषेधेन निवर्त्येतेत्याशयः ॥ नन्विग्लक्षणोयं गुणो न भवतीति निषेधाप्रसङ्गः । सत्यम् । परिहारान्तरसम्भवान्नैतदाश्रितम् ॥

उद्द्योतः

भूयः पुनरर्थे ॥ एवमकारोऽपीति । 'क्ङित्परे गुणवृद्धी न प्रयोक्तव्ये' इति सूत्रार्थः । तत्र यथा चितमित्यादावसतो गुणादेः प्रागभावः पाल्यते । एवं सतोऽपि

भावबोधिनी

(भा०) [प्रथमोपस्थितिकत्व रूप] अन्तरङ्ग होने के कारण यहाँ [रियति पियति धियति और प्रादुद्रुवत्, प्रासुस्रुवत् आदि में इकार तथा उकार का क्रमशः] इयङ् और उवङ् कर देने पर [इकार तथा उकार के] उपधा में न हो सकने के कारण गुण नहीं होगा ।

विमर्श—उक्त दोषों का निराकरण 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इस परिभाषा से किया जाता है । रि+अ+ति, प्र अ दु द्रु अ+त् इन में इयङ् तथा उवङ् का निमित्त पहले उपस्थित है क्योंकि उसको अल्प की अपेक्षा है अतः अन्तरङ्ग है । गुण को तिप् पर्यन्त की अपेक्षा होने से बहिरङ्ग है । अन्तरङ्ग इयङ्, उवङ् की कर्तव्यता में बहिरङ्ग गुण के असिद्ध हो जाने से इयङ्, उवङ् में बाधा नहीं है । अतः 'तन्निमित्तग्रहण' करना चाहिए ।

(अनु०) इस प्रकार से यदि 'तन्निमित्त' का ग्रहण किया जाता है, और कोई दोष (भी) नहीं होता है ।

और 'तन्निमित्तग्रहण' के ये फिर (बहुत से) प्रयोजन हैं--हतः, हथः, उपोयते, औयत, लौयमानिः, पौयमानिः, नेनिक्ते ।'

विमर्श--यदि इस सूत्र में 'तन्निमित्तग्रहण' नहीं किया जायगा तब इसका अर्थ यह होगा--कित्, ङित् परे गुण (अ, ए, ओ) और वृद्धि (आ, ऐ, औ) का प्रयोग अशुद्ध होगा । फलस्वरूप हन्+शप् + तस्, हन्+शप्+थस् आदि में जैसे 'अदि-

(फलान्तरप्रत्याख्यानभाष्यम्)

नैतानि सन्ति प्रयोजनानि। इह तावद्—हतो हथ इति, प्रसक्तस्यानभिनिर्वृत्तस्य प्रतिषेधेन निवृत्तिः शक्या कर्तुम्। अत्र च धातूपदेशावस्थायामेवाकारः॥

प्रदीपः

प्रसक्तस्येति। सामान्यलक्षणेन विशेषलक्षणापरामर्शेन यत्प्राप्तं पुनर्विशेषलक्षणपरामर्शनात्स्वरूपेणानभिनिर्वृत्तं तस्य निवृत्तिः क्रियते। परमार्थतस्तूत्सर्गापवादयोरे-

उद्द्योतः

निवृत्तिः साध्येत—सतोऽपि निवृत्तेरदिप्रभृतिभ्य इत्यादौ दृष्टत्वादिति भावः॥ नन्विति। तथा चेक इत्यनुवृत्तिसामर्थ्यादसत एवाप्रयोगः प्रतिपाद्यत इति भावः॥ नेनिक्ते इत्यत्र निजां त्रयाणां गुणः श्लावित्यभ्यासस्य गुणः॥

प्रसक्तत्वानभिनिर्वृत्तत्वयोर्विरोधमाशङ्क्याह—सामान्येति॥ निवृत्तिः। अनभिनिर्वृत्तिः॥ विहितप्रतिषिद्धयोर्विकल्पस्तर्हि स्यादत आह—परमार्थेति। गुणविध्येकवाक्यतया क्क्ङिद्भिन्नसार्वधातुकादौ गुण इत्यर्थात् क्क्ङिति तयोरप्राप्तिरेवेति

भावबोधिनी

प्रभृतिभ्यः शपः' सूत्र से शप् का लुक् होता है वैसे ही धातु के अ=गुण का भी लोप होना चाहिए, उसे वहाँ नहीं प्रयुक्त करना चाहिए। क्योंकि अकार ङिन्निमित्तक नहीं है। इसी प्रकार उप पूर्वक 'वेञ्' (तन्तुसन्ताने) धातु से कर्म में लट्=त, यक्। कित् होने से व् का सम्प्रसारण उ, ए का पूर्वरूप 'हलः' से दीर्घ—उप ऊयत—इसमें 'आद्गुणः' से प्राप्त गुण का निषेध यक् के कित्त्व को मानकर प्राप्त है। किन्तु तन्निमित्तग्रहण करने पर निषेध नहीं प्राप्त होता है क्योंकि गुण यक् निमित्तक नहीं है। इसी प्रकार औयत=आ+ऊयत में 'आटश्च' से प्राप्त वृद्धि का भी निषेध नहीं होता है क्योंकि यह भी यक् के कित्त्वनिमित्तक नहीं है। लूयमान+इञ्, पूयमान+इञ् इनमें भी ञित्व को मानकर आदिवृद्धि 'तद्धितेष्वचामादेः' सूत्र से हो जाती है। यहाँ भी यक् के कित्त्व को मानकर निषेध नहीं होता है क्योंकि वृद्धि कित्त्वनिमित्तक नहीं अपि तु ञित्वनिमित्तक है। अतः 'तन्निमित्तग्रहण' आवश्यक है।

तन्निमित्तग्रहण का खण्डन

(अनु०) ये उपर्युक्त प्रयोजन नहीं [हो सकते] हैं। इनमें पहले-'हतः,हथः'-इनमें प्रसक्त परन्तु अनभिनिवृत्त (बिना हुआ, न किया गया जो है उस) की निवृत्ति=लोप प्रतिषेध से की जा सकती है। परन्तु इन 'हतः' 'हथः' आदि में तो धातु की

(भाष्यम्)

इह च--उपोयते औयत लौयमानिः पौयमानिरिति। बहिरङ्गे गुणवृद्धी, अन्तरङ्गः प्रतिषेधः। असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ॥

प्रदीपः

कवाक्यतायामप्राप्त्यनुमानं बाध इति सिद्धान्तः॥ चितमित्यादौ च प्रसक्तानभिनिर्वृत्तगुणनिषेधे वचनस्य चरितार्थत्वाद्धतो हृथ इति भूताकारनिवृत्तावस्याव्यापारः॥ अदिप्रभृतिभ्य इत्यनेन तु गत्यन्तराभावात्सन्नेव प्रक्रियादशायां शब्निवर्त्यते॥ नन्वेवं भवत इत्यादौ प्रसक्तोऽनभिनिर्वृत्त एव शवकारः कस्मादनेन न निवर्त्यते, नैष दोषः, शब्भवतीत्यस्यां चोदनायां गुणरूपेणाचोदनान्नायं गुणनिषेधविषयः॥

उपोयत इति। वेञो यकि सम्प्रसारणे कृते उभयपदाश्रितत्वाद्बहिरङ्गो गुणः। औयतेत्यादौ बहिरङ्गाश्रयत्वाद्वृद्धिर्बहिरङ्गा॥

उद्द्योतः

भावः॥ सा च पर्युदासविधया। यद्वा प्रसज्यप्रतिषेधेन वाक्यार्थबोधे तदंशे सामान्यशास्त्रजज्ञानस्याप्रामाण्यं कल्प्यते। एकवाक्यताफलसम्पत्तेस्त्वेकवाक्यतायामित्युक्तमिति द्रष्टव्यम्॥ भूताकारेति। सिद्धाभावपरिपालनेनैव सिद्धौ असिद्धाभावविधाने गौरवादिति भावः॥ प्रक्रियायामिति। वस्तुतस्तत्रापि लुग्द्वारानुत्पत्तिरेवान्वाख्यायते इति

भावबोधिनी

उपदेशावस्था में ही अकार है। [यह किसी अन्य विधि से अभिनिर्वृत्त नहीं है। अतः इसकी निवृत्ति=लोप प्रतिषेध शास्त्र द्वारा नहीं किया जा सकता।]

और--'उपोयते, औयत, लौयमानिः, पौयमानिः'--इन सभी में गुण तथा वृद्धि बहिरङ्ग है, प्रतिषेध अन्तरङ्ग है। और अन्तरङ्ग की कर्तव्यता में बहिरंग असिद्ध हो जाता है [यह परिभाषा] है। [भाव यह है कि 'वेञ्' का यक् परे सम्प्रसारण करने पर ऊयते बना कर उप+ऊयते--इनमें दो पदों के अचों को मानकर किया जाने वाला गुण बहिरंग है। और प्रतिषेध 'ऊयते' इस एक पद के कित्त्व को मानकर होने से अन्तरंग है। अतः इसकी दृष्टि में वृद्धि असिद्ध है। इसी प्रकार 'औयत' में भी--आट्=आ+ऊयत में आट् लङ् की अपेक्षा करके होने से बहिरंग है जब कि यक् अन्तरंग है। अतः बहिरंग निमित्त वाला होने से आट् बहिरंग है, इसे मानकर होने वाली 'आटश्च' से वृद्धि भी बहिरंग है। इसी प्रकार लूयमान+इञ् में वृद्धि इञ् बहिरंग को मानकर है जब कि गुण यक् अन्तरंग को मानकर है। नि+निज्+त यहाँ अभ्यास का गुण प्राप्त है। परन्तु क्ङित् परत्व से गुण वृद्धि को

(भाष्यम्)

नेनिक्त इति । परेण रूपेण व्यवहितत्वान्न भविष्यति ॥

(अथ तन्निमित्तग्रहणप्रत्याख्यानभाष्यम्)

उपधार्थेन तावन्नार्थः । धातोरिति वर्तते । धातुं क्ङित्परत्वेन विशेषयिष्यामः ॥

प्रदीपः

नेनिक्ते इति ॥ क्ङित्परत्वेनाङ्गस्य विशेषणादङ्गस्य च कार्यित्वात्पूर्वः पक्षः । उत्तरस्त्वभ्यासस्य कार्यित्वात्तस्य च परेण रूपेण व्यवधानादिति ॥

धातुं क्ङित्परत्वेनेति । न धातुलोप इत्यत्रोपसर्जनेऽपि धातौ धातुशब्दमात्रस्य स्वरितत्वादिहानुवृत्तिरित्यर्थः ॥

उद्द्योतः

बोध्यम् ॥ नैष इति । एकान्ता अनुबन्धा इति भावः । अयमेव न्याय्य इति तस्य लोप इति सूत्रे वक्ष्यति ॥

कार्यित्वादिति । अङ्गस्य गुणो भवति, स च तत्सम्बन्ध्यभ्यासेकः इत्यर्थ इत्यभिमानः ॥ उत्तरस्त्विति । पक्ष इति शेषः ॥ क्ङित्परस्य यस्य गुणः प्राप्तस्तस्य नेति सूत्रार्थ इति भावः ॥

(भाष्ये)धातुं क्ङिदिति । परत्वेन निर्दिष्टं यत् क्ङिदिति तद्धातुं प्रति विहितमिति विशेषयिष्यामः । तथा च धातुविहितं क्ङिद् यतः कुतश्चित्परं तदवयवस्य गुणो नेति सूत्रार्थ इत्यर्थः ॥ तद् ध्वनयन्नाह—मत्वा प्रश्न इति ॥

भावबोधिनी

विशेषित करने से दोष नहीं है क्योंकि 'नि' तथा' ते, ङित् इनके मध्य में 'निज्' इतने का व्यवधान है । अतः निषेध न होकर गुण हो जाता है । यही लिख रहे हैं-]

नेनिक्ते--इसमें परवर्ती रूप अर्थात् 'निज्' इसका [नि और ते के मध्य में] व्यवधान होने के कारण अर्थात् ङित् अव्यवहित परे न होने के कारण [गुण का निषेध] नही होता है, गुण ही होता है ।

[वार्तिककार द्वारा कथित] उपधा के लिये ['तन्निमित्तग्रहण' का] कोई प्रयोजन नहीं है । कारण यह है कि इस सूत्र में पूर्ववर्ती 'न धातुलोप आर्धधातुके' (१।१।४) से [विशेषणीभूत भी] 'धातोः' इस अंश की अनुवृत्ति की जाती है । धातु को क्ङित् परत्व से विशेषित करेंगे अर्थात् धातु से विहित कित् परे या ङित् परे है उस धातुका गुण और वृद्धि नहीं होती है ।[भाव यह है किधातु से जो कित् या

(आक्षेपभाष्यम्)

यदि धातुर्विशेष्यते, विकरणस्य न प्राप्नोति—चिनुतः, सुनुतः, लुनीतः, पुनीत इति ॥

(समाधानभाष्यम्)

नैष दोषः । विहितविशेषणं धातुग्रहणम्—धातोर्यो विहित इति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

धातोरेव तर्हि न प्राप्नोति ॥

प्रदीपः

यदीति । क्ङित्यनन्तरस्य धातोर्गुणवृद्धी न भवत इति वाक्यार्थं मत्वा प्रश्नः ॥

धातोरेवेति । धातोर्विहितस्य क्ङित्यनन्तरे नेति मत्वा प्रश्नः ॥

भावबोधिनी

ङित् किया जाता है वह धातु से परे होता है अतः भिद् + क्त, भिद् + क्तवत् आदि में द् के व्यवधान रहने पर भी गुणनिषेध हो जाता है क्योंकि कित् प्रत्यय धातु से ही विहित है ।]

यदि [कित्परत्वेन और ङित्परत्वेन] धातु को विशेषित किया जाता है तब तो विकरण [को प्राप्त गुण] का निषेध नहीं प्राप्त होता है—चिनुतः, सुनुतः, लुनीतः, पुनीतः] चि, षु=सु लू, पू—इनसे लट् = तस् परे रहते श्नु = नु तथा श्ना = विकरण होते हैं । चूंकि तस् यह ङित् प्रत्यय धातु के ही गुण का निषेध करेगा, विकरण के उ तथा आदेश से होने वाले 'ई = नी' के गुण का निषेध नहीं हो सकेगा ।]

यह दोष नहीं है क्योंकि विहित-विशेषण वाले 'धातु' का ग्रहण है—धातु से विहित (किया गया) जो कित् अथवा ङित् [प्रत्यय उसके परे प्राप्त गुण-वृद्धि नहीं होते हैं । यहाँ उस प्रत्यय के पूर्व जैसे धातु का गुण नहीं होता है वैसे ही विकरण का भी नहीं होगा ।]

यदि ऐसा माना जायगा तब तो धातु का ही गुणनिषेध नहीं प्राप्त होगा । [क्योंकि—धातु से विहित जो श्नु आदि उसका अव्यवहित कित् ङित् परे गुण नहीं होता है । ऐसा सूत्रार्थ होने से विकरण का निषेध तो होगा किन्तु धातु का ही नहीं हो सकेगा क्योंकि बीच में विकरण का व्यवधान है ।]

(समाधानभाष्यम्)

नैवं विज्ञायते—धातोर्विहितस्य क्ङितीति ॥

कथं तर्हि ?

धातोर्विहिते क्ङितीति ॥

(समाधानान्तरभाष्यम्)

अथवा—कार्यकालं संज्ञापरिभाषं, यत्र कार्यं तत्र द्रष्टव्यम् "पुगन्तलघूपधस्य गुणो भवति" इत्युपस्थितमिदं भवति "क्ङिति न" इति ॥

प्रदीपः

धातोर्विहित इति। धातोर्विहिते क्ङित्यनन्तरो यो धातुर्विकरणो वा तस्य प्रतिषेध इत्यर्थः ॥

अथवेति। यत्र गुणवृद्धी विधीयेते, तत्र 'क्ङिति न' इत्युपतिष्ठते इत्येवमियं परिभाषा भवति। तत्र पुगन्तलघूपधस्येत्यत्रास्या उपस्थाने सति येन नाव्यवधानमिति भिन्नमित्यादौ निषेधो भविष्यति ॥

उद्द्योतः

धातुर्विकरणो वेति। धातुना विहितविशेषणबललब्धमेतदुभयम् ॥

येन नेति। पुगन्तलघूपधेति तत्पुरुष इति भावः ॥ श्रुतत्वात्सार्वधातुकादिकं क्ङितीति च पुगन्तादीनामेव विशेषणमित्यभिमानः ॥

भावबोधिनी

[समाधान—] ऐसा नहीं जाना जाता है—धातु से विहित का कित्-ङित् अव्यवहित पर होने पर [गुण नहीं होता है]।

तब कैसा [जाना जाता है] ?

धातु से विहित = किये गये कित् ङित् अव्यवहित परे रहने पर [गुण नहीं होता है वह धातु और विकरण दोनों हो सकते हैं। किसी का गुण नहीं होगा]।

अथवा —'संज्ञायें तथा परिभाषायें कार्य के कालवाली होती हैं', जहाँ कार्य होता है वहीं इन्हें समझना चाहिए। 'पुगन्त का और लघूपध का गुण होता है' यहीं उपस्थित होती है—कित् और ङित् परे गुण-वृद्धि नहीं होते है।

विमर्श—भाव यह है कि पूर्ववर्ती 'इको गुणवृद्धी' सूत्र तथा 'न धातुलोपे' सूत्र के 'न' को 'क्ङिति च' में मिलाकर पूर्ण वाक्य बनता है। और यह परिभाषा सूत्र ही होता है। अतः इसका अर्थ है 'इक् के ही गुणवृद्धि होते हैं किन्तु कित् और ङित् परे नहीं होते हैं। अब कार्यकाल पक्ष में यह परिभाषा उपधा गुण-विधायक 'पुगन्त-लघूपधस्य च' (७।३।८६) में भी उपस्थित होगी। इससे अर्थ होगा—पुगन्त तथा लघु उपधावाले के इक् का गुण होता है किन्तु कित् ङित् परे नहीं होता है। फलतः 'भिन्नः, भिन्नवान्' आदि में गुणनिषेध होने में कोई बाधा नहीं होती है। क्योंकि

(समाधानान्तरभाष्यम्)

अथवा यदेतस्मिन्योगे क्ङिद्ग्रहणं क्रियते तदनवकाशम् । तस्यानवकाशत्वाद् गुणवृद्धी न भविष्यतः ॥

प्रदीपः

अथवेति । मा भूत्परिभाषा, तथापि प्रतिषेधस्य प्रतिषेध्यापेक्षायां यावन्तो यादृशाः प्रतिषेद्धव्यास्तावन्ति प्रतिषेधसूत्राणीति पुगन्तलघूपधगुणे प्रतिषेध्येऽनवकाशः प्रतिषेधो व्यवहितेऽपि प्रवर्तते ॥ अथवा यथोद्देशपक्षाश्रयेण भाष्यम् । तथाहि—प्रधानान्यात्मसंस्काराय सन्निधीयमानानि गुणभेदं प्रयुञ्जते इति 'यदेतस्मिन्नि'त्युक्तम् ।

उद्द्योतः

प्रतिषेध्यापेक्षायामिति । गुणवृद्धिश्रुत्या तद्रूपप्रतिषेध्याकाङ्क्षायां यावद्गुणवृद्धिविधायकशास्त्रविषयकनिषेधवाक्यानां व्यक्तिपक्षे विनिगमनाविरहादुपप्लव इत्यर्थः ॥ प्रधानानीति । अनेन तद्विषयकनिषेधोपप्लवे बीजं दर्शितमित्याहुः ॥

भावबोधिनी

गुणप्राप्ति और उसके निषेध की प्राप्ति एक साथ ही होती है । चूंकि द् का व्यवधान अनिवार्य हैं अतः 'येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि प्राप्नोति' परिभाषा से द् आदि का व्यवधान रहने पर भी गुण और निषेध होने में बाधा नहीं है । इसके अतिरिक्त अन्त्य वर्ण से पूर्व की ही उपधा संज्ञा संभव होने से उसको सहन करना अपरिहार्य है ।

(अनु०) [चूंकि आगे पीछे के सूत्र विधि अथवा निषेधक हैं अतः इस मध्यवर्ती को परिभाषा सूत्र मानना उचित नहीं है ? इस शंका का समाधान यह है—] अथवा इस गुण विधायक सूत्र के सन्दर्भ में जो कित् ङित् का ग्रहण किया जाता है वह अनवकाश= अचरितार्थ है । उसके अनवकाश होने के कारण गुण और वृद्धि नहीं होते हैं । [भाव यह है कि प्रत्येक गुण या वृद्धि के विधायक सूत्र के लिये 'क्ङिति च न' इसकी भी कल्पना की जाती है क्योंकि प्रतिषेध्यों के समान ही प्रतिषेधक भी होने आवश्यक है । इस पक्ष में 'भिन्नः' आदि में व्यवधान रहने पर गुणनिषेध न करने से कल्पित 'क्ङिति च न' सूत्र व्यर्थ होने लगेगा । अतः व्यर्थ होकर वह एक वर्ण के व्यवधान में भी गुण की प्राप्ति और उसका निषेध करेगा । 'तन्निमित्तग्रहण' अनावश्यक है । अथवा यथोद्देश पक्ष में गुण वृद्धि के विधायक अनेक सूत्र 'क्ङिति च' के पास उपस्थित होवे हैं । सभी के लिये 'क्ङिति च' की कल्पना की जाती है । अब 'भिन्न.' आदि के लिये गुण-विधायक के साथ उपस्थित 'क्ङिति च' एक वर्ण के व्यवधान के कारण व्यर्थ=अनवकाश होकर एक वर्ण के व्यवधान में भी गुण की प्राप्ति और निषेध दोनों करेगा ।]

(समाधानान्तरभाष्यम्)

अथ वाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—'भवत्युपधालक्षणस्य गुणस्य प्रतिषेधः' इति। यदयं "त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः" (३।२।१४०) "इको झल्, (हलन्ताच्च)" (१।२।९-१०) इति क्नुसनौ कितौ करोति ॥

कथं कृत्वा ज्ञापकम् ?

कित्करण एतत्प्रयोजनम्—गुणः कथं न स्याद् इति।

यदि चात्र गुणप्रतिषेधो न स्यात्, कित्करणमनर्थकं स्यात्। पश्यति त्वाचार्यो—भवत्युपधालक्षणस्यापि गुणस्य प्रतिषेध—इति। ततः क्नुसनौ कितौ करोति ॥

प्रदीपः

अथवेति। लिङ्गान्निर्दिष्टाङ्गविकला 'तस्मिन्निति'। परिभाषोपतिष्ठत इत्यर्थः ॥ अनेकपरिहारोपन्यासो न्यायव्युत्पादनार्थः ॥

उद्द्योतः

अङ्गविकलेति। पूर्वस्य परस्य वेति सन्देहेन तदुपस्थितेरिति भावः ॥ न चैवं नेनिक्ते इत्यत्रापि निषेधः स्यात्। येनानेति न्यायेनैकवर्णव्यवधाने एव निषेधप्रवृत्ते-र्बोधनात् ॥ न्यायव्युत्पादनेति। न्यायव्युत्पत्तिः=तत्प्रतिपत्तिः, श्रोतॄणां तदुत्पादनाये-त्यर्थः ॥ भाष्ये हलन्ताच्चेति ॥ नन्वेतद्विहितकित्त्वस्य न ज्ञापकत्वम्। दिदृक्षती-त्यादावमागमनिषेधेन धिप्सतीत्यादौ नलोपेन च चारितार्थ्यात्। इको झलित्यपि न, तद्विषये इकः क्ङित्परत्वस्यैव सम्भवादिति चेन्न। "सृजिदृशोर्झल्यमकित् सनि"

भावबोधिनी

अथवा आचार्य पाणिनि की प्रवृत्ति ज्ञापित करती है कि—उपधा को मान कर होने वाले गुण का निषेध होता हैं। कारण यह है कि आचार्य "त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः" (३।२।१४०), "इकोझल्" "हलन्ताच्च" (१।२।९-१०) सूत्रों से क्नु और सन् प्रत्ययों को कित् करते हैं।

यह किस प्रकार ज्ञापक होता है ?

कित् करने का यही प्रयोजन होता है कि गुण किसी भी प्रकार से न हो सके। और यदि यहाँ गुण का निषेध ही न हो सके तो कित् करना व्यर्थ होने लगेगा। परन्तु आचार्य यह देखते हैं कि उपधा को मानकर भी होने वाले गुण का प्रतिषेध होता है। इसी कारण क्नु तथा सन् प्रत्ययों को कित् करते हैं।

विमर्श—'त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः' सूत्र से क्नु को कित् करना और 'हलन्ताच्च' हलन्त से परे झलादि सन् को कित् करना यह सिद्ध करता है कि एक वर्ण के

(द्वितीयप्रयोजनप्रत्याख्यानभाष्यम्)

रोरवीत्यर्थेनापि नार्थः । क्ङितीत्युच्यते, न चात्र क्ङितं पश्यामः ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

प्रत्ययलक्षणेन प्राप्नोति ॥

(समाधानभाष्यम्)

"न लुमता तस्मिन्" इति प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधः ।
अथापि "न लुमताङ्गस्य" इत्युच्यते, एवमपि न दोषः ॥
कथम् ?
न लुमता लुप्तेऽङ्गाधिकारः प्रतिनिर्दिश्यते ॥

उद्द्योतः

"इको झल्" "दम्भे"रिति लघुन्यासेन सिद्धे सामान्यतोऽतिदेशस्य गुणप्रतिषेधार्थत्वेन ज्ञापकसाम्राज्यात् । रुदविदमुषां क्त्वासनोर्मृडमृदगुधकुषक्लिशां क्त्व क्वः कित्त्वविधानं च ज्ञापकं बोध्यम् ॥

भावबोधिनी

व्यवधान में भी गुणप्राप्ति होती है । उसका निषेध करना चाहिए । अन्यथा अव्यवहित प्रत्यय परे न होने से गुण की प्राप्ति नहीं हो पाती, कित् करना व्यर्थ होता । अतः उपधा के गुणनिषेध के लिये तन्निमित्तग्रहण की आवश्यकता नहीं है ।

(अनु०) रोरवीति–[इसमें भी गुणनिषेधाभाव] के लिये भी [तन्निमित्तग्रहण की] आवश्यकता नहीं है । क्योंकि कित् ङित् परे गुणवृद्धि का प्रतिषेध कहा जाता है किन्तु यहाँ कित् और ङित् को परे नहीं देखता हूँ ।

प्रत्ययलक्षण के बल से प्राप्त होता है ।

'न लुमता तस्मिन्' [लुमान्=लुक्, श्लु, लुप्, शब्द से प्रत्यय का लोप=अदर्शन करने पर उस प्रत्यय के निमित्त से प्राप्त होने वाले कार्य में] प्रत्यय-लक्षण का प्रतिषेध हो जाता है । [अतः यङ् का ङित्त्व अतिदिष्ट नहीं हो सकता । गुणनिषेध नहीं होगा ।]

यदि 'न लुमताङ्गस्य' (लुमान् शब्द से प्रत्यय का लोप करने पर अंगाधिकार में विहित कार्य करने में प्रत्ययलक्षण नहीं होता है ।) ऐसा ही कहते हैं तब भी कोई दोष नहीं है ।

कैसे ?

किं तर्हि ?

योऽसौ लुमता लुप्यते तस्मिन्यदङ्गं तस्य यत्कार्यं तन्न भवतीति। अथाप्यङ्गाधिकारः प्रतिनिर्दिश्यते, एवमपि न दोषः॥

कथम् ?

"कार्यकालं सञ्ज्ञापरिभाषम्" यत्र कार्यं तत्र द्रष्टव्यम्। "सार्वधातुकार्धधातुकयोर्गुणो भवति" इत्युपस्थितमिदं भवति "क्ङिति न" इति॥

(समाधानान्तरभाष्यम्)

अथवा छान्दसमेतद्। दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति॥

उद्द्योतः

अङ्गाधिकार इति। स्वरितलिङ्गासङ्गेनेति भावः॥ कार्यकालमिति। तथा च तत्रोपस्थितत्वादिदमप्याङ्गम् अङ्गाधिकारस्थैकवाक्यतापन्नत्वादिति भावः॥ स्वरितत्वासङ्गवशात्तदधिकारपठितमिव तदधिकारस्थैकवाक्यतापन्नमपि गृह्यते इति तात्पर्यम्॥ निषेधेऽपि परिभाषासादृश्यात् परिभाषात्वमुक्तम्। सादृश्यं च निषेध्याकाङ्क्षया तदेकवाक्यतामात्रेणेति बोध्यम्॥

छान्दसमिति। यङोऽचि चेति चेन बहुलं छन्दसीत्यनुकृष्य यङो लुग्विधानादित्यर्थः। न च हुश्नुवोरिति सूत्रस्थेन हुश्नुवोरित्यस्य भाषायां यङ्लुक्सत्ताज्ञापकपरभाष्येणोर्णोवन्तिभ्यो यङ्लुग्भाषायामप्यस्तीति लभ्यते। अन्यथा ज्ञापितेऽप्यचारितार्थ्यं स्पष्टमेवेति वाच्यम्। तत्प्रामाण्येनाजादौ क्ङिति क्वचित्तत्सत्ताङ्गीकारेऽपि सर्वत्र भाषायां तत्सत्त्वे मानाभावात्। तत्रत्यभाष्यस्यैकदेश्युक्तित्वाच्च॥

भावबोधिनी

लुमान् शब्द से लोप होने पर (अर्थात् 'न लुमताङ्गस्य' इस सूत्र में) अङ्गाधिकार का प्रतिनिर्देश नहीं किया जाता है, अर्थात् अङ्गाधिकार नहीं कहा जा रहा है।

तब फिर क्या [कहा जा रहा है] ?

जो यह [प्रत्यय] लुमान् शब्द से लुप्त किया जा रहा है उस प्रत्यय के परे रहते जो अङ्गसंज्ञक है उसका जो कार्य प्राप्त होता है वह नहीं होता है। और यदि [आग्रहवश] अंग का अधिकार देखा ही जाय, तब भी कोई दोष नहीं है।

कैसे ?

'संज्ञायें तथा परिभाषायें कार्य के अनुसार कालवाली समझी जाती हैं। जहाँ कार्य होता है उसी स्थान वाली समझनी चाहिए। 'सार्वधातुक तथा आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते गुण होता है'—इस विधि सूत्र में यह उपस्थित होता है—'कित् ङित् परे गुण वृद्धि नहीं होती है।' [अतः तिप् को मानकर होने वाले गुण का प्रतिषेध नहीं होगा क्योंकि तिप् कित् अथवा ङित् नहीं है]।

अथवा यह('त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति' यहाँ 'रोरवीति')वैदिक प्रयोग है और वेद

(समाधानान्तरभाष्यम्)

अथवा बहिरङ्गो गुणोऽन्तरङ्गः प्रतिषेधः। "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" ॥

(समाधानान्तरभाष्यम्)

अथवा पूर्वस्मिन्योगे यदार्धधातुकग्रहणं, तदनवकाशम्। तस्यानवकाशत्वाद् गुणो भविष्यति ॥

प्रदीपः

बहिरङ्ग इति। ततश्चासिद्धत्वादसत्त्वान्निषेधानुपपत्तिरित्यर्थः ॥

अथवेति। ननु बहुव्रीह्यर्थमुभयविशेषणायार्धधातुकग्रहणं स्यादिति कथमनवकाशत्वम् ॥ उच्यते—विनाप्यार्धधातुकग्रहणेन बहुव्रीहिर्लभ्यते—यथैकाचो द्वे इत्यत्र। रोरवीतीत्यत्रानैमित्तिकत्वाल्लोपस्य गुणनिषेधः पूर्वेण न प्राप्नोतीत्यार्धधातुकग्रहणसामर्थ्यात्सूत्रान्तरप्राप्तोऽपि निषेधो बाध्यत इत्यर्थः ॥ यङ्निमित्तश्च निषेधोऽन्तरङ्गत्वादबाध्यते, न सार्वधातुकनिमित्त इति रोरुत इत्यादौ निषेधो भवत्येव ॥

उद्द्योतः

गुणो बहिरङ्ग इति। गुणस्य बहिरङ्गता, बहिर्भूतसार्वधातुकाश्रयत्वात् ॥ नन्वसिद्धस्यानिष्पन्नस्यैव निषेधः क्रियते, तत्राह—असत्त्वादिति। शास्त्रसिद्धत्वादत्रासत्त्वबुद्ध्या प्रतियोगिज्ञानाभावान्निषेधानुपपत्तिरिति भावः ॥

उभयविशेषणाय बहुव्रीह्यर्थमित्यन्वयः ॥ यथेति। प्रथमस्येत्येतत्कर्मधारयेऽपि विशेष्यं शक्यं कर्तुमिति न तद् बहुव्रीहित्वगमकमिति भावः ॥ ननु सूत्रान्तरप्राप्तनिवृत्तिः कथं तत्राह—सामर्थ्यादिति। अयमाशयः—आर्धधातुके इति योगो विभज्यते, धातुलोप इति वर्तते षष्ठीतत्पुरुषश्च। एवं च धात्वेकदेशलोपे सति प्रत्या-

भावबोधिनी

में जैसा रूप देखा जाता है उसी के समान कार्य की कल्पना की जाती है। [अतः गुण करने में बाधा नहीं है।]

अथवा [बहिर्भूत सार्वधातुक तिप् प्रत्यय को मानकर होने वाला] गुण बहिरंग है [और यङ् के ङित्त्व को मानकर होने वाला] प्रतिषेध अन्तरंग है। 'अन्तरंग की कर्तव्यता में बहिरंग असिद्ध रहता है। [अतः गुण होने पर भी न होने के समान रहने से कोई दोष नहीं है।]

अथवा पूर्ववर्ती ('न धातुलोप आर्धधातुके' इस] सूत्र में जो 'आर्धधातुके' का ग्रहण किया गया है वह अनवकाश है। उसके अनवकाश होने से गुण हो जायगा।

विमर्श—भाव यह है कि पूर्वसूत्र में 'आर्धधातुके' का ग्रहण 'धातुलोपे' को विशेषित करने के लिये है। क्योंकि 'धातोर्लोपः यस्मिन्' इस बहुव्रीहि में विशेष्य को

(आक्षेपभाष्यम्)

इह कस्मान्न भवति—'लैगवायनः' 'कामयते' ?

(१९७ सिद्धान्तसमाधानवार्तिकम् ॥ ३ ॥)

॥ * ॥ तद्धितकाम्योरिक्प्रकरणात् ॥ * ॥

प्रदीपः

एतच्च छान्दसत्वमभ्युपेत्य यङ्लुकोः भाष्यकारेणोक्तम् ॥ भाषाविषयत्वे तु यङ्लुकोः बहूनि प्रयोजनान्यार्धधातुकग्रहणस्य सम्भवन्ति । तोतोर्ति, तोथोर्ति, दोदोर्ति, दोधोर्ति, जोहोर्ति, मोमोर्ति, इत्यादिषु तुर्वीथुर्वीदुर्वीधुर्वीत्यादिभ्यो यङ्लुकि तिपि वकारच्छकारयो राल्लोप इति लोपे कृतेऽसत्यार्धधातुकग्रहणे बहुव्रीहावप्याश्रिते न धातुलोप इति गुणनिषेधः प्राप्नोति, स मा भूदित्येवमर्थमार्धधातुकग्रहणं स्याद् । अनेन चात्र व्यवधानान्नास्ति निषेध इति सति प्रयोजने कथमनवकाशं स्यात् ॥

उद्द्योतः

सत्याऽन्तरङ्गतया च लुप्तधात्वेकदेशनिमित्तौ गुणवृद्धिनिषेधश्चेदार्धधातुक एवेति नियमस्तत्सामर्थ्यादिति ॥ तद् ध्वनयन्नाह—यङ्निमित्तश्चेति ॥ भाषेति । हुश्नुवोः सार्वधातुक इत्यत्र हुश्नुग्रहणादिति भावः ॥ इत्यादिश्च इत्यादिना हुर्छा मुर्छा ॥ राल्लोप इति । तत्र हि क्ङिडतीति नानुवर्तते । तदनुवृत्तिपक्षे ततोर्मीत्याद्यूदाहरणम् ॥ नन्वेवमपि क्ङिडति चेति निषेधोऽत्र दुर्वार इति तद्वारणं विनाऽस्य चारितार्थ्यं कथमत आह—अनेनेति । बहिरङ्गराल्लोपस्यान्तराङ्गे यङाश्रये प्रतिषेधे कार्येऽसिद्धत्वाद् द्वाभ्यां व्यवधानात्तदप्राप्तिः । सनः कित्वेन तु एकव्यवधानमेवाश्रितमिति भावः ॥ वस्तुतस्तु भाष्यप्रामाण्यादेषां प्रयोगाणां लोकेऽभाव इत्येवाश्रयणीयम् ॥

भावबोधिनी

बताने के लिये 'आर्धधातुके'' है अर्थात् धातु का लोप जिसके परे रहते होता है उस आर्धधातुक के परे गुणवृद्धि नहीं होते हैं—यह अर्थ किया जाता है । परन्तु यह उत्तर ठीक नहीं है क्योंकि 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' (६।१।१) इस सूत्र में अन्य पद विशेष्यवाचक का उल्लेख न होने पर भी 'एकः अच् यस्मिन्' ऐसा बहुव्रीहि मान लिया जाता है । 'धातोः' आदि का ग्रहण नहीं किया जाता है । वैसे ही यहाँ भी 'आर्धधातुके' ग्रहण की आवश्यकता नहीं है । इस कारण यह अनवकाश ही है, यह अन्य सूत्र अर्थात् प्रस्तुत क्ङिति च' से प्राप्त भी गुणनिषेध का बाधक बनता है । अतः गुण हो जाता है । यङ् लुक् का प्रयोग केवल वेद में ही होता है अथवा लोक में भी —इसको लेकर वैयाकरणों में मतभेद है ।]

इनमें [वृद्धि का निषेध] क्यों नहीं होता है—'लैगवायनः, कामयते ?

(वा०) तद्धित प्रत्ययों में और 'कामि' धातु में [वृद्धि का प्रतिषेध] इक् का प्रकरण होने से [नहीं होता है ।]

(भाष्यम्)

इग्लक्षणयोर्गुणवृद्धयोः प्रतिषेधः । न चैते इग्लक्षणे ॥

(॥ इति निमित्तार्थत्वनिराकरणम् ॥)

(अथ स्थानिवत्त्वप्राप्तदोषवारणम्)

(१२८ आक्षेपवार्तिकम् ॥ ४ ॥)

॥ * ॥ लकारस्य ङित्त्वादादेशेषु स्थानिवद्भावप्रसङ्गः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

लकारस्य ङित्त्वादादेशेषु स्थानिवद्भावः प्राप्नोति—अचिनवम्, असुनवम्, अकरवम् ॥

प्रदीपः

इग्लक्षणयोरिति । इक इत्येवं ये गुणवृद्धी तयोर्निषेध इत्यर्थः ॥

लकारस्येति । अनुबन्ध इत्संज्ञकत्वाल्लोपात् स्थानिनि न सन्निधीयत इत्यनल्विधाविति निषेधो न प्रवर्तते । 'पिद् ङिन्न भवति' ङिच्च पिन्न भवतीति' भाष्यकारस्य कल्पना, न वार्तिककारस्येति दोषोपन्यासः ॥

उद्द्योतः

नन्विग्लक्षणयोरित्युक्तावपि लैगवायने इक्स्थानिकत्वेनेग्लक्षणत्वात्स्यादेव गुणनिषेधोऽत आह—इक इतीति । अर्थाधिकारानुरोधेन पदपरमेव 'इकः' इति भावः ॥

लोपादिति । पदार्थोपस्थितिकाल एवान्तरङ्गत्वाल्लोपप्रवृत्तिरिति भावः ॥ पिद् ङिन्नेति । सार्वधातुकमित्यत्रापिदिति योगविभागेन प्रसज्यप्रतिषेधेनायमर्थो लभ्यते । तत्र योगविभागसामर्थ्यात् स्थानिवत्त्वप्राप्ता अन्या वा ङित्वप्राप्तिः सर्वा प्रतिषिध्यत इत्याशयः ॥ भाष्ये स्थानिवद्भावः प्राप्नोतीति । तथा चाचिनवमित्यादौ गुणनिषेधप्रसङ्ग इति भावः ॥

भावबोधिनी

(भा०) इक् को मानकर होने वाले ही गुण और वृद्धि का प्रतिषेध [प्रस्तुत सूत्र से होता है ।] उक्त उदाहरणों में इक् को मानकर वृद्धि नहीं है । [अपितु 'तद्धितेष्वचामादेः' तथा 'अत उपधायाः' से है । 'लैगवायनः' में लिगु+फक्=आयन में यद्यपि कित् है और 'कर्मणिङ्' से णिङ् ङित् है । किन्तु इनमें 'ओर्गुणः' से गुण और उपधा अ की वृद्धि का प्रतिषेध नहीं होता है क्योंकि ये इग्लक्षण नहीं हैं । अतः स्पष्ट है कि 'तन्निमित्त' ग्रहण की आवश्यकता नहीं है ।]

स्थानिवद्भाव से प्राप्त दोषों का वारण

(वा०) लकार के ङित् हो जाने से [उसके स्थान पर होनेवाले] आदेशों में स्थानिवद्भाव का प्रसंग है ।

(१२९ एकदेशिसमाधानवार्तिकम् ॥ ५ ॥)

॥*॥ लकारस्य ङित्त्वादादेशेषु स्थानिवद्भावप्रसङ्ग इति चेद्यासुटो ङिद्वचनात्सिद्धम् ॥*॥

(भाष्यम्)

यदयं यासुटो ङिद्वचनं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यो— न ङिदादेशा ङितो भवन्तीति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

यद्येतज्ज्ञाप्यते, कथं—"नित्यं ङितः" (३।४।९९) "इतश्च" (३।४।१००) इति ?

भावबोधिनी

(भा०) लकार ङित् हैं अतः उनके स्थान पर होने वाले मिप् आदि आदेशों में स्थानिवद्भाव [से ङित्त्व] प्राप्त होता है—अचिनवम्,असुनवम्, अकरवम् । ['अनद्यतने लङ्' आदि सूत्रों से जो लकार होते हैं वे सभी ङित् है क्योंकि उनमें ङ् की इत्सँज्ञा होती है । अनुबन्ध के इत्संज्ञक होने से लुप्त हो जाने पर स्थानिवद्भाव से ङकार का स्थानी में सम्बन्ध न हो सकने से अल्विधि नहीं होती है । अतः 'अनल्विधौ' प्रतिषेध नहीं लगता है । यद्यपि 'तिप् सिप् मिप्' पित् होने से ङित् नहीं होते हैं किन्तु 'पिच्च ङित् न भवति', 'ङिच्च पित् न भवति' यह वचन वार्तिककार से उत्तरवर्त्ती भाष्यकार का होने से वार्तिककार ने 'सार्वधातुकमपित्' सूत्र का सामान्य अर्थ मानकर शंका की है ।]

(वा०) यदि लकार के ङित्त्व से आदेशों में स्थानिवद्भाव का प्रसंग आता है तो यासुट् को ङित् करने से सिद्ध है ।

(भा०) जो आचार्य पाणिनि यासुट् को ङित्वचन का अनुशासन करते है वे ज्ञापित करते हैं कि ङित् लकार के स्थान पर होने वाले आदेश ङित् नहीं होते हैं । [भाव स्पष्ट है क्योंकि लिङ् लकार को 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' सूत्र से यासुट् आगम किया गया है और इसे ङित् भी किया गया है । यदि लिङ् का ङित्त्व स्थानिवद्भाव में तिङों में आता तो उनके आगमभूत यासुट् में आना स्वाभाविक था । परन्तु आचार्य ऐसा नहीं समझते हैं कि स्थानिवद्भाव से ङित्त्व आता है । अतः यासुट् को ङित् करते हैं ।]

यदि ऐसा ज्ञापित करते हैं [कि स्थानिवद्भाव से ङित्त्व नहीं आता है] तो— 'नित्यं ङितः' (३।४।९९) तथा 'इतश्च' (३।४।१००) ये कैसे [ङित् मानकर प्रवृत्त] होते हैं ?

(समाधानभाष्यम्)

ङितो यत्कार्यं तद्भवति, ङिति यत्कार्यं तन्न भवतीति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

किं वक्तव्यमेतत् ?

(समाधानभाष्यम्)

न हि ।

प्रदीपः

कथं नित्यं ङित इति ॥ ननु ङितो लकारस्येति तत्रार्थः स्थितो, न तु ङित आदेशस्येति । अन्यथा पचावः पचन्तीति लोपः स्यात् ॥ एवं मन्यते—यासुटो ङित्वेन ज्ञापकेन स्थानिन एव लकारस्य ङिद्व्यपदेश उच्छिद्यते । ङकारोच्चारणं तु लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वित्यादौ विशेषणार्थं स्यात् ॥

ङितो यदिति । स्थानिवद्भावेन लादेशे ङिति यत्कार्यं पूर्वस्य तन्न भवतीति ज्ञाप्यते, न तु स्थानिन एव ङिद्व्यपदेश उच्छिद्यते । अन्यथा नित्यं ङित इत्येतन्नि-र्विषयं स्यात् ॥

उद्द्योतः

ननु ङित इति । तथा च न स्थानिवत्त्वेन ङित्त्वं प्राप्यमिति भावः ॥ ङिद्व्यपदेश इति । स्थानिलसम्बन्धिङस्येत्संज्ञाभाव एव ज्ञाप्यते । लस्येत्यस्य लघटित-स्येति व्याख्या कार्येत्यर्थः ॥

यत्कार्यं पूर्वस्येति । प्राप्तमिति शेषः ॥ नन्विति । प्रथमोपस्थितेत्संज्ञाशास्त्रबाधा-पेक्षया स्थानिवत्त्वबाध एव युक्त इति भावः ॥ युक्त्यन्तरमप्याह—अन्यथेति । लङ्लिङादेर्ङिद्व्यपदेशस्योच्छिन्नत्वादित्यर्थः । ङित आदेशस्येत्यर्थस्तु नेत्युक्तमेव ॥

भावबोधिनी

ङित् को जो कार्य होना है वह तो होता है किन्तु ङित् परे जो कार्य होना है वह नहीं होता है । [स्थानिवद्भाव से लकार में ङित्व रहने पर उसे परे मानकर कार्य नहीं किया जाता है । परन्तु स्थानिवद्भाव से ङित् मानकर उसी के स्थान पर जो कार्य करना है वह तो होता है । अन्यथा 'नित्यं ङितः' आदि सूत्र ही व्यर्थ होने लगेंगे क्योंकि ङित् लकारों में ही उत्तमपुरुष के वस् मस् के सकार का लोप करना है । अतः परवर्ती मानकर होनेवाले कार्य के लिए ङित्व नहीं होता है । अतः यासुट् को ङित् किया गया ।]

तो फिर क्या ऐसा कहना होगा ?

नहीं [कहना होगा] ।

(आक्षेपभाष्यम्)

कथमनुच्यमानं गंस्यते ?

(समाधानभाष्यम्)

यासुट एव ङिद्वचनात् । अपर्याप्तश्चैव हि यासुट् समुदायस्य ङित्त्वे, ङितं चैनं करोति, तस्यैतत्प्रयोजनम्—ङितो यत्कार्यं तद्यथा स्याद्, ङिति यत्कार्यं तन्मा भूदिति ॥ क्क्ङिति च ॥५॥

प्रदीपः

यासुट एवेति । ङितो यत्कार्यं तद्यासुटो न किंचिदतिदेष्टव्यमस्ति किन्तु ङिति यत्कार्यं विधीयते सम्प्रसारणादिकं तदतिदिश्यते । तच्चेत्स्थानिवद्भावेन स्यादतिदेशोऽनर्थकः स्यादित्यतिदेशः क्रियमाणो ङिति यत्कार्यं तदभावस्यैव ज्ञापकः ॥ अपर्याप्तश्चेति । समुदायस्य ङिद्व्यपदेशे कर्तव्ये यासुडसमर्थः । यासुट एव ह्यनेन

उद्द्योतः

तदभावस्यैवेति । ज्ञापकस्य सजातीयापेक्षत्वादिति भावः । भाष्ये यासुट एवेत्यस्य 'न समुदायस्य' इत्यर्थः । एवस्यावधारणार्थत्वात् । यदि समुदायस्य ङित्त्वं स्यात्तदा ङितो यत्कार्यं तदपि तत्र प्राप्तियोग्यमिति तदभावमपि ज्ञापयेत् । तथा हि नित्यं ङित इत्यादेर्ङित आदेशस्येत्येवार्थः । पचाव: पचन्तीत्यादौ तु न दोषः । सार्वधातुकमपिदित्यत्रानुवृत्तङिदित्यस्य लुप्तसप्तमीकतया ङितीव कार्यस्यैवातिदेशादिति भावः ॥ न च यासुटि ङिति किंचित् कार्यं प्राप्नोति, तन्निमित्तग्रहणेन निषेधाप्राप्तेरिति वाच्यम् । संप्रासारणप्राप्तेः । न हि तत्र प्रत्यय इत्यस्तीत्याहुः ॥ नन्ववयवे कृतस्य लिङ्गस्य समुदायविशेषकत्वाद्यासुड् ङिदित्युक्तावपि समुदायस्य ङित्वं भवत्येव । अतएव तन्निमित्तग्रहणेऽपि निषेधः सिध्यति । तच्च स्थानिवत्त्वेन सिद्धमिति व्यर्थं ङित्वं स्थानिनो ङिद्व्यपदेशोच्छेदेऽपि ज्ञापकं स्यात् । ङितो यत्कार्यं तदभावस्यापि वा ज्ञापकं स्यादत आह—भाष्ये–अपर्याप्तश्चैवेति । अस्य ङित्त्वस्य केवले आगमे संप्रसारणविधानेन चरितार्थत्वात् । अवयवेऽचरितार्थस्यैव च समुदायविशेषकत्वम् । अत एव पठिता विद्येत्यादौ ङीव् नेति भावः ॥ ङितं चैनमित्यवयवमित्यर्थः ॥ यासुट एव हीति । यासुट् ङिदिति सामानाधिकरण्यात् । यासुट्पदस्य स्वविधानाय स्वरूपपरस्य ङित्वसंबन्धे तदा-

भावबोधिनी

बिना कहा गया कैसे समझा जायगा ?

यासुट् के ही ङित् कहने के कारण [समझ लिया जायगा ।] केवल यासुट् को कहा गया ङित्व धर्म [यासुट् + तिप् आदि] समुदाय के ङित्व में अपर्याप्त = समर्थ नहीं हो सकता अर्थात् आगमी का धर्म तो आगम में आता है किन्तु आगम का

प्रदीपः

ङित्त्वं क्रियते, न समुदायस्य। क्ङिति चेत्यत्र तन्निमित्तग्रहणस्य प्रत्याख्यातत्वाद-गुणनिमित्तेऽपि यासुटि ङिति गुणनिषेधः सिध्यति। यदि समुदाये स्थानिवद्भावेन ङित्कार्यमभविष्यद्, यासुटो ङित्त्वं न व्यधास्यत्। विहितं तज् ज्ञापयति—ङिति यत्कार्यं तल्लादेशे न भवतीति॥ केषांचित्पाठः—सुपर्यासश्चैव हीति। तत्रावयव-ङित्त्वद्वारेण समुदाये ङित्त्वं विधीयत इति व्याख्येयम्॥ एवं हि क्ङितीति निमित्तसप्तमीपक्षेऽपि गुणनिषेधः सिद्ध्यति। अस्मिन्पक्षे ङित्तं चैनं करोतीति समुदायः परामृश्यते॥ ५॥

उद्द्योतः

दी लक्षणायां मानाभाव इति भावः॥ प्रत्याख्यातत्वादिति। स्वरितत्वप्रतिज्ञानात्समु-दायगतनिमित्तत्वस्यावयवे आरोपादपि निषेधप्रवृत्तिरित्यन्ये॥ यदि समुदाये इति॥ ननु स्थानिवत्त्वेन समुदायस्य ङित्त्वे यासुटः कथं ङित्त्वमिति चेत्। न। तन्ङित्त्व-साध्यफलस्य तावतापि सिद्धेरिति भावः। केषांचिदिति। अत्र पाठे—यासुट एवेत्ये-वकारः प्रसिद्ध्यर्थकः। केवलयासुटो ङित्त्वं व्यर्थं,गुणनिषेधे तन्निमित्तग्रहणात्। संप्रसा-रणमपि धात्वाक्षिप्ते प्रत्यये एव। एवं च सामर्थ्यात्समुदायविशेषकं तदिति भावः॥ ङित्तं चैनमिति। स्थानिवत्त्वेन ङित्त्वे सिद्धेऽपीति शेषः॥ ङितो यत्कार्यमित्यादि। ज्ञापकस्य सजातीयापेक्षत्वादिति भावः॥ नहि यासुड्विशिष्टस्य ङित्त्वप्रयुक्तं किंचिद-नेन ङित्त्वेन प्राप्नोति। नित्यं ङितः इत्यस्य च ङितो लस्येत्येवार्थात्। आदेशस्य ङित इत्यर्थे तु दोष उक्त एव। सार्वधातुकमित्यादौ ङिदित्यस्य उपमेये प्रथमादर्शनेन सप्तम्यन्तताया अन्याय्यत्वादिति भावः॥ नन्विदं ङित्त्वं स्तुयादित्यादावनिग्लक्षणवृद्धि-बाधनार्थम्. चिनुयुरित्यादौ जुसि चेति निषेधार्थं च चरितार्थमिति चेत्। न, ङिच्च पिन्नेति भाष्योक्तकल्पनयैव सिद्धेः। एतदर्थमेव हि भाष्ये तत्स्वीकारः॥ यत्तु–संज्ञापूर्व-कविधेरनित्यत्वेन वृद्धिवारणम्, अत एवोत औदिति नासूत्रीति॥ तन्न। अस्यार्थस्य भाष्यास्पृष्टत्वात्। ज्ञाजनोर्जेत्यस्याङ्गवृत्तपरिभाषाज्ञापकत्वपरभाष्यासङ्गतेश्च। अनयै-वान्यथासिद्धेः। जुसि चेत्यत्र क्सस्याचीत्यतोऽचीत्यनुवर्त्याजादौ जुसि गुणविधानान्न चिनुयुरित्यत्र दोषः॥ एवं च अत्रत्यपूर्वपक्षसिद्धान्तावेकदेशिन एवेति बोध्यम्॥ ५॥

भावबोधिनी

आगमी में नहीं। अतः वह आगम अपने साथ आगमी तिप् को भी ङित् नहीं कर सकता। फिर भी यासुट् को ङित् किया गया है। उसका यही प्रयोजन है—ङित् के स्थान पर जो कार्य होना है वह तो हो जावे परन्तु ङित् परे रहते जो कार्य करना है वह न हो सके। [अतः 'अचिनवम्' आदि में मिप् आदि को ङित् मानकर अमादि आदेश तथा इलोप, स् लोप आदि तो होते हैं किन्तु ङित् परे मानकर होने-वाले 'क्ङिति च' से गुणवृद्धि निषेध नहीं होते हैं। अतः स्थानिवद्भाव मानने पर भी कोई दोष नहीं आता है।]॥ ५॥

(५ परिभाषासूत्रम् ॥ १ । १ । ४ । ३ ॥)

दीधीवेवीटाम् ॥ १ । १ । ६ ॥

(सूत्रप्रयोजनाधिकरणम्, आक्षेपभाष्यम्)

किमर्थमिदमुच्यते ?

(समाधानभाष्यम्)

गुणवृद्धी मा भूतामिति—आदीध्यनम्, आदीध्यकः । आवेव्यनम्, आवेव्यकः ॥

(दीधीवेवीप्रत्याख्यानभाष्यम्)

अयं योगः शक्योऽकर्तुम् ॥

कथम् ?

(१३० सिद्धान्तवार्तिकम् ॥ १ ॥)

॥ * ॥ दीधीवेव्योश्छन्दोविषयत्वाद् दृष्टानुविधित्वाच्च छन्दसश्छन्दस्यदीधेद्दीधयुरिति च गुणदर्शनादप्रतिषेधः ॥ * ॥

प्रदीपः

दीधीवेवी ॥६॥ छन्दोविषयत्वादिति । भाषायामेतयोः प्रयोगाभावात् ॥ दृष्टानुविधित्वाच्चेति । यद्यपि भाषायामपि दृष्टमेवानुविधीयते सिद्धे शब्दार्थसंबन्ध इति

उद्द्योतः

दीधी ॥६॥ भाषायामिति । अनन्यभावो हि विषयशब्दार्थं इति भावः ॥ दृष्टस्यै-

भावबोधिनी

दीधीवेवीटाम् १।१।६

√'दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः' (धा० पा० ११०१) √वेवीङ् वेतिना तुल्ये (धा०पा० ११०२)इन धातुओं का और इट् आगम का [गुण और वृद्धि नहीं होते हैं। क्योंकि 'गुणवृद्धी' 'न' इनकी अनुवृत्ति है ।]

यह सूत्र किस लिए बनाया गया है ?

गुण और वृद्धि न हों—आदीध्यनम् आदीध्यकः । आवेव्यनम्, आवेव्यकः । [आङ्पूर्वक दीधी+ल्युट्=अन, आङ्पूर्वक वेवी+ल्युट्=अन में 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से गुण प्राप्त होता है और आङ् दीधी+ण्वुल्=अक, आ वेवी+ण्वुल्=अक में 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से वृद्धि प्राप्त होती है । इन दोनों को रोकने के लिये प्रस्तुत सूत्र बनाया गया है ।]

यह सूत्र नहीं भी बनाया जा सकता है, बनाना आवश्यक नहीं है ।

कैसे [बिना बनाये काम चलेगा] ?

(वा०) 'दीधीङ्' और 'वेवीङ्' दोनों छन्दोविषयक हैं, छन्दस्=वेद में दृष्ट रूप के अनुसार विधि होती है, और छन्दस् = वेद में—अदीधेत्' 'अदीधयुः' में गुण देखा

(भाष्यम्)

दीधीवेव्योश्छन्दोविषयत्वात् । दीधीवेव्यौ छन्दोविषयौ । दृष्टानुविधित्वाच्छन्दसः । दृष्टानुविधिश्च छन्दसि भवति । छन्दसि अदीधेदधीधयुरिति च गुणस्य दर्शनादप्रतिषेधः—अनर्थकः प्रतिषेधः=अप्रतिषेधः । "प्रजापतिर्वै यत्किंचन मनसादीधेत्," "होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत् (ऋ० सं० १०।९८।७)" "अदीधयुर्दाशराज्ञे वृतासः" (ऋ० सं० ७।३३।५)॥

(आक्षेपभाष्यम्)

भवेदिदं युक्तमुदाहरणम्—अदीधेदिति । इदं त्वयुक्तम्—अदीधयुरिति ।

प्रदीपः

न्यायात् । तथाप्यादीध्यनमित्यादिप्रयोगश्छन्दसि नास्ति । दृष्टस्यैव छन्दस्यनुविधानमित्यर्थो, न तु च्छन्दस्येव दृष्टानुविधानमिति । अथवा दृष्टानुविधिरित्यस्यायमर्थः—गुणश्छन्दसि दृश्यते न तु सर्वत्र गुणनिषेध इति ॥ अदीधेदिति । लङ् । व्यत्ययेन तिप् ॥ अदीधयुरिति । जक्षित्यादयः षडित्यभ्यस्तत्वाज्जुसादेशो झेः ॥

उद्द्योतः

वेति । भाषायां तु संप्रति प्रयोगेऽदृष्टस्यापि व्याकरणान्तरानुसारेण शिष्टप्रयोगादिना वाऽवगतसाधुत्वस्याप्यनुविधानमित्यर्थः ॥ एवं च वेदे आदीध्यनमित्यादिलक्ष्याभावादसंभवदुक्तिकं सूत्रमिति भावः ॥ अथवेति । एवं च लक्षणस्याव्याप्तिप्रतिपादकं भाष्यमिति भावः ॥ व्यत्ययेनेति । दीधीङोङित्वात् । ॥ परस्मैपदोपलक्षणं तिबिति ॥

भावबोधिनी

जाने के कारण प्रतिषेध अनर्थक है ।

(भा०) 'दीधी' तथा 'वेवी' ये दोनों छन्दस्=वेद से ही सम्बद्ध (तद्विषयक) होने के कारण, 'दीधी' और 'वेवी' छन्दोविषयक ही धातुयें हैं । 'वेद के दृष्टानुविधि होने के कारण'=वेद में दृष्ट रूप के अनुसार ही विधि होती है । तथा 'अदीधेत्' 'अदीधयुः' इनमें गुण का दर्शन होने से अप्रतिषेध = प्रतिषेध करना अनर्थक = निष्प्रयोजन है । उदाहरण 'प्रजापतिर्वै यत्किचन मनसादीधेत्' । (मै० सं० ३।६।४ कुछ पाठभेद हैं ।) 'होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत् ।' (ऋ० १०।९८।७) 'अदीधयुर्दाशराज्ञे वृतासः ।' (ऋ० ७।३३।५) । ['अदीधेत्' अदीधयुः' ये दीधीङ् धातु लिङ्लकार प्रथमपुरुष एकवचन तथा बहुवचन के रूप हैं । इनमें गुण देखा जाता है । अतः इनमें गुणनिषेध करने का औचित्य ही नहीं है । सूत्र अनावश्यक है ।]

'अदीधेत्' यह उदाहरण तो ठीक हो सकता है । किन्तु 'अदीधयुः' यह तो ठीक नहीं है । क्योंकि यह जो जुस् परे रहते ['जुसि च' ७।३।८३ से विधीयमान] गुण

अयं जुसि गुणः प्रतिषेधविषय आरभ्यते, स यथैव "क्ङिति न" इत्येतं प्रतिषेधं बाधते, एवमिममपि बाधेत ॥

(समाधानभाष्यम्)

नैष दोषः, जुसि गुणः प्रतिषेधविषय आरभ्यमाणस्तुल्यजातीयं प्रतिषेधं बाधते ॥

कश्च तुल्यजातीयः प्रतिषेधः ?

यः प्रत्ययाश्रयः । प्रकृत्याश्रयश्चायम् ॥

(समाधानान्तरभाष्यम्)

अथवा-येन नाप्राप्ते तस्य बाधनं भवति । न चाप्राप्ते 'क्ङितिने'त्येतस्मिन् प्रतिषेधे जुसि गुण आरभ्यते । अस्मिन् पुनः प्राप्ते चाप्राप्ते च ॥

प्रदीपः

प्रकृत्याश्रयश्चायमिति । ततश्चान्तरङ्गत्वादनेनैव भाव्यमित्यर्थः ॥

येन नाप्राप्त इति । कार्यविशेषचिन्तापेक्षायामयं न्यायः, न तु कार्यसामान्यं बाध्यमित्यस्यापेक्षायामेतन्न्यायावतारः ॥

उद्द्योतः

अन्तरङ्गत्वादिति ॥ नन्वेवं बहिरङ्गस्य जुसि गुणस्य कथमनेन निषेध इति चेत् । न । सर्वस्यापि गुणस्य प्रत्ययाश्रयत्वेन बहिरङ्गतयान्तरङ्गनिषेध्याभावादिति भावः ॥

सर्वत्रैतन्न्यायानाश्रयणे हेतुमाह—कार्यविशेषेति । यच्छब्देन तत्तद्रूपेण कार्याणां

भावबोधिनी

प्रतिषेध के विषय में आरम्भ किया जाता है अर्थात् 'क्ङिति च' से प्राप्त निषेध को बाधकर गुण करने के लिये 'जुसि च' सूत्र बनाया गया है। अतः यह ('जुसि च) सूत्र जिस प्रकार से 'क्ङिति च' इसका बाध करता है उसी प्रकार इस प्रस्तुत 'दीधीवेवीटाम्' का भी बाध कर लेगा। [अतः गुण ही होगा, तब प्रतिषेध का क्या फल ?]

यह दोष नहीं है, जुस् परे रहते गुण प्रतिषेध के विषय में आरम्भ किया जाता हुआ तुल्यजातीय ही प्रतिषेध का बाध करेगा, अर्थात् सभी का नहीं।

तब तुल्य-जातिवाला प्रतिषेध कौन है ?

जो प्रत्यय को मानकर होता है। परन्तु प्रस्तुत सूत्रवाला प्रतिषेध तो प्रकृति को मानकर होनेवाला है। ['जुसि च' यह गुणविधि जुस् प्रत्यय को मानकर होती है अतः 'कित् ङित् प्रत्यय परे मानकर होनेवाले गुण-निषेध का ही बाध करके गुण करेगी। परन्तु प्रकृत सूत्र तो प्रकृतिभूत धातुओं में ही गुण का निषेध करता है। अतः 'जुसि च' इसका बाध नहीं कर सकता, फलतः गुण न हो सकने से 'अदीधयुः' यह उदाहरण ठीक नहीं है।]

अथवा—'जिससे अवश्य ही प्राप्ति रहने पर विधि आरम्भ की जाती है उसी का

(आक्षेपभाष्यम्)

यदि तर्ह्ययं योगो नारभ्यते । कथं-दीध्यदिति ?

(१३१ सिद्धान्तसमाधानवार्तिकम् ॥ २ ॥)

॥ * ॥ दीध्यदिति च श्यन्व्यत्ययेन ॥ * ॥

प्रदीपः

कथं दीध्यदिति । लेट् तिप् । इतश्च लोपः परस्मैपदेष्वितीकारलोपः । लेटोऽडाटावित्यडागमः ॥

श्यन्व्यत्ययेनेति । श्यनो ङित्त्वाद्गुणाभावः । यीवर्णयोर्दीधीवेव्योरितीकारलोपः ॥ क्वचित्तु शव्यत्ययेनेति पाठः । तत्र शस्य ङित्वाद्गुणाभावः । एरनेकाच इति यणादेशः॥

उद्द्योतः

परामर्शादिति भावः ॥ केचित्तु—सामान्यचिन्ताविषयेऽप्येतं न्यायं योजयन्ति । तदा येनेत्यस्य स्वेतरेणेत्यर्थः ॥

[क्वचित्तु शो व्यत्येति पाठः ॥]

भावबोधिनी

बाधन किया जाता है । 'कित् ङित् परे नहीं होते हैं' इस निषेध की अवश्यमेव प्राप्ति रहने पर जुस् परे यह गुण आरम्भ किया जाता है । [अतः वह सूत्र 'क्ङिति च' निषेध का तो बाध करेगा ।] परन्तु इस 'दीधीवेवीटाम्' प्रतिषेध के प्राप्त रहते तथा प्राप्त न रहते दोनों स्थितियों में [जुस् परे गुण आरम्भ किया जाता है । अतः यह गुण प्रस्तुत निषेधक सूत्र का बाध नहीं कर सकता ।]

विमर्श—जुस् प्रत्यय 'सार्वधातुकमपित्' सूत्र से ङिद्वत् होने के कारण जहाँ-जहाँ जुस् रहेगा वहाँ-वहाँ 'क्ङिति च' यह प्रतिषेध अवश्य प्राप्त होता रहेगा । अतः 'जुसि च' यह निरवकाश होकर 'क्ङिति च' इसका बाध कर लेगा । परन्तु दीधीङ् के जुस् परे अदीधयुः आदि में निषेध प्राप्त है 'ञि भी भये' के 'अबिभयुः' आदि में अप्राप्त है वहाँ 'जुसि च' चरितार्थ है । दोनों में कोई निरवकाश नहीं है । अतः 'जुस् परे रहते होनेवाला गुण' इस निषेध का बाधक नहीं करेगा । निषेध सार्थक है । इसको 'दृष्टानुविधि' मानकर ही रोका जा सकता हैं । यहाँ की पंक्तियाँ कुछ गम्भीर हैं ।

(अनु०) तो फिर यदि प्रस्तुत सूत्र आरम्भ नहीं किया जाता है तब 'दीध्यत्' यह कैसे बनेगा ? [दीधी + लेट् = तिप् अट् विकरण, इलोप—दीधी + अत्, यण् होने पर रूप बनता है । इस सूत्र के अभाव में गुण का निषेध कैसे होगा ?]

(वा०) 'दीध्यत्'—यह रूप अट् के स्थान पर श्यन् विकरण के व्यत्यय से बनेगा।

(भाष्यम्)

दीध्यदिति च श्यन् व्यत्ययेन भविष्यति ॥

(एकदेशिप्रत्याख्यानभाष्यम्)

इटश्चापि ग्रहणं शक्यमकर्तुम् ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

कथम्—अकणिषम्, अरणिषम्, कणिता श्वः, रणिता श्व इति ?

(समाधानभाष्यम्)

"आर्धधातुकस्येड्वलादेः" (७।२।३५) इत्यत्र इडित्यनुवर्तमाने पुनरिड्ग्रहणस्य प्रयोजनम्—इड् इडेव यथा स्याद्, यदन्यत्प्राप्नोति तन्मा भूदिति ॥

प्रदीपः

इडित्यनुवर्तमाने इति । नेड्वशि कृतीत्यतः ॥

उद्द्योतः

भाष्ये–अकणिषमिति । सिजन्तस्याङ्गस्य मिऽपोमि लघूपधगुणः प्राप्नोति ॥ श्वःप्रयोगो लुडर्थः । तत्र हि तिपो डादेशे टिलोपे च तास्प्रत्ययान्तमङ्गं भवति । तृचि ह्यनङ्गत्वान्न गुणप्राप्तिरिति भावः ॥

भाष्ये पुनरिड्ग्रहणस्येति ॥ न च नेत्यस्य निवृत्त्यर्थं तत्; स्पष्टं चेदं नेड्वशीत्यत्र भाष्ये इति वाच्यम् । क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तत इति न्यायेन नेड्वशीत्यत्रत्यनञो निवृत्तिसिद्धेरिति भावः ॥ वस्तुतस्त्वत्रत्यमिदं भाष्यमेकदेश्युक्तिः । आर्धधातुकस्येति

भावबोधिनी

(भा०) 'दीध्यत' यह रूप श्यन् व्यत्यय से बन जायगा । [दीधी + श्यन् + शत् = दीधी + य + अत् में 'यीवर्णयोर्दीधीवेव्योः' (७।४।५३) से ईकारलोप होने पर रूप बनता है । कहीं 'शव्यत्ययेन' पाठ भी है । श भी ङित् है अतः गुणनिषेध तथा यण् करके रूप बन सकता है ।]

[इस सूत्र में] 'इट्' का भी ग्रहण नहीं किया जा सकता है, इट् के बिना भी कार्यनिर्वाह हो जायगा ।

कैसे बनेगे—अकणिषम्, अरणिषम्, कणिता श्वः, रणिता श्वः । [कण, रण धातुओं के अट् लुङ् = मिप् = अम्, सिच्, इट् षत्व आदि करने पर अकण् इष, अम्, अरण् इष अम् इनमें 'पुगन्त-लघूपधस्य च' सूत्र से उपधा इट् का गुण प्राप्त है । कण् + इट् तास् + लुट् = तिप् = डा = आ, में भी इट् का लघूपध गुण प्राप्त है । प्रस्तुत सूत्र के अभाव में गुण का वारण कैसे होगा ?]

'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (७।२।३५) इस सूत्र में [नेड् वशि कृति ७।२।८ सूत्र से] इट् की अनुवृत्ति सम्भव रहने पर भी इस सूत्र में पुनः जो इट् का ग्रहण किया

किं चान्यत् प्राप्नोति ?

गुणः ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

यदि नियमः क्रियते, 'पिपठिषतेरप्रत्ययः पिपठीः'—दीर्घत्वं न प्राप्नोति ॥

(समाधानभाष्यम्)

नैष दोषः। आङ्गं यत्कार्यं तन्नियम्यते। न चैतदाङ्गम् ॥

प्रदीपः

पिपठीरिति। पिपठिषतेः क्विप्। अतो लोप इत्यकारलोपः। षत्वस्यासिद्धत्वात् ससजुषो रुरिति रुत्वम्। पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवदित्यल्लोपस्य रुत्वे स्थानिवद्भावाभावः॥

आङ्गमिति। अङ्गस्येत्यनुवर्तनादङ्गाधिकारविहितं यद्रूपान्तरमिटस्तदेव निवार्यते–

उद्द्योतः

सूत्रस्थेड्ग्रहणस्य च नेड् वशीतिसूत्रे भाष्ये प्रत्याख्यानात्। तत्करणेन नियमरूपगुरुतरयत्नमाश्रित्यैतत्प्रत्याख्यानस्यायुक्तत्वात् ॥ अङ्गस्येत्यनुवृत्तावपि अङ्गाधिकारविहितविकारस्यैव व्यावृत्तेः शब्दमर्यादयाऽलाभाच्च। अन्त्येऽपि सिद्धत्ववचनस्य ज्ञापकत्वाश्रयणे गौरवमिति बोध्यम् ॥

क्विबिति। अप्रत्यय इत्यस्याश्रूयमाणः प्रत्यय इत्यर्थः। कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे स्वादयः ॥

भावबोधिनी

गया है उसका यही प्रयोजन है—जिस प्रकार से इट् इट् ही रहे, जो कुछ दूसरा आदेश प्राप्त होता है, वह न हो सके।

और दूसरा क्या प्राप्त होता है ?

[इट् के स्थान पर] गुण [प्राप्त होता है]। [अतः 'इट्' का गुण न होने से उसके प्रतिषेध के लिये इट् ग्रहण भी अनावश्यक है।]

[इट् का इट् ही रहता है, दूसरा कोई आदेश नहीं होता है–ऐसा] यदि नियम किया जाता है तो 'पिपठिष' इस सन्नन्त से अप्रत्यय = क्विप् प्रत्यय [और उसका सर्वापहारी लोप करने पर]—'पिपठीः' यहाँ दीर्घत्व नहीं प्राप्त होता है। [पिपठिष के अ का 'अतो लोपः' से लोप कर देने के बाद प्रथमा एकवचन में—पिपठिष्+सु हल्ङ्यादि लोप के बाद षत्व के असिद्ध हो जाने पर 'स्' के स्थान पर 'ससजुषोः रुः' सूत्र से रुत्व और 'र्वोरुपधायाः' सूत्र से दीर्घ होना आदेश नहीं प्राप्त होता है। क्योंकि उक्त नियम से इट् का इट् ही रहना चाहिए।]

यह दोष नहीं है। क्योंकि आङ्ग = अङ्गसंज्ञक-सम्बन्धी जो कार्य प्राप्त है उसी

(समाधानान्तरभाष्यम्)

अथवा असिद्धं दीर्घत्वं तस्यासिद्धत्वान्नियमो न भविष्यति ॥ दीधी-वेवीटाम् ॥ ६ ॥

प्रदीपः

इडेव यथा स्यादिति नियमेनेत्यर्थः ॥ र्वोरुपधाया इति च दीर्घत्वं नाङ्गम् । यत्तु ग्रहोऽलिटि दीर्घं इति दीर्घत्वं, तद्वचनाद्भवति ॥ पिपठिषि ब्राह्मणकुलानीत्यत्र त्वकार-लोपस्य स्थानिवद्भावाद् झलन्तत्वाभावान्नुमभावस्तेन पिपठींषीति कथं सान्तमहतः संयोगस्येति दीर्घत्वमिति न चोदनीयम् । क्वौ विधिं प्रति न स्थानिवदित्यर्थो व्यवस्था-पयिष्यते, न तु क्वौ लुप्तं न स्थानवदिति ॥

अथवेति । इडेवेत्यस्मिन्नियमे दीर्घत्वस्यासिद्धत्वान्नास्ति नियमेन व्यावृत्तिः । ततश्च शास्त्रदृष्टयाऽविकृतरूप एवेट्, प्रयोग एव तु विकृतः । अलावीदित्यत्र तु सिज्लोप एकादेशे सिद्ध इत्यसिद्धत्वनिषेधवचनात्सवर्णदीर्घत्व भवति ॥६॥

उद्द्योतः

झलन्तत्वाभावादिति । स्वविधौ स्थानिवत्त्वाभावादजन्तलक्षणोऽपि नेति द्रष्टव्यम् ॥ ननु क्वौ लुप्तस्य स्थानिवत्त्वनिषेधादल्लोपस्य स्थानिवत्त्वं दुर्लभमत आह—क्वाविति ॥

अलावीदित्यत्रेति ॥ नच समार्त्तेत्यत्र ह्रस्वादङ्गादिति सिज्लोपाय सिद्धत्ववचनं चरितार्थम्,सिद्धत्वे हि परत्वात्सिज्लोपे ततो वृद्धिः । अन्यथा पूर्वं वृद्धौ स न स्यादिति वाच्यम् । लावस्थायामडिति पक्षे सर्वतो वृद्धेरन्तरङ्गत्वेन तत्पक्षे सिज्लोपाप्राप्त्या तदेकवाक्यत्वेन पक्षान्तरेऽपि सिज्लोपाभावस्यैवौचित्येन समार्ष्टेत्येव रूपस्यौचित्यात्सत्य-भिधाने ॥ सिज्लोप एकादेशे इति तु सिज्लोपोत्तरप्राप्तसवर्णदीर्घरूपैकादेशविषयमेवेति बोध्यम् । वस्तुतो नियमस्यैकदेशयुक्तित्वाद् विफलोयं विचार इति तत्त्वम् ॥६॥

भावबोधिनी

का नियम किया जाता है ।और यह['र्वोरुपधाया दीर्घ इकः'(८।२।७६)से प्राप्त होनेवाला दीर्घ आदेश] आङ्ग कार्य नहीं है । [क्योंकि 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' (७।२।३५) 'अङ्गस्य' (६।४।१) इस अधिकार के अन्तर्गत है । अतः साहचर्य से वहीं के कार्यों को रोकेगा, अन्यत्र के नहीं ।]

अथवा ['र्वोरुपधायाः' से किया जानेवाला] दीर्घत्व असिद्ध हो जाता है, उसके असिद्ध हो जाने के कारण नियम लागू नहीं होगा । ['र्वोरुपधाया दीर्घ इकः'८।२।७६ त्रिपादीस्थ है और 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' ७।२।३५ सपादसप्ताध्यायीस्थ है । अतः 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र के अनुसार इट् विधायक शास्त्र की दृष्टि में दीर्घविधायक त्रिपादीस्थ शास्त्र असिद्ध है । अतः इट् ह्रस्व ही दिखाई देगा, जब कि वास्तव में दीर्घ हो चुका है, यहाँ नियम लागू नहीं होगा ।] ॥ ६ ॥

(६ संयोगसंज्ञासूत्रम् ॥ १ । १ । ४ आ । ४ ॥)

हलोऽनन्तराः संयोगः ॥ १ । १ । ७ ॥

(अनन्तरपदार्थनिरूपणाधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

अनन्तरा इति—कथमिदं विज्ञायते—अविद्यमानमन्तरं येषामिति, आहो-स्विदविद्यमाना अन्तरैषामिति ?

(प्रत्याक्षेपभाष्यम्)

किं चातः ?

(प्रत्याक्षेपसमाधानभाष्यम्)

यदि विज्ञायते—अविद्यमानमन्तरं येषामिति, अवग्रहे संयोगसंज्ञा न

प्रदीपः

हलोऽनन्तराः ॥७॥ कथमिति । किमन्तरशब्दस्य नञा बहुव्रीहिः, अथवा अन्तरा-शब्दस्येति प्रश्नः । अन्तरं = विवरं वर्णशून्यकाल इत्यर्थः ॥ अविद्यमाना इति । मध्ये

उद्द्योतः

हलोऽनन्तराः । ७ ॥ अन्तराशब्दो मध्ये इत्यर्थः ॥

भावबोधिनी

हलोऽनन्तराः संयोगः ॥ १।१।७

[सूत्र में प्रयुक्त] 'अनन्तराः' यह (पद) किस प्रकार से समझा जाता है, अर्थात् इसका क्या विग्रह और अर्थ समझना चाहिए—(१) विद्यमान नहीं है अन्तर = व्यवधान = वर्णोच्चारणरहित काल जिनका [वे 'अनन्तराः' हैं] ऐसा, अथवा विद्यमान नहीं है अन्तरा=बीच में कोई वर्ण जिनके [वे 'अनन्तरा' हैं]—ऐसा ।

विमर्श—'अन्तर' और 'अन्तरा' ये दो शब्द हैं । दोनों के साथ नञ् घटित बहुव्रीहि समास में 'अनन्तराः' पद निष्पन्न हो सकता है (१) 'अन्तर' का अर्थ है—विवर, छिद्र अर्थात् अन्य वर्णशून्यकाल । अतः 'अविद्यमान' है अन्तर = वर्ण-शून्यकाल जिन हल् = व्यञ्जन वर्णों में उनकी 'संयोग' संज्ञा होती हैं । (२) 'अन्तरा' का अर्थ है—मध्य । इसके अनुसार—जिनके मध्य में (कोई दूसरा अर्थात् अच्) विद्यमान = नहीं है, केवल दो या अधिक हल् वर्ण ही एक साथ प्रयुक्त हैं उन हल् वर्णों की संयोग संज्ञा होती है । प्रथम अर्थ में वर्ण के आधारभूत काल का अभाव = निषेध किया गया हैं और द्वितीय में आधारमात्र का नहीं अपितु आधेयभूत वर्ण का अभाव = निषेध माना जा सकता है ।

(अनु०) इस [दो अर्थों की कल्पना] से क्या ?

यदि यह अर्थ माना जाय—अविद्यमान है अन्तर (= वर्ण शून्यकाल) जिनमें, तब तो अवग्रह में संयोग संज्ञा नहीं प्राप्त होती है—'अप्स्विति-अप्ऽइति सु' इसमें अन्तर=

प्राप्नोति—'अप्स्विति-अप्ऽसु' (ऋ० सं० पद० १।२३।१९ यजुः ८।२५) इति। विद्यते ह्यत्रान्तरम् ॥

अथ विज्ञायते—अविद्यमाना अन्तरैषामिति, न दोषो भवति ॥

(द्वितीयपक्षाभ्युपगमभाष्यम्)

यथा न दोषस्तथास्तु ।

(प्रथमपक्षाभ्युपगमभाष्यम्)

अथवा पुनरस्तु--अविद्यमानमन्तरं येषामिति ॥

(आक्षेपस्मारणभाष्यम्)

ननु चोक्तम्—अवग्रहे संयोगसंज्ञा न प्राप्नोति—'अप्स्विति-अप्ऽसु' इति। 'विद्यते ह्यत्रान्तरमिति ॥

प्रदीपः

येषामन्ये वर्णा अविद्यमाना इत्याधेयस्य निषेधो न त्वाधारस्य ॥

अवग्रह इति । अर्धमात्राकालोऽवग्रह इष्यते । अर्धमात्राकालं स्थित्वा वर्णान्तरं समुच्चार्यते तत्र गुरोरनृत इति प्लुतो न भवेत् ॥

उद्द्योतः

न त्वाधारस्येति । कालमात्रस्येत्यर्थः ॥

अर्धेति । वर्णाद्वर्णोच्चारणेऽर्धमात्राकालस्य नियतत्वात्तदधिकोऽर्धमात्राकाल इत्यर्थः । अत एव मात्राकालोऽवग्रह इति प्रतिशाख्यान्तरैरविरोधः ॥

भावबोधिनी

वर्णोच्चारण से शून्यकाल है। [अवग्रह में अर्धमात्रा काल ही माना जाता हैं । और इतने काल का व्यवधान एक वर्ण के उच्चारण के बाद दूसरे वर्ण के उच्चारण के पहले अर्थात् मध्य में रहना अपरिहार्य है । अतः यह व्यवधानकाल नहीं माना जाता। अतः संयोग संज्ञा नहीं हो सकती जब कि सिद्धान्ततः मानी जाती है ।]

(२) यदि यह अर्थ माना जाता है—अविद्यमान है अन्तरा = मध्य में [विजातीय अच्] जिनमें' [उनकी संयोग संज्ञा होती है ।] तब कोई दोष नहीं होता है। [क्योंकि एकमात्रिक वर्ण का होना ही व्यवधान माना जाता है ।]

[तब तो यही ठीक है कि] जिस प्रकार के अर्थ से दोष न हो वही माना जाय। अथवा यह अर्थ ही रहे—अविद्यमान है अन्तर = वर्ण-शून्यकाल जिनमें [उनकी संयोग होती है ।]

क्यों श्रीमन् ! अभी कहा गया है कि [ऐसा उपर्युक्त अर्थ मानने पर]—अवग्रह में संयोग संज्ञा नहीं प्राप्त होती है-अप्स्विति-अप्ऽसु' । यहाँ पर अन्तर=वर्णयुक्तकाल है।

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

नैव दोषो न प्रयोजनम् ॥

(इत्यनन्तरपदार्थनिरूपणम्)

———

प्रदीपः

नैव दोष इति । दोषनिवृत्तये संज्ञा क्रियते, प्रयोजनाभिनिर्वृत्तये वा, इह चोभयाभावः । अधिकरणवृत्तेर्दूराद्धूते संबन्धाभावात् । विचार्यमाणानामित्यादौ तु वाक्यस्य टेरित्यनुवर्तते, न गुरोरनृत इति । अप्स्वव्यशब्दे दोष इति चेद्, नैवंविधे विषये प्रकृत्यवयवस्यावग्रहं पदकाराः कुर्वन्ति ॥ अप्सुयोनिरित्यादावपि समासघटकपदानामन्तोऽवगृह्यते इति सुशब्दात्पूर्वस्य नास्त्यवग्रहः ॥

उद्द्योतः

नैव दोष इत्यादेः संज्ञाऽभावे न दोषः । संज्ञायां च न प्रयोजनमित्यर्थं इत्याह—दोषनिवृत्तये इत्यादि ॥ अप्स्वव्यशब्दे इति । अप्सुशब्दाद्दिगादियति अपो योनियन्मतुष्वित्यलुक् । प्रकृत्यवयवस्य=तद्धितप्रकृत्यवयवस्य । अत्र च वैदिकसंप्रदाय एव शरणम्॥ अन्तोऽवेति । समासे समस्यमानपदान्ते एवावग्रहः । अयमपि वैदिकसंप्रदाय एव ॥

भावबोधिनी

[यहाँ संयोग संज्ञा हो जाने या न हो जाने पर] न कोई दोष होता है और न कोई प्रयोजन ।

विमर्श—सामान्यतया पदसंज्ञक शब्द के बाद अवग्रह (ऽ) का प्रयोग किया जाता है और उसका अर्धमात्राकाल माना जाता है । चूंकि एक वर्ण के उच्चारण के अर्धमात्रा काल के बाद ही स्वाभाविक रूप से दूसरे वर्ण का उच्चारण होता है । अतः अर्धमात्रा अपरिहार्य रूप में रहती है और अर्धमात्राकाल अवग्रह का होता है । दोनों के मिला देने से एक मात्राकाल का व्यवधान = अन्तर संयोग हो जाता है । इसी आशय से 'अप्सु इति—अप्ऽसु' में व्यवधान माना जा रहा है । यहाँ सुप् परे रहते 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' सूत्र से 'अप्' की पद संज्ञा होने से उसके बाद और सु से पूर्व मध्य में अवग्रह (ऽ) का प्रयोग किया जाता है ।

जब 'अन्तरा' अर्थ मानते हैं तब दोष नहीं है क्योंकि मध्य में कोई वर्ण नहीं है । वास्तव में 'अप्ऽसु' इसमें संयोग संज्ञा होने अथवा न होने से फल में कोइ अन्तर नहीं देखा जाता है । अतः 'अन्तर' या 'अन्तरा' किसी के भी साथ समास किया जा सकता है ।

(अथ प्रत्येकं संयोगसंज्ञानिराकरणाधिकरणम्)

(१३२ आक्षेपवार्तिकम् ॥ १ ॥)

॥ * ॥ संयोगसंज्ञायां सहवचनं यथान्यत्र ॥ * ॥

(भाष्यम्)

संयोगसंज्ञायां सहग्रहणं कर्तव्यम्—"हलोऽनन्तराः संयोगः सह" इति वक्तव्यम् ॥

किं प्रयोजनम् ?

सहभूतानां संयोगसंज्ञा यथा स्यादेकैकस्य मा भूदिति ॥यथान्यत्र । तद्यथा—अन्यत्रापि यत्रेच्छति सहभूतानां कार्यं, करोति तत्र सहग्रहणम् । तद्यथा "सह सुपा" (२ । १ । ४) "उभे अभ्यस्तं सह" (६ । १ । ५) इति ॥

(दूषणप्रश्नभाष्यम्)

किं च स्याद्, यद्येकस्य संज्ञा स्यात् ?

प्रदीपः

संयोगसंज्ञायामिति । वृद्धिसंज्ञावदानन्तर्यव्यवस्थितानां हलां प्रत्येकं संयोगसंज्ञा प्राप्नोति ॥

उद्द्योतः

नन्वनन्तरग्रहणादेकैकस्य संज्ञा दुर्लभेत्यत आह—आनन्तर्येति । एवं च तदुपलक्षणमिति भावः ॥

भावबोधिनी

प्रत्येक वर्ण की संयोग संज्ञा में दोष

(वा०) संयोग संज्ञा के विषय में 'सह' शब्द का ग्रहण वैसे ही करना चाहिए जैसे अन्यत्र [किया गया] है ।

(भा०) संयोग संज्ञा में 'सह' का ग्रहण करना चाहिए—'हलोऽनन्तराः संयोगः सह' (अचों के व्यवधान से रहित हलों की एक साथ संयोग संज्ञा होती है ।)—ऐसा कहना चाहिए ।

[सह' ग्रहण का] क्या प्रयोजन है ?

इकट्ठे (एक साथ मिले हुए) ही हलों = व्यञ्जनों की संयोग संज्ञा जिस प्रकार से हो सके, एक-एक की अर्थात् प्रत्येक वर्ण की अलग-अलग संयोग संज्ञा न होने लगे । जैसे अन्यत्र [सह का ग्रहण देखा जाता है] । जैसे दूसरे [सूत्रों] में भी सहभूत = इकट्ठे वर्णों का कोई कार्य करना चाहते हैं वहाँ पर 'सह' का ग्रहण करते हैं । जैसा कि 'सह सुपा' (२।१।४) 'उभे अभ्यस्तं सह' (६।१।५) आदि में ['सह' का ग्रहण] है ।

यदि एक-एक हल = व्यञ्जन की [अलग-अलग से] संयोग संज्ञा होने लगे तो क्या [दोष] हो सकता है ?

(दोषप्रदर्शनभाष्यम्)

इह—निर्यायात्, निर्वायात्, "वान्यस्य संयोगादेः" (६।४।६८) इत्येत्वं प्रसज्येत ॥

इह च—संहृषीष्टेति, "ऋतश्च संयोगादेः" (७।२।४३) इतीट् प्रसज्येत ॥

इह च—संह्रियत इति, "गुणोर्तिसंयोगाद्योः" (७।४।२९) इति गुणः प्रसज्येत ॥

इह च—दृषत्करोति, समित्करोतीति, "संयोगान्तस्य" (८।२।२३) इति लोपः प्रसज्येत ॥

इह च—शक्ता वस्त्वेति, "स्कोः संयोगाद्योरन्ते च" (८।२।२९)

प्रदीपः

किं च स्यादिति। द्वयोरानन्तर्ये एकैकस्यापि संयोगसंज्ञायां गुरुसंज्ञाप्रतिबद्धकार्यसिद्धिरिति प्रश्नः ॥

निर्यायादिति। सति रेफे यकारः संयोग इत्येत्वप्राप्तिः ॥ ननु समुदायस्यापि संज्ञित्वे 'अचो रहाभ्यां द्वे' इति यकारस्य द्विर्वचने कृते कस्मादेत्वं न भवति यथा—निर्म्लेयादिति। एत्वे कर्तव्ये पूर्वत्रासिद्धमिति द्विर्वचनस्यासिद्धत्वान्नायं दोषः ॥

शक्तेति। तकारे झलि परतः ककारः संयोगो भवत्यादिश्चेति लोपप्रसङ्गः ॥

उद्द्योतः

संज्ञाप्रतिबन्धेति पाठे कर्मणि घञ् बोध्यः। संज्ञाप्रतिबद्धेति पाठः सुगम एव ॥

कस्मादिति। बहूनां सन्निधानेऽविशेषेण द्वयोर्बहूनां च संज्ञायाः सिद्धान्तयिष्यमाणत्वादिति भावः ॥ परिहरति—एत्वे इति। पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने इति तु द्विर्वचने कार्येऽन्यस्यासिद्धत्वं नेत्यर्थकम्, न तु द्विर्वचनस्य तदभावप्रतिपादकमिति भावः ॥

संयोगो भवत्यादिश्चेति। प्रत्येकं संज्ञापक्षे स्कोः संयोगावयवत्वासम्भवेन षष्ठी-

भावबोधिनी

(१) 'निर्यायात्, निर्वायात्'—इनमें 'वाऽन्यस्य संयोगादेः' (६।४।६८) इस सूत्र से [आ का] एत्व होने लगेगा।

(२) 'संहृषीष्ट'—इसमें 'ऋतश्च संयोगादेः' (७।२।४३) इस सूत्र से इट् आगम होने लगेगा।

(३) 'संह्रियते'—इसमें 'गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः' (७।४।२९) इस सूत्र से गुण होने लगेगा।

(४) 'दृषत्करोति, समित्करोति'—आदि में 'संयोगान्तस्य लोपः' (८।२।२३) इस सूत्र से लोप होने लगेगा।

इति लोपः प्रसज्येत ॥

इह च—निर्यातो निर्वातः "संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः" (८।२।४३) इति निष्ठानत्वं प्रसज्येत ॥

(दोषबाधकभाष्यम्)

नैष दोषः । यत्तावदुच्यते—इह तावन्निर्यायात् निर्वायात् "वान्यस्य संयोगादेः" (६।४।६८) इत्येत्वं प्रसज्येतेति ॥ नैवं विज्ञायते-संयोग आदिर्यस्य

उद्द्योतः

समासासम्भवाल्लाघवाच्च कर्मधारय एवेति भावः ॥ आदिशब्दश्च पूर्वं [सूत्र] समीपवाची । आदित्वं च प्रत्यासत्त्या संयोगत्वाक्रान्तवर्णान्तरापेक्षयैवेति पदान्ताशे संयोगादिग्रहणचारितार्थ्यं बोध्यम् ॥ अन्यथा ह्यर्कयतेरप्रत्ययेऽग्—इत्यादावन्तकस्यापि लोपः स्यात् ॥

भावबोधिनी

(४) 'शक्ता, वस्ता'—इनमें 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' (८।२।२९) इस सूत्र से [ककार, सकार का] लोप होने लगेगा ।

(५) और 'निर्यातः, निर्वातः'—इनमें 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः' (८।२।४३) इस सूत्र से निष्ठा (प्रत्यय) के तकार का नकार होने लगेगा ।

विमर्श—निर्+यायात् में य् अकेले की संयोग संज्ञा हो जाने पर 'वान्यस्य संयोगादेः' सूत्र से वैकल्पिक एत्व होने लगेगा । इसी प्रकार 'सम् + ह्वृषीष्ट' में अकेले 'ह्' की संयोग संज्ञा होने से इट् आगम की प्रसक्ति है और 'सम् + ह्रियते' में भी हकार की संयोग संज्ञा होने से गुण की प्रसक्ति है । 'दृषद् करोति समित्करोति' में अकेले तकार की भी संयोग संज्ञा होने से संयोगान्त मान कर लोप प्रसक्त होता है । शक्ता, वस्ता [शक + लुट्, वस् + लुट्]—में क् और स् अकेले की भी संयोग संज्ञा होने से संयोगादि क् और स् का लोप प्रसक्त है । निर् + यातः, निर्+ वातः' आदि में केवल य् और व् की भी संयोग संज्ञा हो जाने पर संयोगादि यण्वान् मान कर 'त' का 'न' प्रसक्त होता है ।

उपर्युक्त दोषों का निराकरण

यह दोष नहीं है अर्थात् पूर्वोक्त कोई भी दोष नहीं है । क्योंकि जो यह कहा जाता है कि—(१) 'निर्यायात्, निर्वायात्' इनमें [अकेले य्,व् की संयोग संज्ञा मानने पर] 'वान्यस्य संयोगादेः' (६।४।६८) इस सूत्र से आकार का एत्व होने लगेगा । वहाँ

सोऽयं संयोगादिः—संयोगादेरिति ॥

कथं तर्हि ?

संयोगावादी यस्य सोऽयं संयोगादिः, संयोगादेरिति। एवं तावत्सर्वमाङ्गं परिहृतम् ॥

प्रदीपः

संयोगाविति। कथं वृत्तावुपसर्जनार्थस्य द्वित्वावगतिरिति चेद्, आदिग्रहणसामर्थ्यात्, अन्यथा संयोगादिति वक्तव्यं स्यात्। संयोगात्परो य आकारस्तदन्तस्याङ्गस्यैत्वमित्यर्थलाभात् ॥

उद्द्योतः

कथं वृत्ताविति। अयं पूर्वपक्षोऽयुक्तः, संयोगस्य द्वित्ववत्त्वेन प्रतीतेरेवाभावात्। संयोगत्वेनैवानेकसंयोगप्रतीतेः। न हि वृत्तावनेकबोध उपसर्जनान्नेति भाष्यसम्मतः। सङ्ख्याविशेषानवगमस्यैव भाष्यकृतोक्तत्वात्। नत्वनेकानवगम इति तेनोक्तमिति विभाव्यताम् ॥ संयोगात्पर इति। न चाङ्गाद्यवयवसंयोगग्रहणायादिग्रहणम्। तत्र यद्यपि दरिद्रातौ न फलम्। आर्धधातुकविवक्षायां तस्याल्लोपविधानात्, तथापि खट्वादिभ्य आचारक्विबन्तेभ्यो लिङि खट्वायादित्यादौ एत्ववारणं फलमिति वाच्यम्। स्यसिच्सूत्रादुपदेशपदानुवृत्त्या घुमास्थाद्यन्यस्यौपदेशिकस्यैव ग्रहणेन नामधातुष्वेत्वाप्रवृत्तेरिति भावः॥ खट्वादिभ्य आतो धातोरिति सूत्रस्थभाष्यप्रामाण्येनाचारक्विपोऽभावाच्च। सिद्धान्ते तु निर्यायादित्यादिवारणायाङ्गाद्यवयवसंयोगग्रहणाय तदिति बोध्यम् ॥

भावबोधिनी

पर ऐसा नहीं जाना (समझा) जाता है—संयोग है आदि में जिसके वह संयोगादि है, उस संयोगादि का [एत्व होता है]।

तब कैसा [अर्थ जाना जाता है] ?

दो संयोग हैं आदि में जिसके वह संयोगादि है, उस संयोगादि का [एत्व होता है]। इस प्रकार अङ्गसम्बन्धी (इट् आगम और गुण आदि) समस्त दोषों का परिहार हो जाता है। [एक से अधिक संयोग जिसके आदि धातु के अवयव के रूप में रहते हैं उसे ही संयोगादि माना जा सकता है। अतः 'अङ्गस्य' (६।४।१) इस अधिकार में आने वाले सभी पूर्वोक्त दोष दूर हो जाते हैं क्योंकि सभी में एक ही संयोग आदि में है दो नहीं ।]

(द्वितीयदूषणोद्धारभाष्यम्)

यदप्युच्यते—इह च दृषत्करोति समित्करोति "संयोगान्तस्य" (८।२।२३) इति लोपः प्रसज्येतेति ॥ नैवं विज्ञायते—संयोगोऽन्तो यस्य तदिदं संयोगान्तम् संयोगान्तस्येति ॥

कथं तर्हि ?

संयोगावन्तौ यस्य तदिदं संयोगान्तं संयोगान्तस्येति ?

(तृतीयदूषणोद्धारभाष्यम्)

यदप्युच्यते—इह च शक्ता वस्तेति "स्कोः संयोगाद्योः" (८।२।२९)- इति लोपः प्रसज्येतेति ॥ नैवं विज्ञायते—संयोगावादी—संयोगादी, संयोगाद्योरिति ॥

कथं तर्हि ?

संयोगयोरादी संयोगादी, संयोगाद्योरिति ॥

प्रदीपः

संयोगावन्ताविति । अत्रापि संयोगस्य लोप इत्येव, संयोगेन पदस्य विशेषणात्तदन्तविधौ लब्धेऽन्तग्रहणमाश्रितसङ्ख्याभेदः संयोगो यथा गृह्यतेत्येवमर्थं विज्ञायते ॥

संयोगयोरिति । षष्ठीसमास आश्रीयत इत्यर्थः । संयोगयोरिति द्विवचननिर्देशः

उद्द्योतः

भाष्ये आदी इति । यद्यपि मुख्यादित्वमुभयोर्व्याहतम्, तथाप्येक आदिशब्दो गौण

भावबोधिनी

और जो यह भी कहा जाता है—'दृषत्करोति, समित्करोति'—इनमें 'संयोगान्तस्य लोपः' (८।२।२३) से लोप प्रसक्त होने लगेगा। उसे भी ऐसा नहीं जाना जाता है—संयोग है अन्त में जिसके वह संयोगान्त है, उस संयोगान्त पद [के अन्त्य व्यञ्जन का लोप] होता है।

तब कैसा [समझा जाता है] ?

दो संयोग हैं अन्त में जिसके वह संयोगान्त है उस संयोगान्त [के अन्त्य वर्ण] का [लोप होता] है। [अतः केवल तकार = एक ही संयोग अन्त में होने से कोई दोष नहीं है।]

और जो यह कहा जाता है—शक्ता, वस्ता—इनमें 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' (८।२।२९) इस सूत्र से [संयोगादि स् तथा क् का] लोप प्रसक्त होने लगेगा। यह इस प्रकार का नहीं जाना (समझा) जाता है—दो संयोग आदि में हैं जिसके वह संयोगादि है, उन [संयोगादियों के स् क्] का लोप होता है।

तब कैसा [जाना जाता है] ?

(चतुर्थदूषणोद्धारभाष्यम्)

यदप्युच्यते—इह च निर्यातो निर्वात इति "संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः" (८।२।४३) इति निष्ठानत्वं प्रसज्येतेति ॥ नैवं विज्ञायते—संयोग आदिर्यस्य सोऽयं संयोगादि, संयोगादेरिति ॥

कथं तर्हि ?

संयोगावादी यस्य सोयं संयोगादिः, संयोगादेरिति ।

प्रदीपः

स्कोर्द्वित्वात्तत्समीपयोरपि हलोर्द्वित्वात्क्तः । तेनायमर्थः—झलि परतो यः संयोगः पदान्ते च यः संयोगस्तस्यादिः=समीपो यः ककारः सकारश्च तयोर्लोप इति । न चैवं सति शक्ता वस्तेत्यत्र लोपः प्राप्नोति ॥

संयोगादेरात इति । अत्रापि 'संयोगादात' इत्येव संयोगात्परो य आकारस्तदन्ताद्धातोर्नत्वमिति सिद्धे आदिग्रहणं द्वित्वसंख्याश्रयणार्थम् ॥

उद्द्योतः

इति भावः ॥ पूर्ववद्द्विवचनान्तसमासेन दोषपरिहार इति न भाष्यार्थः । उभयत्रापि द्विवचनोपादानादत आह—षष्ठीति । एवं च झलंशेऽपि संयोगादिविशेषणमर्थंवद्भवतीति भावः ॥ आदिशब्दश्च ना(द्य)वयववाची असंभवादित्याह—समीप इति । झलादिविशेष्यस्य संयोगस्योपसर्जनत्वेऽपि सौत्रत्वाद् वृत्तिः । न च शक्तेत्यत्र व्यपदेशिवद्भावेन स्वस्यापि स्वसमीपत्वेन दोषस्तदवस्थः । आदिग्रहणसामर्थ्याद् व्यपदेशिवद्भावाप्रवृत्तेः ॥

भावबोधिनी

दो संयोगों का आदि—संयोगादि है, उन संयोगादियों [स् तथा क्] का लोप होता है ।

और जो यह कहा जाता है—'निर्यातः, निर्वातः' इनमें 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः' (८।२।४३) इस सूत्र से निष्ठा = तकार का नकार होने लगेगा । यह भी ऐसा नहीं जाना जाता है—संयोग है आदि में जिसके वह संयोगादि है, उस संयोगादि [यण्वान् धातु के निष्ठा त] का नत्व होता है ।

तब कैसा [जाना जाता है] ?

दो संयोग हैं आदि में जिसके वह संयोगादि है, उस संयोगादि [धातु के निष्ठा तकार] का नत्व होता है ।

(आक्षेपभाष्यम्)

कथं कृत्वा एकैकस्य संयोगसंज्ञा प्राप्नोति ?

(समाधानभाष्यम्)

'प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिर्दृष्टा' इति । तद्यथा—वृद्धिगुणसंज्ञे प्रत्येकं भवतः ॥

(समाधानबाधकप्रतिबन्दीसिद्धान्तिभाष्यम्)

ननु चायमप्यस्ति दृष्टान्तः—'समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः' इति । तद्यथा—गर्गाः शतं दण्ड्यन्ताम् । अर्थिनश्च राजानो हिरण्येन भवन्ति । न च प्रत्येकं दण्डयन्ति ॥

प्रदीपः

कथं कृत्वेति । संयोगसंज्ञाया अन्वर्थत्वात्संयुज्यन्तेऽस्मिन्वर्णा इति समुदायः-संयोग इत्यर्थस्याश्रयणात्सहग्रहणं न कर्तव्यमित्यर्थः ॥

उद्द्योतः

वस्तुतस्तु प्रत्येकं संज्ञेति पक्षो वाच्यवृत्त्या सूत्रान्न लभ्यत एवेति व्युत्पादयितुं गूढाशयः पृच्छति—भाष्ये कथं कृत्वेति । तमेवालाभं व्याचष्टे—संयोगेति । एवं चान्वर्थसंज्ञाविरोधात्प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिन्यायो नात्राश्रयितुं शक्यत इति व्यर्थं सहेतीति भावः ॥ किं च श्रुतमानन्तर्यं प्रत्येकसंज्ञावादिनोपलक्षणमाश्रयितव्यम् । विशेषणत्वमेवोचितं, तत्त्वे संभवति उपलक्षणत्वस्यान्याय्यत्वात् । किं चाद्यन्तग्रहणसामर्थ्याद् द्विवचनान्तेनैव विग्रह इत्यर्थस्य नियमेनालाभः, बहुवचनान्तेनापि संभवादित्याहुः ॥ वस्तुतोऽन्वर्थसंज्ञा चिन्त्या, तदाश्रयणे घटपटौ संयुज्येते यत्रेत्यादौ संयोगानुयोगिप्रतियोग्यतिरिक्तस्यैवान्यपदार्थतया प्रतीतेर्व्युत्पन्नत्वेन तद्व्यतिरिक्ततद्घटितपदवाक्यरूपसमुदायस्य संज्ञापत्तावनिष्टापत्तेः । तस्मान्महासंज्ञाकरणं प्राचामनुरोधेनेत्येव न्यायः ॥ अत एव भगवता गर्गदण्डनन्यायमाश्रित्य सहग्रहणं प्रत्याख्यातं, न तु महासंज्ञयेत्यलम् ॥

भावबोधिनी

एक एक हल् = व्यञ्जन की संयोग संज्ञा कैसे प्राप्त होती है ?

'प्रत्येक में वाक्य [के अर्थ]की परिसमाप्ति देखी जाती है।' जैसे कि गुणसंज्ञा और वृद्धि संज्ञा [प्रत्येक अ ए ओ, तथा आ, ऐ, औ की] होती है। [इसी प्रकार संयोग संज्ञा भी प्रत्येक हल् की अलग-अलग ही होनी चाहिए।]

'क्यों श्रीमन्! यह भी तो दृष्टान्त है—'समुदाय में वाक्य [के अर्थ] की परिसमाप्ति होती है।' जैसे कि—'गर्गगोत्रोत्पन्न लोगों के समूह पर सौ कार्षापण आदि दण्ड लगाया जाय, वसूल किया जाय।' राजा लोग स्वर्ण के अर्थी (लोभी, लेने वाले) होते हैं। तथापि प्रत्येक गार्ग्य को दण्ड नहीं देते हैं, अर्थात् अलग-अलग वसूल नहीं करते हैं। [पूरे समुदाय से सौ कार्षापण दण्ड लेते हैं।]

(सहग्रहणप्रत्याख्यानभाष्यम्)

सत्येतस्मिन्दृष्टान्ते यदि तत्र प्रत्येकमित्युच्यते, इहापि सहग्रहणं कर्तव्यम् । अथ तत्रान्तरेण प्रत्येकमितिवचनं प्रत्येकं गुणवृद्धिसंज्ञे भवतः, इहापि नार्थः सहग्रहणेन ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

अथ यत्र बहूनामानन्तर्यं, किं तत्र द्वयोर्द्वयोः संयोगसंज्ञा भवति, आहोस्विदविशेषेण ?

प्रदीपः

आहोस्विदिति । द्वयोरित्यस्य विशेषस्यानाश्रयणाद् बहूनामेवेत्यर्थः । यथा पपाचेत्यत्र समुदायस्यैकाचो द्विर्वचनं नावयवस्यैकाचः । यदा तु द्वयोरेव हलोरानन्तर्यं तदा द्वयोर्भवत्येव । हल इति जातौ बहुवचननिर्देशात् ॥

उद्द्योतः

नन्वविशेषेणेत्यस्य द्वयोर्बहूनां चेति नार्थः । अस्याविशेषस्याग्रे वक्ष्यमाणत्वात् । मस्जौ दोषदानासङ्गतेश्चात आह—द्वयोरित्यस्येति । अत एव भाष्ये—समुदाये संयोगादिलोप इति वक्ष्यति ॥ तत्र युक्तिमाह—यथेति ।। हल इति जाताविति । वस्तुतो हलौ च हलश्चेत्येकशेषः, स्वरितादिति सूत्रेऽनुदात्तानामित्यत्र भाष्ये तथैव वक्ष्यमाणत्वात् ॥

भावबोधिनी

इस दृष्टान्त (उदाहरण) के रहने पर तो यदि वहाँ अर्थात् गुण और वृद्धि संज्ञा के विषय में 'प्रत्येक' [एक-एक की अलग-अलग संज्ञा होती है] ऐसा कहा जाता तब तो यहाँ (इस सूत्र में) भी 'सह' का ग्रहण करना चाहिए परन्तु यदि उन (गुण और वृद्धि) संज्ञा-विधायकों में 'प्रत्येक' ऐसे वचन के कहे बिना भी प्रत्येक [अ, ए, ओ, आ, ऐ, औ] को गुण और वृद्धि संज्ञा हो जाती है, तब तो यहाँ भी 'सह' ग्रहण का कोई फल नहीं है, अर्थात् समूह की ही संयोग संज्ञा होगी, प्रत्येक की नहीं ।]

अनेक हलों में दो-दो की संयोग संज्ञा या समुदाय की ?

प्रश्न है कि जहाँ बहुत से हलों = व्यञ्जनों में (विजातीय अच् का) आनन्तर्य = व्यवधानाभाव है अर्थात् अनेक हल् एक साथ प्रयुक्त हैं वहाँ क्या दो-दो हलों (व्यञ्जनों) की अलग-अलग संयोग संज्ञायें होती हैं अथवा सामान्य रूप से [सभी की एक संयोग संज्ञा होती है] ?

(भाष्यम्)

कश्चात्र विशेषः ?

(१३१ आक्षेपवार्तिकम् ॥ २ ॥)

॥ * ॥ समुदाये संयोगादिलोपो मस्जेः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

समुदाये संयोगादिलोपो मस्जेर्न सिद्ध्यति । मङ्क्ता मङ्क्तुम् ॥

इह च निर्ग्लेयात् निर्ग्लायात्, निर्म्लेयात् निर्म्लायादिति, "वान्यस्य संयोगादेः" (६।४।६८) इत्येत्वं न प्राप्नोति ॥

इह च संस्वरिषीष्टेति, "ऋतश्च संयोगादेः"(७।२।४२)इतीट् न प्राप्नोति ॥

इह च संस्वर्यते इति, "गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः" (७।२।२९) इति गुणो न प्राप्नोति ॥

प्रदीपः

मङ्क्तेति ।॥मस्जिनशोर्झलीति नुमि कृते नसजानां संयोगसंज्ञा, न तु सजयोरिति सलोपाप्रसङ्गः ॥ निर्ग्लेयादिति । यः संयोगो नासावङ्गादिः, यश्चाङ्गादिर्गकारलकार-

भावबोधिनी

इस [कथन] में क्या विशेष = अन्तर है ?

(वा०) समुदाय में (एक ही) संयोग संज्ञा [मानने] में मस्ज् का संयोगादि लोप [सिद्ध नहीं हो सकता] ।

(भा०) समुदाय में [सभी हल् वर्णों की एक ही] संयोग संज्ञा मानने पर 'मस्ज्' धातु का संयोगादि लोप सिद्ध नहीं हो सकता—मङ्क्ता, मङ्क्तुम् । [कारण यह है कि 'मस्जिनशोर्झलि' (७।१।६०) सूत्र से मस्ज् को होने वाला नुम् आगम 'मिदचोऽन्त्यात् परः' (१।१।४७) परिभाषा के बल से अन्त्य अच् अकार के बाद ही होगा—मन्स्ज् । इनमें एक ही संयोग संज्ञा होने पर स् संयोगादि नहीं हो सकेगा, मकार होने लगेगा । फलतः 'स्कोः संयोगाद्योः' सूत्र से स् लोप नहीं हो पायेगा ।]

और—निर्ग्लेयात्, निर्ग्लायात्, निर्म्लेयात् निर्म्लायात्—इनमें 'वान्यस्य संयोगादेः' (६।४।६८) इस सूत्र से [वैकल्पिक] एत्व नहीं हो सकेगा । [क्योंकि निर् का रेफ धातु ग्ला, म्ला का अवयव नहीं है । अतः धातु संयोगादि न हो सकने के कारण एत्व नहीं हो सकेगा । ग् तथा ल् की संयोग संज्ञा होगी नहीं ।]

'संस्वरिषीष्ट'—इसमें 'ऋतश्च संयोगादेः' (७।२।४२) सूत्र से इट् आगम नहीं प्राप्त होता है । [क्योंकि 'सम्स्वृ' में उपसर्ग का मकार धात्ववयव नहीं है और स् संयोग के आदि में नहीं है । अतः ऋकारान्त संयोगादि धातु न होने से इट् आगम नहीं प्राप्त होगा ।]

और 'संस्वर्यते' यहाँ पर 'गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः' (७।२।२९) सूत्र से गुण नहीं प्राप्त

इह च गोमान्करोति यवमान्करोतीति, "संयोगान्तस्य लोपः" (८।२।२३) इति लोपो न प्राप्नोति ॥

इह च निर्ग्लानो निर्म्लान इति, "संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः" (८।२।४३) इति निष्ठानत्वं न प्राप्नोति ॥

(प्रथमपक्षाभ्युपगमभाष्यम्)

अस्तु तर्हि--द्वयोर्द्वयोः संयोगः ॥

(१३४ आक्षेपवार्तिकम् ॥ ३ ॥)

॥ * ॥ द्वयोर्हलोः संयोग इति चेद्‌द्विर्वचनम् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

द्वयोर्हलोः संयोग इति चेद्‌द्विर्वचनं न सिद्ध्यति । इन्द्रमिच्छति इन्द्री-

प्रदीपः

समुदायो नासौ संयोगः ॥

इन्दिद्रीयिषतीति । अत्र द्वौ संयोगौ नदौ दरौ च, तत्र दकारस्य संयोगादित्वाद् द्विर्वचननिषेधप्रसङ्गः ॥

उद्द्योतः

[भाष्ये 'पूर्वं धातुरुपसर्गेण' इत्याश्रित्य क्वचित्, क्वचिच्च वाक्यसंस्कारपक्षाश्रयेण दोषोपन्यासः ॥]

भावबोधिनी

होता है । [क्योंकि यहाँ भी 'समृस्वृ' में समुदाय की संयोग संज्ञा होने पर धातु संयोगादि नहीं मिलता है ।]

'गोमान् करोति, यवमान् करोति'—इनमें 'संयोगान्तस्य लोपः' (८।१।४३) से संयोगान्तलोप नहीं प्राप्त होता है । [क्योंकि गोमान् त् करोति में समुदाय में त् संयोगान्त नहीं होता है । लोप नहीं होगा ।]

निर्ग्लानः, निर्म्लानः—इनमें 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः' (८।२।४३) सूत्र से निष्ठा त का नत्व नहीं प्राप्त होता है । [क्योंकि यहाँ भी समुदाय की संयोग होने पर धातु संयोगादि नहीं हो पाता है । अतः नत्व नहीं हो सकता ।]

[यदि समुदाय में एक ही संयोग मानने में उपर्युक्त दोष सम्भावित हैं—] तब तो दो-दो हलों = व्यञ्जनों की [अलग अलग स्वतन्त्र संयोग] संज्ञा हो ।

(वा०) यदि दो-दो हलों की संयोग संज्ञा [मानते हैं] तो द्विर्वचन [सिद्ध नहीं हो सकता] ।

(भा०) दो-दो हलों = व्यञ्जनों की अलग-अलग संयोग संज्ञा यदि [मानो

यति। इन्द्रीयतेः सन् इन्दिद्रीयिषति। "न न्द्राः संयोगादयः"[१] (६।१।३) इति द्विर्वचनं न प्राप्नोति॥

(१३५ समाधानवार्तिकम् ॥ ४ ॥

॥ * ॥ न वाज्विधेः ॥*॥

(भाष्यम्)

न वा एष दोषः॥

किं कारणम् ?

अज्विधेः। न्द्राः (नदराः) संयोगादयो न द्विरुच्यन्ते। अजादेरिति वर्तते॥

प्रदीपः

न वाज्विधेरिति। अजाश्रयः प्रतिषेधविधिः। अजादेरिति कर्मधारयः। तेनाच आदेः परेऽनन्तरा न्द्रा न द्विरुच्यन्ते। इन्द्रशब्दे तु दकारो नकारेण व्यवहितत्वाद् द्विरुच्यत एव॥

उद्द्योतः

परेऽनन्तरा इति। तस्मादित्युत्तरस्येत्यस्योपस्थितेरिति भावः। चन्द्रीयतेः सनोऽभिधाने यथेष्टं नामधातुष्विति द्वितीयैकाचो द्वित्वं नकारसहितस्यैव। आद्यवयवाचः परत्वाभावेनैतन्निषेधाप्रवृत्तेरिति बोध्यम्॥

भावबोधिनी

जाती] है तब तो द्विर्वचन (द्वित्व) सिद्ध नहीं हो सकता—इन्द्रम् इच्छति—[इस अर्थ में 'सुप आत्मनः क्यच्' से क्यच् करके नामधातु] 'इन्द्रीय' से पुनः इच्छार्थक सन् प्रत्यय करने पर—इन्दिद्रीयिषति [यह होता है।] 'न न्द्राः संयोगादयः' (६।१।३) सूत्र के कारण द्विर्वचन नहीं प्राप्त होता है अर्थात् द्वित्व का निषेध होता है। इन्द्रीय + सन् में 'अजादेर्द्वितीयस्य' सूत्र के कारण द्वितीय अच्विशिष्ट 'न्द्री' का ही द्वित्व होगा। यहाँ न् द् की एक संयोग संज्ञा है और द् र् की दूसरी। दूसरी के आदि में 'द्' है। अतः 'न न्द्राः संयोगादयः' सूत्र से द्वित्व का निषेध होने लगेगा।]

(वा०) अथवा अज्विधि के कारण यह (उपर्युक्त) दोष नहीं है।

(भा०) अथवा यह पूर्वोक्त (द्वित्वनिषेधरूप) दोष नहीं है।

कैसे [नहीं है] ?

अज्विधि से। संयोग के आदि न्, द्, र् का द्वित्व नहीं कहा जाता है। 'अजादेः' इसकी अनुवृत्ति होती है। [भाव यह है कि 'अजादेः' इसमें बहुव्रीहि न मानकर कर्मधारय मानना चाहिए—अच् एव आदिः = अजादिः, अर्थात् आदि जो अच्

(आक्षेपभाष्यम्)

अथ यद्येव बहूनां संयोगसंज्ञा, अथापि द्वयोर्द्वयोः, किं गतमेतदियता सूत्रेण। आहोस्विदन्यतरस्मिन्पक्षे भूयः सूत्रं कर्तव्यम् ?

(समाधानभाष्यम्)

गतमित्याह ॥

कथम् ?

यदा तावद् बहूनां संयोगसंज्ञा, तदैवं विग्रहः करिष्यते—'अविद्यमान-मन्तरमेषाम्' इति ॥

प्रदीपः

अविद्यमानमिति। बहूनां चाविवरत्वे (चानन्तरत्वे) समुदायद्विर्वचनवद् बहूनामेव संयोगसंज्ञा, न द्वयोर्द्वयोः ॥

उद्द्योतः

बहूनां चाविवरत्वे इति। बहूनां चानन्तरत्वे इति क्वचित्पाठः ॥ नन्वत्र विग्रहे कमित्यादौ कमयोः संयोगसंज्ञा स्यात्तयोर्मध्ये वर्णशून्यकालरूपच्छिद्राभावादिति चेन्न। वर्णशून्यकालव्यवायमात्रवारणे फलाभावात्सामर्थ्येन स-वर्णकालव्यवायोऽपि व्यावर्त्यते

भावबोधिनी

रूप है उससे परे जो एकाच् उसका द्वित्व होता है। यहाँ 'अजादेः' 'न न्द्राः संयोगा-दयः' सूत्र में अनुवृत्त होता है। इसलिये आदि अच् से परे अव्यवहित संयोगादि न् द् र्—उनका द्वित्व नहीं होता है। चूंकि 'इन्द्री य इष' में आदि अच् इ के अव्यवहित बाद में द नहीं है अपि तु न् है। अतः न् का द्वित्व न होने पर भी 'द' एकाच् का द्वित्व हो ही जाता है।]

अच्छा, यदि इस प्रकार से बहुत हलों की एक संयोग संज्ञा अथवा दो दो हलों की [अलग-अलग अनेक] संयोग संज्ञा में क्या यह [दोनों अर्थ] इतने ही सूत्र से जान लिये जाते हैं, अथवा किसी पक्ष में और अधिक (कुछ बड़ा) सूत्र बनाना होगा ?

[इतने से ही] समझ लिया जाता है।

कैसे ?

जब बहुत से हल् वर्णों को एक ही संयोग संज्ञा [होती है] तब इस प्रकार का विग्रह किया जायगा—अविद्यमान है अन्तर = वर्णशून्य काल जिनमें वे 'अनन्तराः' है। [अर्थात् सभी के मध्य में वर्णशून्य काल रहता है उन सभी की एक साथ संयोग संज्ञा होती है। यहाँ 'अन्तर' शब्द के साथ बहुव्रीहि मानना चाहिए।]

(समाधानशेषभाष्यम्)

यदा द्वयोर्द्वयोः संयोगसंज्ञा, तदैवं विग्रहः करिष्यते—'अविद्यमाना अन्तरा एषाम्' इति । द्वयोश्चैवान्तरा कश्चिद्विद्यते वा न वा ॥

प्रदीपः

अविद्यमान इति । मध्ये य आधेयः स द्वयोरेव मध्ये भवतीति संसर्गवद्विप्रयोगस्यापि विशेषावगतिहेतुत्वाद्बहुषु द्वयोर्द्वयोः संयोगसंज्ञा भवतीति पक्षः ॥ द्वयोश्चैवान्तरेति । अन्तरान्तरेण युक्ते इति द्वितीया कस्मादत्र न भवति । उच्यते—यदा मध्यापेक्षया नियतावधिरूपता विवक्ष्यते 'त्वां च मां चान्तरा कमण्डलुः' 'अग्नी अन्तरा' 'धवखदिरावन्तरेति, तदा द्वितीया । यदा तु नियतावधित्वं न विवक्ष्यतेऽपि तु संबन्धमात्रं तदा षष्ठ्येव भवति । तदा हि न ज्ञायते—किं तयोरेवावधित्वमुतान्यसहितयोरित्यवधिनियमाभावाद् द्वितीयाया युक्तग्रहणान्नियतावधिविवक्षाविषयाया अभावः ॥

उद्द्योतः

इत्यदोषः ॥ द्विर्वचनवदिति । एषामिति बहुवचनादिति न भ्रमितव्यम् । तस्य सूत्रे हल इतिवत्सत्त्वात् । अन्तराशब्देन विग्रहेऽपि तत्सत्त्वाच्च । अन्यथा द्वयोर्न स्यात् । किं त्वन्तरशब्देन विग्रहाद् बहूनां समवधाने तेषामप्यनन्तरत्वादिति भावः ॥

संसर्गविप्रयोगावेव भाष्ये दर्शयति—द्वयोश्चैवेति । विद्यत इत्यन्तं दृष्टान्तार्थम् । अवत्सा धेनुरित्यादौ विप्रयोगोऽपि विशेषावगतिहेतुर्दृष्टः । अन्तरा विद्यत इति,न विद्यत इति वा यत्तद् द्वयोरेवेत्यर्थः ॥ नियतावधिरूपतेति । अवधित्वं हि अन्यासहितत्वे एव तयोर्नियमेन भवति, अन्यसाहित्ये तु न तत्रावधित्वस्य नियमेन प्रतीतिः, अवधित्वविवक्षायामेव च द्वितीयेति भावः ॥ यस्य च नियमेनावधित्वं तस्यैवावधित्वविवक्षा शब्देनेति तात्पर्यम् । नियतत्वमन्यासहितत्वं, तद्वैशिष्ट्येन यावधिरूपता सा विवक्षिता यदा भवतीत्यक्षरार्थः । अन्यथा अवधित्वविवक्षायां द्वितीया, तत्त्वाविवक्षायां षष्ठीत्यर्थस्यैव शब्दतो लाभेन नियतेति कथनमधिकं स्यादिति बोध्यम् ॥ युक्तग्रहणादिति । न च तदभावेऽन्तरान्तरेणशब्दाभ्यां द्वितीयापत्तिः । तयोरव्ययत्वेन विशेषाभावात् । न च प्रथमाबाधनेन सपूर्वायाः प्रथमाया इत्यस्याप्रवृत्त्यर्थम् । व्यवस्थितविभाषया तस्य सुपरिहरत्वात् । तस्माद् युक्तग्रहणं सम्बन्धविशेषस्य प्रतिपादनाय अवधित्वस्य प्रतियोगित्वस्य वा । तेन प्रयोगमन्तरेणेत्यपि सिद्धम् । एवं च सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येवेति भावः ॥

भावबोधिनी

किन्तु जब दो-दो हलों की अलग-अलग संयोग संज्ञा होती है तब इस प्रकार विग्रह किया जायगा—अविद्यमान है अन्तरा = विजातीय वर्ण मध्य में जिनमें । (अर्थात् जिन दो-दो हलों के मध्य में अच् नहीं है उन दो दो की संयोग संज्ञा होती है ।) क्योंकि किन्हीं दो के बीच (अन्तरा) में ही व्यवधान होता है अथवा नहीं होता है । [अतः कोई अनुपपत्ति नहीं है ।]

(आक्षेपभाष्यम्)

एवमपि बहूनामेव प्राप्नोति। यान् हि भवानत्र षष्ठ्या प्रतिनिर्दिशति, एतेषामन्येन व्यवाये न भवितव्यम् ॥

(समुदायसंज्ञाभ्युपगमभाष्यम्)

अस्तु तर्हि समुदाये संज्ञा ॥

(समुदायसंज्ञादूषणस्मारणभाष्यम्)

ननु चोक्तं—समुदाये संयोगादिलोपो मस्जेः—इति ॥

प्रदीपः

यान् हीति। एषामिति बहुवचननिर्देशादिति न बोध्यम्, बहुत्वस्याविवक्षणाद्। अन्यथा शिक्षेत्यादौ द्वयोर्न स्यात्। तस्माद्योऽप्यावन्तरा स द्वयोर्भवति न वेति यदुक्तं तत्रोच्यते—यदा द्वयोर्द्वयोरन्तरा न भवति तदा बहवोऽनन्तरा इति तेषामेव प्राप्नोति। यदा हि बहूनां मध्ये भिन्नजातीयोऽज् भवति तदा मा भूत्। तदभावे तु प्रवर्तितव्यमेव बहूनां संज्ञया, समुदायद्विर्वचनवदित्यर्थः ॥

उद्द्योतः

ननु भाष्ये द्वयोरिति षष्ठीद्विवचननिर्दिष्टस्य द्वित्वाद्-यान् हि-इति बहुवचननिर्देशोऽनुपपन्न इति चेन्न। प्रकृते द्वयोरित्यनेन केवलौ वर्णौ निर्दिष्टौ। तथा सति तयोरेवावधित्वे द्वितीयापत्तिः। किं त्वन्यसहितावपि। अत एव षष्ठी। एवं च त्रयाणां समवधाने द्वयोः समुदाययोरवधित्वविवक्षणेन द्वयोः समुदाययोरनन्तरत्वे तत्समुदायवर्त्तिहलां बहुत्वात्तदुपपत्तिः। अनन्तरा इत्यनेन च न विद्यतेऽन्तरा यौ वर्णौ तौ, यौ च समुदायावन्तरा न विद्यते तौ च गृह्यन्ते एकशेषादिति न दोषः। तत्सर्वमभिप्रेत्याह—यदा द्वयोर्द्वयोरिति। द्व्यवयवकसमुदाययोरित्यर्थः। यान् वर्णान् द्वयोः समुदाययोरित्यर्थकषष्ठ्या प्रतिनिर्दिशतीति भाष्यार्थ इति भावः ॥ अनन्तरा इत्यस्यात्र पक्षे व्यावर्त्यं दर्शयन् पूर्वोक्तमेवार्थं दृष्टान्तेनोपपादयितुमाह—यदा हि बहूनामिति। न च स्रष्टेत्यादौ रेफषकारयोर्वर्णयोरन्तरा कस्यचित्सत्त्वेऽपि सरौ रषौ चेति समुदायौ तयोश्चान्तरा न कश्चिदिति तेषां संयोगत्वं स्यादिति वाच्यम्। वर्णयोरन्तरा विद्यमानत्वेनान्तरत्वाभावात्। सर्वविधानन्तरत्वस्यैव निमित्तत्वादित्याहुः ॥

भावबोधिनी

इस प्रकार से भी तो बहुत से हल् वर्णों की ही संयोग संज्ञा प्राप्त होती है। क्योंकि यहाँ पर आप जिनका='एषाम्' इस षष्ठी से निर्देश कर रहे हैं, इनकी अन्य अर्थात् अच् के व्यवधान मे संयोग संज्ञा नहीं होनी चाहिए। [अतः दो दो की संयोग संज्ञा कैसे सम्भव होगी ?]

यदि ऐसा है तब तो समुदाय की ही संयोग संज्ञा हो।

क्यों श्रीमन् ! यह कहा गया है कि—'समुदाय में संयोग संज्ञा होने पर 'मस्ज्' धातु [के संयोगादि स्] का लोप नहीं हो सकेगा।

(समुदायसंज्ञादूषणनिराकरणसिद्धान्तिभाष्यम्)

नैष दोषः । वक्ष्यत्येतत्—"अन्त्यात्पूर्वो मस्जेर्मिदनुषङ्गसंयोगादिलोपार्थम्" (१।१।४७) इति ।

(समुदायसंज्ञादूषणनिराकरणैकदेशिभाष्यम्)

अथवाऽविशेषेण संयोगसंज्ञा विज्ञास्यते–द्वयोरपि, बहूनामपि । तत्र द्वयोर्वा

प्रदीपः

अन्त्यात्पूर्वं इति । तच्चानुषङ्गलोपार्थमवश्यं वक्तव्यम् । अन्त्यादचः परे नुमि सत्यनुपधात्वान्मग्न इत्यत्र नलोपो न स्यात् । कृतेऽपि संयोगादिलोपे तस्यासिद्धत्वादनुपधात्वमेव नकारस्य ॥

अविशेषेणेति । बहुष्वनन्तरेषु द्वयोर्द्वयोरपि भवति बहूनामपीत्ययमिदानीम-

उद्द्योतः

अनुषङ्गो = नकारः । तल्लोपोऽनिदितामित्यनेन ॥

बहूनामपीति । न्यायतः सूत्रात्सम्भवमात्रेणेदमुक्तम् । न तु फलोदाहरणमस्य न्याय्यमस्ति । ध्वनितं चेदमङ्गेन संयोगादिमिति ग्रन्थेन भाष्ये ॥ ननु द्विर्वचनन्यायेन

भावबोधिनी

यह दोष नहीं है क्योंकि यह वचन कहा जायगा—मस्ज् धातु का मित् आगम अन्त्य वर्ण से पूर्व में होता है अनुषङ्ग (मकार का नकार) और संयोगादि स् का लोप करने के लिए ।

विमर्श–यद्यपि मित् आगम सामान्य रूप से अन्त्य अच् के बाद ही होता है तथापि मस्ज् का नुम् अच् के बाद नहीं अपि तु सबसे अन्तिम वर्ण से पूर्व में करना चाहिए क्योंकि संयोगादि स् का लोप और अनुषङ्ग = नकार का मकार करना है । अतः नुम् करने पर मन् स्ज् ऐसा न होकर मस्न्ज् यह होता है । यहाँ संयोगादि स् मिलने से लोप हो जाता है । तब ज् का कुत्व और न् का अनुस्वार, परसवर्ण होनेपर मङ्क्ता, मङ्क्तुम्' रूप बनते हैं । प्रस्तुत वार्तिक 'मिदचोऽन्त्यात् परः' (१।१।४७) में पढ़ा गया है । इसी प्रकार मस्ज्+क्त में भी अन्त्य से पूर्व नुम् होने से स् लोप और 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (६।४।२४) से न् का लोप हो जाने पर कुत्व से ज् का क् और निष्ठा त् का न् होने पर—मग्नः आदि बनते हैं ।

(अनु॰) अथवा संयोग संज्ञा सामान्य रूप से जानी जायेगी—दो दो हलों की भी होती है और बहुत से भी हलों की । इन दोनों पक्षों में जो दो-दो हलों को मानकर संयोग संज्ञा होती है उसको मानकर [संयोगादि स् मिल जाने से स् लोप होने में कोई बाधा न होने से] स् लोप हो जायगा ।

संयोगसंज्ञा, तदाश्रयो लोपो भविष्यति ॥

(समुदायसंज्ञापक्षोक्तदूषणान्तरनिराकरणसिद्धान्तिभाष्यम्)

यदप्युच्यते—'इह च निर्ग्लेयात् निर्ग्लायात् निर्म्लेयात् निर्म्लायादिति "वान्यस्य संयोगादेः" (६।४।६८) इत्येवं न प्राप्नोति' इति ॥

अङ्गेन संयोगादिं विशेषयिष्यामः—अङ्गस्य संयोगादेरिति ॥ एवं तावत्सर्वमाङ्गं परिहृतम् ॥

यदप्युच्यते—इह च गोमान्करोति यवमान्करोतीति "संयोगान्तस्य लोपः" (८।२।२३) इति लोपो न प्राप्नोति' इति ॥

पदेन संयोगान्तं विशेषयिष्यामः—पदस्य संयोगान्तस्येति ॥

प्रदीपः

विशेषः । कार्यार्थत्वात्संयोगसंज्ञाया विरोधाभावादेकया संज्ञया सर्वेषामनुग्रहासिद्धया द्विर्वचनेन वैषम्यादिविशेषेणेत्युक्तम् ॥

बहूनां सन्निधौ बहूनामेव संयोगसंज्ञेत्यस्मिन्पक्षे आश्रीयमाणे मस्जेर्दोषोऽस्त्यापूर्वं इति परिहृतः । शेषान्दोषान्परिहर्तुमाह—यदप्युच्यत इति । 'पाठक्रमादर्थक्रमो बली-

उद्द्योतः

समुदायस्यैव संज्ञा स्यादिति कथमेतत्पक्षोत्थानमत आह—कार्येति । द्विर्वचनं हि हि श्रवणार्थमेव न शास्त्रीयकार्यार्थम् । एकस्याचो बह्ववयवत्वं युगपद्विरुद्धं च । एकेन द्वित्वेन सर्वानुग्रहश्चेति वैषम्यम् ॥

ननु पक्षान्तरेण व्यवधानादासत्त्यभाव इत्यत आह—पाठेति । शब्दस्यार्थप्रत्यायनाङ्गत्वेन गुणत्वात्तदीयः क्रम आर्थक्रमविरोधे दुर्बल इति भावः ॥ अङ्गपदग्रहणस्व-

भावबोधिनी

और जो यह कहा जाता है—'निर्ग्लेयात् निर्ग्लायात्, निर्म्लेयात् निर्म्लायात्'—इनमें 'वान्यस्य संयोगादेः' (६।४।६८) सूत्र से एत्व नहीं प्राप्त होता है ।

[यह भी दोष नहीं है क्योंकि] अङ्ग से संयोगादि को विशेषित करेंगे—अङ्गसंज्ञक का जो संयोगसंज्ञक आदि [उसके आकार का एत्व होता है]। इस प्रकार अङ्गसंज्ञकों के सभी [दोषों] का परिहार हो जाता है ।

और जो यह कहा जाता है—गोमान्करोति यवमान् करोति—इनमें 'संयोगान्तस्य लोपः' (८।२।२३) से लोप नहीं प्राप्त होता है ।

[यह भी दोष नहीं है क्योंकि] पद से संयोगान्त को विशेषित करेंगे—पदसंज्ञक का जो संयोगसंज्ञक अन्त्य वर्ण [उसका लोप होता है ।]

यदप्युच्यते—'इह च निर्ग्लानो निर्म्लान इति "संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः" (८।२।४३) इति निष्ठानत्वं न प्राप्नोति' इति ॥

धातुना संयोगादिं विशेषयिष्यामः—धातोः संयोगादेरिति ॥

प्रदीपः

यानिति'—मस्जेरन्त्यात्पूर्वं इत्यस्यानन्तरमिदं द्रष्टव्यम् ॥ निर्ग्लेयादित्यादिषु यद्यपि त्रयो हलः सन्निहितास्तथापि कार्यार्थत्वात्संज्ञायास्त्रिषु च कार्याभावादङ्गपदधात्ववयवस्य संयोगस्य तेषु तेषु लक्षणेष्वाश्रितत्वात्समुदाये कार्याभावे चावयवानां स्वकार्यारम्भाद् द्वयोरेव संज्ञा प्रवर्तत इति भाष्यार्थः ॥ व्याख्यानान्तरमत्र क्लिष्टत्वान्नोक्तम् ।

उद्द्योतः

धयवेति । संयोगादेरित्यादावाद्यन्तशब्दयोरवयववाचितयेति भावः ॥ अयमाशयः—अङ्गादेरादावन्ते वा व्यञ्जनत्रयाभावात् त्रयाणां फलाभावात्संज्ञाऽप्राप्तौ कथं द्वयोर्न स्यादिति ॥ यद्यपि सामानाधिकरण्यान्वयेऽपि अङ्गाद्यवयवस्यैव संयोगस्याश्रयणं नान्यस्येति अङ्गेन संयोगादिं विशेषयिष्याम इत्यनुपपन्नं तथापि संयोगरूपमादिमङ्गेन परिच्छेत्स्यामः-अङ्गाद्यवयवसंयोगस्यैव बहुव्रीहिणाश्रयणमित्यर्थं इति न दोषः । एवं च बहूनामपीत्याश्रयणे फलाभाव इति स्पष्टमेवोक्तम् । क्लिष्टकल्पनया तादृशसंयोगानयनं तु न,अनभिधानादित्याशयः ॥ अदादिषु षस स्वप्ने इत्येव पाठो न तु षस सस्ति स्वप्न इति, एतद्भाष्यप्रामाण्याज्जक्षित्यादिसूत्रस्थभाष्यप्रामाण्याच्चेति बोध्यम् । व्याख्यानान्तरमिति । पाठक्रमाबाधायैवं व्याचक्षते—न प्राप्नोतीत्यत्रेतिशब्दो यस्मादर्थं उत्तरान्वयी, यस्मादङ्गेन संयोगादिर्विशेष्यतेऽङ्गावयवः संयोगो गृह्यते इत्यर्थः । एवं च बहूनामेव संयोगत्वे यः संयोगो नासावङ्गावयवो यश्चाङ्गावयवो नासौ संयोगः, तस्मादेत्वं न प्राप्नोतीति यदपि, तदप्यसत् । यतोऽविशेषेण संज्ञोच्यते इति शेष इति ॥ तत् क्लिष्टम् । शेषपूरणात् । इतेः स्वरसतो वाक्यसमाप्त्यर्थतायाः प्रतीयमानत्वाच्च । एवं तावत्सर्वमाङ्गं परिहृतमित्यस्यास्वारस्याच्च ॥ (इति समुदाय संज्ञापक्षस्थापनम्)

भावबोधिनी

और जो यह कहा जाता है—'निर्ग्लानः, निर्म्लानः'—इनमें 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः' (८।२।४३) सूत्र से निष्ठा त का नत्व नहीं प्राप्त होता है ।

[यह दोष भी नहीं है क्योंकि] धातु से संयोगादि को विशेषित करेंगे—धातु का जो संयोगादि उससे परे अर्थात् संयोगसंज्ञक जो आदि हल् वह धातु का ही अवयव हो तो उस आकारान्त धातु से परे निष्ठा तकार का नत्व होता है । [भाव यह है कि जहाँ दो हल् हैं वहाँ तो संयोग संज्ञा होती है यदि तीन या अधिक हल् हैं तो भी उनमें दो दो की संयोग संज्ञा मानकर सभी कार्य सम्भव हो जाते हैं । अतः

(अथानन्तरशब्दार्थनिरूपणम्)

(१३६ आक्षेपवार्तिकम् ॥ ५ ॥)

॥ * ॥ स्वरानन्तर्हितवचनम् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

स्वरैरनन्तर्हिता हलः संयोगसंज्ञा भवन्तीति वक्तव्यम् ॥

किं प्रयोजनम् ?

व्यवहितानां मा भूत्—पचति पनसम् ॥

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

ननु च 'अनन्तरा' इत्युच्यते । तेन व्यवहितानां न भविष्यति ॥

(आक्षेपसाधकभाष्यवार्तिक २ यखण्डम्)

॥ * ॥ दृष्टमानन्तर्यं व्यवहितेऽपि ॥ * ॥

प्रदीपः

पचति पनसमिति । 'हल' इति वचनादचा सह सकारमकारयोर्मा भूत्संज्ञा । तयोरेव तु प्राप्नोति । ततश्च सलोपप्रसङ्गः ॥

उद्द्योतः

हल इतीति । तद्धि असावित्यादौ स्कोरिति सलोपवारणायावश्यकमिति भावः ॥

भावबोधिनी

दोनों पक्षों में दोष नहीं है ।]

'अनन्तराः' पदग्रहण का प्रयोजन

(वा०) स्वरों से अनन्तर्हित = अव्यवहित (व्यवधान से रहित)--ऐसा कहना चाहिए ।

(भा०) स्वरों से अव्यवहित अर्थात स्वरों के व्यवधान से शून्य = जिन हलों के मध्य में कोई स्वर नही है ऐसे हल् संयोग संज्ञावाले होते हैं—ऐसा कहना चाहिए ।

क्या प्रयोजन है ?

व्यवधान वाले हलों की संयोग संज्ञा न हो--पचति पनसम् । [यहाँ स् और म् की संयोग संज्ञा न होने लगे जिससे संयोगादि स् का लोप होने लग जाय ।]

क्यों श्रीमन् ! 'अनन्तराः' = व्यवधानरहित—ऐसा [सूत्र में] कहा जा रहा है । इसलिए व्यवहितों = अच् के व्यवधानवालों की [संयोग संज्ञा] नहीं होगी ।

(वा०) आनन्तर्य = अव्यवहितत्व व्यवहितों में भी देखा गया है ।

(भाष्यम्)

व्यवहितेऽप्यनन्तरशब्दो दृश्यते। तद्यथा—'अनन्तराविमौ ग्रामौ' इत्युच्यते, तयोश्चैवान्तरा नद्यश्च पर्वताश्च भवन्तीति॥

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

यदि तर्हि व्यवहितेऽप्यनन्तरशब्दो भवति। आनन्तर्यवचनमिदानीं किमर्थं स्यात्?

(आक्षेपसाधकभाष्यवार्तिकम्)

॥ * ॥ आनन्तर्यवचनं किमर्थमिति चेदेकप्रतिषेधार्थम् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

एकस्य हलः संयोगसंज्ञा मा भूदिति॥

किं च स्यात् यद्येकस्य हलः संयोगसंज्ञा स्याद्?

प्रदीपः

एकप्रतिषेधार्थमिति। अनन्तरा इत्यनेन संज्ञाया विषयो निर्दिश्यते। यत्रानन्तरव्यवहारस्तत्र संज्ञा। नचैकाकिन्यनन्तरव्यवहार इति भावः। एकप्रतिषेधस्य च

उद्द्योतः

नचेति। आनन्तर्यस्य सप्रतियोगिकत्वादिति भावः॥ प्रकृते चान्यस्य प्रतियोगिनोऽनुपादानादुपस्थितहलेव प्रतियोगित्वेनाश्रीयत इति बोध्यम्॥ भाष्ये उवोषेति।

भावबोधिनी

(भा०) व्यवहित (दो या अधिकों) के मध्य में भी 'अनन्तर' शब्द [का प्रयोग] देखा जाता है। जैसे—'अनन्तरौ इमौ ग्रामौ' (ये दोनों गाँव अव्यवहित = पास-पास हैं।) ऐसा प्रयोग किया जाता है, जबकि [वास्तव में] उन दोनों के ही बीच में नदियाँ और पहाड़ (भी) होते हैं।

तब तो यदि व्यवहित (व्यवधानवालों) में भी 'अनन्तर' शब्द का प्रयोग किया जाता है, फिर [सूत्र में] 'अनन्तराः' (अनन्तर = व्यवहित) यह कहने का क्या प्रयोजन होगा?

(वा०) आनन्तर्य—ऐसा वचन किस लिये है? ऐसा यदि कहते हो तो एक हल् की संयोग संज्ञा का प्रतिषेध करने के लिये ['अनन्तराः' पद] है।

(भा०) एक हल् की संयोग संज्ञा न होने लगे।

क्या [अनिष्ट] होने लगेगा यदि एक हल् की संयोग संज्ञा होने लग जाय?

इयेष—उवोष, "इजादेश्च गुरुमतोनृच्छः" (३।१।३६) इत्याम् प्रसज्येत ॥

(१३७ समाधानवार्तिकम् ॥ ६ ॥)

॥ * ॥ न वाऽतज्जातीयव्यवायात् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

न वा एष दोषः ॥

किं कारणम् ?

अतज्जातीयस्य व्यवायात् । अतज्जातीयकं हि लोके व्यवधायकं भवति ॥

(अनुयोगभाष्यम्)

कथं पुनर्ज्ञायते—अतज्जातीयकं लोके व्यवधायकं भवतीति ?

प्रदीपः

प्रयोजनम्—इयेषेत्यादाविजादेरित्यामो निवृत्तिः । गुरुमद्वचनमियायेत्यादिनिवृत्त्यर्थं स्यात् ॥

उद्द्योतः

प्रसङ्गोच्चारितम्, तस्य विकल्पितामकत्वात् । उवोखेति कवर्गद्वितीयान्तो वा पाठः ॥ इयायेति । इण् ल् इत्यस्यामवस्थायां व्यपदेशिवद्भावादिजादित्वमस्ति,गुरुमत्त्वं तु न । न चेयङि कृते गुरुमदिजादित्वादाम् स्यादिति वाच्यम् । लिड्धातुसंनियोगेन संपन्नस्य गुरुमदिजादित्वस्य तद्विघातकत्वाभावादिति भावः ॥

भावबोधिनी

'इयेष, उवोष' इनमें 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' (३।१।३६) सूत्र से आम् होने लगेगा । [कारण यह है कि 'इष् उष्' आदि धातुओं में एक षकार आदि हल् की भी संयोग संज्ञा होने के फलस्वरूप उस संयोगसंज्ञक षकार से पूर्ववर्ती इकार, उकार आदि की गुरु संज्ञा भी होने लगेगी । अतः इजादि गुरुमान् मानकर 'आम्' प्राप्त होने लगेगा ।]

(वा०) यह (दोष) नहीं है क्योंकि विजातीय का व्यवधान है ।

(भा०) यह पूर्वोक्त दोष नहीं है क्योंकि यहाँ [हल् के] विजातीय अर्थात् अच् का व्यवधान है । [पनसम् में स् और म् दो हलों के बीच में विजातीय अच् अकार है । अतः संयोग संज्ञा नहीं होगी ।] क्योंकि लोक में विजातीय ही व्यवधायक [माना जाता] है ।

यह कैसे ज्ञात होता है कि लोक में अतज्जातीय ही व्यवधायक होता है ?

(उत्तरभाष्यम्)

एवं हि कंचित् कश्चित्पृच्छति—'अनन्तरे एते ब्राह्मणकुले' इति । स आह—'नानन्तरे, वृषकुलमनयोरन्तरा' इति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

किं पुनः कारणं क्वचिदतज्जातीयं व्यवधायकं भवति, क्वचिन्न ?

(समाधानभाष्यम्)

सर्वत्रैव ह्यतज्जातीयकं व्यवधायकं भवति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

कथम्—अनन्तराविमौ ग्रामाविति ?

प्रदीपः

वृषलकुलमिति । यद्यपि ब्राह्मणकुलमपि तयोर्व्यवधायकं तथापि भिन्नजातीयकम-व्यवधायकमिति यदुक्तं तदनेन निवर्त्यते ॥

उद्द्योतः

कुलमत्र गृहम् ॥ ब्राह्मणकुलमपीति । तत्तद्रूपेण ग्रहणे तस्यापि विजातीयत्वादिति भावः ॥ भाष्ये अनयोरन्तरा–इतिषष्ठ्युपादानादन्यसहितयोरवधित्वसूचनात्तत्तद्रूपेणा-ग्रहण-बोधनात् ब्राह्मणकुलस्याव्यवधायकत्वमेवेत्यन्ये ॥ भिन्नजातीयेति । तयोश्चान्तरा नद्यश्च पर्वताश्च भवन्तीति भाष्येणेत्यर्थः ॥

भावबोधिनी

[यह इस प्रकार जाना जाता है] क्योंकि लोक में कोई किसी से पूछता है—'ये दोनों ब्राह्मणकुल = ब्राह्मणों के घर अनन्तर = व्यवधानरहित (एकदम पास-पास) हैं ? वह (सुननेवाला) कहता है—अव्यवहित (= एकदम पास-पास) नहीं हैं, क्योंकि इन दोनों (ब्राह्मणों) के [घरों के] बीच में वृषल (शूद्र) का कुल (घर) है । [ब्राह्मणों के विजातीय वृषल का व्यवधान होने से 'अनन्तर' = अव्यवहित नहीं माना जाता है ?]

तो फिर क्या कारण है कि कहीं पर अतज्जातीय व्यवधायक होता है और कहीं पर नहीं भी होता है ?

सभी स्थलों पर अतज्जातीय (भिन्न जातिवाला) व्यवधायक ही होता है ।

[यदि सर्वत्र विजातीय व्यवधायक ही होता है तब] यह (प्रयोग) कैसे होता है—'अनन्तरौ इमौ ग्रामौ' (ये दोनों गाँव अनन्तर = अव्यवहित = एकदम

(समाधानभाष्यम्)

ग्रामशब्दोऽयं बह्वर्थः। अस्त्येव शालासमुदाये वर्तते, तद्यथा—ग्रामो दग्ध इति। अस्ति वाटपरिक्षेपे वर्तते, तद्यथा—ग्रामं प्रविष्ट इति। अस्ति मनुष्येषु वर्तते, तद्यथा—ग्रामो गतः, ग्राम आगत इति। अस्ति सारण्यके ससीमके सस्थण्डिलके वर्तते, तद्यथा—ग्रामो लब्ध इति॥

प्रदीपः

ग्रामशब्दोऽयमिति। केचिदर्थभेदेन शब्दभेदमिच्छन्ति। प्रत्यभिज्ञानं तु सामान्यनिबन्धनम्॥ अन्ये तु एकशब्दत्वं, तत्र चानेकशक्तियोग एकशक्तित्वं वेति (चेति) दर्शनविकल्पः॥ तत्र यदा एकशब्दत्वपक्षस्तदा 'तद्यः सारण्यके' इतिभाष्यं शक्तिभेदादुपचरित-भेदाश्रयम्॥ भेदपक्षे तु 'ग्रामशब्दोयं बह्वर्थं' इति भाष्यम्। अभिन्नसामान्यनिमित्तैकत्वाध्यवसायाश्रयम्॥ तद्यः सारण्यक इति। ततश्च ग्रामशब्दार्थे नदीनां

उद्द्योतः

ग्रामशब्दोऽयमित्यस्य तद्यः सारण्यक इत्यस्य चाविरोधायाह—केचिदिति। अन्याय्यश्चानेकार्थत्वमिति तदाशयः। सामान्यं च ग्रामशब्दत्वादि॥ अन्ये त्विति। व्यक्तिभेदकल्पनायां गौरवमिति तदाशयः। तत्रचेति। निरूपकभेदाच्छक्तिभेद इति भावः॥ एकेति। समवायैकत्वनये रसो रूपवानित्यादिप्रयोगवदन्यार्थबोधकालेऽन्यार्थबोधो वारणीयः। तदर्थसंबन्धेन शक्त्यग्रहात्। तत्तदर्थविशिष्टशक्तिभेदेन च नानार्थत्वव्यवहार इति भावः॥ तत्र यदेति। एकशक्तित्वपक्षे त्वर्थभेदादुपचरितभेदाश्रयणमिति बोध्यम्॥ ग्रामशब्दोऽयं बह्वर्थं इति तु मुख्यार्थमेव। अत्र सर्वार्थनिरूपितवृत्तीनां 'वर्तते'

भावबोधिनी

पास-पास है) ?

यह 'ग्राम' शब्द अनेक अर्थों वाला है। (ग्राम शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होते देखा जाता है।) अस्ति = यह ग्राम शब्द [कहीं पर] शालाओं = घरों के समूह अर्थ में [प्रयुक्त] रहता है, जैसे 'ग्रामो दग्धः।' [गाँव जल गया। गाँव के घरों के जल जाने पर गाँव का जलना कहा जाता है।] कहीं वाटपरिक्षेप (गाँव की रक्षा के लिये बनाई गई चारदीवार) अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, जैसे—'ग्रामं प्रविष्टः' (गाँव की चारदीवार के भीतर प्रवेश कर गया।) कही मनुष्यों के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसे—'ग्रामः गतः, ग्राम आगतः। [गाँव चला गया, गाँव आ गया अर्थात् गाँव के लोग (मनुष्य) चले गये, गाँव के लोग (मनुष्य) आ गये। और कहीं अरण्य (जंगल) के सहित, सीमा के सहित और स्थण्डिलक (= गाँव की हदबन्दी के लिये बनाया चबूतरा आदि) के सहित अर्थ में भी ग्राम शब्द प्रयुक्त होता है,जैसे— 'ग्रामो लब्धः। [मुझे गाँव मिल गया।]

तद्यः सारण्यके ससीमके सस्थण्डिलके वर्तते तमभिसमीक्ष्यैतत्प्रयुज्यते—अनन्तराविमौ ग्रामाविति । सर्वत्रैव ह्यतज्जातीयकं व्यवधायकं भवति ॥

हलोऽनन्तराः ॥७॥

(७ अनुनासिकसंज्ञासूत्रम् ॥ १ । १ । ४ आ. ५ सू. ॥)

मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः ॥ १।१।८ ॥

(मुखनासिकावचनशब्दार्थनिरूपणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

किमिदं 'मुखनासिकावचनः' इति ?

प्रदीपः

पर्वतानां चान्तर्भावाद् व्यवधायकत्वाभावादानन्तर्यं ग्रामयोरुच्यते । ग्रामे नाध्येयमित्यत्र तु ग्रामशब्दो वाटपरिक्षेपवृत्तिः । शुचौ देशेऽध्ययनप्रतिपादनतात्पर्यात् । ततश्च सीमन्यधीयत एव ॥ ७ ॥

मुखनासिकवचनोऽनुनासिकः ॥८॥ प्राण्यङ्गत्वात् समाहारद्वन्द्वे ह्रस्वत्वेन भाव्यम्, अवचनमिति नञ्समासाश्रयणेऽर्थो न संगच्छते इति प्रश्नः—किमिदमिति ॥

उद्द्योतः

इत्येकशब्दवोध्यत्वेनाभेदबोधनादेकशक्तित्वपक्षो भाष्यवोधितः । तत्र वर्तनक्रियाऽस्तिक्रियायाः कर्त्री । शालासमुदायादौ ग्रामशब्दस्य वृत्तिरस्तीत्यर्थः । वाटपरिक्षेपो नाम शालासमुदायरक्षणाय सर्वतो मार्गप्रतिरोधकं यत्परितः क्षिप्यते तदुच्यते ॥ सारण्यकससीमकवृत्तिस्त्वत्र न गृह्यते इत्याह—शुचाविति । सीमनीतिच ॥ ७ ॥

मुखना० ॥८॥ प्राण्यङ्गत्वादिति । एतेनेतरेतरयोगद्वन्द्वे रूपसिद्धिरित्यपास्तम् ॥ अर्थ इति । अभिमतोऽर्थ इत्यर्थः ॥

भावबोधिनी

तब अरण्यसहित, सीमासहित,स्थण्डिलकसहित अर्थ में जो 'ग्राम' शब्द है उसीको ध्यान में रखकर, मानकर यह प्रयोग किया जाता है—'अनन्तरौ इमौ ग्रामौ ।' [ये दोनों गाँव अव्यवहित हैं । अतः पर्वत आदि के व्यवधान में भी उनका व्यवधान नहीं माना जाता है । इससे स्पष्ट है कि] सभी स्थलों पर अतज्जातीय = विजातीय ही व्यवधायक होता है । [इससे स्पष्ट है कि सर्वत्र विजातीय ही व्यवधायक होता है सजातीय नहीं । अतः 'स्वरैरनन्तर्हिताः हलः संयोगसंज्ञकाः' यह वचन आवश्यक नहीं है] ॥७॥

मुखनासिकावचनोऽनुनासिकाः (१।१।८)

'मुखनासिकावचनः'—यह क्या है अर्थात् इस शब्दरूप की व्युत्पत्ति किस प्रकार

(समाधानशेषभाष्यम्)

मुखं च नासिका च मुखनासिकम्। मुखनासिकं वचनमस्य सोयं मुखनासिकावचनः॥

(आक्षेपभाष्यम्)

यद्येवं 'मुखनासिकवचन' इति प्राप्नोति॥

(समाधानभाष्यम्)

निपातनाद्दीर्घत्वं भविष्यति॥

(समाधानान्तरभाष्यम्)

अथ वा–मुखनासिकम् आवचनस्य सोऽयं मुखनासिकावचनः॥

(आक्षेपभाष्यम्)

अथ किमिदमावचनमिति ?

प्रदीपः

निपातनादिति। प्रसङ्गेनास्य लौकिकशब्दस्य साधुत्वं क्रियते। निपातनानां च बाधकत्वान्मुखनासिकवचन इति न भाव्यम्। अबाधकत्वपक्षे तु भाव्यमेव॥

उद्द्योतः

सौत्रत्वादिति कुतो नोक्तमित्यत आह—प्रसङ्गेनेति। अबाधकत्वेति। पक्षे स्वित्यनेनाबाधकत्वस्वीकर्तृवृत्तिमतमसङ्गतमित्युक्तम्। भाष्यकृदसंमतरूपापत्तेः। बाधकान्येव निपातनानीति सर्वादिसूत्रे भाष्ये उक्तेः॥

भावबोधिनी

की है ? ['मुखं च नासिका च'—इस समाहार द्वन्द्व में प्राणी का अङ्ग होने से 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' सूत्र से एकवचन नपुंसक ह्रस्व होना चाहिए। अथवा 'अवचन' शब्द के साथ समास होने पर अभीष्ट अर्थ नहीं प्रतीत होना चाहिए ?]

(१) 'मुखं च नासिका च'—[यह समाहार द्वन्द्व है] मुखनासिकम् = मुख और नाक का समूह। मुखनासिक है वचन जिसका वह—मुखनासिकावचन है।

यदि ऐसा [समाहारद्वन्द्व] है तब तो 'मुखनासिकवचनः' ऐसा [ह्रस्वघटित रूप] प्राप्त होता है।

निपातन के बल से दीर्घ हो जायगा। [पहले समाहारद्वन्द्व करने पर ह्रस्व प्राप्त होगा, निपातन के बल से 'अ' दीर्घ हो जायगा।

(२) अथवा–मुखनासिक है आवचन इसका—वह 'मुखनासिकावचन' है।

यह 'आवचन' क्या है ?

(समाधानभाष्यम्)

ईषद्वचनम् आवचनमिति, किंचिन्मुखवचनं किंचिन्नासिकावचनम् ।

(समासान्तरभाष्यम्)

मुखद्वितीया वा नासिका वचनमस्य सोयं मुखनासिकावचनः ॥

(समाधानान्तरभाष्यम्)

मुखोपसंहिता वा नासिका वचनमस्य सोयं मुखनासिकावचनः ॥

प्रदीपः

ईषद्वचनमिति । भागस्य मुखेनोच्चारणाद्भागस्य नासिकया । अस्मिन्पक्षे मुखनासिकवचन इत्यपि भवति । यो ह्यीषदुच्यते स उच्यते एव । यथा ईषच्छुक्लोऽपि शुक्ल एव ॥

मुखद्वितीयेति । मुखसहायेत्यर्थः । तत्र नासिका मुखसाहचर्यान्मुखशब्देनोच्यते । मुखं च तन्नासिका च मुखनासिका । सा वचनमस्येति ॥

मुखोपसंहितेति । मुखस्य च नासिकायाश्च यदन्तरालं स्थानान्तरमेवानुनासिकस्य दर्शयति । तत्र सामीप्यान्मुखं च तन्नासिका चेत्युभाभ्यामन्तरालं व्यपदिश्यते ।

उद्द्योतः

अस्मिन् पक्ष इति । आङ्रहितस्येति शेषः । वस्तुत आद्यपक्षैकवाक्यतया आङ्रहितैतत्पदाभ्यां समासस्यानभिधानमेवेत्याहुः ॥ ननु भागस्य मुखाद्युच्चार्यत्वेन मुखनासिकं वचनमुच्चारणकरणं यस्य वर्णस्येत्यर्थको मुखनासिकवचन इति प्रयोगस्तत्रासङ्गतोऽत आह– यो हीति ।

सहायेति । अव्युत्पन्नो द्वितीयशब्दः सहायवाचीत्यर्थः ॥ शाकपार्थिवादित्वादुत्तरपदलोपे शब्दानित्यत्वापत्तिरत आह—तत्रेति ॥ परंत्विदं चिन्त्यं, भाष्यकृतैवंरीत्या तदप्रत्याख्यानात् ॥

मुखस्य चेति । उपशब्दसामर्थ्यादिति भावः । यद्यपि वचनशब्दे कर्मणि ल्युटि

भावबोधिनी

ईषद् (थोड़ा) वचनं—आवचन है, कुछ मुखवचन है और कुछ नासिकावचन है, अर्थात् कुछ मुख से बोला जाना और कुछ नाक से बोला जाना । [यह जिसका हो वह अनुनासिक होता है ।]

(३) अथवा–मुख है द्वितीय = सहायक जिसका ऐसी नासिका वचन है जिसका वह 'मुखनासिकावचन' है । [मुख की सहायता से नासिका द्वारा बोला जानेवाला ।]

(४) अथवा–मुख से उपसंहित (मिली हुई) नासिका वचन है जिसकी वह मुखनासिकावचन है ।

प्रदीपः

पदसंस्कारपक्षे तु मुखनासिकापदनिरपेक्षं वचनमित्येतत्पदं लिङ्गसर्वनामनपुंसकाश्रयेण संस्क्रियते। पश्चात्स्त्रीत्वस्य पदान्तरसंबन्धेन प्रतीयमानत्वाद्बहिरङ्गत्वान्ङीप्रत्ययो न भवति। यदा तु स्त्रीत्वाश्रयेण वचनीतिपदं व्युत्पाद्यते तदा मुखनासिकावचनीक इत्येव भवति॥ अत्र चानेकदर्शनम्। अनुनासिकस्य पूर्वः परो वा भागो मुखेनोच्चार्यते भागो नासिकया। तत्र नासिकावचनभागानुरागवशाद् मुखवचनोऽपि भागो नासिकावचन इव लक्ष्यते। यथा सँय्यन्तेत्यत्रानुनासिकयकारानुरागाद् अकारोनुनासिक इव प्रतिभाति॥ अत्र च प्रासादवासिन्यायो नास्ति, भागस्यैव मुखेन नासिकया चोच्चारणान्न तु समग्रस्य॥ अन्येषां तु दर्शनं मुखनासिकान्तरालं स्थानान्तरमेवास्येति। अत्रापि नास्ति प्रासादवासिन्यायः॥ यदा सर्व एव वर्णो मुखेन नासिकया चोच्चार्यते तदा प्रासादवासिन्यायेन भाष्यकारो मुखग्रहणं प्रत्याचष्टे। यथा भ्राष्ट्रेणोखया च

उद्द्योतः

मुखनासिकेनावचनो मुखनासिकया वचन, इति वा तत्पुरुषोपि वक्तुं शक्यः, तथापि कर्मणि तस्य बाहुलकलभ्यत्वात्करणे ल्युटा बहुव्रीहिरेवाश्रितो भाष्ये॥ तत्रान्त्ययोर्नासिकाशब्दसामानाधिकरण्यात्स्त्रीत्वविशिष्टस्यैव करणत्वेन ल्युटि ङीपि नद्यृतश्चेति कवापत्तिरत आह—पदसंस्कारेति॥ भागस्य मुखेनोच्चारणाननुभवादाह—अत्रेति॥ तस्यादित इति सूत्रस्वरसाद्वर्णानां सखण्डत्वमित्याशयः॥ ये तु तत्तदेशावच्छिन्नवाय्वभिघातस्य तत्तद्वर्णजनकत्वात्स्थानानां करणत्वमेव। स्थानव्यवहारस्तु वर्णजनकवायुसंयोगाधारत्वाद्वर्णाधारत्वमारोप्य। अत एवोत्तरसूत्रे भाष्ये—अस्यन्त्यनेन वर्णानित्यास्यमिति करणे व्युत्पत्तिर्दर्शितेति वदन्ति॥ तन्मते प्रासादवासिदृष्टान्तासङ्गतेराह—भ्राष्ट्रेण चेति॥ एतेन कण्ठादिकं तु स्थानं, नासिका तु करणमिति

भावबोधिनी

विमर्श—'वचन' शब्द करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करने पर भी बन सकता है—उच्यतेऽनया इति। परन्तु यहाँ 'कृत्यल्युटो बहुलम्' के अनुसार बाहुलक के बल से कर्म अर्थ में ल्युट्=अन प्रत्यय समझना चाहिए। इससे 'उच्यतेऽसौ' इस विग्रह के अनुसार वचन=वर्ण का समानार्थक होता है।

'मुखं च नासिका च' इस विग्रह में समाहार द्वन्द्व मानने पर ह्रस्व और नपुंसक हो जाने से 'मुखनासिकम्' ऐसा होता है। इसमें निपातन के बल से दीर्घ होता है—मुखनासिका—वचन, इसमें बहुव्रीहि समास होता है—मुखनासिकं वचनम् अस्य सः। इस पक्ष में 'वचन' शब्द में करण अर्थ में ल्युट् समझना चाहिए। अन्य पक्षों में कर्म अर्थ में ही ल्युट् समझना चाहिए।

(पदकृत्यनिर्वचनायाक्षेपभाष्यम्)

अथ मुखग्रहणं किमर्थम् ?

(समाधानभाष्यम्)

'नासिकावचनोऽनुनासिकः' इतीयत्युच्यमाने यमानुस्वाराणामेव प्रसज्येत ॥ मुखग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति ॥

प्रदीपः

पक्वः सूप उभाभ्यां व्यपदिश्यते ॥

यमानुस्वाराणामेवेति । प्रासादवासिन्यायानवतारपक्षे इति भावः । तत्र विधि-प्रदेशेषु यमानुस्वारा एवादेशाः स्युः । विड्वनोरनुनासिकस्यादित्यादिषु त्वनुवादप्रदेशेषु

उद्द्योतः

मन्दोक्तमपास्तम् । अत एवात्र सूत्रे हरिणा—"स हि वर्णो न मुखेनैव नापि नासिकयैवः चात्मवृत्ति लभते, किं तु वायुनानुपरतशक्तिनाऽन्यतरकरणमभिहत्यान्यतरकरणेऽभिहन्य-माने आत्मव्यक्ति लभते'' इत्युक्तम् ॥

यमो नाम वर्गपञ्चमे परे वर्गाद्यचतुष्टयान्यतमसदृशो वर्णः ॥ आदितश्चत्वारो वर्णाः' इति विवरणेऽपि चतुःशब्दस्य चतुःसदृशे लक्षणा बोध्या । अत एवायोगवाहत्वप्रति-पादकहयवरट्सूत्रस्थभाष्याविरोधः ॥ न्यायानवतारेति । कचटतपानामेवेत्येवकारोऽ-प्यत्रैव पक्षे नासिकाया आस्यबाह्यत्वपक्षे च बोध्यः ॥ अप्रतिपत्तिरिति । अत्र

भावबोधिनी

(अनु०) [सूत्र में] मुख का ग्रहण किसलिये है ? 'नासिकावचनः अनुनासिकः' अर्थात् केवल नासिका से उच्चारित किया जाने वाला वर्ण अनुनासिक होता है—इतना सूत्र कहा जाने पर यमों तथा अनुस्वारों की ही अनुनासिक संज्ञा होने लगेगी। [अन्य किसी की नहीं हो सकेगी ।] किन्तु 'मुख' का भी ग्रहण किये जाने पर दोष नहीं होता है ।

---

१. वर्ण के पञ्चम अक्षर के परे रहते उनसे पूर्ववर्ती प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अक्षर होने पर इन दोनों के मध्य में पूर्ववर्ती के सदृश जो प्रथम आदि अक्षर होते हैं उन्हें 'यम' कहा जाता है, जैसे—पलिक्क्नी, चख्ख्नतुः, अग्ग्निः, घ्घ्नन्ति—इनमें क्, ख्, ग्, घ् से परे इन्हीं के सदृश क्, ख्, ग्, घ् 'यम' कहे जाते हैं—'वर्गेष्वाद्यानां चतुर्णां पञ्चमे परे मध्ये यमो नाम पूर्वसदृशो वर्णः प्रातिशाख्ये प्रसिद्धः । पलिक्क्नी, चख्ख्नतुः, अग्ग्निः, घ्घ्नन्ति—इत्यत्र क्रमेण क-ख-ग-घेभ्यः परे तत्सदृशा एव यमाः ।' सिद्धान्तकौमुदी संज्ञाप्रकरण ।

(आक्षेपभाष्यम्)

अथ नासिकाग्रहणं किमर्थम् ?

(समाधानभाष्यम्)

'मुखवचनोनुनासिकः' इतीयत्युच्यमाने क-च-ट-त-पानामेव प्रसज्येत । नासिकाग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति ॥

(मुखग्रहणप्रत्याख्यानभाष्यम्)

मुखग्रहणं शक्यमकर्तुम् ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

केनेदानीमुभयवचनानां भविष्यति ?

प्रदीपः

यमानुस्वाराणासम्भवादप्रतिपत्तिः स्यात् ॥

कचटतपानामिति । पक्वमिति चकारलोपप्रसङ्गः, ओदनपगित्यत्राअनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिती'ति दीर्घप्रसङ्गः ॥

उद्द्योतः

विड्वनोर्अम इति वक्तुं, शक्यम् । यरोऽनुनासिक इत्यत्र त्वप्रतिपत्तिः । तत्र अमि' अम्वेत्युक्ते सकलेष्टासिद्धेः ॥

चकारलोपेति । निष्ठावत्वकुत्वयोरसिद्धत्वात् पचेरनुदात्तोपदेशवनतीत्यनेनेति भावः ॥

भावबोधिनी

अच्छा, तो 'नासिका' का ग्रहण किस लिये है ?

'मुखवचनः अनुनासिकः' अर्थात् केवल मुख से बोला जाने वाला अनुनासिक होता है—इतना ही कहा जाने पर क च ट त प [आदि पहले के चार-चार] की ही [अनुनासिक संज्ञा] होने लगेगी । किन्तु नासिका का भी ग्रहण कर लेने पर कोई दोष नहीं रहता है । [क्योंकि दोनों से उच्चारित सभी वर्णों की अनुनासिक संज्ञा होती है ।]

'मुख'—का ग्रहण नहीं भी किया जा सकता है । [केवल 'नासिकावचनः अनुनासिकः' इतने से निर्वाह हो सकता है ।]

इस समय उभयवचनों अर्थात् मुख और नासिका दोनों के द्वारा बोले जानेवालों की [अनुनासिक संज्ञा] कैसे होगी ?

(समाधानभाष्यम्)

प्रासादवासिन्यायेन । तद्यथा—केचित्प्रासादवासिनः, केचिद् भूमिवासिनः, केचिदुभयवासिनः । [तत्र] ये प्रासादवासिनः, गृह्यन्ते ते प्रासादवासिग्रहणेन । ये भूमिवासिनः, गृह्यन्ते ते भूमिवासिग्रहणेन । ये तूभयवासिनः, गृह्यन्त एव ते प्रासादवासिग्रहणेन भूमिवासिग्रहणेन च ॥

एवमिहापि केचिन्मुखवचनाः, केचिन्नासिकावचनाः, केचिदुभयवचनाः । तत्र ये मुखवचना गृह्यन्ते ते मुखग्रहणेन । ये नासिकावचनाः, गृह्यन्ते ते नासिकाग्रहणेन । ये उभयवचनाः, गृह्यन्त एव ते मुखग्रहणेन नासिकाग्रहणेन च॥

प्रदीपः

प्रासादवासिन्यायेनेति । अयं न्यायः क्रियाशब्देष्वेव, न रूढ़िशब्देषु ॥

उद्द्योतः

ननु प्रासादवासिन्यायेन मुखग्रहणप्रत्याख्यानवत्सूत्रमेव कुतो न प्रत्याख्यायते इत्यत आह—अयमिति । योगेन ह्युभयग्रहणं स रूढिषु नास्तीत्यर्थः । अनुनासिकशब्दस्य च रूढिशब्दत्वम् । तस्य क्रियाशब्दत्वं तु वक्तुमशक्यम्, अनु पश्चान्नासिका व्याप्रियते यस्मिन्निति योगस्य नमङ्णनेषु निरूपयितुमशक्यत्वात् । विनिगमनाविरहेण युगपदुभयोर्व्यापृतेः ॥ एतेनानु पश्चान्नासिकां गत इत्यर्थको नासिकामनुगत इति योगोपि परास्तः । यथाकथंचिद्योगोपपादने तु रूढिरेव फलितेति दिक् ॥ ८ ॥

भावबोधिनी

प्रासादवासि-न्याय से [उभयवचन वर्णों की अनुनासिक संज्ञा हो जायगी] । इसे इस प्रकार से समझना चाहिए—कुछ लोग प्रासादों = राजभवनों में रहनेवाले हैं, कुछ लोग भूमि पर रहने वाले हैं और कुछ लोग दोनों स्थानों में अर्थात् प्रासादों और भूमि दोनों पर रहने वाले हैं । इनमें जो लोग प्रासादों में रहने वाले हैं वे प्रासादवासियों के ग्रहण से गृहीत होते हैं, समझ लिये जाते है । जो भूमि पर रहने वाले हैं वे भूमिवासियों के ग्रहण से गृहीत होते हैं, समझे जाते हैं । किन्तु जो उभयवासी हैं, दोनों स्थानों में रहनेवाले हैं, वे तो प्रासादवासियों के ग्रहण से भी गृहीत होते हैं और भूमिवासियों के ग्रहण से भी, अर्थात् उन्हे दोनों में से किसी भी एक स्थान में वसने वाले के रूप में भी समझ लिया जाता है । इसी प्रकार यहाँ भी कुछ वर्ण मुखवचन = मुख से ही बोले जाने वाले हैं, कुछ नासिकावचन = केवल नाक से ही बोले जाने वाले हैं और कुछ उभयवचन = मुख और नाक दोनों से बोले जाने वाले हैं । यहाँ पर जो 'मुखवचन' (= केवल मुख से बोले जाने वाले) हैं वे मुखग्रहण से गृहीत होवे हैं । जो 'नासिकावचन' (नासिका से ही बोले जाने वाले)

(आक्षेपभाष्यम्)

भवेदुभयवचनानां सिद्धम् । यमानुस्वाराणामपि प्राप्नोति ॥

(समाधानभाष्यम्)

नैव दोषो न प्रयोजनम् ॥

(१३९ अन्योन्याश्रयपरिहारायाक्षेपवार्तिकम् ॥ १ ॥)

[॥ * ॥ इतरेतराश्रयं तु भवति ॥ * ॥]

(भाष्यम्)

इतरेतराश्रयं तु भवति ॥

का इतरेतराश्रयता ?

सतोनुनासिकस्य संज्ञया भवितव्यम् । संज्ञया च नामानुनासिको भाव्यते ॥ तदितरेतराश्रयं भवति । इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्प्यन्ते ॥३

प्रदीपः

नैव दोष इति । अनुवादे तावद् यमानुस्वाराणासम्भव एव । विधावप्यान्तरतम्यान्मुखवचनस्योभयवचनो भविष्यति न तु केवलो नासिकावचनः ॥ ८ ॥

भावबोधिनी

हैं वे नासिका-ग्रहण से गृहीत होवे हैं । परन्तु जो 'उभयवचन' अर्थात् मुख और नासिका दोनों के द्वारा बोले जाते हैं वे तो (केवल) मुख के ग्रहण से भी गृहीत होते हैं और (केवल) नासिका के ग्रहण से भी । [अतः 'मुख' जो सामान्य है उसे हटाया जा सकता है, नासिका का ग्रहण करने से भी काम चल सकता है ।]

[उपर्युक्त तर्क से] उभयवचनों (मुख और नासिका दोनों से बोले जानेवाले वर्णों) की [अनुनासिक संज्ञा] सिद्ध हो जाती है । परन्तु यमों और अनुस्वारों की भी [अनुनासिक संज्ञा] प्राप्त होती है ।

[इन दोनों की अनुनासिक संज्ञा में] न कोई दोष आता है और न कोई प्रयोजन है ।

(वा०) परन्तु इतरेतराश्रय = अन्योन्याश्रय दोष होता है ।

(भा०) परन्तु इतरेतराश्रय दोष होता है ।

कौन सी इतरेतराश्रयता [आती] है ?

[पहले से] विद्यमान अनुनासिक की ही [यह अनुनासिक संज्ञा] होनी चाहिए । और अनुनासिक संज्ञा से अनुनासिक का विधान किया जाता है । [भाव है कि जब पहले से कोई हो तो उसकी अनुनासिक संज्ञा होती है । अतः पहले अनुनासिकत्व होना चाहिए । और जब संज्ञा की जाती है तभी अनुनासिकत्व कहा जा सकता है ।

(सिद्धान्तसमाधानभाष्यम्)

॥ * ॥ अनुनासिकसंज्ञायामितरेतराश्रये उक्तम् ॥ * ॥

(प्रश्नभाष्यम्)

किमुक्तम् ?

(समाधानभाष्ये ९८ सिद्धान्तवार्तिकम्)

'सिद्धं तु नित्यशब्दत्वात्' इति ।

(प्रकृतोपयुक्तव्याख्याभाष्यम्)

नित्याः शब्दाः, नित्येषु शब्देषु सतोऽनुनासिकस्य संज्ञा क्रियते । न संज्ञया-ऽनुनासिको भाव्यते ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

यदि तर्हि नित्याः शब्दाः, किमर्थं शास्त्रम् ?

(९९ सिद्धान्तवार्तिकम् ॥ ५ ॥)

॥*॥ किमर्थं शास्त्रमिति चेन्निवर्तकत्वात्सिद्धम् ॥*॥

(भाष्यम्)

निवर्तकं शास्त्रम् ॥

कथम् ?

भावबोधिनी

इस प्रकार से इतरेतराश्रय दोष आता है ।] यह इतरेतराश्रय होता है । और इतरेतराश्रय कार्य नहीं होते हैं ।

(वा०) अनुनासिक संज्ञा में इतरेतराश्रय के विषय में कहा जा चुका है ।

(भा०) क्या कहा जा चुका है ?

शब्दों के नित्य होने के कारण सिद्ध है । शब्द नित्य होते हैं । नित्य शब्दों में वर्तमान अनुनासिक की यह संज्ञा की जाती है । न कि (अनुनासिक) संज्ञा के द्वारा अनुनासिक वर्ण को उत्पन्न कराया जाता है ।

यदि शब्द नित्य ही हैं तब यह व्याकरण शास्त्र किस लिये [बनाया गया] है ?

(वा०) व्याकरण शास्त्र किस लिये है—यदि ऐसा कहो तो [इस शास्त्र के] निवर्तक होने से सिद्ध है ।

(भा०) शास्त्र निवर्तक है ।

कैसे ?

आङ्स्मायविशेषेणोपदिष्टोऽननुनासिकः। तस्य सर्वत्राननुनासिकबुद्धिः प्रसक्ता। तत्रानेन निवृत्तिः क्रियते—छन्दस्यचि परत आङोऽननुनासिकस्य प्रसङ्गेनुनासिकः साधुर्भवतीति ॥ मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः ॥ ८ ॥

(सवर्णसंज्ञाप्रकरणम्)

(८ सवर्णसंज्ञासूत्रम् १। १। ४ आ. ६ सू.)

तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् ॥ १।१।९ ॥

(तुल्यास्यप्रयत्नपदार्थनिरूपणाधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

[किमिदं तुल्यास्यप्रयत्नमिति ?]

(समाधानभाष्यम्)

तुलया संमितं तुल्यम्। आस्यं च प्रयत्नश्च आस्यप्रयत्नम्। तुल्यास्यं च

प्रदीपः

तुल्यास्यप्रयत्नम् ॥ ९ ॥ चत्वारोऽत्र पक्षाः सम्भवन्ति—(१) द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः, (२) त्रिपदो बहुव्रीहिः, (३) तुल्यास्यशब्दयोस्तत्पुरुषस्ततो बहुव्रीहिः, (४)

उद्द्योतः

तुल्यास्यप्र० ॥ ९ ॥ तत्पुरुष इति। तुल्यास्यशब्दयोर्मयूरव्यंसकादित्वात्पूर्वपदार्थ-

भावबोधिनी

इस [व्याकरण के अध्येता] के लिये [पाणिनि द्वारा] 'आङ्' यह सामान्यरूप से अननुनासिक उपदिष्ट है, अर्थात् पाणिनि ने आङ् को सामान्य रूप से अननुनासिक ही कहा है। अतः इस अध्येता की सर्वत्र अननुनासिक अर्थात् शुद्ध 'आ' की बुद्धि (ज्ञान) प्रसक्त होती है, वह सभी स्थलों पर 'आ' शब्द ही समझ बैठता है। वहाँ इस व्याकरण शास्त्र द्वारा [उस सामान्य बुद्धि की] निवृत्ति कर दी जाती है—"छन्दस् = वेद में अच् परे रहने पर अननुनासिक आङ् अर्थात् शुद्ध 'आ' के प्रसङ्ग में अनुनासिक ही साधु होता है। [अतः वेद में आ न समझकर आङ् समझना चाहिए। इसके लिये 'आङोऽनुनासिकश्छन्दसि बहुलम्' (६।१।१२८) आदि सूत्र शास्त्र बनाये गये हैं। अतः शब्दों के नित्य होने पर भी इस व्याकरण शास्त्र की उपयोगिता रहती ही है] ॥ ८ ॥

तुल्यास्य-प्रयत्नं सवर्णम् १।१।९

[यह 'तुल्यास्य-प्रयत्नम्' क्या हैं अर्थात् इस पद का क्या आशय है ?]

तुला = तराजू द्वारा तौला गया [अर्थात् बराबर, सदृश] तुल्य। आस्य और

तुल्यप्रयत्नं च सवर्णसंज्ञं भवति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

किं पुनरास्यम् ?

प्रदीपः

आस्यप्रयत्नशब्दयोस्तत्पुरुषस्ततो बहुव्रीहिरिति । तत्र द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिरिति पक्षे वार्तिकस्यावतार इति तमेव भाष्यकारः पूर्वं दर्शयति—तुलया सम्मितमिति । व्युत्पत्त्यर्थमेव तुलोपादीयते । रूढिशब्दस्त्वयं सदृशपर्यायः । यथा प्रवीणः कुशलः प्रतिलोमोऽनुलोम इत्यवयवार्थाभावः, एवं तुल्यशब्देऽपि ॥

किं पुनरास्यमिति । किं मुखम्, अथ तत्र भवं ताल्वादिकं स्थानमिति प्रश्नः ॥

उद्द्योतः

प्रधानस्तत्पुरुषः । आस्यप्रयत्नशब्दयोश्च साधनं कृतेत्यनेन समासः ॥ ननु स्थानादिकं न तुलया सम्मीयतेऽत आह—व्युत्पत्त्यर्थमेवेति ॥

किं मुखमिति । अतद्धितान्त-तद्धितान्तास्यशब्दविषये सन्देह इत्याशयः ॥

भावबोधिनी

प्रयत्न [इनका समाहारद्वन्द्व]—आस्यप्रयत्न है । तुल्य आस्य वाला और तुल्य प्रयत्नवाला अक्षर सवर्ण संज्ञा वाला होता है ।

विमर्श—'तुल्यास्यप्रयत्नम्' इस समस्त पद के चार प्रकार के अर्थ किये जा सकते हैं—(१) द्वन्द्वगर्भ बहुव्रीहि—आस्यं च प्रयत्नश्च अनयोः समाहारः—आस्यप्रयत्नम्, तुल्यम् आस्यप्रयत्नम् यस्य तत् सवर्णसंज्ञ स्यात् । यहाँ 'तुलया संमितम्' यह व्युत्पत्ति होने पर भी 'तुल्य' शब्द 'सदृश' अर्थ में रूढ माना जाता है । (२) त्रिपद बहुव्रीहि—तुल्यः आस्ये प्रयत्नः एषाम् । तुल्य = समान है आस्य = मुख में प्रयत्न जिन-जिनका उनकी सवर्णसंज्ञा होती है । (३) तुल्य और आस्य शब्दों का तत्पुरुष होता है—तुल्यः आस्ये = तुल्यास्यः । इसके बाद बहुव्रीहि होता है—तुल्यास्यः प्रयत्नः एषाम् अर्थात् मुख में समान है प्रयत्न जिनका उनकी सवर्णसंज्ञा होती है । (४) आस्य और प्रयत्न का तत्पुरुष होता है—आस्ये प्रयत्नः = आस्यप्रयत्नः । इसके बाद बहुव्रीहि किया जाता है—तुल्यः आस्यप्रयत्नः येषाम् अर्थात् आस्य में प्रयत्न समान है जिनका उनकी सवर्ण संज्ञा होती है । इनमें से प्रथम पक्ष को मानकर पहले यहाँ विचार किया जा रहा है । शेष तीन पक्षों की चर्चा अन्त में की जायगी ।

(अनु०) 'आस्य' यह कौन सा शब्द है ? [भाव यह है 'आस्य' अकेला मूल शब्द है अथवा 'आस्ये भवम्' इस अर्थ में यत् तद्धित प्रत्ययान्त है, अर्थात् यहाँ मुख अर्थ है अथवा मुख में उत्पन्न होने वाला ?]

(समाधानभाष्यम्)

लौकिकमास्यम् । ओष्ठात्प्रभृति प्राक्काकलकात् ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

कथं पुनरास्यम् ?

(समाधानभाष्यम्)

(क) अस्यन्त्यनेन वर्णानिति—आस्यम् ॥

प्रदीपः

लौकिकमिति । पशुरपत्यं देवतेत्यादिवत् प्रसिद्धमित्यर्थः ॥ यद्यपि ताल्वादिकमपि लौकिकमास्यम्, तथापि तत्र योगवशादास्यशब्दो वर्तत इति झटिति न तत्प्रसिद्धमिति मुखमेव प्रसिद्धत्वाल्लौकिकमुक्तम् । तस्यैव च प्राधान्याद् ग्रहणं युक्तमित्यर्थः ॥ ओष्ठादिति । काकलकं हि नाम ग्रीवायामुन्नतप्रदेशः ॥

कथं पुनरिति । यदि निमित्तवशात्प्रवर्तते ततस्ताल्वादिष्वपि प्रवर्तिष्यत[े] इति प्रश्नः॥

अस्यन्त्यनेनेति । सत्यपि निमित्ते रूढिवशान्मुखे एव तत्प्रवर्तते न ताल्वादिष्वित्यर्थः । कृत्यल्युट इति करणे ण्यत् । असनमत्र व्यक्तिस्फोटपक्षेऽभिव्यक्तिः, जाति-

उद्द्योतः

तद्धितान्तमपि लौकिकमेव न वैदिकमित्यत आह—पशुरिति ॥ झटिति । पदश्रवणमात्रेणेत्यर्थः ॥

निमित्तवशात् = अवयवार्थवशात् ॥

जातिस्फोटेति । वर्णानिति वर्णपदं बोधकपरम् । तत्र जातेर्बोधकत्वे तस्या नित्यत्वादभिव्यक्तिरसनं,तदाश्रयव्यक्तीनां वाचकत्वे तूत्पत्तिरिति भावः॥ अतएव वर्णानिति बहुवचनं सङ्गच्छते । एकैव व्यक्तिस्तत्तद्रूपेणाभिव्यक्ता वाचिकेति पक्षे तदसङ्गतिः स्पष्टैव ॥ क्वचित्तु व्यक्तिस्फोटपक्षेऽभिव्यक्तिः, जातिस्फोटपक्षेः तूत्पत्तिरिति पाठः ॥ अयमेव साम्प्रदायिकः पाठः ॥ 'एकैव व्यक्तिर्वाचिका कत्वादिकं तु ध्वनिनिष्ठं ध्वनि-

भावबोधिनी

आस्य—शब्द की व्याख्या

लौकिक अर्थात् प्रसिद्ध मूल आस्य शब्द है जो ओंठ से लेकर काकलक (गले में निकली घांटी, कौवा) से पूर्वभाग तक स्थान [माना जाता] है ।

यह 'आस्य' किस कारण [कहा जाता] है ?

(क) वक्ता इस [आस्य=मुख] के द्वारा वर्ण बाहर फेंकते हैं, बोलकर बाहर ध्वनि रूप में निकालते हैं ।

(ख) अन्नमेतदास्यन्दत इति—वास्यम् ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

अथ कः [पुनः] प्रयत्नः ?

(समाधानभाष्यम्)

प्रयतनं प्रयत्नः । प्रपूर्वाद्यततेर्भावसाधनो नङ् प्रत्ययः (३।३।९०) ।

प्रदीपः

स्फोटपक्षे तूत्पत्तिः ॥ अन्नमेतदिति । आङ्पूर्वात्स्यन्दतेः 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति डः । एतद् आस्यं कर्म, अन्नं कर्तृ, आस्यन्दते = द्रवीकरोति, अन्नप्रक्षेपणेन मुखस्य द्रवत्वोत्पादनात् ।

कः प्रयत्न इति । किं प्रयतनं प्रयत्नः, अथ प्रारम्भो यत्नस्येति प्रश्नः ॥

भावसाधन इति । भावेऽभिधेये नङ्प्रत्ययः क्रियते । तेन नङ्शब्दस्य भावः साधनं भवति ॥

उद्द्योतः

विशेषव्यङ्ग्यं वा । सा च नित्या' इति व्यक्तिस्फोटवादः, तदाभिव्यक्तिः स्पष्टैव । बहुवचनं त्वेकस्यैव बहुरूपत्वादारोपितबहुत्वमादाय नेयम् ॥ 'व्यक्तयोऽनन्ता जन्याश्च । तत्र जातिरेव शक्ता' इति जातिस्फोटवादः, तदोत्पत्तिरित्यर्थः । अन्येष्वपीति । दृशिग्रहणाद्धात्वन्तरादपि स इति भावः ॥

ननु साधनशब्देन कारकशक्तिरभिधीयते इति भावस्य साधनत्वमनुपपन्नमत आह—भावे । इति ॥ नङ् । यजयाचेत्यनेन ॥

भावबोधिनी

(ख) अथवा अन्न [आदि खाद्य पदार्थ] इस (आस्य = मुख) को गीला (लार, पाचक रसविशेष से युक्त) करता है, इसलिये आस्य है । [यह अर्थ का निर्वचन है । आङ् स्यन्द + ड = अ, टिलोप आ स्य् अ = आस्य बना है । पहली व्युत्पत्ति में 'असु क्षेपणे' धातु से करण अर्थ में ण्यत् = य प्रत्यय, उपधा की वृद्धि होती है ।]

प्रयत्न—शब्द को व्याख्या

अच्छा, तो 'प्रयत्न' क्या है, किसे कहते हैं ?

प्रयतन प्रयत्न है क्योंकि 'यती प्रयत्ने' इसी 'प्र' पूर्वक यत् धातु से भाव (= क्रियासामान्य) अर्थ में [यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् ३।३।९० से] नङ् = न प्रत्यय होता है । [अतः यत्न का प्रारम्भ अर्थ नहीं अपितु सामान्य यतन है ।]

(आक्षेपभाष्यम्)

यदि लौकिकमास्यम्, किमास्योपादाने प्रयोजनम्। सर्वेषां हि तत्तुल्यम् ?

(समाधानभाष्यम्)

वक्ष्यत्येतत्—'प्रयत्नविशेषणमास्योपादानमि'(पृ० ५०५) ति।

प्रदीपः

किमास्योपादान इति। आस्य एव सर्वंवर्णानां निष्पादादिति भावः॥ नासिकापि न बाह्या वर्णोत्पत्ति-निमित्तम्। किं तर्हि ? आस्यान्तश्चर्मं विततमस्ति पणचर्मवत्, तसम्बद्धा रेखा नासिका; तस्यां वाय्वभिघाताद्वर्णोत्पत्तिः, विसर्जनीयस्यैकीयमतेनोरस्यत्वात्सावर्ण्याभावेऽपि न दोषः॥

वक्ष्यतीति। नास्य परीक्षावसर इति भावः॥

उद्द्योतः

ननु तुल्यावास्यप्रयत्नमात्री येषां जनकावित्यर्थे नासिकास्थानवङादिनिवृत्त्यर्थमास्योपादानं स्यादत आह—नासिकापीति। एवं चास्यग्रहणे कृतेऽपि तद्व्यावृत्तिर्दुरुपपादेति भावः। वस्तुतस्तु अवधारणगर्भसमासे ह्रस्वाकारादिभिर्ह्रस्वाकारादीनां सावर्ण्यानापत्तिः। तज्जनकवायुसंयोगादीनामपि तुल्यत्वात्। अवधारणागर्भसमासे त्वनुनासिकव्यावृत्तिरपि दुरुपपादैवेति भाष्याशयः॥ एवं च नासिकाया बाह्यत्वेऽपि न क्षतिः। अतएव मुखनासिकेति सूत्रे मुखं च नासिका चेति, मुखद्वितोया नासिकेति च विग्रहप्रदर्शनं भाष्ये। नह्यवयवावयविविषये एवं प्रयोगः सचेतसाम्। सहस्तो देवदत्त इत्यादौ विद्यमानवाची सहशब्दः। अत एव मुखवचनोऽनुनासिक इतीयत्युच्यमाने कचटपानामेव प्रसज्येतेति भाष्ये 'एव' शब्दः सङ्गच्छते। अन्यथा यमादीनां ङादीनां च मुखवचनत्वादत्तदसङ्गतिः स्पष्टैव। आस्यानन्तर्गतत्वे तु न दोषः, मुखमात्रवचनत्वाभावात्। प्रासादवासिन्यायप्रदर्शकभाष्येणापि ध्वनितमेतत्। कैयटोक्तास्यान्तर्गतत्वपक्षे तु सूत्रे मुखपदं मुखावयवपरम्। ब्राह्मणवसिष्ठन्यायेन च नासिकातिरिक्तावयवग्रहणम्। एवकारश्चाप्यर्थः। दृष्टान्तोऽप्येकांशेन बोध्य इति॥ नन्वेवमपि विसर्जनीयव्यावृत्तये तत्स्यादत आह—विसर्जनीयस्येति। ततश्चान्येषां कण्ठादिस्थान एवेति भावः॥ उरस्यमतेऽप्याह—सावर्ण्याभावेऽपीति॥

ननु इदानीमेव किं नोच्यतेऽत आह—नास्येति॥

भावबोधिनी

यदि लौकिक = लोक में प्रसिद्ध आस्य = मुख अर्थ है, तब इसके ग्रहण का क्या फल है क्योंकि यह आस्य = मुख तो सभी वर्णों का तुल्य ही होता है ?

[आस्य–के ग्रहण का विशेष प्रयोजन] आगे कहा जायगा—'प्रयत्न को विशेषित करने के लिये अर्थात् प्रयत्न का विशेषण बनाने के लिये 'आस्य' का ग्रहण किया गया है। [आस्य में जिनका प्रयत्न तुल्य है उनकी ही सवर्ण संज्ञा होती है—इत्यादि विचार आगे प्रस्तुत किया जायगा।]

(१४० आक्षेपवार्तिकम् ॥ १ ॥)

॥*॥ सवर्णसंज्ञायां भिन्नदेशेष्वतिप्रसङ्गः प्रयत्नसामान्यात् ॥*॥

(भाष्यम्)

सवर्णसंज्ञायां भिन्नदेशेष्वतिप्रसङ्गो भवति—जबगडदशाम् ॥

किं कारणम् ?

प्रयत्नसामान्यात् । एतेषां हि समानः प्रयत्नः ॥

(१४१ न्यासान्तरेण समाधानवार्तिकम् ॥ २ ॥)

॥*॥ सिद्धं त्वास्ये तुल्यदेशप्रयत्नं सवर्णम् ॥*॥

(भाष्यम्)

सिद्धमेतत् ।

कथम् ?

प्रदीपः

सवर्णसंज्ञायामिति । द्वन्द्वे प्रयत्नस्यास्येनाविशेषणान्मुखप्रयत्नयोस्तुल्यत्वाद्भिन्नस्थानानामपि प्रसङ्गः । भाष्ये शकारः प्रत्याहारपाठवशात्पठितः । अत्र प्रत्याहारे—जबगडदानां प्राप्नोतीत्यर्थः । शकारस्य तु विवृतत्वात्स्पर्शानां स्पृष्टत्वादप्रसङ्ग एव । ततश्च ऊर्ज्जं इत्यादौ 'झरो झरी'ति लोपप्रसङ्गः ॥

उद्द्योतः

द्वन्द्वे प्रयत्नस्यास्येनाविशेषणादित्यस्योपयोगश्चिन्त्यः । अत्रेति । एतद्वर्णसमूहसाध्यप्रत्याहारे इत्यर्थः । ऊर्ग्=अन्नं तस्माज्जात ऊर्ग्जः ॥

भावबोधिनी

केवल प्रयत्न की तुल्यता में सवर्ण संज्ञा का निवारण

(वा०) सवर्ण संज्ञा में भिन्न स्थान वाले वर्णों में भी प्रयत्न की तुल्यता से [सवर्ण संज्ञा का] अतिप्रसङ्ग होता है ।

(भा०) सवर्णसंज्ञा में भिन्न स्थान वाले वर्णों में अतिप्रसङ्ग होने लगता है—जबगडदश—इनकी सवर्ण संज्ञा होने लगेगी ।

क्या कारण है [जिससे अतिप्रसङ्ग होगा] ?

प्रयत्न के तुल्य होने के कारण । इन [भिन्न-भिन्न उच्चारणस्थान वाले] 'जबगडदश'—का प्रयत्न समान है । [इनमें 'श' की सवर्ण संज्ञा नहीं समझनी चाहिए ।]

(वा०) सिद्ध है, आस्य=मुख में 'तुल्य' स्थान और तुल्य प्रयत्न वाले सवर्णसंज्ञक होने से [कोई अतिप्रसङ्ग नहीं आता है] ।

(भा०) यह सिद्ध है अर्थात् अतिप्रसङ्ग नहीं आता है ।

कैसे [सिद्ध है] ?

आस्ये येषां तुल्यो देशः प्रयत्नश्च ते सवर्णसंज्ञा भवन्तीति वक्तव्यम् ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

एवमपि किमास्योपादाने प्रयोजनम्, सर्वेषां हि तत्तुल्यम् ?

(समाधानभाष्यम्)

प्रयत्नविशेषणमास्योपादानम् । सन्ति ह्यास्याद् बाह्याः प्रयत्नाः । ते ह्यपिता भवन्ति । तेषु सत्स्वसत्स्वपि सवर्णसंज्ञा सिद्धा भवति ॥

प्रदीपः

एवमपीति । आस्ये येषां तुल्यो देश इत्यास्येन देशो विशेष्यते । तत्र व्यभिचारा-भावादास्येन देशस्य विशेषणमयुक्तमित्यर्थः ॥

प्रयत्नविशेषणमिति ॥ तस्य सम्भवव्यभिचारसद्भावादित्यर्थः । बाह्यप्रयत्नव्युदा-साच्चत्वार आभ्यन्तरा गृह्यन्ते । स्पृष्टतेषत्स्पृष्टताविवृततासंवृतताख्याः ॥

उद्द्योतः

आस्ये इति । देशविशेषणवैयर्थ्याभिप्रायेण प्रश्न इति भावः । न च नासिकाया आस्यानन्तर्गतत्वपक्षे तद्व्यावृत्तये देशविशेषणमावश्यकमिति वाच्यम् । अनुनासिका-कारादौ कण्ठादिषु वाय्वभिघातादभिव्यक्तेषु वर्णेषु नासिकाभिघातेनानुनासिक्यं धर्म उत्पद्यते इत्यनुभवेन वृद्धिरादैच्सूत्रस्थाद् 'भेदकत्वाद्गुणस्येतिवाच्यम्' । [आनुनासि-क्यसङ्ग्रहार्थम्] तद्यथैकोऽयमास्मेत्यादिभाष्यकैयटात् तथैव लाभेन च तेषु नासिकाया देशत्वाभावस्य त्वल्लतत्वात् नादिष्वपि तथैवेत्यभिमानात् । देशपदेन ताल्वादिस्थान-मेवोच्यते इति—जवगडादिषु न दोषः ॥

भाष्ये प्रयत्नविशेषणमिति । देशप्रयत्नमिति द्वन्द्वस्तु सौत्रत्वात्साधुरिति भावः ॥ स्पृष्टतेत्यादि । आस्यान्तर्गततत्तत्स्थानेषु जिह्वाग्रादीनां वर्णाभिव्यक्तिजनकस्पर्शेष-

भावबोधिनी

आस्य = मुख में जिनका तुल्य = समान देश=स्थान और प्रयत्न है उनकी सवर्ण-संज्ञा होती है—ऐसा कहना चाहिए । [अतः केवल प्रयत्न की समानता में सवर्ण संज्ञा नहीं हो सकती ।]

सूत्र में 'आस्य' ग्रहण का फल

ऐसा अर्थात् आस्य में तुल्य देश और प्रयत्न वाले की सवर्णसंज्ञा होती है--ऐसा मान लेने पर भी [सूत्र में] आस्य के उपादान का क्या प्रयोजन है क्योंकि वह आस्य तो सभी वर्णों का तुल्य ही है अर्थात् सभी वर्ण आस्य रूपी एक ही स्थान से उच्चारित होते हैं ।

प्रयत्न के विशेषण के रूप में आस्य का उपादान है अर्थात् आस्य में ही होने वाले

के पुनस्ते ?

विवारसंवारौ, श्वासनादौ, घोषवदघोषता, अल्पप्राणता महाप्राणतेति ॥

तत्र वर्गाणां प्रथमद्वितीया विवृतकण्ठाः, श्वासानुप्रदाना अघोषाश्च । एकेऽल्पप्राणाः, अपरे महाप्राणाः ॥

तृतीयचतुर्थाः संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तः । एकेऽल्पप्राणाः, अपरे महाप्राणाः ॥

यथा तृतीयास्तथा पञ्चमा आनुनासिक्यवर्जम् । आनुनासिक्यमेषामधिको गुणः ॥

उद्द्योतः

त्स्पर्शदूरावस्थानसमीपावस्थानरूपाभ्यन्तरकार्यकारिप्रयत्नविशेषा एतैः पदैरुच्यन्ते । तेषां चास्यवृत्तित्वमास्यान्तर्गततत्तत्स्थानेषु वायुसंयोगजनकत्वेनेति बोध्यम् । आस्ये इत्यस्य 'यत्कार्यं, तज्जनक' इति शेषो वा ॥ भाष्ये ते हापिता इति । सवर्णसंज्ञा स्वनिमित्तत्वेन बाह्यप्रयत्नाञ्जहातीति तथा ते स्वनिमित्तत्वं हापिता इत्यर्थः ॥ विवार-संवारौ कण्ठबिलस्य विकाससङ्कोचौ । विवृतः कण्ठो यैः । श्वासोऽनु प्रदीयते यैरित्यर्थः ॥ नादो वर्णोत्पत्त्यनन्तरभावी अनुरणनरूप शब्दः ॥ [एके उक्तवाक्ययोः प्रथमोपात्ताः,] यथा तृतीया इत्यनेन तेषामल्पप्राणत्वं बोधितम् । देशविशेषणमप्या-स्यग्रहणमावश्यकमिति गूढाशयेनाह—भाष्ये आनुनासिक्यमेषामधिको गुण इति । अयं

भावबोधिनी

प्रयत्न की समानता ली जाती है। क्योंकि आस्य से बाहर वाले भी प्रयत्न होते हैं, वे छोड़ दिये जाते हैं। [सवर्ण संज्ञा के लिये उनका कोई महत्त्व नहीं है।] उन (आस्य से बाहर वाले) प्रयत्नों के [तुल्य] रहने पर अथवा न रहने पर भी सवर्ण संज्ञा सिद्ध होती है।

वे [बाह्य प्रयत्न] कौन-कौन हैं ?

(१) विवार, (२) संवार, (३) श्वास, (४) नाद, (५) घोषवत्ता और (६) अघोषवत्ता (अर्थात् घोष और अघोष), (७) अल्पप्राणता और (८) महाप्राणता।

इनमें प्रत्येक वर्ग के प्रथम और द्वितीय वर्ण विवृतकण्ठवाले, श्वास-अनुप्रदान और अघोष होते हैं। एक (= प्रथम) अल्पप्राण हैं और दूसरे (द्वितीय) महाप्राण हैं।

तृतीय और चतुर्थ वर्ण संवृतकण्ठवाले, नाद-अनुप्रदान और घोषवाले हैं। [इन्हीं में] एक (= तृतीय) अल्पप्राण हैं और दूसरे (= चतुर्थ) महाप्राण हैं।

अनुनासिकतारूपी धर्म को छोड़कर जैसे तृतीय हैं वैसे पञ्चम हैं, पञ्चम वर्णों में

उद्द्योतः

भाव:—अत्र देशपदेन ताल्वादिस्थानमुच्यते। स्थानशब्देन च योगरूढ्या वर्णाभिव्यक्तिजनकवायुसंयोगानुयोगि ताल्वाद्युच्यते। तत्र यद्यपि अकारादीनां गुणमात्रजनिका नासिका, स्वरूपस्य कण्ठादिभिरेवाभिव्यक्तिसिद्धेः। तथापि ञादीनां स्वरूपस्य न केवलताल्वादिना नापि केवलनासिकयाऽभिव्यक्तिरिति विनिगमनविरहादुभयावच्छिन्नवायुसंयोगस्यैव तज्जनकत्वात्तेषां नासिकापि स्थानम्। न चैवं त्वङ् करोषीत्यादौ चरितार्थं परसवर्णशास्त्रं संयन्त्वेत्यादौ न प्रवर्तेत। उक्तरीत्या यादीनां नासिकास्थानत्वाभावेन स्थानत आन्तर्याभावादिति वाच्यम्। स्थानेऽन्तरतमे इति सप्तम्यन्तपाठस्य दूषितत्वेनास्या युक्तेर्गर्भस्रावात्॥ अनुनासिकाकारादीनामपि सा स्थानमिति त्वयुक्तमेव। एवं हि उत्पादकसामग्रीभेदात्कङ्योरिव स्वरूपभेदस्यैवापत्तौ अभेदगुणपक्षेऽपि निरनुनासिकैः सानुनासिकग्रहणानापत्तिः। एवं च यावत्स्थानसाम्ये सवर्णसंज्ञेति सिद्धान्ते नासिकारूपदेशभेदात्कङादीनामप्राप्तसावर्ण्यसिद्धये आस्येन देशविशेषणमावश्यकम्। नासिकाया आस्यान्तर्गतत्वेऽपि मुखनासिकेतिसूत्रे नासिकातिरिक्तावयवकमुखस्यैव ग्रहणेन तत्साहचर्यादत्राप्यास्यपदेन तादृशस्यैव ग्रहणं बोध्यम्। अन्यथाऽत्र स्थाने एतत्कथनवैयर्थ्यापत्तिः। आस्यग्रहणव्यावर्त्यानां सावर्ण्यानुपयुक्तानां प्रदर्शनमेव ह्यत्र प्रक्रान्तम्॥ न चेदं प्रयत्नविशेषणास्यग्रहणव्यावर्त्यमेवास्तु, अनुनासिकयकारादीनां आदिभिः सावर्ण्यं च व्यावर्त्यम्, तत्फलं च तञ्जुङ्वे तन्नमतीत्यादौ 'अनुस्वारस्य ययी'त्यनेन यकारलकारयोरनुनासिकयोरभाव इति वाच्यम्। अनुस्वारस्य नासिकास्थानत्वेन स्थानतोऽन्तरमयोर्णयोरेव प्रवृत्तेः। अनुनासिकयादीनां तु उक्तरीत्या न नासिका स्थानमित्यदोषात्। इदमेव ध्वनयितुं गुण इत्युक्तम्। गुणपदेन च सावर्ण्यानुपयोगिन आन्तरतम्यपरीक्षोपयोगिनो विवारादय उच्यन्ते। एवं च तत्सादृश्यादत्रापि गुणशब्दप्रयोगः। अतएव बाह्यप्रयत्नानुपक्रम्याऽमानुनासिका न ह्राविति शिक्षायामुक्तम्। अत एवोदात्तादिभिः सहैकादश बाह्यप्रयत्ना इति कैयटो वक्ष्यति। उदात्तादीनामपि वृद्धिसंज्ञासूत्रशेषे गुणत्वेन व्यवहारात्। अत एव 'एवमप्यवर्णस्य सवर्णसंज्ञा न प्राप्नोति। बाह्यं ह्यास्यात्स्थानमवर्णस्य' 'एवमपि व्यपदेशो न प्रकल्पते आस्ये येषां तुल्यो देशः' इति च भाष्यं स्वरसतः सङ्गच्छते। अन्यथा प्रयत्नविशेषणमात्रस्योक्तेर्देशविशेषणत्वाभावेन तदसङ्गतिः स्पष्टैव। आस्येन देशविशेषणाभावान्न दोष इत्येव वक्तव्ये सर्वमुखेत्यादिसमाधानस्यापि निर्दलत्वापत्तिश्च॥ एके इत्यनेन सर्वमतं तु कण्ठस्थानमिति ध्वनयति॥

(आक्षेपभाष्यम्)

एवमप्यवर्णस्य सवर्णसंज्ञा न प्राप्नोति ।

किं कारणम् ?

बाह्यं ह्यास्यात्स्थानमवर्णस्य ॥

(समाधानभाष्यम्)

सर्वमुखस्थानमवर्णम् एक इच्छन्ति ॥

प्रदीपः

बाह्यं ह्यास्यादिति । काकलस्याधस्तादुपजत्रुस्थानमवर्णस्यैक इच्छन्ति । सति च बाह्यदेशसम्भवे तद्व्यवच्छेदायास्येन देशो विशेष्यत इति प्रश्नः ॥

सर्वमुखेति । अवर्णनिष्पत्तौ सर्वमेव मुखं व्याप्रियत इति नास्य बाह्यस्थानता ॥

भावबोधिनी

केवल अनुनासिकता रूप गुण = धर्म अतिरिक्त है । [शेष सभी समानतायें तृतीय और पञ्चम में एक सी ही हैं ।]

विमर्श—प्रत्येक वर्ण के उच्चारण में आस्य = मुख का उपयोग अनिवार्य हैं। अतः इस 'आस्य' का उल्लेख अनावश्यक है ? इसका समाधान यह है कि 'आस्य' को प्रयत्न का विशेषण बनाना है, आस्य में जिस-जिसका प्रयत्न तुल्य होता है उस उसकी सवर्णसंज्ञा होती है । चूंकि 'आस्य' की स्थानसीमा निश्चित है—ओष्ठ से लेकर काकलक के मध्य में जितना स्थान है वही 'आस्य' कहा जाता है । उससे बाहरी स्थान में जो यत्न होते हैं उनकी तुल्यता अनिवार्य नहीं है । वे भिन्न-भिन्न भी हो सकते हैं । इन्हें बाह्य यत्न कहा जाता है । भाष्यकार ने केवल आठ बाह्य यत्न यहाँ लिखे हैं—विवार, संवार, श्वास, नाद. घोषवत्ता, अघोषवत्ता (घोष, अघोष) महाप्राणता और अल्पप्राणता । परन्तु पाणिनिशिक्षा आदि में तीन बाह्य प्रयत्न और अधिक देखे जाते हैं—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित । इनके स्वरूप आदि के विषय में व्याकरण तथा भाषाविज्ञान के अन्य ग्रन्थों में विस्तार से लिखा है, जिज्ञासुओं को वहीं देखना चाहिए ।

(अनु०) ऐसा मानने पर भी अर्थात् बाह्य प्रयत्नों का वारण करने के लिये आस्य को प्रयत्न का विशेषण बना देने पर भी अवर्ण की सवर्ण संज्ञा [किसी के साथ] नहीं प्राप्त होती है ।

क्या कारण है ?

अवर्ण का (उच्चारण-) स्थान (पारिभाषिक) आस्य से बाहर है । [कुछ विद्वान् काकलक = कौवा से नीचे उपजत्रु को अवर्ण का स्थान मानते हैं । इसलिये अ के उच्चारण में बाह्य यत्न करना पड़ता है ।]

कुछ विद्वान् अवर्ण को सम्पूर्ण मुखरूप स्थानवाला मानते हैं । [अर्थात् अवर्ण का उच्चारण किसी स्थानविशेष में न होकर पूरे मुख में होता है । अतः आस्य में ही प्रयत्न होते हैं बाहर नहीं ।]

(आक्षेपभाष्यम्)

एवमपि व्यपदेशो न प्रकल्पते—'आस्ये येषां तुल्यो देशः' इति ॥

(समाधानभाष्यम्)

व्यपदेशिवद्भावेन व्यपदेशो भविष्यति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

सिध्यति । सूत्रं तर्हि भिद्यते ॥

(सिद्धान्तिसमाधानभाष्यम्)

यथान्यासमेवास्तु ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

ननु चोक्तम् ० सवर्णसंज्ञायां भिन्नदेशेष्वतिप्रसङ्गः प्रयत्नसामान्याद् ० इति ॥

प्रदीपः

एवमपीति । अवर्णस्यास्यमेव देशो न त्वास्ये देशः ॥

व्यपदेशिवद्भावेनेति । सर्वावस्थायुक्तमास्यमास्यशब्देनोच्यते, देशशब्देन तु विशिष्टावस्था वर्णोत्पादनहेतुः । तत्र बुद्धिकृतभेदाश्रयेण व्यपदेशः ।

भावबोधिनी

यदि ऐसा मानते हैं तब भी यह व्यवहार नहीं उत्पन्न होता है—आस्य में जिनका देश=स्थान तुल्य है ।' [क्योंकि सारा आस्य ही अवर्ण का स्थान बन जाता है ।]

व्यपदेशिवद्भाव से व्यपदेश=व्यवहार बन जायगा । [अर्थात् 'आस्य में देश' यह व्यवहार काल्पनिक अवयवावयविभाव को मानकर हो सकता है ।]

[सवर्ण संज्ञा] सिद्ध हो जाती है । किन्तु सूत्र के स्वरूप में भेद हो जाता है । [इस पक्ष के अनुसार 'आस्ये तुल्य-देश-प्रयत्नं सवर्णम्' ऐसा सूत्र-स्वरूप बनाना पड़ेगा ।]

तब तो जैसा सूत्र का स्वरूप है वैसा ही रहे ।

श्रीमन् ! अभी ऊपर कहा गया है कि—'प्रयत्न के तुल्य होने के कारण भिन्न-भिन्न स्थानवाले वर्णों की भी सवर्ण संज्ञा अतिप्रसक्त होने लगेगी । [जैसे—ज, ब, ग, ड, द—इनका बाह्य प्रयत्न समान है । किन्तु स्थान भिन्न है । सिद्धान्ततः सवर्ण संज्ञा नही होती है । किन्तु मूल सूत्रस्वरूप रहने में होने लगेगी ।]

(सिद्धान्तिसमाधानभाष्यम्)

नैष दोषः ॥ न हि लौकिकमास्यम् ॥

किं तर्हि ?

तद्धितान्तमास्यम् । आस्ये भवम्–आस्यम् । "शरीरावयवाद्यत्" (४।३।५५) ॥

किं पुनरास्ये भवम् ?

स्थानं करणं च ॥

प्रदीपः

न हीति । प्राथमकल्पिकमित्यर्थः । यौगिकस्य तु व्यवहितस्य ग्रहणम् ॥ स्थानमिति । ताल्वादि ॥ करणमिति । स्पृष्टतादि, जिह्वाया अग्रोपाग्रमध्यमूलानि वा ॥ यद्येवं प्रयत्नग्रहणं न कर्तव्यं तस्याप्यास्ये भवत्वाद् आस्यग्रहणेन ग्रहणात् ॥ सत्यमेतत्, प्रत्येकं तु व्यापारनिरासार्थमुभयोरुपादानम्, तेन द्वयोस्तुल्यत्वे सवर्णसंज्ञा भवति ॥

उद्द्योतः

व्यवहितस्येति । यद्यपि रूढिर्योगापहारिणी, तथाप्यास्यपदोपादानसामर्थ्याद् व्यवहितस्यापि ग्रहणमिति भावः ॥ ताल्वादीति । शिक्षायां तेन रूपेणैव वर्णस्थानत्वकथनादिति भावः । एतेन ताल्वादिषूर्ध्वाधरभागभेदादुदात्तादीनां सवर्णसंज्ञा न प्राप्नोति—इत्यपास्तम् । आस्यभवशब्देन तद्रूपावच्छिन्नस्यैव ग्रहणेनादोषात् ॥ ननु प्रयत्नपदेनैव तद्ग्रहणसिद्धिरत आह— जिह्वाया अग्रेत्यादि ॥ प्रत्येकं त्विति । प्रत्येकनिरूपितसादृश्यग्रहणनिरासार्थमित्यर्थः । यद्यपि ज्ञापकेनापि प्रत्येकव्यापारनिरासः सुकरः, तथापि यावदास्यभवैक्यविवक्षायां ह्रस्वदीर्घयोः सावर्ण्यानापत्तिः ॥ तत्तज्जनकवायुसंयोगानामतुल्यत्वात् । अतः प्रयत्नपदमास्यपदेन स्थानमात्रग्रहणार्थम् । स्थानं करणं चेति भाष्ये करणपदेन वायुसंयोगोऽपि । प्रयत्नग्रहणाच्च नातिप्रसङ्ग इति

भावबोधिनी

आस्य—शब्द का विवक्षित अर्थ

यह दोष नहीं है । क्योंकि यहाँ लोकप्रसिद्ध 'आस्य' शब्द नही है ।

तब कौन सा है ?

तद्धित प्रत्ययान्त 'आस्य' शब्द है । आस्य में भव=होनेवाला—'आस्य' है । 'शरीरावयवाच्च' (४।३।५५) इस सूत्र से यत् प्रत्यय होता है । [भ-संज्ञा और अकार-यकार का लोप हो जाने पर आस् य=आस्य बना है । अतः 'आस्य'=आस्य में होनेवाला—यह अर्थ है ।]

अच्छा तो आस्य=मुख में होनेवाला कौन-कौन है ?

स्थान और करण=आभ्यन्तर प्रयत्न । [ये दोनों ही आस्य=मुख में होनेवाले हैं ।]

(आक्षेपभाष्यम्)

एवमपि प्रयत्नोऽविशेषितो भवति ॥

(समाधानभाष्यम्)

प्रयत्नश्च विशेषितः ॥

कथम् ?

न हि प्रयतनं प्रयत्नः ॥

किं तर्हि ?

प्रारम्भो यत्नस्य—प्रयत्नः ॥

प्रदीपः

अविशेषित इति । आस्येनेत्यर्थः । द्वन्द्वपक्ष एवात्र स्थित इति प्रश्नः । ततश्च बाह्याः प्रयत्ना न त्यक्ताः स्युः ॥

प्रारम्भो यत्नस्येति । तत्र पूर्वं स्पृष्टतादयश्चत्वारः, पश्चान्मूर्ध्नि प्रतिहते निवृत्ते प्राणाख्ये वायौ विवारादयो बाह्या एकादश प्रयत्ना उत्पद्यन्ते ॥

उद्द्योतः

तात्पर्यम् । अत एव यावत्स्थानैक्यपरेण 'नैतौ तुल्यस्थानाविति' भाष्येण न विरोधः इति दिक् ॥

भाष्ये प्रारम्भो यत्नस्येति । अत्र यत्नस्येति निर्धारणे षष्ठी । जातौ चैकवचनम् । आरम्भ इति कर्मणि घञ् । यत्नानां मध्ये प्रथमं वर्णोत्पत्तेः पूर्वमारभ्यमाण इत्यर्थः ॥ अत्रापि नासिकाया अग्रहणमुपपादितरीत्यैवेति बोध्यम् । अत्रेदं बोध्यम्—शब्दप्रयोगेच्छयोत्पन्नयत्नान्नाभिप्रदेशात्प्रेरितो वायुर्वेगान्मूर्धपर्यन्तं गत्वा ततः प्रतिनिवृत्तो यत्नविशेषसहायेन तत्तत्स्थानेषु जिह्वाग्रादिस्पर्शपूर्वकं तत्तत्स्थानान्याहत्य वर्णानभिव्यनक्ति । ततो यत्नविशेषसहायेन परावृत्तिसमये गलविवरादीनां विकासादीन् करोति । तत्र ये तत्तत्स्थानाभिघातका यत्नास्ते आस्यान्तर्गततत्तत्कार्यकारित्वाद् 'आस्ये प्रयत्नाः' इत्युच्यन्ते—, 'आभ्यन्तरा' इति 'प्रारम्भ' इति च । गलविवरादिविकासादिकरा-

भावबोधिनी

ऐसा मान लेने पर भी [आस्य द्वारा] प्रयत्न को विशेषित नहीं किया जाता, आस्य यह प्रयत्न का विशेषण नहीं बन पाता है ।

प्रयत्न भी विशेषित होता है ।

किस प्रकार से ?

प्रयत्न-शब्द का तात्पर्य

प्रयतन प्रयत्न नहीं है अर्थात् 'प्र' उपसर्ग सामान्य अर्थ में नहीं है ।

तो क्या अर्थ है ?

यत्न का प्रारम्भ--प्रयत्न है । [अर्थात् वर्णों की उत्पत्ति के प्रारम्भ=पूर्व में जो

(आक्षेपभाष्यम्)

यदि प्रारम्भो यत्नस्य प्रयत्नः, एवमप्यवर्णस्य एङोश्च सवर्णसंज्ञा प्राप्नोति ॥

(समाधानभाष्यम्)

प्रश्लिष्टावर्णावेतौ ॥

प्रदीपः

एवमिति । सन्ध्यक्षरेषु प्रथमभागस्याकारेण सादृश्यात्सवर्णसंज्ञाप्तिरिति प्रश्नः ।

प्रश्लिष्टावर्णाविति । नात्र भागविवेकोऽस्ति पांसूदकवदित्यर्थः ॥

उद्द्योतः

आस्यबहिर्भूतदेशे कार्यकरत्वाद्बाह्या इति ॥ एवं मात्राकालिकत्वादिकमपि वाय्वल्पत्वमहत्त्वकृतमिति नाभिप्रदेशात्प्रेरकयत्न एव कश्चिद्विलक्षणोऽल्पं वायुं प्रेरयति कश्चिदधिकमिति तस्य यत्नस्य वायुप्रेरणारूपं कार्यमास्यबाह्यदेशमिति तस्यापि व्यावृत्तिरास्यपदेनोक्ताऽइउण्सूत्रे भाष्ये ॥ मूर्ध्नि प्रतिहते वर्णोत्पत्तेः पूर्वं स्पृष्टतादयः, पश्चान्निवृत्ते प्राणाख्ये—इत्यन्वयः कैयटे । अत एव—

"सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः ।"

"वर्णाञ्जनयते"

इति शिक्षया न विरोध इति दिक् ॥

भाष्ये यदि प्रारम्भ इत्यत्र यदीत्यस्य यद्यपीत्यर्थः ॥ अकारेणेति । ततश्च स्वसवर्णाकारस्य तत्र सत्त्वेन तद्द्वारा तुल्यस्थानत्वेनावर्णैङोः सावर्ण्ये गव्यमित्यत्र यस्येति लोपप्रसङ्ग इत्यभिमानः ।

पांसूदकेति । प्रश्लिष्टावित्यस्य प्रकर्षेण श्लिष्टौ मिलितावित्यर्थः । ततश्च तदननुभवेन केवलताल्वादिस्थानकत्वेन च न तयोः सावर्ण्यप्राप्तिरिति भावः ॥

भावबोधिनी

यत्न किया जाता है वही प्रयत्न है । बाद में होनेवाला यत्न प्रयत्न नहीं होता है । अतः आभ्यन्तर यत्न ही लिये जाते हैं बाह्य नहीं ।]

यदि यत्न का आरम्भ--प्रयत्न है अर्थात् पहले होने वाला यत्न लिया जाता है तब भी तो अवर्ण और एङ् (ए ओ) की भी सवर्ण संज्ञा प्राप्त होगी है । [क्योंकि ए,ओ में पूर्व भाग अवर्ण पहले उच्चारित होता है ।]

[यह दोष नहीं है क्योंकि इनमें] ये अवर्ण प्रश्लिष्ट = अत्यन्त घुले-मिले हैं । [अलग से अवर्ण का ज्ञान नहीं होता है । अतः ए, ओ के साथ अवर्ण की सवर्णसंज्ञा नहीं प्राप्त होती है ।]

(आक्षेपभाष्यम्)

अवर्णस्य तर्हि एचोश्च सवर्णसंज्ञा प्राप्नोति ।

(समाधानभाष्यम्)

विवृततरावर्णावेतौ ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

एतयोरेव तर्हि मिथः सवर्णसंज्ञा प्राप्नोति ॥

(समाधानान्तरभाष्यम्)

नैतौ तुल्यस्थानौ ॥

प्रदीपः

अवर्णस्येति । विभागोत्र सुलक्ष्य इति प्रश्नः ॥ ततश्च नाव्यमित्यत्र यस्येतिलोप-प्रसङ्गः ॥

एतयोरिति । ततश्च 'एत ऐ' इत्यौकारोपि स्याद् भाव्यमानेनापि क्वचित्सवर्ण-ग्रहणदर्शनात् ॥

उद्द्योतः

विभागोऽत्रेति । एवं च पूर्ववत्तयोः सावर्ण्यं प्राप्नोत्येवेत्यर्थः ॥

भाष्ये एतदुत्तरं विवृततरावर्णाविति । एवं च तद्द्वारा तयोरपि विवृततरत्वेन प्रयत्नभेदाद्ह्रस्वेन न सावर्ण्यम् । आकारस्य ततोऽपि विवृततरत्वात्तेनाप्यनयोर्न सावर्ण्यं फलाभावश्चेति भावः ॥

एतयोरेवेति । यत्किचित्स्थानसाम्ये सवर्णसंज्ञेत्यभिमानः ॥ क्वचित् = 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' इत्यादौ ।

भावबोधिनी

तब तो अवर्ण और ऐच् (ऐ, औ) की सवर्ण संज्ञा प्राप्त होती है । [क्योंकि ऐ, औ में अवर्ण ध्वनि अलग स्पष्ट सुनाई देती है ।]

ये अवर्ण अर्थात् ऐ औ के अवर्ण विवृततर प्रयत्नवाले होते हैं । [अकेला अ विवृत होता है । आ और भी अधिक विवृततर होता है । अतः 'अ' या 'आ' की ऐ, औ तथा किसी अन्य के साथ सवर्ण संज्ञा नहीं होती है ।]

तब तो इन ऐ, औ की ही परस्पर में सवर्णसंज्ञा प्राप्त होती है । [कारण यह है कि इन दोनों के पूर्व भाग अ का विवृततर यह समान ही प्रयत्न होता है ।]

ये—ऐ, औ समान स्थानवाले नहीं हैं । ['ऐ' का कण्ठतालु और 'औ' का

(आक्षेपभाष्यम्)

उदात्तादीनां तर्हि सवर्णसंज्ञा न प्राप्नोति ॥

(समाधानभाष्यम्)

अभेदका उदात्तादयः ॥

प्रदीपः

अभेदका इति । लिङ्गेनैतत्प्रतिपादितम्—न शास्त्रे एते स्वशब्दोपादानमन्तरेण कार्येषु भिद्यन्त इति, तेन प्रारम्भभेदेऽप्युदात्तादीनां मिथः सवर्णसंज्ञा भविष्यति ॥

उद्द्योतः

भाष्ये नैतौ तुल्यस्थानाविति । तोर्लीति परसवर्णरहित–'तद्वानासा'मितिनिर्देशाद् यावत्स्थानसाम्यमत्र विवक्षितमिति भावः ॥ यत्त्वेषां समुदितं स्थानमिति । तन्न । "दन्त्योष्ठयो वः स्मृतो बुधैः ॥ ए ऐ तु कण्ठतालव्यौ" इति शिक्षायां प्रत्येकं 'तत्र भव' इत्यधिकारस्थयदनापत्तेः । दन्तोष्ठय इति पाठस्त्वसङ्गतः । शरीरावयवसमुदायस्य शरीरावयवत्वाभावात्, स्वाङ्गसमुदायस्य स्वाङ्गत्वाभाववत् । स्वजनकवायुसंयोगावच्छेदके कण्ठादौ स्वाधारत्वमारोप्य कण्ठे भव इत्याद्युपपत्तिः ॥ शरीरे मे वेदनेत्यव्येवमेवेति दिक् ॥

भाष्ये उदात्तादीनां तर्हीति । यावत्स्थानैक्यवद् यावत्प्रयत्नैक्यविवक्षणादिति भावः ॥

स्वशब्दाः = उदात्तादिशब्दाः । एवं चात्र प्रयत्नशब्देनोदात्तादीनां न ग्रहणमिति भावः ॥

भावबोधिनी

कण्ठओष्ठ स्थान है, इनकी समानता नहीं है ।]

तब तो उदात्त आदि अवर्णों की भी सवर्ण संज्ञा नहीं प्राप्त होती है । [भाव यह है कि यदि स्थान की समानता पूर्णरूप से ली जाती है तब उदात्त आदि प्रयत्नों की भी पूर्ण समानता लेनी होगी । फलतः उदात्त अ की अनुदात्त और स्वरित अवर्ण के साथ सवर्ण संज्ञा नहीं हो सकेगी । अतः स्थान और प्रयत्न की पूरी-पूरी समानता नहीं लेनी चाहिए ।]

उदात्तत्व आदि सवर्णसंज्ञा में भेदक नहीं

[यह दोष नहीं है क्योंकि] उदात्त आदि भेदक नहीं होते हैं अपि तु अभेदक ही होते हैं । [अतः इन गुणों के भिन्न रहने पर भी सवर्णसंज्ञा सम्भव है ।]

(एकदेशिभाष्यम्)

अथवा किं न एतेन—प्रारम्भो यत्नस्य प्रयत्न इति ॥

किं तर्हि ?

प्रयतनमेव प्रयत्नः । तदेव च तद्धितान्तमास्यम् । यत्समानं तदाश्रयिष्यामः॥

किं सति भेदे ?

सतीत्याह । सत्येव हि भेदे सवर्णसंज्ञया भवितव्यम् ।

कुत एतत् ?

प्रदीपः

यत्समानमिति । स्पृष्टत्वस्य समानत्वाद्वर्णानां बाह्यप्रयत्नभेदेऽपि सवर्णसंज्ञा भविष्यति ॥ किं सतीति । स्पृष्टताद्यभेदाद्विवारादिभेदेऽपि यथा भवति तथा स्पृष्टतादिभेदेऽपि विवाराद्यभेदात्प्राप्नोतीति प्रश्नः ॥ सत्येवेति । 'झरो झरी'त्येवान्यथा ब्रूयात् । यथासंख्यनिरासार्थं हि तत्र सवर्णग्रहणं कृतं शिण्ढीत्यत्र डकारस्य ढकारे परतो

उद्द्योतः

भाष्ये—'उदात्तादीनां सवर्णसंज्ञा न प्राप्नोती'त्यस्य 'आस्येन प्रयत्नोऽविशेषित' इत्यस्य च समाधानान्तरमाहैकदेशी—अथवा किं न एतेनेति । नोऽस्माकमेतेन = प्रारम्भो यत्नस्येत्यर्थकप्रयत्नशब्दाश्रयणेन किमित्यर्थः । क्लिष्टत्वादिति भावः ॥ बाह्यप्रयत्नभेदेऽपीति । एवमुदात्तादिभेदेऽपि भविष्यतीत्यपि बोध्यम् ॥ यद्यपि सवर्णसंज्ञाया न प्रयत्नभेदगर्भत्वं, तथापि ज्ञापकादेतदर्थसिद्धिरित्याह—झरो झरीति ॥ भाष्ये—सत्येव हि भेदे इति । यत्किंचित्प्रयत्नभेदे सत्येवेत्यर्थः ॥ कुत एतदिति । सूत्राक्षरैस्तदलाभ इति

भावबोधिनी

अथवा हम लोगों को इससे क्या लेना-देना—'यत्न का प्रारम्भ = प्रयत्न है ।

तो क्या [अर्थ] है ?

प्रयतन अर्थात् सामान्य प्रयत्न ही 'प्रयत्न' है । और 'आस्य' शब्द वही तद्धित प्रत्ययान्त (आस्ये भवम्—आस्यम्) है । इनमें दोनों का जो-जो समान होगा उसे उसे मान लिया जायगा । [उन्हीं की समानता से सवर्णसंज्ञा होगी ।]

कुछ भेद में ही सवर्ण संज्ञा अभीष्ट

क्या भेद रहने पर भी [सवर्ण संज्ञा होगी] ?

हां, भेद रहने पर ही सवर्णसंज्ञा होती है—ऐसा कहते हैं । क्योंकि कुछ-कुछ भेद रहने पर ही सवर्ण संज्ञा होनी चाहिए ।

ऐसा किस लिये ?

भेदाधिष्ठाना हि सवर्णसंज्ञा, यदि हि यत्र सर्वं समानं तत्र स्यात्सवर्णसंज्ञावचनमनर्थकं स्यात् ॥

(सिद्धान्तिन आक्षेपभाष्यम्)

यदि तर्हि 'सति भेदे किंचित्समानम्' इति कृत्वा सवर्णसंज्ञा भविष्यति। शकारच्छकारयोः षकारठकारयोः सकारथकारयोः सवर्णसंज्ञा प्राप्नोति। एतेषा हि सर्वमन्यत्समानं करणवर्जम् ॥

प्रदीपः

लोपार्थम्। यदि च यत्र सर्वं समानं तत्रैव सवर्णसंज्ञा स्याद्, डकारढकारयोर्भेदात् सवर्णत्वं नास्तीति सवर्णग्रहणमनर्थकं स्यात् ॥

सर्वमिति ॥ वर्गाणां प्रथमद्वितीया इत्यस्यां शिक्षायां पठितमघोषत्वादि। करणं तु भिन्नं वर्ग्याणां स्पृष्टत्वादूष्मणां च विवृतत्वात्। सति च सवर्णत्वे निश्छद्म निष्ठुरं निस्स्थानं मधुलिट्स्थानमित्यत्र 'झरोझरी'ति लोपः प्राप्नोतीति। छद्मनो निष्क्रान्तमिति प्रादिसमासः 'अनचि चे'ति शकारस्य द्विर्वचनम् ॥

उद्द्योतः

प्रश्नः। समाधत्ते—भेदाधिष्ठाना हीति। यत्किंचित्प्रयत्नभेदेत्यर्थः ॥ तत्र ज्ञापकमाह—यदि हीति। सवर्णसंज्ञावचनमित्यस्य सवर्णपदोच्चारणमित्यर्थः। संज्ञा तु—'अणुदित्सवर्णस्येत्याद्यर्थमावश्यिकेति बोध्यम् ॥ भेदादिति। बाह्य-प्रयत्नभेदादित्यर्थः ॥ नन्वेवं यत्किंचित्स्थानैक्यादेकारौकारयोः सावर्ण्यापत्तिरिति चेन्न। ज्ञापकात्प्रयत्नांशे यावत्प्रयत्नसमानत्वत्यागेऽपि स्थानांशे तत्त्यागे मानाभाव इत्याशयात्, 'यजुष्येकेषामि'त्यादिनिर्देशैः स्थानांशे यावत्स्थानतुल्यत्वविवक्षणाच्च ॥ वस्तु तुल्यत्वस्य भेदघटितत्वात्सवर्णसंज्ञा भेदाधिष्ठानेत्यर्थं इति। तन्न, तेन सावर्ण्यनियामकप्रयत्नयोः स्थानयोश्च परस्परभेदलाभेऽपि वर्णानां यत्किंचित्प्रयत्नभेदस्य ततोऽलाभात् स्थानानामन्ततस्तत्तत्कालरूपोपाधिभेदेन भेदो बोध्यः ॥

भाष्ये 'यदि तर्हि सति भेदे' इत्यादि सिद्धान्तिवचः। शकारच्छकारयोरिति।

भावबोधिनी

सवर्ण संज्ञा तो भेद पर ही आश्रित होती है। क्योंकि यदि जहाँ पर सभी कुछ समान रहता है वहाँ सवर्ण संज्ञा हो तब तो सवर्ण संज्ञा करनेवाला वचन = सूत्र ही अनर्थक होने लगेगा। [क्योंकि वहाँ तो स्वतः समानता = सादृश्य हैं। विधान की क्या आवश्यकता ?]

यदि 'भेद रहने पर कुछ समान है' ऐसा मान कर सवर्णसंज्ञा होगी तब तो शकार और छकार की, षकार और ठकार की, सकार और थकार की भी सवर्ण संज्ञा प्राप्त होती है। क्योंकि इनमें दोनों का करण = आभ्यन्तर प्रयत्न छोड़कर शेष सभी समान है। [अर्थात् स्थान और बाह्य प्रयत्न समान हैं, आभ्यन्तर प्रयत्न का भेद है।

(एकदेशिसमाधानभाष्यम्)

एवं तर्हि—प्रयतनमेव प्रयत्नः। तदेव हि तद्धितान्तमास्यम्। न त्वयं द्वन्द्वः—आस्यं च प्रयत्नश्च—आस्यप्रयत्नमिति।

किं तर्हि ?

त्रिपदोऽयं बहुव्रीहिः—तुल्य आस्ये प्रयत्न एषामिति।

प्रदीपः

तुल्य अस्य इति। तद्धितान्त आस्यशब्दो न स्वाङ्गवाच्येवेत्यमूर्धमस्तकादित्यलुग्न भवति। तद्धितान्तास्यशब्दाश्रयणसामर्थ्यादेवास्य इत्येकत्वं विवक्ष्यते। तेनैकस्मिन्नेव स्थाने ययोस्तुल्यः प्रयत्न इत्याश्रीयते॥

उद्द्योतः

तस्मात्प्रारम्भो यत्नस्येति आवश्यकमिति भावः॥ ननु निश्छद्मेत्यत्र हुङः परत्वा-भावात्कथं लोपप्राप्तिरत आह—अनचि चेति॥

तत्रैकदेशी प्रौढ्या समाधानमाह-एवं तर्हीत्यादिः। स्वाङ्गवाच्येवेति। अमूर्धेत्यादि-पर्युदासादेव स्वाङ्गे लब्धे स्वाङ्गादिति पुनःश्रुतिरवधारणार्थेति भावः॥ संज्ञाया-मित्यनुवृत्तेर्न दोष इत्यन्ये॥ नन्वेवं भिन्नस्थानानामपि स्यादत आह—तद्धितान्ता-स्येति। आस्यपदोपादानसामर्थ्याच्च तद्ग्रह इति भावः॥ एकत्वं विवक्ष्यत इति। तद्विवक्षां विनापि प्रत्यासत्त्या प्रयत्नयोरेकास्यभववृत्तित्वलाभ इत्यन्ये॥

भावबोधिनी

सवर्ण संज्ञा होनी चाहिए ?]

सूत्र में सम्भावित विग्रहों का प्रदर्शन

यदि ऐसा है तब तो प्रयतन अर्थात् सामान्य प्रयत्न ही प्रयत्न है। और वही तद्धितान्त (आस्ये भवम् आस्यम्) आस्य शब्द है। परन्तु यह समाहारद्वन्द्व नहीं है—आस्यं च प्रयत्नः च इति आस्यप्रयत्नम्।

तब फिर कौन सा समास है ?

यह त्रिपद (तीन पदों वाला) बहुव्रीहि है—तुल्य है आस्य में प्रयत्न जिनका [उनकी सवर्ण संज्ञा होती है।] [इस त्रिपद बहुव्रीहि को मानने पर शकार छकार की सवर्ण संज्ञा नहीं होगी क्योंकि दोनों का आस्य में होनेवाला प्रयत्न अर्थात् आभ्यन्तर प्रयत्न भिन्न-भिन्न है।]

(भाष्यम्)

अथवा पूर्वस्तत्पुरुषस्ततो बहुव्रीहिः—तुल्य आस्ये तुल्यास्यः, तुल्यास्यः प्रयत्न एषामिति ॥

अथवा परस्तत्पुरुषस्ततो बहुव्रीहिः—आस्ये प्रयत्न आस्यप्रयत्नः, तुल्य आस्यप्रयत्न एषामिति ॥

(इति तुल्यास्यप्रयत्नशब्दार्थनिरूपणम् ॥)

(अथानिष्टसावर्ण्यनिराकरणाधिकरणम्)

(१४२ आक्षेपवार्तिकम् ॥ ३ ॥)

प्रदीपः

अथवेति । मयूरव्यंसकादित्वात्सप्तम्यन्तोत्तरपदस्तत्पुरुषः ॥

उद्द्योतः

त्रिपदबहुव्रीहौ सप्तम्यन्तस्य पूर्वनिपातापत्तेः पूर्वपदार्थप्रधानतत्पुरुषस्याप्यगतिकगतित्वाद्भाष्ये तृतीय आश्रितः ॥

भावबोधिनी

अथवा—पहले तत्पुरुष किया जाता है उसके बाद बहुव्रीहि—तुल्य है आस्य में= तुल्यास्यः, तुल्यास्यः प्रयत्नः येषाम् । [अर्थात् आस्य में तुल्य = तुल्यास्य हैं यहाँ 'मयूरव्यंसकादयश्च' (२।१।७२) सूत्र से सप्तम्यन्तोत्तरपद तत्पुरुष बनता है । इसके बाद बहुव्रीहि किया जाता है । यहाँ आस्य में होनेवाला प्रयत्न = आभ्यन्तर प्रयत्न समान होना आवश्यक है ।]

अथवा—परवर्त्ती भाग में तत्पुरुष है उसके बाद बहुव्रीहि है—आस्ये प्रयत्नः = आस्यप्रयत्नः [आस्य में होने वाला प्रयत्न = आभ्यन्तर प्रयत्न] तुल्यः आस्यप्रयत्नः एषाम्—आस्य में होनेवाला आभ्यन्तर प्रयत्न जिन-जिन का समान होता है, उनकी सवर्ण संज्ञा होती है । [यह मानने से कोई दोष नहीं रहता है ।]

विमर्श—प्रस्तुत सूत्र के प्रारम्भ में कैयट-प्रदीप तथा 'विमर्श' में सूत्र के समास के विषय में चार पक्ष दिखाये गये हैं । इनमें भाष्यकार तृतीय पक्ष को ही सिद्धान्त मानते हैं । क्योंकि त्रिपद बहुव्रीहि में सप्तम्यन्त पद का पूर्वनिपात होने लगेगा । और तत्पुरुष को पूर्वपदार्थप्रधान मानना भी अगतिकगति है । अतः पहले बादवाले पदों का तत्पुरुष करना चाहिए—आस्ये प्रयत्नः = आस्यप्रयत्नः । तब बहुव्रीहि करना चाहिए—तुल्य आस्यप्रयत्न एषाम् । यहाँ 'अक्षराणि' यह विशेष्य समझना चाहिए तभी 'सवर्णम्' या 'सवर्णानि' का नपुंसकत्व उपपन्न होता है ।

॥ * ॥ तस्य ॥ * ॥

(भाष्यम्)

तस्येति तु वक्तव्यम् ॥

किं प्रयोजनम् ?

यो यस्य तुल्यास्यप्रयत्नः स तस्य सवर्णसंज्ञो यथा स्याद् । अन्यस्य तुल्यास्यप्रयत्नोऽन्यस्य सवर्णसंज्ञो मा भूत् ।

(१४३ समाधानवार्तिकम् ॥ ४ ॥)

॥ * ॥ तस्यावचनं वचनप्रामाण्यात् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

तस्येति न वक्तव्यम् ॥

अन्यस्य तुल्यास्यप्रयत्नोऽन्यस्य सवर्णसंज्ञः कस्मान्न भवति ?

प्रदीपः

तस्येति । यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धादाह—यो यस्येति । अन्यथा वर्णान्तरापेक्षया तुल्यास्यप्रयत्नत्वेन सवर्णत्वे लब्धे तदाश्रयमन्यस्यापि कार्यं प्राप्नोति । सूत्रारम्भस्तु रेफोष्मणां निवृत्त्यर्थः स्यात् ॥

उद्द्योतः

रेफोष्मेति । रेफोष्मणां सवर्णा न सन्तीत्युक्तेरिति भावः ॥

भावबोधिनी

सूत्र में 'तस्य' ऐसा कथन अनावश्यक

(वा०) 'तस्य = उसकी'—[ऐसा कहना चाहिए] ।

(भा०) [सूत्र में] 'तस्य = उसकी' ऐसा और कहना चाहिए ।

इसका क्या प्रयोजन है ?

जो जिसका तुल्य आस्य के प्रयत्नवाला अर्थात् तुल्य आभ्यन्तर प्रयत्नवाला होता है वह उसका सवर्ण संज्ञावाला जिस प्रकार से हो सके । दूसरे वर्ण के तुल्य आस्य प्रयत्नवाला दूसरे का सवर्णसंज्ञक न हो । [भाव यह है कि जिस जिसका आस्य प्रयत्न = आभ्यन्तर प्रयत्न तुल्य हो उस उसकी ही सवर्ण संज्ञा हो, अन्य की नहीं, इसके लिये सूत्र में 'तस्य' इसे और जोड़ना चाहिए ।]

(वा०) 'तस्य = उसका'—इसको नहीं कहना चाहिए क्योंकि यह वचन ही प्रमाण है ।

(भा०) 'तस्य' यह अतिरिक्त नहीं कहना चाहिए ।

तब अन्य के तुल्य आस्य प्रयत्नवाला वर्ण अन्य का सवर्णसंज्ञक क्यों नहीं होता ?

वचनप्रामाण्यात् = सवर्णसंज्ञावचनसामर्थ्यात् । यदि हि अन्यस्य तुल्यास्य-प्रयत्नोऽन्यस्य सवर्णसंज्ञः स्यात्, सवर्णसंज्ञावचनमनर्थकं स्यात् ॥

(१४४ समाधानवार्तिकम् ॥ ५ ॥)

॥ * ॥ संबन्धिशब्दैर्वा तुल्यम् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

सम्बन्धिशब्दैर्वा पुनस्तुल्यमेतत् । तद्यथा—सम्बन्धिशब्दाः "मातरि वर्तितव्यम्" "पितरि शुश्रूषितव्यम्" इति । न चोच्यते—'स्वस्यां मातरि' 'स्वस्मिन्पितरि' इति । सम्बन्धाच्चैतद्गम्यते—या यस्य माता, यश्च यस्य पितेति ॥

प्रदीपः

तस्यावचनमिति । तस्येत्ययमनुकरणशब्दस्तस्येत्यस्यावचनमित्यर्थः ॥ सवर्णसंज्ञावचनमिति । न च रेफोष्मणां निवृत्त्यर्थं वचनं, रेफस्यापि रेफः सवर्णो भवत्येव । एवमूष्मसु द्रष्टव्यम् ॥

उद्द्योतः

तस्यावचनमिति वार्तिके तच्छब्देन कस्य परामर्शोऽत आह—तस्येत्ययमिति । तस्यावचनमित्यत्र षष्ठीतत्पुरुष इति भावः । एवंच स्यो न विभक्तिरिति लुगभावः ॥ वस्तुस्तच्छब्देन पूर्वोक्तस्य तस्यशब्दस्य परामर्श इति वक्तुं युक्तम् ॥ रेफस्यापीति । रेफोष्मणामित्येतद्विजातीयसवर्णभावप्रतिपादनपरमित्यर्थः । तत्र रेफांशे तुल्यास्यप्रयत्नासम्भव एव, ऊष्मसु तु नाज्झलाविति निषेधादिति बोध्यम् । एवंच व्यावर्त्याभावेन सवर्णसंज्ञावचनसामर्थ्याद् यस्य तस्येति लप्स्यत इति भावः ॥

भावबोधिनी

वचन = सूत्र के प्रमाण होने से = सवर्णसंज्ञा के विधायक सूत्र को बनाने से । यदि दूसरे तुल्य आस्य प्रयत्नवाला भी दूसरे का सवर्णसंज्ञक होने लग जाय तब तो यह सवर्णसंज्ञा का विधायक सूत्र ही व्यर्थ होने लगेगा । [अतः यह स्वतः स्पष्ट है कि जिस-जिस का आस्य प्रयत्न = आभ्यन्तर प्रयत्न तुल्य होता है उस उसकी ही परस्पर सवर्णता है दूसरे की नहीं । अतः 'तस्य' यह कथन अनावश्यक है ।]

(वा०) अथवा सम्बन्धी अर्थ के वाचक शब्दों के समान [यहाँ भी होता है] ।

(भा०) अथवा यह सवर्णता भी सम्बन्धी-वाचक शब्दों के ही समान है । उदाहरणार्थ—सम्बन्धी-वाचक शब्द हैं—'माता के विषय में आदरभाव से रहना चाहिए ।' 'पिता की सेवा करनी चाहिए ।' इनमें यह नहीं कहा जाता है कि 'अपनी माता में' और 'अपने पिता की' । [पुत्र का अपनी माता तथा अपने पिता

एवमिहापि "तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्" इत्यत्र सम्बन्धिशब्दावेतौ, तत्र सम्बन्धादेतद्गन्तव्यम्—यत्प्रति यत्तुल्यास्यप्रयत्नं तत्प्रति तत्सवर्णसंज्ञं भवतीति ॥

(अथ ऋऌवर्णयोः सावर्ण्याधिकरणम्)

(१४५ आक्षेपवार्तिकम् ॥ ६ ॥)

॥ * ॥ ऋकारऌकारयोः सवर्णविधिः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

ऋकारऌकारयोः सवर्णसंज्ञा विधेया। होतृ + ऌकारः = होतृकार इति ॥

प्रदीपः

एवं वचनसामर्थ्याद्दोषं परिहृत्य शाब्दन्यायेन परिहर्तुमाह—सम्बन्धिशब्दैरिति। सम्बन्धिशब्दाविति। तुल्यास्यप्रयत्नशब्दस्य सम्बन्धिशब्दत्वात्तत्समानार्थोऽपि प्रदेशवाक्येषूपात्तः सवर्णशब्दः सम्बन्धिशब्दः यथा 'तुल्याय कन्या दातव्ये'त्युक्ते न शूद्रेण तुल्याय ब्राह्मणः कन्यां ददात्यपि स्वात्मना। तथेहापीत्यर्थः ॥

ऋकारऌकारयोरिति। स्थानभेदान्न प्राप्नोतीत्यारम्भः ॥ अत्र चानयोरेव श्रुतत्वान्मिथः सवर्णसंज्ञा विज्ञायते, न त्वेतयोरन्येन सहेति बोध्यम् ॥

उद्द्योतः

ननु सवर्ण इति संज्ञाशब्दस्य कथं सम्बन्धिशब्दत्वमत आह—तुल्यास्येत्यादि। स्वार्थभिन्नप्रतियोगिकसम्बन्धनिमित्तशब्दः सम्बन्धिशब्द इति भावः ॥

परे तु—अत्र सूत्रे द्वन्द्वनिर्देशलभ्यौ तुल्यास्यतुल्यप्रयत्नशब्दावित्यर्थो भाष्यस्य। सवर्णशब्दो हि प्रदेशेऽपि सवर्णपदवत्परो, न नु तुल्यास्यप्रयत्नत्वप्रवृत्तिनिमित्तक इति तस्य सम्बन्धिशब्दत्वं दुरुपपादम्। उपक्रमोपसंहाराभ्यां चैवमेवोचितम् ॥ उपक्रमे हि तुल्यास्यं च तुल्यप्रयत्नं च सवर्णसंज्ञं भवतीत्युक्तमित्याहुः ॥

भावबोधिनी

के साथ] सम्बन्ध होने से ही यह प्रतीत हो जाता है कि—'जो जिसकी माता है' [उसमें उसे आदरभाव रखना चाहिए] 'जो जिसका पिता है' [उसे उसकी सेवा करनी चाहिए]।

उपर्युक्त रीति के समान यहाँ भी—(१) तुल्य आस्य प्रयत्नवाला, (२) सवर्ण होता है'—ये दोनों सम्बन्धी शब्द हैं। इनके सम्बन्ध के कारण यह समझ लेना चाहिए—'जिसके प्रति जो तुल्य आस्य प्रयत्न वाला होता है उसी के प्रति वह सवर्ण संज्ञा वाला होता है। [अन्य के प्रति नहीं होता है। अतः गम्यमान अर्थ को बताने के लिये अलग से 'तस्य' ऐसा कहना अनावश्यक है।]

ऋकार और ऌकार की सवर्ण संज्ञा

(वा०) ऋकार और ऌकार की सवर्ण संज्ञा करनी चाहिए।

किं प्रयोजनम् ?

"अकः सवर्णे दीर्घः" (६।१।१०१) इति दीर्घत्वं यथा स्यात् ॥

(सावर्ण्यखण्डनभाष्यम्)

[1]नैतदस्ति प्रयोजनम्। वक्ष्यत्येतत्—"*सवर्णदीर्घत्वे ऋति ॠ वा वचनम्*" "*ऌति ॡ वा वचनम्*" इति ॥

प्रदीपः

वक्ष्यत्येतदिति। तत्र ॡ वा वचनमित्यत्र दीर्घं इत्यनुवर्तते। तत्र ऌति ऌशब्दे विकल्पितेऽप्राप्त एव पक्षे दीर्घो भविष्यति। स च भवन् ऌवर्णस्य दीर्घाभावादृवर्णस्यान्तरतम्याद्दीर्घ ऋकारो भविष्यति ॥

उद्द्योतः

(भाष्ये) ऋकारऌकारयोरित्यत्र ऋत्यक इति प्रकृतिभावः। वार्तिकेऽप्येवमेव पाठ इति प्रामाणिकाः। सावर्ण्यप्रतियोग्यनिर्देशादाह–अत्र चेति। भाष्ये होतृऌकारः होतॄकार इति। ऌकारशब्दो देवतावाचीत्येके ॥ विवृतस्य ऌकारस्य दीर्घस्याभावाद् ऋकारो दीर्घं उदाहृत इति बोध्यम् ॥

नैतदस्तीति। सवर्णसंज्ञाया इति शेषः ॥ नन्वीषत्स्पृष्टेन मुक्तेऽपि विवृतदीर्घः सवर्णसंज्ञां विना दुर्लभोऽत आह—तत्रेति।

भावबोधिनी

(भा०) ऋकार तथा ऌकार को परस्पर सवर्ण संज्ञा करनी चाहिए। [जिससे कि इनमें सवर्ण दीर्घ हो सके—] होतृ+ऌकारः=होतॄकारः।

क्या प्रयोजन है ?

'अकः सवर्णे दीर्घः' (६।१।१०१) सूत्र से सवर्ण दीर्घ जिस प्रकार से हो सके। [ॡ का दीर्घ नहीं होता है। सवर्ण संज्ञा करने पर ॠ ही दीर्घ होगा।]

यह प्रयोजन नहीं है। क्योंकि आगे यह कहा जायगा–(१) सवर्णदीर्घ के प्रसङ्ग में ॠ परे रहते विकल्प से 'ॠ' होता है। (२) ॡ परे रहते विकल्प से ॡ होता है। [ऐसा वार्तिककार कहने वाले हैं। अतः सवर्ण संज्ञा कहना व्यर्थ है। विशेष संस्कृत टिप्पणी में नीचे देखें]

---

१. सवर्णसंज्ञावार्तिकं खण्डयन्ति—नैतदस्तीति ॥ सवर्णदीर्घत्व इति। सवर्णदीर्घविधावित्यर्थः। 'अकः सवर्णे दीर्घ' इत्यत्र 'ऋति ॠ वा वचनम्' 'ऌति ॡ वा वचनम्' इति वक्ष्यते। तस्यायमर्थः–ऋति परे पूर्वपरयोः स्थाने वा ॠ इत्ययमादेशो

(सावर्ण्यमण्डनभाष्यम्)

तत्सवर्णे यथा स्यात् । इह मा भूद्-दध्य्लृकारः मध्व्लृकार इति ॥

(सावर्ण्यखण्डनभाष्यम्)

'यदेतत्सवर्णदीर्घत्वे ऋतीति, एतद् ऋत इति वक्ष्यामि ॥ ततः-"लृति" ।

प्रदीपः

तत्सवर्णे इति । यद्यविधाय सवर्णसंज्ञां तदुच्यतेऽणुमात्रस्य लृति तत्कार्यं स्याद् दध्य्लृकारेति । तस्माद्विधेया सवर्णसंज्ञा ॥

ऋत इति वक्ष्यामीति । ऋकारस्य ऋकार एव सवर्ण इति ऋत्येव भविष्यति । ततः "लृति" । ऋत इत्येव । इदं चासवर्णार्थम् । तेन लृति रूपद्वयं सिद्धम् । तत्रा-

उद्द्योतः

भाष्ये तद्वचनद्वयारम्भे सवर्णसंज्ञावश्यकीत्याह—तत्सवर्णे इति । अण्मात्रस्येति । अनण्व्यावृत्त्यर्थमकः इति वर्तते सवर्णसंज्ञाभावात्सवर्ण इति नानुवर्तत इति भावः ॥

खण्डयति—यदेतदिति भाष्ये ॥ सवर्णे इतीति । आद्यवार्तिके सवर्णग्रहणमनुवर्तते इति भावः ॥ तेन लृतीति । सिद्धान्तेऽपि व्यवस्थितविभाषया अनभिधानेन वा होतृ

भावबोधिनी

यह सवर्ण परे रहते ही हो । यहाँ न होने लग जाय—दध्य्लृकारः, मध्व्लृकारः । [जहाँ बाद में ऋ अथवा लृ हो वहीं वह द्विमात्रिक स्वतन्त्र आदेश हो, सर्वत्र न होने लगे । इसके लिये इन दोनों की स्थानभेद में भी सवर्ण संज्ञा कहनी चाहिए ।]

भवति । द्विमात्रोयम् । मध्ये द्वौ रेफौ तयोरेका मात्रा अभितोऽभक्तेरपरा । ईषत्स्पृष्टश्चायम् । तत्र प्रयत्नभेदादृकारेणाग्रहणादनच्त्वाद्दीर्घसंज्ञाया अभावाद-प्राप्तोऽयं विधीयते । लृति लृ वेति । अयमपि द्विमात्र ईषत्स्पृष्टश्च । मध्ये द्वौ लकारौ तयोरेका मात्राऽभितोऽभक्तेरपरा । पूर्वपदप्राप्तो विधीयते । तत्र वावचन-मिति वाशब्दो दीर्घसमुच्चयार्थो भविष्यति । 'वा स्याद्विकल्पोपमयोरेवार्थेऽपि समुच्चये' इत्यभिधानात् । तेनाप्राप्त एव दीर्घो भविष्यति । तत्किं सवर्णसंज्ञया ॥ शब्दकौस्तुभः ॥

१. सवर्णसंज्ञावार्तिकं खण्डयितुमुक्तातिप्रसङ्गवारणाय षाष्ठवार्तिके न्यासान्तरं करोति-यदेतदिति ॥ प्रथमवार्तिके पाठे 'ऋति' इत्यपनीय 'ऋतः' इति पञ्चम्यन्तपाठेनैव सर्वसामञ्जस्यम् । पूर्ववार्तिके 'सवर्णे' इति चानुवर्तते । तेन घात्रंश इत्यादौ नातिप्रसङ्गः । द्वितीयवार्तिके तु सवर्ण इति निवृत्तम् । ऋत इत्यनुवर्तते । तेन दध्य्लृकार इत्यादौ नातिप्रसङ्गः ॥ तस्मादकः सवर्णे इत्यत्रावश्यकर्तव्येन वचन-द्वयेनैव सकलनिर्वाहादृकारलृकारयोः सवर्णविधिरितीहत्यं वार्तिकं व्यर्थमिति भावः ॥ शब्दकौस्तुभः ॥

ऌकारे परत ऌकारो वा भवतीति । ऋत इत्येव ॥

(सावर्ण्यमण्डनभाष्यम्)

तत्र वक्तव्यं भवति ॥

प्रदीपः

संहितायामृकारे होतृ ऋकार इति रूपम् । संहितायामपि ऋत्यक इति शाकलप्रकृतिभाव एतदेव रूपम् । शाकलाभावे होतृकारः होतॄकार इति रूपद्वयम् । ऌकारेऽसंहितायां संहितायां च शाकले होतृऌकार इति । शाकलाभावे होतॄकारो होत्ऌकार इति रूपद्वयम् ॥

तत्र वक्तव्यमिति । द्वावप्येतौ दीर्घौ ॠ ॡ इति । तत्र ऋकारे कदाचिद् ॠ इति दीर्घं कदाचिद्द (दॠ) इति । ऌकारेपि ॠ (ॠ) ॡ इत्येतौ भविष्यतः सत्यां सवर्णसंज्ञायामिति भावः ॥

उद्द्योतः

ऌकारे पूर्ववार्तिकं गमॢ ऌकारे चोत्तरवार्तिकं न प्रवर्त्तते । एवं कॄ इति दीर्घस्य ऌकारे परे पूर्वस्य तस्यैव ऌकारे उत्तरस्य चाप्रवृत्तिस्तत एवेति भावः ॥ रूपद्वयमिति । ईषत्स्पृष्टघटितं विवृतदीर्घघटितं चेति भावः ॥ तत्रासंहितायामिति । समासे संहिता नित्या, असमासे त्वीदृशं रूपं दुर्लभं होतृशब्दे विभक्तिश्रवणापत्तेः ॥ होतृशब्दस्य नपुंसके सम्बुद्धौ रूपमित्यप्यतिक्लिष्टमिति चिन्त्यम् ॥ भाष्ये तु होतृऌकार इति दीर्घप्रवृत्तियोग्यवशोच्चारणम् । इति स्थिते इति शेषः । एवं शाकले होतृऌकार इत्यपि चिन्त्यं, सवर्णत्वविधायकवचनाभावे एतद्विचारसत्त्वेन तत्र ऋत्यक इत्यस्याप्राप्तेः । इकोऽसवर्णे इत्यपि 'न समास' इति निषिद्धम् । नित्यग्रहणं तु तत्र भाष्ये प्रत्याख्यातमित्याहुः ॥

सवर्णसंज्ञावचनेनैकेनैव सिद्धे तद्द्वयं न कार्यमित्याह—भाष्ये—तत्र वक्तव्यमिति ।

भावबोधिनी

'अकः सवर्णे दीर्घः' (६।१।१०१) इस सूत्र में जो 'ऋति ॠ वा वचनम्' यह [प्रथम वार्तिक पठित] है इसमें 'ऋति' = ऋकार परे रहते' इसके स्थान पर 'ऋतः = ऋकार से परे' ऐसा कहेंगे अर्थात् सप्तम्यन्त न मानकर पञ्चम्यन्त मानेंगे । [इसमें 'सवर्णे' की अनुवृत्ति मानकर ऋकार से ऋकार परे रहते ही सवर्ण दीर्घ होता है—यह अर्थ होगा ।] इसके बाद 'ऌति ॡ वा' यह दूसरा वार्तिक रहेगा । [इसमें 'सवर्णे' की अनुवृत्ति नहीं की जायगी । 'ऋतः' इस पञ्चम्यन्त की अनुवृत्ति से कार्यनिर्वाह हो जायगा—ऌ परे रहने पर द्विमात्रिक ॡ आदेश विकल्प से होगा । पक्ष में सवर्ण दीर्घ होकर क्रमशः दो रूप होंगे—(१) होतॢकारः, होतॄकारः । सवर्ण संज्ञा की आवश्यकता नहीं है । इसी को लिखा है—] ऌकार परे रहते विकल्प से द्विमात्रिक ॡकार होता है । यह ऋकार से परे ही होता है । [अब सवर्ण संज्ञा का कोई फल नहीं है ।]

(सावर्ण्यखण्डनभाष्यम्)

अवश्यं तद्वक्तव्यम्। ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञो भवतीत्युच्यते। न च ऋकार लृकारो वाऽजस्ति॥

प्रदीपः

न चेति। अर्धतृतीयमात्रत्वादिति केचिदाहुः। अन्ये तु ईषत्स्पृष्टकरणत्वादनयो- ऋकारलृकारयोश्च विवृतत्वात्ताभ्यां तयोरग्रहणादनच्त्वमाहुः॥

उद्द्योतः

इतर आह—अवश्यमिति। अर्धतृतीयेति। तावतापि स्थानप्रयत्नसाम्येन ताभ्यां ग्रहणं स्यादित्यरुचेराह—ईषत्स्पृष्टेति॥ विवृतत्वाभावे उपस्थितरेफीयप्रयत्नत्यागे मानाभावादिति भावः॥ ताभ्यामिति। असावर्ण्यादिति भावः॥

भावबोधिनी

[परन्तु इस सवर्ण संज्ञा-बोधक एक वार्तिक को मान लेने पर आगे छठे अध्याय ६।१।१०१ सूत्र में] 'ऋति ऋ वा वचनम्' और 'लृति लृ वा वचनम्'—इन दोनों वार्तिकों को नहीं कहना पड़ेगा।

ये दोनों वार्तिक तो अवश्य ही कहने पड़ेंगे। क्योंकि 'ऊकाल के समान काल वाले अच् की ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत संज्ञा होती है।' (१।२।२७) ऋकार अथवा लृकार तो अच् नहीं है।

विमर्श—'अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र पर 'ऋति ऋ वा वचनम्' और 'लृति लृ वा वचनम्' ये दोनों वचन कहने आवश्यक हैं। अन्यथा दधि + लृकारः आदि में भी लृ आदेश प्रसक्त होगा। इस दोष की निवृत्ति के लिये 'ऋति' इस सप्तम्यन्त के स्थान पर 'ऋतः' यह पञ्चम्यन्त पढ़ना चाहिए। अब 'ऋतः ऋ वा वचनम्' का अर्थ होगा—ऋकार से सवर्ण परे रहने पर ऋकार ही विकल्प से होगा, पक्ष में सवर्ण दीर्घ होगा। 'लृति लृ वा वचनम्' इस द्वितीय वार्तिक में भी 'ऋतः' की अनुवृत्ति होगी जिससे असवर्ण के लिये कार्य होगा। साथ ही 'ऋतः' इस की अनुवृत्ति होने से 'मधु+ लृकारः' आदि में उकार का लृ नहीं होगा। निष्कर्ष है कि ऋकार और लृकार परे रहते तीन-तीन प्रकार के रूप होंगे—(१) ऋ का ऋ करने पर—होतृकार, (२) पक्ष में सवर्ण दीर्घ करने पर—होतॄकारः, (३) पक्ष में 'ऋत्यकः' (६।१।१२४) से प्रकृति-भाव होने पर—होतृऋकारः। इसी प्रकार 'लृति लृ वा वचनम्' इस वचन से होतृ + लृकारः में (१) 'लृ' करने पर होतॢकारः, (२) 'वा' वचन से दीर्घ पक्ष में लृ का दीर्घ न होने से ॠ ही दीर्घ होगा—होतॄकारः। (३) प्रकृतिभाव पक्ष में—होतृलृकारः।

(सावर्ण्यमण्डनभाष्यम्)

ऋकारस्य ऌकारस्य चाच्त्वं वक्ष्यामि॥ तच्चावश्यं वक्तव्यम्। प्लुतो यथा स्यात्। होतृ ऋकारः होतॄकार। होतॄ३कार इति। होतृ ऌकारः, होतॣकारः, होतॣ३कार इति॥

(आक्षेपभाष्यम्)

किं पुनरत्र ज्यायः ?

प्रदीपः

अच्त्वं वक्ष्यामीति। सत्यच्त्वे दीर्घसंज्ञानयोर्भविष्यति। येषां तु मतमर्धतृतीयमात्रावेताविति, तेषां मते सत्यप्यच्त्वे द्विमात्रत्वाभावादेतयोर्दीर्घसंज्ञा न प्राप्नोति। तस्माद्द्विमात्रावेतावभ्युपगन्तव्यौ॥ तच्चावश्यमिति। त्वयापि ॠवावचनम्, ॡवावचनमिति ब्रुवताऽच्त्वमनयोर्वक्तव्यम्। अन्यथा विधानमात्रमनयोः स्याद्, नाच्कार्यं प्लुतः। सति त्वच्त्वे ताभ्यां त्रिमात्रयोरपि सावर्ण्याद् ग्रहणे सति प्लुतसंज्ञा भविष्यतीति प्लुतसिद्धिः॥

किं पुनरिति। एकैकस्मिन्संहितायां शाकलाभावपक्षे रूपद्वयं साध्यम्। तच्चो-

उद्द्योतः

भाष्ये वचनद्वयप्रत्याख्यानवाद्याह—ऋकारस्येत्यादि। सत्यच्त्वे इति। अयोगवाहेषु पाठादिति भावः॥ नाच्कार्यमिति। तस्य प्लुतसंज्ञा तत्स्थाने प्लुतश्चेति भावः॥

अत्र पक्षेऽपि उक्तयुक्तया ह्रस्वऋकारद्वयस्थानिकदीर्घैकादेशातिरिक्तविषये आद्यस्य

भावबोधिनी

वार्तिक के द्वारा बोधित ऋकार और ऌकार के स्वरूप के विषय में आचार्यों में मतभेद है। कुछ यह मानते है कि 'ऋति ऋ वा' ऌति ऌ वा' वार्तिकों से जो ॠ और ॡ होते हैं, वे ढ़ाई मात्रावाले अथवा ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न वाले होते हैं। जबकि अच् प्रत्याहारस्थ ऋ, ऌ विवृत प्रयत्न वाले होते हैं। यह सूत्र द्विमात्रिक की ही सवर्ण संज्ञा करता है ढाई मात्रा वाले की नहीं। अतः इन वार्तिकों से विधीयमान ॠ और ॡ को अच् नहीं माना जा सकता। अतः दोनों वार्तिक आवश्यक हैं।

(अनु०) ऋकार तथा ऌकार का अच्त्व (अच् होना) कहेंगे। और यह (द्विमात्रिक ॠ तथा ॡ का अच्त्व) तो अवश्य ही कहना होगा, जिससे कि प्लुत हो सके—होतृऋकारः = होतॄकारः होतॄ३कारः। [जब तक अच् नहीं माने जायेंगे तब तक जैसे सवर्णदीर्घ नहीं होगा वैसे ही प्लुत भी नहीं हो सकेगा। अतः अच् मानना अनिवार्य है।]

यहाँ (दोनों पक्षों में) क्या अधिक अच्छा है ? [भाव यह है कि 'ऋ ऌ की सवर्ण संज्ञा करने में' अथवा 'ऋति ॠवा' 'ऌति ॡवा' इन वार्तिको से ॠ और ॡ का

(समाधानभाष्यम्)

सवर्णसंज्ञावचनमेव ज्यायः। दीर्घत्वं चैव हि सिद्धं भवति। अपि च ऋकारग्रहणेन ऌकारग्रहणं सन्निहितं भवति। "ऋत्यकः" (६।१।१२८) खट्वऋष्यः मालऋष्यः। इदमपि सिद्धं भवति—खट्वऌकारो मालऌकार इति॥ "वा सुप्यापिशलेः" (६।१।८९) उपर्कारीयति उपार्कारीयति। इदमपि सिद्धं भवति—उपल्कारीयति उपाल्कारीयति॥

प्रदीपः

अथथापि सिध्यति। तत्र सवर्णसंज्ञायामसत्यां यथा सिध्यति तथा पूर्वमेवोक्तम्। इह तु यथा सिध्यति तथोच्यते—[अक सवर्णे दीर्घ इत्यत्रान्तरतमत्वदीर्घत्वयोरुपादेयविशेषणयोर्विवक्षितत्वादुभयविशिष्टकासम्भाद्विकल्पः। यश्चान्तरतमो नासौ दीर्घो यश्च दीर्घो नासावन्तरतम इति] द्वयोर्ऋकारयो रेफद्वययुक्तत्वाद्विवृतत्वाच्च कदाचिद्रेफद्वययुक्त ॠ भवति कदाचिद्विवृत ॠकारः। ऌकारेपि कदाचिदृकारान्तरतम ॠकारः कदाचिद् ऌकारान्तरतमॡकार इति साम्यमुभयोः पक्षयोः॥

उद्द्योतः

ह्रस्वऋकारऌकारद्वयस्थानिकदीर्घैकादेशातिरिक्तविषये आद्यस्य ह्रस्वऋकारऌकारद्वयस्थानिकदीर्घैकादेशातिरिक्तविषये द्वितीयस्य न साधुत्वमिति नातिप्रसङ्गः पक्षयोस्तुल्यफलता चेति बोध्यम्। तदेव ध्वनयन् पृच्छति—भाष्ये किं पुनरत्रेति॥ ॠकार इति। विवृत इत्यर्थः॥ ॡकार इति। ईषत्स्पृष्टः इत्यर्थः॥

भाष्ये दीर्घत्वं चैवहीति। ईषत्स्पृष्टविवृतरूपो दीर्घो वर्ण इत्यर्थः॥ चं व्याचष्टे—अपि चेत्यादिना। खट्वऌकार इति। होतृऌकार इत्यस्याप्युपलक्षणम्॥

भावबोधिनी

विधान करने में—कौन पक्ष अधिक ठीक रहेगा, क्योंकि किसी भी एक को मान लेने पर सब निर्वाह हो जाता है ?]

ऋ ऌ की सवर्ण संज्ञा कहना ही अधिक उचित है। [क्योंकि सभी सूत्रों से ऋ को मानकर होने वाले कार्य ऌ को मानकर भी हो जायेंगे, यही कह रहे हैं—] सवर्ण दीर्घ होना भी सिद्ध हो जाता है। और भी, ऋकार के ग्रहण से ऌकार का भी ग्रहण निकट (उपस्थित) हो जाता है। उदा० 'ऋत्यकः' (६।१।१२८) सूत्र से—खट्व ऋष्यः, मालऋष्यः [इन दोनों में खट्वा + ऋष्यः माला + ऋष्यः में जैसे आ का वैकल्पिक ह्रस्व] होता है, [उसी प्रकार] यहाँ भी सिद्ध होता है—खट्वऌकारः, मालऌकारः : [खट्वा + ऌकारः, माला + ऌकारः में ऌ परे भी ह्रस्व होता है।] 'वा सुप्यापिशलेः' (६।१ ८९) जैसे—उपर्कारीयति; उपार्कारीयति [इनमें उप + ऋकारीयति में विकल्प से वृद्धि और पक्ष में गुण होता है। यहाँ ऋ परे रहते जैसे

(एकदेशिन आक्षेपभाष्यम्)

यदि तर्हि ऋकारग्रहणेन ऌकारग्रहणं सन्निहितं भवति,—"उरण्रपरः" (१।१।५०) ऌकारस्यापि रपरत्वं प्राप्नोति ॥

(समाधानभाष्यम्)

ऌकारस्य लपरत्वं वक्ष्यामि ।

तच्चावश्यं वक्तव्यम् । असत्यां सवर्णसंज्ञायां विध्यर्थम् । तदेव सत्यां रेफबाधनार्थं भविष्यति ॥

प्रदीपः

लपरत्वमिति । व्याख्यास्यामीत्यर्थः ॥ रपर इत्यत्र र इति लणिति लकाराकारेण प्रत्याहार आश्रीयते । तत्रान्तरतम्यादृकारस्याण् रपरः ऌकारस्य लपरः ॥ असत्यामिति । असत्यां सवर्णसंज्ञायामुरण् रपर इत्यत्र ऌकारग्रहणं कर्तव्यं भवति ॥

उद्द्योतः

वचनस्य क्वाप्यदर्शनादाह—व्याख्यास्यामीति । अन्ये तु लण्सूत्रस्थाकारस्यानुनासिकत्वेऽतो ऌान्तस्येत्यत्र भगवान्पाणिनिर्लकारं नोच्चारयेद्, प्रत्याहारेणैव निर्वाहात् । तस्मादपूर्वं वचनं कार्यमित्येव भाष्याशय उचित इत्याहुः ॥ आन्तरेति । रश्रुतेः रपरो लश्रुतेर्लपर इत्यर्थः ॥ सवर्णसंज्ञावादी तदभाववादिनं प्रति तत्राप्यावश्यकं तदित्याह—तच्चावश्यमिति । ऌकारस्याण् । ऌकारस्याण् लपर इत्येतत् ॥

भावबोधिनी

होता है वैसे ही] यह भी सिद्ध होता है--उपल्कारीयति, उपाल्कारीयति । [उप+ऌकारीयति में ऌ को ऋ का सवर्णसंज्ञक मानकर विकल्प से वृद्धि और लपर होता है । पक्ष में गुण और लपर होता है । इसी प्रकार सर्वत्र ऋ से ऌ का भी ग्रहण होने से सभी कार्य हो जायेंगे । यह लाघव सवर्ण संज्ञा वचन मानने में हैं ।]

यदि ऋकार के ग्रहण से ऌकार का ग्रहण भी प्राप्त हो होता है तब तो 'उरण् रपरः' (१।१।५०) इसमें भी ऌकार का भी रपरत्व प्राप्त होगा । [तव+ऌकारः आदि में गुण करने के प्रसङ्ग में अ रपर की ही प्राप्त होगी ।]

[यह दोष नहीं है क्योंकि] ऌकार का [होनेवाले अण् आदेश का] लपरत्व कहूँगा । ['रपर' में 'र' प्रत्याहार है । यह 'हयवरट् । लण्' में र से लेकर ल के अ तक होता है अतः 'र् ल् अ' में अ इत्संज्ञक होने से छूट जाता है । 'र' से रपर और लपर दोनों लिये जाते हैं ।]

और यह लपरत्व अवश्य ही कहना होगा । कारण यह है यदि ऋ और ऌ की सवर्ण संज्ञा न हो तो यह वचन अपूर्व विधि हो जायगा । और यदि ऋ तथा ऌ दोनों की सवर्ण संज्ञा मानी जायगी तब ऌ के स्थान पर रपर आदेश का बाध करने के लिये

(एकदेशिन आक्षेपभाष्यम्)

इह तर्हि—"रषाभ्यां नो णः समानपदे" (८।४।१) इत्यृकारग्रहणं चोदितं मातॄणां पितॄणामित्येतदर्थम् । तदिहापि प्राप्नोति—क्लृप्यमानं पश्येति ॥

(प्रतिबन्दीभाष्यम्)

अथासत्यामपि सवर्णसंज्ञायाम् इह कस्मान्न भवति—प्रक्लृप्यमानं पश्येति ॥

(प्रतिबन्दीसमाधानेनाक्षेपनिरासभाष्यम्)

"*चुटुतुलशर्व्यवाये न*" इति वक्ष्यामि ।

अपर आह—"त्रिभिश्च मध्यमैर्वर्गैर्लशसैश्च व्यवाये न" इति वक्ष्यामीति । वर्णैकदेशाश्च वर्णग्रहणेन गृह्यन्त इति योऽसौ लृकारे लकारस्तदाश्रयः प्रतिषेधो

प्रदीपः

प्रक्लृप्यमानमिति । कृत्यच इति णत्वप्रसङ्गः ॥

त्रिभिश्चेति । पूर्वस्मादयं विशेषः—पूर्वत्र शरन्तर्भूतोपि षकारः साक्षाण्णत्व-

उद्द्योतः

साक्षादिति । रषाभ्यामिति वचनादित्यर्थः ॥ नन्वत्र लकाराभाव इत्यत आह—

भावबोधिनी

होगा । [अतः लृ का अण् आदेश लपर करने के लिये लपरत्ववचन' आवश्यक ही है ।]

विमर्श—'र' प्रत्याहार मानने के विषय में वैयाकरणों में मतभेद है । नागेश से पूर्ववर्ती अधिकांश वैयाकरण 'र' प्रत्याहार मानते हैं किन्तु नागेश और उनके अनुयायी 'र' प्रत्याहार नहीं मानते हैं । इसका विशद विवेचन शब्देन्दुशेखर, उद्द्योत आदि व्याख्या ग्रन्थों में तथा इनकी भी व्याख्याओं में देखना चाहिए ।

(अनु०) [यदि ऋ से लृ भी गृहीत होता है] तब तो 'रषाभ्यां णो नः समानपदे' (८।४।१) इस सूत्र में 'ऋकार का ग्रहण करना चाहिए' ऐसा जो कहा गया है—मातॄणां, पितॄणाम्' आदि में णत्व करने के लिये अब वह यहाँ भी प्राप्त होता है—क्लृप्यमानं पश्य । [क्योंकि ऋ से लृ भी गृहीत होने पर लृ के बाद वाले न का भी ण होने लगेगा ।]

अच्छा तो [यह बताइये कि] दोनों की सवर्ण संज्ञा न होने पर भी यहाँ णत्व क्यों नहीं होता है—प्रक्लृप्यमानं पश्य ? [क्योंकि यहाँ तो रेफ के बाद न है । अतः 'कृत्यचः' से णत्व होना ही चाहिए ।]

'चु, टु, तु (=चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग), ल और शर् =शषस —इनके व्यवधान में र् ष् से परे न का णत्व नहीं होता है' (वार्तिक) ऐसा वचन कहेंगे । [यहाँ ल् का व्यवधान होने से णत्व नहीं होता है ।]

दूसरे आचार्य यह कहते हैं—'बीच वाले तीन वर्ग अर्थात् चवर्ग, टवर्ग और

भविष्यति ॥

(सिद्धान्तोपसंहारभाष्यभाष्यम्)

यद्येवं, नार्थो रषाभ्यां णत्वे ऋकारग्रहणेन। वर्णैकदेशाश्च वर्णग्रहणेन गृह्यन्त इति योऽसौ ऋकारे रेफः तदाश्रयं णत्वं भविष्यति ॥ तुल्यास्य० ॥ ९ ॥

प्रदीपः

निमित्तत्वाद् व्यवधायकत्वेन नाश्रीयते। इह तु तस्यानुपादानमेव ॥ वर्णैकदेशा इति। अवयवस्य स्वव्यापारानिवर्तनात्। अग्रहणपक्षे तु क्षुम्नादेराकृतिगणत्वाण्णत्वाभावः ॥

ऋदिताम् लृदितां च भेदेनानुबन्धनिर्देशाद् भेदेन चोपादानादनुबन्धकार्येषु परस्परग्रहणाभावाद्व्यतिकराभावः ॥ ९ ॥

उद्द्योतः

भाष्ये वर्णैकदेशा इत्यादि। अग्रहणपक्षेऽस्विति। प्रक्लृप्यमानमित्यत्र क्लृप्यमानमित्यत्र चेति भावः। आद्ये कृत्यच इति, द्वितीये ऋवर्णान्नस्येति प्राप्तिः ॥

भेदेनेति। ओणृ गम्लृ इति भेदेनानुबन्धनिर्देशाः। 'नाग्लोपिशास्वृदितां' 'पुषादिद्युताद्यॢदित' इति च भेदेनोपादानमित्यर्थः ॥ ९ ॥

भावबोधिनी

तवर्ग तथा ल, श, स—इनके व्यवधान में न का णत्व नहीं होता है।' ऐसा कहेंगे। [इस मत में 'ष्' का व्यवधान नहीं माना गया है।] चूंकि वर्ण के एकदेश = अवयव का भी वर्ण के ग्रहण से ग्रहण होता है, यह [भी मत] है, अतः 'लृ' इसमें जो ल् यह एकदेश = अवयव है इसी को मानकर ['प्रक्लृप्यमानं पश्य' में न के णत्व का] प्रतिषेध हो जायगा।

यदि ऐसा है (अर्थात् वर्ण के अवयव को भी मानकर विधान या निषेध हो सकता है) तब तो "रषाभ्याम्" इस सूत्र में णत्व के विधान के प्रसंग में ऋकार के ग्रहण ('ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' इस) की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वर्णों के एकदेश = अवयव भी वर्णों के ग्रहण से गृहीत हो जाते हैं, इसलिये ऋकार इस वर्ण में एकदेश जो रेफ है उसी को मानकर [मातॄणाम्, पितॄणाम् आदि ऋकारघटित प्रयोगों में] णत्व हो जायगा। [अतः निष्कर्ष यही है कि ऋ और लृ की सवर्ण संज्ञा मानना ही उचित है और लघुभूत है।] ॥ ९ ॥

(९ संज्ञानिषेधसूत्रं परिभाषासूत्रं वा १।१।४ आ. ७ ॥)

नाज्झलौ ॥ १।१।१० ॥

(शकारसावर्ण्यनिषेधनिराकरणम्)

(१४६ आक्षेपवार्तिकम् ॥ १ ॥)

॥अज्झलोः प्रतिषेधे शकारप्रतिषेधोऽज्झल्त्वात् [तत्र सवर्णलोपे दोषः]॥

(आक्षेपवार्तिकाद्यभागव्याख्याभाष्यम्)

अज्झलोः प्रतिषेधे शकारस्य शकारेण सवर्णसंज्ञायाः प्रतिषेधः प्राप्नोति ॥ किं कारणम् ?

प्रदीपः

नाज्झलौ ॥ १० ॥ अकारहकारयोरिकारशकारयोश्च तुल्यस्थानप्रयत्नत्वात्सवर्णसंज्ञा प्राप्ता निषिध्यते । अत एव निर्देशादचामज्भिर्हलां हल्भिः सवर्णत्वानिषेधः ॥ अज्झलोरिति । प्रकृतत्वात्सवर्णसंज्ञाया इति बोध्यम् ॥ शकारप्रतिषेध इति । द्विवचनान्तस्य समासो, भेदाधिष्ठानत्वात्सवर्णसंज्ञायाः ॥ इकार इति । अत्र हि सूत्रे

उद्द्योतः

नाज्झलौ ॥ १० ॥ अकारेत्यादि । एवं च हरिरित्यादौ दीर्घः, शयनमित्यादौ यणापत्तिरिति भावः ॥ अत एवेति । पूर्वसवर्णदीर्घनिर्देशादित्यर्थः । किं चैवं सति 'अकः सवर्णे' इति झरो झरि सवर्णे' इत्यस्यासङ्गतिरित्यपि बोध्यम् ॥ भेदाधिष्ठानत्वादिति । व्यक्त्यैक्ये हि तुल्यास्यप्रयत्नत्वासम्भव इति भावः ॥ सवर्णग्रहणेनेति भाष्ये । सवर्णग्राहकेणाणुदित्सूत्रेणेत्यर्थः ॥ अत्र हि सूत्रे इति । उच्चारितस्यैव प्रत्यायकतामत्रत्यपूर्वपक्षी न जानाति प्रत्याहारेषु जातिग्रहणमिति च न जानाति ॥ ननु सति सवर्णत्वे इकारः शकारं गृह्णीयात् । तदेव च न, नाज्झलाविति निषेधादत

भावबोधिनी

नाज्झलौ १।१।१०

[तुल्य स्थान और प्रयत्नवाले भी अच् तथा हल् को परस्पर में सवर्ण संज्ञा नहीं होती है ।]

(वा०) अचों तथा हलों के प्रतिषेध में शकार का प्रतिषेध कहना चाहिए क्योंकि वह अच् और हल् दोनों हैं ।

(भा०) अचों तथा हलों की सवर्णसंज्ञा का जो प्रतिषेध किया जा रहा है उसमें शकार की शकार के साथ सवर्ण संज्ञा का प्रतिषेध प्राप्त होता है ।

[प्रतिषेध प्राप्त होने में] क्या कारण है ?

अज्झल्त्वात् । अच्चैव हि शकारो हल्च ॥

कथं तावदच्त्वम् ?

इकारः सवर्णग्रहणेन शकारमपि गृह्णातीत्येवमच्त्वम् । हल्षु चोपदेशाद्धल्त्वम् ॥

(परिशिष्टवार्तिकांशावतरणभाष्यम्)

तत्र को दोषः ?

प्रदीपः

अजितीकारो गृह्यमाणः सवर्णं गृह्णातीति शकारस्यापि ग्रहणमस्ति । स्वात्मनि क्रियाविरोधादस्मिन्नेव सूत्र इदं न व्याप्रियत इति सवर्णत्वनिषेध इकारशकारयोर्नास्ति । यस्येति चेत्यादौ तु शकार इकारेण न गृह्यतेऽनेन सवर्णत्वनिषेधात् । इह तु स्वात्मनि व्यापारो नास्ति, अस्ति च पूर्वेण सवर्णत्वमिकारशकारयोरिति भावः । प्रकल्प्य चापवादविषयमिति न्यायोऽत्र नास्त्यपवादस्यैवासम्पत्त्या ॥

उद्द्योतः

आह—स्वात्मनीति । यद्यपि स्वाध्यायोऽध्येतव्य इत्यात्मानमपि विषयीकरोतीति एकस्य विषयत्वविषयित्वयोर्न विरोधस्तथाप्येतद्वाक्यार्थबोधोत्तरमन्यत्र निषेधेऽपि स्ववाक्यार्थबोधात्प्राक् स्वघटकपदार्थोपस्थितिवेलायां स्ववाक्यार्थबोधरूपसावर्ण्याभावज्ञानाभावान्नात्रेकारशकारयोस्तदभावबोधनमिति भावः ॥ अपवादस्यैवासम्पत्त्येति । अपवादस्य नाज्झलावित्यस्यासम्पत्त्या प्रागबोधाभावेन स्वविषयेऽप्राप्त्यैतद्घटकपदोपस्थितयोरिकारशकारयोर्नापवादविषयत्वमित्यर्थः ॥

भावबोधिनी

अच् और हल् दोनों होना । शकार अच् भी है और हल् भी ।

शकार अच् कैसे है ?

इकार सवर्णग्रहण से शकार का भी ग्रहण कराता है अतः अच् होता है । और हलों के मध्य में स्पष्टतया उच्चारित है अतः हल् भी है ।

विमर्श—जैसे 'इको यणचि' आदि में पठित अच् अपने सभी सवर्णियों का ग्रहण कराता है,जैसे इकार से दीर्घ ईकार आदि का ग्रहण करा देता है वैसे ही अपने सवर्णी शकार का भी ग्रहण करा देगा । फलतः शकार भी अच् मान लिया जायगा इस प्रकार श् अच् हो जाता है । और हलों के मध्य में शकार का उच्चारण प्रत्यक्ष ही है अतः यह हल् भी है । अच् श् और हल् श् सवर्ण नहीं होंगे ।

(अनु०) उसमें (शकार की शकार के साथ सवर्ण संज्ञा का प्रतिषेध हो जाने में) कौन सा दोष आता है ?

(१४६ आक्षेपसाधकवार्तिकद्वितीयखण्डम् ॥ १ ॥)

॥ * ॥ तत्र सवर्णलोपे दोषः ॥ * ॥

(आक्षेपसाधकवार्तिकभागव्याख्याभाष्यम्)

तत्र सवर्णलोपे दोषो भवति—परश्शतानि कार्याणि—"झरो झरि सवर्णे" (८।४।६५) इति लोपो न प्राप्नोति ॥

प्रदीपः

परश्शतानीति । शतात्पराणि शताधिकानीत्यर्थः । 'कर्तृकरणे कृता बहुलमि'ति बहुलवचनात्समासः । पारस्करादित्वात्सुडागमः, सकारस्य श्चुत्वम्, अनचि चेति द्विर्वचनम् । झरो झरीति लोपाप्रसङ्गात् त्रिशकारश्रवणप्रसङ्गः । शरोचि, अनचि चेत्यत्र त्विच्कारेण शकारो न गृह्यतेऽनेन सवर्णत्वनिषेधादित्यस्ति शकारस्य द्विर्वचनम् ॥

उद्द्योतः

बहुलेति । मयूरव्यंसकादित्वात्सुप्सुपेति वा समास इत्युचितम् ॥ ननु कथं शस्य द्वित्वम्, अचि नेति शरोचीति वा निषेधापत्तेरत आह—शरोचीति ॥

भावबोधिनी

(वा०) वहाँ सवर्ण के लोप में दोष होता है ।

(भा०) वहाँ (शकार की शकार के साथ सवर्णसंज्ञा के प्रतिषेध में) सवर्ण-लोप में दोष प्रसक्त होता है—'परश्शतानि कार्याणि' इसमें 'झरो झरि सवर्णे' (८।४।६४) से श् का लोप नहीं प्राप्त होता है ।

विमर्श—शतात् पराणि—इस अर्थ में समास, विभक्तिलोप के बाद 'परशत' में 'पारस्कर-प्रभृतीनि च' (६।१।१०१) सूत्र से सुट् = स् आगम, श्चुत्व सन्धि होने पर—परश्शतानि बनता है । 'अनचि च' (८।४।४७) से श् का वैकल्पिक द्वित्व होने पर 'परश्श्शतानि' यह तीन शकारोंवाला रूप होता है । यहाँ 'झरो झरि सवर्णे' (८।४।६४) से प्रथम हल् श् से परे झर् द्वितीय श् का लोप सवर्ण झर् तृतीय श् परे होता है, यह लोप अभीष्ट है । किन्तु सवर्ण संज्ञा का प्रतिषेध हो जाने पर लोप नहीं हो सकेगा, दो शकारोंवाला–परश्शतानि–रूप नहीं होगा, यह दोष है ।

(१४७ समाधानवार्तिकम् ॥ २ ॥)

॥ * ॥ सिद्धमनच्त्वात् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

सिद्धमेतत् ?

कथम् ?

अनच्त्वात् ॥

कथमनच्त्वम् ?

"स्पृष्टं करणं स्पर्शानाम्" । "ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम्" । "विवृतमूष्मणाम्" ईषदित्येवानुवर्तते ॥ "स्वराणां च" विवृतम् । ईषदिति निवृत्तम् ।

प्रदीपः

सिद्धमनच्त्वादिति । सूत्रप्रत्याख्यानसाधारणमुक्तम् । प्रयत्नभेदादज्झलोः सवर्णसंज्ञायाः प्राप्तिरेव नास्तीत्यर्थः ॥

उद्द्योतः

ननु प्रयत्नभेदेनानच्त्वे सूत्रमेव व्यर्थं स्यादत आह—सूत्रेति । भाष्ये ईषदित्येवेति । एङैचोः परस्परसावर्ण्याभावाय विवृतत्वव्याख्यानामपि सवर्णसंज्ञानियामकत्वस्य सूत्रमतेऽप्यावश्यकत्वेन तदाश्रित्य सूत्रानारम्भ एव ज्यायान् ॥ किंच दीर्घप्लुताकारहकारयोः सावर्ण्यव्यावृत्तये इदमपि तस्यावश्यकमिति भावः ॥

भावबोधिनी

(वा०) [सवर्ण संज्ञा का निषेध न होना] सिद्ध है क्योंकि शकार अनच् = हल् है ।

(भा०) यह (सवर्ण संज्ञा का निषेध न होना) सिद्ध है ।

किस प्रकार से [यह सिद्ध है] ?

[शकार के] अनच् अर्थात् हल् होने से ।

अनच्त्व कैसे है अर्थात् श् हल् कैसे है ?

'स्पर्शसंज्ञक वर्णों (क से लेकर म तक २५ वर्णों) का स्पृष्ट करण = आभ्यन्तर प्रयत्न है ।' 'अन्तःस्थों' = य व र ल का ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न है । 'ऊष्मों = श ष स ह का विवृत प्रयत्न है, इसमें ईषद् की अनुवृत्ति होती है अर्थात् ऊष्मों का ईषद् विवृत प्रयत्न है ।' और स्वरों = अचों का विवृत प्रयत्न है । इसमें 'ईषद्' की निवृत्ति है अर्थात् स्वर केवल विवृत हैं और ऊष्म = श ष स ह ईषद् विवृत हैं । [प्रयत्न की भिन्नता के कारण श अच् नहीं माना जाता है । सवर्ण संज्ञा नहीं होने से इकार से शकार का ग्रहण नहीं होगा । अतः हल् ही रहने से श लोप होने में बाधा नहीं है ।]

(१४८ समाधानान्तरवार्तिकम् ॥ ३ ॥)

॥ * ॥ वाक्यापरिसमाप्तेर्वा ॥ * ॥

(भाष्यम्)

वाक्यापरिसमाप्तेर्वा पुनः सिद्धमेतत् ॥

किमिदं वाक्यापरिसमाप्तेरिति ?

वर्णानामुपदेशस्तावद् । उपदेशोत्तरकालेत्संज्ञा । इत्संज्ञोत्तरकाल "आदिर-

प्रदीपः

वाक्येति । भवतु वा तुल्यास्यप्रयत्नत्वं तथापीहेकारेण शकारो न गृह्यते, सवर्णसंज्ञाया अस्मिन्सूत्रेऽनिष्पादात् । अस्मिन् हि सूत्रे निष्पन्ने सत्यपवादविषयपरिहारेणेष्टे विषये सवर्णसंज्ञा प्रवर्तते । न त्वेतत्सूत्रनिष्पत्त्यवस्थायाम् । ततश्चाङ्गेषूपदेशेत्संज्ञाप्रत्याहारसवर्णत्वेषु निष्पन्नेष्वणुदित्सवर्णस्येत्येतदस्य च्वावित्यादौ प्रवर्तते न त्वङ्गेषूपदेशादिषु, नापि स्वात्मनि । ततश्चात्र सूत्रेऽङ्गानिष्पत्त्याणुदिदित्यस्याप्रवर्तनादिकारेण

उद्द्योतः

वाक्यापरिसमाप्तेर्वेति । अन्यथा नाज्झलावित्यस्य निषेधस्य स्वस्मिन्नपि प्रवृत्तौ तव पूर्वपक्षस्यैवानुत्थानं स्यादिति भावः ॥ अनिष्पादमुपपादयति—अस्मिन्हीति ॥ सूत्रे निष्पन्ने इति । जनितवाक्यार्थबोधे इत्यर्थः ॥ प्रवर्तते इति । एते परस्परं सवर्णसंज्ञा—इति प्रमारूपं निश्चयज्ञानं निष्पद्यत इत्यर्थः । तदेव च लक्ष्यसंस्कारकमिति भावः ॥ निष्पत्त्यवस्थायाम् = वाक्यार्थबोधावस्थायाम् ॥ सवर्णत्वेषु निष्पन्नेषु । तत्र सवर्णत्वनिष्पत्तिरिष्टविषये सवर्णपदवाच्यत्वग्रहः ॥ नापि स्वात्मनीति । अनिष्पत्तेरिति भावः ॥ अङ्गानिष्पत्त्या—अङ्गस्य=इष्टविषयसवर्णपदवाच्यत्वज्ञानस्यानिष्पत्त्या ॥ भाष्ये तावत् = प्रथमम् ॥ उपदेशोत्तरकालेति । ज्ञातस्य संज्ञाविधानादिति भावः ॥ प्रत्याहारोत्तरकाला सवर्णसंज्ञेत्यादेरिष्टविषये सवर्णसंज्ञासंज्ञित्वग्रहणम्, तदुत्तरकालमणुदिदित्येतदकारादिभिः स्वसवर्णत्वेन ज्ञातानां ग्रहणं बोधयति इत्यर्थः ॥ अपरिसमाप्तिश्च

भावबोधिनी

(वा०) अथवा वाक्य की अपरिसमाप्ति होने से भी [सिद्ध है] ।

(भा०) अथवा वाक्य की परिसमाप्ति न होने के कारण यह (सवर्ण संज्ञा का निषेध न होना) सिद्ध है ।

यह वाक्य की अपरिसमाप्ति क्या है ।

(१) सबसे पहले वर्णों का उपदेश होता है । (२) वर्णों के उपदेश के बाद इत् संज्ञा होती है । (३) इत्संज्ञा करने के बाद 'आदिरन्त्येन सहेता' (१।१।७१)

न्त्येन सहेता" (१।१।७१) इति प्रत्याहारः। प्रत्याहारोत्तरकाला सवर्णसंज्ञा। सवर्णसंज्ञोत्तरकालम् "अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः" (१।१।६९) इति सवर्णग्रहणम्। एतेन सर्वेण समुदितेन वाक्येनान्यत्र सवर्णानां ग्रहणं भवति। न चात्रेकारः शकारं गृह्णाति॥

प्रदीपः

शकारस्याग्रहणात्सवर्णत्वं शकारयोः सिद्धम्। एवमीकारोप्यत्रेकारेण न गृह्यत

उद्द्योतः

सवर्णनिर्णयं विना तद्ग्रहणबोधनासामर्थ्यमित्यर्थः। तज्जन्ये शक्तिग्रहे बाधकसंभावनोहितप्रामाण्यसंभावनासत्त्वादिति तात्पर्यम्॥

यत्तु--नाज्झलावित्यतः प्राक्तुल्यास्येत्यस्य बोधाभावेन सवर्णपदार्थज्ञानाभावादणुदिदित्यस्य वाक्यार्थाबोध इत्यर्थं इति॥ तन्न। अभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानस्य कारणतया तुल्यास्येत्यतः प्राङ् निषेधवाक्यार्थाभावः, न तु विपरीतमित्यदोषादिति दिक्॥

सिद्धमिति। अत्रत्याच्पदार्थोपस्थितिकाले वाक्यार्थबोधरूपसावर्ण्याभावज्ञानाभावादिकारशकारयोः सवर्णत्वज्ञानेप्यणुदित्सूत्रजस्येष्टविषये वाक्यार्थबोधरूपशक्तिग्रहस्याभावान्नेकारेणात्र शकारग्रहणमिति भावः॥ ननु वाक्यापरिसमाप्तिन्यायस्यास्मदादीन्प्रति

भावबोधिनी

सूत्र से प्रत्याहार बनता है। (४) प्रत्याहार बन जाने के बाद सवर्ण संज्ञा होती है। (५) सवर्ण संज्ञा के बाद 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' (१।१।६९) इस सूत्र से सवर्ण का ग्रहण होता है। इस प्रकार के [पांच खण्ड वाक्यों से] मिल कर बने हुये एक महावाक्य से अन्यत्र (= अष्टाध्यायी के और दूसरे दूसरे सूत्रों में) सवर्णों का ग्रहण होता है। और यहाँ (= सवर्ण संज्ञाविषयक 'नाज्झलौ' इस सूत्र में) इकार शकार का ग्रहण नहीं करता है। [अतः शकार हल् ही रहता है।]

विमर्श—वाक्य की अपरिसमाप्ति इस न्याय का तात्पर्य है अपेक्षित सम्पूर्ण अर्थ बताने वाले सभी वाक्यों को मिला कर जब एक महावाक्य बन जाय, उससे अर्थ का बोध हो। तभी वाक्य की परिसमाप्ति मानी जाती है। अतः यहाँ महावाक्य की निष्पत्ति की प्रक्रिया पहले समझनी चाहिये। इसमें पांच खण्ड वाक्य हैं—(१) सबसे पहले अइउण् ऋलृक् आदि १४ सूत्रों से वर्णों का उपदेश = उच्चारण होता

प्रदीपः

इतीकारशकारयोः सवर्णत्वमस्तीति कुमारी शेते इत्यत्र सवर्णदीर्घत्वं प्राप्तमचोऽननुवृत्त्या निवार्यते ॥

अनच्त्वमेव वाक्यापरिसमाप्त्या साध्यते न तु प्रयत्नभेदेनस्याह—अपर आहेति ॥

उद्द्योतः

प्रवृत्तत्वेऽपि पाणिनेस्तत्तच्छास्त्रप्रणयनान्यथानुपपत्त्या तत्तद्विषयज्ञानस्य प्रागपि सत्त्वावश्यकत्वेन तज्ज्ञानस्यैतच्छास्त्रासाध्यत्वेन च नाज्झलावित्यादौ सवर्णाभिप्रायेण प्रयोगः स्यात्। अस्मदादीनां बोधस्तु तत्तात्पर्यज्ञव्याख्यातृपरंपरया लक्षणया भविष्यतीति शकारयोः प्रतिषेधः प्राप्नोति। एवमकारयोरपीति चेन्न। ज्ञानसत्त्वेऽपि तदभिप्रायेण प्रयोगे तात्पर्यग्राहकाभावात्। करिष्यमाणसंज्ञाद्यभिप्रायेण पाणिनिव्यवहाराभावस्यैव प्रतिपादनाच्च। अत एव हलन्त्यसूत्रे इतरेतराश्रयमाशङ्क्य एकशेषेण समाहितं भाष्ये। अन्यथा पाणिनिना हल्पदार्थस्य ज्ञातत्वेन तस्यान्योन्याश्रयाभावात्तेन तदभिप्रायेण प्रयोगे बोद्धृबोधस्य लक्षणयैवोपपत्तौ तत्पर्यन्तानुधावनमनर्थकं स्यात्। मम तु पाणिनेस्तथा व्यवहाराभावान्न दोषः॥ उक्तार्थे ज्ञापकमप्युपन्यस्यति—एवमीकारोपीति। अत्र पक्षे दीर्घप्लुताकाराभ्यां हकारे सावर्ण्यवारणं तु प्रश्लेषाद् बोध्यम्। तत्र तात्पर्यग्राहका वेलास्वित्यादिनिर्देशाः, प्रागुक्तं भाष्यं चेति बोध्यम् ॥

भावबोधिनी

है, वर्णज्ञान होता है। (२) वर्णों के उपदेश के बाद 'हलन्त्यम्' (१।१।३) सूत्र से इत्संज्ञा का ज्ञान होता है। (३) इत्संज्ञा का ज्ञान करने के बाद 'आदिरन्त्येन सहेता' (१।१।७१) इस सूत्र से प्रत्याहारों का ज्ञान होता है। (४) जब अण् आदि प्रत्याहारों का ज्ञान हो जाता है उसके बाद सवर्ण संज्ञा का ज्ञान 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' (१।१।९) इस सूत्र से होता है परन्तु इस सवर्णसंज्ञक सूत्रार्थ के ज्ञान के पूर्व इसके निषेधक 'नाज्झलौ' (१।१।८) इस अपवाद सूत्रार्थ का ज्ञान आवश्यक है। अतः पहले 'नाज्झलौ' वाक्य का ज्ञान करना होगा उसके बाद उत्सर्ग वाक्य 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' इसका। इन दोनों के सम्मिलित वाक्यार्थ के ज्ञान के बाद ही 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' (१।१।६९) इस सवर्णग्राहक सूत्रार्थ का ज्ञान सम्भव है। चूंकि अपवाद 'नाज्झलौ' के विषय को छोड़कर ही 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। इसलिये सवर्ण संज्ञा न होने से इकार = अच् द्वारा शकार=हल् का ग्रहण नहीं हो सकता। इन पाँचों को मिलाकर जो महावाक्यार्थ बनता है वह इन पाँचों में प्रवृत्त न होकर अन्य-अन्य सूत्रों में ही प्रवृत्त होता है। अतः श् अच् नहीं माना जा सकता।

(आक्षेपभाष्यम्)

यथैव तर्हीकारः शकारं न गृह्णाति । एवमीकारमपि न गृह्णीयात् ।

तत्र को दोषः ?

कुमारी ईहते=कुमारीहते "अकः सवर्णे"(६।१।१०)इति दीर्घत्वं न प्राप्नोति ।

(समाधानभाष्यम्)

नैष दोषः । यदेतद् "अकः सवर्णे दीर्घः" (६।१।१०१) इत्यत्र प्रत्याहार-ग्रहणम्, तत्रेकार ईकारं गृह्णाति शकारं न गृह्णाति ॥

(व्याख्यान्तरभाष्यम्)

अपर आह—

अज्झलोः प्रतिषेधे शकारप्रतिषेधोऽज्झल्त्वात् ।

प्रदीपः

तत्र क्व ग्रहणकशास्त्रं प्रवर्तते क्व नेति विषयविभागदर्शनाय चोद्यं करोति—यथैव तर्हीति । इकारस्य ह्यत्राग्राहकत्वं दृष्टमित्यकः सवर्णे दीर्घ इत्यत्रापि प्राप्तमिति प्रश्नः ॥

उद्द्योतः

प्रदर्शनाय=बोधनाय ॥

भाष्ये—यदेतदिति । तद्बोधवेलायां वाक्यपरिसमाप्तेरिति भावः ॥

भावबोधिनी

(अनु०) तब तो जैसे यह इकार शकार का ग्रहण नहीं करता है वैसे ही ईकार का भी ग्रहण नहीं करा सकेगा ।

इस स्थिति में कौन-सा दोष होता है ?

कुमारी+ईहते=कुमारीहते–यहाँ 'अकः सवर्णे दीर्घः' (६।१।१०१) इससे सवर्ण-दीर्घ आदेश नहीं प्राप्त होगा ।

यह दोष नहीं है । क्योंकि 'अकः सवर्णे दीर्घः' (६।१।१०१) इस सूत्र में आचार्य ने जो 'अच्' इस प्रत्याहार का ग्रहण किया है उसमें इकार-ईकार का ग्रहण करता है किन्तु शकार का ग्रहण नहीं करता है । [कारण यह है कि 'अकः सवर्णे दीर्घः' इस सूत्रार्थ के ज्ञानकाल के समय सवर्णग्राहक वाक्य का अर्थ निष्पन्न हो चुका है ।]

दूसरा वार्तिककार आचार्य कहता है—'अचों और हलों के प्रतिषेध में शकार का प्रतिषेध कहना चाहिए क्योंकि शकार अच् और हल् दोनों है ।'

अज्झलोः प्रतिषेधे शकारस्य शकारेण सवर्णसंज्ञायाः प्रतिषेधः प्राप्नोति ॥

किं कारणम् ?

अज्झल्त्वात् । अच्चैव हि शकारो हल्च ॥

कथं तावदच्त्वम् ?

ईकारः सवर्णग्रहणेन शकारमपि गृह्णातीत्येवमच्त्वम्, हल्षु चोपदेशाद्धल्त्वम् ॥

तत्र को दोषः ?

तत्र सवर्णलोपे दोषः ॥

तत्र सवर्णलोपे दोषो भवति । परश्शतानि कार्याणि "झरो झरि सवर्णे" (८।४।६५) इति लोपो न प्राप्नोति ॥

सिद्धमनच्त्वात् ।

सिद्धमेतत् ॥

कथम् ?

भावबोधिनी

अचों और हलों के प्रतिषेध में शकार की शकार के साथ सवर्ण संज्ञा का प्रतिषेध प्राप्त होता है ।

किस कारण से ?

अच् और हल् होने से । शकार अच् भी है और हल् भी ।

शकार अच् कैसे है ?

इकार सवर्णग्रहण से शकार का भी ग्रहण कराता है, इस प्रकार शकार अच् होता है और हलों में उपदेश होने के कारण हल् तो है ही ।

इसमें कौन-सा दोष आता है ?

इसमें सवर्णलोप में दोष आता है ।

इसमें सवर्णलोप में दोष होता है—'परश्शतानि कार्याणि'। इसमें 'झरो झरि सवर्णे (८।४।६४) इस सूत्र से शकार का लोप नहीं प्राप्त होता है ।

यह लोप सिद्ध है क्योंकि शकार अच् नहीं है ।

यह सिद्ध है ।

कैसे ?

अनच्त्वात् ॥

कथमनच्त्वम् ?

वाक्यापरिसमाप्तेर्वा, उक्ता वाक्यापरिसमाप्तिः ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

अस्मिन्पक्षे—वेत्येतदसमर्थितं भवति ॥

(समाधानभाष्यम्)

एतच्च समर्थितम् ॥

कथम् ?

अस्तु वा शकारस्य शकारेण सवर्णसंज्ञा, मा वा भूत् ॥

प्रदीपः

अस्मिन् पक्ष इति। एकत्र हि साध्ये हेतुविकल्पो भवति, इह तु साध्यभेदः। सिद्धेरनच्त्वं हेतुः, अनच्त्वस्य वाक्यापरिसमाप्तिः ॥

एतच्चेति। अस्तु वा ग्रहणमिकारेण शकारस्येति वाक्यशेषाध्याहारात्, प्रतिज्ञा-विकल्पार्थो वाशब्द इत्यर्थः ॥

उद्द्योतः

एकत्रेति। तुल्यार्थानां विकल्प इति न्यायादित्यर्थः ॥

मा वा भूदित्येतत्सूचितप्रतिज्ञाया आशयमाह—अस्तु वेति ॥

भावबोधिनी

अनच् होने से।

अनच् कैसे है।

'अथवा वाक्यापरिसमाप्ति से।' वाक्यापरिसमाप्ति पहले कही जा चुकी है।

परन्तु इस (दूसरी व्याख्या करने वाले) पक्ष में वार्तिकोक्त 'वा' इस अर्थ का समर्थन नहीं होता है। [क्योंकि 'वा' विकल्पबोधक है। और विकल्प के लिये कम से कम दो पक्ष होने चाहिए। यहाँ एक ही पक्ष है। अतः 'वा' का अर्थ समर्थित नहीं हो पाता है।]

यह 'वा' का अर्थ समर्थित है।

कैसे ?

शकार की शकार के साथ सवर्ण संज्ञा हो जाय अथवा न हो जाय। [दोनों में दोष नहीं है।]

(आक्षेपस्मारणभाष्यम्)

ननु चोक्तम् परश्शतानि कार्याणि "झरो झरि सवर्णे" (८।४।६५) इति लोपो न प्राप्नोतीति ॥

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

मा भूल्लोपः ॥

(साक्षेपसाधकभाष्यम्)

ननु च भेदो भवति—सति लोपे द्विशकारम्, असति लोपे त्रिशकारकम् ॥

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

नास्ति भेदः—असत्यपि लोपे द्विशकारकमेव ॥

कथम् ?

विभाषा द्विर्वचनम् ॥

प्रदीपः

ननु चेति । श्रुतिकृतं भेदमुपगम्योच्यते ।

उद्द्योतः

ननु 'व्यञ्जनपरस्यैकस्यानेकस्य वा नोच्चारणे विशेषः' इति न्यायात् कथं भेद इत्यत आह—श्रुतिकृतमिति ॥

भाष्ये असति लोपे त्रिशकारमिति वदन् प्रष्टव्यः—किं द्विशकारं न स्यादिति तवाशयः, उत त्रिशकारं स्यादिति । आद्ये आह—असत्यपीति । द्विशकारं भवत्येवेत्यर्थः ॥

भावबोधिनी

क्यों जी, अभी कहा गया है—परश्शतानि कार्याणि' इसमें 'झरो झरि सवर्णे' (८।४।६५) इस सूत्र से सवर्ण=श् का लोप नहीं प्राप्त होता है ।

शकार का लोप न हो ।

क्यों श्रीमन् ! [लोप न होने पर रूप में] भेद हो जाता है—शकार का लोप हो जाने पर दो शकारों वाला (परश्शतानि–यह रूप) होता है और लोप न होने पर तीन शकारों वाला (परश्श्शतानि—यह रूप) होता है ।

यह भेद नहीं होता है, लोप न होने पर भी दो शकारों वाला ही रूप होता है ।

कैसे [दो शकारों वाला ही होता है] ?

['अनचि च' से होने वाला] द्वित्व वैकल्पिक है । [अतः द्वित्वाभावपक्ष में दो शकारों वाला रूप बन जाता है ।]

(आक्षेपसाधकभाष्यम्)

एवमपि भेदः—असति लोपे—कदाचिद्द्विशकारकम्, कदाचित् त्रिशकारकम्। सति लोपे—द्विशकारकमेव ॥

(तटस्थाक्षेपभाष्यम्)

स एष कथं भेदो न ?

(तटस्थाक्षेपनिरासभाष्यम्)

स्याद् यदि नित्यो लोपः स्याद्। विभाषा तु स लोपः ॥

(समाधानभाष्यम्)

यथाऽभेदस्तथास्तु ॥ नाज्झलौ ॥ १० ॥

प्रदीपः

स एष कथं भेदो नेति। अत्रैव च्छेदः, भेद एवेत्यर्थं ॥

इतर आह—स्याद्भेदो यदि नित्यो लोपः स्यात्, विभाषा तु स लोप इति। ततो नास्ति भेद इत्यर्थः ॥

उद्द्योतः

द्वितीये आह—एवमपीति। विभाषा द्विर्वचनेऽपीत्यर्थः ॥

एवमपीत्यनेन भेद एवेत्युक्त्वा, तदुपपादनावसरे यदि लोपो न स्यादिति वाच्यम्, किमुच्यते—नित्यो लोपः स्यादिति। अतश्छित्वा भिन्नकर्तृकत्वेन योजयति—स एष इति। त्रिशकारमिष्टमेवेति तात्पर्यम् ॥

भावबोधिनी

ऐसा अर्थात् द्वित्व को वैकल्पिक मान लेने पर भी रूप में भेद रहता है क्योंकि लोप न होने पर [और द्वित्व भी न होने पर] कभी दो शकारों वाला ही होता है और कभी [द्वित्व होने, लोप न होने पर] तीन शकारों वाला भी होता है। किन्तु लोप होने पर तो दो शकारों वाला ही होता है।

यह जो (दो शकारों वाला या तीन शकारों वाला होना) भेद है वह कैसे नहीं होता है अर्थात् होना ही चाहिए।

होता, यदि लोप नित्य होता [तो रूप में भेद अवश्य होते] परन्तु वह शलोप तो विकल्प से होता है। [इसलिये भेद नहीं होता है क्योंकि द्वित्व भी हो और लोप भी हो तो केवल दो शकारों वाला एक रूप बन जाता है।]

तो फिर रूप में जैसे अभिन्नता रहे वैसा ही रहने दिया जाय।

॥ इति श्रीमद्भगवत्पतञ्जलिविरचिते महाभाष्ये प्रथमाध्यायप्रथमपादे चतुर्थमाह्निकम् ॥ ४ ॥ ॥

प्रदीपः

द्विर्वचनमपि विभाषा, यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वेत्यतो वेत्यनुवर्तनात्। लोपोऽपि विभाषा, झयो होऽन्यतरस्यामित्यतोऽन्यतरस्यामित्यनुवर्तनादित्यर्थः ॥ १० ॥

॥ इति श्रीजैयटपुत्रकैयटकृते महाभाष्यप्रदीपे प्रथमाध्यायप्रथमपादे चतुर्थमाह्निकम् ॥ १० ॥

उद्द्योतः

झयो ह इति। इदं वृत्तिरीत्या। भाष्यरीत्या तु वाऽवसान इत्यत इति बोध्यम् ॥ १० ॥

॥ इति श्रीशिवभट्टसुत-सतीगर्भज नागेशभट्टकृते भाष्यप्रदीपोद्द्योते प्रथमाध्यायस्य प्रथमे पादे चतुर्थमाह्निकम् ॥४॥ ॥

भावबोधिनी

विमर्श—भाष्यकार ने यहाँ प्रयोग की प्रधानता स्वीकार करके व्याख्या करने की छूट दे दी है। शकार का द्वित्व 'अनचि च' (८।४।४६) से होता है और इसमें 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' (८।४।४४) सूत्र से 'वा' अर्थात् विकल्प की अनुवृत्ति होती है। अतः शकार का द्वित्व विकल्प से होता है। यलोप करने वाले 'झरो झरि सवर्णे' (८।४।६४) सूत्र में भी 'झयो होऽन्यतरस्याम्' (८।४।६१) सूत्र से 'अन्यतरस्याम्' = विकल्प की अनुवृत्ति होती है। अतः लोप भी विकल्प से होता है। 'परश्शतानि' में द्वित्व भी करें और लोप भी करें तो केवल दो शकारों वाला एक रूप होता है। यदि द्वित्व भी न करें और लोप की प्राप्ति नहीं हो तब भी दो शकारों वाला ही रूप रहता है। अतः यही रूप भाष्यकार को अभीष्ट है। इस कारण 'अज्झलोः प्रतिषेधे शकारप्रतिषेधः' इस वार्तिक की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है ॥ १० ॥

॥ इस प्रकार श्रीमद्भगवान् पतञ्जलि द्वारा विरचित महाभाष्य में प्रथमाध्याय के प्रथमपाद में चतुर्थ आह्निक समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

॥ जयशङ्करलाल-त्रिपाठि-विरचित 'भावबोधिनी' हिन्दी-व्याख्या में महाभाष्य-प्रथमाध्याय के प्रथमपाद में चतुर्थ आह्निक सम्पूर्ण हुआ ॥४॥

प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादे पञ्चमाह्निकम्

(प्रथम प्रगृह्यसंज्ञाप्रकरणम्)

(१० प्रगृह्यसंज्ञासूत्रम् ॥१।१।५ आ० १ सू० ॥)

ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम् ॥ १।१।११ ॥

(अथ तपरपाठप्रयोजनाधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

किमर्थमिदानीं तपराणां प्रगृह्यसंज्ञोच्यते ?

प्रदीपः

ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम् ॥ ११ ॥ किमर्थमिति । ईदूतोरनण्त्वाद्भिन्नकालनिवृत्त्यर्थं नोपपद्यते तपरत्वम्, उदात्तादीनामभेदकत्वाद्गुणान्तरयुक्तानां सवर्णानां ग्रहणार्थमपि नोपपद्यते ॥ जातिपक्षेऽपि दीर्घोच्चारणात्प्रयत्नाधिक्याद् ह्रस्वानां न भविष्यति, प्लुतानां चेष्यत एवेतीष्टव्याघातं प्रत्युत तपरत्वं करोतीति प्रश्नः ॥

उद्द्योतः

ईदूदेत् ॥ ११ ॥ व्यक्तिपक्षे ईदूतोस्तपरयोरुपादानं भिन्नकालनिवृत्तये वा गुणान्तरयुक्तग्रहणाय वा स्यात् । तत्र नाद्य इत्याह—ईदूतोरिति । एवं चाणुदिदित्यस्य प्राप्त्यभावान्न तद्बाधकतपरसूत्रप्रवृत्तये तपरत्वमित्यर्थः । तपरसूत्रेऽण्ग्रहणाननुवृत्त्या तस्य प्राप्तावपि फलाभावात् । न द्वितीय इत्याह—उदात्तादीनामिति । ननु जातिपक्षे भिन्नकालनिवृत्त्यर्थं स्यात्तत्पक्षे हि तपरसूत्रं नियमार्थमेवेत्यत आह—जातीति ॥ प्लुतानां चेष्यत एवेति । एतच्च अग्रे भाष्ये एव स्फुटम् ॥ इष्टव्याघातमिति । जातिपक्षे ईदूदंशेऽपि तपरत्वेनैव प्लुतव्यावृत्तिरित्यभिमानः ॥

भावबोधिनी

प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में पञ्चम आह्निक प्रारम्भ होता है—

ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम् ।१।१।११

तपरों (ईत्, ऊत्, एत्) की प्रगृह्य संज्ञा किसलिये कही जा रही है ?

विमर्श—सूत्र में तपरकरण के प्रयोजन दो माने जा सकते हैं—(१) भिन्न काल वाले ई, ऊ, ए की निवृत्ति करवाना, (२) अन्य गुणयुक्तों का भी ग्रहण करवाना। ये दोनों ही सम्भव नहीं हैं क्योंकि ईत् ऊत् अण् नहीं हैं अतः 'अणुदित् सवर्णस्य' सूत्र की प्राप्ति ही नहीं होने से तपर सूत्र की आवश्यकता ही नहीं है। भिन्न गुणयुक्त अर्थात् दीर्घ उदात्त, दीर्घ अनुदात्त और दीर्घ स्वरित ई ऊ का ग्रहण कराना भी प्रयोजन नहीं है क्योंकि 'अभेदका गुणाः' नियम से भिन्न गुणयुक्तों का स्वतः ग्रहण हो जाता है। जातिपक्ष में भी तपरकरण का कोई फल नहीं है क्योंकि दीर्घ उच्चारण रूप प्रयत्न के अधिक होने से ह्रस्वों का ग्रहण स्वतः नहीं होगा और प्लुतों का ग्रहण करना इष्ट है। अतः यह तपरकरण इष्टव्याघात ही कर रहा है।

(समाधानभाष्यम्)

"तपरस्तत्कालस्य" (१।१।७०) इति तत्कालानां सवर्णानां ग्रहणं यथा स्यात्॥

केषाम् ?

उदात्तानुदात्तस्वरितानाम् ॥

(भाष्यम्)

अस्ति प्रयोजनमेतत् ?

किं तर्हीति ?

(१४९ आक्षेपवार्तिकम् ॥ १ ॥)

(भाष्यम्)

[॥ * ॥ प्लुतानां तु प्रगृह्यत्वाप्रसङ्गोऽतत्कालत्वात् ॥ * ॥]

प्रदीपः

तपर इति । व्यक्तिपक्षो भेदकाश्च गुणा इति भावः ॥ केषामिति । प्लुतानामग्रहणप्रसङ्गात्प्रश्नः ॥ उदात्तेति । क्वचिदनुनासिकग्रहणमप्यस्ति, तद्गुणप्रसङ्गेनोच्चारितम्, न हि प्रगृह्योऽनुनासिकः सम्भवत्यणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिक इति निषेधात् ॥

उद्द्योतः

भेदकाश्च गुणा इति । भेदकत्वात्स्वरस्येति वार्तिकोक्तेरण्विषये भेदकपक्षोऽप्यस्तीत्यभिमानः ॥ इदं प्रयोजनमीदूतोरेव, नत्वेदंशे अणुदित्सूत्रेणैव सिद्धेः ॥

भावबोधिनी

(अनु०) 'तपरस्तत्कालस्य' (१।१।७०) इससे उसके समान काल वाले सवर्णों का ग्रहण जैसे हो [उसके लिए तपरकरण है ।]

किन सवर्णों का ?

उदात्त, अनुदात्त और स्वरित (ई, ऊ, ए) का [ग्रहण जिस प्रकार हो उसके लिये तपर है अर्थात् तीनों गुणवालों का ग्रहण कराने के लिये तपरकरण है ।]

तपरकरण का यह प्रयोजन तो ठीक है ?

किन्तु क्या है ?

(भाष्यम्)

प्लुतानां तु प्रगृह्यसंज्ञा न प्राप्नोति ॥
किं कारणम् ?
अतत्कालत्वात् । न हि प्लुतास्तत्कालाः ॥

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

असिद्धः प्लुतः । तस्यासिद्धत्वात्तत्काला एव भवन्ति ॥

प्रदीपः

प्लुतानां त्विति । व्यक्तिपक्षाश्रयणादयं दोषो, न तु तपरत्वात् ।

असिद्ध इति । शास्त्रासिद्धत्वाश्रयणात् प्लुतबुद्धावसत्यां प्रगृह्यत्वे विधीयमाने द्विमात्रविषया बुद्धिः प्रवर्तते । तथा हि वक्ष्यति *असिद्धवचनमुत्सर्गलक्षणभावार्थमादेशलक्षणप्रतिप्रषेधार्थं च* इति ॥

उद्द्योतः

ननु तत्कालसवर्णसंग्रहार्थं तपरत्वमुक्तं नातत्कालव्यावृत्त्यर्थं, तत्कुतः प्लुताना न प्राप्नोतीत्यत आह—व्यक्तिपक्षेति । ईदूदंशे इदम्, एदंशे तु तपरत्वादेव दोष इति बोध्यम् ॥

ननु इति शब्दादिसमभिव्याहारे कार्यार्थं प्रगृह्यसंज्ञाप्रवृत्तेरन्तरङ्गत्वात्पूर्वं प्लुते तेन स्थानिनो निवृत्तत्वेन प्लुतासिद्धत्वेऽपि कथं स्थान्याश्रया प्रगृह्यसंज्ञेत्यत आह—शास्त्रेति । प्रवृत्तेऽपि शास्त्रेऽसिद्धवत्त्वेन तत्प्रवृत्तिबुद्ध्यभावेन प्लुतबुद्ध्यभावात्त्रिमात्रविषयाया बुद्धेस्त्रिमात्रे सत्त्वाद् द्विमात्रबुद्ध्या त्रिमात्रस्य संज्ञेत्यर्थः ॥ एतेन शास्त्रासिद्धत्वाच्छास्त्राप्रवृत्तौ स्थानिनः प्रगृह्यत्वेऽपि पुनः प्लुते तस्य तन्न स्यात् । न च स्थानिवत्त्वम्, अनल्विधाविति निषेधात् । प्लुतस्थान्यल्वृत्तिधर्मत्वाद् । एवं चागच्छत-

भावबोधिनी

(वा०) प्लुतों की प्रगृह्य संज्ञा न होने का प्रसंग आता है क्योंकि वे तत्काल= उसके समान कालवाले नहीं हैं ।

(भा०) प्लुतों (ईकार आदि) की प्रगृह्य संज्ञा नहीं प्राप्त होती है ।

क्या कारण है ?

तत्काल=उसके समान काल वाले न होने के कारण [प्लुतों की प्रगृह्य संज्ञा नहीं प्राप्त होती है ।] क्योंकि प्लुत उसके समान काल वाले नहीं हैं । [दीर्घ ई आदि के उच्चारण में दो मात्रा का काल लगता है और प्लुत के उच्चारण में तीन मात्रा का । अतः दोनों भिन्नकाल वाले हैं ।]

['दूराद्धूते च' (८।२।२४) आदि सूत्रों से किया जाने वाला] प्लुत स्वर-सन्धियों में असिद्ध हो जाता है ।

प्लुत असिद्ध हैं, इसके असिद्ध होने से तत्काल वाले = उसी के समान काल वाले

(आक्षेपसाधकभाष्यम्)

सिद्धः प्लुतः स्वरसन्धिषु ॥

कथं ज्ञायते—'सिद्धः प्लुतः स्वरसन्धिषु'—इति ?

यदयं "प्लुतः प्रकृत्या" (६।१।१२५) इति प्लुतस्य प्रकृतिभावं शास्ति ॥

कथं कृत्वा ज्ञापकम् ?

सतो हि कार्यिणः कार्येण भवितव्यम् ॥

प्रदीपः

यदयमिति। असिद्धत्वे प्लुतः प्रकृत्येत्येवमाश्रयणायोगात् कार्यित्वेनाश्रयणाद-सिद्धत्वाभावोऽनुमीयते। सामान्येन स्वरसन्धिप्रकरणविषयं सिद्धत्वं ज्ञाप्यते, न तु प्रकृतिभाव एव। यथा रोरुत्व एव। सोत्सर्गं सापवादं च प्रकरणमिति प्रकृतिभावेऽपि प्रगृह्यत्वहेतुके सिद्धत्वमुच्यते ॥

उद्द्योतः

मग्नी ३ इत्यादावणोऽप्रगृह्यस्येत्यनुनासिकः स्यादित्यपास्तम् ॥ ननु प्राधान्यात्कार्यि-सिद्धत्वमेव स्यादत आह—तथाहीति ॥ उत्सर्गः = स्थानी ॥

भावबोधिनी

अर्थात् द्विमात्रिक ही हो जाते हैं।

स्वरसंधियों में प्लुत सिद्ध रहता है।

यह कैसे ज्ञात होता है कि—स्वरों के सन्धिकार्य में प्लुत सिद्ध रहता है ?

जो कि आचार्य पाणिनि 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' (६।१।१२५) सूत्र से प्लुत के प्रकृतिभाव का विधान करते हैं। [वही यह सिद्ध करता है कि स्वरसन्धियों में प्लुत सिद्ध ही रहता हैं।]

यह किस प्रकार से ज्ञापक बनता है ?

विद्यमान कार्यी (उद्देश्य) का ही कार्य होना चाहिये।

विमर्श—भाव यह है कि 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' (६।१।१२५) यह सपादसप्ताध्यायी का सूत्र प्लुत को उद्देश्य करके प्रकृतिभाव रूप कार्य का विधान करता है। यदि प्लुतविधायक त्रिपादीस्थ सूत्रों को 'पूर्वत्रासिद्धम्' (८।२।१) के अनुसार सदैव असिद्ध ही माना जायगा तो कभी प्लुत सिद्ध न मिलने पर प्रकृतिभाव-विधायक सूत्र व्यर्थ होने लगेगा। वही व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि यह प्लुत

किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् ?

अप्लुतादप्लुत (६।१।११३)—इत्येतन्न वक्तव्यं भवति ॥

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

किमतो—यत्सिद्धः प्लुतः स्वरसन्धिषु, संज्ञाविधावसिद्धः। तस्यासिद्धत्वात्तत्काला एव भवन्ति ॥

प्रदीपः

किमेतस्येति। प्रकृतिभाव एवाश्रयात्सिद्धत्वमस्त्विति प्रश्नः ॥

इतरो लाघवं दर्शयति—अप्लुतादिति। सिद्धे हि प्लुतेऽतोतीति तपरत्वादेवोत्वाप्रसङ्गः ॥

किमत इति। यथोद्देशे संज्ञापरिभाषे प्रगृह्यसंज्ञा स्वरसन्धिप्रकरणमध्यपतिता न भवतीति प्रश्नः ॥

उद्द्योतः

सामान्येनेति। तदुत्सर्गेऽपीत्यर्थः। ननु प्रकृतिभावो न स्वरसन्धिप्रकरणस्थस्तत्राह—सोत्सर्गमिति। तदुत्सर्गनिरूपितापवादत्वस्यात्रापि सत्त्वेनेदमपि तत्प्रकरणस्थमेवेति भावः ॥ प्रगृह्यत्वहेतुके प्रकृतिभावेऽपीत्यन्वयः ॥ प्रकृतिभाव एवेति। प्लुतप्रकृतिभाव इत्यर्थः ॥ भाष्ये एतस्येत्यस्य स्वरसन्धिप्रकरणविषयत्वेन ज्ञापनस्येत्यर्थः ॥

भावबोधिनी

स्वरसन्धियों में असिद्ध नहीं होता है, सिद्ध ही रहता है। अतः तपरकरण से यदि तत्काल वालों का ग्रहण करना फल मानेंगें तो प्लुतों की संज्ञा नहीं हो सकेगी।

(अनु०) इस ज्ञापन के मानने में क्या प्रयोजन है अर्थात् स्वरसन्धियों में प्लुत को सिद्ध मानने का क्या प्रयोजन है ?

'अप्लुतादप्लुते' ऐसा नहीं करना होगा। ['अतो रोरप्लुतादप्लुते' यह सूत्र अप्लुत तथा एकमात्रिक अकार से परे रु का उकार आदेश अप्लुत एकमात्रिक अकार परे ही करता है। जब स्वरविधि में प्लुत सिद्ध ही रहेगा तो उसकी निवृत्ति के लिये 'अत अति' ये तपरकरण ही पर्याप्त हैं क्योंकि प्लुत के त्रिमात्रिक होने से स्वतः गृहीत नहीं होगा। तब उसके वारणार्थ 'अप्लुतादप्लुते' इनकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है।]

स्वरसन्धियों में प्लुत सिद्ध ही रहता है, इससे क्या ? प्रगृह्य संज्ञाविधि में तो असिद्ध ही रहता है। उसके असिद्ध हो जाने से प्लुत ई, ऊ, ए उसी के समान काल वाले हो जायेंगे। [अर्थात् द्विमात्रिक ही रह जायेंगे।]

(आक्षेपसाधकभाष्यम्)

संज्ञाविधौ च सिद्धः।

कथम् ?

"कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्" यत्र कार्यं तत्रोपस्थितं द्रष्टव्यम्, "प्रगृह्यः प्रकृत्या" (६।१।१२५)इत्युपस्थितमिदं भवति—"ईदूदेद् द्विचनं प्रगृह्यम्" इति ॥

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

किं पुनः प्लुतस्य प्रगृह्यसंज्ञावचने प्रयोजनम् ?

(आक्षेपसाधकभाष्यम्)

प्रगृह्याश्रयः प्रकृतिभावो यथा स्यात् ॥

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

मा भूदेवम्। प्लुतः प्रकृत्या इत्येवं भविष्यति ॥

प्रदीपः

कार्यकालमिति। कार्यार्थत्वाद् गुणानां कार्यस्य च प्रधानत्वात् प्रधानदेशत्वस्य न्याय्यत्वादिति भावः ॥

उद्द्योतः

कार्यार्थत्वादिति। तदेकवाक्यतापन्नं संज्ञासूत्रं तत्प्रकरणस्थमिति भावः ॥

भावबोधिनी

(प्रगृह्य) संज्ञा की विधि में भी (प्लुत) सिद्ध रहता है।

कैसे [सिद्ध रहता है] ?

क्योंकि 'कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्' यह है, जहाँ प्रगृह्यसंज्ञा का कार्य है वहीं इसे उपस्थित देखना चाहिए अर्थात् विधि सूत्र का देश ही संज्ञा तथा परिभाषा सूत्र का भी देश होता है। अतः 'प्रगृह्यसंज्ञक का प्रकृतिभाव होता है—'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् (६।१।१२५) इसमें 'ईद्देद् द्विवचनं प्रगृह्यम्' (१।१।११) सूत्र उपस्थित होता है। [अतः यह भी सपादसप्ताध्यायीस्थ ही माना जाता है। अब असिद्धत्व का प्रश्न नहीं उठता है।]

प्लुत [ई, ऊ, ए] की प्रगृह्य संज्ञा करने का क्या प्रयोजन है ?

प्रगृह्य संज्ञा को मानकर होनेवाला प्रकृतिभाव जिस प्रकार से हो सके। [उसी के लिये प्लुत की प्रगृह्य संज्ञा करनी चाहिए।]

(आक्षेपसाधकभाष्यम्)

नैवं शक्यम् । उपस्थिते हि दोषः स्यात् "अप्लुतवदुपस्थिते" (६।१।१२९) इति । अत्र पठिष्यति ह्याचार्यः—वद्वचनं प्लुतकार्यप्रतिषेधार्थम् । प्लुतप्रतिषेधे हि प्रगृह्यप्लुतप्रतिषेधप्रसङ्गोऽन्येन विहितत्वाद् इति । तस्मात्प्लुतस्य प्रगृह्य-

प्रदीपः

उपस्थिते हीति । उपस्थितमनार्षं इतिकरणः । अग्नी ३ इतीत्यत्र प्लुताश्रये प्रकृतिभावे प्रतिषिद्धे प्रगृह्याश्रयः प्रकृतिभाव इष्यते । तदाह—पठिष्यतीति । यत्र

उद्द्योतः

प्रतिषिद्धे इति । अप्लुतवद्भावेन बाधिते इत्यर्थः ॥ भाष्ये प्रगृह्यप्लुतप्रतिषेधेति । प्रगृह्याश्रये प्रकृतिभावे प्लुतप्रतिषेधप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥ प्रगृह्याश्रयस्यापि कुतो न निवृत्ति-रित्यत आह—अन्येनेति । प्रगृह्यः प्रकृत्येत्यनेनेत्यर्थः ॥ नन्वीदृशेऽपि विषये प्रगृह्याश्रय-

भावबोधिनी

ऐसा न हो अर्थात् प्लुत की प्रगृह्य संज्ञा करके प्रकृतिभाव न होने पर भी कोई अनिष्ट नहीं होगा, क्योंकि प्लुत को मानकर ही प्रकृतिभाव हो जायगा। [क्योंकि 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' सूत्र तो प्लुत तथा प्रगृह्य इन दोनों का ही प्रकृतिभाव करता है ।]

ऐसा नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि उपस्थित = अवैदिक अर्थात् लौकिक 'इति' शब्द परे रहते दोष होगा—'अप्लुतवदुपस्थिते' (६।१।१२९) [यह सूत्र उपस्थित = लौकिक 'इति' शब्द परे रहते प्लुत का अप्लुततुल्य होना विधान करता है। अब प्लुत मानकर प्रकृतिभाव नहीं किया जा सकता।] आचार्य कात्यायन इस सूत्र पर यह वार्तिक पढ़ेंगे—'वत्' ऐसा वचन प्लुत कार्य के प्रतिषेध के लिये है क्योंकि प्लुत का ही प्रतिषेध करने पर प्रगृह्य को मानकर जो प्रकृतिभाव होता है उसके होने में प्लुत के प्रतिषेध का भी प्रसङ्ग आने लगेगा, 'प्रगृह्यः प्रकृत्या' इस दूसरे वचन से प्रकृतिभाव किया ही गया है। अतः प्लुत की प्रगृह्य संज्ञा करनी आवश्यक है। जिससे कि प्रगृह्य को मानकर होनेवाला प्रकृतिभाव हो सके।

विमर्श—'अप्लुतवदुपस्थिते' यह सूत्र लौकिक 'इति' शब्द परे रहने पर प्लुत का अप्लुतवद्भाव करता है। यहाँ वत् = सदृश करने का उद्देश्य यह है कि प्लुत को मानकर होनेवाला प्रकृतिभाव नहीं होता है किन्तु यदि यण् गुण आदि कोई दूसरे कार्य प्राप्त हैं तो वे हो जाते हैं। अतः 'देवदत्ता३ इति' यहाँ अप्लुतवत् मानकर गुण हो

संज्ञैषितव्या । प्रगृह्याश्रयः प्रकृतिभावो यथा स्यात् ॥

(आक्षेपबाधकरीत्यन्तरनिराकरणभाष्यम्)

यदि पुनर्दीर्घाणामतपराणां प्रगृह्यसंज्ञोच्येत, एवमप्येकार एव एकः सवर्णान् गृह्णीयाद्, ईकारोकारौ न गृह्णीयाताम् ॥

किं कारणम् ?

प्रदीपः

प्रगृह्यसंज्ञा नास्ति,स प्लुताश्रयप्रकृतिभावः प्रतिषेधविषयः—देवदत्ता ३ इति देवदत्तेति ॥

यदि पुनरिति ॥ ननु व्यक्तिपक्षाश्रयणात् प्लुतानां न सिध्यति, न पुनस्तपरत्वात् ॥ अथमत्राशयः—आकृतिपक्ष आश्रयिष्यते दीर्घोच्चारणप्रयत्नाधिक्याद् ह्रस्वानां न भविष्यति प्लुतानां तु प्रवर्तिष्यते ॥ एवमपीति । अयं भावः—आकृतिपक्षे यथा ह्रस्वानां प्रयत्नाधिक्यान्न भवति, तथा दीर्घोच्चारणसामर्थ्याद्विशिष्टव्यक्तिस्थैवाकृतिर्गृह्यत इति प्लुतानां न स्यात् । यथा स्थूलं गामानयेत्युक्ते न कृशस्यानयनं भवतीति

उद्द्योतः

प्रकृतिभावे सति प्लुताश्रयप्रकृतिभावप्रतिषेधोऽप्लुतवदिति बोधितो व्यर्थ इत्यत आह—यत्रेति ॥

न पुनस्तपरत्वादिति । वक्ष्यति भाष्ये—"दीर्घाणां चोच्यमाना प्लुतानां न प्राप्नोतीति" ॥ प्लुतानां त्विति । तपरत्वाभावे इत्यर्थः । तपरत्वे तु तपरसूत्रस्य जातिपक्षेऽनण्यपि नियमार्थत्वान्न स्यादिति भावः ॥ ईत्वादि इत्वाद्यनतिरिक्तं मन्यते ॥ आकृतिरिति । विना व्यक्त्युच्चारणं जातिनिर्देशाभावादवश्यं व्यक्तावुच्चारणीयायां लाघवाय ह्रस्व एव प्रयोक्तव्ये गुरुदीर्घोच्चारणेन तद्व्यक्तेरुपलक्षणत्वं विहाय विशेषणत्वस्यैवाश्रयणाद्विशिष्टव्यक्तिस्थैव जातिर्गृह्यत इति न्यूनकालव्यक्तिगताया इवाधिककाल-

भावबोधिनी

जाने से 'देवदत्तेति' ऐसा बनता है। परन्तु 'अग्नी ३ इति' यहाँ प्लुत को मानकर होने वाले प्रकृतिभाव का प्रतिषेध हो जाने पर भी 'ईदूदेद्' सूत्र से की जानेवाली प्रगृह्य संज्ञा को मानकर किया जानेवाला प्रकृतिभाव होता ही है। फलतः 'अग्नी ३ इति' यही इष्ट रूप रहता है, सन्धिकार्य नहीं होता है।

(अनु०) यदि इस सूत्र में अतपर दीर्घ ईकार, ऊकार, एकार की प्रगृह्य संज्ञा कही जाय (तो क्या हानि है ?) इस स्थिति में भी अर्थात् अतपरों का ग्रहण मानने में भी अकेला ए ही अण् होने से अपने सवर्णों का ग्रहण करा सकेगा, ईकार तथा ऊकार सवर्णों का ग्रहण नहीं करा सकेंगे।

क्या कारण है [जिससे ग्रहण नहीं करवा सकते] ?

अनण्त्वात् ॥

(आक्षेपबाधकरीत्यन्तरनिराकरणभाष्यम्)

यदि पुनर्ह्रस्वानामतपराणां प्रगृह्यसंज्ञोच्यते ॥

नैवं शक्यम् । इहापि प्रसज्येत—अकुर्वहि अत्र अकुर्वह्यत्रेति ॥

(आक्षेपोपसंहारभाष्यम्)

तस्माद्दीर्घाणामेव तपराणां प्रगृह्यसंज्ञा वक्तव्या। दीर्घाणां चोच्यमाना प्लुतानां न प्राप्नोति ॥

प्रदीपः

आकृतिपक्षेऽपि विशिष्टैवाकृतिर्दीर्घा व्यक्तिर्गृह्यते । तथा चानण्त्वादीदूतौ ग्राहकौ न स्याताम् ॥

यदि पुनरिति । ह्रस्वसाहचर्यादेकारोऽपि ह्रस्वशब्देनाभिधीयत इति ह्रस्वानामिति बहुवचनम् । तत्र ह्रस्वनिर्देशेऽण्त्वादाकृतिपक्षे वा यस्माधिक्याभावाद् भिन्नकालानां ग्रहणं सिध्यतीत्यर्थः ॥

उद्द्योतः

व्यक्तिगतताया अपि न ग्रहणमिति भावः ॥ भिन्नभिन्नव्याप्यजातिस्वीकारे तु निर्दिष्ट-व्याप्यजातेः प्लुतेऽभाव एवेत्यपि बोध्यम् । एत्वजातेस्तु प्लुते सत्त्वात्तेन प्लुतग्रहणं भवत्येव । ततो लघुव्यक्तेरभावाच्च ॥ नन्वेवं भाष्येऽनण्त्वादिति हेतुरसङ्गतोऽत आह–आकृतिपक्षेऽपीति । ईदृशे विषये तत्तदित्वादिजातिविशिष्टा व्यक्तिरेव गृह्यत इत्यर्थः ॥ जातिप्राधान्ये फलाभावाद् व्यक्तिद्वारा कार्यसंबंधाश्रयणे गौरवाच्च तस्यायुक्तत्वाच्च। तद्विशिष्टव्यक्तिग्रहणेऽप्यण्त्वाभावान्न तौ ग्राहकाविति भावः ॥

भाष्ये तस्माद्दीर्घाणामेव तपराणामिति । गुणान्तरयुक्तसङ्ग्रहायासन्देहाय चेत्यर्थः ॥

भावबोधिनी

अण् न होना । [दीर्घ ई, ऊ का अण् में पाठ नहीं है अतः ई ऊ सवर्णों के ग्राहक नहीं माने जा सकते ।]

यदि अतपर ह्रस्वों (ई, ऊ, ए) की प्रगृह्य संज्ञा कही जाय [तो क्या हानि है ?]

ऐसा नहीं कहा जा सकता । क्योंकि तब तो यहाँ भी प्रगृह्य संज्ञा प्रसक्त होने लगेगी—अकुर्वहि + अत्र, अकुर्वह्यत्र । [प्रगृह्य संज्ञा होने से प्रकृतिभाव होगा, यण् सन्धि नहीं होगी । 'अकुर्वहि' उत्तमपुरुष द्विवचन का रूप है । यद्यपि 'ए' ह्रस्व नहीं होता है तथापि साहचर्यवशात् इसे भी ह्रस्व कह दिया गया है ।]

इस (दोष) के कारण दीर्घ ही तपरों की प्रगृह्य संज्ञा कहनी चाहिए । और दीर्घों की कही गई संज्ञा प्लुतों की नहीं प्राप्त होती है ।

(समाधानभाष्यम्)

एवं तर्हि किं न एतेन यत्नेन—यत्—'सिद्धः प्लुतः स्वरसंधिषु' इति। असिद्धः प्लुतः। तस्यासिद्धत्वात्तत्काला एव भवन्तीति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

कथं यत्तज्ज्ञापकमुक्तम्—"प्लुतप्रगृह्या अचि" इति ?

(समाधानभाष्यम्)

प्लुतभावी प्रकृत्या इत्येवमेतद्विज्ञायते ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

कथं यत्तत्प्रयोजनमुक्तम् ?

प्रदीपः

प्लुतभावीति। प्लुतो भावी यस्य सः प्लुतभावी स्थानी प्रकृतस्तस्यैव प्रकृतिभावः ॥ ननु प्लुतस्यासिद्धत्वात् स्थान्यपि प्लुतभावित्वात् प्लुतव्यपदेशं कथं लभते ? नैष दोषः। प्लुतो ह्यस्य भावीति बुद्ध्या प्रकल्पनमेतत्। न च तत्र प्लुतस्यासिद्धत्वम्, अन्यथा प्लुतोऽसिद्ध इत्ययमपि व्यवहारो न स्यात् ॥

उद्द्योतः

कर्मधारयभ्रमं व्युदस्यति—प्लुतो भावीति ॥ यद्यप्याश्रयासिद्धत्वेनापि सिध्यति; तथापि शास्त्रबाधापेक्षया लक्षणाश्रयणमुचितमिति भाष्याभिप्रायः ॥ प्रकृत इति। प्लुतशब्देन बोधित इत्यर्थः ॥ बुद्ध्येति। शास्त्रीये कार्येऽसिद्धत्वम्, नचायं व्यवहारः शास्त्रीयं कार्यमिति भावः ॥

भावबोधिनी

यदि ऐसी बात है तो हमें इस यत्न से क्या लाभ कि—'स्वरसन्धियों में प्लुत सिद्ध रहता है।' [हमारे अनुसार तो] प्लुत असिद्ध ही रहता है। इस प्लुत के असिद्ध हो जाने पर ईकार आदि तत्काल अर्थात् दो मात्रा काल वाले ही रह जायेंगे।

[प्लुत को सिद्ध मानने में] जो 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' ज्ञापक कहा गया, उसका क्या होगा ?

प्लुतभावी का प्रकृतिभाव होता है ऐसा ज्ञापित किया जायगा। [भाव यह है कि जिसका प्लुत आगे होना है उस वर्तमान प्लुतरहित में भी प्लुतबुद्धि करके प्रकृतिभाव कर लिया जायगा। ऐसा 'प्लुतप्रगृह्या' सूत्र का आश्रय मान लिया जायगा।]

अच्छा तो अब जो उस ज्ञापन का फल कहा गया था, वह कैसे उपपन्न होगा ?

(समाधानभाष्यम्)

क्रियते तन्न्यास एव—"अप्लुतादप्लुते" इति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

एवमपि यत्सिद्धे प्रगृह्यकार्यं तत्प्लुतस्य न प्राप्नोति—"अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः" (८।४।५७) इति ॥

प्रदीपः

कार्यकालपक्षमाश्रित्याह—एवमपीति। ततश्चाग्नी ३ इत्यत्राप्रगृह्यस्येत्यनुनासिकप्रतिषेधे क्रियमाणे प्लुतस्य सिद्धत्वात् प्रगृह्यत्वाभावादनुनासिकः स्यात् ॥

उद्द्योतः

कार्यकालपक्षमाश्रित्येति। अयं भावः—तत्र पक्षे संज्ञाशास्त्राणां न पृथग्बोधकत्वम्। पूर्वत्रासिद्धमिति चातिदेशः कार्यार्थः। कार्यज्ञानं च वाक्यार्थबोधोत्तरमिति यद्देशे वाक्यार्थबोधस्तद्देशस्थत्वमेव तस्य। किं च पूर्वत्रासिद्धमित्यस्याधिकारत्वेन पूर्वत्रेदमसिद्धमिति तदर्थः। तत्र कार्यकालपक्षे तत्तद्देशोपस्थितसंज्ञापरिभाषाणामप्यसिद्धत्वबोधनम्। एवं च प्लुतदृष्ट्याऽनुनासिकविधेरसिद्धत्वेन तदेकवाक्यतापन्नस्यास्यापि तद्दृष्ट्याऽसिद्धत्वेन प्लुतशास्त्रेऽनुवृत्तपूर्वत्रासिद्धमित्यत्र पूर्वग्रहणेन ईदूदेद्, अदसो मादित्यस्य ग्रहीतुमशक्यत्वमिति॥ यथोद्देशे तु स्वातन्त्र्येण संज्ञादीनां कार्यबोधकत्वात्तत्प्रति प्लुतासिद्धत्वबोधनं शक्यमेव॥ एतेन—कार्यकालपक्षेऽपि पाठकृतपूर्वत्वाक्षतिरित्यपास्तम्॥ भाष्ये—यत् सिद्धे प्रगृह्येति। प्लुते सिद्धकाण्डस्थे यत् प्रगृह्यकार्यमित्यर्थः। यत्प्रगृह्यकार्यदृष्ट्या प्लुतः सिद्धस्तदिति यावत्॥

भावबोधिनी

['अतो रोरप्लुतादप्लुते' इस सूत्र में 'अप्लुतात्' 'अप्लुते' दोनों के ग्रहण न करने की बात कही गई थी क्योंकि प्लुत असिद्ध होने पर तपरकरण से ही दीर्घ की निवृत्ति संभव है। अतः 'अप्लुतात्', 'अप्लुते' का ग्रहण अनावश्यक है।]

यह तो उस न्यास = सूत्र में पाणिनि द्वारा किया ही जा चुका है—अतो रोरप्लुतादप्लुते'। [अतः इस पर विचार अनावश्यक है।]

ऐसा होने पर भी अर्थात् पूर्वपक्षी द्वारा कहा गया ज्ञापक तथा उसका प्रयोजन इन दोनों के निरस्त हो जाने पर भी [जिस प्रगृह्यसंज्ञा के कार्य की दृष्टि में] प्लुत सिद्ध रहता है वह कार्य प्लुत का नहीं प्राप्त होता है। जैसे—'अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः' (८।४।५७)।

विमर्श—यह सूत्र प्रगृह्यसंज्ञक से भिन्न अण् का अनुनासिक करता है। अतः अग्नी ३ इति इसमें प्लुत ई को प्रगृह्यसंज्ञा हो जाने से इसका अनुनासिक नहीं होता

(समाधानभाष्यम्)

एवं तर्हि किं न एतेन यत्नेन—'कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्' इति । यथोद्देश-मेव संज्ञापरिभाषम् । अत्र चासावसिद्धः । तस्यासिद्धत्वात्तत्काला एव भवन्ति ॥

(इति तपरप्रयोजननिरूपणम्)

प्रदीपः

यथोद्देशपक्षाश्रयेण परिहारः—कथं पुनरयं पक्षः, यावता कार्यार्थित्वात्संज्ञापरि-भाषस्य कार्यकालतैव न्याय्या ॥ नैष दोषः । यदाऽनुद्दिश्य प्रयोजनविशेषं प्रयोजन-मात्रमभिसन्धाय—भविष्यति किंचिदनेन प्रयोजनमिति संज्ञापरिभाषं प्रणीयते, तदा संभवत्येवायं पक्षो यथाश्रुतग्राहिप्रतिपत्त्रपेक्षः । महावाक्यार्थपर्यालोचनप्रवृत्तप्रतिपत्त्र-पेक्षस्तु कार्यकालपक्षः ॥

उद्द्योतः

यथोद्देशेति ॥ नन्वत्र पक्षेऽग्नी ३ इत्यादौ प्लुतस्यासिद्धत्वेन ततः प्रागेव प्लुता-भावपक्षेऽनुनासिकप्रतिबन्धेन फलवत्यां संज्ञायां ततः प्लुते तं द्विमात्रत्वेन पश्यन्त्या अपि संज्ञायाः पुनः प्रवृत्तौ बीजाभावादलिवधित्वेन स्थानिवत्त्वाभावाच्चाप्रगृह्यत्वेना-नुनासिकः स्यादिति चेन्न । संज्ञायाः कार्यार्थतया पुनः प्रवृत्तौ कार्यसिद्धिरूपबीजस्य सत्त्वेन पुनस्तस्याः सुलभत्वात् । एतदेव ध्वनयता प्लुतस्यासिद्धत्वात्तत्काला एव भवन्तीत्येवकारः प्रयुक्तः । प्लुतात्प्राक् संज्ञायां च तत्काला एवेति तदर्थं इत्यलम् ॥ प्रणीयते = बोध्यते ॥

भावबोधिनी

है । कार्यकाल पक्ष में विधिदेश ही संज्ञा तथा परिभाषा शास्त्रों का भी देश मान लिया जाता है । अतः 'अणोऽप्रगृह्यस्य' (८।४।५७) के साथ एकवाक्यतापन्न 'ईदूदेद्' इस संज्ञा सूत्र की दृष्टि में 'दूराद्धूते च' (८।२।८४) से विहित प्लुत सिद्ध ही है । अब द्विमात्रिक ईकार नहीं दिखाई देगा तब 'ईदूदेद्' से प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी । फलस्वरूप अनुनासिक का निषेध नहीं होगा, अनुनासिक होने लगेगा । यह दोष कार्यकाल पक्ष में ही है ।

(अनु०) यदि ऐसा है तो हमें इससे क्या लेना देना—'कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्' अपितु 'यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम्' यही रहे । इस पक्ष में यह प्लुतविधि असिद्ध ही है । इसके असिद्ध होने से तत्काल वाले = द्विमात्रिक ही रहते हैं । [भाव यह है कि अनुनासिक-विधायक ८।४।५७ की दृष्टि में प्लुतविधायक ८।२।८४ सिद्ध रहने पर भी प्रगृह्य संज्ञा-विधायक की दृष्टि में तो प्लुत शास्त्र असिद्ध ही है—"पूर्वत्रा-

(अथ द्विवचनविशेषणताविचारभाष्यम्)

कथं पुनरिदं विज्ञायते—ईदादयो यद् द्विवचनम्, आहो स्विदीदाद्यन्तं यद् द्विवचनमिति ॥

(विशेषजिज्ञासाभाष्यम्)

कश्चात्र विशेषः ?

प्रदीपः

कथं पुनरिति। ईदादयो यदि संज्ञिनस्तद्विशेषणं तु द्विवचनं तदा द्विवचनान्तत्वमीदादीनां न संभवतीति द्विवचनानामेवेदादीनां संज्ञया भाव्यम्। अथ द्विवचनं संज्ञि तद्विशेषणमीदादयस्तदा तदन्तविधिरप्रधानेन प्रधानस्येतीदाद्यन्तं द्विवचनमिति पक्षः ॥

उद्द्योतः

ईदादय इति। प्राथम्याददसोमादित्यनेनैकरूप्याच्चेति भावः ॥ तदेति। अन्तशब्दोऽवयववचनस्तदन्तस्येति बहुव्रीहिश्चेत्यर्थः ॥ अथेति। संज्ञाया आनन्तर्याद्येन विधिरित्यस्यानुग्रहाच्चेति भावः ॥

भावबोधिनी

सिद्धम्"। अतः द्विमात्रिक ही ईकार दिखाई देगा, प्रगृह्य संज्ञा होगी जिससे—अग्नी में ईकार अनुनासिक नहीं होगा।]

विमर्श—भाष्यकार ने यहाँ चार पक्ष उपस्थित किये हैं—

(१) ईकार, ऊकार, एकार रूप जो द्विवचन उनकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है।

(२) ईकारान्त, ऊकारान्त, एकारान्त जो द्विवचन उनकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है।

(३) ईकारान्त, ऊकारान्त, एकारान्त जो द्विवचनान्त उनकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है।

(४) ईकारान्त, ऊकारान्त, एकारान्त जो द्विवचन तदन्त जो शब्दसमुदाय उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है।

उपर्युक्त चार पक्षों के गुण-दोषों पर विचार करने के उपरान्त भाष्यकार ने दूसरे पक्ष को ही उचित सिद्ध किया है।

द्विवचन की विशेषणता पर विचार

इस सूत्र में कैसा अर्थ समझा जाता है—ईद् ऊद् एद् (ई ऊ ए) रूप जो द्विवचन (उनकी प्रगृह्य संज्ञा होती है) अथवा ईकारान्त, ऊकारान्त, एकारान्त जो द्विवचन (उनकी प्रगृह्य संज्ञा होती है ? [ईकारादि रूप द्विवचन अथवा ईकाराद्यन्त द्विवचन—इनमें किसको प्रगृह्य संज्ञा माननी चाहिये ?]

इन (दोनों पक्षों) में क्या भेद है ?

(१५० प्रथमपक्षे दोषप्रदर्शकवार्तिकम् ॥ २ ॥)

॥ * ॥ ईदादयो द्विवचनं प्रगृह्या इति चेदन्त्यस्य विधिः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

ईदादयो द्विवचनं प्रगृह्या इति चेद् अन्त्यस्य प्रगृह्यसंज्ञा विधेया-पचेते इति, पचेथे इति ॥

(दूषणबाधकभाष्यम्)

वचनाद्भविष्यति ॥

(दूषणसाधकभाष्यम्)

अस्ति वचने प्रयोजनम् ॥

किम् ?

प्रदीपः

तत्रोभयोरपि पक्षयोर्दोषदर्शनात् प्रश्नः ॥

भाष्ये पचेते इति। एकारोऽत्र द्विवचनं न भवति, अपि तु तस्यान्तः ॥

वचनादिति। द्विवचनावयवे द्विवचनशब्दो वर्तिष्यत इत्यर्थः ॥

अस्तीति। मुख्ये संभवति गौणस्य ग्रहणमन्याय्यमित्यर्थः ॥ खट्वे इतीति।

उद्द्योतः

भाष्ये अन्त्यस्येति। द्विवचनान्त्यस्य वर्णस्येत्यर्थः ॥

गौणस्येति। जघन्यत्वसामान्याल्लाक्षणिकमपि गौणपदेन गृह्यत इति भावः ॥

भावबोधिनी

(१) प्रथम पक्ष

(वा०) ईद्, ऊद्, एद् रूप द्विवचन की प्रगृह्य संज्ञा में तदन्त (ईदन्त, ऊदन्त, एदन्त) की प्रगृह्य संज्ञा का विधान करना होगा।

(भा०) ईदादि रूप जो द्विवचन उनकी यदि प्रगृह्य संज्ञा की जाती है तो तदन्त = ईकाराद्यन्त की प्रगृह्य संज्ञा कहनी होगी, जैसे—पचेते इति। पचेथे इति। [इनमें अकेला एकार द्विवचन नहीं है अपितु एकारान्त ही द्विवचन का अन्त्य एकार है। 'आत्मनेपद में 'आताम्, आथाम्' प्रत्ययों में 'टित आत्मनेपदानां टेरे' सूत्र से टि = आम् का एत्व होता है। फलतः—आते, आथे—यह द्विवचन प्रत्यय होने से एकार इसके अन्त में है।]

वचन-सामर्थ्य से हो जायगी अर्थात् द्विवचन शब्द को द्विवचनावयव अर्थ में मान लिया जायगा अतः प्रगृह्यसंज्ञा होने में कोई बाधा नहीं है।

एकाररूप द्विवचन की प्रगृह्यसंज्ञा करने में तो दूसरा प्रयोजन है।

क्या है ?

खट्वे इति, माले इति ॥

(दूषणबाधकद्वितीयपक्षाभ्युपगमभाष्यम्)

अस्तु तर्हि—ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनम्—इति ॥

(१५१ द्वितीयपक्षे दूषणवार्तिकम् ॥ २ ॥)

॥ * ॥ ईदाद्यन्तमिति चेदेकस्य विधिः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

ईदाद्यन्तं द्विवचनमिति चेदेकस्य प्रगृह्यसंज्ञा विधेया-खट्वे इति,माले इति॥

प्रदीपः

अन्तादिवच्चेत्यादिवद्भावादेकारो द्विवचनम् ॥

एकस्येति । असहायस्येत्यर्थः । ईदूतोः केवलयोरेव संभव इति वचनसामर्थ्यात्तयोरेव सिध्यति, एकारान्तस्य तु द्विवचनस्य पचेते इत्यादौ संभवात्खट्वे इत्यत्र न सिध्यतीति दोषः ॥ येन विधिस्तदन्तस्येत्यत्र स्वस्य च रूपस्येति नाश्रितमिति दोषोपन्यासः ॥

उद्द्योतः

प्रथमोपस्थितेदूत्परित्यागेन एकारान्तोदाहरणदाने बीजमाह—ईदूतोरिति ॥ नाश्रितमिति । वार्तिककृतेति शेषः ॥

भावबोधिनी

खट्वे इति, माले इति । [इनमें अन्तादिवद्भाव से एकार द्विवचन मिल जाता है । जब मुख्य प्रयोजन संभव है तो लक्षणा मानकर गौण प्रयोजन की कल्पना उचित नहीं है ।]

(२) द्वितीय पक्ष

प्रथम पक्ष में ऊपर दोष प्रस्तुत करने के बाद अब द्वितीय पक्ष पर विचार किया जा रहा है—

(अनु०) अच्छा तो ईकारान्त, ऊकारान्त, एकारान्त जो द्विवचन [उनकी प्रगृह्य संज्ञा होती है यह मान लिया जाय ।]

(वा०) यदि ईदन्त, ऊदन्त, एदन्त द्विवचन प्रगृह्य माने जाते हैं तो अकेले ई, ऊ, ए द्विवचन की प्रगृह्य संज्ञा करनी होगी ।

(भा०) ईदन्त, ऊदन्त, एदन्त द्विवचन (प्रगृह्य होता है) यदि ऐसा कहते हैं तब तो अकेले ईद्, ऊद्, एद् द्विवचन को प्रगृह्यसंज्ञा करनी होगी—खट्वे इति, माले इति । [इन उदाहरणों में अकेला 'ए' ही द्विवचन मिलता है, एकारान्त द्विवचन नहीं है, अब अलग से इसकी प्रगृह्यसंज्ञा करनी पड़ेगी ।]

(१५२ द्वितीयपक्षे समाधानवार्तिकम् ॥ ४ ॥)

॥ * ॥ न वाद्यन्तवत्त्वात् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

न वा एष दोषः ॥

किं कारणम् ?

आद्यन्तवत्त्वात् । आद्यन्तवदेकस्मिन् कार्यं भवतीत्येवमेकस्यापि भविष्यति ॥

(पक्षान्तराभ्युपगमभाष्यम्)

अथवा एवं वक्ष्यामि—ईदाद्यन्तं यद्द्विवचनान्तम्—इति ॥

प्रदीपः

अथवेति । प्रत्ययग्रहणे यस्मादिति द्विवचनेन तदन्तविधिः, पश्चाद्द्विवचनान्तमीदादिभिर्विशेष्यत इत्ययं तृतीयः पक्षो भवति—ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनान्तमिति ॥ ननु संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणेन तदन्तविध्यभावः सुप्तिङन्तं पदमित्यत्रान्तग्रहणेन ज्ञापित इति कथमेतत्पक्षोपपत्तिः ? चतुर्थपक्षप्रतिक्षेपाय वक्ष्यत्येवैतद्भाष्यकार इति नैतदपूर्वं चोद्यम् ॥

उद्द्योतः

तदन्तविधिरिति । अस्मादेव वचनाच्छब्दस्वरूपं विशेष्यमादायेति भावः ॥ इत्ययं तृतीयः पक्ष इति । व्यपदेशिवद्भावानाश्रयणमस्य बीजम् ॥

भावबोधिनी

(वा०) यह (अकेले की ही प्रगृह्यसंज्ञा का विधान रूप) दोष नहीं है आद्यन्तवद्भाव हो जाने के कारण ।

(भा०) यह दोष नहीं है ।

क्या कारण है ?

आदि और अन्त के समान होने से । 'एक में भी आदि और अन्त के समान कार्य होता है, अतः एक की भी प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी । [भाव यह है कि आदि और अन्त ये सापेक्ष अर्थ के वाचक हैं । अतः एक में ये व्यवहार नहीं हो सकते । परन्तु 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' सूत्र द्वारा एक का भी आदिवद्भाव और अन्तवद्भाव हो जाने से अकेले ई, ऊ, ए भी ईदन्त, ऊदन्त तथा एदन्त हो जाते हैं । अतः 'खट्वे इति' 'माले इति' इनमें प्रगृह्यसंज्ञा हो जाती है ।]

(३) तृतीय पक्ष

[अब तीसरा पक्ष प्रस्तुत है–] अथवा इस प्रकार से कहेंगे—ईदाद्यन्त होते हुए जो द्विवचनान्त अर्थात् ईद्, ऊद्, एद् जिनके अन्त में हों ऐसे जो द्विवचनान्त उनकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है । [अब कोई दोष नहीं है ।]

(१५३ आक्षेपवार्तिकम् ॥५॥)

॥*॥ ईदाद्यन्तं द्विवचनान्तमिति चेल्लुकि प्रतिषेधः ॥*॥

(भाष्यम्)

ईदाद्यन्तं द्विवचनान्तमिति चेल्लुकि प्रतिषेधो वक्तव्यः। कुमार्योरगारं--कुमार्यगारम्। वध्वोरगारं--वध्वगारम्। एतद्धीदाद्यन्तं श्रूयते, द्विवचनान्तं च भवति प्रत्ययलक्षणेन॥

प्रदीपः

दोषान्तरेणेमं पक्षं निराकर्तुमाह-- लुकि प्रतिषेध इति। दोषसद्भावेनैवास्य पक्षस्य निराकरणात्तदन्तविध्यभावोऽत्र नोक्तः। कुमार्यगारमिति॥ कथं पुनरस्य द्विवचनान्तस्य समासो, यावता वृत्तौ संख्याविशेषो न गम्यते॥ नैष दोषः। यथा तावकीन इत्यादावादेशेन संख्याविशेषो व्यज्यते तथेहापि सत्यां प्रगृह्यसंज्ञायां प्रकृतिभावेन द्वित्वं व्यज्येतेति दोषोपन्यासः॥

उद्द्योतः

तदन्तविध्यभावोऽत्र नोक्त इति। ईदादिभिः श्रूयमाणत्वेन द्विवचनविशेषणमेव न्याय्यमित्येतत्पक्षासंभवरूपो दोषो नोक्त इत्यपि बोध्यम्॥ आदेशेनेति। एकार्थयुष्मदादेविहितेन तवकाद्यादेशेनेत्यर्थः॥ प्रकृतिभावेनेति। अन्यथाऽनुपपद्यमानेनेत्यर्थः। एवं हि सिद्धान्ते प्रगृह्यत्वाभावेन द्वित्वव्यञ्जकाभावादस्य प्रयोगस्यासाधुत्वापत्तिः। असाधुप्रयोगे च भगवतोऽश्रद्धेयतापत्तिः। अतः पूर्वपदार्थतावच्छेदकरूपेणैव बोधो न तु सङ्ख्यावत्त्वेनेत्येव भाष्यसंमतम्। अतो वृत्तौ सङ्ख्यानवगमेऽप्यनेकार्थप्रतीत्या तथाविग्रहे बाधकभाव इति बोध्यम्॥

भावबोधिनी

(वा०) यदि ईदाद्यन्त होते हुए जो द्विवचनान्त उस शब्दरूप की प्रगृह्यसंज्ञा होती है तब तो [द्विवचन प्रत्यय के] लुक् में प्रतिषेध करना होगा।]

(भा०) ईदाद्यन्त जो द्विवचनान्त शब्दरूप उसकी यदि प्रगृह्यसंज्ञा होती है तब तो (द्विवचन प्रत्यय के) लुक् में प्रगृह्यसंज्ञा का प्रतिषेध कहना होगा। उदा० कुमार्योः अगारम् = कुमार्यगारम्, वध्वोः अगारम्=वध्वगारम्। ये (कुमारी, वधू) ईदन्त, ऊदन्त सुनाई देते हैं और प्रत्ययलक्षण से द्विवचनान्त भी हैं। [इनमें षष्ठी-समास में द्विवचन प्रत्यय का लुक् हो जाने पर 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' सूत्र से द्विवचनान्त मान लिया जाता है और ईदन्त, ऊदन्त सुनाई ही देता है। अतः ईदाद्यन्त द्विवचनान्त हो जाने से प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त है, उसका प्रतिषेध कहना होगा जिससे यण् हो सके।]

(१५४ समाधानवार्तिकम् ॥६॥)

॥*॥ सप्तम्यामर्थग्रहणं ज्ञापकं प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधस्य ॥*॥

(भाष्यम्)

यदयम् 'ईदूतौ च सप्तम्यर्थे' (१।१।१९) इत्यर्थग्रहणं करोति, तज्ज्ञापयत्याचार्यो न प्रगृह्यसंज्ञायां प्रत्ययलक्षणं भवतीति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

तर्हि ज्ञापकार्थमर्थग्रहणं कर्तव्यम् ॥

(समाधानभाष्यम्)

न कर्तव्यम् । ईदादिभिर्द्विवचनं विशेषयिष्यामः, ईदादिविशिष्टेन च

प्रदीपः

सप्तम्यामिति । ईदूतौ सप्तमीत्येव तदन्तविधौ सति प्रत्ययलक्षणेन सोमो गौरी अधिश्रित इत्यादौ सिद्धायां प्रगृह्यसंज्ञायामर्थग्रहणं ज्ञापयति—प्रगृह्यसंज्ञाप्रकरणे प्रत्ययलक्षणं न भवतीति ॥

तर्हीति । आद्यन्तवद्भावानाश्रयणाय तृतीयः पक्षः परिगृहीतः । तत्र च दोषप्रतिविधानार्थमधिकमर्थग्रहणं ज्ञापकार्थं कर्तव्यं भवतीति सुतरां गौरवं भवतीत्यर्थः ॥

ईदादिभिरिति । अत्र पक्षे कुमार्यगारमित्यत्राप्रसङ्गः । न ह्यत्रेदूदेदन्तं द्विवचनम्,

उद्द्योतः

सुतरामिति । अकरणात् करणं गुरु, तस्य च ज्ञापकत्वेनाश्रयणमिति सुतरां गौरवमित्यर्थः ॥

ईदादिभिरिति भाष्ये । श्रुतस्य श्रुतेन संबन्धो न्याय्य इति भावः ॥ साक्षात्

भावबोधिनी

(वा०) 'ईदूतौ च सप्तम्यर्थे' इस सूत्र में (आचार्य द्वारा) जो 'अर्थे'—इसका ग्रहण है वह प्रत्यक्षलक्षण के प्रतिषेध का ज्ञापक है ।

(भा०) 'ईदूतौ च सप्तम्यर्थे' (१।१।१९) इस सूत्र में आचार्य पाणिनि जो 'अर्थे' इसका ग्रहण करते हैं उससे आचार्य यह ज्ञापित करते हैं कि प्रगृह्यसंज्ञा में प्रत्ययलक्षण नहीं होता है । [भाव यह है कि 'ईदूतौ सप्तमी' इतना ही सूत्र कहा जाता 'सोमो गौरी+अधिश्रितः' आदि में प्रगृह्यसंज्ञा हो जाती क्योंकि तदन्तविधि होने पर प्रत्ययलक्षण से ही ईदन्त द्विवचनान्त हो जाता । 'अर्थे' ग्रहण व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करता है कि प्रगृह्यसंज्ञाविषय में प्रत्ययलक्षण नहीं होता है ।]

तब तो क्या इस ज्ञापक के लिये 'अर्थे' का ग्रहण करना चाहिए ।

(४) चतुर्थ पक्ष

नहीं करना चाहिए । ईदादि के द्वारा द्विवचन को विशेषित करेंगे तथा ईदादि

द्विवचनेन तदन्तविधिर्भविष्यति–ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनं तदन्तमीदाद्यन्तम्–इति॥

(आक्षेपभाष्यम्)

एवमप्यशुक्ले वस्त्रे शुक्ले समपद्येतां—शुक्ल्यास्तां वस्त्रे इत्यत्र प्राप्नोति। अत्र हीदादि च द्विवचनं तदन्तं च भवति प्रत्ययलक्षणेन ॥

प्रदीपः

किं तर्हि ? ओसिति सकारान्तम् ॥ तदन्तमिति द्विवचनान्तम् ॥ ईदाद्यन्तमिति। ईदादिभिः साक्षात्समुदायस्य संबन्धाभावादीदादिशब्देनेदाद्यन्तमुच्यते तेनेदाद्यन्तान्तमित्यर्थः ॥

शुक्ल्यास्तामिति। शुक्लशब्दाद् द्विवचनमौ तस्य नपुंसकाच्चेति शीभावः ततश्च्विप्रत्ययः। शीशब्दस्य सुप इति लुक्। अस्य च्वावितीत्वम्। तद्धितान्तत्वात्सुप्। तस्याव्ययादिति लुक्। अत्र हि शीशब्द ईकारान्तं द्विवचनम्,तदन्तश्च समुदायः प्रत्ययलक्षणेनेति प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्नोति ॥ अत्र हीदादि च द्विवचनमिति। ईदादिशब्देनेदाद्यन्तमुच्यते ॥

उद्द्योतः

द्विवचनमनपेक्ष्य ॥ समुदायस्य = प्रत्ययान्तस्य ॥

भावबोधिनी

विशिष्ट द्विवचन से तदन्तविधि होगी—'ईदाद्यन्त जो द्विवचन तदन्त जो (समुदाय) ईदाद्यन्त उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है।

विमर्श—भाव यह है 'अर्थ' का ग्रहण नहीं करना चाहिए। इस सूत्र में पहले ईदादि से द्विवचन को विशेषित करेंगे। विशेषण में तदन्तविधि होने से ईदाद्यन्त द्विवचन यह अर्थ होगा। पुनः ईदाद्यन्तविशिष्ट द्विवचन को शब्दरूप का विशेषण बनाने पर तदन्तविधि होने से—ईदाद्यन्त जो द्विवचन तदन्त जो शब्दरूप उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है। कुमार्यगारम् आदि में प्रत्ययलक्षण से द्विवचनान्त तो होगा किन्तु वह ईदाद्यन्त नहीं अपि तु ओस् = सकारान्त होगा। अतः इनमें प्रगृह्यसंज्ञा की आपत्ति नहीं है।

(अनु०) ऐसा अर्थात् ईदाद्यन्त जो द्विवचन तदन्त शब्दरूप की प्रगृह्य संज्ञा मानने पर उक्त में दोष न रहने पर भी—अशुक्ले वस्त्रे शुक्ले समपद्येताम्–शुक्ल्यास्तां वस्त्रे—इसमें प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती है। क्योंकि इसमें ईद् आदि द्विवचन है और प्रत्ययलक्षण से तदन्त हो जाता है।

(समाधानभाष्यम्)

अत्राप्यकृते शीभावे लुग्भविष्यति ॥

(आक्षेपसाधकभाष्यम्)

इदमिह संप्रधार्यं लुक् क्रियतां, शीभाव इति ॥
किमत्र कर्तव्यम् ?

प्रदीपः

क्वचित्तु पाठ ईदाद्यन्तं च श्रूयत इति, तत्रैवं व्याख्येयम्—ईदाद्यन्तं च श्रूयते सूत्रे तदन्तविधिरीदादिभिर्द्विवचनस्याश्रीयत इत्यर्थः। यस्त्वयमस्य च्वावितीकारः,स द्विवचनस्य न कश्चिदिति न तदभिप्रायेण भाष्यं व्याख्येयम् ॥

उद्द्योतः

अन्यत्र पक्षे न द्विवचनेनेदादि विशेष्यत इति कथमीदादि च द्विवचनमितीत्यत आह—ईदादीति । तदन्तत्वं चास्य व्यपदेशिवद्भावेन बोध्यम् ॥ श्रूयते सूत्रे इति। यच्छ्रूयते सूत्रे द्विवचनं तदीदाद्यन्तमिति भाष्ये योजनेत्याशयः॥

भावबोधिनी

[भाव यह है 'अशुक्ले शुक्ले सम्पद्येताम् = शुक्ल्यास्ताम् वस्त्रे' यहाँ अभूत-तद्भाव अर्थ में च्वि प्रत्यय होता है। 'शुक्ले' यहाँ नपुंसक द्विवचन में 'औ' का शी = ई आदेश 'नपुंसकाच्च' सूत्र से होता है। च्वि इस तद्धित प्रत्यय में प्राति-पदिक संज्ञा होने से 'ई' = औ प्रत्यय का लुक् 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से होता है। 'अस्य च्वौ' सूत्र से 'शुक्ल' के अ का ई होता है। च्वि का सर्वापहारी लोप होता है। 'ऊर्यादिच्विडाचश्च' सूत्र से अव्यय संज्ञा, फलतः बाद में आने वाले सुप् प्रत्यय का लुक् होता है। अब 'शुक्ली+आस्ताम्' में ईकार सुनाई देता है और जिस औ = ई का लुक् हुआ है वह प्रत्ययलक्षण से मान लेने पर ईकारान्त द्विवचन है। समुदाय का विशेषण बनाने पर तदन्तविधि से ईदाद्यन्त जो द्विवचन तदन्त शब्दरूप मिल जाने से प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होगी। जिससे प्रकृतिभाव होने पर यण् नहीं हो सकेगा। अतः यह अर्थ उचित नहीं है।]

(अनु०) यहाँ भी शी आदेश करने के पूर्व ही 'औ' का लुक् हो जायगा। [फलतः ईकारान्त द्विवचन नहीं मिलेगा। प्रत्ययलक्षण से भी औकारान्त द्विवचन ही मिलेगा। व्यपदेशिवद्भाव से औ भी औकारान्त हो जाता है।]

अच्छा, यहाँ यह निर्णय कर लिया जाय कि पहले लुक् किया जाय अथवा शी आदेश।

इनमें क्या करना चाहिए ?

परत्वाच्छीभावः ॥

(समाधानसाधकभाष्यम्)

नित्यो लुक् । कृते शीभावे प्राप्नोत्यकृतेऽपि प्राप्नोति ॥

(आक्षेपसाधकभाष्यम्)

अनित्यो लुग् । अन्यस्याकृते शीभावे प्राप्नोत्यन्यस्य कृते । शब्दान्तरस्य च प्राप्नुवन्विधिरनित्यो भवति ॥

शीभावोऽप्यनित्यः । न हि कृते लुकि प्राप्नोति । उभयोरनित्ययोः परत्वाच्छीभावः । शीभावे कृते लुक् ॥

(आक्षेपदार्ढ्यभाष्यम्)

अथापि कथंचिन्नित्यो लुक् स्यात्, एवमपि दोषः ॥ वक्ष्यत्येतत्, *पदसंज्ञा-

प्रदीपः

अथापि कथंचिदिति । स्थानिविशेषानपेक्षायां कृताकृतप्रसङ्गित्वेन लुक्शास्त्रस्य

उद्द्योतः

अनित्यत्वेऽपि लुकः शीभावो नित्यश्चेदतुल्यबलत्वात्परत्वादिति पूर्वोक्तमनुपपन्नमतो भाष्ये शीभावोऽप्यनित्य इत्युक्तम् ॥ कृते लुकि तदप्राप्तिस्तु प्रसङ्गरूपषष्ठ्यर्थस्याभावादिति भावः ॥

भावबोधिनी

परवर्ती होने से शी आदेश [पहले करना चाहिए ।]

लुक् नित्य है । शी आदेश करने पर और न करने पर दोनों स्थितियों में प्राप्त है । [अतः कृताकृतप्रसंगी होने से लुक् नित्य है । वही पहले होना चाहिए ।]

लुक् अनित्य है । क्योंकि शी आदेश न करने पर अन्य का अर्थात् औ का और शी भाव करने पर शी का (प्राप्त होने से लुक् अनित्य हो जाता है) । क्योंकि अन्य-अन्य शब्द को प्राप्त होनेवाली विधि अनित्य होती है ।

शीभाव भी अनित्य है क्योंकि (औ का) लुक् कर देने पर शीभाव नहीं प्राप्त होता है । अतः इन दोनों के ही अनित्य हो जाने पर परवर्ती होने के कारण शी ही पहले होता है । शीभाव करने के बाद उसका लुक् होता है । [अतः प्रत्ययलक्षण से ईकारान्त द्विवचन मिल जाने से प्रगृह्यसंज्ञा और प्रकृतिभाव प्राप्त होते हैं ।]

जिस किसी प्रकार यदि लुक् ही नित्य हो जाय तो भी दोष होगा ही । कारण

थामन्तग्रहणमन्यत्र संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिप्रतिषेधार्थम्* इति । इदं चापि प्रत्ययग्रहणम् । अयं चापि संज्ञाविधिः ॥ अवश्यं खल्वस्मिन्नपि पक्षे आद्यन्तवद्भाव एषितव्यः ॥

तस्मादस्तु स एव मध्यमः पक्षः ॥ ईदूदेत् ॥११॥

प्रदीपः

प्रवर्तनादित्यर्थः ॥ अथवा नित्यत्वेन बाधकत्वं लक्ष्यते तेनान्तरङ्गानपीति न्यायेन शीभावस्य लुग् बाधक इत्यर्थः ॥ एवमपि दोष इति । पक्षस्योत्थानमेव नास्तीति तत्पक्षासम्भव एव दोषः ॥ अवश्यमिति । यदाश्रयणभयादयं पक्षोऽङ्गीकृतस्तस्याद्यन्तवद्भावस्यास्मिन्नपि पक्षे पक्षेऽवश्यमाश्रयणमङ्गीकृतम् । अग्नी इत्यत्र ह्रीकार एव द्विवचनं न त्वीकारान्तम् ॥ तस्मादिति । द्वितीय एव पक्षोऽस्त्वित्यर्थः ॥ मणीवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्य इति भाष्यवार्तिककाराभ्यामपठितत्वादप्रमाणमेतत् ॥ मणीवोष्ट्रस्येति तु प्रयोगो वाशब्दस्योपमानार्थस्य । रोदसीवेत्यादिस्तु च्छान्दसः प्रयोगः । छन्दसि तु सर्वे विधयो विकल्प्यन्ते ॥ ११ ॥

उद्द्योतः

अग्नी इतीति । खट्वे इत्यस्याप्युपलक्षणमेतत् ॥ द्वितीय इति । प्रत्ययांशे तदन्तविधिसत्त्वेन पक्षद्वयस्यैकत्वबुद्ध्या तस्य मध्यमत्वोक्तिरिति बोध्यम् ॥ एतदिति । वृत्तिकारोक्तमित्यर्थः ॥११॥

भावबोधिनी

यह है कि आचार्य आगे यह कहेंगे–'पदसंज्ञा-विधायक 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१।४।१४) सूत्र में 'अन्त' शब्द का ग्रहण संज्ञाविधि में प्रत्यय के ग्रहण में तदन्तविधि का प्रतिषेध करने के लिये है। और इस सूत्र में प्रत्ययग्रहण है। और यह भी संज्ञा का विधान करने वाला है। इसलिए इस चतुर्थ पक्ष में भी आद्यन्तवद्भाव अवश्य करना चाहिए।

इस कारण वह पूर्वोक्त मध्यम (द्वितीय) पक्ष ही रहना चाहिए।

विमर्श—यदि पदसंज्ञा करने में तदन्तविधि संभव होती तो 'सुप्तिङन्तं पदम्' इस सूत्र में 'अन्त' का ग्रहण करना व्यर्थ हो जाता, 'सुप्तिङ्' इतने से ही सुबन्त और तिङन्त का ज्ञान हो जाता। यही व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि संज्ञाविधि में प्रत्यय में तदन्तग्रहण नहीं होता है। प्रस्तुत सूत्र में प्रत्ययग्रहण है। ईकारादि द्विवचन प्रत्यय है। इनकी प्रगृह्यसंज्ञा करनी है। अतः तदन्तविधि नहीं होगी। तब ईकाराद्यन्त जो द्विवचन शब्दरूप—यह अर्थ नहीं होगा। इसके अतिरिक्त इसमें अकेले ई ऊ ए की संज्ञा करने के लिये आद्यन्तवद्भाव भी करना होगा। इन अनुपपत्तियों के कारण ही मध्यमपक्ष मानना चाहिए—ईदाद्यन्त द्विवचन की प्रगृह्यसंज्ञा होती है। जहाँ अकेले ई ऊ ए हैं वहाँ भी आद्यन्तवद्भाव से ईदाद्यन्त हो जाते हैं। अतः तृतीय + चतुर्थ को एक मान लेने से मध्यम = द्वितीयपक्ष ही भाष्यकाराभिमत समझना चाहिए ॥११॥

(११ प्रगृह्यसंज्ञासूत्रम् ॥१।१।५ आ. २॥)

अदसो मात् ॥ १।१।१२ ॥

(मूत्वमीत्वयोरसिद्धत्वनिराकरणाधिकरणम्)

(१५५ आक्षेपवार्तिकम् ॥)

॥*॥ मात् प्रगृह्यसंज्ञायां तस्यासिद्धत्वाद्यावेकादेशप्रतिषेधः ॥*॥

(भाष्यम्)

मात्प्रगृह्यसंज्ञायां तस्य ईत्वस्य ऊत्वस्य चासिद्धत्वादयावेकादेशाः प्राप्नुवन्ति, तेषां प्रतिषेधो वक्तव्यः—अमी अत्र, अमू अत्र, अमी आसते, अमू आसाते।

प्रदीपः

अदसो मात् ॥१२॥ मात्प्रगृह्येति ॥ अस्मिन् सूत्रन्यास इत्यर्थः ॥ ऊत्वस्य चेति। चशब्दान्मत्वस्य च। शास्त्रस्यासिद्धत्वाच्च स्थानिलक्षणमेव कार्यं प्राप्नोति, नादेशलक्षणमित्ययादिप्रसङ्गः॥ अमी आसते इत्ययादेशः प्राप्नोति, अमू आसाते इत्या-

उद्द्योतः

अदसो मात् ॥ १२ ॥ अस्मिन्निति। मात्पदघटिते इत्यर्थः ॥ यदि तु अदसो दादित्युच्यते, दात्परश्च पूर्वोत्तरसाहचर्यादवर्णभिन्नोऽज् ओकारैकाररूप एव, तदा न स्याद्दोष इति भावः ॥ इदमेव ध्वनयितुम् 'अदसः प्रगृह्यसंज्ञायाम्' इति नोक्तम् ॥ नन्वीत्वोत्वयोरसिद्धत्वेऽपि अदसो मादित्यत्रेदूदिति निवर्त्य मात्परौकारैकारयोरपि प्रगृह्यात्वान्नायादिप्रसङ्गोऽत आह—चशब्दान्मत्वस्येति। एवं चैदौतोर्मात्परत्वाभावा-

भावबोधिनी

आदसो मात् १।१।१२

[अदस् के मकार से परे ईकार तथा ऊकार की प्रगृह्य संज्ञा होती है।]

(वा०) मकार से परवर्ती की प्रगृह्यसंज्ञा करने में उन (ईत्व, ऊत्व और मत्व आदेश) के असिद्ध हो जाने से अय्, आव् और एकादेश प्राप्त होते हैं।

(भा०) [अदस् के] मकार से परे ई, ऊ की प्रगृह्यसंज्ञा करने में उन ईत्व, तथा ऊत्व (और मत्व) के असिद्ध हो जाने से अय्; आव् तथा एकादेश प्राप्त होते हैं, उनका प्रतिषेध कहना होगा, जैसे—अमी + अत्र, अमू + अत्र, अमी + आसते, अमू + आसाते।

[आशय यह है कि अदस् शब्द से जस् आदि के परे रहते 'त्यदादीनामः'(७।२।१०२)

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

ननु च प्रगृह्यसंज्ञावचनसामर्थ्यादयादयो न भविष्यन्ति ॥

(१५५ आक्षेपसाधकवार्तिकद्वितीयखण्डम् ॥ १ ॥)

॥ * ॥ वचनार्थो हि सिद्धे ॥ * ॥

प्रदीपः

चादेशः । अमी अत्रेत्यत्र एकादेशः ॥ ननु च द्विपदाश्रयत्वाद् बहिरङ्गा अयादयोऽन्तरङ्गेष्वीत्वादिष्वसिद्धा इति पूर्वाभावे कथं पूर्वत्रासिद्धमितोत्वादीनामसिद्धत्वं स्यात् ॥ नैष दोषः । नाजानन्तर्ये इति बहिरङ्गपरिभाषानिषेधात् ॥

ननु चेति । यथोद्देशपक्षे आश्रयात्सिद्धत्वं भविष्यतीत्यर्थः ॥

कार्यकालपक्षमाश्रित्याह—वचनार्थो हीति । वचनस्य प्रयोजनमित्यर्थः ॥

उद्द्योतः

देवमपि न प्रगृह्यत्वप्राप्तिरिति भावः ॥ नन्वीत्वादीनामसिद्धत्वेपि तन्निर्वर्तितौकाराद्यभावेन कथमयादिप्राप्तिः । किं चायादीन्प्रत्यसिद्धत्वेऽपि प्रगृह्यसंज्ञायामाश्रयात्सिद्धत्वेन तत्संज्ञायां तत्सामर्थ्यान्नायादयोऽत आह—शास्त्रेति ॥ नादेशलक्षणमिति । प्रकृतिभाव इत्यर्थः । प्रगृह्यत्वं त्वनुनासिकपर्युदासेन चरितार्थमिति भावः ॥ एकादेशः । एङः पदान्तादतीति ॥ नाजानन्तर्ये इति । उत्तरकालप्रवृत्तिके अयादावजानन्तर्यादिति भाव :॥ त्रैपादिकेऽन्तरङ्गे बहिरङ्गपरिभाषाया अप्रवृत्तेर्विसर्जनीयसूत्रे भाष्ये वक्ष्यमाणत्वान्न दोष इति परे ॥

यथोद्देशेति । नन्वाश्रयात्सिद्धत्वेन प्रगृह्यत्वेऽपि मूत्वादेरसिद्धत्वादयादिकं स्यादेवेति

भावबोधिनी

से टि का अत्व; 'अतो गुणे' (६।१।९७) से पररूप करने पर अद + जस्, 'जसः शी' (७।१।१७)से जस् का शी=ई और गुण करने के बाद 'एत ईद् बहुवचने'।८।२।८१)इस त्रिपादीस्थ सूत्र से दकार का मकार और एकार का ईकार आदेश होता है–अमी । इसी प्रकार 'अदस् + औ में भी त्यदाद्यत्व, पररूप करने के बाद वृद्धिरूप एकादेश करने पर—अदौ बनता है । इसमें 'अदसोऽसेर्दादुदो मः' (८।२।८०) सूत्र से दकार का मकार तथा औकार का ऊकार आदेश होता है–अमू । ये दोनों ही सूत्र त्रिपादीस्थ हैं । अतः सपादसप्ताध्यायीस्थ प्रस्तुत प्रगृह्यसंज्ञा-विधायक सूत्र की दृष्टि में असिद्ध हो जाते हैं । फलतः 'अदे अदौ' इन रूपों के रह जाने पर अय्, आव् तथा पूर्वरूप एकादेश सन्धियाँ प्राप्त होती हैं । अब इनका प्रतिषेध करना होगा ।]

(अनु०) क्यों जी, प्रगृह्यसंज्ञा का विधान किया जाने के कारण अय् आदि आदेश नहीं होंगे ।

(वा०) [ऐसा नहीं कहना चाहिए] क्योंकि जहाँ आदेश सिद्ध रहते हैं वहाँ

(भाष्यम्)

नेदं वचनाल्लभ्यम् । अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम् ॥

किम् ?

यत्सिद्धे प्रगृह्यसंज्ञाकार्यं तदर्थमेतत् स्यात्–"अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः" (१।१।६८) इति ॥

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

नैकं प्रयोजनं योगारम्भं प्रयोजयति । यद्येतावत्प्रयोजनं स्यात्तत्रैवायं

प्रदीपः

नैकमिति । अनेककार्यसिद्धयर्थं संज्ञासूत्रं नैकेन प्रयुज्यत इत्यर्थः । अन्यत्तु सूत्रमेकेनापि प्रयुज्यते – मुदुगादणित्यादि ॥ तत्रैवायमिति । न च तत्रेदूदेद्ग्रहणं कर्तव्यं मादिति

उद्द्योतः

चेन्न । एवमपि संज्ञाशास्त्रवैयर्थ्यादत्रत्याश्रयणेनायादिकं प्रत्यपि सिद्धत्वं ज्ञाप्यत इत्याशयात्॥

भाष्ये यत्सिद्धे इति । न च तत्र पूर्वसूत्रेणैव सिद्धिः । अद्विवचने तदप्रवृत्तेः । पूर्वसूत्रविषये यथोद्देशस्यैव भाष्यकृताङ्गीकाराच्च ॥

नन्वीदाद्युपजीवनायात्र करणमित्यत आह—नचेति । हेऽमुक असका इत्यादौ तु 'अदस' इत्यावर्त्य—न विद्यते दस्य स्थाने सो यस्य तादृशादस—इत्यर्थेनानुनासिकः

भावबोधिनी

के लिए इस वचन का प्रयोजन है, (सार्थक) हैं ।

(भा०) यह सिद्धत्व वचनसामर्थ्य से प्राप्त नहीं होता है । इस वचन = सूत्र का तो दूसरा ही प्रयोजन है ।

कौन सा ?

इन आदेशों के सिद्ध रहने पर जिस प्रगृह्यसंज्ञा का कार्य है वहीं के लिये यह वचन हो जाय (चरितार्थ है)—"अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः" (८।४।५७) । [यह सूत्र परवर्ती है अतः इसकी दृष्टि में ऊत्व ईत्व मत्व असिद्ध नहीं होते हैं । उनमें यह सूत्र चरितार्थ है । इनको प्रगृह्यसंज्ञा होने से अनुनासिक नहीं होता है ।]

केवल एक प्रयोजन किसी संज्ञा सूत्र को बनाने का कारण नहीं हो सकता । यदि केवल इतना ही अर्थात् प्रगृह्यसंज्ञा करके ओदस् को अनुनासिक को रोकना ही प्रयोजन

ब्रूयाद्–"अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकोऽदसो न" इति॥

(१५६ समाधानवार्तिकम् ॥ २ ॥)

॥ * ॥ विप्रतिषेधाद्वा [प्रगृह्यसंज्ञा] ॥ * ॥

(भाष्यम्)

अथवा प्रगृह्यसंज्ञा क्रियतामयादयो वेति। प्रगृह्यसंज्ञा भविष्यति विप्रतिषेधेनेति[1] ॥

प्रदीपः

वा। यस्मादणोऽनुनासिकोऽवसाने विधीयते, पूर्वेण णकारेणाण्ग्रहणमिति असौ अमुके अमुकाभ्यामित्यादावनुनासिकस्याप्रसङ्ग एव। तदेवं कार्यकालेऽपि संज्ञापरिभाषे प्रकरणोत्कर्षेण विधीयमाना प्रगृह्यसंज्ञा सर्वप्रगृह्यकार्यार्थी सत्यसिद्धत्वं बाधिष्यत इत्यर्थः॥

विप्रतिषेधाद्वेति। ०अयावेकादेशप्रतिषेधो वक्तव्यः ० विप्रतिषेधाद्वा प्रगृह्यसंज्ञा ● इति विकल्पार्थो वाशब्दः। नैकं प्रयोजनमित्यादिस्तु परिहारो भाष्यकारेणोक्तो न वार्तिककारेणेति न तदपेक्षो विकल्पः॥

उद्द्योतः

स्वमतेऽपि भवत्येवेति भाष्याशयमाहुः॥ तादृशानामनभिधानमेवेत्यन्ये॥ प्रकरणोत्कर्षेणेति। संज्ञाप्रकरणे उत्कर्षेण = गुरुभूतन्यासेनेत्यर्थः॥ सर्वेति। प्रकृतिभावानुनासिकप्रतिषेधेत्यर्थः॥

भाष्ये विप्रतिषेधाद्वेति। [2]अन्तरङ्गत्वान्मूत्वादौ कृते पदान्तरसमभिव्याहारेऽयादिभ्यः

भावबोधिनी

होता तो 'अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिको अदसो न' ऐसा सूत्र बनाया गया होता। [इसका अर्थ होता कि अदस् शब्द के अण् का अनुनासिक नहीं होता है।]

(वा०) अथवा विप्रतिषेध से (प्रगृह्यसंज्ञा हो जाती है)।

(भा०) अथवा—प्रगृह्यसंज्ञा की जाय या अय् आदि आदेश। इनमें विप्रतिषेध से प्रगृह्य संज्ञा हो जाती है। [भाव यह है कि पदसंस्कारपक्ष में अन्तरङ्ग होने

---

१. वेधेनेनीति। इतिर्हेतौ। यतो विप्रतिषेधेन प्रगृह्यसंज्ञा भविष्यति। अतोऽयादीनां प्रतिषेधो न वक्तव्य इत्यर्थः। तथाच न पाणिनेर्न्यूनतेति भावः॥

२. ननु द्वयोर्युगपत्प्राप्त्यभावेन कथं विप्रतिषेधः, कथं च तेनेष्टसिद्धिः, प्रकृतिभावदृष्ट्या तस्यासिद्धत्वादत आह—अन्तरङ्गत्वादिति॥ पदसंस्कारपक्षे तदानीं प्रगृह्यत्वाप्राप्तेरिति भावः॥ यादिभ्य इति। तद्दृष्ट्या। तद्दृष्ट्या सिद्धत्वात्तत्प्राप्तिः॥ अपिनाऽयादिपरिग्रहः॥ छाया॥

(समाधानबाधकभाष्यम्)

नैष युक्तो विप्रतिषेधः । "विप्रतिषेधे परम्" (१।४।२) इत्युच्यते ॥ पूर्वा च प्रगृह्यसंज्ञा, परेऽयादयः ॥

(समाधानसाधकभाष्यम्)

परा प्रगृह्यसंज्ञा करिष्यते ॥

(समाधानबाधकभाष्यम्)

सूत्रविपर्यासः कृतो भवति ॥

प्रदीपः

नैष युक्त इति । इष्टसिद्धये इति भावः ॥

करिष्यत इति । आश्रयिष्यत—इत्यर्थः ॥

इतरस्त्वगृहीताभिप्राय आह—सूत्रविपर्यास इति ।

उद्द्योतः

परत्वात् संज्ञासिद्धौ तत्सामर्थ्यान्मूत्वादिकं प्रकृतिभावं प्रत्यपि नासिद्धम् । आश्रयाच्च संज्ञां प्रत्यपि नासिद्धमिति भावः ॥

ननु प्रगृह्यसंज्ञाभिनिर्वर्तमानेत्यादि वक्ष्यमाणप्रकारेण घटत एव विरोध इत्ययुक्तमेतदित्यत आह—इष्टेति ।

भावबोधिनी

से पहले मूत्व मीत्व आदेश कर लेने के बाद अन्य पद के समभिव्याहार में प्राप्त अय् आदि की अपेक्षा परे होने से संज्ञा सिद्ध हो जाती है और इसी सामर्थ्य से प्रकृतिभाव तथा अयादि के प्रति भी मूत्व आदि असिद्ध नहीं होता है। और आश्रय होने से संज्ञा के प्रति भी मूत्व आदि असिद्ध नहीं होते हैं। ऐसा कार्यकाल पक्ष में होता है।]

यह विप्रतिषेध उचित नहीं है क्योंकि 'विप्रतिषेध=तुल्यबल वालों के विरोध में परवर्ती कार्य होता है' ऐसा कहा गया है। जब कि यह प्रगृह्य संज्ञा पूर्ववर्ती है और अय् आदि आदेश परवर्ती हैं। [इसमें तो सूत्रों का स्थान परिवर्तित करना होगा।]

[यदि ऐसा है तो] प्रगृह्यसंज्ञा [स्थानपरिवर्तन के बिना ही] परवर्ती बना ली जायगी।

[इसमें तो] सूत्रविपर्यास करना पड़ता है। [क्योंकि अष्टाध्यायी में प्रगृह्य संज्ञाविधायक सूत्र पहले हैं और 'एचोऽयवायावः' (६।१।७८) आदि बाद में हैं। जब तक स्थान नहीं बदला जायगा, प्रगृह्य संज्ञा परवर्ती नहीं हो सकती।]

(समाधानसाधकभाष्यम्)

एवं तर्हि परैव प्रगृह्यसंज्ञा ॥

कथम् ?

"कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्", यत्र कार्यं तत्रोपस्थितं द्रष्टव्यम्। "प्रगृह्यः प्रकृत्या" (६।१।१२५) इत्युपस्थितमिदं भवति "अदसो मात्" इति।

प्रदीपः

अभिप्रायं प्रकाशयितुमाह—एवं तर्हीति ॥

उद्द्योतः

भाष्ये परैवेति। पूर्वपाठेऽपि तत्र वाक्यार्थबोधाभावेनेति भावः ॥

कथमिति। पाठकृतं स्वगतं पूर्वत्वमनपगतमिति प्रश्नः ॥

उत्तरयति—कार्यकालमिति। तत्पक्षे संज्ञाशास्त्रस्य प्रदेशदेश एवार्थबोधः। तदुत्तरं च विरोधोपस्थितिस्तत्कार्यज्ञानं चेति तत्रत्यपरत्वमेव विप्रतिषेधसूत्रप्रवृत्तौ बीजमिति भावः ॥ परैवेत्येवकारेण पाठकृतं पूर्वत्वं विद्यमानमपि विप्रतिषेधसूत्रप्रवृत्तौ न नियामकमिति सूचितम्। परिभाषाणां तु तत्पक्षेऽपि तत्तद्देशेऽर्थबोधोऽस्त्येवेति तद्विषये विप्रतिषेधसूत्रप्रवृत्तौ पाठकृतमेव तन्नियामकमिति तात्पर्यम्। आकडारस्थभ-पदसंज्ञादिविषये तु यथोद्देशपक्ष एवेति तत्र परया पूर्वबाधसिद्धिः ॥ ष्यङः सम्प्रसारणमिति सूत्रस्थं भसंज्ञायाः कार्यकालत्वपरं भाष्यं त्वेकदेश्युक्तिरिति तत्रैव निरूपयिष्यामः ॥

परेतु—परैवेत्यस्य संज्ञापदेन तत्कार्यं प्रकृतिभाव उच्यते इति भावः ॥ आशयानभिज्ञस्य प्रश्नः कथमिति। एकदेशिन उत्तरम् कार्यकालमित्यादीत्याहुः ॥ एतेन "कार्यकालपक्षेऽपि पाठकृतपरत्वमयादीनामेव। अन्यथा ङमो ह्रस्वादचीत्यादौ त्रिपादीस्थे कार्यकालपक्षे एव परिभाषाप्रवृत्त्या परत्वात्तत्र तस्मादित्युत्तरस्येत्येवेति सिद्धान्तासङ्गतिरुभयोरप्येकदेशस्थत्वेन परत्वासम्भवा" दित्यपास्तम् ॥

भावबोधिनी

यदि ऐसी बात है तब प्रगृह्य संज्ञा परवर्ती ही है। [और सूत्रों का स्थान भी नहीं बदलना पड़ता है।]

(यह) कैसे (सम्भव है) ?

'कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्' (यह भी नियम है), जहाँ (जिस देश में) कार्य होता है वहाँ संज्ञा और परिभाषा शास्त्र की उपस्थिति मान लेनी चाहिए। 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' (६।१।१२५) यह सूत्र प्रगृह्य का प्रकृतिभाव कार्य करता है अतः इसमें 'अदसो मात्' यह संज्ञासूत्र उपस्थित हो जायगा। अब यह संज्ञासूत्र भी 'एचोऽयवायावः' (६।१।७८) से परवर्ती हो जायगा। अतः प्रगृह्यसंज्ञा अयादि की बाधक बन जायगी।]

(समाधानबाधकभाष्यम्)

एवमप्ययुक्तो विप्रतिषेधः ॥

कथम् ?

द्विकार्ययोगो हि विप्रतिषेधः । न चात्रैको द्विकार्ययुक्तः । एचामयादयः, ईदूतोः प्रगृह्यसंज्ञा ॥

(समाधानसाधकभाष्यम्)

नावश्यं द्विकार्ययोग एव प्रतिषेधः ॥

किं तर्हि ?

असम्भवोऽपि । स चास्त्यत्रासम्भवः ॥

प्रदीपः

द्विकार्ययोगो हीति । द्वाभ्यां कार्याभ्यां यो युज्यते स विप्रतिषेधविषयत्वाद्-विप्रतिषेधः ॥

उद्द्योतः

द्वाभ्यामिति ॥ योग इति कर्मणि घञ् । द्विकार्यशब्दस्य पात्राद्यन्तत्वादस्त्रीलिङ्गस्य योगशब्देन कर्तृकरणे कृतेति समासः ॥ भाष्ये ईदूतोः प्रगृह्यसंज्ञेत्यस्य तत्कार्यं प्रकृति-भावः इत्यर्थः ॥

भावबोधिनी

इस प्रकार से भी विप्रतिषेध उचित नहीं है ।

कैसे [उचित नही है] ?

दो कार्यों का योग होना ही विप्रतिषेध है । और यहाँ एक ही में दो कार्य एक साथ प्राप्त नहीं हैं । [अपितु भिन्न-भिन्न स्थानियों को भिन्न-भिन्न कार्य प्राप्त हैं ।] एचों (ए औ) के स्थान पर अय् आव् प्राप्त हैं और ई ऊ की प्रगृह्य संज्ञा प्राप्त है । ['अदे' 'अदौ' में ए औ के अय् आव् प्राप्त है और अमू अमी में प्रगृह्य संज्ञा प्राप्त है ।]

एक में (ई, ऊ को) दो कार्यों का एक साथ योग = प्राप्ति की सम्भावना ही विप्रतिषेध नही है ।

तब क्या [विप्रतिषेध] है ?

असम्भव (सम्भव न होना) भी विप्रतिषेध है । और वह असम्भव यहाँ (इस सूत्र के लक्ष्यों में) है ।

कोऽसावत्रासम्भवः ?

प्रगृह्यसंज्ञाभिनिर्वर्तमाना अयादीन् बाधते, अयादयोऽभिनिर्वर्तमाना प्रगृह्यसंज्ञाया निमित्तं विघ्नन्तीत्येषोऽसम्भवः। सत्यसम्भवे युक्तो विप्रतिषेधः ॥

प्रदीपः

असम्भवोऽपीति। असम्भव एव विप्रतिषेधः। स तु कदाचिद् द्विकार्ययोगो भवति कदाचित्केवलोऽपि। तथाहि—सति सम्भवे द्विकार्ययोगो न विप्रतिषेधः, यथैकस्य दधातेरडागमद्विर्वचने भवतः—अदधादिति। क्वचिदेकस्य द्विकार्ययोगाभावेऽप्य-सम्भवोऽस्ति, यथा त्रपूणामित्यत्र नुम्नुटोः प्रकृतिप्रत्ययभक्तयोः परस्परनिमित्त-व्याघात् ॥ अयादीन्बाधत इति। प्रकृतिभावविधानात् ॥ निमित्तमिति। ईत्वमूत्वं च ॥

उद्द्योतः

कदाचिदिति। एवं च प्रकृते केवलासम्भवरूपः स इत्यर्थः। केवलद्विकार्ययोगो न सर्वथा विप्रतिषेध इत्याह—तथाहीति। ईत्वमूत्वं चेति। तद्विघातेन संज्ञाऽभावे तत्कार्यप्रकृतिभावविघातः स्पष्ट एवेति भावः ॥

भावबोधिनी

यहाँ कौन असम्भव है ?

यहाँ अभिनिर्वर्तमान (होती हुई) प्रगृह्य संज्ञा अय् आदि आदेशों का बाध कर लेती है। [क्योंकि प्रकृतिभाव हो जाने से सन्धि कार्य नहीं हो सकते।] और अभिनिर्वर्तमान (होते हुये) अय् आदि आदेश प्रगृह्य संज्ञा के निमित्तों (ई ए) को नष्ट कर देते हैं। इस प्रकार का असम्भव यहाँ है। और असम्भव रहने पर विप्रतिषेध होना उचित है।

विमर्श—सामान्यतया दो तुल्यबलवालों की एक लक्ष्य में प्राप्ति को विप्रतिषेध कहा गया है। किन्तु कैयट ने भाष्य के आधार पर असम्भव को भी विप्रतिषेध माना है और इसकी व्याख्या की है। कभी एक का ही दो विरोधी कार्यों के साथ योग होना असम्भव रूप विप्रतिषेध होता है। और कभी कभी अकेला भी विप्रतिषेध होता है। किन्तु सम्भव रहने पर दो कार्यों का योग भी विप्रतिषेध नहीं होता है, जैसे—धा धातु के लङ् प्रथम पुरुष एकवचन में अड् आगम और द्वित्व दोनों कार्य सम्भव हैं। अतः इनमें विप्रतिषेध नहीं माना जाता है, दोनों कार्य होते हैं। परन्तु कहीं पर एक का ही दो कार्यों के योग के अभाव में भी असम्भव होता है, जैसे—त्रपूणाम्। इसमें नुम् आगम प्रकृति का अवयव है नुट् प्रत्यय का अवयव है। त्रपु + आम् में 'इकोऽचि विभक्तौ (७।१।७३) से प्रकृति को नुम् प्राप्त है। और 'नुमचिर-तृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' वार्तिक से प्रत्यय को नुट् प्राप्त है। इनमें से किसी भी एक के होने पर एक दूसरे के निमित्त का विनाश हो जाता है। अतः केवल प्रतिषेध माना जाता है। इस कारण प्रस्तुत स्थल पर 'केवल' नामक विप्रतिषेध है।

(समाधानबाधकभाष्यम्)

एवमप्ययुक्तो विप्रतिषेधः। सतोर्हि विप्रतिषेधो भवति। न चात्रेत्वोत्वे स्तः। नापि मकारः। उभयमप्यसिद्धम् ॥

(१५७ समाधानसाधकवार्तिकप्रथमखण्डम् ॥ ३ ॥)

॥*॥ आश्रयात् सिद्धत्वं यथा रोरुत्वे ॥*॥

(भाष्यम्)

आश्रयात्सिद्धत्वं भविष्यति। तद्यथा रुरुत्वे आश्रयात् सिद्धो भवति ॥

प्रदीपः

आश्रयात् सिद्धत्वमिति। प्रगृह्यसंज्ञायां कार्यित्वेनाश्रयणादसिद्धत्वाभावादीत्वादीनां तेषामयादीनां च विप्रतिषेधो निरूप्यते। तथाहि सतोर्हि विप्रतिषेधो भवतीति पूर्वपक्षे ईदादीनामेव विप्रतिषेध आक्षिप्तः। तत्रायादीनां चयनं चायकः लवनं लावकः,

उद्द्योतः

केचित्तु—संज्ञाकार्यस्य अयादिभिर्विप्रतिषेधोऽयुक्तः। वाक्यसंस्कारपक्षे मूत्वादितः पूर्वमेवायादिप्राप्त्या मूत्याद्युत्तरं च संज्ञायां तत्प्राप्त्या युगपत्प्राप्त्यभावात्। तस्मात् प्रगृह्यसंज्ञाशब्देन तज्जनकमूत्वादिकं लक्षयित्वा तस्यायादिभिर्विप्रतिषेध इति वार्तिकार्थः॥ तमपि दूषयति—भाष्ये एवमपीति।

कार्यित्वेनाश्रयणादिति। तत्सामर्थ्यादयादीन्प्रत्यपि सिद्धत्वमित्यर्थः॥ यथाद्देशे इदम्। कथं कार्यकालमिति तु प्रकृतिभावायादिविप्रतिषेधविषयम्। इदानीं तु स नेति स्पष्टमेव॥ असिद्धत्वाभावादिति। इत्वादीनामसिद्धत्वाभावादित्यन्वयः॥ सामान्यत एवासिद्धत्वाभावबोधनादित्यर्थः॥ तेषाम् ईत्वादीनाम्॥ परत्वादिति। ईत्वादिषु जातेषु तेषामसिद्धत्वाभावादयादीनामप्रसङ्ग एवेति भावः॥ व्याख्यानान्तरमिति। प्रगृह्यत्वकार्यप्रकृतिभावेनायादीनां विप्रतिषेधपरमेव भाष्यम्। सतोरित्यस्य युगपत्प्राप्तयोरित्यर्थः। वाक्यसंस्कारपक्षे ईत्वादीनामसिद्धत्वेन ततः प्रागेव तत्प्राप्तिः, कृते त्वीत्वादावस्येति न तयोर्युगपत्प्राप्तिरिति भावः॥ तदाह—नचात्रेत्यादि। अत्र = अयादिप्राप्तिकाले। असत्त्वे

भावबोधिनी

(अनु०) ऐसा होने पर भी विप्रतिषेध उचित नहीं है। क्योंकि दोनों के विद्यमान रहने पर ही विप्रतिषेध होता है। परन्तु यहाँ पर न तो ईत्व है और न ऊत्व। और न ही मकार है। ['पूर्वत्रासिद्धम्' के अनुसार] दोनों ही [प्रगृह्य संज्ञा सूत्र की दृष्टि में] असिद्ध हैं।

(वा०) आश्रय होने से सिद्ध है जैसे उत्व के विषय में रु (सिद्ध रहता है)।

(समाधानबाधकाक्षेपभाष्यम्)

किं पुनः कारणं रुत्वे आश्रयात्सिद्धो भवति, न पुनर्यत्रैव रुः सिद्धः, तत्रैवोत्वमप्युच्यते ?

प्रदीपः

अग्नेऽत्रेत्यत्रावकाशः। ईदादीनां तु यत्रायादीनामप्रसङ्गः सोवकाशः, अमी स्थिताः अमू स्थितौ अमीभ्य इति। अमी अत्रेत्यादावुभयप्रसङ्गे परत्वादीदादय एव भवन्ति ॥ अत्र व्याख्यानान्तरं क्लिष्टत्वान्नोपन्यस्तम् ॥

न पुनर्यत्रैवेति। रोः सुपीत्यस्यानन्तरमत उरतीति वक्तव्यम्। एवं चासिद्धत्वं न बाधितं भवति। अत्र पाठक्रमेऽसिद्धत्वस्य प्राप्त्यभावात् प्लुतस्य चोत्वे सिद्धत्वात्तत्कालत्वाभावादप्लुतादप्लुते इति न वक्तव्यं भवति ॥

उद्द्योतः

हेतुः—उभयमसिद्धमिति। पूर्वत्रासिद्धेनेति शेषः ॥ परिहरति—आश्रयादिति। पदसंस्कारपक्ष एवात्राश्रीयत इति भावः। एवंचोभयोर्युगपत् प्राप्तिः। प्रगृह्यसंज्ञायां तत्कार्ये च तयोः सिद्धत्वादयादीन्प्रति चासिद्धत्वादित्युपपन्नो विप्रतिषेध इति ॥ वाक्यसंस्कारपक्षे कृतस्य पूर्वपक्षस्य पदसंस्कारपक्षाश्रयेण परिहार इति क्लेशः ॥

परे तु—अनुक्तेदादिविप्रतिषेधखण्डनतत्समर्थनपरत्वेन व्याख्यापेक्षयेदमेव युक्तं पक्षान्तरैरपि परिहारकरणादित्याहुः ॥

रोः सुपीत्यस्यानन्तरमिति। न चैवं हशि चेत्यस्यैतदुत्तरत्वाद्रोरीति दृष्टाऽसिद्धत्वा-

भावबोधिनी

(भा०) [प्रगृह्य संज्ञा का] आश्रय होने से [ईत्व, ऊत्व, मत्व] सिद्ध रहेंगे। जैसे कि उत्व के विषय में रु आश्रय के कारण सिद्ध रहता है।

विमर्श—भाव यह है कि 'ससजुषोः रुः' (८।२।६६) सूत्र स् का रु करता है। इसी रु का उत्व 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' (६।१।११३) सूत्र से होता है। यहाँ रुत्व त्रिपादीस्थ सूत्र से होता है और उत्व सपादसप्ताध्यायीस्थ सूत्र से। परन्तु सपादसप्ताध्यायीस्थ की दृष्टि में त्रिपादीस्थ सूत्र से विहित रुत्व असिद्ध रहता है। तब उत्व का विधान व्यर्थ होने लगता है। अतः मान लिया जाता है कि आश्रय होने से असिद्धता नहीं होती है। ठीक इसी प्रकार ईत्वादि को आश्रय मान कर प्रकृत सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा होती है। इस कारण इसकी दृष्टि में 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (८।२।८०) से किये जाने वाले ऊत्व मत्व आदि असिद्ध नहीं होते हैं। अतः उनकी प्रगृह्य संज्ञा होने में बाधा नहीं है। अब ईत्वादि के विद्यमान रहने पर विप्रतिषेध सम्भव होने से कार्यकाल पक्ष में परत्वात् प्रगृह्य संज्ञा हो जाती है।

(अनु०) क्या कारण है जो उत्व के विषय में (अतो रोरप्लुतादप्लुते ६।१।११३ में) रुत्व आश्रय होने से सिद्ध रहता है, ऐसा क्यों न किया जाय कि जहाँ रखने पर रु सिद्ध

(भाष्यम्)

नैवं शक्यम् ॥

(१५७ समाधानसाधकवार्तिकसाधकखण्डम् ॥३॥)

॥ * ॥ असिद्धे ह्युत्वे आद्गुणाप्रसिद्धिः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

असिद्धे ह्युत्वे आद्गुणस्याप्रसिद्धिः स्यात्—वृक्षोत्र प्लक्षोत्र। तस्मात्तत्राश्रयात्सिद्धत्वमेषितव्यम्। यथा तत्राश्रयात् सिद्धत्वं भवति। एवमिहाप्याश्रयात्सिद्धत्वं भविष्यति ॥

उद्द्योतः

एतौ मनोरथासिद्धः। ढो ढे लोपः, रोरीत्यनयोर्यरोऽनुनासिक इत्यतः पूर्वं पाठः कार्य इत्याशयात् ॥

भावबोधिनी

रहे वहीं पर उत्व को भी कह दिया जाय। [रोः सुपि (८।३।१६) के बाद 'अत उरति' ऐसा सूत्र बना दिया जाय—अकार से परे रु का उ होता है अकार परे रहते। चूंकि 'ससजुषो: रुः' (८।२।६६) सूत्र 'रोः सुपि' (८।३।१६) से पहले पठित है। बाद वाले की दृष्टि में पहले वाला सिद्ध ही रहता है। अतः 'पूर्वत्रासिद्धम्' का प्रसङ्ग ही नहीं आता है। इसके अतिरिक्त प्लुत प्रकरण के सूत्र भी 'अत उरति' से पूर्व ही पठित हैं, इसलिये प्लुत भी सिद्ध रहेगा। फलतः 'अतः' के तपरकरण से प्लुत त्रिमात्रिक की निवृत्ति भी हो जायगी। 'अप्लुतादप्लुते' इतना अधिक सूत्र में नहीं कहना होगा।]

ऐसा नहीं कहा जा सकता अर्थात् उत्वविधायक का स्थान बदलना सम्भव नहीं है।

(वा०) उत्व के असिद्ध होने पर 'आद्गुणः' की प्रसिद्धि = सार्थकता नहीं होगी।

(भा०) उत्व के असिद्ध होने पर–वृक्षोऽत्र, प्लक्षोऽत्र–इनमें 'आद्गुणः',(६।१।८७) इसकी अप्रसिद्धि = अप्रवृत्ति होगी। [उत्व-विधायक सूत्र यदि त्रिपादी में पढ़ दिया जायगा तो सपाद-सप्ताध्यायीस्थ 'आद्गुणः' की दृष्टि में असिद्ध होने से गुण नहीं होगा।] अतः आश्रय के कारण ही उसमें सिद्धत्व मानना चाहिये। इस कारण उत्व की कर्तव्यता में आश्रय होने से जैसे रुत्व सिद्ध होता है वैसे ही यहाँ (प्रस्तुत सूत्र में) भी आश्रय होने के कारण ही ईत्व आदि सिद्ध रहेंगे। [यदि 'रोः सुपि' के बाद 'अत उरति' यह सूत्र पढ़ा जायगा तो यह सूत्र त्रिपादी का हो जाने से सपाद-सप्ताध्यायीस्थ

(१५८ समाधानान्तरवार्तिकम् ॥४॥)

[॥ * ॥ [1]वचनसामर्थ्याद्वा ॥ * ॥]

(भाष्यम्)

अथवा प्रगृह्यसंज्ञावचनसामर्थ्यादयादयो न भविष्यन्ति ॥

प्रदीपः

अथ वेति । यथोद्देशपक्षाश्रयेणैतदुच्यते ॥

उद्द्योतः

अनुनासिकपर्युदासेन चारितार्थ्यमाशङ्क्याह–यथोद्देशेति । एतद् वचनसामर्थ्याद्वेति-वार्तिकं तद्व्याख्यानभाष्यं चेत्यर्थः ॥

पूर्वभाष्यस्य व्याख्यान्तरवादिनस्तु वाक्यसंस्कारपक्षेऽप्याह–अथवेति । वस्तुतस्तु प्रकृतिभावोपस्थितसंज्ञायां तयोर्निमित्तत्वेनाश्रयणरूपवचनसामर्थ्यादयादीन्प्रत्यपि सिद्धत्वं ज्ञाप्यते इत्यर्थे कार्यकालेऽपि न दोषः ॥ किं च यथोद्देशेऽपि संज्ञां प्रति निमित्तत्वेनाश्रयणात्तद्दृष्ट्या मीत्यस्य सिद्धत्वेन संज्ञाया अनुनासिकप्रतिबन्धेन चारितार्थ्यमस्त्येव । प्रकृतिभावविषयकसंज्ञोपप्लवसामर्थ्याश्रयणे तु किं विशिष्य यथोद्देशाश्रयणेन ? एवमुपक्रमस्थभाष्येऽपि बोध्यमित्याहुः ॥

भावबोधिनी

'आद्गुणः' की दृष्टि में असिद्ध होने लगेगा । फलतः 'उ' न मिलने से गुण नहीं होगा । इस कारण 'अतो रोर०' (६।१।११३) अपने स्थान पर ही रहे । उत्वविधायक अपने स्थान त्रिपादी में रहे । चूंकि रु का ही उ किया जाता है अतः आश्रय होने से रुत्व असिद्ध नहीं होता है वैसे ही ईत्वादि भी प्रगृह्य संज्ञा के आश्रय होने से असिद्ध नहीं होते हैं । यह प्रथम समाधान है]

(वा०) अथवा प्रगृह्य संज्ञा-वचन के कारण ।

(भा०) अथवा प्रगृह्यसंज्ञा का सूत्र कहा (बनाया) जाने के कारण अय् आदि आदेश नहीं होंगे । [ऊपर कार्यकाल पक्ष मान कर विचार किया गया । यथोद्देश पक्ष में अपना मूल स्थान ही माना जाता है । इसलिये प्रस्तुत सूत्र में ही 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' और 'एत ईद् बहुवचने' सूत्र अपने विधान करने के लिये आते हैं । अब यहीं सपाद-सप्ताध्यायी के हो जाने के कारण 'एचोऽयवायावः' की दृष्टि में असिद्ध नहीं हो सकेंगे । अतः इस वचन के सामर्थ्य से ही अयादि को रोकना होगा ।]

---

१. इतो वार्तिकत्रयं क्वापि भाष्यपुस्तकेषु नोपलभ्यते तथापि उद्द्योतच्छाययोरनुरोधेनास्माभिः कोष्ठकमध्ये दर्शितम् ॥ दधिमथाः ॥

वस्तुतस्तु एतद्वाक्यत्रयस्य वार्तिकत्वाभावोऽग्रेऽन्ये तु इत्यादिना उद्द्योतकृतैव दर्शितः ।

(१५९ समाधानान्तरवार्तिकम् ॥)

[॥ * ॥ योगविभागाद्वा ॥ * ॥]

(भाष्यम्)

अथ वा योगविभागः करिष्यते । "अदसः" अदसः ईदादयः प्रगृह्यसंज्ञा भवन्तीति । ततो "मात्", माच्च परे ईदादयः प्रगृह्यसंज्ञा भवन्तीति । अदस इत्येव ॥

किमर्थो योगविभाग ?

एको यत्तत्सिद्धे प्रगृह्यकार्यं तदर्थः ॥ अपरो यदसिद्धे ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

इहापि तर्हि प्राप्नोति—अमुया, अमुयोरिति ॥

प्रदीपः

कार्यकालतायामप्याह--अथ वेति । अदस इति संबन्धसामान्ये षष्ठी । अदसः संबन्धिन ईदूदेत इति ॥

इहापीति । अदस् टा, अदस् ओस्, अत्वम्, टाप् । सवर्णदीर्घत्वम् । आङि चाप

उद्द्योतः

भाष्ये 'योगविभागाद्वा' इति वार्तिकं व्याचष्टे अथवेति ॥ अदस इत्यस्य पञ्चम्यन्तत्वे उत्तरत्र मादित्यस्य विशेषणानापत्तिरत आह---संबन्धेति ॥ यत्तत् सिद्धे इति । मुत्वे इति शेषः । यत्र कार्ये मुत्वं सिद्धं तत्प्रगृह्यकार्यमित्यर्थः ॥ अपरो यदसिद्ध इति । यत्र मुत्वमसिद्धं तदित्यर्थः ॥

भावबोधिनी

(वा०) अथवा योगविभाग से [इष्ट सिद्ध करना चाहिये] ।

(भा०) अथवा योगविभाग किया जायगा, अर्थात् दो सूत्र बनाये जायेंगे । (१) 'अदसः' (इसका अर्थ होगा) अदस् शब्द के ईकार आदि की प्रगृह्य संज्ञा होती है । इसके बाद (२) 'मात्' यह होगा, इसका अर्थ होगा—(अदस् के) मकार से परे ईकार आदि की प्रगृह्य संज्ञा होती है । [और यह] अदस् के (मकार से ही) ।

यह योगविभाग किसलिये है ?

एक अर्थात् 'मात्' यह दूसरा वाला—जिस प्रगृह्य कार्य में मत्व ईत्व आदि सिद्ध हैं उनके लिये होगा और दूसरा अर्थात् 'अदसः' यह पहला वाला योग असिद्ध मुत्व मीत्व में प्रगृह्य संज्ञा के कार्यों के लिये होगा । [अतः ईत्वादि के सिद्ध या असिद्ध दोनों स्थितियों के होने में कार्य सम्भव हो जायेंगे ।]

तब तो यहाँ भी [प्रगृह्य संज्ञा] प्राप्त होती है—अमुया, अमुयोः । [क्योंकि

किंच स्यात् यद्यत्र प्रगृह्यसंज्ञा स्यात् ?

प्रगृह्याश्रयः प्रकृतिभावः प्रसज्येत ॥

(आक्षेपनिरासभाष्यम्)

नैष दोषः । पदान्तप्रकरणे प्रकृतिभावः । न चैष पदान्तः ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

एवमपि अमुकेत्र, अत्रापि प्राप्नोति ॥

प्रदीपः

इत्येत्वम् । अदे आ अदे ओस् इति स्थिते अदस इत्यत्र मादीति विशेषणाभावात्प्रगृह्य संज्ञायां सत्यामयादेशाप्रसङ्गः ॥

अमुकेत्रेति । अदस इत्यनेन प्राप्नोति ॥

भावबोधिनी

अदस् शब्द से स्त्रीलिङ्ग तृतीया एकवचन में = आ तथा षष्ठी द्विवचन में 'ओस्' विभक्ति परे रहते 'त्यदादीनामः' से टि का अत्व और 'अतो गुणे' से पररूप, टाप् = आ, सवर्ण दीर्घ करने पर अदा + आ, अदा + ओस् इस स्थिति में 'आङि चापः' से आ का ए—अदे आ, अदे ओस्—इस दशा में अदस् का एकार होने से प्रगृह्य संज्ञा होने लगेगी । क्योंकि योगविभाग में 'अदसः' इस प्रथम सूत्र में 'मात्' का सम्बन्ध नहीं है ।]

यदि यहाँ प्रगृह्य संज्ञा होने लगेगी तो क्या (अनिष्ट) हो जायगा ?

प्रगृह्य को मान कर होने वाला प्रकृतिभाव होने लगेगा । [फलतः 'एचोऽयवायावः' सूत्र से अय् आदेश नहीं हो सकेगा । अतः योगविभाग की कल्पना उचित नहीं है ।]

यह (प्रगृह्य संज्ञा का प्रसङ्ग रूप) दोष नहीं है क्योंकि पदान्त के प्रकरण में प्रकृतिभाव कहा गया है । और यह [अदे आ अदे ओस्] पदान्त नहीं है [अपितु पद के मध्य में होने से भ संज्ञा होती है जो पद संज्ञा की बाधिका है ।]

यदि ऐसा है तो भी 'अमुकेऽत्र' यहाँ भी प्रगृह्य संज्ञा प्राप्त होती है । [क्योंकि 'अदसः' इस योग-विभाग में मकार का सम्बन्ध न होने से तथा अदस् सम्बन्धी एकार होने से प्रगृह्य संज्ञा की प्राप्ति है । अदस् से स्वार्थ में अकच् होने पर अदकस् + जस् = शी = में यह रूप बनता है । यदि प्रगृह्य संज्ञा होगी तो पूर्वरूप नहीं होगा ।]

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

द्विवचनमिति वर्तते ॥

(आक्षेपसाधकभाष्यम्)

यदि द्विवचनमिति वर्तते—अमी अत्र, अत्र न प्राप्नोति ॥

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

एवं तर्हि एदन्तमिति निवृत्तम् ।

(१६० समाधानान्तरवार्तिकम् ॥६॥)

[॥*॥ मार्थादीदाद्यर्थानां वा ॥*॥]

प्रदीपः

एदन्तमिति । ईदूतोरेव स्वरित्वप्रतिज्ञानादिति भावः । अननुवृत्तिरेव च निवृत्तिः । यद्येवं माद्ग्रहणं न कर्तव्यम् एद्ग्रहणनिवृत्त्यैवामुकेऽत्रेत्यत्राप्रसङ्गात् । नैतदस्ति । सति माद्ग्रहणे योगविभागो भवति नान्यथा ॥

उद्द्योतः

ननु समस्तत्वात्समुदायानुवृत्तिः स्यात्तत्कथमेतो निवृत्तिरत आह—ईदूतोरेवेति । नान्यथेति । [1]सिद्धान्ते तु व्यर्थमेव माद्ग्रहणमिति भावः ॥

भावबोधिनी

[नहीं यह दोष नहीं है क्योंकि 'ईदूदेद्' से] द्विवचन इसकी अनुवृत्ति होती है [और अमुके यह द्विवचन नहीं अपितु बहुवचन है]

यदि इसमें द्विवचन की अनुवृत्ति होती है तब तो 'अमी अत्र' इस (बहुवचन) में भी प्रगृह्य संज्ञा नहीं प्राप्त होगी ।

यदि ऐसा है तब तो 'एदन्त' इसकी निवृत्ति है अर्थात् अनुवृत्ति नहीं होती है । [अतः अदस् के ई ऊ की ही प्रगृह्य संज्ञा होती है—ऐसा मानना चाहिए । इससे अमुया, अमुयोः, अमुके—आदि में प्रगृह्य संज्ञा का प्रसङ्ग नहीं आता है । अतः योगविभाग में 'अदसः' सूत्र उचित है ।]

विमर्श—दोषों को दूर करने के लिये या तो 'अदसः' तथा 'मात्' यह योग-विभाग किया जाय अथवा एक ही सूत्र रखा जाय । एक सूत्र रखने पर अदस् के मकार से परे एकार नहीं मिलता है अतः इस माद् ग्रहण का कोई फल न होने से व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करता है कि इसमें एदन्त की निवृत्ति होती है अर्थात् 'ए' की अनुवृत्ति नहीं होती है । इस प्रकार इस माद्ग्रहण की सार्थकता है । यदि माद्ग्रहण नहीं होगा तो योग-विभाग करना भी संभव नहीं होगा । योगविभाग में एदन्त की निवृत्ति करनी पड़ेगी ।

---

१. अयमपि न सिद्धान्त इत्याह— सिद्धान्ते त्विति ॥ अयमेतत्पक्षाभिसंधिः—एकयोगत्वे एकत्र चारितार्थ्ये वचनसामर्थ्यं न संभवतीति प्रकारान्तरेण तद्दर्शितम् । इदानीं योगविभागद्वारा स्फुटं तदुच्यत इति सिद्धत्वेन ततः क्वापि न दोषः । विच्यर्थं च सूत्रद्वयमिति ॥ छाया ॥

(भाष्यम्)

अथवाऽऽहायम्—"अदसो मात्" इति। न च ईत्वोत्वे स्तः। नापि मकारः। त एवं विज्ञास्यामः—'मार्थादीदाद्यर्थानाम्'—इति।

(१६१ समाधानान्तरवार्तिकम् ॥७॥)

॥ * ॥ उक्तं वा ॥ * ॥

प्रदीपः

एकयोगे परिहारान्तरमप्याह—अथ वेति॥ मार्थादिति। मार्थं एव स्थानी मशब्देनोक्तः, ईदूदेदर्थश्चेदूदेदिति। न चास्यां कल्पनायामसिद्धत्वं भवति, बुद्धिपरिकल्पनायामसिद्धत्वाभावस्योक्तत्वात्॥

उक्तं वेति। असिद्धत्वमेवात्र प्रतिषिद्धमित्यर्थः॥ स्वरे इति। अचीत्यर्थः॥

उद्द्योतः

भाष्ये 'मार्थादीदाद्यर्थानां वा०' इति वार्तिकं व्याचष्टे—अथवाऽऽहेति। ननु एवं सति अदेऽदौ इत्यस्यामवस्थायां प्रगृह्यत्वेपि मीस्वमूत्वयोः कृतयोरीकारादीनामप्रगृह्यत्वादेतद्वैयर्थ्यमल्विधित्वेन प्रगृह्यत्वाभावादिति चेन्न, प्रदेशे प्रगृह्यस्थानिकस्यापि लक्षणया ग्रहणेनादोषात्॥

भावबोधिनी

(वा०) अथवा मार्थ से परे ईदाद्यर्थों की [प्रगृह्यसंज्ञा होती है]।

(भा०) [एक योग में दूसरा परिहार—] आचार्य पाणिनि ने यह कहा है—अदसो मात्। किन्तु (इस सूत्र की दृष्टि में असिद्ध होने से) ईकार ऊकार नहीं है और मकार भी नहीं है। इसलिए ऐसा ज्ञापित करेंगे—मार्थ से परे ईदाद्यर्थों की प्रगृह्यसंज्ञा होती है। [भाव यह है—मात्=मार्थात्, ईदादीनाम्=ईदाद्यर्थानाम्। मार्थ=मकार के स्थानी से परे जो ईदाद्यर्थ=ईकारादि के स्थानी उनकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है। इस कल्पना में वास्तविक मकार से परे वास्तविक ईकारादि की अपेक्षा नहीं है अपि तु उनके स्थानियों की है। यह सब बुद्धिकल्पित मानकर प्रगृह्यसंज्ञा कर लेनी चाहिए। इसमें असिद्धत्व की सम्भावना नहीं है।]

[अन्य समाधान यह भी है—]

(वा०) अथवा कहा गया है।

किमुक्तम् ?

* अदस ईत्वोत्वे स्वरे बहिष्पदलक्षणे * [सिद्धे वक्तव्ये] * प्रगृह्यसंज्ञायां च * इति ॥

(अनिष्टापत्तिनिवारणाधिकरणम्)

(१६२ आक्षेपवार्तिकम् ॥८॥)

प्रदीपः

बहिष्पदलक्षणे । द्वितीयपदव्यवस्थित इत्यर्थः । तेनैकपदव्यवस्थितेऽच्यसिद्धे ईत्वोत्वे । तेनामुयाऽमुयोरित्यत्रायादेशो भवत्येव ॥ प्रगृह्यसंज्ञायां चेति । प्रगृह्यसंज्ञायामेव सिद्धत्वेन सिद्धे लक्ष्ये प्रपञ्चार्थः पूर्ववाक्योपन्यासः ॥

उद्द्योतः

द्वितीयेति । द्वितीयपदस्थेऽचि यत्कार्यं तत्रासिद्धत्वं नेत्यर्थः ॥

अन्ये तु—'अथवा वचनसामर्थ्यात्' इत्यादि भाष्ये भाष्यकृत एवोक्तिः । अत एव सांप्रतपुस्तकेषु वार्तिकापाठ इत्याहुः ॥

अन्ये तु—अन्त्ये 'उक्तं वेऽयस्य(त्र)'वार्तिकत्वं मत्वा कोशे वार्तिकपाठो भ्रष्ट इत्याहुः॥

सिद्धे इति । प्रगृह्यत्वे सिद्धत्वमयादीन् प्रति सिद्धत्वं विना सप्रयोजनं नेति सामर्थ्यात्तान् प्रत्यपि तौ सिद्धाविति भावः ॥

भावबोधिनी

(भा०) क्या कहा गया है ?

['न मुने' (८।२।३) सूत्र पर यह वार्तिक कहा गया है (कहा जाने वाला है)—*बहिष्पदलक्षण = दूसरे पद में व्यवस्थित स्वर = अच् परे रहते अर्थात् दो पदों में यदि बाद में अजादि पद परे हो तो अदस् के ईत्व और ऊत्व आदेश [अयादि आदेश करने के प्रसङ्ग में] सिद्ध ही कहने चाहिए* और * इसी प्रकार प्रगृह्यसंज्ञा के विषय में भी ई ऊ सिद्ध ही कहने चाहिए ।* [इसलिए ईत्वादि की असिद्धता न होने के कारण प्रगृह्यसंज्ञा हो जाती है । साथ ही मादग्रहण से एकार की निवृत्ति भी होने से कोई दोष नहीं रहता है ।]

(वा०) सिद्धत्व मानने पर सक = ककारसहित में दोष आता है ।

॥ * ॥ तत्र सकि दोषः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

तत्र सककारे दोषो भवति—अमुकेऽत्र ॥

(१६३ समाधानवार्तिकम् ॥ ९ ॥)

॥ * ॥ न वा ग्रहणविशेषणत्वात् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

न वा एष दोषः ॥

किं कारणम् ?

ग्रहणविशेषणत्वात् । न माद्ग्रहणेन ईदाद्यन्तं विशेष्यते ॥

प्रदीपः

तत्र सकि दोष इति । मात्परं यदीदाद्यन्तमिति दोषोपन्यासः । पूर्वसूत्रे हि तदन्तं गृहीतमितीहापि तदन्तस्यैवानुवृत्तिरिति भावः ॥

स्वरितत्वेन शब्दमात्रमनुमीयत इति उत्तरेऽभिप्रायः । तत्र माद्ग्रहणेन गृह्यमाणमी-

उद्द्योतः

विशेष्यासंनिधाने कथं तदन्तविधिरत आह—पूर्वं सूत्रे इति । अर्थाधिकारादिति भावः ॥

शब्दमात्रमिति । एवं च विशेष्याभावान्न तदन्तविधिरिति भावः ॥१२॥

भावबोधिनी

(भा०) ईत्वादि के सिद्ध रहने पर ककारसहित में दोष होता है—अमुकेऽत्र । [जैसे 'ईदूदेद्' सूत्र में ईदन्त, ऊदन्त, एदन्त की प्रगृह्यसंज्ञा होती है। वैसे ही यहाँ भी अदस् के मकार से परे ईदन्त, ऊदन्त, एदन्त को प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होगी। इस स्थिति में अकच्सहित अदस् के 'अमुके' इस रूप में भी प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होने लगेगी क्योंकि अदस् के इस 'अमुके' रूप में मकार से परे एदन्त 'उके' है। प्रगृह्य-संज्ञा होने पर पूर्ववत् सन्धिकार्य नहीं हो सकेगा।]

(वा०) अथवा ग्रहण का विशेषण होने से (दोष) नहीं है।

(भा०) अथवा यह पूर्वोक्त दोष नहीं है।

क्या कारण है [जिससे दोष नहीं है] ?

ग्रहण = गृहीत का विशेषण होने के कारण (दोष नहीं है) ? क्योंकि गृहीत मकार से ईदाद्यन्त को विशेषित नहीं करते हैं, अर्थात् मकार से परे जो ईदाद्यन्त

किं तर्हि ?

ईदादयो विशेष्यन्ते—मात्परे ये ईदादय-इति ॥ अदसो मात् ॥ १२ ॥

(१२ प्रगृह्यसंज्ञासूत्रम् ॥ १।१।५ आ० ३ ॥)

शे ॥ १।१।१३

(अनिष्टापत्तिनिराकरणाधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

इह कस्मान्न भवति—काशे, कुशे, वंशे इति ?

(१६४ समाधानवार्तिकम् ॥१॥)

प्रदीपः

दूदेद्विशेष्यते, तेनामुकेऽत्रेत्यत्र व्यवधानाद्दोषाभाव एव । योगविभागे दोषप्रसङ्गादेदन्तमिति निवृत्तमित्युक्तम् । एकयोगे तु तन्निवृत्त्या न प्रयोजनमिति न वा ग्रहणविशेषणत्वादित्युत्तरमुक्तम् ॥१२॥

शे ॥ १३ ॥ इह कस्मादिति । अत्र हि प्रत्यक्षमेव शे इति रूपम् । युष्मे अस्मे इत्यत्र तु शकारस्यानुबन्धस्य स्मरणादनुमेयमिति प्रश्नः ॥

उद्द्योतः

शे ॥ १३ ॥ प्रत्यक्षमेवेति । एवंच इहेति—भाष्यस्य इहैवेत्यर्थः ॥ युष्मे इति ॥ सुपां सुलुगिति विभक्त्यादेशः शेशब्द इत्यर्थः ॥

भावबोधिनी

उनकी संज्ञा होती है—ऐसा अर्थ नहीं है ।

तब कैसा ?

ईदादि विशेषित किये जाते हैं—मकार से परे जो ईद्, ऊद्, एद् [उनकी प्रगृह्य संज्ञा होती है । 'अमुके' यहाँ मकार से परे एद् नहीं है, प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी । 'अमुकेऽत्र' यहाँ 'एङः पदान्तादति' से पूर्वरूप सन्धि हो जाती है ।] ॥ १२ ॥

शे १।१।१३

[शे = ए इसकी प्रगृह्य संज्ञा होती है ।]

इनमें प्रगृह्यसंज्ञा क्यों नहीं होती है—काशे, कुशे, वंशे ? [क्योंकि इनमें भी 'शे' शब्द है ।]

॥ * ॥ शेऽर्थवद्ग्रहणात् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

अर्थवतः शेशब्दस्य ग्रहणम् । न चैषोऽर्थवान् ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

एवमपि हरिशे, बभ्रुशे—इत्यत्रापि प्राप्नोति ॥

प्रदीपः

शेऽर्थवद्ग्रहणादिति । एवं शब्दस्येत्येवान्तरङ्गत्वादहेयत्वादसाधारणत्वाच्च रूप-परिग्रहे सिद्धे रूपवदर्थस्याप्यङ्गीकरणार्थं रूपग्रहणं कृतम् । अत्र च शशब्दोऽनर्थकः, सप्तम्येकवचनं त्वर्थवत्,तयोः समुदायोऽर्थान्तराप्रादुर्भावादनर्थकः ॥

एवमपीति । अत्र हि मत्वर्थीयसप्तम्येकवचनयोरर्थवतोः समुदायोऽर्थवानेवावयव-धर्मानुविधानात् समुदायस्येति प्रश्नः ॥

उद्द्योतः

शेश्चासावर्थवांश्च तस्य ग्रहणादित्यर्थः । शक्तिग्रहनिरपेक्षप्रतीतिकत्वेनान्तरङ्गत्वम् । अर्थप्रतीतावपि प्रतीयमानत्वमहेयत्वम् । शब्दान्तरैरप्रत्यायनादसाधारणत्वात् ॥ अप्रादु-र्भावोऽप्रतीतिः ॥

मत्वर्थीयो = लोमादिशः ॥

भावबोधिनी

(वा०) शे—इस अर्थवान् का ग्रहण होने से [इनमें प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होती है]।

(भा०) (इस सूत्र में) अर्थवान् 'शे' शब्द का ग्रहण है । परन्तु यह [इन उदाहरणों का 'शे' शब्द] अर्थवान् नहीं है । [काश, कुश, वंश-ये अर्थवान् हैं । ङि = ई प्रत्यय भी अर्थवान् हैं । दोनों का समुदाय तो अर्थवान् है किन्तु अकेला 'शे' इतना अर्थवान् नहीं है । अतः इसकी प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होती है ।]

ऐसा मानने पर भी—हरिशे, बभ्रुशे—इनमें भी प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती है । [हरि तथा बभ्रु शब्दों से मत्वर्थ में 'लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः'(५।२।१००) सूत्र से श प्रत्यय होता है । और सप्तमी एकवचन में ङि = इ प्रत्यय का गुण कर देने पर 'शे' यह प्रकृति-प्रत्यय-समुदाय अर्थवान् है । प्रगृह्यसंज्ञा होनी चाहिए ।]

(समाधानभाष्यम्)

एवं तर्हि 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव' इत्येवं न भविष्यति ॥

(पूर्वोक्तसमाधानाभ्युपगमभाष्यम्)

अथ वा पुनरस्तु—'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' इति ॥

कथं तर्हि—हरिशे, बभ्रुशे इति ?

एकोऽत्र विभक्त्यर्थेनार्थवान्, अपरस्तद्धितार्थेन। समुदायोऽनर्थकः ॥ शे ॥१३॥

—: o :—

प्रदीपः

लक्षणेति। प्रतिपदोक्ते हि झटिति प्रतिपत्तिर्भवति, लाक्षणिके तु लक्षणानुसन्धानद्वारेण बहिरङ्गेति न तस्य ग्रहणम् ॥

अथ वेति। अर्थवत्समुदायस्यापि कस्यचिदानर्थक्यं यथा दशदाडिमादिवाक्यस्य। पदार्थानां परस्परसमन्वयाभावाद्। इहापि हरिशशब्दवाच्यार्थगतसंख्याधिकरणशक्तिप्रतिपादनाय प्रवृत्ता सप्तमी न शप्रत्ययमात्रप्रतिपाद्येनार्थेनान्वेतीति शेशब्दस्यानर्थक्यम् ॥१३॥

—: o :—

उद्द्योतः

आनर्थक्यमिति। प्रत्यक्षानुमानिकन्यायापेक्षया रूपग्रहणानुगतार्थवत्परिभाषा प्रबलेति भावः ॥१३॥

भावबोधिनी

यदि ऐसा है तो—'लक्षण से निष्पन्न तथा प्रतिपदोक्त दोनों में प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण होता है'—इस परिभाषा के कारण 'शे' की प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी। [लक्षण = सूत्र की प्रवृत्ति से निष्पन्न=लाक्षणिक। प्रतिपदोक्त=साक्षात् उच्चारित। दोनों के प्रसंग में प्रतिपदोक्त ही लेना चाहिए। 'हरिशे' का 'शे' लाक्षणिक होने से नहीं लिया जायगा।]

अथवा 'अर्थवान् के ग्रहण के विषय में अनर्थक का ग्रहण नहीं होता है'—यही माना जाय।

तब 'हरिशे' 'बभ्रुशे' ये कैसे बनेंगे ?

इनमें भी एक अर्थात् इ सप्तमी विभक्ति के अर्थ से अर्थवान् है और दूसरा अर्थात् 'श' तद्धित प्रत्यय के अर्थ से अर्थवान् है। किन्तु दोनों का समुदाय 'शे' अनर्थक है। [अतः इसका ग्रहण नहीं होगा। कहीं-कहीं पद स्वतन्त्र रूप से अर्थवान् होते हैं किन्तु उनका अन्वयरहित समुदाय अनर्थक माना जाता है जैसा कि भाष्य में ही 'दश दाडिमाः, षडपूपाः' आदि वाक्य को अनर्थक माना गया है। वैसे ही इनमें 'शे' भी अनर्थक है।] ॥ १३ ॥

—: o :—

(१३ प्रगृह्यसंज्ञासूत्रम् ॥१।१।५ आ० ४॥)

निपात एकाजनाङ् ॥ १।१।१४ ॥

(पदकृत्याधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

निपात इति किमर्थम् ?

(समाधानभाष्यम्)

चकारात्र जहारात्र ॥

प्रदीपः

निपात एकाजनाङ् ॥१४॥निपात इति किमर्थमिति । निपातस्यैवैकाचोऽर्थवत्त्वात् प्रत्ययस्य केवलस्य प्रयोगाभावादानर्थक्यात् कल्पितरूपत्वात्, कल्पनायाश्च नियमाभावात् प्रश्नः ॥

चकारात्रेति । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रत्ययस्याप्यर्थवत्त्वमिति भावः ॥ निपातोऽपि केवलो न प्रयुज्यते द्योतकत्वादिति साम्यमेव निपातप्रत्यययोः । अततेर्ड-अः । अआगच्छ =आगच्छेत्यपि प्रत्युदाहरणम् ॥

उद्द्योतः

निपात० ॥ १४ ॥ आनर्थक्यादिति । अर्थवत्त्वानिश्चयादित्यर्थः ॥ तत्र हेतुः—कल्पितरूपत्वादिति ॥ ततः किं तत्राह—कल्पनाया इति । अत एव केचिच्छतिपमन्ये शतिपौ वदन्ति । तत्रैयतोऽर्थवत्त्वमिति न निश्चेतुं शक्यत इत्यर्थः ॥ ननु निपातग्रहणाभावे एकाजिति वर्णग्रहणादर्थवत्परिभाषाया अप्रवृत्तावर्थवद्ग्रहणे मानाभाव इति चेन्न, बहुव्रीहिरित्याशयात् । गौणमुख्यन्यायस्य तु नेह प्रवृत्तिः । पर्युदासेनैवाज्रूपत्वे लब्धे एकाज्ग्रहणस्य गौणमुख्यसंग्रहार्थत्वाद् न्यायानित्यत्वाच्च ॥ एतेन—"सत्यभिधानेऽनिरिरभवद् ईअश्ववदित्यादौ प्रगृह्यत्वं न स्याद् "गौणमुख्यन्याया"दिति-परास्तम् । अत एवौदित्यत्रैव च्व्यन्तप्रतिषेध आरब्धः ॥

अन्वयेति । व्याकरणानुसन्धानानुगृहीताभ्यामित्यर्थः । तस्यैव चास्मच्छास्त्रप्रवृत्त्युपयोगित्वादिति भावः ॥ वस्तुतोऽनर्थकनिपातेऽपि अस्य प्रवृत्तेरोत्सूत्रे भाष्ये वक्ष्यमाणत्वादत्रार्थवत एव ग्रहणमिति न नियमः ॥ प्रश्नाशयस्तु—अनाङिति पर्युदासादप्रत्ययस्य ग्रहणमिति । उत्तराशयस्तु-पर्युदासेन तथाऽऽश्रयणे न मानं निपातग्रहणादेव । तेन प्रत्ययानुकरणे एतत्प्रवृत्तिरिति ॥ अ आगच्छेत्यत्रापि प्लुते प्रकृतिभावो दुर्वार इति प्लुताभावे कथंचिदुदाहरणत्वं यदि तर्हि सवर्णदीर्घे तथा बोधः ॥

भावबोधिनी

निपात एकाजनाङ् १।१।१४

(सूत्र में) 'निपात' यह किसलिये है ? [क्योंकि निपात ही एकाच् अर्थवान् होता है ।]

चकारात्र, जहारात्र । [कृ, हृ धातु से लिट् = तिप् = णल् = अ प्रत्यय,

(आक्षेपभाष्यम्)

एकाजिति किमर्थम् ?

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

प्रेदं ब्रह्म। प्रेदं क्षत्रम् ॥

(आक्षेपबाधानुपपत्तिभाष्यम्)

एकाजित्यप्युच्यमानेऽत्रापि प्राप्नोति। एषोऽपि ह्येकाच् ॥

(आक्षेपबाधोपपत्तिभाष्यम्)

एकाजिति नायं बहुव्रीहिः—एकोऽज् यस्मिन् सोऽयमेकाच् एकाजिति ॥

किं तर्हि ?

प्रदीपः

एकाजिति किमर्थमिति। एकग्रहणसामर्थ्याद्बहुव्रीहिं मन्यते, ततश्च प्रेदं ब्रह्मेत्यनिष्टनिवृत्तिर्न कृतेति प्रश्नः ॥

उद्द्योतः

एकग्रहणेति। स्वाङ्गसमुदाये स्वाङ्गत्वाभाववदच्समुदायेऽच्त्वाभावेनैकग्रहणं विनापि कर्मधारयार्थलाभादिति भावः ॥

भावबोधिनी

द्वित्वादि करने पर चकार् अ, जहार् अ में 'अ' प्रत्यय अकेला है और अर्थवान् भी है। इसकी प्रगृह्य संज्ञा हो जाने पर प्रकृतिभाव प्रसक्त होगा जिससे 'अत्र' के साथ सवर्णदीर्घ नहीं हो सकेगा। 'निपात' ग्रहण होने पर इस 'अ' के निपात न होने से प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती है, सवर्णदीर्घ हो जाता है।]

एकाच्—इसका ग्रहण किसलिये हैं ?

प्रेदं ब्रह्म। प्रेदं क्षत्रम्। [यहाँ 'प्र' उपसर्ग होने से निपात है। 'एकः अच् अस्मिन्' ऐसा बहुव्रीहि मानने पर यहाँ भी प्रसक्ति है। जिससे प्रगृह्य संज्ञा के कारण गुण नहीं हो सकेगा।]

क्यों, एकाच्—ऐसा कहे जाने पर यहाँ भी प्राप्त होता ही है क्योंकि यह भी तो एकाच् (एक अच् वाला) है ही।

'एकाच्' यह बहुव्रीहि नहीं है—एक अच् है जिसमें वह = एकाच्।

तो क्या है ?

तत्पुरुषोऽयं समानाधिकरणः—एकः अच् = एकाच् एकाजिति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

यदि तत्पुरुषोऽयं समानाधिकरणः, नार्थ एकग्रहणेन ॥

(प्रत्याक्षेपभाष्यम्)

इह कस्मान्न भवति—प्रेदं ब्रह्म । प्रेदं क्षत्रम् ?

(प्रत्याक्षेपबाधकभाष्यम्)

अजेव यो निपात इत्येवं विज्ञायते ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

किं वक्तव्यमेतत् ?

(समाधानभाष्यम्)

न हि ?

प्रदीपः

तत्पुरुषोऽयमिति । अन्तरङ्गत्वाद् वर्तिपदार्थप्राधान्याच्चेति भावः ॥

उद्द्योतः

अन्तरङ्गत्वे हेतुमाह—वर्तीति ॥

भाष्ये—इह कस्मादिति । अजन्तो निपात इत्यर्थं इति प्रश्नः ॥

अजेव य इति । निपातेनाज्विशेषणादित्यर्थः ॥

किं वक्तव्यमिति । निपातस्य न्यायप्राप्तविशेष्यत्वाभावायेत्यर्थः ॥

भावबोधिनी

यह समानाधिकरण (कर्मधारय) तत्पुरुष है—एकः चासौ अच् च = एकाच् ऐसा है । [अतः जो एक अच् रूप निपात है वही प्रगृह्य होता है । 'प्र' शब्द ऐसा नहीं है । अतः प्रगृह्य नहीं होता है ।]

यदि यह समानाधिकरण तत्पुरुष अर्थात् कर्मधारय है तब तो 'एक' ग्रहण का कोई फल नहीं है ।

इनमें क्यों नहीं होता है—प्रेदं ब्रह्म । प्रेदं क्षेत्रम् ? [क्योंकि अजन्त निपात है ।]

अच् रूपी ही जो निपात (उसी की प्रगृह्यसंज्ञा होती है)—ऐसा समझा जाता है । ['प्र' में अच् और हल् दोनों हैं । अतः इसकी प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी ।]

तब क्या ऐसा कहना पड़ेगा ?

नहीं ।

(आक्षेपभाष्यम्)

कथमनुच्यमानं गंस्यते ?

(समाधानभाष्यम्)

अज्ग्रहणसामर्थ्यात् । यदि हि अच्चान्यच्च तत्र स्याद्, अज्ग्रहणमनर्थकं स्यात् ॥

(सामर्थ्यानुपपत्तिभाष्यम्)

अस्ति ह्यन्यदज्ग्रहणस्य प्रयोजनम् ॥

किम् ?

अजन्तस्य यथा स्यात् । हलन्तस्य मा भूत् ॥

(सामर्थ्योपपत्तिभाष्यम्)

नैव दोषो न प्रयोजनम् ॥

प्रदीपः

नैव दोष इति । ननु पुरोऽह्रिरिति हलन्तस्य प्रकृतिभावाद् रोरुत्वं न स्यात् ॥ नैष दोषः, प्रगृह्यसंज्ञायां रुत्वस्यासिद्धत्वात् । सकारस्य च कार्यान्तराप्रसङ्गात् । उत्वे तु रुत्वमाश्रयात्सिद्धम् ॥

उद्द्योतः

यदि हीति । अजन्तग्रहणेऽज्ग्रहणवैफल्यमिति भावः ॥

प्रगृह्यसंज्ञायामिति । ननु सान्तस्य प्रगृह्यत्वे एकदेशविकृतन्यायेन रान्तस्यापि तत्त्वात्प्रकृतिभावः स्यादिति चेन्न; प्रकृतिभावेऽप्यसिद्धत्वात् ॥

भावबोधिनी

बिना कहे कैसे समझ लिया जायगा ?

अच्ग्रहण के सामर्थ्य से [बिना कहे ही समझ लिया जायगा ।] क्योंकि यदि उसमें अच् भी हो तथा दूसरा अर्थात् हल् भी हो तो फिर अच्ग्रहण व्यर्थ होने लगेगा । [क्योंकि प्रगृह्यसंज्ञा का फल तो अच् में ही होता है ।]

अच्ग्रहण का दूसरा ही फल है अर्थात् यह अनर्थक नहीं है ।

क्या (दूसरा फल है) ?

जिससे अजन्त की ही प्रगृह्यसंज्ञा हो हलन्त की न हो ।

[हलन्त की प्रगृह्यसंज्ञा में] न कोई दोष है और न कोई प्रयोजन । [पुरस् अह्निः इसमें हलन्त निपात की प्रगृह्यसंज्ञा करने पर स् का रुत्व और रु का उत्व नहीं प्राप्त हो सकेगा—ऐसा कोई दोष नहीं है क्योंकि इस प्रगृह्यसंज्ञा की दृष्टि में रुत्व शास्त्र असिद्ध है । फलतः रु होने पर भी उसका प्रकृतिभाव नहीं होगा । उत्व के प्रति रुत्व तो आश्रय से सिद्ध हो रहता है--ऐसा इससे पूर्ववर्ती 'अदसो मात्' १।१।१२ सूत्र में भाष्य में कहा जा चुका है । अतः 'पुरोऽह्निः' बन जाता है ।]

(सामर्थ्यानुपपत्तिभाष्यम्)

एवमपि कुत एतत्—द्वयोः परिभाषयोः सावकाशयोः समवस्थितयोः "आद्यन्तवदेकस्मिन्" (१।१।२१) "येन विधिस्तदन्तस्य" (१।१।७२) इति च—इयमिह परिभाषा भविष्यति—"आद्यन्तवदेकस्मिन्" इति। इयं च न भविष्यति—"येन विधिस्तदन्तस्य" इति ?

प्रदीपः

एवमपीति। अन्यतरनिवृत्त्याऽज्ग्रहणस्यार्थवत्त्वादज्मात्रं गृह्यते तदन्तं निरस्यते। विपर्ययस्तु न भवतीति विशेषाभावात् प्रश्नः॥ पारार्थ्यसामान्यात् संज्ञातिदेशौ परिभाषाशब्देनोक्तौ॥ सावकाशयोरिति। निरवकाशस्य बाधकत्वादेवमुक्तम्। तत्र तदन्तविधेरवकाशः—औरावश्यके—लाव्यं पाव्यम्। आद्यन्तवद्भावस्यावकाशः—मिदचोऽन्त्यात्परः—तानि यानीति। अत्र हि साक्षादन्त्यग्रहणमस्तीति तदन्तविध्यभावः॥ समवस्थितयोरिति। इह प्राप्तयोः॥

उद्योतः

अथ निपातस्य विशेष्यतया अजन्त इति व्याख्यानेऽपि अज्ग्रहणसामर्थ्यान्मुख्याजन्तपरिग्रहेण केवलाज्रूपव्यावृत्तिरज्ग्रहणस्य फलं स्यादिति मनसि निधाय पृच्छति–एवमपीति भाष्ये॥ अन्यतरनिवृत्त्येति। निपातस्य विशेषणत्वे तदन्तपरिभाषाऽप्रसक्तिरेव निवृत्तिः। विशेष्यत्वे त्वजिति विशेषणसामर्थ्यात्तदन्तस्यैव ग्रहेण मुख्याजन्तपरिग्रहादाद्यन्तवदित्यस्य निवृत्तिरिति भावः॥ विपर्ययः=निपातस्य विशेष्यत्वेनाजन्तपरिग्रहः केवलाचो निवृत्तिरिति॥ इतिविशेषाभावादिति। अत्र च कारणाभावादित्यर्थः॥ संज्ञा = येनविधिरिति। अतिदेशः = आद्यन्तवदिति॥ लाव्यमिति। उङ्शब्दे इत्यत आवश्यके ण्यदनभिधानान्नेति भावः॥

भावबोधिनी

फिर भी यह कैसे होता है—सावकाश (अन्यत्र चरितार्थ) और यहाँ समान रूप से उपस्थित होनेवाली—'आद्यन्तवदेकस्मिन्' (१।१।२१)—तथा 'येन विधिस्तदन्तस्य'—(१।१।७२)हैं किन्तु इनमें 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' यह परिभाषा तो प्रवृत्त होगी और 'येन विधिस्तदन्तस्य' यह नहीं प्रवृत्त होगी।

विमर्श—प्रस्तुत सूत्र में निपात को विशेष्य मान कर अच् को विशेषण बना कर 'येन विधिस्तदन्तस्य' से तदन्तविधि करके—अजन्त जो निपात यह अर्थ हो सकता है। इस अर्थ में प्र, परा आदि को प्रगृह्यसंज्ञा होगी। किन्तु अ, उ आदि कुछ ऐसे भी निपात है जिनमें 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' द्वारा व्यपदेशिवद्भाव से अजन्तत्व बनेगा। इन दोनों रीतियों से अजन्तत्व सम्भव हो जाने पर सूत्र में 'अच्' ग्रहण का कोई फल हो नहीं रह जाता है। इस कारण अच्ग्रहण के सामर्थ्य से मुख्य अजन्त का ग्रहण होने से केवल अच् रूप गौण अजन्त की प्रगृह्य संज्ञा रोकना ही अच् ग्रहण का फल है। इस कथन का खण्डन किया जा रहा है।

(सामर्थ्यानुपपत्तिनिराकरणभाष्यम्)

आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—इयमिह परिभाषा भवति—"आद्यन्तवदेकस्मिन्" इति, इयं च न भवति "येन विधिस्तदन्तस्य" इति । यदयम्—'अनाङ्' इति प्रतिषेधं शास्ति ।

(समाधानभाष्यम्)

एवं तर्हि—सिद्धे सति यदज्ग्रहणे क्रियमाणे एकग्रहणं करोति, तज्ज्ञाप-

प्रदीपः

आचार्यप्रवृत्तिरिति । यदि तर्हि लिङ्गेन तदन्तविधिर्निराक्रियते तदा तन्मूलाद्यन्तवत् परिभाषा कथं प्रवर्तते ? नैष दोषः, आद्यन्तवदित्यस्योपस्थानाय तदन्तविधिः प्रथमं सन्निधीयते पश्चात्तु लिङ्गात् परित्यज्यते ॥ अथ वा लिङ्गादज्ग्रहणं निपातेन विशेष्यत इति विशेष्येण च तदन्तविधेरभावादतिदेशस्यापि मा भूत् प्रवृत्तिस्तत्फलसंपत्त्या तूक्तम्—परिभाषा भविष्यतीति ॥

एवं तर्हीति । संज्ञाया विधीयमानत्वात् प्राधान्यात् संज्ञिनो गुणत्वात् पशुना

उद्द्योतः

यदि तर्हीति । एवंच—इयमिह भवतीति भाष्यमनुपपन्नमिति भावः ॥ ननु पूर्वं प्रवर्त्य पश्चात्परित्यागापेक्षयाऽप्रवृत्तौ लाघवमित्यभिप्रेत्याह— अथवेति ॥

ननु एकग्रहणाभावेऽच्समुदायस्य स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थमेकग्रहणं तत्राह—संज्ञाया

भावबोधिनी

अच्ग्रहण का फल यह है कि निपात को विशेषण मान कर तदन्तविधि का निषेध कराना । क्योंकि निपात यदि विशेष्य होगा तो अच् विशेषण होगा और इसकी तदन्तविधि होगी । तब मुख्य अजन्त का ही परिग्रहण होगा । अतः 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' की निवृत्ति हो जायगी प्रवृत्ति नहीं होगी । अतः दोनों परिभाषाओं में एक मानी जाय दूसरी न मानी जाय—इसमें कोई कारण नहीं दिखाई देता है ।

(अनु०) आचार्य पाणिनि का व्यवहार ही ज्ञापित करता है—इस सूत्र में 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' यह परिभाषा प्रवृत्त होती है और 'येन विधिस्तदन्तस्य' यह नहीं प्रवृत्त होती है । क्योंकि आचार्य 'अनाङ्' ऐसा प्रतिषेध कह रहे हैं । [भाव यह है कि अनाङ् = आङ्भिन्न एकाच् निपात की प्रगृह्यसंज्ञा मानी गयी है । यदि 'येन विधिस्तदन्तस्य' की प्रवृत्ति मान कर अजन्त अर्थ लिया जाता तो 'आङ् = आ' निपात अच् रूप है अजन्त नहीं है, इसको प्रगृह्यसंज्ञा स्वतः प्राप्त ही नहीं है तब निषेध करना व्यर्थ है । यही निषेध करना व्यर्थ होकर ज्ञापक बनता है कि यहाँ तदन्तविधि नहीं होती है, अच् रूप निपात यही अर्थ लेना चाहिये ।]

यदि इस प्रकार से अच्ग्रहण से कार्य सिद्ध ही हो जाने पर भी सूत्र में जो 'एक'

यत्याचार्यः—'अन्यत्र वर्णग्रहणे जातिग्रहणं भवति' इति ॥

किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् ?

प्रदीपः

यजेतेतिवत् संख्याविवक्षायां सिद्धायामेकग्रहणमन्यत्र जातिसम्प्रत्ययार्थम् । अच्समुदायग्रहणशङ्काया निरासार्थं ह्येकग्रहणं ज्ञापनफलं सम्पद्यते ॥ किं पुनः स्याद् यद्यत्राच्समुदायस्य ग्रहणं स्यात् ? उच्यते । इह अइउ अपेहीति समुदायस्यैका संज्ञा स्याद्, नावयवानाम् । समुदायैकाज्द्विर्वचनवदित्यन्त्यस्यैव प्रकृतिभावाद्यणादेशो न स्यात् । पूर्वयोस्तु स्वरसन्धिः स्यात् । अच्समुदायपरिग्रहानुरोधित्वाच्च निपातसमुदायो गृह्येत, एकनिपातस्याच्समुदायस्याभावात् ॥

उद्द्योतः

इति । गुणत्वादिति । संज्ञोपकारकत्वादित्यर्थः । पशोरपि यागोपकारकत्वाद्गुणत्वम् । नहि यागः पश्वर्थः । अपि तु यागार्थः पशुः । ग्रहं सम्मार्ष्टीत्यादौ तु ग्रहार्थत्वात्सम्मार्गस्य ग्रहस्य प्राधान्यमिति न तद्गतसंख्या विवक्षितेति भावः ॥

परे तु—संज्ञा स्वकार्यद्वारा संज्ञ्युपकारिका, न तु संज्ञी संज्ञोपकारकः । अन्यथा ग्रहोऽपि कर्मत्वेन सम्मार्गार्थः स्यादिति—विधेयविशेषणं विवक्षितमनुवाद्यविशेषणमविवक्षितमिति—मीमांसकमर्यादैव ज्यायसी, भाष्यसम्मता चेतीदं चिन्त्यम् । तस्मात् स्वाङ्गसमुदाये स्वाङ्गत्वाभाववदच्समुदायेऽच्त्वाभावान्न तद्ग्रहणप्रसक्तिरित्येकग्रहणं विनापि सिद्धिरिति तज्ज्ञापकमिति भाष्याशय इत्याहुः ॥

जातिग्रहणमित्यस्य तज्जात्याश्रयानेकव्यक्तिग्रहणमित्यर्थः । अन्यथा जातिग्रहणेऽपि जातेरेकैकव्यक्तिव्यङ्ग्यतयाऽसङ्गतिरेव । प्रवृत्तिनिमित्ततया जातिग्रहणस्य सर्वत्र सत्त्वेन तस्यावक्तव्यत्वाच्च । इहेत्यादि । अत्रेदं चिन्त्यम् । समुदायसंज्ञयाऽवयवानामननुग्रहान्नात्र द्विर्वचनन्यायः । नापि निपातसमुदायस्य निपातग्रहणेन ग्रहणम्, स्वाङ्गसमुदायस्य स्वाङ्गग्रहणेनेवैकैकत्र सूत्रचारितार्थ्यादिति । तस्मात्तितउ-शब्दैकदेश अउशब्दानुकरणे

भावबोधिनी

का ग्रहण किया गया है तो उससे आचार्य यह ज्ञापित करना चाहते हैं कि 'इस सूत्र से भिन्न सूत्रों में वर्णग्रहण में वर्णजाति का ग्रहण होता है'—अर्थात् एक वर्ण न लेकर वर्णसमूह भी लिया जाता है ।

इस (परिभाषा) के ज्ञापन में क्या प्रयोजन है ?

दम्भेर्हल्ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात् सिद्धम् इति यदुक्तं, तदुपपन्नं भवति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

अनाङिति किमर्थम् ?

(समाधानभाष्यम्)

आ + उदकान्ताद् = ओदकान्तात् ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

इह कस्मान्न भवति—आ एवं नु मन्यसे, आ एवं किल तदिति ?

प्रदीपः

अनाङिति किमर्थमिति । ङिदङितोराकारयोर्विषयविभागप्रदर्शनाय प्रश्नः ॥

इह कस्मादिति । अनुबन्धनिवृत्तौ विशेषापरिज्ञानात् प्रश्नः ॥

उद्द्योतः

उक्तसमुदायानुकरणे वाऽनितिपरे निपातसंज्ञके अउ अकरोदित्यादौ प्रगृह्यत्वं स्यात्तद्वारणायैकग्रहणमिति तत्त्वम् ॥

भाष्ये दम्भेरिति । दम्भेः सनिः दम्भ इच्चेतीत्वे, सनीवन्तेति इडभावपक्षे—इक्समीपो नकारो न ततो झलादिः सन् परः, यतश्च भात्परः सन्न स इक्समीप इति हलन्ताच्चेति कित्वाभावे 'अनिदिताम्'ति नलोपो न स्यादिति चोद्ये जात्याश्रयानेकस्येक्समीपत्वं सनश्च तस्मात्परत्वमिति कित्वे धिप्सतीति सिद्धिरित्यर्थः । अनेन सामीप्यमव्यवहिते एवेति सूचितम् ॥

प्रदर्शनाय = प्रदर्शनं कारयितुमित्यर्थः ॥

भावबोधिनी

"हलन्ताच्च" (१।२।१०) इस सूत्र में 'दम्भेर्हल्ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात् सिद्धम्' यह जो वार्तिक कहा गया है वह उपपन्न होता है । [भाव यह है—इक् के समीप जो हल् तदन्त धातु से परे झलादि सन् कित् होता है-इत्यर्थक 'हलन्ताच्च' (१।२।१०) सूत्र से दम्भ्+सन् कित् नहीं हो सकेगा क्योंकि यहाँ एक हल् नहीं अपितु दो हलों का समुदाय है । प्रस्तुत सूत्र में एकग्रहण से यहाँ से अन्यत्र वर्णग्रहण में जातिग्रहण ज्ञापित होने के कारण दो हल् भी गृहीत हो जायेंगे । सन् कित् हो जायगा और 'अनिदिताम्' (६।४।२४) से नलोप होने पर 'धीप्सति' आदि रूप बन जायेंगे । अतः यहाँ 'एक' का ग्रहण सार्थक है ।]

अनाङ् = आङ्भिन्न का ग्रहण किस लिए है ?

आ उदकान्तात् = ओदकान्तात् । [इसमें मर्यादा अर्थ की प्रतीति होने से प्रगृह्य संज्ञा नही होती हैं । गुण सन्धि हो जाती है ।]

यहाँ क्यो नही होता है—'आ एवं नु मन्यसे' 'आ एवं किल तत्' । [इनमें प्रगृह्य का निषेध क्यों नही होता है, प्रगृह्यसंज्ञा क्यों होती है ।]

(समाधानभाष्यम्)

सानुबन्धकस्येदमाकारस्य ग्रहणम्, अननुबन्धकश्चात्राऽऽकारः ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

क्व पुनरयं सानुबन्धकः क्व निरनुबन्धकः ?

(समाधानभाष्यम्)

'ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः ।
एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित्' ॥ १ ॥ निपात ॥ १४ ॥

प्रदीपः

अर्थवशाद् विशेषावसाय इत्युत्तरम् । ईषदर्थे—आ उष्णमोष्णमिति । आङीषदर्थ इति चोक्तम् ॥ क्रियायोगे—आ इतः=एतः, प्रादिषु हि ङित् पठ्यते ॥ आङ् मर्यादाभिविध्योरिति समासविधौ ङिन्निर्दिष्टः । आ उदकान्ताद्—ओदकान्तात् । आ

उद्द्योतः

किञ्चिद्विधानायोपात्तस्यान्यविधानाय पुनरुपादानमन्वादेशः । प्रकृते च विधान-

भावबोधिनी

सूत्र में ङकार अनुबन्ध वाले आकार का ही ग्रहण हैं जब कि इन उक्त उदाहरणों में अनुबन्धरहित आकार है । [आङ्भिन्न है । अतः प्रगृह्यसंज्ञा होती है ।]

अच्छा, तो कहाँ अनुबन्धसहित आकार है अर्थात् आङ् माना जाना है और कहाँ अनुबन्धरहित अर्थात् केवल आ=अनाङ् माना जाता है ?

ईषद्=थोड़े इस अर्थ में, क्रियावाचक के योग में, मर्यादा तथा अभिविधि अर्थों में जो आकार है उसे ङित् अर्थात् आङ् समझना चाहिए । वाक्य अर्थात् वाक्यार्थ के अन्यथात्व में तथा स्मरण अर्थ में जो आकार है वह अङित्=अनाङ् समझना चाहिए ।

विमर्शः—यद्यपि ङकार अनुबन्ध होने से लुप्त हो जाता हैं अतः प्रयोग में सर्वत्र 'आ' ही मिलता है । तब अनाङ् का फल क्या है ? इसे स्पष्ट करने के लिये यह वचन है—(१) ईषदर्थ में जैसे—आ + उष्णम् = ओष्णम् = कुछ थोड़ा सा गर्म । ङित् होने से प्रगृह्य नहीं होता है, गुण हो जाता है । (२) क्रिया-वाचक के योग में जैसे—आ + इतः = एतः । यहाँ भी ङित् होने से प्रगृह्य नहीं होता है, गुण हो जाता है । (३) मर्यादा, (४) अभिविधि की प्रतीति में

(१४ संज्ञासूत्रम् ॥ १ । १ । ५ । आ. ५ ॥)

ओत् ॥ १।१।१५ ॥

(सूत्रवैयर्थ्यनिराकरणाधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

किमुदाहरणम् ?

प्रदीपः

अहिच्छत्रात्—आहिच्छत्रादिति । विना तेनेति मर्यादा, सह तेनेत्यभिविधिः ॥ पूर्वंप्रक्रान्तस्य वाक्यार्थस्यान्यथात्वद्योतनायाऽऽकारः प्रयुज्यते—आ एवं नु मन्यसे । नैवं पूर्वमसंस्थाः सम्प्रति मन्यस इति । वाक्यारम्भसूचनायाऽऽकार इत्यपरे ॥ तथा स्मृतेः सूचक आकारः प्रयुज्यते, ततः स्मृतोऽर्थो निर्दिश्यते—आ एवं किल तदिति ॥ १४ ॥

—:०:—

उद्द्योतः

द्वयाभावादेतमित्येनादेशो न कृत इत्याहुः । विना तेनेत्यादि । यथा आ काशी वृष्टो देव इत्यादौ काशीमभिव्याप्य काशीं वर्जयित्वेति चार्थः ॥ १४ ॥

—

भावबोधिनी

आङ् रहता है । जब निर्दिश्यमान स्थान को सम्मिलित न करके सीमा कही जाती है तब मर्यादा मानी जाती है और उसे सम्मिलित करके कहने पर अभिविधि मानी जाती है—तेन विना मर्यादा, तेन सह अभिविधिः । आ + उदकान्तात्, ओदकान्तात्, जब गमनादि कार्य में जलाशय को छोड़ कर उसके पूर्व तक जाया जाय तब मर्यादा और उसे भी सम्मिलित कर लिया जाय, उससे आगे तक जाया जाय तब अभिविधि होती है । दोनों में आङ् ही रहता है,अनाङ् नहीं । किन्तु (१) वाक्यार्थ का अन्यथात्व = दूसरा अर्थ मान लेना, जैसे—आ एवं नु मन्यसे (अरे अब तू ऐसा मान रहा है पहले तो ऐसा नहीं मानता था) यहाँ अन्यथात्व प्रतीति में अङित् = अनाङ् है अतः प्रगृह्य संज्ञा होने से सन्धि नहीं होती है । (२) स्मरण अर्थ में भी अङित् = अनाङ् प्रगृह्य होता है—आ एवं किल तत् । (अच्छा हाँ ऐसी बात थी । इसमें स्मरण अर्थ की प्रतीति होने से अङित् मान कर प्रगृह्य संज्ञा और प्रकृतिभाव होता है सन्धिकार्य नहीं होता है ॥ १४ ॥

—:०:—

ओत् १।१।१५

[ओदन्त निपात की प्रगृह्य संज्ञा होती है ।]

इस (सूत्र) का क्या उदाहरण है ?

(समाधानभाष्यम्)

आहो इति, उताहो इति ॥

(समाधानबाधकभाष्यम्)

नैतदस्ति प्रयोजनम् । निपातसमाहारोऽयम्—आह उ आहो इति । उत आह उ उताहो इति । तत्र "निपात एकाजनाङ्" इत्येव सिद्धम् ॥

(समाधानसाधकभाष्यम्)

एवं तर्ह्येकनिपाता इमे ॥

(समाधानान्तरभाष्यम्)

अथवा प्रतिषिद्धार्थोऽयमारम्भः । ओ षु यातं मरुतः । ओ षु यातं बृहतो

प्रदीपः

ओत् ॥ १५ ॥ निपातसमाहारोऽयमिति । अनर्थकानामपि निपातानां 'कमीमिदु' इत्यादीनां दर्शनादर्थभेदाभावेऽपि निपातसमाहारत्वमुक्तम् ॥

एवं तर्हीति । चादिषु तथा पाठादिति भावः ।

ओ षु यातमिति । आ उ = ओ इत्यत्रान्तवद्भावाद्भवत्ययमाङ् इति—अनाङिति प्रतिषेधः प्राप्नोति, पर्युदासे तु सति न दोषः । तत्र ह्युचाङ्सदृशस्योकारस्याङा सहैकादेश

उद्द्योतः

ओत् ॥ १५ ॥ दर्शनादिति । वेदे; चादीनां पादपूरणार्थानां च लोकेपीत्यादिः ॥ अर्थभेदाभावेऽपि । तन्नानात्वाभावेऽपि अथवा अनर्थकाः निपातसमुदाय एवार्थ-वानिति भावः । उशब्दोऽत्र निरनुबन्धकः । तेन उञ इत्यनेन सिद्धिरिति न भ्रमितव्यम् ।

पर्युदासे त्विति । वस्तुतः पर्युदासेऽपि दोषः, आङ्भिन्नत्वस्याशास्त्रीयत्वात् । न च स्वाश्रयमाङ्भिन्नत्वम्, आङ्त्वस्य पूर्वान्तवत्त्वेनातिदेशेऽतिदिश्यमानविरुद्धस्वाश्रय-

भावबोधिनी

आहो + इति, उताहो + इति [आदि उदाहरण हैं] ।

यह प्रयोजन नहीं है । क्योंकि यह तो निपातों का समुदाय है—आह + उ = आहो । उत + आह + उ = उताहो । इस स्थिति में (एकाच् उ की प्रगृह्य संज्ञा तो) 'निपात एकाजनाङ्' इस पूर्ववर्ती सूत्र से ही सिद्ध है ।

यदि ऐसा है तब तो एक-एक ही निपात हैं । [समुदाय नहीं है क्योंकि 'चाद-योऽसत्त्वे' में चादिगण में ऐसा ही पाठ है । दो का समुदाय नहीं है ।]

अथवा प्रतिषिद्ध (आङ्) की प्रगृह्य संज्ञा करने के लिये यह सूत्र बनाया जा रहा है—ओषु यातं मरुतः । ओषु यातं बृहती शक्वरी च । ओ चित् सखायं सख्या

शक्वरी च। ओ चित्सखायं सख्या ववृत्याम् (ऋ० १०।१०।१) ॥

(च्व्यन्ते सूत्रप्रवृत्तिनिराकरणाधिकरणम्)

(१६५ आक्षेपवार्तिकम् ॥१॥)

॥ * ॥ ओतश्च्विप्रतिषेधः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

ओदन्तो निपात इत्यत्र च्व्यन्तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥ अनदः अदः अभवत्

प्रदीपः

आदिवद्भावादुकारग्रहणेन गृह्यत इति सिध्यत्येव प्रगृह्यसंज्ञा। तस्याश्च प्रयोजनं क्वचिच्छाखायाम्—ओ अयातम्—इतिपाठे प्रकृतिभावः।

अदोऽभवदिति। च्व्यन्तत्वेनात्र निपातत्वम्, ऊर्यादिच्वीत्यत्र निपाताधिकारात् ॥ प्रतिषिद्धार्थत्वादस्य कथमत्र प्राप्तिरिति चेद्, उभयार्थत्वाददोषः। तथा ह्योदन्तस्य

उद्द्योतः

धर्मप्रयुक्तकार्यस्य निवृत्तेरतिदेशस्वभावसिद्धत्वात्। न चान्तवत्त्वमेव दुर्लभं शास्त्रीयकार्याभावादिति वाच्यम्; तत्रापि प्रतिषेधस्य गम्यतया शास्त्रतात्पर्यविषयत्वेन प्रगृह्यत्वाभावस्य शास्त्रीयतयाऽन्तवत्त्वप्रवृत्तेरिति बोध्यम् ॥ तस्याश्चेति। प्रगृह्येषु पदपाठे इतिशब्दप्रयोगनियमादपि फले विशेषो बोध्यः ॥

भाष्ये—ओतश्च्वीति। पूर्वसूत्रवदत्राप्यर्थाधिकाराद् गौणमुख्यन्यायस्याप्रवृत्तिरित्याशयः ॥ प्रतिषिद्धार्थत्वादिति। प्रतिषिद्धसंज्ञकं पदं प्रतिषिद्धपदेनोच्यते ॥

भावबोधिनी

ववृत्याम्। (ऋ० १०।१०।१) [इसमें आ + उ = ओ—में 'अन्तादिवच्च' सूत्र से अन्तवद्भाव मान लेने पर आङ्त्व का अतिदेश होने से 'ओ' में भी आङ्त्व का अतिदेश होने से 'ओ' भी आङ् बन जाता है। अब 'निपात एकाजनाङ्' से प्रगृह्य संज्ञा निषिद्ध हो जायगी। इसे करने के लिये ही यह सूत्र बनाया जा रहा है। यद्यपि उदाहृत स्थल में प्रगृह्य संज्ञा का कोई फल नहीं है परन्तु पदपाठ में लौकिक 'इति' शब्द परे रहते 'ओ + इति' आदि में प्रगृह्य संज्ञा का फल होता है। तथा किसी अन्य शाखा में 'ओ अयातम्' ऐसे पाठ में भी फल समझना चाहिये।]

(वा०) ओदन्त (की प्रगृह्य संज्ञा में च्व्यन्त) का प्रतिषेध (कहना चाहिये)।

(भा०) ओदन्त निपात प्रगृह्य होता है इसमें च्वि-प्रत्ययान्त का प्रतिषेध कहना चाहिये। उदाहरण—अनदः अदः अभवत्—इस अर्थ में—अदोऽभवत्, अतिरः

= अदोऽभवत्, अतिरः तिरः अभवत् = तिरोऽभवत् ॥

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

न वक्तव्यः । 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्य' इत्येवं न भविष्यति ॥

प्रदीपः

निपातस्य प्रगृह्यसंज्ञा विधीयमाना प्रतिबन्धाभावाददोऽभवदित्यत्रापि भवति, ओ षु यातमित्यत्रापि परत्वादनाङिति प्रतिषेधं बाधत इति प्रतिषिद्धार्थमपि स्यादिति को विरोधः ॥

ओकारस्य प्रतिपदोक्तस्य ग्रहणमित्युत्तरम् ॥

उद्द्योतः

परत्वादिति । निषेधाश्च बलीयांस इत्यस्य तु नायं विषयः । तस्य पूर्वेण सह पाठात्तन्निषेधकत्वादिति भावः ॥

प्रतिपदोक्तस्येति ॥ न च प्रतिषिद्धार्थोऽयमारम्भ इति पूर्वभाष्यासङ्गत्यात्रैतत्परिभाषाया अप्रवृत्तिरेवानित्यत्वादुचितेति वाच्यम्, अस्यैकदेशयुक्तत्वात् ॥

भावबोधिनी

तिरः अभवत्—इस अर्थ में—तिरोऽभवत् । [अदस् तथा तिरस् शब्दों से 'अभूततद्भावे' (५।४।४०) इस सूत्र से च्वि प्रत्यय, सर्वापहारी लोप, 'ऊर्यादिच्विडाचश्च' (१।४।६१) से च्व्यन्त की निपात संज्ञा होती है । स् का रुत्व, उत्व और गुण करने पर 'अदो' 'तिरो' ऐसे ओदन्त निपातों की प्रगृह्य संज्ञा प्राप्त है । यदि कर दी जाय तो पूर्वरूप सन्धि नहीं होगी । अतः च्विप्रत्ययान्त की प्रगृह्य संज्ञा का प्रतिषेध करना चाहिये ।]

(प्रतिषेध) नहीं कहना चाहिये क्योंकि 'लाक्षणिक तथा प्रतिपदोक्त में प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण होता है' इस परिभाषा के द्वारा [लाक्षणिक ओदन्त की प्रगृह्य संज्ञा] नहीं होगी । ['अदो' 'तिरो' में स् का रुत्व, उत्व, गुण करने के लिये लक्षणों = सूत्रों की प्रवृत्ति होती हैं । अतः लाक्षणिक होने से इनकी प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती है ।]

(आक्षेपसाधकभाष्यम्)

एवमपि—अगोः गोः समपद्यत = गोऽभवद्—अत्र प्राप्नोति ॥

(समाधानभाष्यम्)

एवं तर्हि "गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः" इति । तद्यथा—'गौरनु-

प्रदीपः

एवमपीति । ओकारस्यात्र प्रतिपदोक्तत्वमस्ति, गमेर्डो इति साक्षादुच्चारणात् । यस्य हि साक्षादुच्चारणं नास्ति, आद्गुण इत्यादिसामान्यलक्षणेन यद्रूपं निष्पाद्यते तल्लाक्षणिकमुच्यते ॥

एवं तर्हीति । गुणादागतो गौणः । यथा गोशब्दस्य जाड्यादिगुणनिमित्तोऽर्थो वाहीकः । मुखमिव प्रधानत्वान्मुख्यः । तत्र स्वं रूपमित्यत्र रूपग्रहणेनार्थपरिग्रहस्य ज्ञापितत्वादर्थवतः कार्येण भवितव्यम् । स चार्थः प्राथम्यान्मुख्य एव गृह्यते । गौणे ह्यर्थे शब्दः प्रवर्तमानो मुख्यार्थारोपेणैव प्रवर्तते । अनियतश्च गौणोऽर्थः । तस्माल्लौकिकोऽर्थ

उद्द्योतः

तद्ध्वनयन् भाष्ये आह—एवमपीति । ननु लक्षणेन प्रतिपादितत्वादिदमपि लाक्षणिकमत आह—यस्य हीति ॥

प्रधानत्वाद् । अर्थान्तरप्रतीतिनिरपेक्षतया प्रतीयमानत्वात् ॥ तादृशार्थबोधकत्वा-च्छब्दस्यापि गौणत्वं मुख्यत्वं च बोध्यम् । गौणमुख्यन्यायबीजं दर्शयितुमाह—तत्र स्वं रूपमिति ॥ प्राथम्यमेवोपपादयति—गौणे हीति । आरोपाय हि पूर्वं तदुपस्थितिरावश्य-कीति भावः ॥ मुख्यार्थारोपेणेति । आरोपितसिंहत्ववान् माणवकादिसमभिव्याहारे

भावबोधिनी

ऐसा मान लेने पर भी—अगोः गोः समपद्यत—इस अर्थ में गोऽभवत्—इसमें (प्रगृह्य संज्ञा) प्राप्त होती है । [क्योंकि यहाँ ओकार प्रतिपदोक्त है और च्व्यन्त होने से निपात भी है ।]

यदि ऐसा है तब तो 'गौण और मुख्य में मुख्य में कार्य का ज्ञान करना चाहिये ।' [इस वचन से गौण में प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती है ।] जैसे—'गौर-नुबन्ध्यः अजः अग्नीषोमीयः' इस वाक्य से वाहीक पुरुष का अनुबन्धन नहीं किया जाता है ।

विमर्श—पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—(१) गौण, (२) मुख्य । गुणों के आधार पर होने वाला गौण और मुख के समान होने वाला प्रधान । जैसे—जाड्यादि गुणों के कारण प्रतीत होने वाला 'वाहीक' यह गो शब्द का गौण अर्थ है । इस प्रकार अगोः गोः समपद्यत—गोऽभवत् आदि में भी 'गो' का गोत्व जाड्यादि

बन्ध्योऽजोऽग्नीषोमीयः' इति न वाहीकोऽनुबध्यते ॥

प्रदीपः

न्यायो गौणमुख्ययोरिति ॥ गोऽभवदित्यत्र च जाड्यादिना धर्मेण गोत्वमारोपितमिति गौणत्वमर्थस्य । गोऽभवदित्यत्र च वृत्तौ प्रकृतेः कर्तृत्वं, संघीभवन्ति ब्राह्मणा इति बहुवचनदर्शनात् । प्रकृतौ च गोत्वमारोपितं, न तु मुख्यमिति प्रगृह्यत्वाभावः ॥

उद्द्योतः

सिंहशब्दार्थं इति भावः ॥ मुख्यस्यैव ग्रहणे युक्त्यन्तरमाह—अनियतश्चेति । सिंहशब्दस्य माणवकबलीवर्दादिषु प्रयोगादिति भावः ॥ एतेन—'वर्णग्रहणे लक्षणप्रतिपदोक्त-परिभाषाऽप्रवृत्तेरोकारस्य लाक्षणिकत्वमित्यादि चिन्त्यम्'-इत्यपास्तम् ॥ अनयैव तस्यापि वारणाद् ॥ ह्वावामश्चेत्यादेस्तज्ज्ञापकस्य लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषाऽनित्यत्वमात्रज्ञाप-कतया वर्णग्रहणे सर्वत्र तदप्रवृत्तौ मानाभावाच्च ॥ न चेयमपि अर्थवत्परिभाषामूलकत्वा-त्तद्वदेव विशिष्टरूपोपादानविषयेति कथमत्र वर्णग्रहणे प्रवर्तता तत्रैवार्थोपस्थितेः सत्त्वादिति वाच्यम्,निपात इति विशिष्टरूपोपादानसत्त्वात्॥ निपातसंज्ञा हि चादिपदोप-स्थितचादीनां सति संभवेऽर्थवतामेवेति ये सार्थकास्तेषां निपातपदेनापि तत्तदर्थ-विशिष्टानामेवोपस्थितिरिति प्रकृतसूत्रस्थनिपातपदेन मुख्यार्थकनिपातानामेव ग्रहणम्, न तु गौणार्थकानामिति भावः ॥

एवंच कार्यकालपक्षेऽपि च्व्यन्ता निपाता इत्यस्यात्रानुपस्थितिः, एतत्परिभाषा-वशाद् । विशिष्टरूपपदेन चार्थवद्रूपमेवोच्यते ॥ प्रकृते गौणत्वमुपपादयति-जाड्यादिनेति । आरोपे बीजमाह—प्रकृतेः कर्तृत्वमिति । एवंच गोऽभवदित्यस्य गोभिन्नकर्तृकं गोसदृश-रूपेण भवनमर्थः । यत्र च योगीश्वरशापादिना मुख्यगोरूपप्राप्तिस्तत्र च्विर्नेष्यते इति गोसदृशरूपेण भवनप्रतीतेस्तस्य गौणत्वमिति भावः ॥ [ननु ?] सुवर्णपिण्डः खदिराङ्गा-रसदृशे कुण्डले भवत इति भाष्ये विकृतेरपि कर्तृत्वदर्शनादुक्तं—वृत्ताविति । एवंच च्व्यन्ते प्रकृतेरेव कर्तृत्वमिति भावः ॥ प्रकृतेरेव कर्तृत्वे हेतुमाह—सङ्घीभवन्तीति ॥

भावबोधिनी

गुणों से होने के कारण गौण है अतः इसकी प्रगृह्य संज्ञा नहीं हो सकती । जैसे 'गौरनुबन्ध्यः, अजः अग्नीषोमीयः' वेद वचन से . मुख्य गो पशु का ही अनुबन्धन कार्य किया जाता है न कि मूढता आदि गुणों के कारण लक्षणा से प्रतीत होने वाले वाहीक पुरुष का । निष्कर्ष है कि 'गोऽभवत्' आदि में गोत्व आरोपित है, मुख्य नहीं है । अतः इसकी प्रगृह्य संज्ञा नहीं होगी ।

(समाधानबाधकभाष्यम्)

कथं तर्हि वाहीके वृद्ध्यात्वे भवतः—गौस्तिष्ठति, गामानयेति ?

(समाधानसाधकभाष्यम्)

अर्थाश्रय एतदेवं भवति। यद्धि शब्दाश्रयम्, शब्दमात्रे तद्भवति। शब्दा-

प्रदीपः

शब्दाश्रये चेति। स्वार्थे वृत्तात् प्रातिपदिकाद्विभक्तावुत्पन्नायां कार्येषु कृतेषु शब्दान्तरसन्निधानाद् गौणत्वं प्रतीयते। तस्य च स्वार्थस्य मुख्यव्यपदेशो नास्ति, गौणापेक्षया सम्बन्धिशब्दत्वान्मुख्यपदेशस्य गौणाभावेऽभावात् छब्दाश्रये चेत्युक्तं, न त्वत्रार्थो

उद्द्योतः

ननु शब्दाश्रये चेतिभाष्यास्यार्थरहितवर्णमात्राश्रये इत्यर्थः प्रतीयते, स चायुक्तः, सर्वनामस्थानामृशसाक्षिप्तप्रातिपदिकस्येत इत्यनेन विशेषणादनयोरपि विशिष्टशब्दाश्रयत्वादत आह—स्वार्थे इति। स्वार्थादिप्रयुक्तकार्येण पूर्णस्य पदस्यार्थप्रतिपादनाय प्रयोगार्हस्य पदार्थान्तरान्वये बाधप्रतिसन्धाने गौणार्थप्रतीतेरिति भावः। आक्षेपे आक्षिप्तस्य वा शब्देऽन्वये मानाभावाच्च। गौणापेक्षयेति। मुख्यशब्दस्य गौणापेक्षया संबन्धिशब्दत्वात् गौणाभावे=गौणस्य बुद्ध्यसंनिधाने मुख्यव्यपदेशस्य=मुख्यपदस्याभावादित्यन्वयः॥ एवंच शब्दाश्रये चेति भाष्यस्य मुख्यव्यपदेशरहितस्वार्थबोधकप्रातिपदिकरूपशब्दाश्रये इत्यर्थः। पदव्यपदेशरहितस्य कार्यित्वेनाश्रयणमिति फलितमिति तात्पर्यम्॥

ननु द्वितीयादेः कर्मत्वाद्यर्थकस्य कारकत्वज्ञानसापेक्षतया गां वाहीकमानयेत्यादौ विशिष्टस्य क्रियासंबन्धेन कर्मत्वेऽपि तदभिधानाय जायमाना द्वितीया समुदायस्याप्राति-

भावबोधिनी

(अनु०) यदि आरोपित में यह संज्ञा नहीं होती है तब वाहीक अर्थ की प्रतीति रहने पर ओ की वृद्धि और आत्व कैसे होते है—गौस्तिष्ठति। गामानय। [यहाँ गो = वाहीक-देशवासी बैठता है। गो = वाहीक-देशवासी को लाओ—इन अर्थों की प्रतीति होने से गोत्व आरोपित है मुख्य नहीं है। तब 'गोतो णित्' (७।१।९०) 'औतोऽम्शसोः' (६।१।९३) से णिद्वद्भाव से वृद्धि तथा आत्व ये कार्य 'गो' शब्द के कैसे होंगे ?

अर्थ को मान कर किये जाने वाले कार्य में 'गौण-मुख्य' यह न्याय लगता है। परन्तु जो कार्य शब्द को मान कर होता है वह तो केवल शब्द में होता है। 'गो' की वृद्धि तथा आत्व ये दोनों ही शब्द को मान कर होते हैं। [अतः इनमें 'गौण-मुख्य' न्याय नहीं लगता है]॥

श्रये च वृद्ध्यात्वे ॥ ओत् ॥ १५ ॥

प्रदीपः

नापेक्षते। तत्र यथा श्वेतं छागमालभेतेति गुणद्रव्ययोः श्रौतः क्रियासंबन्धो, वाक्यीयात्तु न्यायात् पश्चात् परस्परेण। एवं गां वाहीकमानयेति पूर्वं क्रियाभिसंबन्धापेक्षया विभक्त्यावुत्पन्नायां वाक्यीयात्तु न्यायात् सामानाधिकरण्याद् गौणार्थप्रादुर्भावो भवतीति—पदकार्येष्वेवायं न्यायो न प्रातिपदिककार्येष्वित्युक्तम्—शब्दाश्रये चेति ॥१५॥

उद्द्योतः

पदिकत्वात्प्रत्येकं प्रवर्तते, ततश्च पूर्वमेव गौणत्वादात्वं न स्यादत आह—तत्रेति॥ श्रौतः क्रियासंबन्ध इति। द्वितीयाश्रुत्यनुपपत्त्या कल्पित इत्यर्थः॥ विभक्त्यन्तेन हि उपस्थितार्थस्य क्रियान्वय इति ततः प्राग् गुणे साक्षात्परंपरासाधारण्येन द्रव्ये च साक्षात् सामान्यतः क्रियाजन्यफलाश्रयत्वादिविवक्षयोभयत्र विभक्तिरिति भावः॥ वाक्यीयात् न्यायाद्। आकाङ्क्षादिमूलकशक्त्या। पश्चाद्=विभक्त्युत्पत्त्यनन्तरम्॥ एवमिति। द्वितीयादेः सामान्यतः क्रियासंबन्धज्ञानापेक्षत्वात् तज्ज्ञानमूलकद्वितीयाद्युत्पत्तौ गोपदार्थस्य वाहीकेऽन्वयः पश्चादेव। एवंच कर्मणोरेव विशेष्यविशेषणभावः, न तु विशिष्टस्य कर्मत्वमिति भावः॥

यत्तु—विभक्त्यर्थस्य क्रियाकारकसंबन्धरूपत्वेन तयोः संबन्धबोधः श्रुतिकृत इति श्रुतेर्वाक्यापेक्षया शीघ्रं प्रवृत्त्या प्रथमं तयोरन्वयबोधः पश्चाद्गुणद्रव्ययोः परस्परान्वयबोधः। एवं गां वाहीकमानयेत्यादावपीति—कैयटार्थं व्याख्याय दूषयन्ति—गां वाहीकं पाठयेत्यादौ यत्र गौणार्थप्रादुर्भावं विना क्रियासंबन्ध एवासंभवी तत्र पूर्वमेव गौणत्वावगतेरात्वाद्यनापत्तेरिति॥ तदेतेन परास्तम्। विभक्त्यन्तस्यैव प्रयोगेण तत उपस्थिता-

भावबोधिनी

विमर्श—कुछ कार्य शब्दमात्र को मान कर किये जाते हैं, शब्दाश्रित होते हैं। अतः प्रयोगार्ह पद बनाने के लिये उन्हें पहले ही कर लिया जाता है। निष्पन्न प्रयोगार्ह एक पद का जब दूसरे पद के साथ प्रयोग होता है तब उनके अर्थों का अन्वय देखा जाता है। उसी दशा में मुख्य अथवा उपचरित=गौण अर्थ का निर्णय हो पाता है। अतः पहले 'गौः' और 'गाम्' पद बना लिये जाते हैं, इनमें णिद्वद्भाव, वृद्धि तथा आत्व रूप कार्य निष्पन्न हो जाते हैं। तब वक्ता के प्रयोग करने की भावना के अनुसार 'तिष्ठति' या 'आनय' को देख कर गो शब्द का वाहीक यह अर्थ लक्षणा वृत्ति से प्रतीत होता है। अतः अभिधाश्रित कार्य पहले प्रातिपदिक में करने के बाद पद बन जाता है। अब अर्थाश्रित गौणमुख्यभाव प्रतीत होता है। अतः निष्पन्न रूप का परिवर्तन करने का कोई आधार नहीं रह जाता है॥ १५॥

(१५ प्रगृह्यसंज्ञादेशिसूत्रम् ॥ १।१।५ आ. ६ ॥)

उञ ऊँ ॥ १।१।१७ ॥

(अनिष्टापत्तिवारणाधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

इह कस्मान्न भवति—आहो इति, उताहो इति ?

प्रदीपः

उञ ऊँ ॥१७॥ इह कस्मादिति । निपातसमाहारं मत्वा प्रश्नः ॥

उद्द्योतः

नामर्थानामितरान्वयेन प्रातिपदिकमात्रार्थेन पूर्वमन्वय इत्यस्य वक्तुमप्यशक्यत्वाच्च ताहृशबोधद्वयकल्पने गौरवाच्च अनुभवाभावाच्च ॥ किं च अपदस्याप्रयोगेण बोद्धृभिः सर्वत्र पदस्यैव गौणार्थत्वग्रहेण अत्वं त्वं संपद्यते, अमहान्महान्भूतस्त्वद्भवतीत्यादौ भाष्य-प्रयोगे त्वाद्यादेशदीर्घादीनां करणेन चास्य न्यायस्य पदकार्यमात्रविषयत्वमुपात्तविशिष्ट-रूपके इत्यपि बोध्यम् । अत एवात इञित्यादेः श्वशुरसदृशस्यापत्यमित्यर्थेऽपि प्रवृत्तिः । किं च गामित्युक्ते सर्वा क्रिया प्रसवतेत्याद्यर्थवत्सूत्रस्थभाष्यबलात् संस्कृत्य संस्कृत्य पदान्युत्सृज्यन्ते तेषां यथेष्टमभिसंबन्धो भवति इति वृद्धिसूत्रस्थभाष्याच्च सामान्यतः क्रियाजन्यफलाश्रयत्वादेरेव द्वितीयादिनियामकत्वेन मदुक्तव्याख्यैव तस्योचिता । प्रयोक्तापि पदान्येवार्थे मुख्ये गौणे वा प्रयुयुक्षति, न तु प्रातिपदिकादिक्रमेणेति सुष्ठूच्यते-पदकार्येष्विति । समानाधिकरण्यादिति । इदमुपलक्षणं पठनादिक्रियान्वयादित्यपि बोध्यम् ॥१५॥

उञ ऊँ ॥१७॥ प्रश्न इति । एवं चात्र ऊँ आदेशः प्राप्नोतीति भावः ॥

भावबोधिनी

उञ् ऊँ ॥१।१।१७॥

[उञ् का ऊँ आदेश विकल्प से होता है ।]

आहो+इति, उताहो + इति—इनमें [प्रगृह्यसंज्ञा के साथ-साथ 'ऊँ' आदेश] क्यों नहीं होता है ?

विमर्श—इस सूत्र से पहले 'सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे' (१।१।१६) सूत्र है जिस पर भाष्य नहीं लिखा गया है । प्रस्तुत सूत्र का अर्थ जानने के लिये पूर्व के सूत्र का अर्थ जानना आवश्यक है । सम्बुद्धि-निमित्तक जो ओकार वह अनार्ष =

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

उञ इत्युच्यते । न चात्रोञं पश्यामः ॥

(आक्षेपसाधकभाष्यम्)

उञोऽयमन्येन सहैकादेश उञ्ग्रहणेन गृह्यते ॥

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—'नोञ एकादेश उञ्ग्रहणेन गृह्यते' इति । यदयम् "ओद्" इत्योदन्तस्य निपातस्य प्रगृह्यसंज्ञां शास्ति ॥

प्रदीपः

यदयमिति । एकादेशे कृते आदिवद्भावात् संज्ञासिद्धिः ॥

उद्द्योतः

संज्ञासिद्धिरिति । निपात एकाजित्यनेनेत्यर्थः ॥ स्थानिवद्भावेन तु नैतल्लभ्यम् । एकादेशस्थान्यल्वृत्तिधर्मत्वात् । एकादेशस्थान्यल्मात्रवृत्तिधर्मस्तु नायम् । उञिति समुदायेऽपि सत्त्वात् । तेनान्तादिवद्भावेन ताद्रूप्यानतिदेशेऽपि न दोषः ॥

भावबोधिनी

अवैदिक = लौकिक 'इति' शब्द परे रहते शाकल्य आचार्य के मत में प्रगृह्य होता है । 'अनार्षे इतौ' तथा 'शाकल्यस्य' इनकी अनुवृत्ति प्रस्तुत सूत्र में होने से इसका अर्थ यह होता है—'उञ् की प्रगृह्यसंज्ञा होती है लौकिक 'इति' शब्द परे शाकल्य आचार्य के मत से । अब दूसरा योग बनाया जाता है—'ऊँ' इसके साथ भी उक्त 'इति' तथा 'शाकल्यस्य' का सम्बन्ध होता है । अतः इस द्वितीय योग का अर्थ है—ञकारेसंज्ञक 'उ' इस निपात का 'इति' शब्द परे रहते 'ऊँ' ऐसा आदेश शाकल्य के मत में होता है । इस प्रकार 'उञः' और 'ऊँ' ये दो सूत्र समझने चाहिए । इसका विवेचन भाष्य में आगे किया गया है ।

(अनु०) उञ् का ऊँ ऐसा आदेश कहा गया है किन्तु इन स्थलों में 'उञ्' नहीं देखते हैं । [वो देखते हैं ।]

[आह+उ, उत+आह+उ इस दशा में] उञ् का अन्य वर्ण अ के साथ गुण एकादेश हो रहा है जो [परादिवद्भाव से] उञ् ग्रहण से गृहीत होता है ।

आचार्य पाणिनि का व्यवहार यह ज्ञापित करता है कि 'उञ् का एकादेश उञ् के ग्रहण से नहीं गृहीत होता है', जो कि आचार्य 'ओत्' (१।१।१४) इस सूत्र से ओदन्त की प्रगृह्यसंज्ञा का अनुशासन करते हैं । [यदि एकादेश के बाद भी परादिवद्भाव से ही उञ् गृहीत होता तो 'आहो इति उताहो इति' आदि में 'निपात एकाजनाङ्'सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा हो जाती 'ओत्' यह सूत्र व्यर्थ हो जाता । अतः यह ज्ञापित करता है कि परादिवद्भाव से उञ् का ग्रहण नहीं होता है ।]

(आक्षेपसाधकभाष्यम्)

नैतदस्ति ज्ञापकम् । उक्तमेतत्—'प्रतिषिद्धार्थोऽयमारम्भः' इति ॥ दोषः खल्वपि स्याद् यद्युञेकादेश उञ्ग्रहणेन न गृह्येत । जानु उ अस्य रुजति, जानू अस्य रुजति, जान्वस्य रुजति, "मय उञो वो वा" (८।३।३३) इति वत्वं न स्यात् ॥

(समाधानभाष्यम्)

एवं तर्ह्येकनिपाता इमे ॥

अथ वा द्वावुकाराविमौ । एकोऽननुबन्धकः । अपरः सानुबन्धकः । तद्योऽननुबन्धकस्तस्यैष एकादेशः ॥

उद्द्योतः

भाष्ये यद्युञ् इति । सामान्येन ज्ञापकमिति भावः । कत्वाभापक्षे ऊँ आदेशो न स्यादित्यपि दोषो बोध्यः ॥

भावबोधिनी

यह ज्ञापक नहीं है । क्योंकि यह कहा गया है—'ओत्—यह प्रतिषिद्ध प्रगृह्यसंज्ञा को रोकने के लिये है अर्थात् प्रगृह्यसंज्ञा के निषेध को वारित करने के लिये 'ओत्' सूत्र बनाया जा रहा है । इसके अतिरिक्त यह दोष भी होगा यदि 'उञ्' का एकादेश उञ् ग्रहण से नहीं गृहीत किया जायगा तो—जानु उ अस्य रुजति, जानू अस्य रुजति, जान्वस्य रुजति—'मय उञो वो वा' (८।३।३३) इससे वत्व नहीं हो सकेगा ।

विमर्श—'ओत्' सूत्र के भाष्य में यह कहा गया है—प्रतिषिद्धार्थोऽयमारम्भः' प्रतिषिद्ध प्रगृह्यसंज्ञा को रोकने के लिये, अर्थात् प्रगृह्यसंज्ञा का निषेध रोकने के लिये यह सूत्र बनाया गया है । अतः यह व्यर्थ नहीं हो सकता तब ज्ञापक भी नहीं माना जा सकता । इसके अतिरिक्त यदि उञ् का एकादेश उञ्ग्रहण से गृहीत नहीं किया जायगा तो 'जानु उ = जानू अस्य' में 'मय उञो वो वा' (८।३।३३) से उ का व् आदेश नहीं होगा और फलतः 'जान्वस्य' रूप नहीं हो सकेगा । अब 'आहो इति, उताहो इति' इनमें भी उञ् हो जाने से उञ् का ऊँ प्राप्त ही होगा ।

(अनु०) यदि ऐसा है तब तो 'आहो, उताहो' ये एकनिपात शब्द हैं । [सन्धि से निष्पन्न उञ् सहित नहीं हैं ।]

अथवा ये दो उकार हैं—(१) एक अनुबन्धरहित अकेला उ । दूसरा अनुबन्धसहित उञ् । अतः जो अनुबन्धरहित अकेला 'उ' है उसी का [आहो, उताहो—इनमें गुण रूप] एकादेश है । [आह + उ, उताह + उ में उञ् नहीं है शुद्ध 'उ' है । अतः एकादेश में भी उञ् की प्राप्ति नहीं हो सकती ।]

(योगविभागाधिकरणम्)

(१६६ सिद्धान्तआक्षेपवार्त्तिकम् ॥ २ ॥)

॥ * ॥ उञ इति योगविभागः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

उञ इति योगविभागः कर्तव्यः । "उञः" शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन प्रगृह्यसंज्ञा भवति । उइति, विति ॥ ततः "ऊँ" उञ ऊँ इत्ययमादेशो भवति शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन दीर्घोऽनुनासिकः प्रगृह्यसंज्ञकश्च—ऊँ इति ॥

प्रदीपः

इह रूपत्रयं साध्यम्—उइति, विति, ऊँ इति । तच्चकैयोगे न सिध्यति । एकयोगे हि उञ इति श्रुतिरादेशेन श्रुतत्वात् संबध्यते न प्रगृह्यसंज्ञया । सा तु निपात एकाजनाङिति नित्यैवास्य भवति । शाकल्यश्रुत्यनुवृत्त्या ऊँ आदेशे विकल्पिते रूपद्वयं स्यात्—उ इति, ऊँ इति । न तु वितीति, तदर्थमाह—उञ इति योगविभाग इति । उञ इत्यत्र शाकल्यस्येतौ प्रगृह्यमिति चानुवर्तते । तत्र प्रगृह्यसंज्ञैव शाकल्यस्य मतेन विधीयते, नान्येषामिति स्मृत्यन्तरानुसन्धानद्वारेण विभाषा संपद्यते । उ इति वितीति । ऊँ इत्यत्र

उद्द्योतः

नित्यैवेति । आदेशाभावपक्षे इत्यर्थः ॥ न तु वितीति ॥ न च उ इतीत्यस्य निरनुबन्धकोकारमादाय सिद्धत्वेन शाकल्यानुवृत्तिसामर्थ्यात्पक्षे वितीति भविष्यतीति वाच्यम् । मयः परत्वे किम्वितीत्यादौ मकारसहितनिरनुनासिकवकारघटितरूपासिद्धि-प्रसङ्गात् । शकल्यानुवृत्तिसामर्थ्यान्निपातेति प्रगृह्यत्वाभावे मय इति वत्वस्यासिद्धत्वेन 'इकोयणचीति वत्वेऽनुस्वारापत्तेः । उ इतीत्यतः सानुबन्धकबोधस्यापीष्टत्वेन तदना-पत्तेश्चेति भावः । अन्ये तु अनेन प्रकरणात् प्रगृह्यत्वस्य ऊँ आदेशस्य च विधानेन तस्य निपात इति प्रगृह्यसंज्ञापवादत्वादेतदादेशविकल्पे ऊँ इति, वितीति सिध्यति, न तु उ

भावबोधिनी

(वा०) 'उञः' ऐसा योगविभाग [करना चाहिये] ।

(भा०) 'उञः' ऐसा योग-विभाग करना चाहिये, अलग अलग सूत्र बनाने चाहिये । शाकल्य आचार्य के मत में 'उञ्' की प्रगृह्यसंज्ञा होती है—उ इति, विति । [प्रगृह्यसंज्ञा के कारण विकल्प से प्रकृतिभाव हो जाता है।]इसके बाद 'ऊँ' ऐसा दूसरा [योग=सूत्र करना चाहिये] इसका अर्थ होगा—उञ् का ऊँ ऐसा दीर्घ, अनुनासिक और प्रगृह्यसंज्ञक आदेश होता है शाकल्य आचार्य के मत से—ऊँ इति ।

(योगविभागवैयर्थ्यप्रदर्शनभाष्यम्)

किमर्थो योगविभागः ?

(१६६ आक्षेपप्रयोजनवार्तिकद्वितीयखण्डम् ॥१॥)

॥ * ॥ ऊँ वा शाकल्यस्य ॥ * ॥

प्रदीपः

च यदि शाकल्यस्येति नापेक्ष्यते, तदा प्रगृह्यस्योञो नित्यमादेशः स्यात् । ततश्च 'विति, ऊँ इति' एते द्वे एव रूपे स्याताम् । तस्माच्छाकल्यग्रहणानुवृत्त्या आदेशविकल्पे सति त्रीणि रूपाणि सिध्यन्ति ॥

उद्द्योतः

इति अतो योगविः ॥ न चापवादे विशिष्टे ऊँ आदेशे असति निपातेति प्रगृह्यत्वं स्यात् अप्रवर्त्तमानापवादस्योत्सर्गबाधकत्वाभावात्, अत एव पारेमध्ये इत्यव्ययीभावाभावे उत्सर्गः षष्ठीसमासो भवतीति वाच्यम्; प्रगृह्यपदस्य सर्वत्र साक्षादुद्देश्यसंबन्धस्य क्लृप्तत्वेनात्र विधेयविशेषणत्वे मानाभावात् । सह विधानेन वाक्यभेदस्याप्यभावात् स्थानिवद्भावेन च ऊँ इत्यस्य प्रगृह्यकार्यं बोध्यम् । एवं च पक्षे प्रगृह्यत्वाभावेऽप्यस्य तात्पर्यान्नैतदभावे निपात इत्यस्य प्रवृत्तिरित्याहुः ॥ प्रगृह्यस्येति । अनुवर्तमानप्रगृह्यपदस्यादेशेन संबन्धे उञ्मात्रस्य नित्यं प्रगृह्यसंज्ञकस्य ऊँभावस्य विधानापत्तौ योगविभागेन प्रगृह्यसंज्ञाविधानस्य वैयर्थ्यापत्तेरनुवर्त्तमानप्रगृह्यपदं षष्ठ्यन्ततया विपरिणमय्य स्थानिना संबध्यत इति भावः ॥ द्वे एवेति । न च उ इतीति रूपमपि निरनुबन्धकोकारमादाय सिद्धम्, सानुबन्धकप्रतीत्यनापत्तेः । मयः परत्वे किम्वितीत्यादौ मकारसहितनिरनुनासिकवकारघटितरूपासिद्धिप्रसङ्गाच्च । वस्तुतस्तु उञ इत्यस्यात्रानुवृत्तस्यार्थाधिकारादप्रगृह्यपरतैव, प्रगृह्यमिति चादेशविशेषणमेव । तथैव भाष्यस्वरसादिति ऊँ इति उ इति च रूपे स्यातां न तु वितीति तदर्थं विकल्पानुवृत्तिः । ऊँ इति दीर्घोच्चारणात्प्रगृह्यपदस्यात्र संबन्ध इति सर्वमवदातम् ॥

किमर्थो योगविभाग इति । प्रगृह्यत्वादेशयोः शाकल्यमते एव प्राप्त्या एकप्रयोग एव प्रवृत्तिः स्यात् । एवं च ऊँ इति वितीति च रूपे । ते चैकयोगेऽपि सिध्यत इति प्रश्नः ॥ एवं चैकयोगे वितीति न सिध्यतीति प्रागुक्तकैयटश्चिन्त्य एवेति बोध्यम् ॥

भावबोधिनी

यह योग-विभाग अर्थात् दो सूत्र किसलिये किये जा रहे हैं ?

(वा०) शाकल्य के मत से 'ऊँ' विकल्प से हो सके ।

(भाष्यम्)

शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन ऊँ विभाषा यथा स्यात्। ऊँ इति उ इति। अन्येषामाचार्याणां मतेन—विति ॥ उञ ऊँ ॥ १७ ॥

प्रदीपः

ऊँ वा शाकल्यस्येति। शाकल्यस्य श्रुतेरेव फलं वाग्रहणेन प्रतिपादयति। एतदेव व्याचष्टे—शाकल्यस्य विभाषा यथा स्यादिति प्रगृह्यसंज्ञादेशश्च। तत्र यद्यपि पूर्वसूत्रेषु फलरूपतया निर्देशात् प्रदेशेष्विव प्रगृह्यशब्दो द्विवचनाद्यभिधेयस्तथापीहोञ इति षष्ठी-निर्देशात् स्वरूपपदार्थकः संपद्यते ॥१७॥

उद्द्योतः

शाकल्येति। एवं च योगविभागसामर्थ्यात् शाकल्यानुवृत्तिसामर्थ्याच्च तन्न यथा-श्रुतम्। किं तु विकल्पमात्रतात्पर्यकमिति विकल्पद्वयेन सकलेष्टसिद्धिरिति भावः। एवं च शाकल्यमत एव विकल्पः। तदाह-भाष्ये—शाकल्यस्य विभाषेति ॥ शाकल्यमते ऊँ आदेशविकल्पे यत्फलति तद् दर्शयति—प्रगृह्यसंज्ञादेशश्चेति। तन्मते पर्यायेणोभयं सिध्यतीत्यर्थः ॥ ननु प्रगृह्यमित्यस्य प्रथमान्तस्य कथमुञ इत्यनेन षष्ठ्यन्तेनान्वय इत्यत आह - यद्यपीति ॥ फलरूपतयेति। फलं संज्ञाया बोध्यतया संज्ञिनः। फलपदेन च तद्बोधकं पदं लक्ष्यते। तद्रूपतया=तत्समानविभक्तिकतयेत्यर्थः ॥ द्विवचनाद्यभिधेय इति बहुव्रीहिः। प्रगृह्यशब्दवदभिन्नं द्विवचनादीति बोधः ॥ प्रगृह्यशब्दवत्वेन च द्विवचनादि प्रगृह्यपदाभिधेयमिति बोध्यम् ॥ स्वरूपपदार्थक इति। उञो वाचकं प्रगृह्यपदमित्यर्था-दिति भावः ॥ वस्तुतः पूर्वत्रापि शब्दपर एव। शब्दार्थयोरभेदात्सामानाधिकरण्यम्—पटः शुक्ल इतिवत्। प्रकृते तु पटस्य शुक्ल इत्यत्रैवोक्तरीत्या वैयधिकरण्येनान्वय इति न कश्चिद्दोषः ॥ केचित्तु प्रदेशे वृद्धिपदाभिन्ना आदैच इति उपस्थितिः। संज्ञावाक्ये तु तथा शाब्दबोधः। द्विवचनाद्यभिधेय इत्यस्य द्विवचनादिविशेष्यकबोधजनक इत्यर्थः। षष्ठीसमभिव्याहारे तु विशेष्यतया स्वरूपपदार्थक इति कैयटं योजयन्ति ॥ १७॥

भावबोधिनी

(भा०) जिस प्रकार से शाकल्य आचार्य के मत से ऊँ ऐसा आदेश विकल्प से हो सके। इससे—ऊँ इति, उ इति दो रूप होते हैं। अन्य आचार्यों के मत में केवल 'विति' यही रूप होता है।

विमर्श—प्रयोग में तीन रूप मिलते हैं उनकी उपपत्ति योग-विभाग के बिना सम्भव नहीं है। जब 'उञः' और 'ऊँ' ये दो सूत्र बनाये जाते हैं तब एक रूप प्रगृह्य संज्ञा और प्रकृतिभाव करने पर होता है—(१) उ इति। दूसरा 'ऊँ' आदेश करने पर (२) ऊँ इति। और तीसरा रूप 'मय उञो वो वा' (८।३।३३) सूत्र से 'उ' का व् आदेश करने पर (३) व् इति=विति। यदि योगविभाग नहीं किया जायगा तो प्रथम रूप 'उ इति'

(१६ प्रगृह्यसंज्ञासूत्रम् ॥ १।१।५ आ. ७ ॥)

ईदूतौ च सप्तम्यर्थे ॥ १।१।१८ ॥

(अर्थग्रहणप्रयोजननिरूपणाधिकरणम्)

(१६७ आक्षेपवार्तिकम् ॥ १ ॥)

॥ * ॥ 'ईदूतौ सप्तमीत्येव' ॥ * ॥

(भाष्यम्)

ईदूतौ सप्तमीत्येव सिद्धम्, नार्थोऽर्थग्रहणेन ॥

प्रदीपः

ईदूतौ च सप्तम्यर्थे ॥ १८ ॥ ईदूतौ सप्तमीत्येवेति । सप्तमीसहचरितं यदीदूदन्तं सप्तम्यां वा परतस्तत् प्रगृह्यसंज्ञं भवतीत्येव प्रत्ययलक्षणेन लुप्तायामपि सप्तम्यां सोमो गौरी अधिश्रित इत्यादौ भविष्यति प्रगृह्यसंज्ञेति प्रश्नः ॥

उद्द्योतः

ईदूतौ च ॥ १८ ॥ ईकारोकारात्मकसप्तम्या असंभवं मत्वाह—सप्तमीसहेत्यादि । तात्पर्यानुपपत्त्या च लक्षणेति भावः ॥ सप्तम्यां वेति । सप्तमीति पदं लुप्तसप्तमीकं व्याख्यास्यत इति भावः ॥ जघन्यवृत्तिकल्पनापेक्षयेदं न्याय्यमिति तात्पर्यम् ॥ लुप्तायामपीति । न लुमतेति निषेधस्तु अनित्यत्वान्न सप्तम्यां परत इत्यर्थेऽपीति भावः ॥

भावबोधिनी

नहीं बन सकेगा । इसीलिये लिखा है कि शाकल्य के मत में दो रूप ऊँ इति, उ इति । दूसरे आचार्यों के मत में—विति । यद्यपि 'उञ्' इस अनुनासिक का 'व' आदेश भी अनुनासिक ही होना चाहिये किन्तु विधीयमान होने से सवर्णग्राहक नहीं होता है इस लिये शुद्ध निरनुनासिक 'व्' ही होता है ॥ १७ ॥

ईदूतौ च सप्तम्यर्थे ॥ १।१।१८

(वा०) 'ईदूतौ च सप्तमी' इतने से ही (सिद्ध है) ।

(भा०) 'ईदूतौ च सप्तमी' इतने (सूत्र) से ही कार्य सिद्ध है, 'अर्थ' ग्रहण का कोई प्रयोजन नहीं है । [भाव यह है कि 'सप्तमी' इतने से सप्तमी-सहचरित जो ईदन्त, ऊदन्त उनकी प्रगृह्य संज्ञा होती है अथवा सप्तमी परे रहते ईदन्त, ऊदन्त प्रगृह्यसंज्ञक होते हैं—इतने में भी सप्तमी के लुप्त रहने पर भी 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से—'सोमो गौरी अधिश्रितः' आदि में 'गौरी' की प्रगृह्यसंज्ञा उपपन्न है तब 'अर्थ' ग्रहण का क्या फल है ?]

(१६८ समाधानवार्तिकम् ॥२॥)

॥ * ॥ लुप्तेऽर्थग्रहणाद्भवेत् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

लुप्तायां सप्तम्यां प्रगृह्यसंज्ञा न प्राप्नोति ॥

क्व ?

सोमो गौरी अधिश्रितः (ऋ० ९।१२।२)। इष्यते चात्रापि स्यादिति। तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यतीत्येवमर्थमर्थग्रहणम् ॥

प्रदीपः

लुप्त इति। संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिप्रतिषेधादसत्यर्थग्रहणे सप्तम्या एव संज्ञिनीत्वादसत्याश्च कार्याभावात् प्रत्ययनिमित्तं यत्रान्यस्य कार्यं विधीयते तत्रैव प्रत्ययलक्षणसद्भावाद् गौरीत्यत्राप्रसङ्गादर्थग्रहणं कृतम्। अर्थग्रहणे सत्यर्थनिमित्ता संज्ञेयं भवति न, प्रत्ययश्रवणनिमित्तेति लोपेऽपि सिध्यति ॥

उद्द्योतः

ननु प्रत्ययग्रहणेन तदन्तविधौ ईकाराद्यन्तं यत्सप्तम्यन्तमित्यर्थे प्रत्ययलक्षणेन सिद्धं सोमो गौरी इति, तत्राह—संज्ञेति ॥ सप्तम्या एवेति। सप्तमीपदस्य लुप्तसप्तम्यन्तत्वे सप्तमीसहचरितलाक्षणिकत्वे च न मानमिति भावः ॥ यद्यपीकारोकारसप्तम्योरसंभव एव तत्र मानं तथापि वचनादित्यादिना तद्वक्ष्यतीत्यत्र तात्पर्यम् ॥ असत्याश्च कार्याभावादिति। प्रगृह्यसंज्ञाकार्यं हि सन्धिकार्याभावफलकप्रकृतिभावः, लुप्ते षष्ठ्यर्थप्रसङ्गस्य निरूपयितुमशक्यत्वेन सन्धिकार्याप्राप्त्या प्रकृतिभावानुपयोगात्तत्कार्याभाव इत्यर्थः ॥ तदेवाह—प्रत्ययनिमित्तमित्यादिना ॥

भावबोधिनी

(वा०) सप्तमीलुप्त में अर्थग्रहण से प्रगृह्यसंज्ञा होती है।

(भा०) लुप्त सप्तमी में प्रगृह्य संज्ञा नहीं प्राप्त होती है।

कहाँ [नही प्राप्त होती है] ?

'सोमो गौरी अधिश्रितः।' (ऋ० ९।१२।३) (इसमें नहीं प्राप्त होती है।) जब कि इष्ट यही है कि यहाँ भी प्रगृह्य संज्ञा हो जाय। यह किसी उपाय के बिना नहीं हो सकती है इसी के लिये 'अर्थे' का ग्रहण है।

विमर्श—भाव यह है कि 'संज्ञाविधि में प्रत्यय-ग्रहण रहने पर तदन्तविधि नहीं होती है।' अतः तदन्त का निषेध होगा। फलतः ईद् ऊद् रूप सप्तमी की प्रगृह्य संज्ञा करनी होगी और यह सप्तमी यहाँ लुप्त हो चुकी है, अविद्यमान है, अविद्यमान का कार्य नहीं होता है। प्रत्ययनिमित्तक कार्य जहाँ प्रत्यय से भिन्न का किया जाता है वहीं प्रत्यय-लक्षण होता। 'गौरी' इसमें ऐसी स्थिति नहीं है अतः प्रगृह्य संज्ञा नहीं हो सकेगी। किन्तु 'अर्थे' का ग्रहण रहने पर यहाँ अर्थनिमित्तिका संज्ञा होती है प्रत्ययश्रवणनिमित्तिका नहीं। इसलिये लुप्त में भी संज्ञा हो जाती है, यण् सन्धि नहीं होती है। इसीलिये 'अर्थे' का ग्रहण है।

(समाधानबाधकभाष्यम्)

नात्र सप्तमी लुप्यते ॥

किं तर्हि ?

पूर्वसवर्णोऽत्र भवति ॥

(१६९ समाधानसाधकवार्तिकम् ॥ ३ ॥)

॥*॥ 'पूर्वस्य चेत् सवर्णोऽसावाडाम्भावः प्रसज्यते' ॥*॥

(भाष्यम्)

यदि पूर्वसवर्णः, आट् आम्भावश्च प्राप्नोति ॥

प्रदीपः

पूर्वसवर्ण इति । सति च पूर्वसवर्णे एकादेशे चादिवद्भावाद्भवतीकारः सप्तमीति सिद्धा संज्ञा ।

आडाम्भाव इति । एकादेशं बाधित्वाऽऽडागमो स्याताम् ॥

उद्द्योतः

पूर्वसवर्णे इति । स च सुपां सुलुगित्यनेन ॥

एकादेशमिति । परत्वाद् वार्णादाङ्गस्य बलीयस्त्वाच्चेति भावः । एवं च ङ्यन्ते गौरीत्यादौ लुक आवश्यकत्वेन तदर्थमर्थग्रहणमिति तात्पर्यम् ॥

भावबोधिनी

(अनु०) यहाँ 'सप्तमी' लुप्त नहीं है ।

तब क्या है ?

[सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छे०' (७।१।३९) सूत्र से पूर्वसवर्ण-दीर्घ आदेश हुआ है । [गौरी + ङि = इ, पूर्वसवर्णदीर्घ 'गौरी' । इस एकादेश करने के पर परादिवद्भाव से सप्तमी ईकार मान कर प्रगृह्य संज्ञा होने में कोई बाधा नहीं है । 'अर्थे' ग्रहण व्यर्थ हैं ।]

(वा०) यदि पूर्व का सवर्णदीर्घ होता है तो आट् (आगम) और (ङि का) आम् आदेश प्रसक्त होते हैं ।

(भा०) यदि (गौरी इ में 'सुपां सुलुक्-पूर्वसवर्णात्' सूत्र से) पूर्वसवर्णदीर्घ माना जायगा तो ['आण्नद्याः' सूत्र से] आट् का आगम तथा ('ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' सूत्र से) ङि का आम् आदेश प्रसक्त होता है । [कारण यह है कि पूर्वसवर्ण-विधायक 'सुपां सुलुक्' सूत्र(७।१।३९)है जबकि 'आण्नद्याः'(७।३।११२)और''ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' (७।३।११६) हैं अतः परवर्ती होने से ये दोनों लुक् के बाधक हो जाते हैं । दूसरी बात ये दोनों आङ्ग कार्य होने से भी वर्ण-सम्बन्धी कार्य से बलवान् है । अतः ये ही होंगे ।]

(समाधानबाधकभाष्यम्)

एवं तर्हि आहायम्—ईदूतौ सप्तमीति। न चास्ति सप्तमी ईदूतौ, तत्र वचनाद्भविष्यति ॥

(१७० समाधानवार्तिकम् ॥ ४ ॥)

॥ * ॥ 'वचनाद्यत्र दीर्घत्वम्' ॥ * ॥

(भाष्यम्)

नेदं वचनाल्लभ्यम् । अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम् ॥

किम् ?

प्रदीपः

वचनादिति । सर्वत्रैव सप्तमी लुप्यत इति वचनसामर्थ्यात् सप्तमीशब्देन सप्तमी-सहचरितस्य ग्रहणान्मुख्यकल्पनाऽसम्भवे गौणी कल्पना गृह्यते इत्याश्रयणात् सिध्यतीति भावः ॥

उद्द्योतः

सर्वत्रैवेति । ननु ययीत्यादिभ्यो ङौ दीर्घे तनू इत्यादौ ओस्सुपोः पूर्वसवर्णदीर्घे च ईदूदन्तसप्तमीसम्भवात्कथमेतदिति चेन्न; 'ईदूत्सप्तमी प्रगृह्यम्' 'अदसः' 'एच्च द्विवचनम्' इत्येव सिद्धे स्थलान्तरे ईदूतौ सप्तमीति गुरुवचनसामर्थ्येन सप्तमीसहचरित-ग्रहणमिति भाष्याशयान्न दोष इति केचित् ॥ तन्न । 'न चास्ति सप्तमी ईदूताविति' भाष्यासङ्गतेः । तस्मादेतद्भाष्यप्रामाण्यात्तेषामनभिधानमिति तत्त्वम् ॥

भावबोधिनी

यदि ऐसा है तब तो—आचार्य ने 'ईदूतौ सप्तमी' ऐसा कहा है। और कहीं भी ईत्, ऊत् रूप सप्तमी नहीं मिलती है। तब इस वचन के व्यर्थ होने से प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी। [भाव यह है कि सर्वत्र सप्तमीलोप ही रहेगा। यह सूत्र व्यर्थ होने लगेगा। अतः उस लुप्त सप्तमी को ही प्रत्ययलक्षण से मानकर सप्तमी शब्द से सप्तमी-सहचरित का भी ग्रहण करने से 'गौरी' में ईकार सप्तमी हो जाता है। उसकी प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी 'अर्थे ग्रहण अनावश्यक है।]

(वा०) [ईदूतौ सप्तमी—इस] वचनसामर्थ्य से यह सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि जहाँ दीर्घ है [उसमें वचन चरितार्थ है]।

(भा०) इस वचन-निर्माण के सामर्थ्य से यह=पूर्वोक्त कल्पना संभव नहीं है। क्योंकि प्रस्तुत वचन का दूसरा प्रयोजन है।

कौन (सा दूसरा प्रयोजन है) ?

यत्र सप्तम्या दीर्घत्वमुच्यते—"दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम्" (ऋ० ७।१०३।२) इति। सति प्रयोजने इह न प्राप्नोति—'सोमो गौरी अधिश्रितः' (ऋ० ९।१२।३) इति ॥

(१७१ समाधानबाधकवार्तिकम् ॥ ५ ॥)

॥ ॥ 'तत्रापि सरसी यदि' ॥ ॥

(भाष्यम्)

तत्रापि सिद्धम्।

कथम् ?

यदि सरसीशब्दस्य प्रवृत्तिरस्ति। अस्ति च लोके सरसीशब्दस्य प्रवृत्तिः।

प्रदीपः

मुख्यकल्पना सम्भवत्येवेत्याह—यत्रेति। सरसीत्यत्र सरःशब्दात् परस्य ङिशब्दस्य ० इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम् ० इतीकारे कृते भवतीकारः सप्तमीति तत्रैव स्यान्न तु गौरीत्यत्रेति भावः ॥

उद्द्योतः

सरःशब्दादिति। सरस्शब्दस्यासुन्नन्तत्वेनाद्युदात्तत्वेऽपि स्वरव्यत्ययाद् 'दृतिं न शुष्कं सरसी शयान' मित्यत्र सरसीत्यस्यान्तोदात्तत्वं बोध्यम् ॥

भावबोधिनी

जहाँ सप्तमी का दीर्घ होना कहा जाता है—'दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम्' (ऋ० ७।१०३।२)। [इस वैदिक प्रयोग में सरस् शब्द के सप्तमी एकवचन ङि=इ के स्थान पर पर 'इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम्' (वार्तिक) से 'ई' आदेश होता है। यह ईत् सप्तमी है। सूत्र इसमें प्रगृह्यसंज्ञा करने में चरितार्थ है। अतः यह वचन बनाना ज्ञापक नहीं माना जा सकता।] और प्रयोजन के रहने पर(ज्ञापक न बन पाने से) इसमें प्रगृह्यत्व नहीं प्राप्त होता है—सोमो गौरी अधिश्रितः। [प्रगृह्यसंज्ञा न होने पर सन्धिकार्य प्रसक्त होता है।]

(वा०) वहाँ (पूर्वोक्त 'सरसी' इस स्थल में) भी यदि 'सरसी' रूप हो।

(भा०) वहाँ (पूर्वोक्त 'सरसी' उदाहरण में) भी प्रगृह्यसंज्ञा सिद्ध है।

किस प्रकार से [सिद्ध है] ?

यदि उसमें भी [सरस् शब्द न मानकर] 'सरसी' इस दीर्घ ईकारान्त का प्रयोग मान लिया जाय। और लोकव्यवहार में 'सरसी' शब्द का प्रयोग देखा जाता है।

कथम् ?

दक्षिणापथे हि महान्ति सरांसि सरस्य इत्युच्यन्ते ॥

(१७२ समाधानवार्तिकम् ॥ ६ ॥)

॥ * ॥ 'ज्ञापकं स्यात् तदन्तत्वे' ॥ * ॥

(भाष्यम्)

एवं तर्हि ज्ञापयत्याचार्यो—'न प्रगृह्यसंज्ञायां प्रत्ययलक्षणं भवति' इति ॥

किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् ?

प्रदीपः

सरसी यदीति । यदीति सम्भावनायाम् । तस्मात् स्थितमेतद्वचनात् सर्वत्र लुप्तायामपि सप्तम्यां भविष्यतीति नार्थोऽर्थग्रहणेन ॥

उद्द्योतः

निराकर्तुं संशयार्थो यदिशब्दोऽनुपपन्न इत्यत आह—सम्भावनायामिति । शास्त्राणि चेत्प्रमाणं स्युरितिवदसन्दिग्धे सन्दिग्धवचनमिदमिति भावः ॥ सरसीशब्दो यदि ङीषन्तस्तदान्तोदात्तत्वं न्यायसिद्धम् । असुन उगन्तत्वाम् ङीबन्तत्वे तु स्वरव्यत्ययादेव तत्त्वम् । एवं च ततो लुकैवोक्तप्रयोगे सिद्धे ड्याडिति वार्तिके ईकारादेशो न विधेय इति भाष्याशयः ॥ तस्मात्पूर्वोक्तरीत्या वचनसामर्थ्याल्लुप्तेपि सिद्धिः ॥

भावबोधिनी

कैसा (प्रयोग) ?

क्योंकि दक्षिण देश में बड़े-बड़े सरोवर 'सरसी' ऐसे कहे जाते हैं । [इस 'सरसी' से परे सप्तमी का लुक् होने पर यह भी 'गौरी' के ही समान हो जाता है । यहाँ भी प्रत्ययलक्षण से प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी । 'अर्थे' ग्रहण व्यर्थ है ।]

(वा०) यह तदन्तत्व=ईदन्त और ऊदन्त[की प्रगृह्यसंज्ञा न होने]में ज्ञापक हो जाय ।

(भा०) यदि ऐसा है अर्थात् प्रत्ययलक्षण मानकर 'अर्थे' ग्रहण व्यर्थ हो जाता है, तब आचार्य यह ज्ञापित करते हैं—'प्रगृह्यसंज्ञा-विषय में प्रत्ययलक्षण नहीं होता है ।' [अब 'गौरी' 'सरसी' आदि में प्रगृह्यसंज्ञा नहीं हो सकेगी । 'अर्थे' ग्रहण के बल से ही होगी ?]

इसके ज्ञापन में कौन सा प्रयोजन है ?

कुमार्योरगारं=कुमार्यगारम् । वध्वोरगारं=वध्वगारम् । प्रत्ययलक्षणेन प्रगृह्यसंज्ञा न भवति ॥

(१७३ समाधानवार्तिकम् ॥ ७ ॥)

॥ * ॥ 'मा वा पूर्वपदस्य भूत्' ॥ * ॥

(भाष्यम्)

अथ वा पूर्वपदस्य मा भूदित्येवमर्थमर्थग्रहणम् । वाप्यामश्वो=वाप्यश्वः,

प्रदीपः

ज्ञापकमिति । ईदूदेदित्यत्र तृतीयचतुर्थपक्षयोरित्यर्थः ॥ इह प्रगृह्यसंज्ञाकरणे यदि प्रत्ययलक्षणं स्यात् तदेदूतौ च सप्तमीत्येव सप्तमीसहचरितं सप्तम्यां वा परतो यदीदूदन्तं तत् प्रगृह्यसंज्ञमिति प्रत्ययलक्षणेन लुप्तायामपि सप्तम्यां संज्ञा भविष्यतीति किमर्थ-ग्रहणेन, तत् क्रियमाणं प्रत्ययलक्षणाभावं सूचयति ॥

संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधेरभावात् तदन्तपक्षस्तत्र नैव स्थित इति ज्ञापन-फलाभावादाह—मा वेति । वाप्यश्वो नद्यातिरिति । संज्ञायामिति समासे कृते सप्तमीसह-

उद्द्योतः

सप्तमीसहचरितत्वं च प्रत्ययलक्षणेन बोध्यम् ॥

संज्ञायामितीति । अत एवाग्रे भाष्ये जहत्स्वार्था वृत्तिरिति सङ्गच्छते । न च

भावबोधिनी

कुमार्योरगारम्—कुमार्यगारम् । वध्वोरगारम्—वध्वगारम् । इनमें प्रत्ययलक्षण से प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होती है । [भाव यह है कि प्रत्ययलक्षण होने पर समास में भी 'ईदूदेत्' सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा प्रसक्त होने लगेगी । अब इस ज्ञापन से नहीं होगी । यणादि हो जायेंगे । 'ईदूदेद्' सूत्र में चार पक्ष दिखलाये गये हैं । उनमें तृतीय और चतुर्थ पक्षों में यह ज्ञापक बनता है । यदि प्रगृह्यसंज्ञा-प्रकरण में भी प्रत्ययलक्षण होता तो 'ईदूतौ सप्तमी' इतना ही रखा जाता । सप्तमी-सहचरित्त अथवा सप्तमी परे रहते जो ईदन्त ऊदन्त उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है । अब सप्तमीलुक् में भी प्रत्यय-लक्षण से सप्तमी-सहचरितत्व मिल जायगा, 'अर्थे' ग्रहण व्यर्थ होने लगता है । वही प्रगृह्यसंज्ञा में प्रत्ययलक्षण का अभाव सूचित करता है । अतः 'अर्थे' ग्रहण से ही प्रगृह्यसंज्ञा होती है ।]

(वा०) अथवा [समास में ईदन्त, ऊदन्त] पूर्व पद की प्रगृह्यसंज्ञा न हो—[इसके लिये अर्थे' है ।]

(भा०) अथवा [समास में ईदन्त, ऊदन्त सप्तमी वाले] पूर्व पद की [प्रगृह्य संज्ञा] न होने लगे—इसके लिये 'अर्थे' का ग्रहण है । उदाहरण—वाप्यामश्वः=

नद्यामातिः—नद्यातिः ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

अथ क्रियमाणेऽप्यर्थग्रहणे कस्मादेवात्र न भवति ?

(समाधानभाष्यम्)

जहत्स्वार्था वृत्तिरिति ॥

प्रदीपः

चरितमीकारान्तं पूर्वपदमिति स्यात् प्रगृह्यसंज्ञेति तदर्थमर्थग्रहणम् ॥

अथेति । अस्त्येवात्र सप्तम्यर्थ इति प्रश्नः ॥

जहत्स्वार्थेति । समासस्यैवार्थवत्त्वात् पूर्वोत्तरपदयोर्वर्णवदानर्थक्यात् सप्तम्यर्थोऽत्र नास्तीत्यर्थः ॥

उद्द्योतः

वाक्येन संज्ञानवगमादस्य नित्यसमासत्वे वाप्यामश्व इति विग्रहो नोचित इति वाच्यम्, वाक्यात्संज्ञिनोऽनवगमेन नित्यसमाससदृशत्वेऽपि न तद्विधायके वाग्रहणासम्बन्ध इति समासघटकीभूतानां तद्विषये विग्रहाभावे मानाभावात् । ध्वनितं चेदं द्वितीयातृतीयेति सूत्रे भाष्ये इति तत्रैव निरूपयिष्यते ॥ सप्तमीसहचरितमिति । प्रत्ययलक्षणेनेति भावः ॥

वर्णवदानर्थक्यादिति । संज्ञायामिति समासेऽस्य रूढिशब्दत्वादवयवार्थाप्रतीतेरिति भावः । 'वाप्यामश्व' इति विग्रहप्रदर्शनं तु रथन्तरादिपदानां रथेन तरतीत्यादि-विग्रहप्रदर्शनवद् बोध्यम् । अत एव—"जहत्स्वार्था तु तत्रैव यत्र रूढिर्विरोधिनी" इति वृद्धैरुक्तम् ॥

भावबोधिनी

वाप्यश्वः । नद्यामातिः = नद्यातिः ['ईदूदेद्' सूत्र में संज्ञाविधि में प्रत्ययग्रहण में तदन्तविधि न होना कहा गया है और मध्यम = द्वितीय पक्ष ही सिद्धान्त माना गया है । अतः यहाँ दूसरा समाधान 'अथवा' से दिया गया है । वाप्याम् अश्वः = वापी + अश्वः, नद्याम् आतिः = नदी + आतिः में सप्तमी का लुक् है । ईदन्त सप्तमी-सहचरित होने से प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त है । 'अर्थे' ग्रहण रहने पर नहीं हो सकती क्योंकि तत्पुरुष में उत्तर पद का अर्थ ही प्रधान माना जाता है, पूर्वपद का अर्थ अप्रधान । अतः सप्तमी का अर्थ गृहीत नहीं हो सकता ।]

अच्छा, तो 'अर्थे' का ग्रहण रहने पर भी इनमें प्रगृह्यसंज्ञा क्यों नहीं होती है ? [क्योंकि समास में सप्तमीलुक् होने पर भी उसका अर्थ तो रहता ही है ।]

जहत्स्वार्था वृत्ति है अतः [दोष नहीं है ।]

(आक्षेपभाष्यम्)

अथाजहत्स्वार्थायां वृत्तौ दोष एव ॥

(समाधानभाष्यम्)

अजहत्स्वार्थायां च न दोषः । समुदायार्थोऽभिधीयते ॥

प्रदीपः

समुदायार्थ इति । वृत्तौ हि पूर्वपदं स्वार्थमप्यभिधत्ते प्रधानार्थमपीति स्वार्थसंसृष्टस्य प्रधानार्थस्याभिधानात् पांसूदकवत् स्वार्थस्य विवेकानवगमात् समुदायार्थो वृत्तौ संसृष्टरूपेणैवाभिधीयते । सप्तम्यर्थग्रहणेन—यावानर्थो वाक्ये सप्तम्यन्तेनाभिधीयते

उद्द्योतः

भाष्ये अथाजहत्स्वार्थायामिति । सुप्सुपेति समासेन केवलयौगिके इत्यर्थः ।

प्रधानार्थमपीति । अप्पदशक्तिसमुदायशक्तिसहकारेण गृहीतशक्तिकाद् वापीपदात् स्वार्थविशिष्टप्रधानार्थस्यैवोपस्थितेरित्यर्थः । तत्र समुदायशक्तिः संसर्गांश एव । तदाह—स्वार्थसंसृष्टस्येत्यादि ॥ विवेकानवगमात् । पृथगनुपस्थितेरित्यर्थः । पांसूदकं मिलितं यथा संसृष्टमेव ज्ञानविषयो न तु पृथक्, तथा समासात् संसृष्ट एवोपस्थितिविषयो न तु

भावबोधिनी

अजहत्स्वार्था वृत्ति में तो दोष रहता ही है ।

अजहत्स्वार्था वृत्ति में भी दोष नहीं है । कारण दोनों पदों द्वारा समुदाय का विशिष्ट अर्थ कहा जाता है ।

विमर्श—समासादिवृत्तियों के दो भेद माने जाते हैं—(१) जहत्स्वार्था, (२) अजहत्स्वार्था । जहति स्वार्थं (पदानि) यस्यां सा—जहत्स्वार्था । न जहत्स्वार्था-अजहत्स्वार्था । जिस वृत्ति में पद अपने-अपने अर्थ को छोड़ने वाले होते हैं वह जहत्स्वार्था है । वैयाकरण यही मानते हैं । और अजहत्स्वार्था पक्ष में भी समास में विशिष्ट शक्ति का समर्थन करते हैं । इसलिए वाप्यामश्वः—वाप्यश्वः आदि में समास बनने पर अलग-अलग पदों का कोई अर्थ नहीं रह जाने से 'वापी' आदि सप्तम्यर्थ में या सप्तमीसहचरित नहीं माने जा सकते । इसलिए पूर्वपद की प्रगृह्यसंज्ञा-वरणार्थ 'अर्थे' ग्रहण की आवश्यकता है । 'अर्थे' का ग्रहण न करने पर 'वापी' आदि की प्रगृह्यसंज्ञा रोकना कठिन है ।

[पहले अलग-अलग खण्डों में व्याख्या करने के बाद अब भाष्यकार श्लोकवार्तिक पूर्ण रूप में प्रस्तुत करते हैं—]

"ईदूतौ सप्तमीत्येव लुप्तेऽर्थग्रहणाद्भवेत् ।"
पूर्वस्य चेत् सवर्णोऽसावाडाम्भावः प्रसज्यते' ॥१॥
वचनाद्यत्र दीर्घत्वं तत्रापि सरसी यदि ।
ज्ञापकं स्यात् तदन्तत्वे मा वा पूर्वपदस्य भूत्" ॥ २ ॥
ईदूतौ च सप्तम्यर्थे ॥ १८ ॥

(इति प्रगृह्यसंज्ञाप्रकरणम्)

प्रदीपः

केवलोऽसंसृष्ट उद्भूतस्तस्यैवेह ग्रहणमिति समासे न भवति प्रगृह्यसंज्ञा ॥ १८ ॥

उद्द्योतः

पृथगित्यर्थः ॥ यावानित्यस्य विवरणं केवल इति । कैवल्यं विवृणोति—असंसृष्ट उद्भूत इति । असंसृष्टत्वं विशेषणाविशिष्टत्वम् । उद्भूतत्वमितराविशेषणत्वमिति बोध्यम् ॥ समुदायरूपोऽर्थः पूर्वपदार्थविशिष्ट उत्तरपदार्थोऽभिधीयतेऽभिधाभिः परस्पर-सहकारेणोपस्थाप्यत इति भाष्यार्थः ॥ अर्थग्रहणसामर्थ्यात्सप्तम्यर्थमात्रपर्यवसन्नार्थकमर्थ-ग्रहणमिति भावः ॥ गौरीत्यादौ त्वस्त्येव गौर्यादिपदानां सप्तम्यर्थपर्यवसन्नत्वम् । समभि-व्याहृतपदान्तरार्थानन्वयित्वेनोपस्थितिविषयत्वस्यैव सप्तम्यर्थपर्यवसन्नत्वरूपत्वात् ॥ न चार्थग्रहणेऽपि गौरीत्याद्यसिद्धिः; सप्तम्यर्थे ईकाराद्यभावात् । ईदाद्यन्तमित्यर्थस्तु दुर्लभो विशेष्याभावादिति वाच्यम्; सामर्थ्याच्छब्दरूपं विशेष्यमादाय तदन्तविधिरिति भावात् ॥ १८ ॥

भावबोधिनी

(१) 'ईदूतौ सप्तमी' इतने सूत्र से ही कार्य सिद्ध हो जाते हैं—'अर्थे' ग्रहण व्यर्थ है । (२) सप्तमी के लोप में भी प्रगृह्यसंज्ञा करने के लिये 'अर्थे' ग्रहण है । (३) यदि सप्तमीलोप न मानकर पूर्वसवर्णदीर्घ माना जायगा तो आट् आगम और ङि का आम् आदेश प्रसक्त होगा । (४) इस सूत्रप्रणयन के बल से प्रगृह्यसंज्ञा नहीं की जा सकती क्योंकि जहाँ सप्तमी का दीर्घ हुआ है वहाँ सूत्र चरितार्थ है । (५) दीर्घ वाले स्थल में भी सिद्ध है क्योंकि 'सरसी' यह ईदन्त भी प्रयुक्त होता है । (६) अतः व्यर्थ हुआ 'अर्थे' ग्रहण यह ज्ञापित करता है कि प्रगृह्यसंज्ञा में प्रत्ययलक्षण नहीं होता है । (७) अथवा समास में पूर्व पद की प्रगृह्यसंज्ञा न हो—इसके लिये 'अर्थे' ग्रहण है ॥१८॥

(१७ घुसंज्ञासूत्रम् ॥ १ । १ । ५ आ० ८ ॥)

दा धा घ्वदाप् ॥ १।१।१९

(इष्टानुपपत्तिनिराकरणाधिकरणम्)

(१७४ आक्षेपवार्तिकम् ॥)

॥ * ॥ घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं शिदर्थम् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यम् । दाधाप्रकृतयो घुसंज्ञा भवन्तीति वक्तव्यम् ॥

किं प्रयोजनम् ?

प्रदीपः

दाधा घ्व ॥ १९ ॥ दाधाशब्दयोर्घुसंज्ञा विधीयमाना रूपान्तरयुक्तानां दोदेङ्धेटां न प्राप्नोतीत्याह—घुसंज्ञायामिति ॥

किं प्रयोजनमिति । दोदेङ्धेटामेजन्तानामनुकरणानि व्यवस्थाप्यात्वे कृते ददाति-दधातियच्छत्यनुकरणानां चैकशेषे कृते द्वन्द्वनिर्देशात् सिद्धा दोदेङ्धेटामपि घुसंज्ञा, कृतात्वानां चैषां स्थानिवद्भावेन सिद्धेति प्रश्नः ॥

उद्द्योतः

दाधा घ्व ॥ १९ ॥ दाधाशब्दयोरिति । प्रयोगस्थदाधारूपाणामेव सूत्रेऽनुकरणादिति भावः ॥

दोदेङ्धेटानामेजन्तानामिति । एषां चात्र 'प्रकृतिवदनुकरणं भवती'तिन्यायाद-शितीति प्रसज्यप्रतिषेधाश्रयणाच्चात्वमिति भावः ॥ अत्र च पक्षे लक्षणप्रतिपदोक्त-परिभाषा-निरनुबन्धकपरिभाषादीनां न प्रवृत्तिः । सर्वेषां स्वरूपेणैवानुकृतत्वात् ॥

भावबोधिनी

दाधा घ्वदाप् १।१।१९

सूत्र में प्रकृति-ग्रहण की आवश्यकता

[दाप्‌भिन्न दा और धा की घु संज्ञा होती है ।]

(वा०) घु संज्ञा के विधान करनेवाले इस सूत्र में शित् के लिये 'प्रकृति'—इसका ग्रहण करना चाहिए ।

(भा०) घु संज्ञा-विधायक सूत्र में 'प्रकृति' ग्रहण करना चाहिए—दा, धा और इनकी प्रकृतिभूत (दो, देङ, धेट्) की घु संज्ञा होती है, ऐसा कहना चाहिए ।

[प्रकृति—इसके ग्रहण का] क्या प्रयोजन है ?

---

१. दाधाप्रकृतय इत्यत्र दाश्च धाश्च प्रकृतयश्चेति द्वन्द्वः । सूत्रे चोपस्थितत्वात्तयोरेव सम्बन्ध इति भावः ॥ छाया ॥

आत्वभूतानामियं संज्ञा क्रियते। सा आत्वभूतानामेव स्याद्, अनात्वभूतानां न स्यात् ॥

ननु च भूयिष्ठानि घुसंज्ञाकार्याणि आर्धधातुके। तत्र चैत आत्वभूता (एव) दृश्यन्ते ॥

"शिदर्थम्"। शिदर्थं प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यम्। शित्यात्वं प्रतिषिध्यते

प्रदीपः

आत्वभूतानामिति। भवतेः प्राप्त्यर्थाद् "आधृषाद्वा" इति विभाषितणिचः कर्तरि कर्मणि वा क्तप्रत्ययः। तत्र आत्वं भूता आत्वेन वा भूता आकारान्ता इत्यर्थः। न तु लक्षणेन कृतात्वा इति विज्ञेयम्। अस्याप्ययमभिप्रायः—एजन्तानुकरणत्वे प्रमाणाभावात् प्रक्रियागौरवाच्च प्रयोग एव ये आकारान्ताः प्रयुज्यन्ते तदनुकरणानामयमेकशेषनिर्देशः सामान्यानुकरणं वा दा इति धा इति पृथक् पदं निर्दिष्टमिति ॥

उद्द्योतः

दारयतिधारयत्योश्च नातिप्रसङ्गः। तयोरनुकरण आत्वासम्भवेनेहे दधु इत्यनयोरनुपात्तत्वाद् ॥ दीङोऽपि नेह ग्रहणम्। एज्विषयाभावेन तदनुकरणे आत्वासम्भवादिति बोध्यम् ॥

नन्वात्वभूतानामित्यस्य जातात्वानामित्यर्थे दाणादीनां संज्ञा न स्यान्निष्ठायाः पूर्वनिपातश्च स्यादत आह—भवतेरिति। प्राप्तात्वानामित्यर्थः ॥ प्रमाणाभावादिति। प्रयोगार्थत्वाच्छास्त्रस्योपस्थितप्रयोगस्यानुकरणे सम्भवति अनुपस्थितैजन्तानुकरणे प्रमाणाभाव इत्यर्थः ॥ गौरवाच्चेति। दीङस्तृजादावात्वे कृते प्रणिदातेत्यत्र नेर्गदेति णत्वानापत्तेश्चेत्यपि बोध्यम् ॥ एकशेषस्य सर्वदाधारूपाणामानन्त्येन ज्ञानासम्भवाद् दुर्ज्ञेयत्वेऽप्याह—सामान्येति। ननु समाहारद्वन्द्वे दाधमिति स्यात, अन्यत्र दाधाविति स्यादत आह—पृथक्पदमिति। सो रुत्वे रत्वे लोपे च निर्विसर्गं साधु ॥

भावबोधिनी

जिन्हें आत्व आदेश प्राप्त हो चुका है उन्हीं (दा धा) को यह घु संज्ञा की जा रही है। अतः यह उन्हीं की हो सकेगी जिनका आत्व हो चुका है, जिनका आत्व नहीं हुआ है उनकी नहीं हो सकेगी। [अतः जिनका 'दा' 'धा' रूप बना है उन्हीं की होगी अन्य की नहीं।]

घु संज्ञा मानकर किये जानेवाले अधिकांश कार्य आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते ही होते हैं। और उन प्रत्ययों में ये धातुयें आत्व आदेश वाली ही दिखाई देती हैं।

शित् के लिये भी। शित् के लिये 'प्रकृति' का ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि शित्

तदर्थम् । प्रणिदयते, प्रणिद्यति, प्रणिधयतीति ॥

(भाष्यम्)

भारद्वाजीयाः पठन्ति—

(भारद्वाजीयोक्तमाक्षेपवार्तिकम् ॥ १ ॥)

॥ * ॥ घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं शिद्विकृतार्थम् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं क्रियते ।

किं प्रयोजनम् ?

शिदर्थं विकृतार्थं च । शित्युदाहृतम् ॥ विकृतार्थं खल्वपि—प्रणिदाता, प्रणिधाता ।

प्रदीपः

प्रणिदयत इति । घुसंज्ञायां सत्यां नेर्गदेति णत्वं भवति ॥

प्रणिदातेति । द्यतेर्देङो वा रूपम् ॥ प्रणिधातेति । धेटः ॥ लक्षणेति । लाक्षणिके हि लाक्षणानुसन्धानद्वारेण प्रतिपत्तिर्बहिरङ्गा, प्रतिपदोक्ते त्वन्तरङ्गा ॥

उद्द्योतः

विकृतानां दो दद्घोरिति सूत्रे धेण्निवृत्त्यर्थं दाग्रहणपर्यालोचनया घुत्वं सुलभमिति मत्वा वार्तिके शिदर्थमित्युक्तम् । भारद्वाजीयैस्तु तावद्विवेकासमर्थान्प्रति विकृतार्थं-

भावबोधिनी

परे रहते आत्व आदेश का प्रतिषेध किया जाता है, शित् परे आत्व नहीं होता है। ['आदेच उपदेशेऽशिति' सूत्र शित् परे आत्व नहीं करता है ।] उदाहरण-प्रणिदयते, प्रणिद्यति, प्रणिधयति । [भाव यह है कि 'आदेच उपदेशेऽशिति' यह सूत्र शप् आदि शित् प्रत्यय परे रहत आत्व नहो करता है । अतः दा और धा को प्रकृतिभूत धातुयें देङ्, दो, और धेट् में दा धा रूप न मिल सकने से इनमें घु संज्ञा नहीं हो सकेगी जिसके कारण 'नेर्गदनदपतपदघु०' (८।४।१७) आदि सूत्र से घुसंज्ञक के उपसर्ग का णत्व नहीं हो सकेगा—प्रणिदयते, प्रणिद्यति, प्रणिधयते । ये लट् शकार के रूप हैं। अतः शप् श्यन् शित् प्रत्ययों में आत्व नहीं होता है ।]

[इस विषय में] भारद्वाजीय विद्वान् ऐसा वचन पढ़ते हैं—

(वा०) घु संज्ञा-विधायक सूत्र में शित् के लिये तथा विकृत = आदेश प्राप्त रूपों के लिये 'प्रकृति' इसका भी ग्रहण [करना चाहिए] ।

(भा०) घु संज्ञा में 'प्रकृति' का ग्रहण करना चाहिए ।

किस (प्रयोजन) के लिये ?

शित् के लिये और विकृत के लिये । इनमें शित् परे रहते होनेवाले रूप (प्रणिदयते, प्रणिद्यति, प्रणिधयति) उदाहरण दिये जा चुके हैं । विकृत रूपों के लिये

किं पुनः कारणं न सिध्यति ?

'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव' इति प्रतिपदं ये आत्वभूतास्तेषामेव स्याद्, लक्षणेन ये आत्वभूतास्तेषां न स्यात् ॥

(प्रत्याक्षेपभाष्यम्)

अथ क्रियमाणेऽपि प्रकृतिग्रहणे कथमिदं विज्ञायते-दाधाः प्रकृतय इति, आहोस्विद्दाधां प्रकृतय इति ?

प्रदीपः

कथमिति । दाधाप्रकृतय इति षष्ठीसमासः कर्मधारयो वा उभयथाप्यव्याप्तिरिति प्रश्नः ॥

उद्द्योतः

मित्यप्युक्तम् ॥ प्रणिदातेत्यादौ लाक्षणिकत्वं स्फुटयति—द्यतेर्देङो वेति ॥

भावबोधिनी

भी (प्रकृतिग्रहण करना चाहिए), उदाहरण—प्रणिदाता, प्रणिधाता । [इनमें प्र तथा नि इन दो उपसर्गों के साथ देङ्, दो, धेट् धातुयें और तृच् प्रत्यय है । इनमें एच्=ए ओ का आत्व विकार=आदेश होकर दा धा रूप बना है । घु संज्ञा यदि नहीं होगी तो 'नेर्गदनदपदपतघु०' सूत्र से न का ण नहीं हो सकेगा ।]

क्या कारण है जिससे [इनमें घु संज्ञा नहीं होती है और णत्व] सिद्ध नहीं होता है।

'लक्षण से निष्पन्न और प्रतिपदोक्त = साक्षात् उच्चारित इन दोनों के मध्य में प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण होता है'—इस न्याय से प्रतिपद जो आत्व रूप प्राप्त किये हुए हैं उन्हीं का ग्रहण होगा, किसी लक्षण = सूत्र से जो आत्व प्राप्त करते हैं उनका ग्रहण नहीं होगा । [प्रणिदाता, प्रणिधाता रूपों में स्वतः आ नहीं है अपितु ए और ओ का आदेश किया गया है, लाक्षणिक है । इनका ग्रहण होने से घु संज्ञा नहीं हो सकेगी । अतः 'विकृत' रूपों के लिये भी 'प्रकृति' इसका ग्रहण करना चाहिएं ।]

अच्छा (यह बतलाइये) 'प्रकृति' इसका ग्रहण कर लेने पर भी यह कैसे ज्ञात होगा कि—'दाधाः प्रकृतयः' यह (कर्मधारय) है अथवा 'दाधां प्रकृतयः' यह (षष्ठी तत्पुरुष) है, अर्थात् 'दाधाश्च प्रकृतयश्च' इस प्रकार के कर्मधारय को मानकर अथवा 'दाधां प्रकृतयः' ऐसा षष्ठीतत्पुरुष मानकर—'दाधाप्रकृतयः घु अदाप्' माना जायगा ?

किं चातः ?

यदि विज्ञायते–दाधाः प्रकृतय इति, स एव दोषः—आत्वभूतानामेव स्याद् अनात्वभूतानां न स्यात् ॥ अथ विज्ञायते–दाधां प्रकृतय इति, अनात्वभूतानामेव स्यादात्वभूतानां न स्यात् ॥

(प्रत्याक्षेपसमाधानभाष्यम्)

एवं तर्हि, नैवं विज्ञायते–दाधाः प्रकृतय इति, नापि दाधां प्रकृतय इति ॥

कथं तर्हि ?

प्रदीपः

दाधाः प्रकृतय इति । दीधत इत्यादावीत्वादेः । आत्वभूतानामिति । डाण्दाञ्धाञाम् ॥

उद्द्योतः

प्रकृतय इत्यस्य सापेक्षत्वादाह—ईत्वादेरिति ॥ दाणिति । आत्वभूता इत्यनेन उपदेशे आकारान्ता एवोच्यन्ते, तद्विलक्षणास्त्वनात्वभूता इति भावः ॥

भावबोधिनी

इस [भेद से] क्या [अन्तर] है ? अर्थात् षष्ठी समास या कर्मधारय दोनों में ही दोष रह जाता है ।

यदि यह माना जाय—दाधाः प्रकृतयः (दा धा रूप प्रकृति की घु संज्ञा होती है) तो वही दोष होता है—आत्व आदेश प्राप्त दा धा की ही घु संज्ञा हो सकेगी, जो आत्व प्राप्त नहीं है (जैसे देङ् धेट् दो) उनकी घु संज्ञा नहीं हो सकेगी । और यदि यह माना जाय—दाधां प्रकृतयः अर्थात् दा और धा की प्रकृतमूल धातुओं की घु संज्ञा होती है, तो अनात्वप्राप्त (दो देङ्, धेट्) की ही हो सकेगी, आत्व प्राप्त (दाण्, दाञ्, धाञ्) की नहीं हो सकेगी । [भाव यह है कि कर्मधारय मानने पर उन्हीं की घु संज्ञा होगी जिनमें एच् के आत्व आदेश के बिना ही स्वतः आत्व है जैसे दाञ्, दाण्, धाञ् आदि और षष्ठीतत्पुरुष में इसका उल्टा होगा । जिनमें स्वतः आत्व नहीं है अपि तु एच् के आदेश से आत्व होता है जैसे—दो देङ् धेट्, इन्हीं की हो सकेगी । अतः दोनों पक्षों में अव्याप्ति दोष है ।]

यदि ऐसी स्थिति है, तब तो ऐसा नहीं माना जायगा—दा धा रूप प्रकृति (कर्मधारय) और न यही माना जायगा—दा धा की प्रकृति (षष्ठी-तत्पुरुष) ।

तब कैसा (समझा जाता) है ?

दाधा घुसंज्ञा भवन्ति प्रकृतयश्चैषामिति ॥

(आक्षेपोपसंहारभाष्यम्)

तर्त्तर्हि प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यम् ?

(समाधानभाष्यम्)

न कर्तव्यम् । इदं प्रकृतमर्थग्रहणमनुवर्तते ॥

क्व प्रकृतम् ?

"ईदूतौ च सप्तम्यर्थे" (१।१।१८) इति । ततो वक्ष्यामि "दाधा घ्वदाप्", 'अर्थे' इति ॥

प्रदीपः

प्रकृतयश्चैषामिति । प्रत्यासत्त्यैषामिति लभ्यते ॥

अर्थे इतीति । एतद्द्वितीयं वाक्यम् । सन्निधानाच्च दाधामर्थे यो वर्तते स घुसंज्ञ इति प्रकृतीनामपि सिध्यति ॥

उद्द्योतः

प्रत्यासत्त्येति । एवं चैषामिति नापूर्वमिति भावः ॥ एतत्सामर्थ्यादेव लाक्षणिकानामप्यनुकरणमनुमास्यत इति तात्पर्यम् ॥

नन्वेकवाक्यत्वे दारयत्याद्येकदेशानर्थकव्यावृत्त्यर्थमेव तत् स्याद्,न त्वन्यरूपप्रापकमत आह—एतद् द्वितीयमिति । अर्थवत्परिभाषयैवानर्थकव्यावृत्तौ सिद्धायामर्थग्रहणानुवृत्तिर्वाक्यभेदार्थैवेति भावः ॥

भावबोधिनी

दा धा घु अदाप् प्रकृतयश्च अर्थात् दाप् से भिन्न दा, धा और इनकी प्रकृतिभूत की घु संज्ञा होती है । [दा धा से स्वतः आत्व वाली दाण् दाञ् धाञ् की घु संज्ञा हो जायगी और इनकी प्रकृति की भी मानने से दो देङ् धेट् इनकी भी घु संज्ञा हो जायगी ।]

तो फिर क्यों [सूत्र में] 'प्रकृति' ग्रहण करना चाहिए ?

प्रकृति-ग्रहण का खण्डन

प्रकृतिग्रहण नहीं करना चाहिए । इसमें प्रकृत = प्रकरण प्राप्त 'अर्थे' ग्रहण की अनुवृत्ति होती ।

किसमें प्रकरण प्राप्त है ?

'इदूतौ च सप्तम्यर्थे' । इसके बाद यह कहेंगे 'दा धा घु अदाप्' 'अर्थे' ऐसा । [अब दो वाक्य होंगे—(१) दा और धा घु संज्ञक होते हैं (२) दा और धा के अर्थ में आने वाले देङ् दो धेट् की भी घु संज्ञा होती है ।]

(समाधानबाधकभाष्यम्)

नैवं शक्यम् । ददातिना समानार्थान् रातिरासतिदासतिमहतिप्रीणाति-प्रभृतीनाहुः । तेषामपि घुसंज्ञा प्राप्नोति । तस्मान्नैवं शक्यम् ॥ न चेदेवं प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यमेव ॥

(समाधानसाधकभाष्यम्)

न कर्तव्यम् । शिदर्थेन तावन्नार्थः प्रकृतिग्रहणेन । अवश्यं तत्र मार्थं प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यम्, प्रणिमयते प्रण्यमयतेत्येवमर्थम् । तत् पुरस्तादपकृक्ष्यते घुप्रकृतौ माप्रकृतौ चेति ॥

प्रदीपः

तत्पुरस्तादिति । नेगंदेति सूत्रे घुमाशब्दयोर्मध्ये प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यं तदुभाभ्यामभि-सम्भन्त्स्यते ॥

उद्द्योतः

भाष्ये प्रीणातीति । यथा पितृभ्यः प्रीणातीत्यादौ ।

ननु तत्रोभयान्वयाय प्रकृतिग्रहणद्वये कर्तव्येऽत्रैव करणं युक्तमत आह—तदुभाभ्यामिति। घुप्रकृतिमाशब्दानां द्वन्द्वे सन्निधानाविशेषादुभयप्रकृतिर्गृह्यते इति प्रणिदयते प्रणिमयत इति उभयत्रापि णत्वं सिध्यतीत्यर्थः ॥

भावबोधिनी

ऐसा [दा और धा के अर्थवाले की घु संज्ञा होती है यह] नहीं कहा जा सकता । कारण यह हैं 'राति, रासति, दासति, महति, प्रीणाति=रा, रास्, दास्, मह्, प्री आदि को ददाति = दा के समानार्थक कहते हैं ।' अब इनकी भी घु संज्ञा प्राप्त होती है । इसलिए ऐसा नहीं किया जा सकता अर्थात् 'अर्थ' का ग्रहण नहीं किया जा सकता । और यदि ऐसा नहीं है तब तो 'प्रकृति' ग्रहण करना ही होगा ।

नहीं करना पड़ेगा । शित् प्रत्ययों के लिये प्रकृतिग्रहण की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उस ['नेगंदनदपद-पतघुमा'—] सूत्र में 'मा' धातु के लिये प्रकृतिग्रहण करना चाहिए—प्रणिमयते, प्रण्यमयत इनमें [णत्व करने के लिये] । उसी 'प्रकृतिग्रहण' को उससे पूर्व में अपकृष्ट कर लेंगे, खींच कर जोड़ लेंगे—घुप्रकृति में और माप्रकृति में [भाव यह है कि 'नेगंद०' यह सूत्र 'प्रणिमयते प्रण्यमयत' आदि में णत्व नहीं कर सकेगा क्योंकि इनमें 'मा' नहीं 'मेङ्' धातु है । आत्व के बिना 'मा' रूप नहीं बन सकता । अतः 'मा' और उसकी प्रकृति 'मेङ्' दोनों का ग्रहण कराने के लिये 'नेगंद' सूत्र में प्रकृतिग्रहण करना होगा—नेगंदनदपतपदघुमाप्रकृति' बनाना होगा । इसी 'प्रकृति' का सम्बन्ध 'घु' के साथ भी कर लेंगे । अब घु=दा धा तथा इसकी प्रकृति देङ् दाण् दाञ् धाञ् सभी गृहीत हो जायगी ।]

(आक्षेपभाष्यम्)

यदि प्रकृतिग्रहणं क्रियते—प्रनिमिनोति प्रनिमीनाति—अत्रापि प्राप्नोति ॥

(प्रतिबन्दीभाष्यम्)

अथाक्रियमाणेऽपि प्रकृतिग्रहणे इह कस्मान्न भवति,—प्रनिमाता प्रनिमातुं प्रनिमातव्यमिति ?

(प्रतिबन्दीसमाधानभाष्यम्)

आकारान्तस्य ङितो ग्रहणं विज्ञायते ॥

(समाधानभाष्यम्)

यथैव तर्हि अक्रियमाणे प्रकृतिग्रहणे आकारान्तस्य ङितो ग्रहणं विज्ञायते। एवं क्रियमाणेऽपि प्रकृतिग्रहणे आकारान्तस्य ङितो ग्रहणं विज्ञास्यते ॥

प्रदीपः

प्रनिमिनोतीति। मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि चेत्यात्वविधानाद्भवति माप्रकृतित्वमनयोः ॥

उद्द्योतः

आत्वविधानादिति। एज्विषये ईकारान्तानामात्वविधानादिति भावः ॥

भाष्ये एवं क्रियमाणेऽपीति। णत्वविधौ माङ्स्यतीति निर्देष्टव्यमिति भावः ॥ यद्यपि लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया मीनातिमिनोत्यादेशानां ग्रहणाभावो वक्तुं शक्यस्तथापि मेङोऽग्रहणवारणाय गामादाग्रहणेष्वविशेष इत्युक्तेर्माग्रहणे तदप्रवृत्तिः। मामाने इत्यस्य योगे णत्ववारणाय च ङित्पाठ आवश्यक इति तात्पर्यम् ॥

भावबोधिनी

यदि 'प्रकृति' ग्रहण किया जाता है तब तो 'प्रनिमिनोति प्रनिमीनाति'—इनमें भी णत्व प्राप्त होता है। [क्योंकि प्र-नि-पूर्वक मिञ् धातुओं का भी 'मीनातिमिनोति-दीङां ल्यपि च' (६।१।५०) सूत्र से आत्व करने के कारण ये दोनों धातुयें भी 'मा' की प्रकृति बन जाती हैं। अतः इनमें णत्व प्रसक्त होगा।]

अच्छा तो (यह बतलाइये)—'नेर्गद' सूत्र में प्रकृतिग्रहण न किये जाने पर भी इनमें णत्व क्यों नहीं होता है—प्रनिमाता, प्रनिमातुम्, प्रनिमातव्यम् ? [क्योंकि यहाँ तो 'मा' रूप सुनाई देता है।]

'नेर्गद०' सूत्र में ङित् आकारान्त अर्थात् माङ् का ग्रहण समझा जाता है। [प्रनिमाता आदि में मिञ् यह मित् धातु है। इसका ग्रहण नहीं होता है। मेङ् माङ् का ही ग्रहण होगा अन्यों का नहीं।]

यदि ऐसा है तब तो जिस प्रकार प्रकृति-ग्रहण न किये जाने पर ङित् आकारान्त 'मा' = माङ् का ही ग्रहण समझा जाता है इसी प्रकार प्रकृतिग्रहण किये जाने पर भी ङित् आकारान्त का ही ग्रहण समझा जायगा। [अतः मेङ् का तो ग्रहण होगा किन्तु मिञ्, मीञ् का नहीं।]

(भारद्वाजीयप्रयोजननिराकरणभाष्यम्)

विकृतार्थेन चापि नार्थः। दोष एवैतस्याः परिभाषाया "लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव" इति—"गामादाग्रहणेष्वविशेषः" इति ॥

प्रदीपः

गामादाग्रहणेष्विति। अस्य चार्थस्य दैपः पित्त्वमदाबिति पित्प्रतिषेधे सामान्यग्रहणार्थं लिङ्गम्। अन्यथाऽस्य लाक्षणिकत्वादत्र ग्रहणं न भविष्यतीति किं प्रतिषेधार्थेन पित्त्वेन। सामान्यापेक्षया च निरनुबन्धकग्रहण इति लक्षणप्रतिपदोक्तयोरिति च परिभाषाद्वयानुपस्थानमिह ज्ञापयतीति धेटोऽपि सिध्यति। दो दद्घोरित्यत्र वा 'द' इत्येव धेटो निवृत्त्यर्थं सद्धेटो घुसंज्ञां ज्ञापयति। न हि दधातिनिवृत्त्यर्थं द इत्येतत्, तस्य दधातेर्हिरिति ह्यादेशविधानाद्दद्भावाप्रसङ्गात् ॥

उद्द्योतः

सामान्येति। एतत्सूत्रगृहीतदाधापेक्षया परिभाषागृहीतगाद्यपेक्षया परिभाषाद्वयापेक्षया चेत्यर्थः ॥ निरनुबन्धकेति। स च दोऽवखण्डन इत्ययम् ॥ धेटोपीति। अन्यथाऽस्य लाक्षणिकत्वाद् ग्रहणाप्रसक्तिः ॥ यत्तु सानुबन्धकत्वादिति। तन्न। निरनुबन्धकस्य धाइत्यस्याप्रसिद्धत्वात् ॥ ये तु दाविषयमेव तज्ज्ञापकं मन्यन्ते तन्मते धेडंशे ज्ञापकान्तरमाहुः—दो दद्घिति ॥

भावबोधिनी

[कात्यायन ने केवल पित् प्रत्ययों के लिये 'सूत्र में' 'प्रकृति—' ग्रहण आवश्यक माना था उसका खण्डन करने के बाद 'भारद्वाजीय' वैयाकरणों द्वारा प्रदर्शित 'विकृत' के लिये भी 'प्रकृति' ग्रहण की अनावश्यकता सिद्ध की जा रही है—]

विकृत = विकारप्राप्त दाधा के लिये भी 'प्रकृति-ग्रहण' का कोई प्रयोजन नहीं है। 'लाक्षणिक तथा प्रतिपदोक्त में लाक्षणिक का ही ग्रहण होता है' इस परिभाषा को सर्वत्र मानने में दोष ही देखा गया है—"गा, मा, दा—इनके ग्रहण में (प्रतिपदोक्त का) अविशेष है" अर्थात् इन तीनों के ग्रहण के प्रसङ्ग में प्रतिपदोक्त और लाक्षणिक दोनों का समान रूप से ग्रहण किया जाता है।

विमर्शः—'अनुदात्तौ सुप्पितौ' यह सूत्र पित् प्रत्यय का ही अनुदात्त-विधान करता है अतः 'दैप्' का पित्करण इस प्रयोजन के लिये नहीं माना जा सकता। दूसरा प्रयोजन यह सम्भव है कि प्रस्तुत सूत्र में 'अदाप्' के द्वारा इस 'दैप्' का भी ग्रहण रोकना जिससे 'दाप्' और 'दैप्' दोनों की घु संज्ञा न हो सके। यदि 'लाक्षणिक' होने से इस दैप् का दाप् के ग्रहण से ग्रहण नहीं माना जायगा तो यह पित्करण व्यर्थ ही है। अतः यही ज्ञापित करता है कि यहाँ 'लक्षण-प्रतिपदोक्त' परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती है। इसी प्रकार 'निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य ग्रहणम्' यह भी इस

(यदागमन्यायाधिकरणम्)

(१७५ आक्षेपवार्तिकम् ॥२॥)

॥ * ॥ समानशब्दप्रतिषेधः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

समानशब्दानां प्रतिषेधो वक्तव्यः—प्रनिदारयति, प्रनिधारयति। दाधा घुसंज्ञा भवन्तीति घुसंज्ञा प्राप्नोति ॥

प्रदीपः

समानशब्दानामिति। समानश्रुतीनामित्यर्थः ॥ प्रनिदारयति, प्रनिधारयतीति। दृङ्धृङोर्णिचि वृद्धावाकारे कृते दाधाशब्दौ संपद्येते। तौ चार्थवन्तौ। पश्चात्तु रपरत्वं क्रियमाणमागमभूतत्वादन्यत्वं न करोतीति प्राप्तिः ॥

उद्द्योतः

समानत्वं नार्थत इत्याह—श्रुतीनामिति ॥ तौ चेति। एतेनानर्थकत्वात्तयोर्घुत्वं नेत्यपास्तम् ॥ पश्चादिति। प्रणिदापतीत्यत्र पुगिवेति भावः। आगमभूतत्वात्। आगमस्वरूपत्वात् ॥

भावबोधिनी

स्थल में प्रवृत्त नहीं होती है जिससे धा और धेट् दोनों गृहीत हो जायगी क्योंकि सभी 'धा' धातुयें सानुबन्ध ही हैं निरनुबन्ध नहीं। अथवा 'दो दद् घोः' (७।४।४६) इस सूत्र में 'दः' इसका ग्रहण ही 'धेट्' की घुसंज्ञा का ज्ञापक है क्योंकि 'घु' का दद् होता है इतना ही कहने पर 'दा धा' दोनों का दद् प्राप्त होता है। जब 'दः' कह दिया गया तब घुसंज्ञक दा-धा में केवल 'दा' का ही दद् होगा। धा की निवृत्ति के लिये 'दः' यह नहीं माना जा सकता क्योंकि उसका तो 'दधातेर्हि' (६।४।४२) सूत्र से 'हि' आदेश किया हो गया है। अतः उसके स्थान पर 'दद्' का प्रसङ्ग नहीं है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि घुसंज्ञा में न तो 'निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य ग्रहणम्' यह लगती है और न 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः' यह। अतएव कहा गया है—'गामादाग्रहणेष्वविशेषः'।

समान रूप वाले शब्दों का प्रतिषेध अनावश्यक

(वा०) समान रूप से सुनाई देने वाले शब्दों [की घु संज्ञा] का प्रतिषेध [कहना चाहिये]

(दा और धा इसके) समान सुनाई देने वाले शब्दों की घुसंज्ञा का प्रतिषेध करना चाहिये। जैसे—प्रनिदारयति, प्रनिधारयति। दा, धा—की घु संज्ञा होती है

(१७६ समाधानवार्तिकम् ॥३॥)

॥*॥ समानशब्दाप्रतिषेधोऽर्थवद्ग्रहणात् ॥०॥

समानशब्दानामप्रतिषेधः, अनर्थकः प्रतिषेधोऽप्रतिषेधः ॥

घुसंज्ञा कस्मान्न भवति ?

अर्थवद्ग्रहणात्, अर्थवतोर्दाधोर्ग्रहणात् । न चैतावर्थवन्तौ ।

(१७७ समाधानहेत्वन्तरवार्तिकम् ॥४॥)

॥ * ॥ अनुपसर्गाद्वा ॥ * ॥

प्रदीपः

अर्थवद्ग्रहणादिति । अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्येत्यस्य स्वं रूपमित्यनेन ज्ञापितत्वाद् । उरण् रपर इति चाण्विधीयमान एव रपरो भवतीति वृद्धिः क्रियमाणा रपरा भवतीति दार्धारोरेवार्थवत्त्वं न तु तदवयवयोरिति नास्ति घुसंज्ञा ॥

भावबोधिनी

[इनमें भी दा, धा सुनाई देता है] अतः घुसंज्ञा प्राप्त होती है । [दृङ् और धृङ्; से णिच्=इ ऋ की वृद्धि, रपर करने पर—दारि, धारि के लट् लकार में रूप होते हैं । इनमें दा, धा सुनाई देता है और अर्थवान् भी हैं । घुसंज्ञा प्राप्त है । प्रतिषेध करना चाहिये ।]

(वा०) समान रूप में सुनाई देने वाले शब्दरूपों का प्रतिषेध नहीं करना चाहिये अर्थवान् के ग्रहण के कारण ।

(भा०) समान रूप से सुनाई देने वाले शब्दों का अप्रतिषेध है, अनर्थक = निष्प्रयोजन प्रतिषेध = अप्रतिषेध अर्थात् प्रतिषेध करने का कोई प्रयोजन नहीं है ।

[तब इनकी] घुसंज्ञा क्यों नहीं होती है ?

अर्थवान् का ग्रहण होने से [घुसंज्ञा नहीं होती है], अर्थवान् दाधा का यहाँ ग्रहण है । किन्तु ('प्रनिदारयति' 'प्रनिधारयति' के दा, धा) अकेले अर्थवान् नहीं है । [भाव यह है कि 'उरण् रपरः' सूत्र से किया जाने वाला अण् रपर ही होता हैं अतः ऋ की वृद्धि 'आर्' यहाँ होती है । जिससे 'दार्', 'धार्' यह समुदाय ही अर्थवान् होता है अकेला दा और धा नहीं । ये तो अवयव हैं । इनकी घुसंज्ञा नहीं होगी । वार्तिक अनावश्यक है ।]

(वा०) अथवा उपसर्ग न होने से [घुसंज्ञा और णत्व नहीं होता है ।]

(भाष्यम्)

अथवा यत्क्रियायुक्ताः प्रादयस्तं प्रति गत्युपसर्गसंज्ञा भवन्ति। न चैतौ दाधौ प्रति क्रियायोगः॥

(आक्षेपभाष्यम्)

यद्येवम् इहापि तर्हि न प्राप्नोति—प्रणिदापयति प्रणिधापयतीति। अत्रापि नैतौ दाधावर्थवन्तौ, नाप्येतौ दाधौ प्रति क्रियायोगः॥

प्रदीपः

अनुपसर्गाद्वेति। अभ्युपगम्य घुसंज्ञां दोषं परिहरति। घुसंज्ञापेक्षया यस्योपसर्गत्वं तस्मात् परस्य नेर्घौ परतो णत्वं विधीयते। अत्र दाधापेक्षया नास्ति प्रशब्दस्योपसर्गत्वम्, किंतु दार्धारोरपेक्षयेत्यदोषः॥

इहापि तर्हीति। अत्रापि पुकि कृते पकारान्तोऽर्थवान् न केवलो दाशब्दः। पुगन्तमेव च प्रत्युपसर्गत्वम्, न दाशब्दं प्रतीति प्रश्नः॥

उद्द्योतः

अभ्युपगम्येति। अदाबिति प्रतिषेधार्थेन दैपः पित्त्वेन दोदद्घ्योरित्यनेन च परिभाषामात्रानुपस्थानज्ञापनसंभवादिति भावः॥ किंत्विति। तयोरेव क्रियावाचित्वादिति भावः॥

भावबोधिनी

(भा०) अथवा—प्र परा आदि जिस क्रियावाचक धातु के साथ युक्त होते हैं उसी धातु के प्रति उपसर्ग माने जाते हैं। (प्रनिदारयति, प्रनिधारयति में) ये प्र और नि—दा और धा धातु = क्रियावाचक के साथ युक्त नहीं हैं। [अपितु द तथा धृ की वृद्धि करने के बाद निष्पन्न दार् तथा धार् के प्रति हो उपसर्ग हैं। अतः उपसर्गत्व न होने से ही णत्व नहीं होगा।]

यदि ऐसा है तब तो यहाँ भी घुसंज्ञा नहीं प्राप्त होती है—प्रणिदापयति, प्रणिधापयति (क्योंकि इनमें भी ये अकेले दा, धा अर्थवान् नहीं है और न ही ये प्र नि उपसर्ग दा तथा धा क्रियावाचक धातु के साथ युक्त हैं [क्योंकि दा, धा में णिच् = इ करने पर 'अर्तिह्रीव्लीरी-क्नूयी-क्ष्माय्यातां पुङ्णौ' (७।३।३६) सूत्र से पुक् होने पर 'दापि' 'धापि' ये णिजन्त धातु बन जाते हैं। इनमें न तो अकेले दा, धा अर्थवान् और न इनके साथ उपसर्गों का योग है। अतः इनमें भी घुसंज्ञा का अभाव होने से णत्व नहीं होना चाहिये।]

(१७८ समाधानवार्तिकम् ॥५॥)

॥*॥ न वार्थवतो ह्यागमस्तद्गुणीभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते यथाऽन्यत्र ॥*॥

(भाष्यम्)

न वा एष दोषः ।

किं कारणम् ?

अर्थवत आगमस्तद्गुणीभूतोऽर्थवद्ग्रहणेन गृह्यते । यथान्यत्र । तद्यथा—अन्यत्रापि अर्थवत आगमोऽर्थवद्ग्रहणेन गृह्यते ॥

प्रदीपः

न वाऽर्थवत इति । लब्धात्मकस्य भावस्य निमित्तवशादुपचयापचयौ व्यपदेशहानिं न कुरुतः, यथा देवदत्तस्याङ्गाधिक्याङ्गच्छेदौ । इहाप्यन्तरङ्गत्वात् कृतायां दाधोर्घु-संज्ञायां पश्चादुत्पन्नः पुगागमो घुव्यपदेशं न निवर्तयति नाप्यर्थवत्त्वमित्यदोषः । अनर्थकस्याप्यागमो व्यपदेशहानिं न करोति, यथा सत्यपि रेफेऽकाराकारयोर्गुणवृद्धिव्यपदेशा-

उद्द्योतः

भाष्ये तद्गुणीभूत इति । यमुद्दिश्यागमो विहितः स तद्गुणीभूतः शास्त्रेण तदवयवत्वेन बोधितोऽतस्तद्ग्रहणेन=तद्ग्राहकेण तद्बोधकेन गृह्यते = बोध्यते आगमविशिष्ट इति परिभाषार्थः । तदाह—लब्धात्मकस्येति ॥ तेन दाधारोर्घ्वावृत्तिः सूचिता । अपचय इति दृष्टान्तार्थम् ॥ अन्तरङ्गत्वादिति । इदं यथोद्देशे, कार्यकाले तु णत्वदेशा संज्ञाऽसिद्धा स्यादिति बोध्यम् ॥ वस्तुतः कार्यकालपक्षे पूर्वं पुकः प्रवृत्तावपि दापो दाशब्देन ग्रहणाद् घुत्वं सुलभमेवेति चिन्त्यम् ॥ घुव्यपदेशं न निवर्तयति नाप्यर्थवत्त्व-मितीति । स्वविशिष्टे तयोरानयनादिति भावः ॥ अकाराकारयोरिति । रेफविशिष्टयो-

भावबोधिनी

(वा०) अथवा यह (दोष) नहीं है क्योंकि अर्थवान् को होने वाला आगम उसी का अंग बन जाता है, अतः उसी (आगमी) के ग्रहण से ही (आगम का भी) ग्रहण होता है जैसा कि इससे अन्य स्थलों में (देखा जाता है) ।

(भा०) यह (घुसंज्ञा न होना) दोष नहीं है ।

क्या कारण है (जिससे दोष नहीं होता है) ?

अर्थवान् (शब्द रूप) का आगम उसी का गुणीभूत = अङ्गभूत होता हुआ उसी अर्थवान् के ग्रहण से गृहीत होता है । जैसा कि अन्यत्र भी होता है । जैसे अन्यत्र अर्थवान् का किया गया आगम उस अर्थवान् शब्द के साथ ही गृहीत होता है ।

क्वान्यत्र ?

लविता, चिकीर्षितेति।

(आदेशवादिन आगमवादिनं प्रत्याक्षेपभाष्यम्)

युक्तं पुनर्यन्नित्येषु नाम शब्देष्वागमशासनं स्यात् ? न। नित्येषु नाम

प्रदीपः

ह्यानिः। इह त्वर्थवतो ग्रहणादर्थवत इत्युक्तम्। यदा च प्रकृत्यर्थः प्रेण विशेष्यते तदाऽयं परिहारः, व्यर्थविशेषणत्वे तु प्रस्य दाधौ प्रत्यनुपसर्गत्वाद् णत्वं न भवत्येव॥ तद्गुणीभूत इति। प्रयोगसंपादन उपकारक इत्यर्थः॥

युक्तं पुनरिति। ततश्च नित्येष्वागमविरोधात् तद्द्वारेणादेशविधानाद्दाप्शब्द

उद्द्योतः

रित्यर्थः॥ इह त्विति। घुसंज्ञासूत्रे इत्यर्थः॥ अत्रेदं बोध्यम्। अङ्गावयवाकारस्य मुग्विधायकाने मुगिति सूत्रारम्भसामर्थ्येन क्वचिद्वर्णग्रहणे नास्याः प्रवृत्तिः। तेन दिदीये इत्यादौ यणादिकं न। अयमेवार्थो भाष्येऽर्थवद्ग्रहणेन व्यज्यत इत्याहुः॥ प्रयोगेति। इदं चिन्त्यम्। आगमवत्प्रत्ययादेरपि प्रयोगसंपादने उपकारकत्वेन तेषामपि प्रकृतिग्रहणेन ग्रहणापत्तिः, मूलयुक्तेस्तुल्यत्वात्। अस्य मूलयुक्तित्वाभावे तु तत्कथनवैयर्थ्यापत्तिः। तस्मान्मदुक्तव्याख्यैव ज्यायसी॥

भाष्ये यन्नित्येष्विति। वियदादिवद् वर्णप्रकृतिप्रत्ययपदवाक्यादिरूपाः सर्गाद्यकाकालिकोत्पत्तिमन्तः प्रलयकालिकनाशवन्तश्चेति पक्षे इति भावः॥ दाप्शब्द

भावबोधिनी

किस अन्य स्थल में ?

लविता, चिकीर्षिता में। [लू + तृच्, चिकीर्ष + तृच् इनमें 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (७।२।३५) सूत्र से इट् आगम होता है—लू + इ तृच्, यह इट् तृच् का आगम है अतः इसी से उसका भी ग्रहण होगा, इट् बीच में व्यवधायक नहीं माना जाता है जिससे धातु से परे प्रत्यय मान कर कार्य हो जाते हैं। इसी प्रकार 'प्रणिदापयति, प्रणिधापयति' आदि में भी 'दा धा' को पुक् आगम किया गया इन्हीं के ग्रहण से गृहीत होता है। फलतः दाप् धाप् भी दा धा ही माने जायेंगे। घुसंज्ञा हो जायगी।]

अच्छा तो यह बतलाइये—क्या यह ठीक है नित्य शब्दों में आगम का विधान किया जाना। नहीं, (ठीक है)। क्योंकि शब्दों के नित्य रूपों के रहते

शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोजनविकारिभिः । आगमश्च नामापूर्वः शब्दोपजनः ?

(आगमवादिन आदेशवादिनं प्रत्याक्षेपभाष्यम्)

अथ युक्तं यन्नित्येषु शब्देष्वादेशाः स्युः ॥

(आदेशवादिनः समाधानभाष्यम्)

बाढं युक्तम् । शब्दान्तरैरिह भवितव्यम् । तत्र शब्दान्तरे शब्दान्तरस्य प्रतिपत्तिर्युक्ता ॥

प्रदीपः

एवार्थवान्न दाशब्द इति तदवस्थो दोष इति भावः ॥

अथ युक्तमिति । तत्रापि स्थानिनमपनीयादेशः क्रियत इत्यनित्यत्वप्रसङ्गः । यश्चोभयोर्दोषो न तमेकश्चोद्यः ॥

बाढमिति । प्रसङ्गवाची स्थानशब्दो न निवृत्तिवाची, ततश्च सन्त एव प्रयोगे नित्याः शब्दा बुद्ध्युन्मज्जननिमज्जनद्वारेण प्रतिपाद्यन्ते । आगमस्त्ववस्थितस्यापूर्वः क्रियमाणो नित्यत्वं विरुणद्धि ॥

उद्द्योतः

एवार्थवान्न दाशब्द इति । स तु न दाशब्द इत्यर्थः । एवं च घुत्वाभावात्तदवस्थो दोष इति भावः ॥ श्रौतस्थानषष्ठ्यभावात्स्थानिवत्त्वस्य नैतद्विषये प्रवृत्तिरिति तात्पर्यम् ॥ कूटस्थत्वं व्याचष्टे— भाष्ये अविचालिभिरिति । तद्विवरणमनपायेत्यादि । द्वन्द्वान्मत्वर्थीयः पश्चान्नञ्समासः ॥

नन्वेतावतापि स्वपक्षास्थापनाद् वैतण्डिकत्वमस्य स्यादत आह— यश्चेति ॥

प्रसङ्गवाचीति । षष्ठी स्थान इत्यत्रत्यः । प्रसङ्गश्च बुद्धेरिति भावः ॥ सन्त एव प्रयोगे नित्या इति । आदेशरूपा इत्यर्थः ॥ बुद्ध्युन्मज्जननिमज्जने यथाक्रममादेशस्य स्थानिनश्च ॥ भाष्ये-शब्दान्तरे इति । तद्बुद्धौ प्राप्तायामित्यर्थः ॥

भावबोधिनी

उनमें वर्णों को कूटस्थ-अविचाली, अपाय, उपजन तथा विकार से रहित ही होना चाहिये । और यह आगम तो उनमें बीच में एक अपूर्व उपजन = वृद्धि हो जाती है ?

अच्छा तो फिर शब्दों के नित्य होने पर उनमें आदेश होना ठीक है ।

बिल्कुल ठीक है । यहाँ (आदेशों में) तो दूसरे शब्दरूप ही होने चाहिए । इनमें एक शब्द रूप के स्थान पर दूसरे शब्दरूप का ज्ञान करना उचित ही है ।

(सिद्धान्तोपसंहारभाष्यम्)

आदेशास्तर्हीमे भविष्यन्ति अनागमकानां सागमकाः ॥

तत् कथम् ?

'सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः ।

एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते' ॥

प्रदीपः

आदेशास्तर्हीमे इति । इड् भवतीत्येतद्द्वारेण तव्यस्येतव्यादेशः क्रियते ॥ सर्वं इति । आगमा अपीत्यर्थः ॥ सर्वपदादेशा इति । पदशब्देन न सुप्तिङन्तं गृह्यतेऽपि तु कार्यं प्रतिपद्यमानं प्रतीयमानं प्रकृतिप्रत्ययादि तत् सर्वं पदम् ॥ एकदेशविकारे हीति । यद्यपि सर्वविकारेऽप्यनित्यत्वं यथा पिठरस्थस्य पयसः पाकादिषु, तथापि विकाराभावप्रतिपादनपरमेतत् । बुद्धिविपरिणाममात्रं स्थान्यादेशागमागमिभावद्वारेण क्रियत इत्यर्थः ॥ यद्येवं दाशब्दस्य दाप्शब्दः आदेशः इति दाशब्दस्यानर्थक्यप्रसङ्गः ॥

उद्द्योतः

आदेशास्तर्हीम इति । इमे आगमत्वेन व्यवह्रियमाणा अपि=तथा विधीयमाना अपि आदेशास्तत्सदृशा भविष्यन्तीत्यर्थः ॥ आद्यन्तावित्याद्येकवाक्यतया आर्धधातुकस्याद्यावयव इडित्यर्थे वृत्ते नित्यत्वानुपपत्तिमूलकवाक्यान्तरकल्पनेन केवलतव्यबुद्धौ प्रसक्तायाभिकारादिः साधुरिति बोध्यः ॥ तेनात्रापि बुद्धिविपरिणाममात्रस्यैव सत्वेन न नित्यत्वहानिरिति भावः ॥ यदागमा इति न्यायस्य चात्रापि पक्षे सत्वात्प्रणिदापयतीत्यादौ न दोषः ॥ ये त्वत्र पक्षे आगमत्वं नास्त्येवेति वदन्ति, ते मान्याः । अनागमकानामित्यादिव्यवहारासङ्गतेः । निरवयवकबुद्धिनिमज्जनसावयवकबुद्ध्युन्मज्जनेनागमव्यवहारस्यापि निर्बाधत्वात् । तत्कथमिति प्रश्ने तुल्यन्यायत्वादाह—सर्वे सर्वपदेति । यथा

भावबोधिनी

यदि ऐसा है तब तो आगमरहित शब्द के स्थान पर ये आगमसहित आदेश हो हो जाँय, मान लिये जाँय ।

यह कैसे ?

दाक्षीपुत्र पाणिनि के मत में सभी आदेश सम्पूर्ण पद (शब्द रूप) के स्थान पर ही होते हैं क्योंकि किसी एक देश=अवयव के स्थान पर मानने में शब्दों की नित्यता नहीं उपपन्न होती है । [अतः आगमरहित शब्द के स्थान पर आगमसहित शब्द की बुद्धि करनी चाहिए । इससे बुद्धि का ही परिवर्तन होता है, शब्द का नहीं ।]

प्रदीपः

नैष दोषः। नित्यतासमर्थनायादेशपक्ष आश्रितः। प्रक्रियायां तु कल्पितायामागमागमिभाव एव। अन्यथागमादेशयोर्भेदेन व्यवहारो न स्यात् ॥

उद्द्योतः

एरुरित्यादौ अवयवयोः श्रौतस्थान्यादेशभावेऽपि नित्यत्वानुपपत्तिमूलकः समुदाययोरपि स कल्प्यते, एवम् अवयवत्वेन विधानेऽपि अर्थापत्तिमूलकवाक्यान्तरकल्पनेन निरवयवसावयवबुद्धयोर्विपरिणाममात्रेणादेशत्वव्यवहारो गौणो नित्यत्वरक्षणाय कल्प्यत इति। यथा च तत्र कल्प्यमानस्थान्यादेशभावेन श्रौतावयवस्थान्यादेशभावस्य न त्यागः, अत एवाचः परस्मिन्नित्यादीनामुक्तिसम्भवः। तथाऽत्रापि श्रौत्रावयवावयविभावस्य न त्याग इति यदागमा इत्येतत्प्रवृत्तिरव्याहतैवेति ईदृशस्थान्यादेशभावे स्थानिवत्त्वस्य न प्रवृत्तिः, स्थानिवदितिश्रुतेः श्रौतस्थान्यादेशभावानुपपत्तिमूलकतया कल्प्यमानस्थान्यादेशभावके एरुरित्यादावेव तत्प्रवृत्तेः। नत्वत्र केवलानुमानिके। अत एव लावस्थायामडिति पक्षेऽडादिविशिष्टस्यापिबदित्यादौ न पिबाद्यादेशा इति दिक्। तदेतदाह— इड्भवतीत्येतद्द्वारेणेति ॥ आगमा अपीत्यर्थं इत्यस्य तथेत्यादिः। अत एवाग्रे वक्ष्यति— 'बुद्धिविपरिणाममात्रं स्थान्यादेशागमागमिभावद्वारेण क्रियते' इति॥ एतेनागमा अपीत्येव सर्वपदव्याख्यायामेकदेशविकारे हीति वाक्यशेषविरोधः। आदेशत्वोपपादिकाया विकार-

भावबोधिनी

विमर्श—वैयाकरणों के मत में शब्द नित्य हैं। नित्य का स्वरूप सामान्यतया यह माना जाता है—ध्रुवं कूटस्थमविचाल्यनपायोपजनविकार्यनुत्पत्त्यवृद्धयव्ययोगि यत्तन्नित्यम्।' जो ध्रुव = कूटस्थ (अयोघन के समान अविकारी, इससे संसर्गानित्यता का परिहार कहा गया है), अविचाली = एक रूप से अवस्थित, जो किसी अन्य रूप को नहीं प्राप्त करता है.(इससे परिणामानित्यता का परिहार कहा गया है।) अनपायोपजनविकारि (इसका विग्रह है— अपायश्च उपजनश्च इति अपायोपजनौ, तौ च विकारौ च—इति अपायोपजनविकारौ, ऐसा कर्मधारय करने के बाद—तौ अस्य स्तः—इस मत्वर्थ में 'इनि' प्रत्यय करने पर—अनपायोजनविकारि। तद्भिन्नम् = अनपायोपजनविकारि।) ह्रास तथा वृद्धि रूपी विकारों से रहित। अस्ति अनुत्पत्ति = उत्पत्ति और सत्तारहित, अवृद्धि = वृद्धि से रहित, अव्ययोगि = व्यययोग से रहित। इन सभी से अनित्यता का अभाव कह कर नित्यता कही गई है। अनुत्पत्ति—इससे जन्म और सत्तारूप दो विकारों का, अवृद्धि इससे वृद्धि = उपचयरूप विकार का, अनुपजन इससे परिणामरूप चतुर्थ विकार का, अनपाय–इससे अपचयरूप पञ्चमविकार का तथा अव्ययोगि—इससे नाशरूप षष्ठ विकार का अभाव कहा गया है।

(अनिष्टापत्तिनिराकरणाधिकरणम्)

(१३३ आक्षेपवार्तिकम् ॥२॥)

॥ * ॥ दीङः प्रतिषेधः स्थाघ्वोरित्त्वे ॥ * ॥

(भाष्यम्)

दीङः प्रतिषेधः स्थाघ्वोरित्त्वे वक्तव्यः ॥ उपादास्तास्य स्वरः शिक्षकस्येति ।

प्रदीपः

दीङ इति । उपादीस्त इति स्थिते मीनातिमिनोतीत्यात्वे कृते दारूपत्वादर्थ-वत्त्वाच्च घुसंज्ञाप्रसङ्गः ॥

उद्द्योतः

व्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वरूपनित्यत्वानुपपत्तेः सकलपक्षावृत्तित्वादित्यपास्तम् ॥ पद्यमानमिति । कार्यवत्तया प्रतीयमानं प्रकृत्यादीत्यर्थः ॥ सर्वपदेस्यत्र घनर्थे कः । सर्वशब्दश्चात्रावयवकार्त्स्न्यवाची ॥ यद्येवमिति । एवं चेतदवयवस्यानर्थक्यान्न संज्ञा, पुकः पूर्वं दा इत्यस्य तु न संज्ञा,कार्यकालपक्षे संज्ञाया णत्वदेशस्थत्वेन पुकुद्दृष्ट्यासिद्धत्वात् पूर्वमप्रवृत्तेः । न च पुग्विशिष्टस्य दाग्रहणेन ग्रहणम् । यदागमा इत्यस्याभावात् । पूर्वोक्तरीत्या स्थानिवत्त्वाप्रवृत्तेश्चेति भावः ॥ आदेशपक्ष इति । बुद्धिविपरिणामपक्ष इत्यर्थः ॥ कल्पितप्रक्रियादशायां तु न कल्पितागमत्वादिव्यवहारत्याग इति यदागमा इत्यादेः सत्त्वेनात्रापि पक्षे न दोष इति भावः ॥

भावबोधिनी

यदि एक वर्ण के साथ किसी अन्य वर्ण का आगम मानेंगे तो उसको अनित्यता होने लगेगी । इसलिए वैयाकरण सम्पूर्ण पद = शब्दरूप के स्थान पर बुद्धि-परिवर्तन मानते हैं । 'दा' इस शब्द-बुद्धि के स्थान पर 'दाप्' ऐसी शब्द-बुद्धि करनी चाहिए । इससे शब्द की नित्यता सुरक्षित रहती है । 'सर्वपदादेशः' इसमें 'पद' का तात्पर्य सुबन्त और तिङन्त नहीं है अपि तु—पद्यमानम् = कार्यवत्तया प्रतीयमानं प्रकृत्यादि' ही समझे जाते हैं । इससे सभी की नित्यता है ।]

(वा०) 'स्थाघ्वोरिच्च' (१।२।१७) सूत्र से स्था तथा घुसंज्ञक के इत्व में दीङ् का प्रतिषेध करना चाहिए ।

(भा०) स्था तथा घुसंज्ञक दा-धा के इत्व के प्रसंग में 'दीङ्' का प्रतिषेध करना चाहिए, 'दीङ्' का इत्व नहीं होता है—ऐसा कहना चाहिए । 'उपादास्त अस्य स्वरः शिक्षकस्य' = इस शिक्षक का स्वर = आवाज क्षीण हो गई, अर्थात् गला बैठ गया । [उपआ + दी सिच् = स् + त में] 'मीनातिमीनोति दीङां ल्यपि

"मीनातिमिनोति" (६।१।५०) इत्यात्वे कृते "स्थाघ्वोरिच्च" (१।२।१७) इतीत्वं प्राप्नोति ॥

(प्रत्याक्षेपभाष्यम्)

कुतः पुनरयं दोषो जायते—किं प्रकृतिग्रहणाद्, आहोस्विद्रूपग्रहणात् ?

(प्रत्याक्षेपसमाधानभाष्यम्)

रूपग्रहणादित्याह ॥

(प्रकृतिग्रहणदोषभाष्यम्)

इह खलु प्रकृतिग्रहणाद्दोषो जायते—उपदिदीषते । "सनि मीमाघुरभलभ" (७।४।५४) इति ॥

प्रदीपः

इह खल्विति । एचो विषये आत्वविधानाद्दीशब्द एव दाप्रकृतिरिति दोषः ॥

उद्द्योतः

सन्निपातपरिभाषया दीङ आत्वे दारूपाश्रयघुत्वं न । प्रकृतिग्रहणस्य प्रत्याख्यातत्वात्तन्निबन्धनमपि इति गूढाशयः पृच्छति—भाष्ये—कुतः पुनरिति ॥

आशयमविदुष उत्तरम्—रूपग्रहणादिति ॥

इह खलु प्रकृतिग्रहणादिति । घुसंज्ञासूत्रे प्रकृतिग्रहणेऽयं दोषो जायतेऽतस्तत्र प्रकृतिग्रहणं दुष्टमिति भावः ॥

भावबोधिनी

च' (६।१।५०) सूत्र से ई का आत्व करने पर ['दा' रूप होने से घुसंज्ञा हो जाने पर] 'स्थाघ्वोरिच्च' (१।२।१७) इससे आ का इत्व प्राप्त होता है । [अतः दीङ् की घुसंज्ञा का प्रतिषेध कहना चाहिए ।]

उपादास्त—इसमें यह घुसंज्ञा प्राप्तिरूप दोष किस कारण से होता है, क्या इस सूत्र में प्रकृति-ग्रहण के कारण अथवा दा रूप मान लेने के कारण ? [गूढ भाव यह है कि 'उपा दी स् त' यहाँ पर सिच् के अकित्व को मानकर 'मीनाति मीनोतिदीङां ल्यपि' से दी का दा होता है । यदि घुसंज्ञा होगी तो 'स्थाघ्वोरिच्च' सूत्र से इकारान्त आदेश के साथ-साथ अकित्वविनाश भी होगा । किन्तु ऐसा सन्निपात परिभाषा के विरोध से नहीं किया जा सकता । दूसरी बात 'प्रकृति' ग्रहण का भी ऊपर प्रत्याख्यान किया जा चुका है । इस स्थिति में इत्व प्राप्तिरूप दोष कैसे प्राप्त होता है ?]

रूपग्रहण से प्राप्त होता है, ऐसा कहते हैं । [दा रूप मिलने से घुसंज्ञा और इत्व प्राप्त है ।]

लेकिन 'उपदिदीषते'—इसमें तो प्रकृतिग्रहण से घुसंज्ञाप्राप्तिरूप दोष है । क्योंकि उपदिदीषते में दीङ् दाप्रकृति होने से घुसंज्ञा करने पर 'सनि मीमाघुरभलभ०'(७।४।५४) इससे अभ्यास-लोप तथा 'आ' के 'इस्' आदेश का प्रसंग आता है । [सन् परे 'इको झल्' से कित्व होने से गुण न हो सकने से एच् विषय नहीं रहेगा । दी ही रहेगा । तब दा की प्रकृति 'दी' शब्द की घुसंज्ञा हो जाने पर 'सनि मीमा०' सूत्र से अभ्यासलोप तथा 'इस्' आदेश की प्राप्ति होती है ।]

(दोषनिराकरणभाष्यम्)

नैष दोषः। दाप्रकृतिरित्युच्यते। न चेयं दाप्रकृतिः। आकारान्तानामेजन्ताः प्रकृतयः, एजन्तानामपीकारान्ताः। न च प्रकृतेः प्रकृतिः प्रकृतिग्रहणेन गृह्यते॥

(आक्षेपोपसंहारभाष्यम्)

स तर्हि प्रतिषेधो वक्तव्यः॥

प्रदीपः

न चेयमिति। एच एव स्थाने आत्वविधानादित्यर्थः॥

उद्द्योतः

अर्थैकदेशी एनं दोषं परिहर्तुमाह—नचेयमिति॥ तद्व्याचष्टे—एच एवेति। मीनातीत्यस्योपदेशकाले प्रवृत्तिमसौ न जानाति। एवं च साक्षाद्दाप्रकृतिसंभवे व्यवहितप्रकृतेर्न ग्रहणमिति भावः॥ अतिफल्गुत्वात्त्वेतन्मतदूषणानभिनिवेशो भाष्यकृत इति द्रष्टव्यम्॥ यत्त्विदं वार्तिकमतम्—न चैतत्पक्षेऽवदान इत्यादावादन्तत्वनिबन्धनयुजाद्यसिद्धिः। तत्राकारान्तलक्षणप्रत्ययविधिरिति वचनेनैव तत्सिद्धेः। भाष्ये त्वेतद्वचनप्रत्याख्यानार्थेज्विषये आत्वं सिद्धान्तितमित्यन्यदिति॥ तन्न,तादृशवार्तिकस्यानुपलम्भात्। विपरीतं मिनातीति सूत्रे उपदेशवचनं कर्तव्यं कघञ्युच्सिद्ध्यर्थमिति वार्तिकम्। तत्रोपदेशे एच इति विरुद्धमित्याशङ्क्य एज्विषय इति भाष्यकृता व्याख्यातम्। न तु भवदुक्तवार्तिकं तत्प्रत्याख्यानं वा भाष्ये दृश्यते। एवं च प्रकृतिग्रहणं घुसंज्ञायां वार्तिककारोक्तं दुष्टमेव। न तु तदनुरोधेन गुरुभूतवचनान्तरकल्पनाभिनिवेशः कार्यः। नह्येकदेश्युक्तमतपरिष्कारे गुरुप्रकारेण क्रियमाणे किंचित्फलमित्याहुः॥

भावबोधिनी

यह दोष नहीं है। 'दा-प्रकृति' की घुसंज्ञा होती है—ऐसा कहा जाता है। और यह दीङ् दा की प्रकृति नहीं है। कारण यह है जिनका आकारान्त आदेश किया गया है उन धातुओं की मूल प्रकृति एजन्त धातुयें ही हैं और जो एजन्त हैं उनकी प्रकृति भी ईकारान्त धातुय हैं। और प्रकृति की जो प्रकृति है वह प्रकृतिग्रहण से नही गृहीत होती है। [निष्कर्ष यह है दीङ्+सन्=उपादिदीषति में 'दी' यह दा की प्रकृति नहीं मानी जा सकती। यह 'दे' एजन्त की प्रकृति तो हो सकती है। और यह एजन्तरूप 'दा' की प्रकृति होती है। अतः 'दीङ्' की घुसंज्ञा नहीं हो सकती।]

तो फिर क्या 'दीङ्' की घुसंज्ञा का प्रतिषेध कहना चाहिए ?

(समाधानभाष्यम्)

न वक्तव्यः ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

घुसंज्ञा कस्मान्न भवति ?

(समाधानभाष्यम्)

"सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य" इत्येवं न भविष्यति ॥

प्रदीपः

सन्निपातेति । अकित्त्वसन्निपातेनात्वं क्रियते । यदि चात्र घुसंज्ञा स्यात् स्थाघ्वो-रिच्चेति कित्वं स्यादित्यकित्वस्य व्याघातः स्यादिति घुसंज्ञां प्रति नैवाकार आत्मानं दर्शयतीति घुसंज्ञा न प्रवर्तते ॥ अत्र केचिदाहुः—दीङस्तृजादावात्वे घुसंज्ञा भवत्येवेति प्रणिदातेति णत्वं भवति । अत एव वार्तिककारेण स्थाघ्वोरित्त्व इति विशेषो निर्दिष्टः ॥ अन्ये त्वाहुः—निर्देश एवैजन्तानामनुकरणानामात्वे कृते दाण्दाञ्धानां चैकशेषे द्वन्द्वे च दाधा इति निर्देशाद्दीङो नास्ति प्राप्तिः, नहि तदनुकरणस्यात्वमस्ति, अगुणविषयत्वात् ॥

उद्द्योतः

अकित्त्वेति । एचो विषयस्याऽन्यथाऽसंभवादिति भावः ॥ कित्त्वमिति । तदभावे संनियोगशिष्टत्वादित्वमपि नेति कार्याभावाद् घुत्वस्याप्रवृत्तिरिति भावः ॥ प्रणिदातेतीति । ननु प्रणिदीयते इत्यत्र नित्यणत्वप्रसङ्गो णत्वविधौ प्रकृतिग्रहणादिति चेन्न, इष्टापत्तेः ॥ अन्ये त्वाहुरिति । अत्रारुचिबीजं तु वार्तिकभाष्यविरोधाद् न तथा सूत्रतात्पर्यमिति ॥ अगुणेति । गुणनिमित्तप्रत्ययप्रसङ्गाभावादित्यर्थः ॥

भावबोधिनी

[घुसंज्ञा का प्रतिषेध] नहीं कहना चाहिए ।

तो फिर घुसंज्ञा क्यों नहीं होती है ?

'सन्निपातलक्षण विधि उस सन्निपात के विघात का निमित्त नहीं बनती है' इस वचन से घुसंज्ञा नहीं होगी ।

विमर्श—पूर्व तथा पर इन दोनों को निमित्त मानकर यदि उनमें से किसी का कोई कार्य आदेश आदि किया जाता है तो वह हो जाने के बाद उन वर्तमान निमित्तों का विघात नहीं करवाता है—यह आशय है 'सन्निपातलक्षण' परिभाषा का । अतः 'उपा दी स् त' इसमें सिच् के अकित्व-सन्निपात के कारण दीङ् के ई का आत्व हुआ है वही आत्व घुसंज्ञा के बाद 'स्थाघ्वोरिच्च' (१।२।१७) इस सूत्र से अकित्व कराने में निमित्त नहीं बन सकता । इसलिए यह आत्व घुसंज्ञा के लिये नहीं के समान है । घुसंज्ञा नहीं होती है । फलतः न कित्व होगा और न इत्व और 'उपादास्त' यही रूप रहेगा ।

(नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वन्यायाधिकरणम्)

(१८० आक्षेपवार्तिकम् ॥ ७ ॥)

॥ * ॥ दाप्प्रतिषेधे न दैप्यनेजन्तत्वात् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

दाप्प्रतिषेधे दैपि प्रतिषेधो न प्राप्नोति—अवदातं मुखम् ॥

ननु चाऽऽत्वे कृते भविष्यति ॥

तद्ध्यात्वं न प्राप्नोति ॥

किं कारणम् ?

अनेजन्तत्वात् ॥

प्रदीपः

दाप्प्रतिषेध इति । दाप्लवने इत्यस्यैव निषेधः स्यादित्यर्थः ॥ अवदातमिति । त्त्वमत्र प्राप्नोति ॥

उद्द्योतः

इत्यस्यैवेति । न तु दैप इत्यर्थः । तस्य पकारे श्रूयमाणे आत्वायोगादिति भावः ॥ ननु पकारे लुप्तेपि कथमात्वमुपदेशकाले एजन्तत्वाभावाद्, नानुबन्धकृतमित्याद्याश्रयणे तु प्रकृतेपि न दोष इति चेन्न । उपदेश इति षष्ठ्यर्थे सप्तम्याः स्वेनोपदिश्यमानस्यैजन्तस्येत्यर्थेन लुप्ते आत्वप्रवृत्तेः । सति तु तस्मिन्नात्वमेजन्तत्वाभावाद्, यस्मात्परो नास्ति तत्रैवान्तशब्दप्रवृत्तेरिति दिक् ॥ तत्त्वमिति । अच उपसर्गात्त इत्यनेनेत्यर्थः ॥

भावबोधिनी

(वा०) दाप् के प्रतिषेध के प्रसङ्ग में दैप् में नहीं (होगा) क्योंकि अनेजन्त है ।

(भा०) (अदाप् द्वारा) दाप् में घुसंज्ञा के प्रसंग में दैप् का प्रतिषेध नहीं प्राप्त होता है—अवदातं मुखम् । [दैप् शोधने—इसका रूप है । यहाँ 'क्त' परे घुसंज्ञा का निषेध इष्ट है किन्तु 'दाप्' न होकर दैप् होने से यह निषेध नहीं होगा, घुसंज्ञा होने लगेगी ।]

क्यों जी, ['आदेच उपदेशेऽशिति' से] आत्व कर देने पर तो (घुसंज्ञा का प्रतिषेध) हो जायगी ।

वह आत्व तो प्राप्त नहीं हो सकता ।

क्या कारण है ?

अनेजन्त होना । [दैप् पकारान्त है और आत्व एजन्त का ही होता है । अतः वह दाप् नहीं बनेगा । अदाप्प्रतिषेध इस पर लागू नहीं होगा । घु संज्ञा होने के फलस्वरूप 'अच उपसर्गात्तः' (७।४।४७) सूत्र से 'त्' होने लगेगा ।]

(१८१ समाधानवार्तिकम् ॥ ८ ॥)

॥ * सिद्धमनुबन्धस्याऽनेकान्तत्वात् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

सिद्धमेतत् ॥

कथम् ?

अनुबन्धस्यानेकान्तत्वात् । अनेकान्ता अनुबन्धाः ॥

(१८२ समाधानवार्तिकम् ॥ ९ ॥)

॥ * ॥ पित्प्रतिषेधाद्वा ॥ * ॥

(भाष्यम्)

अथ वा "दाधा घ्वपित्" इति वक्ष्यामि । तच्चाऽवश्यं वक्तव्यम् । अदाविति ह्युच्यमाने इहापि प्रसज्येत-प्रणिदापयतीति ॥

उद्द्योतः

भाष्ये अनेकान्ता इति । एवं च पकारसत्त्वेपि एजन्तत्वानपायादात्वप्रवृत्तिरिति भावः ॥

भावबोधिनी

(वा०) [आत्व आदेश] सिद्ध है क्योंकि अनुबन्ध अनुबन्धी का अवयव नहीं होता है ।

(भा०) यह आत्व होना सिद्ध है ।

किस प्रकार से सिद्ध है ?

अनुबन्ध के अनवयव होने के कारण । क्योंकि "अनुबन्ध अवयव नहीं होते हैं" यह परिभाषा है । [अतः पकार अनुबन्ध रहने पर भी एजन्त ही माना जायगा आत्व होने में बाधा नहीं है ।]

(वा०) अथवा पित् के प्रतिषेध से [दैप् का भी प्रतिषेध हो जाता है] ।

(भा०) अथवा ('दाधा घ्वदाप्' के स्थान पर) 'दाधा घ्वपित्' ऐसा कहेंगे । और यह अवश्य कहना चाहिये । क्योंकि 'अदाप्' ऐसा कहे जाने पर तो 'प्रणिदापयति' यहाँ भी घुसंज्ञा का प्रतिषेध प्रसक्त होने लगेगा । [जिससे णत्व आदि नहीं हो पायेगा ।]

(आवश्यकतानिराकरणभाष्यम्)

शक्यं तावदनेनादाबिति ब्रुवता बान्तस्य प्रतिषेधो विज्ञातुम् ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

सूत्रं तर्हि भिद्यते ॥

(सिद्धान्तिभाष्यम्)

यथान्यासमेवास्तु ॥

(आक्षेपस्मारणभाष्यम्)

ननु चोक्तम् "*दाप्प्रतिषेधे न दैपि*" इति ॥

(परिहारस्मारणभाष्यम्)

परिहृतमेतत् "*सिद्धमनुबन्धस्यानेकान्तत्वात्*" इति ॥

प्रदीपः

शक्यं तावदिति । दाप्दैपौ च धातुषु बान्तौ पठितव्यौ ।

उद्द्योतः

तच्चावश्यमित्यादि विघटयितुं भाष्ये शक्यं तावदिति । लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया तु पुगन्तेऽदाबिति निषेधो न शक्यो वारयितुं गामादाग्रहणेऽविशेषाद् । दाबित्यपि पकारोपलक्षितदाग्रहणमेवेति भावः । बान्तपक्षेऽपि चर्त्वेन पस्य सिद्धत्वान्नास्ति [1]सूत्रभेदः ॥

भावबोधिनी

'अदाप्' इस प्रकार से कहने वाले पाणिनि के द्वारा बान्त धातु का प्रतिषेध समझाया जा सकता हैं । [भाव यह है दाधा घ्वदाब् आद्यन्तवदेकस्मिन्' आदि रूप में सभी सूत्र संहिता पाठ में हैं । अतः 'अदाप्' नहीं 'अदाब्' यही पाठ है। दाप्, दैप् को बकारान्त दाब्, दैब् पढ़ना चाहिये । चूंकि 'प्रणिदापयति' में बकारान्त नहीं पकारान्त है, निषेध नहीं होगा, घुसंज्ञा होने से णत्वादि हो जायेंगे । केवल धातुपाठ बदलना होगा ।]

[यदि ऐसा हैं तब] तो सूत्रस्वरूप में भेद होता है ।

तब तो जैसा है वैसा ही रहे अर्थात् 'अदाप्' ही रहे।

क्यों जी, यह कहा जा चुका है—दाप्प्रतिषेध करने में "दैप्" का प्रतिषेध नहीं होगा ।

इसका तो परिहार किया जा चुका है—

"अनुबन्ध (पकार) अवयव नहीं होता है, इससे आत्व सिद्ध है ।" फलतः 'अदाप्' प्रतिषेध होगा ।]

---

१. सूत्रेति । परिमाणग्रहणमिति धातुसंज्ञासूत्रवार्तिकान्यथानुपपत्त्याऽर्थनिर्देशस्यापाणिनीयत्वात् पाणिनीयधातुसंहितापाठे 'दैप्पा' 'दाप्ल्या' इत्येव पाठसत्त्वादिति भावः ॥ 'दाधाघ्वदाबाद्यन्तवदेकस्मिन्' इति पाणिनीयसूत्रसंहितापाठे पान्तपक्षेपि जश्त्वेन बकारस्य सिद्धत्वान्नास्ति सूत्रभेदः । वृत्तिकृत्कल्पितसूत्रविभागे बकारस्यापि चर्त्वेन पकारे नास्ति सूत्रभेद इति तत्त्वम् ॥ इति दाधिमथाः ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

अथैकान्तेषु दोष एव ॥

(समाधानभाष्यम्)

एकान्तेष्वपि न दोषः। आत्त्वे कृते भविष्यति ॥

(समाधानानुपपत्तिभाष्यम्)

ननु चोक्तम्—'तद्धचात्वं न प्राप्नोति, किं कारणम् ? अनेजन्तत्वाद्' इति ॥

(समाधानोपपत्तिभाष्यम्)

पकारलोपे कृते भविष्यति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

न ह्ययं तदा दाप् भवति ॥

(समाधानभाष्यम्)

भूतपूर्वगत्या भविष्यति ॥

(समाधानसाधकभाष्यम्)

एतच्चात्र युक्तम्—यत्सर्वेष्वेव सानुबन्धकग्रहणेषु भूतपूर्वगतिर्विज्ञायते।

उद्द्योतः

शङ्कते—न ह्ययमिति।

उत्तरयति—भूतपूर्वेति। दात्वं श्रुत्या, पकारवैशिष्टचं तु [1]अनयेति भावः॥

भावबोधिनी

यदि ऐसा है तो भी "अनुबन्ध अवयव होते हैं" इस पक्ष में दोष ही है।

अवयव-पक्ष में भी दोष नहीं है क्योंकि [दैप् के ऐ का] आत्त्व कर देने पर प्रतिषेध हो जायगा।

क्यों जी, यह कहा जा चुका है कि "वह आत्व नहीं प्राप्त होता है। क्या कारण है ? एजन्त नहीं है।" [और आत्व एजन्त का ही होता है।]

पकार का लोप कर देने पर एजन्त हो जायगा।

ऐसा होने पर तो यह दाप् नहीं रहता है। [केवल 'दा' रह जाता है।]

भूतपूर्व गति मान लेने से हो जायगा। [आत्व् सुनाई ही देता है। पित् पहले का है उसी को अब भी मान लिया जायगा।]

इस प्रसङ्ग में यही उचित है—जो कि सभी सानुबन्धकों के ग्रहण में भूतपूर्व गति समझी जाती है। कारण यह है कि अनुबन्धलोप किसी निमित्त को मान

---

१. भूतपूर्वगत्येत्यर्थः।

अनैमित्तिको ह्यनुबन्धलोपस्तावत्येव भवति ॥

(समाधानान्तरभाष्यम्)

अथ वाऽऽचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—'नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम्' इति । यदयम् "उदीचां माङो व्यतीहारे" (३।४।१९) इति मेङः सानुबन्धकस्याऽऽत्वभूतस्य

प्रदीपः

तावत्येवेति । इत्संज्ञायां सत्यामेव, प्रयोगे दाशब्द एवायं पित्कार्यं तु लभत इत्यर्थः ॥

अथवेति । अनुबन्धानामेकान्तत्वपक्षे उपदेश एवैजन्तानामात्वमुच्यमानं दैपो न प्राप्नोतीति ज्ञापकोपन्यासः ॥ माङ इति । मेङो ग्रहणं न माङः, मेङो व्यतिहारेण नित्ययोगात् । माङस्तु विवक्षावशाद् व्यतिमिमीत इति कादाचित्कत्वाद् व्यतिहारयोगस्य । प्रणिदानं व्यतिहार इत्येकोऽर्थः । उदीचां मेङ इति तु न कृतम् । एवं हि 'नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम्' इति न ज्ञापितं स्यात् ॥

उद्द्योतः

इत्संज्ञायामिति । उपदेशोत्तरकालं जातायामेवेत्यर्थः ॥

मेङ इति । अन्तरङ्गत्वाद्व्यतीहारे नित्यसम्बद्ध एव गृह्यते; न तु पदान्तरसन्निधानेन बहिरङ्गव्यतीहारवृत्तिरिति भावः ॥ केचित्तु—माङोऽनभिधानात्क्त्वाप्रत्ययानुत्पत्तिरिति न तस्य ग्रहणमित्याहुः ॥ उदीचां मेङ इति । उदीचां म इत्यस्याप्युपलक्षणमिदम् । न चानुबन्धसत्त्वे मे इत्यस्य धातुत्वाभावात्कथमात्वम्, अनुबन्धलोपे एव धातुत्वमित्यर्थस्य 'न धातुलोप' सूत्रे भाष्यकैयटयोः स्पष्टत्वादिति वाच्यम् । आत्वविधायके धातोरित्यस्यासम्बन्धाद् । गवादिशब्दानामुपदेशाभावान्नात्वम् । इरेप्रभृतीनामुपदेशेपि तेषामधि-

भावबोधिनी

कर नहीं किया जाता है । [अतः सबसे पहला कार्य इत्संज्ञा और अनुबन्धलोप ही होता है । इस कारण अनुबन्ध के विषय में सर्वत्र ही भूतपूर्व गति माननी पड़ती है । अतः यहाँ भी उसी से 'पित्व' हो जाता है ।']

अथवा आचार्य पाणिनि का व्यवहार ही यह ज्ञापित करता है—"अनुबन्ध के कारण अनेजन्तत्व नहीं होता है ।" क्योंकि आचार्य ने 'उदीचां माङो व्यतीहारे' (३।४।१९) इस सूत्र में ङकार अनुबन्धसहित और आत्व आदेशप्राप्त 'माङ्' धातु का ग्रहण किया है ।

विमर्श—भाव यह है कि यदि किसी धातु में अनुबन्ध है तो उससे उसका एजन्तत्व बाधित नहीं होता है । 'उदीचां माङो व्यतीहारे' (३।४।१९) इसमें 'मेङ्

ग्रहणं करोति ॥

(समाधानान्तरभाष्यम्)

अथ वा दाब् एवायम् । न दैबस्ति ॥

कथम्—'अवदायति' इति ?

श्यन्विकरणो भविष्यति ॥ दाधा घ्वदाप् ॥१९॥

प्रदीपः

अथवेति । दिवादिषु दाप्शोधने इति पठिष्यत इत्यर्थं ॥ १९ ॥

उद्द्योतः

त्परत्वाभावाद् नात्वम् । प्रसज्यप्रतिषेधेपि प्रत्यासत्त्या शित्प्रत्ययपरत्वयोग्यानामेजन्तानामेव ग्रहणान्न दोष इति दिक् ॥

दिवादिष्विति । ननु ताच्छीलिके चानशि दायमान इत्यत्र स्वरे भेदः, श्यनि धातोरुदात्तत्वं, शपि चानशोऽन्तोदात्तत्वमिति चेन्न; सतिशिष्टादपि विकरणस्वरात् सार्वधातुकस्वरस्य बलीयस्त्वोक्तेरुभयथाप्यन्तोदात्तत्वानपायादिति दिक् ॥ १९ ॥

भावबोधिनी

प्रणिदाने' का ही ग्रहण है । और मेङ् न लिखकर आत्व करके 'माङ्' ऐसा निर्देश स्वयं पाणिनि ने किया है । अतः यह सिद्ध करता है कि 'ङ्' अनुबन्ध रहने पर भी एजन्तत्व मानकर पाणिनि ने आत्व किया है । यहाँ 'माङ्' का ग्रहण नहीं माना जा सकता क्योंकि इसके अर्थ में व्यतीहार सम्भव नहीं है । अतः यह ज्ञापक सिद्ध है । अब 'दैप्' का आत्व भी होगा, 'अदाप्' से घुसंज्ञा का प्रतिषेध भी । कोई दोष नहीं है ।

(अनु०) अथवा दैप् यह भी दाप् ही है, दैप् नहीं है ।

तब 'अवदायति' यह रूप कैसे बनेगा ? [क्योंकि ऐ का आय् न होने पर अव द् आय् अ ति = अवदायति न बनकर 'अवदाति' बनेगा ।]

यहाँ श्यन् = 'य' विकरण करने पर हो जायगा । [भाव यह है कि 'दैप् शोधने' इसे दिवादिगण में ही 'दाप् शोधने' इस प्रकार से पढ़ देने पर शप् न करके श्यन् = य विकरण करने पर रूप बन जाने से कोई समस्या नहीं रह जाती है । यही सबसे सरल मार्ग है ॥१९॥

(१८ अतिदेशसूत्रम् १।१।५ आ० ९ ॥)

आद्यन्तवदेकस्मिन् ॥ १।१।२० ॥

प्रदीपः

आद्यन्तवदेक०॥२०॥ एकशब्दोऽसहायवाची न संख्यावाची । बहुष्वपि व्यवस्थितस्यैकत्वसंख्याऽस्तीति किमेकस्मिन्नित्यनेन कृतं स्यात् । एकस्मिन्नित्युपमेये सप्तमीनिर्देशादाद्यन्तवदित्युपमानात् सप्तम्यन्ताद्वतिर्विज्ञायते । यथा मथुरावत् पाटलिपुत्रे प्राकार इति । द्वयोर्ह्युपमानोपमेययोराधाराधेयसंबन्धप्रतिपादनाय वाक्यं प्रयुज्यते । यदि च तयोर्भिन्नविभक्तिकत्वं स्याद् उपमानोपमेयभाव एव न गम्येत ॥ सर्वातिदेशानां कार्यातिदेशस्य प्राधान्यात्तस्यैवेहाश्रयणम् ॥

उद्द्योतः

आद्यन्तव० ॥ २० ॥ बहुष्वपीति । यद्यप्युत्तरा सङ्ख्या पूर्वसङ्ख्याबाधिका; तथापीतरेषां बुद्धिविषयत्वाभावे बहुमध्यस्थेप्येकत्वाङ्गीकारान्न दोषः । यथा शते पञ्चाशदितीति भावः ॥ किमेकस्मिन्नित्यनेनेति । तद्धि सभासंनयने भव इत्यर्थे आकारस्यादित्वे तस्य वृद्धत्वेन प्राप्तच्छाभावार्थं दरिद्रातेरिवणन्तलक्षणाच्चोऽभावार्थं च । अत्र च स्वरे विशेषः ॥ उपमेये सप्तमीसत्त्वे सप्तम्यन्ताद्वतौ मानमाह—द्वयोरिति ॥ उपमानोपमेययोरिति । प्राकारपदवाच्येनेति शेषः ॥ आधाराधेयसंबन्धेति । आधारत्वाधेयत्वरूपसंबन्धप्रतिपादनायेत्यर्थः ॥ न गम्येतेति । उपमानप्रकारकोपमेयविशेष्यकबोधे समानविभक्तिकत्वस्य तन्त्रत्वादिति भावः । सर्वातिदेशानामिति ।[1] रूप-निमित्त-तादात्म्य-शास्त्र-व्यपदेश-कार्यातिदेशानां मध्ये इत्यर्थः ॥ प्राधान्यादिति । सर्वेषां कार्यार्थत्वादिति भावः ॥

भावबोधिनी

आद्यन्तवदेकस्मिन् ॥ १।१।२० ॥

एक = अकेले में (भी) आदि के समान तथा अन्त के समान [व्यवहार किये जाते हैं ।]

---

१. निर्धारणषष्ठीत्याह—रूपेति । अभ्यर्हितत्वात्सर्वाधारत्वात्पूर्वनिपातः ॥ इति छाया ॥ तत्र रूपातिदेशो यथा—तृज्वत्क्रोष्टुः । निमित्तातिदेशो यथा—पूर्ववत्सनः इत्यत्र सन्नन्तेपि प्रकृतिगतमात्मनेपदनिमित्तत्वमतिदिश्यते । तादात्म्यातिदेशो यथा—सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे इति भिन्नपदयोरभेदातिदेशः । शास्त्रातिदेशो यथा—कर्मवत्कर्मणा तुल्येत्यत्र पाक्षिको वक्ष्यते । व्यपदेशातिदेशो यथा —आद्यन्तवदेकस्मिन् ॥ कार्यातिदेशो यथा—गोतो णित् ॥ इति दाधिमथाः ॥

(सूत्रप्रयोजनाधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

किमर्थमिदमुच्यते ?

(१८३ समाधानवार्तिकम् ॥ १ ॥)

॥ * ॥ सत्यन्यस्मिन्नाद्यन्तवद्भावादेकस्मिन्नाद्यन्तवद्वचनम् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

सत्यन्यस्मिन् यस्मात् पूर्वं नास्ति परमस्ति स आदिरित्युच्यते। सत्यन्यस्मिन् यस्मात् परं नास्ति पूर्वमस्ति सोऽन्त इत्युच्यते। सत्यन्यस्मिन्नाद्यन्तवद्भावादेतस्मात् कारणाद् एकस्मिन्नाद्यन्तापदिष्टानि कार्याणि न सिध्यन्ति। इष्यते च स्युरिति। तान्यन्तरेण यत्नं न सिध्यन्ति इत्येकस्मिन्नाद्यन्तवद्वचनम्। एवमर्थमिदमुच्यते ॥

प्रदीपः

किमर्थमिति। व्यपदेशिवद्भावेनैव सिद्धत्वान्न कर्तव्यमित्यर्थः ॥

इतरो मुख्ये संभवति गौणे न स्यादित्याह—सत्यन्यस्मिन्निति। आद्यन्तौ विद्येते यस्मिन् शास्त्रे तदाद्यन्तवत् तस्य भावात् प्रवर्तनादित्यर्थः। क्वचिदाद्यन्तभावादिति पाठः ॥

उद्द्योतः

मुख्ये = व्यपदेशिनि। गौणे = व्यपदेशिसदृशे ॥ नन्वाद्यन्तवद्भावादिति न वतिः, सत्यन्यस्मिन्मुख्याद्यन्तत्वात्। नापि मतुप्। आद्यन्तशब्दवच्छास्त्रसद्भावस्य परपूर्वसत्वानपेक्षत्वेन सत्यन्यस्मिन्नित्यस्यायोगादत आह— आद्यन्ताविति। आद्यन्तशब्दा-

भावबोधिनी

यह सूत्र किसलिए कहा जा रहा है ?

(वा०) अन्य (अवयवों) के रहने पर ही आदिवाले और अन्तवाद शास्त्र की प्रवृत्ति होने के कारण एक = अकेले में आदिवत् तथा अन्तवाले वचन कहा गया है।

(भा०) अन्य अवयवों के रहते जिसके पूर्व में कोई नहीं है किन्तु पर = बाद में है वह 'आदि' ऐसा कहा जाता है। और अन्य अवयवों के रहते जिसके बाद में कोई नहीं है किन्तु पूर्व में है वह 'अन्त' ऐसा कहा जाता है। चूंकि अन्य अवयव के रहने पर ही आदि तथा अन्त (व्यवहार) होता है अतः एक = अकेले में 'आदि' तथा 'अन्त' को मानकर किये जाने वाले कार्य नहीं सिद्ध हो सकते हैं। जबकि उनका होना इष्ट है। ये बिना किसी यत्न के सिद्ध नहीं हो सकते अतः एक = अकेले में आदिभाव तथा अन्तभाव हो—इसी के लिए यह सूत्र कहा जा रहा है।

(आक्षेपभाष्यम्)

अस्ति प्रयोजनमेतत् ?

(समाधानभाष्यम्)

किं तर्हीति ?

(१८४ आक्षेपवार्तिकं प्रथमखण्डम् ॥ २ ॥)

॥ * ॥ तत्र व्यपदेशिवद्वचनम् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

तत्र व्यपदेशिवद्भावो वक्तव्यः। व्यपदेशिवदेकस्मिन् कार्यं भवतीति

प्रदीपः

तत्र व्यपदेशिवद्वचनमिति । सर्वकार्यसिद्ध्यर्थं व्यापकं कर्तव्यमित्यर्थः ॥ तत्र

उद्द्योतः

वित्यर्थः। एवं चाद्यन्तवद्भावादित्यस्याद्यन्तपदवच्छास्त्रप्रवृत्तेरित्यर्थः ॥ क्वचिदिति। आद्यन्तव्यवहारादिति तदर्थः ॥

सर्वकार्येति । आद्यन्तापदिष्टाद्यन्तानपदिष्टसर्वकार्यसिद्ध्यर्थं गुर्वपि व्यपदेशिवदिति

भावबोधिनी

विमर्श—'आदि' तथा 'अन्त' ये दोनों सापेक्ष शब्द हैं। जब किसी के बाद में कोई सजातीय दूसरा है और पूर्व में नहीं है तब उसे 'आदि' कहा जाता है। इसी प्रकार जब किसी के पूर्व में कोई अन्य सजातीय है किन्तु बाद में नहीं है तब 'अन्त' कहा जाता है। इस स्थिति में 'अकेला' कभी भी आदि या अन्त नहीं माना जा सकता। किन्तु व्याकरण में अनेक कार्य अकेले में ही आदि अथवा अन्त मानकर विहित हैं। उनकी सिद्धि कराने के लिए यह अतिदेश सूत्र बनाया जा रहा है।

'एकस्मिन्' इस उपमेय में सप्तमी होने से सूत्रस्थ आदि और अन्त इनमें भी सप्तम्यन्त से ही वति प्रत्यय है—आदौ इव = आदिवत्, अन्ते इव = अन्तवत्। 'एक' शब्द संख्यावाची नहीं है अपितु असहाय = अकेला का वाचक है। अकेले में भी आदि के समान तथा अन्त के समान अतिदेश होता है। यहाँ कार्यातिदेश है।

किन्तु वार्तिक में प्रयुक्त 'आद्यन्तवद्भावात्' का अर्थ है—आदि है जिसमें तथा अन्त है जिसमें वह शास्त्र—'आदिवत्, अन्तवत्' है उसका भाव = प्रवृत्ति, अर्थात् आदि ग्रहणवाले और अन्त ग्रहणवाले शास्त्र की प्रवृत्ति अन्य के रहने पर ही होने से यह सूत्र बनाना आवश्यक है।

(अनु०) तो क्या यह प्रयोजन है ?

तब क्या ? अर्थात् यह प्रयोजन है।

(वा०) इसमें तो व्यपदेशिवद्भाव कहना चाहिए।

वक्तव्यम् ॥

(भाष्यम्)

किं प्रयोजनम् ?

(१८४ प्रयोजनवार्तिकं द्वितीयखण्डम् ॥ ३ ॥)

॥ * ॥ एकाचोद्वेप्रथमार्थम् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

वक्ष्यति—"एकाचो द्वेप्रथमस्ये"ति (६।१।१) बहुव्रीहिनिर्देशः'—इति। तस्मिन् क्रियमाणे इहैव स्यात्—पपाच पपाठ; इयाय आर इत्यत्र न स्यात्। व्यपदेशिवदेकस्मिन् कार्यं भवतीत्यत्रापि सिद्धं भवति ॥

प्रदीपः

निमित्तसद्भावान्मुख्यो व्यपदेशो यस्यास्ति स व्यपदेशी, यस्तु व्यपदेशहेत्वभावादविद्यमानव्यपदेशः स तेन तुल्यं वर्तते कार्यं प्रतीति व्यपदेशिवद्भवतीत्युच्यते ॥

उद्द्योतः

आद्यन्तवदित्यस्य स्थाने कार्यमिति भावः ॥ स तेनेति। तेन तुल्यमिति तृतीयायां सर्वविभक्त्यर्न्तिर्भावात्तृतीयान्ताद्वतिरुक्त इति बोध्यम् ॥

भाष्ये तस्मिन्क्रियमाण इति। तस्मिन्नाश्रीयमाणे इत्यर्थः ॥ पपाचेति ॥ नन्वत्र धातुरेव प्रथम एकाज्, न तु धातोः प्रथम एकाजिति कथमत्र व्यपदेशिवद्भावं विना प्राप्तिरिति चेन्न। आदित्वपर्यायप्रथमत्वस्य सूत्रेणैवातिदेशसिद्धया तन्न व्यपदेशिवद्भावारम्भस्य मुख्यं प्रयोजनमित्याशयात्। इयायेत्यादौ तु द्विर्वचनेऽचीति रूपस्थानिवत्त्वादज्व्यतिरिक्ताभावेन नैकाच्त्वमिति बोध्यम् ॥

भावबोधिनी

(भा०) इस प्रयोजन के लिए तो व्यपदेशिवद्भाव कहना चाहिए। एक= असहाय=अकेले में व्यपदेशी के समान कार्य होता है, (परि०) ऐसा कहना चाहिए। [व्यपदेश=मुख्य व्यवहार है जिसका वह व्यपदेशी, उसके समान एक में भी व्यवहार करना चाहिए—यह भावार्थ परिभाषा का है।]

[व्यपदेशिवद्भाव के] क्या प्रयोजन है ?

(वा०) एकाच् के प्रथम का द्वित्व करने के लिये [व्यपदेशिवद्भाव करना चाहिए।]

(भा०) आगे कहा जायगा—'एकाच् धातु के प्रथम एकाच् का द्वित्व होता है।' (६।१।१)'एकाच् में बहुव्रीहिनिर्देश है'-एक अच् है जिसमें उसके प्रथम का द्वित्व होता है। किन्तु ऐसा मान लेने पर यहीं पर द्वित्व हो सकेगा—पपाच, पपाठ। [इनमें पच् और पठ् ये धातुयें एक अच् वाली है क्योंकि अच् के अतिरिक्त व्यञ्जन भी हैं।]

(१८४ प्रयोजनवार्तिकं तृतीयखण्डम् ॥ ४ ॥)

॥*॥ षत्वे चाऽऽदेशसंप्रत्ययार्थम् ॥*॥

(भाष्यम्)

वक्ष्यति—'आदेशप्रत्यययोरि (८।३।५९) त्यवयवषष्ठ्येषा—' इति। एतस्मिन् क्रियमाणे इहैव स्यात्—करिष्यति हरिष्यति, इह न स्याद् '[इन्द्रो मा]' वक्षत् (ऋ० १।१३५।४)' 'स देवान्यक्षत् (ऋ० ३।४।३)' इति। व्यपदेशिवदेकस्मिन् कार्यं भवतीत्यत्रापि सिद्धं भवति ॥

प्रदीपः

वक्षदिति। वच् लेट् तिप् इतश्च लोप इतीकारलोपः, लेटोऽडाटावित्यडागमः सिप्, कुत्वम्। अत्र सकारमात्रं प्रत्ययो न तु प्रत्ययस्यावयवः सकार इति षत्वं न स्यात् ॥

उद्द्योतः

भाष्ये—अवयवषष्ठ्येषेति। प्रत्ययांशे इति भावः। एतस्मिन्क्रियमाणे इति। अवयवषष्ठीत्वे आश्रीयमाणे इत्यर्थः ॥

भावबोधिनी

परन्तु 'इयाय' 'आर' इनमें नहीं हो सकेगा। [क्योंकि इण्='इ' और 'ऋ' इनमें एक ही अच् है। अतः बहुव्रीहि सम्भव नहीं है।] 'अकेले में भी व्यपदेशी के समान कार्य होता है' यह मान लेने से इन (इण्, ऋ) में भी द्वित्व हो जाता है। [एक अच् रूप को एक अच् वाला मानकर उस 'इ' 'ऋ' का भी द्वित्व होता है—इ+लिट्, तिप्=णल्=अ, 'इ' का द्वित्व इ+अ, वृद्धि, इयङ् करने पर रूप बनता है।]

(वा०) षत्व के विषय में आदेश के संप्रत्यय के लिये [व्यपदेशिवद्भाव करना चाहिए।]

(भा०) आगे कहा जायगा—'आदेश-प्रत्यययोः' (८।३।५९)यहाँ 'प्रत्यय' के साथ षष्ठी अवयव षष्ठी है अर्थात् आदेश का जो स् और प्रत्यय का अवयवभूत जो स् उनका ष् होता है। किन्तु ऐसा मान लेने पर इन्हीं में षत्व हो सकेगा —करिष्यति, हरिष्यति। [क्योंकि इनमें 'स्य' प्रत्यय है, स् इसका अवयव है। अतः प्रत्ययावयव स् है।] किन्तु इनमें नहीं हो सकेगा—"[इन्द्रो मा] वक्षत्"। (ऋ० १।१३५।४) "स देवान्यक्षत्" (ऋ० ३।४।३) 'एक में भी व्यपदेशी के समान कार्य होता है' इसके द्वारा इनमें भी षत्व हो जायगा। [वच् अथवा वह् धातु तथा यज् धातु से लेट्=तिप् बीच में 'सिब्बहुलं लेटि' (३।१।३४) सूत्र से सिप् = स् विकरण होता है। च् का कुत्व अथवा ह् का ढत्व, कत्व करने के बाद 'आदेश-प्रत्यययोः' से षत्व

(आक्षेपोपसंहारभाष्यम्)

स तर्हि व्यपदेशिवद्भावो वक्तव्यः ?

(सिद्धान्तिसमाधानभाष्यम्)

न वक्तव्यः ॥

(१८५ समाधानवार्तिकम् ॥ ५ ॥)

॥ * ॥ अवचनाल्लोकविज्ञानात् सिद्धम् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

अन्तरेणैव वचनं लोकविज्ञानात् सिद्धमेतत् ॥

प्रदीपः

अवचनादिति । अवचनं वचनरहितं यल्लोकविज्ञानं तस्माल्लोकव्यवहारादित्यर्थः । इह तावदियायेति य इण्धातुः प्रयोगभेदाद् बहुरूपः—एति इतः यन्ति अयनम् आयकः अगात् गमयतीति । तस्यायमेकोऽवयव इव लक्ष्यते । अथवा अर्थवतो धातोरयं वर्णरूप एकोऽजित्यर्थस्य त्यागोपादानाभ्यां भवति व्यपदेश एकाजिति । एवं शिलापुत्रकस्य शरीरमित्यनेकक्रियाविषयस्याऽवस्थातुरिदमेकावस्थायुक्तं शरीरमित्यस्ति व्यपदेशः । एवं सिप्प्रत्यय इट्सहितोऽपि दृष्टो जोषिषदित्यादौ, वक्षदित्यादौ केवलोऽपीति, तस्यायं सकार इति व्यपदिश्यते । लोकनिरूढश्चायं व्यवहार इति लोकवच्छास्त्रेऽपि व्यवहाराद् गौणमुख्यन्यायोऽत्र नावतरति ॥

उद्द्योतः

विज्ञानशब्दो व्यवहारवाचीत्याह—व्यवहारादिति ॥ तत्फलितव्याख्यानं भाष्ये अन्तरेणैवेति । यथा लोके व्यवहारो वचनं विनैव सिध्यति तथा शास्त्रेपि वचनं विना सिध्यतीत्यर्थः ॥ अगादित्यादि । 'इणो गा लुङि' 'णौ गमिरबोधने' इत्यादेशौ । एकोऽच् असहायोऽजित्यर्थः ॥ नन्वेकाचोऽवयविनो द्विर्वचनमिति यस्यायमवयवस्तस्य बहुरूपस्य भवितव्यं द्वित्वेनेत्यत आह—अथवेति ॥ काल्पनिकभेदेन व्यवहारे दृष्टान्तमाह— एवमिति ॥ व्यपदेशो भेदनिबन्धनसंबन्धव्यवहारः ॥ शास्त्रेपीति । लोकाप्रसिद्धत्वमेव तत्यागे बीजं तच्च न प्रकृते इति भावः ॥

भावबोधिनी

नहीं हो सकेगा क्योंकि वह स् प्रत्ययावयव नहीं है अपितु प्रत्यय रूप है । 'व्यपदेशिवदेकस्मिन्' परिभाषा द्वारा अकेले में भी अवयवावयविभाव मान लिया जाता है, षत्व हो जाता है ।]

तो फिर वह व्यपदेशिवद्भाव कहना चाहिए ?

नहीं कहना चाहिए ।

(वा०) बिना वचन = कथन के ही लोकविज्ञान से सिद्ध है ।

इस वचन के कहे बिना ही लोकव्यवहार के आधार पर [शास्त्र में भी] यह (व्यपदेशिवद्भाव) सिद्ध है ।

(एकदेशिदृष्टान्तभाष्यम्)

तद्यथा—लोके—'शालासमुदायो ग्रामः'—इत्युच्यते । भवति चैतदेकस्मिन्नपि—"एकशालो ग्रामः"—इति ॥

(उक्तदृष्टान्तविघटनभाष्यम्)

विषम उपन्यासः । ग्रामशब्दोऽयं बह्वर्थः । अस्त्येव शालासमुदाये वर्तते । तद्यथा—'ग्रामो दग्धः' इति ॥

अस्ति वाटपरिक्षेपे वर्तते । तद्यथा—'ग्रामं प्रविष्टः'—इति ॥

अस्ति च मनुष्येषु वर्तते । तद्यथा—'ग्रामो गतो ग्राम आगतः'— इति ॥

अस्ति सारण्यके ससीमके सस्थण्डिलके वर्तते । तद्यथा—'ग्रामो लब्धः'—इति ॥

तद्यः सारण्यके ससीमके सस्थण्डिलके वर्तते, तमभिसमीक्ष्यैतत्प्रयुज्यते—'एकशालो ग्रामः' इति ॥

भावबोधिनी

यह इस प्रकार है—'लोक में शालाओं = घरों का समुदाय 'ग्राम' ऐसा कहा जाता है । किन्तु [लोक में कभी-कभी] एक शाला वाले के विषय में भी 'एकशालः = एक घरवाला ग्राम' ऐसा कहा जाता है ।

यह उदाहरण तो विषम अर्थात् ठीक नहीं है क्योंकि ग्राम शब्द बहुत अर्थोंवाला है । यह शालाओं = घरों के समुदाय अर्थ में भी प्रयुक्त होता है । जैसे—'गाँव जल गया ।' (गाँव के सभी घर जल गये ।)

यह वाटपरिक्षेप = लकड़ी, कटीले तार आदि की बाड़ अर्थ में भी प्रयुक्त है । जैसे—'ग्राम में प्रविष्ट हो गया । (गाँव को घेरनेवाली बाड़ में प्रविष्ट हो गया ।)

और बहुत से मनुष्य = मनुष्यसमूह अर्थ में भी प्रयुक्त है । जैसे 'गाँव चला गया । गाँव आ गया ।' [अर्थात् गाँव के सभी मनुष्य चले गये, या आ गये ।]

अरण्यसहित, सीमासहित, स्थण्डिलकसहित अर्थ में भी ग्राम शब्द प्रयुक्त होता है, जैसे—गाँव प्राप्त हो गया, मिल गया ।

अतः जो अरण्यसहित, सीमा (के सूचक नदी, पहाड़ आदि) के सहित, स्थण्डिलक (= बाँध, टीला आदि) के सहित अर्थ में 'ग्राम' शब्द प्रयुक्त है इसी (व्यापक अर्थ) को देखकर, मानकर यह प्रयोग किया जाता है—"एक घरवाला गाँव ।' [यहाँ गाँव शब्द अपने समीपवर्ती, नद, नदी, जंगल, पहाड़ आदि सभी अर्थों का बोधक है । इन सभी के साथ एक घर भी रहने पर 'एकशालः ग्रामः' यह प्रयोग होता है ।]

(एकदेशिदृष्टान्तान्तरभाष्यम्)

यथा तर्हि—'वर्णसमुदायः पदम्' 'पदसमुदाय ऋक्,' 'ऋक्समुदायः सूक्तम्' इत्युच्यते। भवति चैतदेकस्मिन्नपि—'एकवर्णं पदम्', 'एकपदा ऋक्,' 'एकर्चं सूक्तम्' इति ॥

(दृष्टान्तान्तरविघटनभाष्यम्)

अत्राप्यर्थेन युक्तो व्यपदेशः। पदं नामार्थः, ऋङ् नामार्थः, सूक्तं नामार्थ इति ॥

प्रदीपः

पदसमुदाय इति। पादपर्यायः पदशब्दः। तथा चैकपदा ऋगिति पाद एव विवक्षितः। न तु ऋचः कस्याश्चिदप्येकमेव पदं भवति।

अत्राप्यर्थेनेति। पदादीनां योऽर्थः सोऽन्यपदार्थ इत्यर्थः। अभेदोपचाराच्चार्थ एव पदादिभिरभिधीयते ॥

उद्द्योतः

पादपर्याय इति। वर्णसमुदायः पदमित्यत्र तु पदशब्दो यथाश्रुत एव ॥

पदादीनामिति। एकवर्णं पदमित्यादौ ॥ ननु अर्थस्य पदत्वं कथमत आह—अभेदेति। तदुपचारश्च शब्दार्थयोरनादिरिति बोध्यम् ॥ पदादिभिः=पदशब्दादिभिः ॥

भावबोधिनी

अथवा तो यह दूसरा उदाहरण है—"वर्णों का समुदाय पद होता है' 'पदों=पादों का समुदाय ऋक् होती है' 'ऋचाओं का समूह सूक्त कहा जाता है।' परन्तु (लोक में) इन एक एक में भी ये व्यवहार होते हैं—'एक वर्णवाला पद', 'एक पद=पादवाली ऋचा' 'एक ऋचा वाला सूक्त।' [जैसे इनमें समूह का कार्य एक में भी किया जाता है उसी प्रकार शास्त्र में भी अकेले में भी 'आदित्व' 'अन्तत्व' का व्यवहार हो सकता है।]

इन उपर्युक्त उदाहरणों में भी अर्थ द्वारा अर्थात् अर्थ को मानकर ये व्यवहार उचित ही हैं। एक वर्णवाला पद। एक पादवाली ऋचा। एक ऋचा वाला सूक्त। [शब्द और अर्थ का अभेद मानकर उक्त प्रयोग होते हैं। अतः पद आदि शब्द यहाँ स्वरूपबोधक न होकर उनके अर्थ के बोधक हैं। अतः पद, ऋक्, सूक्त इन शब्दों के अर्थ ही यहाँ अन्यपदार्थबहुव्रीह्यर्थ समझने चाहिए।]

(सिद्धान्तिदृष्टान्तभाष्यम्)

यथा तर्हि—बहुषु पुत्रेष्वेतदुपपन्नं भवति—'अयं मे ज्येष्ठोऽयं मे मध्यमोऽयं मे कनीयानिति । भवति चैतदेकस्मिन्नपि—'अयमेव मे ज्येष्ठोऽयमेव मे मध्यमोऽयमेव मे कनीयान्' इति ॥

(सिद्धान्तिदृष्टान्तान्तरभाष्यम्)

तथाऽसूतायामसोष्यमाणायां च भवति—'प्रथमगर्भेण हता' इति ।

प्रदीपः

अयमेव मे ज्येष्ठ इति । प्रथमरूपतयाध्यवसायात् । मध्यमकार्यकरणाच्च मध्यम इति व्यपदिश्यते । अन्यो न जनितेति बुद्धया कनीयानिति व्यपदिश्यते ॥

असूतायामिति । बहुकृत्वोऽपि प्रसूता प्रथमपुत्रेण काचिद्धन्यते । तथा या प्रसोष्यते साऽपि काचित्पूर्वोत्पन्नेन पुत्रेण हन्यत इत्युभयोरुपादानम् । नापि प्रसूता नापि

उद्द्योतः

प्रथमेति । तस्मात्पूर्वस्याभावादिति भावः ॥ मध्यमकार्यं तत्सम्बन्धजसुखादिकम् ॥

बहुकृत्वोऽपीति । यथा परशुरामेण रेणुका ॥ तथा येति । सम्प्रति गर्भिणीत्यर्थः । गर्भस्थमादाय तत्रापि प्रथमव्यवहार इत्यर्थः ॥ ननु या सूता सा न गर्भेण

भावबोधिनी

[यदि यह उदाहरण भी असंगत है] तो फिर जैसे—'बहुत से पुत्र रहने पर ही यह व्यवहार उपपन्न होता है—यह मेरा ज्येष्ठ (सबसे बड़ा) पुत्र है, यह मेरा मध्यम = मझला पुत्र है, यह मेरा कनीयान् = सबसे छोटा पुत्र है । परन्तु कहीं-कहीं एक पुत्र में भी ये व्यवहार होते हैं—'यह मेरा ज्येष्ठ पुत्र है, यह मेरा मध्यम पुत्र है, यह मेरा कनिष्ठ पुत्र है ।'

विमर्श—वास्तव में ज्येष्ठ, मध्यम, कनिष्ठ ये तीनों सापेक्ष अर्थ के वाचक हैं । जब तक मध्यम और कनिष्ठ नहीं होंगे, 'ज्येष्ठ' व्यवहार असम्भव है, इसी प्रकार ज्येष्ठ और मध्यम न रहने पर 'कनिष्ठ' व्यवहार असम्भव है, इसी प्रकार ज्येष्ठ तथा कनिष्ठ दोनों के न रहने पर 'मध्यम' व्यवहार असम्भव है । परन्तु कभी-कभी स्नेहातिशय में या पत्नी की अवस्था आदि को ध्यान में रखकर एकलौते पुत्र के रहने पर भी उक्त व्यवहार कर दिये जाते हैं । उसी प्रकार अकेले शब्द में भी 'आदि' 'अन्त' व्यवहार किये जा सकते हैं ।

(अनु०) इसी प्रकार पहले प्रसव न करने वाली तथा भविष्य में भी बच्चे न पैदा करने वाली स्त्री के विषय में यह व्यवहार होता है—"प्रथम गर्भ = सन्तान

(सिद्धान्तिदृष्टान्तान्तरभाष्यम्)

तथाऽनेत्याऽनाजिगमिषुराह—'इदं मे प्रथममागमनम्' इति ॥

प्रदीपः

प्रसोष्यते कुक्षिस्थेनैव गर्भेण हता 'प्रथमगर्भेण हते'त्युच्यते। अपत्यपर्यायो गर्भशब्दः। तत्र तस्या एव योग्यताध्यवसायेन भाविगर्भविवक्षया प्रथमगर्भेण हतेत्युच्यते। स्त्र्यन्तरेषु वा बहुपुत्रत्वे सत्याद्यगर्भस्य प्रथमव्यपदेशदर्शनात् तथाविधस्य प्रथमगर्भव्यवहारः॥

अनेत्येति। बहुकृत्वो ह्यागतः पूर्वमागमनं स्मृत्वा प्रथमव्यपदेशं तत्र मुख्यं करोत्येव, आजिगमिषुश्च भावीन्यागमनानि बुद्धया व्यवस्थाप्य कुर्यादेव प्रथमव्यवहारम्। यस्तु सकृदेवागतः सोपि करोति प्रथमव्यवहारमिति प्रतिपादनार्थमनेत्यानाजिगमिषुरित्युपात्तम्। तत्रान्यसम्बन्धिषु बहुष्वप्यागमनेष्वाद्यस्य प्रथमव्यवहारदर्शनात् तथाविधत्वात् स्यादेकस्मिन्नप्यागमने प्रथमव्यवहारः॥

उद्द्योतः

हता भवति किं त्वपत्येनेति गर्भेण हतायां तद्व्यतिरेकप्रदर्शनमयुक्तमत आह—अपत्यपर्याय इति। तच्चोदरस्थं बहिर्भूतं वेत्यन्यत्॥ तत्र प्रथमव्यवहारे बीजमाह—तस्या एवेति। स्त्र्यन्तरेषु बहुप्रसववतीषु। तथाविधस्येति। अविद्यमानपूर्वगर्भस्येत्यर्थः॥

नन्वागमनं विनेदं मे प्रथममागमनमिति व्यवहारासम्भवादनेत्येदं मे प्रथममागमनमित्यसङ्गतमत आह—बहुकृत्व इति। अनेत्येत्यस्येतः पूर्वमिति शेष इति भावः॥ तथाविधत्वादिति। अविद्यमानपूर्वागमनत्वादित्यर्थः॥

भावबोधिनी

से मारी गई।' [जबकि अनेक बार प्रसव करने वाली के विषय में ही प्रथम तथा अन्तिम आदि व्यवहार होना उचित है। जैसे रेणुका ने अनेक पुत्र उत्पन्न किये थे उन्हीं में से प्रथम पुत्र परशुराम द्वारा उसका वध कर दिया गया था। यहीं यह व्यवहार उचित है। किन्तु कभी-कभी पहली सन्तान होते ही माता की मृत्यु हो जाने पर यह कह दिया जाता है—'पहली सन्तान ने ही मार डाली।' उसी प्रकार शास्त्र में अकेले में भी 'आदि' 'अन्त' व्यवहार हो सकते हैं।]

इसी प्रकार (पहले कभी) न आकर तथा भविष्य में दुबारा न आने का इच्छुक व्यक्ति कहता है "यह मेरा पहला आना है।" [वास्तव में तो बाद में भी आने का इच्छुक ही यह कहता है कि यह मेरा पहला आगमन है। परन्तु कभी कभी एक ही बार आने वाला भी यह कह देता है—'यह मेरा पहली बार आना है।' [वैसे ही शास्त्र में भी होता है।]

(सूत्रप्रत्याख्यानभाष्यम्)

आद्यन्तवद्भावश्च शक्योऽवक्तुम् ॥

कथम् ?

(१८६ प्रत्याख्यानसाधकवार्त्तिकम् ॥ ६ ॥)

॥*॥ अपूर्वानुत्तरलक्षणत्वादाद्यन्तयोः सिद्धमेकस्मिन् ॥*॥

(भाष्यम्)

अपूर्वलक्षण आदिः, अनुत्तरलक्षणोऽन्तः । एतच्चैकस्मिन्नपि भवति । अपूर्वानुत्तरलक्षणत्वादेतस्मात् कारणाद् एकस्मिन्नप्याद्यन्तापदिष्टानि कार्याणि भविष्यन्तीति नार्थ आद्यन्तवद्भावेन ॥

प्रदीपः

इदानीं योगं प्रत्याख्यातुमाह—अपूर्वेति ॥ यद्यपि बहुष्ववस्थितेष्वाद्यन्तशब्दौ प्रयुज्येते तथाप्यपूर्वानुत्तरत्वमात्रमेतयोः प्रवृत्तिनिमित्तम् । तच्चैकस्मिन्नप्यस्तीति नार्थः सूत्रेण ॥

उद्द्योतः

परे तु—पदङ्गादिपदानि अर्थशब्दसमुदायवृत्तीनि तस्य शब्दमात्ररूपवर्णपादङ्गाद्यवयव इत्येव भाष्यार्थः । न तु शुद्धोऽर्थोऽन्यपदार्थ इति । तथाऽप्रतीतेः, एकचं सूक्तं पठेत्यादिव्यवहारानापत्तेश्च । एवं चार्थवतो धातोरयमेकोज् वर्णरूप इति अर्थस्य त्यागोपादानाख्यं भवति व्यपदेश एकाजितीति कैयटोक्तं चिन्त्यम् । एतद्भाष्यरीत्या तस्य मुख्यव्यवहारत्वेन व्यपदेशिवद्भावाविषयत्वात् । कैयटरीत्या शुद्धार्थस्यान्यपदार्थत्वेऽत्रापि तथैवास्तु शब्दार्थयोरभेदाच्च शब्देपि तत्त्वमिति अत्रापि न व्यपदेशिवद्भावप्रयोजनम् । किं चैकाजिति बहुव्रीहिणा प्रथमस्येत्युपस्थितावयवस्य विशेषणम् ।

भावबोधिनी

आद्यन्तवद्भाव के अतिदेश सूत्र का खण्डन-वार्त्तिककार का मत

इस आदिवद्भाव तथा अन्तवद्भाव को कहने की आवश्यकता नहीं है ?

किस प्रकार ?

(वा०) आदि तथा अन्त का क्रमशः अपूर्व (= जिसके पूर्व में दूसरा नहीं है) और अनुत्तर (= जिसके बाद में दूसरा नहीं है)—यह लक्षण मानने से एक में ही सिद्ध हो जाता है ।

(भा०) जिसके पूर्व में कोई नहीं है वह—आदि है । जिसके बाद में कोई नहीं है वह—अन्त है । [इतना ही लक्षण मानना चाहिये ।] यह लक्षण अकेले एक वर्ण आदि में भी घट जाता है । अपूर्व तथा अनुत्तर इतना ही लक्षण होने के कारण एक = असहाय में ही आदि तथा अन्त को मान कर किये जाने वाले कार्य हो जायेंगे, इसलिये आदिवद्भाव तथा अन्तवद्भाव का कोई प्रयोजन नहीं है ।

(प्रत्याख्यानासम्भवभाष्यम्)

गोनर्दीयस्त्वाह—सत्यमेतत् 'सति त्वन्यस्मिन्' इति ॥

प्रदीपः

भाष्यकारस्त्वाह—'सति त्वन्यस्मिन्नि'ति । न ह्यनपेक्षितप्रतियोगिनोराद्यन्तयोः प्रवृत्तिरित्यर्थः । तस्मादेकस्मिन्मुख्य आद्यन्तव्यपदेशो नास्तीति कर्तव्योऽयं योगः ॥ यद्यपि लौकिकेन व्यपदेशिवद्भावेनाद्यन्तव्यपदेश एकस्मिन्नपि सिध्यति । तथापि गौणत्वात्कार्येण न भवितव्यमिति यस्य भ्रान्तिः स्यात्तं प्रति योगोऽयमारब्धः ॥

उद्द्योतः

तस्य चानर्थकत्वमिति अर्थस्योपादान-त्यागावर्थसम्बद्धौ । एतदेव ध्वनयता पदं नामार्थं इति भाष्ये उक्तम् । धात्ववयवत्वं तु कैयटोक्तरीत्या वक्तुं शक्यम् । अत एव बहुव्रीहिनिर्देशानुपपत्तिरेव व्यपदेशिवदित्याश्रयणे बीजमुक्तम् ॥ अत्राप्यर्थेनेति भाष्यस्य पदादिशब्दार्थस्यार्थेन युक्तत्वादित्यर्थः ॥ अर्थशब्दोभयवृत्ति पदत्वकृत्वादीत्याशयः ॥ पदं नामार्थं इत्यादेरर्थोपीत्यर्थः ॥ यथा तर्हीति । यथैकस्मिंस्तत्तद्धर्मारोपेण युगपज्जयेष्ठत्वादिव्यवहारस्तथैकस्मिन्नारोपितानेकस्थाभिः समुदायरूपत्वस्याप्यारोपेणैकात्वादिव्यवहारोपपत्तिः, द्वितीये तृतीये च दृष्टान्ते प्रथमेत्युपलक्षणं चरमस्यापि । तृतीये कदाचिच्चरममागमनमित्यपि व्यवहारात् । आद्यन्तवद्भावश्च शक्योऽवक्तुमित्यस्य प्रकारान्तरेणापीति शेष इत्याहुः ॥

वस्तुतस्तु ईदृशेषु पातञ्जलोक्तं विकल्पात्मकं वस्तुशून्यमेव ज्ञानमिति आरोपानुपयोग एव । लोकव्यवहारक्तेनापि शास्त्रीयो व्यवहार इति तत्त्वम् ॥

गोनर्दीयपदं व्याचष्टे—भाष्यकार इति ॥ अनपेक्षितप्रतियोगिनोः अनपेक्षितपरपूर्वयोः ॥ आद्यन्तयोः=आद्यन्तरूपार्थयोः ॥ प्रवृत्तिः । आद्यन्तशब्दप्रवृत्तिरित्यर्थः ॥ तथापीति । वस्तुतो लोकनिरूढत्वाद् गौणत्वमेवात्र नास्तीत्यर्थः ॥

भावबोधिनी

सूत्र की आवश्यकता-भाष्यकार का मत

गोनर्दीय पतञ्जलि तो यह कहते हैं—"अन्य के रहते जिसके पूर्व में कोई नहीं है वह आदि है' 'अन्य के रहते जिसके बाद में कोई नहीं है वह अन्त है" यही लक्षण सही है ।

विमर्श—जिसके बाद में अन्य वर्ण है और पूर्व में नहीं है वही 'आदि' है । इसी प्रकार जिसके पूर्व में कोई वर्ण है किन्तु बाद में नहीं है वही 'अन्त' है । यह माना जाता है । परन्तु कुछ विद्वान् 'सति अन्यस्मिन्' यह लक्षण में नहीं रखना चाहते । इनके अनुसार—'अपूर्वः = आदिः, अनुत्तरः = अन्तः' यही है । परन्तु भाष्यकार बिना अपेक्षा के इन व्यवहारों को उचित नहीं मानते है । अतः अतिदेश के लिये यह सूत्र करना चाहिये अन्यथा गौण होने से असहाय अकेले में कार्य उपपन्न नहीं सकेंगे ।

(सूत्रोदाहरणाधिकरणम्)

(प्रयोजनजिज्ञासाभाष्यम्१)

कानि पुनरस्य योगस्य प्रयोजनानि ?

(१८७ प्रयोजनवार्तिकम् ॥ ७ ॥)

॥*॥ आदिवत्त्वे प्रयोजनं प्रत्ययञ्नितदाद्युदात्तत्वे ॥*॥

(भाष्यम्)

प्रत्ययस्यादिरुदात्तो भवतीति (३।१।३), इहैव स्यात्—कर्तव्यं, तैत्तिरीयः। औपगवः, कापटवः इत्यत्र न स्यात् ॥

प्रदीपः

प्रत्ययञ्नितदाद्युदात्तत्व इति। प्रत्ययस्याद्युदात्तत्वं ञ्निति चाद्युदात्तत्वमित्यर्थः ॥ कथं पुनर्भिन्नविभक्त्योर्द्वन्द्वः। उच्यते—प्रत्ययस्य यदाद्युदात्तत्वं तस्य प्रत्ययोऽपि विषय इति प्रत्ययेऽपि तदुच्यते। यद्वा ञ्निति यदाद्युदात्तत्वं तद् ञ्नितोऽपि संबन्धि भवतीति नास्ति भिन्नविभक्तित्वम् ॥ ऋदोरबित्याद्युदात्तत्वनिवृत्त्यर्थात्पित्त्वाल्लिङ्गादेकाचोपि प्रत्ययस्याद्युदात्तत्वं भविष्यतीति चेदकारविषयमेव लिङ्गं स्यादितीकारोकारयोः प्रत्यययोराद्युदात्तत्वं न स्यात्। विशेषणार्थं वा पित्करणं स्यात् थाथादिसूत्रे इत्यज्ञापकं स्यात् ॥

उद्द्योतः

कथमिति। भिन्नविभक्त्यन्तयोरसमप्रधानत्वेन साहित्याप्रतीतेरित्यर्थः। इकारोकारयोरिति ॥ उपाधिः, चिकीर्षुरित्यादौ ॥ सामान्यापेक्षज्ञापकत्वेप्याह—विशेषणार्थं चेति ॥

भावबोधिनी

प्रस्तुत सूत्र से आदिवद्भाव के प्रयोजन

इस सूत्र (से आदिवद्भाव) के कौन कौन से प्रयोजन हैं ?

(वा०) आदिवद्भाव मानने में प्रयोजन है प्रत्यय का तथा ञित् और नित् परे पूर्ववर्तीका आद्युदात्त होना।

(भा०) (आद्युदात्तश्च: ३।१।३ सूत्र से) प्रत्यय का आदि उदात्त होता है। यह यहीं पर हो सकेगा—'कर्तव्यम्, तैत्तिरीयः'। [क्योंकि तव्यत् तथा छ=ईय प्रत्ययों में आदि का लक्षण घटता है।] परन्तु 'औपगवः, कापटवः' इनमें (प्रत्यय का आद्युदात्त) नहीं हो सकेगा। [क्योंकि इनमें 'अण्' यह अकेला प्रत्यय है। अतः आदि का लक्षण नहीं घटेगा। अतः प्रस्तुत सूत्र ही अकेले 'अ' में 'आदिवद्भाव का अतिदेश करता है जिससे उदात्त होता है]

"ञ्नित्यादिर्नित्यम्" (६।१।१९७) इति इहैव स्याद्—अहिचुम्बकायनिः, आग्निवेश्यः। गार्ग्यः, कृतिरित्यत्र न स्यात् ॥

प्रदीपः

गार्ग्य इति। अत्र परत्वाद्यस्येति लोपे कृत आदित्वाभावात्प्रकृतेराद्युदात्तत्वं न प्राप्नोति। स्वरविधौ स्थानिवद्भावप्रतिषेधाच्च नास्ति ह्यच्त्वम्। स्वरविधौ व्यञ्जनस्याऽविद्यमानत्वान्नास्ति हलपेक्षमप्यादित्वम् ॥ कृतिरिति। क्तिनो नित्त्वं तादौ च निति कृत्यताविरत्येवमर्थं स्यात्। सौवर्यःसप्तम्यस्तदन्तसप्तम्य इत्येतदनाश्रित्यैतदुक्तम् ॥

उद्द्योतः

अहिचुम्बकात्प्राचामवृद्धादिति फिन्। अग्निवेशाद्गर्गादियञ्॥ स्वरविधाविति। नन्वस्य स्वरोद्देश्यके विधावित्यर्थौ वा हलः स्वरप्राप्ताविरयर्थौ वा। उभयथापि नेह प्राप्तिरिति चेत् ॥ सत्यम्, अत्र सूत्रेऽजन्तरापेक्षमेवादित्वं गृह्यते। अन्त्यस्याच एव तद्व्यावर्त्यत्वेनोपस्थितत्वादिति भाष्याशयात्। किं च स्त्रैणमित्यादावाद्युदात्तत्व न स्यादिति दोषः। ञित्त्वं तु वृद्ध्यर्थतया सावकाशं बोध्यम् ॥क्तिन इति। अनेकाज्भ्यस्तु चिरिजिर्यादिभ्योऽनभिधानात् क्तिन्नभाव इति भावः ॥ ननु तदन्तसप्तमीत्वे गार्ग्यादौ समुदाये मुख्य एवादिः संभवतीति न दोष इत्यत आह—सौवर्य इति ॥

भावबोधिनी

'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९७) यहीं लगेगा— अहिचुम्बकायनि, आग्निवेश्यः। किन्तु 'गार्ग्यः, कृतिः' इनमें आदि उदात्त नहीं हो सकेगा।

[अहिचुम्बक शब्द से अपत्यार्थ में 'प्राचामवृद्धात् फिन् बहुलम्'(४।१।११६)सूत्र से फिन् प्रत्यय, 'आयनेयीनीयीयः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्' (७।१।२) सूत्र से फ=आयन् होता है। फिन् नित् है उसकी प्रकृति अहिचुम्बक में अनेक अच् हैं अतः आदि का उदात्त होता है। अग्निवेश शब्द से 'गर्गादिभ्यो यञ्' (४।१।१०५) सूत्र से यञ् ञित् प्रत्यय करने पर भ संज्ञा, अलोप कर देने पर भी अग्निवेश्+य में अनेक अच् होने से आदि अच् उदात्त हो जाता है। किन्तु गार्ग्यः=गर्ग+यञ्, भ संज्ञा, अलोप के बाद गर्ग्+य में प्रकृति एक अच् वाली ही रहती है आदित्व व्यवहार सम्भव नहीं है। कृ+क्तिन्=कृतिः में भी एक ही अच् है। अतः आदिवद्भाव मानकर ही आद्युदात्त हो सकेगा। यद्यपि 'सौवर्यः सप्तम्यस्तदन्तसप्तम्यः' अर्थात् स्वरविधि में तदन्त सप्तमी होने पर गार्ग्य आदि में समुदाय में ही मुख्य आदि सम्भव हो जाता है, उसका उदात्त हो सकता है, इस सूत्र की आवश्यकता नहीं है तथापि भाष्यकार ने उक्त परिभाषा न मानकर ही प्रस्तुत स्वरसम्बन्धी उदाहरण दिये हैं।]

(१८८ प्रयोजनवार्तिकम् ॥८॥)

॥ * ॥ वलादेरार्धधातुकस्येट् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

वलादेरार्धधातुकस्येट् प्रयोजनम् ॥ "आर्धधातुकस्येड्वलादेः" (७।२।३५) इतीहैव स्यात्--करिष्यति हरिष्यति । 'जोषिषद् (ऋ० २।३५।१)' मन्दिषदित्यत्र न स्यात् ॥

(१८९ प्रयोजनवार्तिकम् ॥९॥)

॥ * ॥ यस्मिन्विधिस्तदादित्वे ॥ * ॥

(भाष्यम्)

यस्मिन्विधिस्तदादित्वे प्रयोजनम् । वक्ष्यति--'यस्मिन्विधिस्तदादावल्-

प्रदीपः

जोषिषदिति । लिङर्थे लेट् । इट ईटीति च ज्ञापकं सिज्विषयमेव स्यादिति सिप इण्न स्यात् ॥

उद्द्योतः

लेडिति । सिब्बहुलं लेटीति सिप् ॥ इट ईटीति । न च यमरमनमातामित्यत्र वलादेरित्यस्य संबन्धे फलाभावात्कथमेतज्ज्ञापकम्; रुदादिभ्य इति सूत्रे वलादेरित्यस्य संबन्धसत्त्वेन मध्येपि संबन्धस्यैव न्याय्यत्वात् । अत एव सप्तमे (७।२।३) सूत्रे भाष्ये—"एकाचस्तौ वलीति वा" इत्युक्तम् ॥

भावबोधिनी

(वा०) वलादि आर्धधातुक को इट् आगम (भी प्रयोजन है ।)

(भा०) वलादि आर्धधातुक को इट् आगम होता है—यह भी इस अतिदेश सूत्र का प्रयोजन है । 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः'' (७।२।३५) यह सूत्र इन्हीं में लगेगा--करिष्यति, हरिष्यति । [कृ+स्य + ति, हृ+स्य + ति में 'स्य' में दो हल् = वल् होने से एक आदि होता है उसे इट् आगम होता है ।] किन्तु—जोषिषत्, मन्दिषत्' इनमें इट् नहीं हो सकेगा । [जुष् तथा मन्द् से 'लिङर्थे लेट्' से लेट् = ति, 'सिब्बहुलं लेटि' सूत्र से सि=स् विकरण होता है, यह स्=वल् एक ही है । आदित्व-व्यवहार सम्भव नहीं है । प्रस्तुत सूत्र से ही सम्भव होने पर इट् आगम आदि कार्य होते हैं ।]

(वा०) 'यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे' (परि०) के विषय में तदादित्व करना भी (प्रयोजन है ।)

---

* विशेष-कृपया पृ० ६४१ से ६७२ के स्थान पर पृ० ६२९ से ६६० समझें ।

ग्रहणे' इति। तस्मिन् क्रियमाणे "अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ" (६।४।३७) इहैव स्यात्—श्रियः भ्रुवः। श्रियौ भ्रुवौ इत्यत्र न स्यात्॥

(१९० प्रयोजनवार्तिकम् ॥ १० ॥)

॥ * ॥ अजाद्याट्त्वे ॥ * ॥

(भाष्यम्)

अजाद्याट्त्वे प्रयोजनम्। "आडजादीनाम्" (६।४।७२) इहैव स्याद्–ऐक्षिष्ट, ऐहिष्ट। ऐष्ट, अध्यैष्टेत्यत्र न स्यात्॥

प्रदीपः

यस्मिन्विधिरिति। स्वस्य च रूपस्येति नानुवर्तते इति प्रयोजनत्वेनोपन्यासः॥

अजाद्याट्त्व इति। सूत्रपाठापेक्षया प्रयोजनोपन्यासः। वार्तिककारस्तु 'अजादीनामटा सिद्धम्' इत्याह॥

भावबोधिनी

(भा०) अल्ग्रहण-विषयक सप्तमी विभक्ति के निर्देशों में तदादिविधि होती है। आगे यह परिभाषा कही जायगी—'यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे' अर्थात् जिस किसी सूत्र में सप्तम्यन्त पद से अ इ उ अथवा क् ख् ग् आदि अल् वर्ण का ग्रहण करके किसी विधि को कहा गया है वह उस सूत्र में तदादि = अकारादि, ककारादि परे की जाती है। यह परिभाषा मान लेने पर "अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' (६।४।३७) यह सूत्र इन्हीं में लगेगा—श्रियः, भ्रुवः। किन्तु इनमें नहीं लगेगा—श्रियौ, भ्रुवौ। [श्री तथा भ्रू शब्दों से जस् = अस्, परे रहते अजादि सम्भव है—ई का इयङ् और ऊ का उवङ् हो जायगा। किन्तु श्री तथा भ्रू से 'औ' अकेला परे रहते अजादि न मिल पाने से इयङ्, उवङ् नहीं हो सकेंगे। अतः प्रस्तुत सूत्र से आदिवद्भाव करना चाहिये।]

(वा०) अजादि को आट् करने में (प्रयोजन) है।

(भा०) अजादि अङ्ग को आट् करने में इस सूत्र का प्रयोजन है। 'आडजादीनाम्' (६।४।७२) यह सूत्र इन्हीं में आट् करेगा—ऐक्षिष्ट, ऐहिष्ट। परन्तु—'ऐष्ट, अध्यैष्ट—इनमें नहीं हो सकेगा। [ईक्ष् तथा ईह् धातुओं से आत्मनेपद में लुङ्, त, सिच् आदि होते है। इनमें अच्-हल्-समूह में अज् आदि होने से अजादि मिल जाते हैं। किन्तु 'ईङ्, अधि + इङ् इनमें तो एक ही अच् होने से उसे आदि मानना सम्भव नहीं है। अतः प्रस्तुत सूत्र से आदिवद्भाव किया जाता है। आट् आगम, वृद्धि होने पर रूप बनते हैं।]

(अन्तवत्त्वप्रयोजननिरूपणाधिकरणम्)

(आक्षेपभाष्यम्)

अथान्तवत्त्वे कानि प्रयोजनानि ?

(१९१ प्रयोजनवार्तिकम् ॥ ११ ॥)

॥*॥ अन्तवद् द्विवचनान्तप्रगृह्यत्वे ॥*॥

(भाष्यम्)

अन्तवद् द्विवचनान्तप्रगृह्यत्वे प्रयोजनम् ॥ "ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्" (१।१।११)इहैव स्यात्—पचेते + इति, पचेथे + इति । खट्वे + इति, माले + इतीत्यत्र न स्यात् ॥

प्रदीपः

अन्तवदिति । ॰येन विधिस्तदन्तस्य॰ इत्यनेनैव गतार्थें प्रपञ्चार्थोयमुपन्यासः ॥

उद्द्योतः

येन विधिरिति । तेनैव हीदूदेद् द्विवचनमित्यत्र तदन्तविधिरिति भावः ॥

भावबोधिनी

प्रस्तुत सूत्र से अन्तवद्भाव के प्रयोजन

अच्छा अब बतलाइये—अन्तवद्भाव करने में कौन कौन प्रयोजन हैं ?

(वा०) अन्तवद्भाव (का प्रयोजन) द्विवचनान्त की प्रगृह्य संज्ञा में ।

(भा०) अन्तवद्भाव करने में द्विवचनान्त की प्रगृह्य संज्ञा करना प्रयोजन है । 'ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्' (१।१।११) ईदन्त, ऊदन्त, एदन्त द्विवचन की प्रगृह्य संज्ञा होती है—यह इन्हीं में हो सकेगी—पचेते + इति, पचेथे + इति । किन्तु— 'खट्वे + इति, माले + इति—इनमें नहीं हो सकेगी । [पच् शप् + आताम्, पच् + अ + आथाम्—इनमें आ का इय् तथा टि = आम् का एत्व करने पर पच + इते, पच + इथे, गुण, पचेते + इति, पचेथे + इति में एते, एथे ईदन्त द्विवचन हैं, प्रगृह्य संज्ञा, प्रकृतिभाव होता है। किन्तु खट्वा + औ, माला + औ, 'औङ आपः' (७।१।१८) सूत्र से औ का शी = ई करने पर द्विवचन केवल 'ई' ही मिलता है । अथवा गुण कर लेने पर केवल 'ए' ही मिलता है । एक में तदन्तत्व-व्यवहार प्रस्तुत सूत्र से ही होता है ।]

(१९२ प्रयोजनवार्तिकम् ॥ १२ ॥)

॥ * ॥ मिदचोऽन्त्यात्परः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

"मिदचोऽन्त्यात्परः" (१।१।४७) प्रयोजनम्। ["नपुंसकस्य झलचः" (७।१।७२)] इहैव स्यात्—कुण्डानि वनानि। तानि यानीत्यत्र न स्यात् ॥

(१९३ प्रयोजनवार्तिकम् ॥ १३ ॥)

॥ * ॥ अचोऽन्त्यादि टि ॥ * ॥

(भाष्यम्)

"अचोऽन्त्यादि टि" (१।१।६४) प्रयोजनम्। "टित आत्मनेपदानां टेरे" (३।४।७९) इहैव स्यात्—कुर्वाते कुर्वाथे। कुरुते, कुर्वे इत्यत्र न स्यात् ॥

प्रदीपः

कुरुत इति। अर्थवता व्यपदेशिवद्भावात् तथन्दाकारस्यानर्थकत्वादिह

उद्द्योतः

अर्थवतेति। तत्र ह्यर्थस्य त्यागोपादानाभ्यां भेदः सुकर इति भावः ॥ इदं चिन्त्यम्। 'यद्यपि व्यपदेशिवद्भावेन सिध्यति, तथापि गौणत्वान्नेति यस्य भ्रान्तिस्तं प्रति सूत्रारम्भः' इति पूर्वग्रन्थविरोधात्, सूत्रकारेण तदज्ञानात् तदुदाहरणसंभवाच्च।

भावबोधिनी

(वा०) मित् आगम अन्तिम अच् से परे करना (भी प्रयोजन है)।

(भा०) 'मित् आगम नुम् आदि अन्तिम अच् के बाद किया जाता है। नपुंसक झलन्त और अजन्त को नुम् का आगम होता है—'नपुंसकस्य झलचः' (७।१।७२) यह इन्हीं में हो सकेगा—कुण्डानि, वनानि। [कुण्ड + जस् = शि = इ, अजन्त कुण्ड तथा वन + इ में दो अच् होने से अन्तिम के बाद नुम् = न् आगम, उपधादीर्घ आदि होकर रूप बनते हैं।] परन्तु—'तानि, यानि'—इनमें नुम् नहीं हो सकेगा। [तद् + जस् = शि = इ, 'त्यदादीनामः' से अत्व, पररूप आदि के बाद त + इ, य + इ में एक ही अच् है अन्तिम यह व्यवहार सम्भव नहीं है। प्रस्तुत सूत्र से ही होता है। नुम् करने पर रूप बन जाते हैं।]

(वा०) अचों के मध्यम में जो अन्त्य अच् वह है आदि जिसका उस समूह की टि संज्ञा होती है—इसमें भी प्रयोजन है।

(भा०) 'अचोऽन्त्यादि टि' (१।१।६४) यहाँ भी (इस अन्तवद्भाव का) प्रयोजन है। 'टित आत्मनेपदानां टेरे' (३।४।७९) यह इन्हीं में टि का एत्व कर

(१९४ प्रयोजनवार्तिकम् ॥ १४ ॥)

॥ * ॥ अलोऽन्त्यस्य ॥ * ॥

(भाष्यम्)

"अलोऽन्त्यस्य" (१।१।५२) प्रयोजनम् ॥ "अतो दीर्घो यञि" (७।३।१०१) "सुपि च" (७।३।१०२) इहैव स्यात्—पटाभ्यां, घटाभ्यामिति। आभ्यामित्यत्र न स्यात् ॥

प्रदीपः

प्रयोजनत्वेनोपन्यासः ॥

आभ्यामिति। अत्र द्वे अन्तवत्त्वे उपयुज्येते, अकारान्तस्याङ्गस्य अलोऽन्त्यस्य दीर्घत्वं भवतीति पृथक् प्रयोजनत्वेनोपन्यासः ॥

उद्द्योतः

सहाय एव। येन सहायेनाचामन्तत्वस्य बहुव्रीह्यर्थस्य चोपपत्तिस्तादृशसहायाभावात्। अन्यथाऽऽद्यन्तवद्भावोपि न स्याद्, विजातीयकन्यादिसहायसत्त्वेप्येकपुत्रस्यायमेव ज्येष्ठ इत्यादिव्यवहारात् ईदृशस्थलेपि लोकसिद्धत्वमित्याहुः ॥

अर्थवतेति चासहायत्वस्यैवोपलक्षणम्, ससहायस्य प्रायेणानर्थकत्वात्। तशब्दाकारश्रा-

भावबोधिनी

सकेगा—कुर्वाते, कुर्वाथे। कुरुते, कुर्वे—इनमें नहीं हो सकेगा। [कृ+आताम्, कृ+आथाम् यहाँ प्रत्यय में अनेक अच् होने से अन्तिम अच् आ और उसके बाद का म् मिलाकर 'आम्' इतना 'टि' होता है। इसका एत्व कर देने पर कृ+आते, कृ+आथे, प्रक्रिया करने पर रूप बन जाते हैं। किन्तु कृ+त, कृ+इट्—इनमें 'त' और 'इ' अकेले ही हैं। टि संज्ञा संभव न होने पर एत्व भी नहीं हो सकेगा। अतः प्रस्तुत सूत्र अतिदेश से अन्तवद्भाव करता है, टि संज्ञा और एत्व होता है।]

(वा०) अन्त्य अल् की विधि होना (प्रयोजन) है।

(भा०) अन्त्य अल् की विधि भी प्रयोजन है—'अलोऽन्त्यस्य' (१।१।५२)। 'अतो दीर्घो यञि' (७।३।१०१) 'सुपि च' (७।३।१०२)ये सूत्र अदन्त अङ्ग का दीर्घ करते हैं, (क्योंकि 'षष्ठी विभक्ति से निर्दिष्ट कार्य उसके अन्तिम अल् के स्थान पर होता है।) अतः इन्हीं में दीर्घ हो सकेगा—घटाभ्याम्, पटाभ्याम्। किन्तु इनमें नहीं होगा—आभ्याम्। [इदम्+भ्याम्, टि का अत्व आदि करने पर अ+भ्याम् में अदन्त अङ्ग न मिल सकने से दीर्घ नहीं हो सकेगा क्योंकि 'अ' अकेला होने से अदन्त नहीं हो सकता। अन्तवद्भाव का अतिदेश होने से दीर्घ हो जाता है।]

(१९५ प्रयोजनवार्तिकम् ॥ १५ ॥)

॥ * ॥ येन विधिस्तदन्तत्वे ॥ * ॥

(भाष्यम्)

येन विधिस्तदन्तत्वे (१।१।७२) प्रयोजनम् । "अचो यत्" (३।१।९७) इहैव स्यात्--चेयम् जेयम् । एयम्, अध्येयमित्यत्र न स्यात् ।

"आद्यन्तवदेकस्मिन्" कार्यं भवतीत्यत्रापि सिद्धं भवति ॥ आद्यन्तवदेकस्मिन् ॥२०॥

(१९ घसंज्ञासूत्रम् ॥ १।१।५ आ० १० ॥)

तरप्तमपौ घः ॥ १।१।२१

प्रदीपः

एयमिति । ईङो रूपम् । इणस्तु इत्यमिति भवति ॥२०॥

उद्द्योतः

इत्यमिति । एतिस्तुशास्विति क्यपो विधानादित्यर्थः ॥२०॥

भावबोधिनी

(वा०) विशेषण द्वारा विधि में तदन्त में (प्रयोजन) है ।

(भा०) 'येन विधिस्तदन्तस्य' (१।१।७२) जिस विशेषण से विधि की जाती है वह तदन्त की होती है इसमें भी इस सूत्र का प्रयोजन है । 'अचो यत्' (३।१।९७ अजन्त धातु से यत् प्रत्यय होता है ।) यह इन्हीं में होगा—चेयम्, जेयम् । [चि, जि धातुओं में अच् हल् समुदाय होने से अच् अन्त में है, 'येन विधिस्तदन्तस्य' से अजन्त मानकर यत् हो जाता है ।] किन्तु—एयम्, अध्येयम्—इनमें नहीं हो सकेगा । [क्योंकि ईङ्, अधि + इङ में अकेला इ अजन्त नहीं माना जा सकता । [प्रकृत सूत्र से अन्तवद्भाव करने पर सम्भव होता है ।] 'एक में भी आदि के समान और अन्त के समान कार्य होते हैं' इत्यर्थक "आद्यन्तवदेकस्मिन्" इससे इन (एक अच् रूपों) में भी (अजन्तत्वव्यवहार) हो जाता है ॥२०॥

तरप्तमपौ घः ॥१।१।२१॥

तरप् तथा तमप्—इन प्रत्ययों की 'घ' संज्ञा होती है ।

(प्रकरणोत्कर्षप्रयोजनाधिकरणम्)

(अनिष्टनिवारणाधिकरणम्)

(१९६ आक्षेपवार्तिकम् ॥१॥)

॥*॥ घसंज्ञायां नदीतरे प्रतिषेधः ॥*॥

(भाष्यम्)

घसंज्ञायां नदीतरे प्रतिषेधो वक्तव्यः—नद्यास्तरो नदीतर इति ।

प्रदीपः

तरसमपौ ॥२१॥ अतिशायनिकप्रत्ययप्रकरण एव 'तादी घः' 'पितौ घः' इति वा कर्तव्ये (वक्तव्ये) प्रकरणोत्कर्षेण संज्ञाकरणं—स्वार्थेऽपि तरबस्तीति सूचनार्थम् । तेनाल्याच्तरमिति सिद्धं भवतीत्याहुः ॥

नदीतर इति । तरतेर्ॠदोरबित्यप् । सर्वत्र चानुबन्धाः स्मर्यमाणा एव कार्यं प्रति हेतुत्वं लभन्त इति घसंज्ञाप्राप्तिः । साहचर्यं चेह व्यवस्थाहेतुः सर्वत्र नाश्रीयते । तथाहि द्वित्रिश्चतुरिति कृत्वोर्थे इति कृत्वोर्थग्रहणं चतुश्शब्दविशेषणार्थं कृतम् । अन्यथा द्वित्रिशब्दसाहचर्याच्चतुश्शब्दोऽपि कृत्वोर्थ एव ग्रहीष्यत इति किं कृत्वोर्थग्रहणेन ?॥

उद्द्योतः

तरस० ॥२१॥ प्रकरणोत्कर्षेणेति । प्रकरणे = संज्ञाप्रकरणे उत्कर्षेण = गुरुभूतन्यासेनेत्यर्थः ॥ स्वार्थे इति । अनातिशायनिकस्यापि संज्ञाविधानार्थमत्र सूत्रम् । स चानिर्दिष्टार्थत्वात्स्वार्थे । तस्य संज्ञाफलं चोच्चैरेवोच्चैस्तरामित्यादौ किमेत्तिङव्ययघादित्याम्सिद्धिरिति भावः । इत्याहुरिति । अत्रारुचिबीजं तु भाष्यानुक्तिः ॥

ननु नायं तरबित्यत आह—सर्वत्र चेति ॥ ननु तमप्साहचर्यात्तद्धित एव तरो ग्रहीष्यते इति नास्त्यवन्ते तरे प्रसक्तिरत आह —साहचर्यमिति । प्रत्ययाप्रत्यययोरिति परिभाषापि नाश्रितेति बोध्यम् ॥ इह ॥ शास्त्रे ॥

भावबोधिनी

(वा०) घ संज्ञा के विषय में 'नदीतर' शब्द में प्रतिषेध (कहना चाहिए ।)

(भा०) घ संज्ञा के विषय में 'नदीतर' शब्द में प्रतिषेध कहना चाहिए अर्थात् उसकी नदी संज्ञा नहीं करनी चाहिए । उदा० नद्याः तरः = नदीतरः । [तॄ धातु से 'ॠदोरप्' (३।३।५७) सूत्र से अप् = अ प्रत्यय, गुण, रपर करने पर 'तरः' बनता है । षष्ठ्यन्त नदी के साथ समास करने पर नदीतरः शब्द है । यहाँ यदि 'घ' संज्ञा होगी तो 'घरूपकल्पचेलड्० (६।३।४३) सूत्र से ह्रस्व होने लगेगा । यद्यपि यह 'तरप्' नहीं है तथापि 'अप्' प्रत्यय के अनुबन्ध का स्मरण करने पर यह 'तरप्' मान लिया जाता है क्योंकि अनुबन्ध तो सभी जगह स्मरण करके ही कार्यनिष्पादक होते हैं ।]

(१९७ समाधानवार्तिकप्रथमखण्डम् ॥ २ ॥)

॥*॥ घसंज्ञायां नदीतरेऽप्रतिषेधः ॥*॥

(भाष्यम्)

घसंज्ञायां नदीतरेऽप्रतिषेधः = अनर्थकः प्रतिषेधोऽप्रतिषेधः ॥

घसंज्ञा कस्मान्न भवति ?

(१९७ समाधानहेतुवार्तिकद्वितीयखण्डम् ॥ २ ॥)

॥ * ॥ तरब्ग्रहणं ह्यौपदेशिकम् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

औपदेशिकस्य तरपो ग्रहणम् । न चैष उपदेशे तरप्शब्दः ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

किं वक्तव्यमेतत् ?

प्रदीपः

अप्रतिषेध इति । न प्रतिषेधः इति प्रतिषेधनक्रिया नञा निषिध्यते । भाष्यकारस्तु वस्त्वर्थं व्याचष्टे—अनर्थकः प्रतिषेध इति ॥

औपदेशिकमिति । उपदेशः प्रयोजनमस्य तत्र वा भवमौपदेशिकम् ॥

उद्द्योतः

वस्त्वर्थमिति । तात्पर्यार्थमित्यर्थः । असदेह इतिवत् प्रतिषेधस्याभाव इत्यर्थको नञ्समासः ॥ एवं चानर्थक इति भाष्योक्तेर्मध्यमपदलोपी समास इति न भ्रमितव्यमिति भावः ॥

तरप्ग्रहणं तरप्शब्दः । औपदेशिकमुपदेशप्रयोजक इत्यर्थो भाष्यस्य । तदाह—उपदेशः प्रयोजनमिति । प्रयोजक इत्यर्थः । न चैव उपदेशे तरप्शब्द इति भाष्यस्वरसादाह—तत्र वा भवमिति । उपदेशे इति भाष्ये भव इति शेषः ॥

भावबोधिनी

(वा०) घसंज्ञाविषय में 'नदीतर' में प्रतिषेध अनावश्यक है ।

(भा०) घसंज्ञा के विषय में 'नदीतर' शब्द में अप्रतिषेध = अनर्थक प्रतिषेध है, अर्थात् इसको कोई आवश्यकता नहीं है ।

तो फिर घसंज्ञा क्यों नहीं होती है ?

(वा०) औपदेशिक = उपदेश में होनेवाले तरप् का ग्रहण है ।

(भा०) उपदेश में किये गये तरप् प्रत्यय का ग्रहण है । और उपर्युक्त 'तरप्' शब्द (पाणिनि के द्वारा) उपदिष्ट नहीं है । [उन्होंने तो 'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ' (५।३।५७) सूत्र से जिस 'तरप्' का उपदेश किया है । उसी का ग्रहण यहाँ है । उपदेश है प्रयोजन = प्रयोजक जिसका वह—औपदेशिक है ।]

तो फिर क्या यह (औपदेशिक का ग्रहण) कहना होगा ?

(समाधानभाष्यम्)

नहि ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

कथमनुच्यमानं गंस्यते ?

(सिद्धान्तिसमाधानभाष्यम्)

इह हि व्याकरणे सर्वेष्वेव सानुबन्धकग्रहणेषु रूपमाश्रीयते—यत्रास्यैतद्रूपमिति । रूपनिग्रहश्च शब्दस्य नान्तरेण लौकिकं प्रयोगम् । तस्मिंश्च लौकिके प्रयोगे सानुबन्धकानां प्रयोगो नास्तीति कृत्वा द्वितीयः प्रयोग उपास्यते ॥

कोऽसौ ?

उपदेशो नाम । न चैष उपदेशे तरप्शब्दः ॥

प्रदीपः

यत्रास्येति । अनुबन्धयुक्तमित्यर्थः ॥ न चैष इति । काल्पनिकमस्य तरप्त्वं न तु

उद्द्योतः

सर्वेष्वेव सानुबन्धकग्रहणेष्विति भाष्यं प्रकृताभिप्रायं, शब्दमात्रग्रहणेऽपि स्वं रूपमित्यनेन रूपाश्रयणादिति बोध्यम् ॥ यत्रास्येति । यत्रास्यैतद्रूपं तत्र घसंज्ञेत्यर्थः ॥

भावबोधिनी

नहीं (कहना होगा ।)

बिना कहे कैसे समझा जायगा ?

यहाँ व्याकरण शास्त्र में सभी अनुबन्धसहित ग्रहणों में रूप का आश्रयण किया जाता है अर्थात् जहाँ कहीं भी सानुबन्धक का ग्रहण होता है वहाँ रूप का ही आश्रयण किया जाता है, साक्षादुच्चारित पूरा शब्दरूप ही लिया जाता है—जहाँ इसका ऐसा रूप है उसी का ग्रहण होता है । और शब्द के वास्तविक रूप का ज्ञान तब तक नहीं हो पाता है जब तक कि उसका लोक में प्रयोग न किया जाय । चूंकि लौकिक प्रयोग में सानुबन्धक का प्रयोग नहीं होता है, (अनुबन्धरहित का ही प्रयोग होता है) उस अवस्था में द्वितीय प्रयोग ही आश्रित किया जाता है ।

वह दूसरा प्रयोग कौन सा है ?

उपदेश रूप । और यह तरप् शब्द उपदेश वाला नहीं है । [अर्थात् जो शास्त्रीय रूप, उपदिष्ट किया जाता है उसी का ग्रहण किया जाता है । जब सर्वत्र ऐसा है तो घसंज्ञा में भी यही शास्त्रीय रूप याद किया जाता है ।]

(घसंज्ञाभ्युपगमेऽपि दोषाभावप्रदर्शकभाष्यम्)

अथ वाऽस्त्वस्य घसंज्ञा को दोषः ?

(दोषप्रदर्शनभाष्यम्)

घादिषु नद्या ह्रस्वो भवतीति ह्रस्वत्वं प्रसज्येत ॥

(समाधानभाष्यम्)

समानाधिकरणेषु घादिष्वित्येवं तत् ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

यदा तर्हि सैव नदी, स एव तरस्तदा प्राप्नोति ?

(समाधानभाष्यम्)

स्त्रीलिङ्गेषु घादिष्वित्येवं तत् ॥ अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम् । समानाधि-

प्रदीपः

साक्षान्निर्दिष्टम् ॥

समानाधिकरणेष्विति । आतिशायनिकश्च स्वार्थिकत्वात् समानाधिकरणः ॥

यदा तर्हीति । ननु तीर्णिरिति भवितव्यम्, एवं तर्हि तीर्यंत इति तर इति

उद्द्योतः

एवं चोपदेश एव घसंज्ञा । प्रयोगे तु स्थानिवद्भावेन सेति बोध्यम् ॥ काल्पनिकमिति । ऋदोरबितिसूत्रपर्यालोचनावगतत्वेनानुमानिकमित्यर्थः ॥

स्वार्थिकत्वात् । प्रकृत्यभिहितद्योतकत्वात्, समानाधिकरणः = प्रकृत्या समान-विषय इत्यर्थः । सामानाधिकरण्यं चैकविशेष्यकबोधजनकत्वमिति बोध्यम् ॥

ननु तीर्णिरिति । ॠतः परस्य क्तिनो निष्ठावद्भावनान्नत्वम् ॥ सामान्येनेति ।

भावबोधिनी

अथवा इस (नदीतरः) की घसंज्ञा हो जाय, क्या दोष है ?

'घ' आदि परे रहते नदीसंज्ञक का ह्रस्व होता है (घरूपकल्प० ६।३।४३ सूत्र से), इसलिये यह ह्रस्व होने लगेगा ।

यह ह्रस्वत्व तो समानाधिकरण घ आदि परे रहते ही होता है । [जब विशेष्य विशेषण एक ही अर्थ के बोधक होते हैं तब समानाधिकरण माना जाता है । अतिशय अर्थ में होनेवाला प्रत्यय स्वार्थिक होने के कारण समानाधिकरण होता है । अतः इसी प्रत्यय के परे रहते ह्रस्व होगा । अन्यत्र नहीं होगा ।]

यदि ऐसा है तब तो—वही नदी है जो तर है अर्थात् नदी चासौ तरः-यह विग्रह करके समास होने से समानाधिकरण हो जाते हैं । इस कर्मधारय में समानाधिकरण 'तर' मिल जाने से घसंज्ञा प्रसक्त है ।]

तब तो स्त्रीलिङ्ग घ आदि परे नदीसंज्ञक का ह्रस्व होता है अर्थात् स्त्रीलिङ्ग

करणषु घादिष्वित्युच्यमाने इह प्रसज्येत—महिषी रूपमिव, ब्राह्मणी रूप-

प्रदीपः

सामान्येन पदं संस्क्रियते, पश्चात्तद्धा विशेष्यते इति न दोषः॥

स्त्रीलिङ्गेष्विति। स्वार्थिकश्च प्रकृतिलिङ्गानुविधानात् स्त्रीलिङ्गः॥ महिषी

उद्द्योतः

अनिर्धारितकर्मविशेषेणेत्यर्थः। अत एव पुंस्त्वम्। घञजपाः पुंसीत्युक्तेः॥

महिषी रूपमिवेति। नन्विदमसमस्तं समस्तं वा। नाद्यः। उत्तरपदाधिकाराद्रूप-शब्दस्य चातथात्वादप्राप्तेः। किं च रूपशब्देनाकृत्यभिधानात् कस्याकृतिरिव महिषीति साकाङ्क्षं स्यात्। नान्त्यः। षष्ठीतत्पुरुषे वैयधिकरण्याद्ध्रस्वाप्राप्तेः। विशेषणसमासे तु

भावबोधिनी

और समानाधिकरण दोनों रहने पर ही ह्रस्व होगा। ['तरः' पुंलिङ्ग है। ह्रस्व नहीं होगा।] और इस प्रकार का [पूर्वोक्त कथन] अवश्य ही समझना चाहिये। क्योंकि केवल समानाधिकरण 'घ' आदि परे रहते ह्रस्व होता है—' ऐसा कहने पर तो—महिषी रूपमिव, ब्राह्मणी रूपमिव, (महिषी इव रूपम्, ब्राह्मणी इव रूपम्) इनमें भी ह्रस्वत्व प्रसक्त होने लगेगा। [यहाँ इव अर्थ में 'सुप्सुपा' से समास के बाद इव का लोप न होने पर 'महिषीरूपमिव ब्राह्मणीरूपमिव' में ह्रस्वत्व प्रसक्त है। अतः समानाधिकरण के साथ-साथ स्त्रीलिङ्ग भी रहना आवश्यक है। चूंकि रूपम् = नपुंसक है। अतः ह्रस्व नहीं होता है।]

विमर्श—'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ' (५।३।५७) 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' (५।३।५८) सूत्रों से क्रमशः दो तथा बहुतों के मध्य में अतिशय बताने के लिये क्रमशः तरप् और तमप्, प्रत्यय होते हैं। यहाँ विचारणीय यह है कि इन प्रत्ययों की घसंज्ञा करने के लिये प्रस्तुत सूत्र के स्थान पर 'तादौ घः'अथवा 'पितौ घः' ऐसा लघुसूत्र बना कर भी इन प्रत्ययों की घसंज्ञा करनी सम्भव थी। तब उस प्रकरण में लघु सूत्र न बना कर अलग संज्ञा प्रकरण में यह गुरुभूत सूत्र बनाना यह सूचित करता है कि ये प्रत्यय कभी-कभी अतिशय अर्थरहित केवल स्वार्थ में भी हो जाते हैं जैसा कि स्वयं पाणिनि ने सूत्र में प्रयोग किया है—'अल्पाच्तरम्'

मिवेति ॥ तरप्तमपौ घः ॥ २१ ॥

(२० संख्यासंज्ञासूत्रम् ॥ १।१।५ आ० ११ ॥)

बहुगणवतुडति संख्या ॥ १।१।२२ ॥

(लोकप्रसिद्धसंख्यावाचिनां संख्यात्वसाधनाधिकरणम्)

(१९८ आक्षेपवार्तिकप्रथमखण्डम् ॥ १ ॥)

प्रदीपः

रूपमिवेति । इवशब्दो भिन्नक्रमः । तेनायमर्थः—महिषी इवेयमाकृतिरिति । तत्र सुप्सुपेति समासे कृते ह्रस्वत्वं स्यात् ॥ २१ ॥

उद्द्योतः

पूर्वनिपातवैपरीत्यापत्तिः । तस्मादुपमागर्भसमासस्य विग्रहवाक्यमिदम् । स च समासो नोपमानानि सामान्यवचनैरित्यनेन, रूपशब्दस्योपमेयवाचकत्वेऽपि साधारणधर्मवाचकत्वात् । साधारणधर्मो ह्यत्र विसंष्ठुलत्वादिः । नाप्युपमितं व्याघ्रादिभिरिति, रूपशब्दस्योपमेयवाचित्वेन पूर्वनिपातवैपरीत्यापत्तेः, तस्योपमानवाचित्वे तु कस्य रूपमिति विशेषणस्य सापेक्षत्वाद्वृत्तिर्न स्यादत आह—इवशब्द इति । सुप्सुपेति च ॥ ह्रस्वत्वं स्यादिति । अप्रत्यययोरपि घत्वे तत्साहचर्याद्रूपादेरप्रत्ययस्यापि ग्रहणं स्यादिति भावः ॥ यद्यपि रूपमित्युक्ते कस्य रूपमिति अस्त्याकाङ्क्षा तथापि प्रधानस्य साकाङ्क्षत्वान्न दोषः ॥२१॥

(२।२।३४)। अतः आजकल हिन्दी में प्रयुक्त 'श्रेष्ठतमः' आदि शब्दों की उपपत्ति इसी तर्क पर की जा सकती है ।

यद्यपि तमप् के साहचर्य से तरप् प्रत्यय ही लिया जायगा । अतः 'तर' इस निष्पन्न को मानकर ह्रस्व नहीं होगा । अतः यह समानाधिकरण आदि की चर्चा अनावश्यक है । तथापि 'सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्' इस परिभाषा के अनित्य होने के कारण प्रत्ययभिन्न भी 'तर' का ग्रहण प्रसक्त है । इसीलिये समानाधिकरण स्त्रीलिंग दोनों ही घ='तर' शब्द में होने चाहिए । तभी पूर्ववर्ती नदीसंज्ञक का ह्रस्व होता है । ऐसा मानने से नदी चासौ तरः=नदीतर में ह्रस्व की सम्भावना नहीं है क्योंकि 'तरः' यह पुल्लिङ्ग है ॥२१॥

बहु, गण, वतुप्प्रत्ययान्त और डतिप्रत्ययान्त की संख्या संज्ञा होती है ।

॥ * ॥ संख्यासंज्ञायां संख्याग्रहणं [संख्यासंप्रत्ययार्थम्] ॥ * ॥

(भाष्यम्)

संख्यासंज्ञायां संख्याग्रहणं कर्तव्यम् । बहुगणवतुडतयः संख्यासंज्ञा भवन्ति, संख्या च संख्यासंज्ञा भवतीति वक्तव्यम् ॥

किं प्रयोजनम् ?

"संख्यासंप्रत्ययार्थम्" । एकादिकायाः संख्यायाः संख्याप्रदेशेषु संख्येत्येष संप्रत्ययो यथा स्यात् ॥

प्रदीपः

बहुगणवतुडति ॥२२॥ संख्यासंप्रत्ययार्थमिति । संख्याया एकादिकायाः संख्याप्रदेशेषु संप्रत्ययार्थमित्यर्थः ॥

उद्द्योतः

बहुगण० ॥ २॥ संख्यात्वेन संप्रत्ययस्य लोकत एव सिद्धेराह एकादिकाया इति । संख्यासंप्रत्ययेति वार्तिके सङ्ख्येति संप्रत्यय इत्यर्थः । एकादिकायाः संङ्ख्यायाः सङ्ख्याप्रदेशेष्विति शेषपूरणं बोध्यम् ॥ सङ्ख्येत्येष इति भाष्यस्य सङ्ख्येत्येतच्छब्दाभिन्न इत्यर्थः ॥ 'शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकर' इति पातञ्जलसूत्रात् । एतच्च पातञ्जलसूत्रवृत्तावुपपादितमस्माभिः । "नारद इत्यबोधि" इत्यादावप्येवमेव । एवंच कर्मत्वाप्रसक्तिरेव ॥ सङ्ख्याशब्दजन्य इत्यर्थे सङ्ख्येत्याकारक इत्यर्थे च एषशब्दान्वयानुपपत्तिस्तदुपादानवैयर्थ्यं चेति बोध्यम् ॥

भावबोधिनी

(वा०) संख्या संज्ञा में संख्या शब्द का भी ग्रहण करना चाहिए ।

(भा०) संख्या--इस संज्ञा में 'संख्या' शब्द का ग्रहण करना चाहिए । बहु, गण, वतुप् और डति प्रत्ययान्तों की संख्या संज्ञा होती है और (एक द्वि आदि) संख्या की भी संख्या संज्ञा होती है--ऐसा कहना चाहिए ।

[ऐसा कहने का] क्या प्रयोजन है ?

संख्या का ज्ञान कराना । एक, द्वि आदि संख्याओं का संख्या प्रदेशों में 'संख्या' है इस रूप में जैसे ज्ञान हो सके । [भाव यह है कि इन एक द्वि आदि की भी संख्या संज्ञा कर देने पर ही संख्याग्रहण वाले सूत्रों में इनका ग्रहण सम्भव होने पर संख्या संज्ञा-सम्बन्धी कार्य हो सकेंगे ।]

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

ननु चैकादिका संख्या लोके संख्येति प्रतीता। तेनास्याः संख्याप्रदेशेषु संख्यासंप्रत्ययो भविष्यति ॥

(आक्षेपसाधकभाष्यम्)

एवमपि कर्तव्यम् ॥

किं प्रयोजनम् ?

(१९८ आक्षेपसाधकवार्तिकद्वितीयखण्डम् ॥ १ ॥)

॥ * ॥ इतरथा ह्यसंप्रत्ययोऽकृत्रिमत्वाद्यथा लोके ॥ * ॥

(भाष्यम्)

अक्रियमाणे हि संख्याग्रहणे एकादिकायाः संख्यायाः संख्येत्येष संप्रत्ययो न स्यात् ॥

किं कारणम् ?

प्रदीपः

ननु चेति। यथा पशुरपत्यं देवतेति लौकिकोऽर्थो गृह्यते, तथैकादिकापि संख्या ग्रहीष्यत इत्यर्थः ॥

उद्द्योतः

सङ्ख्या ग्रहीष्यत इति। सूत्रं त्वधिकसंग्रहार्थमिति भावः ॥

भावबोधिनी

क्यों श्रीमन् ! लोक में एक आदि संख्या तो संख्या इस रूप में प्रतीत ही हैं= प्रसिद्ध हैं। इसी से संख्या के प्रदेशों=ग्रहणस्थलों में इन एक आदि का संख्या रूप में ज्ञान हो ही जायगा।

ऐसा होने पर भी एक आदि का ग्रहण करना ही चाहिए।

इसका क्या प्रयोजन है ?

(वा०) अन्यथा अकृत्रिम होने के कारण इनका ज्ञान=ग्रहण नहीं हो सकेगा जैसा कि लोक में होता है।

(भा०) (इन एक आदि) संख्याओं के लिये संख्या का ग्रहण न करने पर एक आदि संख्याओं का 'संख्या' इस रूप में ज्ञान करना सम्भव नहीं होगा।

क्या कारण है ?

अकृत्रिमत्वात् ॥ बह्वादीनां कृत्रिमा संज्ञा। "कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसंप्रत्ययो भवति"। यथा लोके ॥ तद्यथा लोके—'गोपालकमानय' 'कटजकमानय' इति यस्यैषा संज्ञा भवति स आनीयते, न यो गाः पालयति, यो वा कटे जातः ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

यदि तर्हि कृत्रिमाऽकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसंप्रत्ययो भवति, "नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः" (५।४।११०) इत्यत्रापि प्रसज्येत ॥

प्रदीपः

कृत्रिमाऽकृत्रिमयोरिति। न्यायोऽयम्। तथाहि सर्वार्थाभिधानशक्तियुक्तः शब्दो यदा विशिष्टेर्थे संव्यवहाराय नियम्यते, तदा तत्रैव प्रतीतिं जनयति नान्यत्र ॥

नदीपौर्णमासीति। यू स्त्र्याख्यौ नदीति संज्ञाविधानात् संज्ञिनो ग्रहणं प्राप्तं न तु स्वरूपस्याशब्दसंज्ञेति निषेधात् ॥

उद्द्योतः

न्यायोऽयमिति। अभ्यासाम्रेडितादिसंज्ञाविषये चैतन्न्यायोपयोगो द्रष्टव्यः ॥ नियम्यते इति। सर्वार्थबोधकत्वेऽपि लोके तत्रैव गृहीतशक्तिकतयाऽन्यत्र शक्त्यग्रहेण च अधिकसंग्रहार्थत्वादगृहीतशक्तिग्राहकत्वाच्चास्य नियमत्वं चिन्त्यम्। न्यायबीजं तु प्रकरणमिति भाष्ये एव स्फुटीभविष्यति ॥

भावबोधिनी

अकृत्रिम = पाणिनि द्वारा बनाया न जानने के कारण। बहु आदि शब्दों की संख्या संज्ञा कृत्रिम है, पाणिनि द्वारा बनाई गई है [जबकि लोक में बहु शब्द भी संख्या के रूप में प्रसिद्ध है] "कृत्रिम तथा अकृत्रिम के मध्य में कृत्रिम में ही कार्य का ज्ञान किया जाता है।, जैसा कि लोक में—'गो–पालक को लाओ', 'कटजक को लाओ' ऐसा कहा जाने पर जिसकी गोपालक और कटजक संज्ञा = नाम होता है उसी को लाया जाता है न कि जो गायों को पालने वाला है और कट = चटाई पर जन्म लेने वाला है, उसे लाया जाता है। [यहाँ स्पष्ट है कि जिसकी संज्ञा की गई है उसी में आनयनादि व्यवहार होता है, अकृत्रिम में नहीं होता है।]

तब तो यदि 'कृत्रिम तथा अकृत्रिम के मध्य में कृत्रिम में कार्य का ज्ञान किया जाता है' ऐसा है तब "नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः" (५।४।११०) इसमें ('नदी' शब्द में) भी (दोष) प्रसक्त होता है [कारण यह है कि 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१।४।३) इस सूत्र द्वारा जिनकी भी नदी संज्ञा की गई है, कृत्रिम हैं उन्हीं का ग्रहण हो सकेगा, 'नदी' इस शब्द का ग्रहण नहीं हो सकेगा।]

(समाधानभाष्यम्)

पौर्णमास्याग्रहायणीग्रहणसामर्थ्यान्न भविष्यति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

तद्विशेषेभ्यस्तर्हि प्राप्नोति ।

प्रदीपः

पौर्णमासीति । नियमार्थं पौर्णमास्याग्रहायणीग्रहणमीकारान्तानां स्यादिति चेत् । एवमपि—'ऊपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः' इति वक्तव्यं स्याद् । ऊकारग्रहणेन च नदी-संज्ञकमेवीकारान्तं पौर्णमास्याग्रहायणीशब्दसाहचर्याद् ग्रहीष्यते ॥

तद्विशेषेभ्यः । गङ्गादिभ्यः ॥

उद्द्योतः

नियमार्थमिति । नियमश्च सामान्यविषय एव,न कालवाचिविषयः, व्याख्यानादतो गौर्याद्यन्तेऽपि न दोषः ॥ नन्वनदीसंज्ञकेभ्योऽपि खलप्वादिभ्य ऊकारान्तेभ्यः स्यादत आह—ऊकारग्रहणेनेति । वस्तुतस्तु दोषग्रस्तनियमापेक्षया नदीशब्देन कृत्रिमाकृत्रिम-न्यायबाधज्ञापनमेव ज्यायः ॥

भाष्ये तद्विशेषेभ्यस्तर्हीति प्रासङ्गिकी शङ्का । तां व्याचष्टे—गङ्गादिभ्य इति । अपगङ्गं परियमुनमित्युदाहरणे । अत्र हि टचि अन्तोदात्तत्वम् । तदभावे "परिप्रत्युपापावर्ज्यमानाहोरात्रावयवेष्वि"ति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वमित्याहुः ॥

भावबोधिनी

पौर्णमासी तथा आग्रहायणी—इन शब्दों के ग्रहण-सामर्थ्य से (कृत्रिम नदी = ईकारान्त ऊकारान्त स्त्रीलिङ्ग का)ग्रहण नहीं होगा । [क्योंकि यदि कृत्रिम संज्ञावाला 'नदी' शब्द लिया जाता तब तो 'आग्रहायणी' पौर्णमासी शब्द भी नदीसंज्ञक होने से स्वतः गृहीत हो जाते, उनका पृथक् ग्रहण करना व्यर्थ होता । वही ज्ञापित करता है कि कृत्रिम नदी का ग्रहण नहीं होता है । 'नदी' शब्द से प्रत्यय होता है ।]

यदि ऐसा है तब तो नदीविशेष के वाचक गङ्गा, यमुना आदि शब्दों से भी (समासान्त टच् प्रत्यय) प्राप्त होता है । [फलतः चित् होने पर अन्तोदात्त होने लगेगा और टच् न होने पर पूर्वपद का प्रकृतिस्वर होगा ।]

(समाधानभाष्यम्)

एवं तर्हि [अत्रापि] आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति-'न तद्विशेषेभ्यो भवति' इति। यदयं विपाट्शब्दं शरत्प्रभृतिषु पठति॥

(आक्षेपभाष्यम्)

इह तर्हि प्राप्नोति—"नदीभिश्च" (२।१।२०) इति॥

(समाधानभाष्यम्)

बहुवचननिर्देशान्न भविष्यति॥

(आक्षेपभाष्यम्)

स्वरूपविधिस्तर्हि प्राप्नोति॥

प्रदीपः

यदयमिति। नित्यार्थः पाठः स्यादिति चेद्, व्यवस्थितविभाषया विपाट्शब्दस्य नित्यष्टज् भविष्यतीत्यदोषः॥

उद्द्योतः

नित्यार्थं इति। नदीपौर्णमासीत्यत्रान्यतरस्याग्रहणानुवृत्तेरिति भावः॥ व्यवस्थितेति। अत्र च ज्ञापकपरमिदमेव भाष्यं मानम्। केचिदस्माद्भाष्यात् नदीति सूत्रेऽन्यतरस्याग्रहणं निवर्तयन्ति॥

भावबोधिनी

यदि ऐसा है तब तो (यहाँ भी) आचार्य पाणिनि का व्यवहार यह ज्ञापित करता है कि नदीविशेष के वाचक शब्दों से ['नदी-पौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः' सूत्र से] टच् नहीं होता है। क्योंकि आचार्य पाणिनि शरत्प्रभृति गण में विपाद् शब्द का पाठ करते हैं। [भाव यह है कि यदि यहाँ नदीविशेष का ग्रहण होता तो 'विपाश्' शब्द से इसी सूत्र से समासान्त टच् हो जाता तो टच् करने के लिये शरदादिगण में उसका पाठ करना व्यर्थ होता। वही पाठ यह ज्ञापित करता है कि नदीविशेष का ग्रहण नहीं है।]

तो फिर 'नदीभिश्च' (२।१।२०) इसमें कृत्रिम नदी का ग्रहण प्राप्त होता है।

बहुवचन द्वारा निर्देश होने से कृत्रिम नदी का ग्रहण नहीं होता है। [अन्यथा 'आण्नद्याः' (७।१।११२) के समान यहाँ भी एकवचन से ही निर्देश किया गया होता।]

किन्तु स्वरूपविधि तो प्राप्त ही है। [भाव यह है 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' सूत्र के आधार पर 'नदी' इस शब्द से ही प्रत्यय प्राप्त होता है।]

(समाधानभाष्यम्)

बहुवचननिर्देशादेव न भविष्यति ॥

(उपसंहारभाष्यम्)

एवं च न चेदमकृतं भवति—"कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसंप्रत्ययः" इति । न च कश्चिद्दोषो भवति ॥

(१९९ आक्षेपसाधकवार्तिकम् ॥ २ ॥)

॥ * ॥ उत्तरार्थं च ॥ * ॥

(भाष्यम्)

उत्तरार्थं च संख्याग्रहणं कर्तव्यम् । "ष्णान्ता षट्" (१।१।२३) । षकार-

प्रदीपः

बहुवचनेति । अन्यथा आण्नद्या इत्यादौ यथैकवचनेन निर्देशस्तथेहापि कर्तव्यः स्यात् ॥

न चेदमकृतमिति । अनाश्रितमित्यर्थः ॥

उद्द्योतः

बहुवचननिर्देशादेवेति । तस्मादपीत्यर्थः । अशब्दसंज्ञेति निषेधादित्यपि बोध्यम् । तत्प्रत्याख्याने स्वयमेव हेतुः । अतोऽस्मान्निषेधान्नदीपौर्णमासीत्यादौ स्वरूपग्रहणमपि दुर्लभमित्यपास्तम् । लक्ष्यानुसारेण तत्प्रत्याख्यानेन सामर्थ्येन तस्यात्राप्रवृत्तेः । नदीभिश्चेत्यादौ तु लक्ष्यानुसारादेवार्थग्रहणेन तद्वाचकानां ग्रहणमिति दिक् ॥

अस्य न्यायत्वादकृतमित्ययुक्तमत आह—अनाश्रितमिति ॥

भावबोधिनी

बहुवचन के निर्देश के कारण ही स्वरूप का ग्रहण नहीं होता है । [अशब्दसंज्ञा इस प्रतिषेध के कारण भी 'नदी' स्वरूप का ग्रहण नहीं होता है ।]

इस प्रकार यह 'कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययः' यह न्याय अकृत= अनाश्रित नहीं होता है ऐसा नहीं है अर्थात् अवश्य माना जाता है और कोई दोष भी नहीं होता है ।

(वा०) उत्तरवर्ती सूत्र के लिये भी [संख्याग्रहण करना चाहिए ।]

(भा०) 'ष्णान्ता षट्' (१।१।२३) इस अग्रिम सूत्र में अनुवृत्ति के लिये भी 'संख्या' का ग्रहण करना चाहिए । जिससे षकारान्त तथा नकारान्त संख्यावाचक की

नकारान्तायाः संख्यायाः षट्संज्ञा यथा स्यात् । इह मा भूत्-पामानः,विप्रुष इति॥

(आक्षेपनिराकरणभाष्यम्)

इहार्थेन तावन्नार्थः संख्याग्रहणेन ॥

(आक्षेपस्मारणभाष्यम्)

ननु चोक्तम्—*इतरथा ह्यसंप्रत्ययोऽकृत्रिमत्वाद् यथा लोके* इति ?

(आक्षेपपरिहारभाष्यम्)

नैष दोषः । अर्थात्प्रकरणाद्वा लोके कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसंप्रत्ययो

प्रदीपः

उत्तरार्थं चेति । अयं हि सूत्रोपात्तः संख्याशब्दः स्वरूपपदार्थकः । उत्तरत्र संज्ञिनिर्देशेन प्रयोजनम् ॥

इहार्थेनेति । इह अर्थो यस्येति सामान्यविशेषभावान्न पौनरुक्त्यम् ॥

उद्द्योतः

स्वरूपेति । न चैवं बह्वादिसामानाधिकरण्यानुपपत्तिः । शब्दार्थयोरभेदारोपेण तदुपपत्तेरिति भावः ॥ संज्ञिनिर्देशेनेति । संख्याशब्दबोध्यपञ्चादिशब्दपरेण संख्याशब्दनिर्देशेनेत्यर्थः ॥

सामान्येति । अर्थशब्दोक्तसामान्यं प्रति इहार्थो यस्येत्यस्य विशेषत्वादित्यर्थः ॥

भाष्ये अर्थादित्यादि । लोके कृत्रिमग्रहणे न कृत्रिमत्वं कारणं किं त्वन्यदेवेति भावः ॥ अर्थः=सामर्थ्यम् । तदेव दर्शयति--अर्थो वास्येति । अस्य वाक्यस्यार्थोऽध्या-

भावबोधिनी

षट् संज्ञा हो सके । और इनमें न होने लगे—पामानः, विप्रुषः । [पामन्, विप्रुष्—नकारान्त तथा षकारान्त होने पर भी संख्यावाचक नहीं हैं अतः षट् संज्ञा नहीं होने से विभक्तिलुक् नहीं होता है ।]

इस प्रस्तुत सूत्र के लिये संख्याग्रहण का कोई फल नहीं है ।

क्यों, यह कहा गया है 'अकृत्रिम होने के कारण लौकिक एक आदि संख्या का ज्ञान नहीं हो सकेगा जैसा कि लोक में [कृत्रिम तथा अकृत्रिम में कृत्रिम में ही कार्य होते देखा जाता है ।"]

यह दोष नहीं है । क्योंकि अर्थ=वस्तुसामर्थ्य से अथवा प्रकरण से लोक में कृत्रिम तथा अकृत्रिम के मध्य में कृत्रिम में कार्य का ज्ञान किया जाता है । कार्य कराने वाले का प्रयोजन इस संज्ञावाले से ही होता है । [अन्य से नहीं होता है अतः उसी का

भवति। अर्थो वाऽस्यैवंसंज्ञकेन भवति। प्रकृतं वा तत्र भवति--इदमेवंसंज्ञकेन कर्तव्यमिति।

आतश्चार्थात् प्रकरणाद्वा। अङ्ग हि भवान् ग्राम्यं पांशुलपादमप्रकरणज्ञमागतं

प्रदीपः

आतश्चेति। इतश्चेत्यर्थः॥ अर्थः सामर्थ्यम्। यथा गोपालकमानय माणवकमध्यापयिष्यतीति यष्टिहस्तस्याध्यापनासम्भवात्संज्ञिनो ग्रहणम्॥ प्रकरणं = प्रस्तावः। यथा भोजनप्रकरणे सैन्धवमानयेति लवणे प्रतीतिः, गमनप्रकरणे त्वश्वे॥ ग्राम्यमिति। ऊहितुमसमर्थम्॥ पांशुलपादमिति। अचिरोषितम्॥ अत एवाप्रकरणज्ञम्॥ उभयगतिरिति। किं संज्ञेयं यस्य कस्यचिन्निर्दिष्टा स्यादुत यष्टिहस्तोऽस्य विवक्षितः स्यादिति सन्देहवान् भवतीत्यर्थः॥ साधीयो वेति। यो मम प्रसिद्धः सोऽनेन चोदितो न च ममैवंसंज्ञकः प्रसिद्ध इत्येवं मन्यते। लोके च गोपालकशब्दः संज्ञिनि नियम्यमानः संज्ञ्यन्तरं निवर्तयति, क्रियानिमित्तं त्वर्थं न निरस्यति, तुल्यजातीयविषय एव हि नियमो भवति॥

उद्द्योतः

पनादिरूपं प्रयोजनमेवंसंज्ञकेन भवति तत्रास्यैव सामर्थ्यमित्यर्थः॥ प्रकृतं वेति। इदमेवंसंज्ञकेन कर्तव्यमिति तत्र प्रयोजनं प्रकृतं बुद्धिस्थं भवति। संज्ञाया बुद्धिस्थत्वादित्यर्थः। इदमन्येषामपि पदार्थनियामकानामुपलक्षणम्॥ यद्यपि रूढिर्योगापहारिणीत्यप्यत्र सम्भवति। तथापि प्रकरणादिसहकृतो योगोऽपि बलवानित्यभिप्रेत्येदमेवोक्तम्॥ अन्वयमुक्त्वा व्यतिरेकेणाप्यर्थादेर्हेतुत्वं प्रतिपादयितुं भाष्ये आतश्चेति। उभयगति—उभयविषयकं ज्ञानं तात्पर्यः = सन्देहरूपमित्याशयेनाह--किं संज्ञेयमिति। वक्तृतात्पर्यविषयसन्देहवानित्यर्थः॥ ननु रूढेर्योगार्थापहारकत्वेन कथं सन्देह इति चेन्न। तत्तत्पुरुषं प्रति प्रसिद्धरूढ्यर्थस्यैव योगापहारत्वं नान्यस्येति भावात्। तदेव ध्वनयन्नाह--साधीय इति। क्रियाविशेषणमव्ययं वा सम्यगर्थकम्॥ यष्टिहस्तं

भावबोधिनी

ग्रहण किया जाता है, अकृत्रिम का नहीं।] अथवा वहाँ ऐसा प्रकरण होता है कि—यह कार्य इस नामवाले को ही करना है।

और इसलिये भी, (पदार्थ के) सामर्थ्य के कारण तथा प्रकरण के कारण [कृत्रिम तथा अकृत्रिम में कृत्रिम में कार्य का ज्ञान किया जाता है क्योंकि—आप किसी धूलिधूसरित (मिट्टी लिपटे) पैरों वाले [अर्थात् उसी समय नंगे पैरों आये हुए)

ब्रवीतु---गोपालकमानम, कटजकमानयेति । उभयगतिस्तस्य भवति । साधीयो वा यष्टिहस्तं गमिष्यति ॥

(आक्षेपसाधकभाष्यम्)

यथैव तर्ह्यर्थात्प्रकरणाद्वा लोके कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसंप्रत्ययो भवति, एवमिहापि प्राप्नोति । जानाति ह्यसौ बह्वादीनामियं संज्ञा कृतेति ॥

(समाधानसाधकभाष्यम्)

न यथा लोके तथा व्याकरणे । उभयगतिः पुनरिह भवति ॥

प्रदीपः

एवमिहापिति । बह्वादय एवात्र संख्यात्वेन प्रकृता इति भावः ॥

न यथा लोक इति । संख्याशब्दो हि बह्वादिप्रतिपादनाय संज्ञात्वेन विनियुक्तो न त्वेकादिसंख्यानिरासाया । अधिकार्थप्रतिपत्त्यर्थत्वादिह संज्ञाकरणस्य ॥

उद्द्योतः

गमिष्यति । तद्विषयमेव तात्पर्यं ग्रहीष्यतीत्यर्थः ॥ ननु संज्ञाकरणस्य नियमार्थत्वाद्यो-गार्थप्रतीतिः श्रोतुर्भ्रम इत्यत आह---एवं मन्यते । लोके इति । इदमपि स्वरीत्या ॥

अत्र = शास्त्रे । प्रकृताः = बुद्धौ सन्निहिताः ॥ अनेनात्रापि प्रकरणमस्तीयुक्तं भवति । बुद्धिसन्निधिरेव प्रकरणम् ॥

संज्ञात्वेन विनियुक्त इति । ज्ञापिताज्ञातशक्तिक इत्यर्थः । अत एव न नियमार्थ-तेत्याह---नन्विति । तुल्यन्यायेन संज्ञासूत्रमात्रस्य नियमार्थत्वाभावः सूचितः ॥ इह = सङ्ख्याप्रदेशे अधिकार्थेत्यादिनान्वेति ॥ भाष्ये न यथेत्यादि । व्याख्यातृपरम्परा-वगतवक्तृतात्पर्यानुपपत्त्या प्रकरणाद्यनादरेणोभयगतिरिति भाष्यार्थ इत्यन्ये ॥

भावबोधिनी

प्रकरण = प्रसंग को न जाननेवाले ग्रामीण (अपढ़ सामान्य) व्यक्ति से कहें—"गोपालक को लाओ, कटजक को लाओ।" उसे दोनों का ज्ञान होता है। [गोपालक इस नाम वाले को अथवा वास्तव में गायें पालने वाले को—इन दोनों का ही ज्ञान करता है, दोनों को ही लाना समझता है।] फिर भी वह हाथ में डण्डा थामे हुए गाय पालने-वाले अहीर के पास ही जाता है।' | यह भी सिद्ध करता है कि प्रकरण जाने बिना अर्थ का निर्धारण नहीं हो पाता है।]

अतः जिस प्रकार [पदार्थ के किसी विशेष] सामर्थ्य से अथवा प्रकरण से लोक में कृत्रिम और अकृत्रिम में कृत्रिम में कार्य का ज्ञान किया जाता है उसी प्रकार यहाँ (व्याकरण शास्त्र के इस प्रकरण में) भी कृत्रिम में कार्य का ज्ञान प्राप्त होता है, क्योंकि व्याकरण पढ़नेवाले को यह ज्ञान रहता है कि व्याकरण में बहु आदिकी ही संख्या संज्ञा की गई है [एकादि की नहीं।]

लोक में जैसा होता है वैसा ही (सदैव)व्याकरण में नहीं होता है। यहाँ तो दोनों प्रकार के अर्थों का ज्ञान होता है। [अतः कृत्रिम और अकृत्रिम = प्रसिद्ध दोनों प्रकार की संख्याओं का ज्ञान होता है।]

(उभयगत्युदाहरणभाष्यम्)

अन्यत्रापि नावश्यमिहैव। तद्यथा "कर्तुरीप्सिततमं कर्म" (१।४।४९) इति कृत्रिमा कर्मसंज्ञा। कर्मप्रदेशेषु चोभयगतिर्भवति--"कर्मणि द्वितीया" (२।३।२) इति कृत्रिमस्य ग्रहणम्, "कर्तरि कर्मव्यतिहारे" (१।३।१४) इत्यत्राकृत्रिमस्य ॥

(उभयगत्युदाहरणभाष्यम्)

तथा "साधकतमं करणम्" (१।४।४२) इति कृत्रिमा करणसंज्ञा। करणप्रदेशेषु चोभयगतिर्भवति—"कर्तृकरणयोस्तृतीया" (२।३।१८) इति कृत्रिमस्य

प्रदीपः

कर्मणि द्वितीयेति। ङ्याप्प्रातिपदिकादनभिहिते कर्मणि संख्यायां द्वितीया विधीयते। न च क्रियायाः संख्या सम्भवतीति सामर्थ्यात्कारकस्य ग्रहणम्। 'कर्तरि कर्मव्यतिहार' इत्यत्र तु धातोः साक्षात् क्रियायां वृत्त्या क्रियाया एव ग्रहणम् ॥

उद्द्योतः

कर्मणि संख्यायामिति। कर्मगतसङ्ख्यायामित्यर्थः ॥ नचेति। तस्या अद्रव्यत्वेन द्रव्यधर्मलिङ्गाद्ययोगादिति भावः ॥ यद्यपि रूपवादिसूत्रस्थ-भाष्यादेकत्वं क्रियायामस्ति। तथापि द्वित्वाद्यभाव इति तात्पर्यम् ॥ कारकस्य। शक्तिमद्द्रव्यम् ॥ साक्षात्क्रियायामित्यस्य क्रियायामेव न तु कर्मकारके इत्यर्थः। अन्यथा साक्षात्पदप्रयोजनं चिन्त्यं स्यात्। न हि धातोः परम्परयापि कारके वृत्तिरस्ति येन तद्व्यावृत्त्या चारितार्थ्यं स्यादित्याहुः ॥

भावबोधिनी

यहाँ ही दोनों प्रकार का ज्ञान नहीं होता है अपि तु अन्य स्थलों पर भी कृत्रिम-अकृत्रिम दोनों का ज्ञान किया जाता है। उदाहरणार्थ—"कर्तुरीप्सिततमं कर्म" (१।४।४९) कर्ता की क्रिया द्वारा ईप्सिततम पदार्थ की कर्म संज्ञा होती है।) इस सूत्र से कर्म यह कृत्रिम संज्ञा की जाती है। परन्तु जहाँ कर्म का ग्रहण = उल्लेख है उन प्रदेशों = सूत्रों में दोनों = कृत्रिम तथा अकृत्रिम सभी समझ लिये जाते हैं, जैसे 'कर्मणि द्वितीया' (२।३।२) इस सूत्र में कृत्रिम कर्म संज्ञा वाले का ही ग्रहण होता है और 'कर्तरि कर्म-व्यतिहारे' (१।३।१४) यहाँ अकृत्रिम कर्म अर्थात् काम = क्रिया यह अर्थ कर्म शब्द का समझा जाता है। [इसीलिये परस्पर कार्य = क्रिया के विनिमय में यह सूत्र आत्मनेपद करता है।]

इसी प्रकार 'साधकतमं करणम्' (१।४।४२) इस सूत्र से कृत्रिम करण संज्ञा है।

ग्रहणम्, "शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे" (३।१।१७) इत्यत्राकृत्रिमस्य ॥

(उभयगत्युदाहरणभाष्यम्)

तथा —"आधारोऽधिकरणम्" (१।४।४८) इति कृत्रिमा अधिकरणसंज्ञा ॥ अधिकरणप्रदेशेषु चोभयगतिर्भवति—"सप्तम्यधिकरणे च" (२।३।३६) इति कृत्रिमस्य ग्रहणम्, "विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि" (२।४।१३) इत्याभ्रा-कृत्रिमस्य ॥

(द्वितीयसमाधानभाष्यम्)

अथ वा —नेदं संज्ञाकरणम् । तद्वदतिदेशोऽयम्—बहुगणवतुडतयः संख्या-वद्भवन्तीति ॥

प्रदीपः

कण्वमेघेभ्यः करण इति । तव्यादिप्रत्ययोत्पत्त्यर्थं धातुसंज्ञा क्रियते । क्रिया-वाचिनश्च तव्यादयः साधने उत्पद्यन्त इति सामर्थ्यात् क्रियाग्रहणम् ॥

विप्रतिषिद्धमिति । द्वन्द्वावयवानां शक्त्यनभिधायित्वादधिकरणं द्रव्यं गृह्यते ॥

तद्वदतिदेशोऽयमिति । संख्याकार्यातिदेशोऽयमित्यर्थः । यदि हि संज्ञा स्यात् टिघु-भादि-संज्ञावदेकाक्षरा क्रियेत । तस्माल्लौकिकार्थाभिधायी संख्याशब्द उपादीय-मानोऽतिदेशार्थत्वमस्य बोधयति ।

उद्द्योतः

धातुसंज्ञा क्यङन्तस्य सनाद्यन्ता इत्यनेन ॥ साधने कारके तव्यादयोऽन्तः कारका-पेक्षितक्रियावाचिन एवोत्पद्यन्त इत्यन्वयः ॥

एवं सर्वसंज्ञाविषये समाधाय प्रकृतविषये समाधानान्तराण्याह —अथवेति ।

भावबोधिनी

किन्तु करण के प्रयोगस्थलों में दोनों को समझा जाता है, जैसे 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' (२।३।१८) इसमें कृत्रिम करण का ग्रहण है और 'शब्द-वैर-कलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे' (३।१।१७) इसमें 'करण' का अकृत्रिम अर्थ = करना का ग्रहण है ।

इसी प्रकार 'आधारोऽधिकरणम्' (२।३।३६) इससे कृत्रिम अधिकरण संज्ञा है । परन्तु अधिकरण स्थलों में दोनों प्रकार का ग्रहण होता है 'सप्तम्यधिकरणे च' (१।४।४९)इसमें कृत्रिम अधिकरण का ग्रहण है और 'विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि' (२।४।१३) इसमें अकृत्रिम = द्रव्य का ग्रहण होता है ।

अन्य समाधान

अथवा यह संख्या संज्ञा नहीं की जा रही है । यह तद्वत् अतिदेश है—बहु, गण, वत्वन्त और डत्यन्त संख्यावत् होते हैं,अर्थात् ये भी संख्या के समान समझने चाहिए ।

(आक्षेपभाष्यम्)

स तर्हि वतिनिर्देशः कर्तव्यः ?

(समाधानभाष्यम्)

न कर्तव्यः ॥

(आक्षेपसाधकभाष्यम्)

न ह्यन्तरेण वतिमतिदेशो गम्यते ॥

(आक्षेपबाधकभाष्यम्)

अन्तरेणापि वतिमतिदेशो गम्यते । तद्यथा—"एष ब्रह्मदत्तः" अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्त इत्याह—ते[1] मन्यामहे ब्रह्मदत्तवदयं भवतीति । एवमिहाप्यसंख्यां संख्येत्याह, संख्यावदिति गम्यते ॥

उद्द्योतः

ब्रह्मदत्त इत्युक्तिविषयस्याब्रह्मदत्तत्वं स्फोरयितुं ब्रह्मदत्तव्यक्तिं निर्दिशति—एष ब्रह्मदत्त इति ॥ असंख्यां संख्येत्याहेति । नियतविषयपरिच्छेदहेतुर्हि सङ्ख्या । एवं च बहुत्वादेरसङ्ख्यात्वमिति भावः ॥ बहुत्वं हि त्र्यादिसङ्ख्याव्यापकमखण्डोपाधिरूपम् ॥

भावबोधिनी

तो फिर वति=संख्यावत् यह निर्देश करना चाहिए ।

नहीं करना चाहिए ।

बिना 'वति' प्रत्यय के निर्देश के अतिदेश का ज्ञान नहीं किया जा सकता ।

वति-निर्देश के बिना भी अतिदेश की प्रतीति हो जाती है । जैसे —'यह ब्रह्मदत्त है ।' ब्रह्मदत्त से भिन्न को ब्रह्मदत्त कहता है—इस प्रकार के ज्ञानवाले हम लोग यह जान लेते हैं कि यह ब्रह्मदत्त के समान है । [इसमें 'वति' का प्रयोग न होने पर भी उसका अर्थ समझ लिया जाता है ।] ठीक इसी प्रकार प्रस्तुत स्थल में भी असंख्या= जो संख्या नहीं है, उसे 'संख्या' ऐसा कहा जाता है । इससे संख्यावत्=संख्या के समान—ऐसा प्रतीत हो जाता है ।

---

१. ते मन्यामहे इति । एतत्पदनिर्दिष्टमर्थमब्रह्मदत्तं प्रत्यक्षीकृत्याब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्त— इत्याहेति ज्ञानवन्तस्ते वयं मन्यामहे इत्यर्थः । अत्र वयमिति पदमध्याहार्यम् । ते = तादृशज्ञानवन्तः । तेन—इति पाठकल्पने तु सारल्यम् ।

(तृतीयं समाधानभाष्यम्)

अथवाऽऽचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—भवत्येकादिकायाः संख्यायाः संख्याप्रदेशेषु संप्रत्यय—इति। यदयं "संख्याया अतिशदन्तायाः कन्" (५।१।२२) इति तिशदन्तायाः प्रतिषेधं शास्ति॥

कथं कृत्वा ज्ञापकम् ?

न हि कृत्रिमा त्यन्ता शदन्ता वा संख्याऽस्ति॥

(समाधानबाधकभाष्यम्)

ननु चेयमस्ति डतिः ?

(समाधानसाधकभाष्यम्)

यत्तर्हि शदन्तायाः प्रतिषेधं शास्ति॥

(सम्पूर्णसूत्रज्ञापकताभ्युपगमभाष्यम्)

यच्चापि त्यन्तायाः प्रतिषेधं शास्ति॥

प्रदीपः

अथवेति। गुरुसंज्ञाकरणादेकादयः संख्याशब्देन प्रदेशेषु न त्यज्यन्त इति लिङ्गेनाप्यनुमीयत इत्यर्थः॥

उद्द्योतः

गुर्वीति। नन्वतिशदन्ताया इति लिङ्गात्कन्विधौ कृत्रिमा न गृह्येतेति चेन्न। शास्त्रबाधापेक्षया उभयग्रहणज्ञापकत्वस्यैवौचित्यादिति भावः॥

भावबोधिनी

अथवा आचार्य पाणिनि का व्यवहार यह ज्ञापित करता है कि—'संख्याग्रहण स्थलों पर एक आदि संख्या का ज्ञान हो जाता है' जो आचार्य "संख्याया अतिशदन्तायाः कन्' (५।१।२२) इस सूत्र से तिप्रत्ययान्त और शत्प्रत्ययान्त से भिन्न संख्या से कन् प्रत्यय का प्रतिषेध कहते हैं।

यह किस प्रकार से ज्ञापक बनता है ?

चूंकि कोई भी पूर्वोक्त कृत्रिम संख्यावाला शब्द न तो तिप्रत्ययान्त है और न शत्प्रत्ययान्त।

क्यों श्रीमन् ! यह 'डति' तो तिप्रत्ययान्त है ?

तो फिर जो शत्प्रत्ययान्त का प्रतिषेध करते हैं। [यही ज्ञापक बन जायगा।]

और जो तिप्रत्ययान्त का प्रतिषेध कहते हैं, वह भी [ज्ञापक] है।

(आक्षेपस्मारणभाष्यम्)

ननु चोक्तम्—"डत्यर्थमेतत् स्यात्" इति ॥

(समाधानभाष्यम्)

"अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य" इति अर्थवतस्तिशब्दस्य ग्रहणम् । न च डतेस्तिशब्दोऽर्थवान् ॥

प्रदीपः

अर्थवत इति । ननूभयसम्भव इयं परिभाषोपतिष्ठते । डत्यन्ता च कृत्रिमास्ति, डतेश्च तिशब्दोऽनर्थक एवेति तस्यैव निषेधः स्यादित्यज्ञापकस्त्यन्तायाः प्रतिषेधः ॥ नैष दोषः, 'अतिशदन्ताया' इत्युच्चारणकाल एवार्थवतस्तिशब्दस्य ग्रहणमिति प्रतीतिरिति ज्ञापकत्वमेव प्रतिषेधस्य ।

उद्द्योतः

नैष इति । अतिशदन्ताया इत्यस्य बहुव्रीहिगर्भतत्पुरुषत्वेन सङ्ख्याविशेषणतया विशिष्टबुद्धौ विशेषणज्ञानस्य कारणत्वाच्च तत्पदजन्योपस्थितिकालेऽर्थवदनर्थकयोः सम्भवेन पूर्वमर्थवत एव ग्रहणे निर्णीते पश्चात्सङ्ख्यापदार्थान्वयवेलायां जायमानानुपपत्तिज्ञानेन ज्ञापकत्वमेव कल्प्यत इति भावः । एतत्पक्षद्वये महासंज्ञाया अनुग्राहकत्वं वक्तुमयुक्तम्; तन्मूलकपक्षान्तरस्याग्रे वक्ष्यमाणत्वादित्यन्ये ॥

भावबोधिनी

क्यों श्रीमन् ! यह कहा जा चुका है कि वह 'डतिप्रत्ययान्त के लिये है ।'

"अर्थवान् के ग्रहण के प्रसङ्ग में अनर्थक का ग्रहण नहीं होता है' इसके द्वारा अर्थवान् 'ति' शब्द का ही ग्रहण होता है । और 'डति' का 'ति' अकेला अर्थवान् नहीं है । [अतः 'ति' से उसका ग्रहण नहीं होगा । तब 'ति' भी ज्ञापक बनता है ।]

विमर्श—'संख्याया अतिशदन्ताया कन्'' (५।१।२२) इस सूत्र से तिप्रत्ययान्त और शत्प्रत्ययान्त संख्या से भिन्न संख्यावाची से आर्हीय अर्थों में कन् प्रत्यय किया गया है । यहाँ 'अ-त्यन्त' 'अ-शदन्त' ये दोनों विशेषण हैं । ये जब सार्थक होंगे तभी हो सकते हैं । परन्तु 'बहुगणवतुडति संख्या' इस प्रस्तुत सूत्र से जिन-जिनकी संख्या संज्ञा कृत्रिम बनाई जा रही है उनमें कोई भी त्यन्त अथवा शदन्त नहीं है । यद्यपि 'डति' त्यन्त है किन्तु यह अकेला 'ति' अर्थवान् नहीं है अपितु 'डति' पूरा समुदाय । अतः इसके लिये 'ति' सार्थक नहीं माना जा सकता । ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि—'अतिशदन्त'=त्यन्तभिन्न और 'शदन्तभिन्न' विशेषण व्यर्थ हैं । ये ही ज्ञापक बनते हैं कि संख्याग्रहण में एकादि का भी ग्रहण होता है । अतः 'एकादिसंख्या' के अलग से ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

(चतुर्थं समाधानभाष्यम्)

अथवा महतीयं संज्ञा क्रियते। संज्ञा च नाम यतो न लघीयः॥

कुत एतत् ?

लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम्॥ तत्र महत्याः संज्ञायाः करण एतत्प्रयोजनम्—अन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेत—संख्यायते अनया—संख्येति। एकादिकया चापि संख्यायते॥

प्रदीपः

अथ वेति। ननु महत्याः संज्ञायाः करणात्तदर्थानुगतानामुपात्तानामेव संज्ञिनां भवतु संज्ञा, यथा सर्वादीनामेव सर्वनामसंज्ञा, न त्वधिकानाम्। तेन बहुगणशब्दयोः सङ्ख्यावैपुल्यवाचिनोः संज्ञा मा भूत्, एकादीनां तु कथं स्यात्॥ नैष दोषः, इहान्वर्थसंज्ञाकरणेन तावदनुरूपः संज्ञी सर्व आक्षिप्यते। तेनैकादीनां तावद् ग्रहणं भवति

उद्द्योतः

भाष्ये—संज्ञा च नामेति। नाम प्रसिद्धमेतद् यतोऽन्यल्लघीयो न भवति सा संज्ञेति। तदर्थानुगतानामिति। सङ्ख्यान-करणत्वसमानाधिकरणसङ्ख्याशब्दवदभिन्ना बह्वादय इत्यर्थादिति भावः। कथं स्यादिति। महासंज्ञाकरणस्य चरितार्थतया कृत्रिमत्वाथबाधे मानाभावादिति भावः॥ सर्व इति। नियतानियतसङ्ख्यावाचीत्यर्थः॥ आक्षिप्यत इति। सङ्ख्येति विभक्तसूत्रे इति शेषः। एवं च सङ्ख्यानकरणीभूताः सङ्ख्यासंज्ञका इत्यर्थः। संज्ञायाः संज्ञ्याकाङ्क्षतया तद्वाचकं पदमुपस्थितान्वर्थवाचकमेव कल्प्यत इत्ययमेवात्राक्षेप इति भावः॥ नियमार्थमिति। बहुगणेति द्वितीयसूत्रे सङ्ख्येति वर्तते। अनियतसङ्ख्यावाचिनां चेद्बह्वादीनामेवेति भावः॥ अतएवेति। अन्वर्थत्वाश्रयणादेवेत्यर्थः संज्ञा न भवतीति। प्राप्तेरेवाभावादिति

भावबोधिनी

(अनु०) अथवा 'संख्या' यह बड़े आकार वाली संज्ञा बनाई जा रही है। जब कि संज्ञा वही होती है जिससे छोटा आकार न हो सके अर्थात् अल्पाक्षरा टि-घु-भ आदि संज्ञा ही उचित होती है।

ऐसा क्यों है ?

चूंकि लघु = सरल संक्षिप्त रूप से व्यवहार करने के लिये ही संज्ञा (=नाम) बनायी जाती है। इस प्रसंग में बड़ी संज्ञा करने का यह प्रयोजन होता है—अन्वर्थ संज्ञा का जैसे ज्ञान हो सके, अर्थात् =व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ के अनुसार ज्ञान हो सके—संख्यायते अनया = जिसके द्वारा गिना जाय वह संख्या होती है। और एक, द्वि आदि शब्दों से भी गिना जाता है अतः वे भी 'संख्या' ही हैं।

(द्वितीयप्रयोजनप्रत्याख्यानभाष्यम्)

उत्तरार्थेन चापि नार्थः संख्याग्रहणेन । इदं प्रकृतमुत्तरत्रानुवर्तिष्यते ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

इदं वै संज्ञार्थम्, उत्तरत्र च संज्ञिविशेषणेनार्थः ।

प्रदीपः

पश्चाद्बहुगणवतुडतीति भूर्यादिनिवृत्त्यर्थं नियमार्थं व्याख्यायते । अत एव सङ्घवैपुल्यवृत्त्योर्बहुगणशब्दयोः संज्ञा न भवति । तद्वदतिदेशपक्षेऽपि परस्परसाहचर्यात् संख्यावाचिनोरेव भूर्यादिनिवृत्तये नियमायातिदेशः क्रियत इत्यतिप्रसङ्गो न भवति ॥

उद्द्योतः

भाव: ॥ सङ्ख्यावाचिनोरेवेति । बहुगणयोरित्यर्थः ॥ नियमायेति । नियमफलक इत्यर्थः ॥

परे तु—परस्परसाहचर्यात्सङ्ख्याव्यापकार्थवाचिनोरेव बहुगणयोर्ग्रहणं न तु सङ्घवैपुल्यवचनयोरिति व्यर्थान्वर्थसंज्ञा । तस्मात् प्रदेशेषु लोकप्रसिद्धकेवलयोगार्थस्यापि ग्रहणार्थं महती संज्ञेति भाष्याशयः । असङ्ख्यां सङ्ख्येत्याहेति भाष्येण बह्वादिषु सङ्ख्यापदयोगार्थभावबोधनाच्चेति योगविभागो व्यर्थः ॥ एकादिकया चापि सङ्ख्यायते इत्यस्य एकादिकया संख्यायते सापि सङ्ख्याप्रदेशेषु यथा गृह्येतेति महासंज्ञाकरणमित्यर्थः । चस्तु वाक्यालङ्कारे । उभावपि वा वाक्यालङ्कार एव । यद्वा बह्वादिकयापि सङ्ख्यायते स्वव्याप्यत्रित्वादिद्वारेत्यर्थः ॥ वत्वन्तडत्यन्तयोर्यावदादिशब्दकतिशब्दयोर्यद्यपि साक्षात्सङ्ख्यानकरणीभूतार्थप्रतिपादकत्वमुपपादयितुमशक्यम् । तथापि कतीत्यत्र सङ्ख्यानकरणीभूतार्थविषयप्रश्नार्थकत्वेन तत्त्वम् । एवं वत्वन्तेऽप्यूह्यमित्याहुः ॥

भाष्ये संज्ञार्थमिति । संज्ञा शब्दस्वरूपं तदर्थकमित्यर्थः । संज्ञिनिरूपितसङ्ख्या-

भावबोधिनी

[इससे भी सिद्ध है कि सूत्र में 'एकादि संख्या' का ग्रहण करना आवश्यक नहीं है ।]

उत्तरवर्ती सूत्र के लिये भी संख्या-ग्रहण अनावश्यक

[ष्णान्ता षट्' इस] अग्रिम सूत्र के लिये भी यहाँ संख्या-ग्रहण की आवश्यकता नहीं है । यहाँ जो 'संख्या' शब्द है उसी की आगे अनुवृत्ति हो जायगी ।

यहाँ सूत्र में तो 'संख्या' यह संज्ञाबोधक है । जबकि उत्तरवर्ती सूत्र में तो यह संज्ञोविशेषण का ज्ञान कराने के लिये अपेक्षित होगा । [षान्त और नान्त जो संख्यावाची उनकी 'संख्या' होती है—इसके लिये है ।] संज्ञा के लिये प्रयुक्त 'संख्या' शब्द संज्ञी का बोधक नहीं बन सकता ।]

न चान्यार्थं प्रकृतमन्यार्थं भवति ॥ न खल्वप्यन्यत्प्रकृतमनुवर्तनादन्यद्भवति । न हि गोधा सर्पन्ती सर्पणादहिर्भवति ॥

(आक्षेपप्रथमयुक्तिसमाधानभाष्यम्)

यत्तावदुच्यते—न चान्यार्थं प्रकृतमन्यार्थं भवतीति ॥

अन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थं भवति । तद्यथा-शाल्यर्थं कुल्याः प्रणीयन्ते,

प्रदीपः

संज्ञिविशेषणेनार्थं इति । ष्णान्तेत्यनेन विशिष्टं संज्ञिनं प्रतिपादयितुमुपयोग इत्यर्थः ॥ नचान्यार्थमिति । एकशब्दस्वदर्शन इति भावः ॥ भवतु तर्हि प्रतियोगं शब्दभेद इत्याह—न खल्वपीति । यथा गोधा देशान्तरगमनमात्रेण गोधात्वं न जहात्येवं शब्दोऽपि रूपान्तरं न गृह्णात्येवेत्यर्थः ॥

अन्यार्थमपीति । पदार्थानां शक्तिवैचित्र्यात् ॥

उद्द्योतः

शब्दनिष्ठशक्त्यवगमार्थं स्वरूपपरमिति भावः ॥ ननु ष्णान्तेत्यनेन सङ्ख्या विशेष्यत इति संज्ञिविशेषणं सङ्ख्याग्रहणमित्ययुक्तमत आह—ष्णान्तेति । भाष्ये संज्ञी=षट्संज्ञासंज्ञी विशेष्यते=स्वेतरव्यावृत्ततया प्रतिपाद्यते येनेत्यर्थः ॥ ननु स्वरितत्वबलेनानुमीयमानस्य शब्दान्तरत्वाच्छब्दभेदेनार्थभेदस्य सत्त्वेन न चान्यार्थमित्ययुक्तमत आह—एकेति । यस्य स्वरितत्वं प्रतिज्ञातं तदेवानुवर्तते न तु तज्जातीयं शब्दान्तरमिति भावः ॥ अर्थाधिकार एव चाभ्यर्हितः तदर्थस्य चायोग्यत्वादिहासंबन्ध इति भावः ॥ इत्याहेति । इत्याशङ्क्याहेत्यर्थः ॥ भाष्ये—न खल्वपीति प्रकृतमनुवर्तनाद्देशान्तरगमनादन्यद्भवतीति नखलु इत्यन्वयः ॥ यथेति । सर्पणस्योभयत्र तुल्यत्वेन प्रसक्तमहित्वं गोधाया वार्यत इति नार्थः, सर्पणस्याहिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वाभावात् किं तु देशान्तरगमनं नान्यत्वापादकमित्यर्थं इति भाव; ॥ रूपान्तरम्=अर्थभेदम् ॥

पदार्थानामिति । द्वन्द्वः ॥ शक्तिवैचित्र्याद् । अनेकशक्तित्वादित्यर्थः ॥ एवंच

भावबोधिनी

जिस कार्य के लिये जो प्रयुक्त है वह आगे उससे भिन्न कार्य के लिये नहीं माना जा सकता । कारण यह है कि प्रस्तुत रूप वाला अनुवृत्ति होने पर दूसरा नहीं हो सकता । [जो संज्ञावाचक यहाँ हैं वह अनुवृत्त होता हुआ भी संज्ञावाचक ही रहेगा, संज्ञिवाचक नहीं होगा ।] क्योंकि गोह प्राणी सरकने से साँप नहीं बन जाती । [अपितु गोह ही रहती है ।]

यह जो कहा जा रहा है—'अन्य प्रयोजन के लिये प्रयुक्त शब्द उससे भिन्न प्रयोजन के लिये नहीं होता है'—[ऐसा सर्वत्र नहीं देखा जाता है ।]

अन्य प्रयोजन के लिये प्रयुक्त वस्तु भी उससे भिन्न प्रयोजन के लिये हो जाती है । उदाहरणार्थ—धान [आदि की सिंचाई] के लिये [खेतों में] कुल्या = नहरें नालियाँ बनाई जाती हैं, किन्तु उनसे पानी पिया भी जाता है [हाथ-पैर

ताभ्यश्च पानीयं पीयते, उपस्पृश्यते च, शालयश्च भाव्यन्ते ॥

(आक्षेपद्वितीयसमाधानभाष्यम्)

यदप्युच्यते—न खल्वप्यन्यत् प्रकृतमनुवर्तनादन्यद्भवति । नहि गोधा सर्पन्ती सर्पणादहिर्भवतीति ॥

भवेद्—द्रव्येष्वेतदेवं स्यात् ।

शब्दस्तु खलु येन येन विशेषेणाभिसंबध्यते, तस्य तस्य विशेषको भवति ॥

(समाधानयुक्त्यन्तरभाष्यम्)

अथ वा–सापेक्षोऽयं ["ष्णान्ता" इति] निर्देशः क्रियते । न चान्यत्किंचिद-

प्रदीपः

शब्दस्त्विति । स्वरितत्वेन वाक्यान्तरे शब्दान्तरं वाक्यार्थानुग्राहिवस्तुप्रतिपादन-

उद्द्योतः

पूर्वत्र तथा शक्त्या स्वरूपपरस्यापि उत्तरत्रान्यथा शक्त्या योग्यतावशादर्थपरत्वे बाधकाभावः । शब्दाधिकारोऽत्र लक्ष्यानुरोधादाश्रीयत इति भावः ॥

[भाष्ये] भवेद् द्रव्येष्वेतदेवं स्यादिति । स्यादिति संभावनायां लिङ् । भवेदिति

भावबोधिनी

आदि का] उपस्पर्श = प्रक्षालन भी किया जाता है और धान भी [सींच कर] उत्पन्न किये जाते हैं ।

और यह भी जो कहा जाता है—अन्य कार्य के लिये प्रयुक्त शब्द अनुवृत्ति से उससे भिन्न नहीं हो जाता है—क्योंकि गोह सरकने मात्र से साँप नहीं बन जाती है ।'

यह बात द्रव्यों के विषय में तो ठीक है । परन्तु शब्द तो जिस जिस विशेष = परिच्छेद्य = विशेष्य के साथ सम्बद्ध होता है उस उस का विशेषक = = विशेषण बन जाता है ।

अथवा ['ष्णान्ता' इसी स्त्रीलिङ्ग द्वारा किया गया] यह निर्देश सापेक्ष है । और यहाँ पर कोई दूसरा अपेक्षणीय नहीं है । [अतः अनुवृत्ति के बिना भी हम] संख्या की ही अपेक्षा करेंगे । [ष्णान्ता = षान्ता नान्ता' यह स्त्रीलिङ्ग विशेषण

पेक्ष्यमस्ति । ते संख्यामेवापेक्षिष्यामहे ॥

(२०० आक्षेपवार्तिकम् ॥३॥)

॥ * ॥अध्यर्धग्रहणं च समासकन्विध्यर्थम् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

अध्यर्धग्रहणं च कर्तव्यम् ॥

किं प्रयोजनम् ?

समासकन्विध्यर्थम् । समासविध्यर्थम्, कन्विध्यर्थं च ॥ समासविध्यर्थं

प्रदीपः

योग्यमनुमीयते । सादृश्यात्तु तत्त्वाध्यवसाय इत्यर्थः ॥

सापेक्षोऽयमिति । स्त्रीलिङ्गेन निर्देशः कृतः । तत्र प्रकृतत्वादन्यपदार्थत्वेन संख्या स्वरितत्वेन विनाप्यपेक्ष्यत इत्यर्थः ॥

उद्द्योतः

प्रार्थनायाम् । द्रव्ये विषये पूर्वोक्तार्थकर्तृका संभाविता सत्ता भवत्वित्यर्थः ॥ शब्द-भेदनयेऽपि न क्षतिरित्याह—शब्दस्त्विति ॥ येन येन विशेषेणेति । विशेष्यत इति विशेषः = परिच्छेद्यम् ॥ विशेषकः = परिच्छेदकः । तत्परिच्छेदकार्थवानन्य एव शब्दो भवतीत्यर्थः ॥ तदुपपादयति —स्वरितत्वेनेति ॥

भावबोधिनी

प्रयुक्त है । इसे विशेष्य की अपेक्षा है । स्त्रीलिङ्ग होने के कारण पूर्वप्रयुक्त 'संख्या' को ही विशेष्य के रूप में अपेक्षा करना उचित है । अतः कोई दोष नहीं है ।]

(वा०) समास तथा कन् प्रत्यय करने के लिये [प्रस्तुत सूत्र में] अध्यर्ध शब्द का [भी ग्रहण करना चाहिये] ।

(भा०) और (सूत्र में) अध्यर्ध—शब्द का भी ग्रहण करना चाहिये ।

किस प्रयोजन के लिये ?

समास और कन् प्रत्यय करने के लिये । समास करने के लिये का उदाहरण

तावत्—अध्यर्धशूर्पम् ॥ कन्विध्यर्थम्—अध्यर्धकम् ॥

(२०१ आक्षेपप्रयोजनवार्तिकम् ॥४॥)

॥ * ॥ लुकि चाऽग्रहणम् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

लुकि चाध्यर्धग्रहणं न कर्तव्यं भवति—"अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम्"

प्रदीपः

अध्यर्धग्रहणं चेति । वार्तिके संख्याग्रहणं कर्तव्यत्वेन स्थितम् । तदपेक्षया समुच्चयार्थश्चशब्दः । विध्यर्थं चेदं ग्रहणम्, अध्यर्धशब्दस्य त्रिभागचतुर्भागादिशब्दवदसंख्यावाचित्वात् । अर्धशब्दश्चैकदेशवाची न संख्यावाची एकदेशादिशब्दवत् । तस्याधिकशब्देन समासे कृते यौगिकोर्थः प्रतीयते न संख्या ॥ अध्यर्धशूर्पमिति । अध्यर्धेन शूर्पेण क्रीतमिति 'दिक्संख्ये' इत्यनुवर्तमाने 'तद्धितार्थे'ति समासः । ततः 'शूर्पादञन्यतरस्यामिति' वा अञ्ठञो वा 'अध्यर्धपूर्वेति' लुक् ॥ अध्यर्धकमिति । संख्याया अतिशदन्तायाः कन्निति कन् ॥

उद्द्योतः

अध्यर्धस्यासंख्यावाचित्वमुक्तमुपपादयति—अर्धशब्दश्चेति ॥

भावबोधिनी

है—अध्यर्धशूर्पम् और कन् प्रत्यय के लिये उदाहरण है—अध्यर्धकम् ।

विमर्श—अध्यर्धेन शूर्पेण क्रीतम्—इस अर्थ में 'शूर्पादञन्यतरस्याम्' (५।१।२६) सूत्र से से तद्धित अञ् अथवा ठञ् प्रत्यय होता है । 'तद्धितार्थोत्तरपद-समाहारे च' (२।१।५१) इस सूत्र में 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' (२।१।५०) सूत्र से संख्या की अनुवृत्ति होने के कारण 'अध्यर्ध' और 'शूर्प' का समास होता है । तब 'अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम्' (५।१।२८) सूत्र से अञ् और ठञ् का लुक् होने पर 'अध्यर्धशूर्प'—रूप बनता है । यदि 'अध्यर्ध' की संख्या संज्ञा नहीं होगी तो समास भी नहीं होगा, प्रत्यय का लुक् भी नहीं होगा ।

अध्यर्धेन क्रीतम्—इस अर्थ में अध्यर्ध की संख्या संज्ञा हो जाने से 'संख्याया अतिशदन्तायाः कन्' (५।१।२२) से कन् प्रत्यय होने पर अध्यर्धकम् रूप बनता है ।

(वा०) और लुक् के लिये अध्यर्ध का ग्रहण नहीं करना पड़ेगा ।

(भा०) "अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम्" (५।१।२८) इस लुक्विधायक सूत्र में

इति । "द्विगोः" (५।१।२८) इत्येव सिद्धम् ॥

(२०२ आक्षेपवार्तिकम् ॥५॥)

॥ * ॥ अर्धपूर्वपदश्च पूरणप्रत्ययान्तः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

अर्धपूर्वपदश्च पूरणप्रत्ययान्तः संख्यासंज्ञो भवतीति वक्तव्यम् ॥

किं प्रयोजनम् ?

प्रदीपः

द्विगोरित्येव सिद्धमिति । समासकन्विद्धयर्थमिति संबन्धसामान्ये षष्ठी । तेन समासे विधीयमाने समासनिमित्ते चान्यस्मिन् कार्ये विधीयमान इत्यर्थः । तेन द्विगुनिमित्तो लुगपि लभ्यते ॥

अन्ये त्वाहुः—अध्यर्धशब्दः संख्यावाच्येव । तथाहि गण्यते–एकोऽध्यर्धः, द्वौ-अध्यर्धौ, अध्यर्धतृतीया इति । तन्मते नियमार्थमध्यर्धशब्दस्यैव संख्यात्वेन ग्रहणं यथा स्यात् सार्धादीनां मा भूदिति ॥ वाक्यभेदेन च द्वितीयो नियमस्तस्य च समासकन्विध्यर्थं संख्यात्वं न कार्यान्तरार्थमित्यर्थः ॥

उद्द्योतः

ननु समासकन्सिद्धये विधीयमाना संज्ञा कथं लुको निमित्तमत आह—समासेति । समासपदेन द्विगुसमास एव, तस्यैव सङ्ख्यानिमित्तकत्वात् । तन्निमित्तकमपि द्विगुनिमित्तकमेवेत्याह—तेन द्विग्विति ॥

भावबोधिनी

'अध्यर्धग्रहण नहीं करना पड़ता है क्योंकि "द्विगोर्लुगसंज्ञायाम् (५।१।२८) इसी सूत्र से लुक् सम्भव हो जाता है । [भाव यह है कि जब 'अध्यर्ध' शब्द को भी संख्या संज्ञा कर दी जायगी तब अध्यर्ध इस संख्यावाचक का समास भी द्विगु हो जायगा । फलतः "द्विगोर्लुगसंज्ञायाम्" (५।१।२८) इस सामान्य सूत्र से ही लुक् सम्भव हो जाने के कारण 'अध्यर्धपूर्व-द्विगोर्लुगसंज्ञायाम्' इसमें अध्यर्ध-ग्रहण की आवश्यकता नहीं रह जाती है ।]

(वा०) अर्ध—यह है पूर्वपद जिसका ऐसे पूरणार्थक-प्रत्ययान्त शब्द की [भी संख्या संज्ञा कहनी चाहिए ।]

(भा०) अर्ध जिसका पूर्वपद है ऐसे पूरणार्थक-प्रत्ययान्त (पूरणार्थक प्रत्यय है अन्त में जिसके ऐसे शब्द को संख्या संज्ञा होती है—ऐसा कहना चाहिए ।

इसका क्या प्रयोजन है ?

समासकन्विध्यर्थमेव। समासविध्यर्थं कन्विध्यर्थं च। समासविध्यर्थं तावत्—अर्धपञ्चमशूर्पम्॥ कन्विध्यर्थम्—अर्धपञ्चमकम्॥

(२०३ आक्षेपवार्तिकम् ॥६॥)

॥ * ॥ अधिकग्रहणं चालुकि समासोत्तरपदवृद्ध्यर्थम् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

अधिकग्रहणं चालुकि कर्तव्यम्॥

किं प्रयोजनम् ?

उद्द्योतः

भाष्ये अधिकग्रहणं चेति। लुग्भिन्नसङ्ख्याकार्यसिद्ध्यर्थमधिकग्रहणं सङ्ख्यासंज्ञायां कर्तव्यमित्यर्थः॥

भावबोधिनी

समास-कन् प्रत्यय का विधान करने के लिए। समास का विधान करने के लिये और कन् प्रत्यय का विधान करने के लिये। समास का विधान करने के लिये उदाहरण–अर्धपञ्चमशूर्पम्। [अर्धेन पञ्चमः—इस विग्रह में समास करने पर 'अर्धपञ्चमः' बनता है। 'अर्धपञ्चमेन शूर्पेण क्रीतम्' इस अर्थ में 'शूर्पादञन्यतरस्याम्' (५।१।२६) यह सूत्र विकल्प से अञ् और ठञ् प्रत्यय करता है। यहाँ 'पञ्च-म' यह शब्द पूरणार्थक डट्=अ प्रत्ययान्त है और अर्ध शब्द इसमें पूर्वपद के रूप में प्रयुक्त है अतः 'अर्धपञ्चम' शब्द की संख्या संज्ञा हो जाने के फलस्वरूप 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' (२।१।५१) इस सूत्र द्वारा 'शूर्प' शब्द के साथ उसका द्विगु समास हो जाने से 'अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम्' (५।१।२८) सूत्र से अञ् और ठञ् तद्धित प्रत्ययों का लुक् हो जाता है।] "संख्यायाः अतिशदन्तायाः कन्" (५।१।२२) से कन् प्रत्यय का विधान करने के लिये––अर्धपञ्चकम्।

['समासविध्यर्थम्' इसका आशय है द्विगुसमास करने के लिये तथा तन्निमित्तक अन्य कार्य=लुक् करने के लिए–अर्धपूर्वपदवाले तथा पूरणार्थक प्रत्यय अन्तवाले की संख्या संज्ञा करनी चाहिए।]

(वा०) (संख्या-संज्ञा-विधायक सूत्र में) 'अधिक' इस शब्द का भी ग्रहण करना चाहिए लुक् से भिन्न विषय में समास करने के लिये तथा उत्तरपद की वृद्धि के लिए।

(भा०) लुक् से भिन्न (संख्या कार्यों) के लिये 'अधिक' शब्द का ग्रहण करना चाहिए अर्थात् सूत्र में 'अधिक' शब्द का ग्रहण करके उसकी भी संख्या संज्ञा करनी चाहिए किन्तु लुक् विषय में नहीं।

क्या प्रयोजन है ?

समासोत्तरपदवृद्ध्यर्थम् । समासविध्यर्थमुत्तरपदवृद्ध्यर्थं च । समासविध्यर्थं तावत्—अधिकषाष्टिकः । अधिकसाप्ततिकः ॥ उत्तरपदवृद्ध्यर्थम्—अधिकषाष्टिकः । अधिकसाप्ततिकः ॥

अलुकीति किमर्थम् ?

अधिकषाष्टिकः । अधिकसाप्ततिकः ॥

प्रदीपः

अधिकषाष्टिक इति । अधिकया षष्ट्या क्रीत इति संख्याविशेषणमधिकशब्दो न संख्येति वचनम् । तद्धितार्थेति समासः । प्राग्वतेष्ठञ् । अलुकीति वचनाल्लुकि कर्तव्ये संख्यासंज्ञा नास्तीत्यध्यर्धपूर्वेति लुङ्न भवति । ततः संख्यायाः संवत्सरसंख्यस्य चेत्युत्तरपदवृद्धिः ॥ ननूत्तरपदवृद्ध्यर्थमिति वचनाल्लुङ् न भविष्यति, किमलुकीत्यनेन ॥ नैतदस्ति, अर्हत्यर्थात् परेष्वर्थेषु यः प्रत्ययस्तस्य लुगभावात्तत्रैवोत्तरपदवृद्धिः स्यात् ॥

उद्द्योतः

नन्विति । त्रिंणदादिषु तद्विधानादिति भावः ॥ परेष्वर्थेष्विति ॥ तमधीष्ट इत्यादिष्वित्यर्थः ॥

भावबोधिनी

समास-उत्तरपदवृद्धि के लिये । समास-विधान करने के लिये तथा उत्तरपद को वृद्धि के लिए । समासविधान के लिए, उदाहरण—अधिकषाष्टिकः । अधिकसाप्ततिकः । [अधिकया षष्ट्या क्रीतः, अधिकया सप्तत्या क्रीतः—इस अर्थ में 'प्राग्वतेष्ठञ्' इस सूत्र से आर्हीय ठञ् प्रत्यय होता है । 'अधिक' शब्द की संख्या संज्ञा होने के कारण ही 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' (२।१।५१) सूत्र से 'अधिक' शब्द का 'षष्टि' तथा 'सप्तति' के साथ समास होता है । 'संख्यायाः संवत्सर-संख्यस्य च' (७।३।१५) सूत्र से उत्तरपद की वृद्धि भी होती है । परन्तु 'अलुकि' ऐसा कहने के कारण 'अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम्' सूत्र से ठञ् का लुक् नहीं होता है ।]

उत्तरपदवृद्धि के लिये उदाहरण-अधिकषाष्टिकः । अधिकसाप्ततिकः । [इनकी व्युत्पत्ति ऊपर लिखी जा चुकी है ।]

अलुकि=लुक् के विषय में संख्या संज्ञा नहीं होती हैं—इस कथन का क्या प्रयोजन है ?

अधिकषाष्टिकः । अधिकसाप्ततिकः । [यहाँ ठञ् का लुक् 'अध्यर्धपूर्व०' सूत्र से नहीं होता है । यह भी ऊपर लिखा जा चुका है ।]

विमर्श—'अधिक' शब्द की संख्या संज्ञा करने के दो सकारात्मक और एक नकारात्मक फल है । इसकी संख्या संज्ञा होने से (१) समास होता है और (२) उत्तरपद की वृद्धि होती है । संख्या संज्ञा न होने से लुक् नहीं होता है । अन्य कुछ लाभ आगे लिखे जा रहे हैं—

(२०४ आक्षेपप्रयोजनवार्तिकम् ॥७॥)

॥ * ॥ बहुव्रीहौ चाग्रहणम् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

बहुव्रीहौ चाधिकशब्दस्य ग्रहणं न कर्तव्यं भवति—"संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये" (२।२।२५) इति । संख्येत्येव सिद्धम् ॥

(२०५ प्रत्याख्यानवार्तिकप्रथमखण्डम् ॥८॥)

॥ * ॥ बह्वादीनामग्रहणम् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

बह्वादीनां ग्रहणं शक्यमकर्तुम् ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

केनेदानीं संख्याप्रदेशेषु संख्यासम्प्रत्ययो भविष्यति ?

॥ * ॥ ज्ञापकात् सिद्धम् ॥ * ॥

भावबोधिनी

(वा०) बहुव्रीहि (—समास-विधायक) सूत्र में 'अधिक' शब्द का ग्रहण नहीं करना पड़ता है।

(भा०) 'संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसंख्या : संख्येये' (२।२।२५) इस सूत्र में 'अधिक' शब्द के ग्रहण की आवश्यकता नहीं रहती हैं क्योंकि 'संख्या' इसी से 'अधिक' का भी ग्रहण हो जाता है। ['अधिक संख्यावाची हो जाता है। इसी से बहुव्रीहि उपपन्न हो जाता है, अलग से 'अधिक' शब्द का ग्रहण नहीं करना पड़ता है। 'अधिका विंशतिर्येषां ते—अधिकविंशाः रूप बन जाता है।]

सूत्र का प्रत्याख्यान

(वा०) 'बहुगणवतुडति०' इन सभी का ग्रहण करने की अर्थात् प्रस्तुत सूत्र से इनकी संख्या संज्ञा करने की आवश्यकता नहीं है।

(भा०) बहु आदि का ग्रहण नहीं भी किया जा सकता है।

तब जहाँ संख्या ग्रहण है वहाँ अब इनका संख्या के रूप से ज्ञान कैसे होगा ?

(वा०) ज्ञापक बल से सिद्ध है।

(भाष्यम्)

ज्ञापकात् सिद्धमेतत् ॥

ज्ञापकं किम् ?

यदयं-"वतोरिड्वा" (५।१।२३)इति संख्याया विहितस्य कनो वत्वन्तादिटं शास्ति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

वतोरेव तज्ज्ञापकं स्यात् ॥

(समाधानभाष्यम्)

नेत्याह । योगापेक्षं ज्ञापकम् ॥ बहुगण० ॥ २२ ॥

प्रदीपः

ज्ञापकात्सिद्धमिति । एकादिवन्नियतसंख्यावाचित्वं बह्वादीनां नास्तीति ज्ञापकाश्रयः ॥ योगापेक्षमिति । अस्य योगस्य प्रत्याख्यानादेतद्योगापेक्षमिति न

उद्द्योतः

नियतसङ्ख्यावाचित्वमिति । नियतविषयपरिच्छेदहेतुत्वरूपसङ्ख्यावाचित्वमित्यर्थः॥ भाष्ये—यदयमिति । न च वैपुल्यादिवाचिनामपि संख्याकार्यापत्तिः; संख्यापदार्थ-

भावबोधिनी

(भा०) इनमें संख्यासम्बन्धी कार्य ज्ञापक के बल से सिद्ध हो जाता है।

(वह) ज्ञापक कौन सा है ?

जो कि आचार्य पाणिनि "वतोरिड् वा" (५।१।२३) सूत्र द्वारा संख्या संज्ञक से विहित (किये गये) कन् प्रत्यय को वत्वन्त से वैकल्पिक इट् का विधान करते हैं।

विमर्श—'वतोरिड् वा' यह सूत्र वतुप्रत्ययान्त से विहित कन् प्रत्यय को विकल्प से इट् आगम का विधान करता है। यदि वतु प्रत्ययान्त की संख्या संज्ञा ही नहीं होगी तो 'संख्याया अतिशदन्तायाः कन्' (५।१।२२) सूत्र से कन् प्रत्यय भी नहीं होगा तब वत्वन्त से विहित कन् को इट् आगम किया जाना व्यर्थ हो जायगा। यह वैयर्थ्य हो इस बात का ज्ञापक बन जाता है कि वत्वन्त की संख्या होती है।

(भा०) तब तो यह केवल वत्वन्त की ही संख्या संज्ञा का ज्ञापक बनेगा।

ऐसा नहीं है। यह सम्पूर्ण योग = सूत्र का ज्ञापक बनता है। [जिसमें 'वतु' पठित है ऐसे इस प्रस्तुत सम्पूर्ण सूत्र का ज्ञापक बनता है।]

विमर्श—भाव यह है कि 'तस्य पूरणे डट्' (५।२।४८) यह सूत्र संख्यावाचक से पूरण इस अर्थ में डट् प्रत्यय करता है। इस डट् प्रत्यय के परे रहते ही "षट्

प्रदीपः

बोद्धव्यम्, किंतु योगानपेक्षत इति योगापेक्षम्। यदयं "बहुपूगगण-सङ्घस्य तिथुक्", "वतोरिथुक्", "षट्कतीति" इटि परत आगमं शास्ति, तज्ज्ञापयति–भवति संख्या-कार्यमिति ॥२२॥

उद्द्योतः

संबन्धिबह्वादिग्रहणज्ञापनेन चरितार्थस्य सर्वथा तदसंबन्धिवैपुल्यादिवाचकग्रहणज्ञापने सामर्थ्याभावात्। पूगादिभ्यो डडर्थं बहुगणेति सूत्रे कृतेऽपि ज्ञापकावश्यकत्वमिति भावः॥ केचित्तु 'वतोरिड्वे' त्यनेन संख्याकरणत्वाभाववत्सामर्थ्यन्येषां प्रयोगेषु दृश्यमानसंख्याकार्याणां संख्याकार्यं ज्ञाप्यते। तेनाधिकादीनामपि सिद्धं तदाह—योगापेक्षमिति। प्रयोगापेक्षमित्यर्थः। एतेन पूगादिभ्यः शसादिप्रसङ्गोऽपि वारित इत्याहुः॥२२॥

भावबोधिनी

कति-कतिपय-चतुरां थुक्' (५।२।५१) सूत्र से 'कति' आदि से थुक् आगम का विधान किया गया है। 'बहुपूगगणसंघस्य तिथुक्' (५।२।५२) सूत्र द्वारा बहु आदि शब्दों को 'तिथुक्' आगम किया गया है। इसी प्रकार 'वतोरिथुक्' (५।२।५३) सूत्र से वत्वन्त से 'इथुक्' आगम किया गया है। अतः डट् करने के लिये इन सभी की संख्या संज्ञा करनी ही है। अतः अलग से यह सूत्र बनाने की आवश्यकता नहीं है[1] ॥ २२ ॥

---

१. एतच्च सूत्रं भाष्ये प्रत्याख्यातम्—'बहुपूगगणसंघस्य तिथुक्' 'वतोरिथुक्' 'षट्कतिकतिपयचतुरां थुक्' इति सूत्रैर्डटि परे आगमा विधीयमाना बहुप्रभृतीनां डटो निर्वाहक संख्यात्वं ज्ञापयन्तीति किमनेन सूत्रेण।

ननु बहुपूगगणसंघेत्यादौ विशेषाश्रवणात् संघवैपुल्यवाचिनोरपि बहुगणशब्दयोः संख्याकार्यं स्यादिति चेत्॥ न। अनियतसंख्यावाचिनोरप्येतयोः संख्याकार्यं भवतीत्येतावन्मात्रज्ञापनेन चरितार्थत्वे सति सर्वथा संख्याप्रतिपादयतोरपि संख्याकार्यकल्पनस्य गौरवपरास्तत्वात्। भूयादीनां त्वनियतसंख्यावाचिनां ग्रहणं न भवति, नियतसंख्यावाचिनां पञ्चादीनामेव लोके संख्याशब्दत्वेन प्रसिद्धतरत्वात्। प्रसिद्धाप्रसिद्धयोः प्रसिद्धग्रहणस्य न्याय्यत्वात्॥ नन्वेवमपि बहुगणयोरिव पूगसंघादीनामपि धाशस्कृत्वसुजादिसंख्याकार्यप्रसङ्गः। नच बहुगणयोः सामान्यापेक्षं ज्ञापकम्, पूगादीनां तु डड्विषयकमेवेति वाच्यम्। अनुपपत्तेः समानत्वेनैकसूत्रोपात्तत्वेन च वैषम्ये बीजाभावादिति चेत्। मैवम्। लक्ष्यानुरोधेन क्वचित्सामान्यापेक्षं ज्ञापकं क्वचिद्विशेषापेक्षमित्याश्रयणात्तदनुरोधेन वैषम्यस्य सोढव्यत्वादिति दिक्॥ इमां कुसृष्टिमसहमानेनैव सूत्रकृता सूत्रमिदं प्रणीतमिति परमार्थः॥ इति शब्दकौस्तुभः॥

(१३ षट्संज्ञासूत्रम् ॥ १।१।५ आ० १२ ॥)

ष्णान्ता षट् ॥ १।१।२३ ॥

(अनिष्टापत्तीष्टानुपपत्तिनिराकरणाधिकरणम्)

(२०७ आक्षेपवार्तिकम् ॥१॥)

॥*॥ षट्संज्ञायामुपदेशवचनं [शताद्यष्टनोर्नुम्नुडर्थम्] ॥*॥

(भाष्यम्)

षट्संज्ञायामुपदेशग्रहणं कर्तव्यम्। उपदेशे षकारनकारान्ता संख्या षट्-संज्ञा भवतीति वक्तव्यम्।

किं प्रयोजनम् ?

शताद्यष्टनोर्नुम्नुडर्थम्। शतानि सहस्राणि। नुमि कृते "ष्णान्ता षट्" (१।१।२३) इति षट्संज्ञा प्राप्नोति। उपदेशग्रहणान्न भवति ॥

प्रदीपः

ष्णान्ता ॥ २३ ॥ षट्संज्ञायामिति। प्रकृतिप्रत्ययादिविभागेन प्रतिपादनं गुणैः प्रापणमुपदेशः। तेन प्रकृतिप्रत्ययाद्युपदेशे या षकारनकारान्ता संख्या सा षट्संज्ञेत्यर्थः॥ नुम्नुडर्थमिति। अर्थशब्दः प्रयोजनवाची। तत्र नुमि शतानीत्यादौ षट्संज्ञानिवृत्तिः

उद्द्योतः

ष्णान्ता षट् ॥ २३ ॥ स्वरूपप्रतिपत्त्यर्थाद्योच्चारणस्यान्यत्रोपदेशत्वप्रसिद्धेरुप-देशग्रहणे पञ्चादिषु न स्यादत आह--प्रकृतीति। प्रकृतिप्रत्ययविभागेन प्रतिपादनरूपं यद् गुणैः प्रापणं तदुपदेशपदेनात्र गृह्यत इत्यर्थः॥ एतदभिप्रायेणैवोपदेशेजिति सूत्रे

भावबोधिनी

ष्णान्ता षट् १।१।२३

षकारान्त और नकारान्त संख्यावाची की षट् संज्ञा होती है ?

(वा०) 'षट् संज्ञाविधायक सूत्र में' 'उपदेश' का ग्रहण [करना चाहिये शतादि से नुम् और अष्टन् से नुट् करने के लिये]।

षट् संज्ञा विधायक इस सूत्र में 'उपदेशे' ऐसा कहना चाहिये--उपदेश अवस्था में जो नकारान्त तथा षकारान्त संख्यावाची वे षट्संज्ञक होते हैं--ऐसा कहना चाहिये।

इसके क्या प्रयोजन हैं ?

शतादि से नुम् और अष्टन् से नुट् करना प्रयोजन हैं। [यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि शतानि आदि में नुम् करने पर षट्संज्ञा की निवृत्ति = वारण तथा अष्टन् में नुट् करने पर षट्संज्ञा करना प्रयोजन हैं। शतानि, सहस्राणि। [शत + जस् =

अष्टानामित्यत्राऽऽत्वे कृते षट्संज्ञा न प्राप्नोति । उपदेशग्रहणाद्भवति ॥

(प्रत्याख्यानभाष्यम्)

॥ * ॥ उक्तं वा ॥ * ॥

किमुक्तम् ?

इह तावच्छतानि सहस्राणीति—'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य' इति ॥

प्रदीपः

प्रयोजनम्, नुटि तु विधीयमाने षट्संज्ञाप्रवृत्तिः प्रयोजनम् ॥ अष्टानामिति । परत्वान्नित्यत्वाच्चात्वे कृते नुटोऽप्राप्तिः । कार्यकालत्वात्संज्ञायाः प्रवृत्तेर्नास्त्यन्तरङ्गत्वम् ॥

उद्द्योतः

वक्ष्यति 'संकीर्णावुद्देशोपदेशा'विति ॥ प्रत्ययाद्युपदेश इति । आदिनाऽऽगमः । यथा सप्तन्नादौ सप्यशूभ्यां तुट्चेति । प्रकृत्यादिभिरुपदेशे प्रातिपदिकस्वरूपबोधने वा ष्णान्ता सङ्ख्या निष्पन्ना भवति सेत्यर्थः ॥ यद्यपि शतानीत्यादावपि नुमागमोपदेशेन नान्तसङ्ख्यानिष्पत्तिरस्ति । तथापि विभक्त्युत्पत्त्यवधिभूतप्रातिपदिकस्वरूपनिष्पादकानामेव तेषां ग्रहणम् । न तु विभक्तिनिमित्तकानामपि, बहिरङ्गत्वादिति भावः ॥ तत्रेति । नुम्नुटोरर्थः प्रयोजनं यस्येति बहुव्रीहिरिति भावः ॥ नन्वन्तरङ्गत्वात्पूर्वमेव षट्त्वं प्रवृत्तमात्वेऽपि बहिरङ्गतया आत्वस्यासिद्धत्वान्न निवर्त्स्यतीत्यत आह—कार्यकालेति ॥

भावबोधिनी

शि=इ, नुम् तथा दीर्घ के बाद शतान् इ में] 'ष्णान्ता षट्' सूत्र से षट्संज्ञा प्राप्त होती है [क्योंकि अब नकारान्त हो जाता है] किन्तु उपदेश के ग्रहण के कारण नहीं होता है । [क्योंकि शत और सहस्र आदि संख्यावाची हैं किन्तु उपदेशावस्था में नान्त नहीं हैं ।] अष्टानाम् [अष्टन् + आम् 'अष्टन आ विभक्तौ' (७।२।८४) सूत्र से 'न्' का आ कर देने पर आकारान्त 'अष्टा + आम्' ऐसा हो जाने से षट् संज्ञा नहीं प्राप्त होती है । किन्तु 'उपदेश में नान्त' ऐसा मान लेने से [षट् संज्ञा होकर "षट् चतुर्भ्यश्च' (७।१।५५) सूत्र से नुट् आगम सिद्ध होता है ।]

(वा०) [इनका समाधान] कहा जा चुका है ।

(भा०) [उक्त दोषों का समाधान पहले ही] कहा जा चुका है ।

क्या कहा जा चुका है ?

शतानि, सहस्राणि—इनमें [सन्निपात परिभाषा से दोष नहीं है—] "दो के सम्बन्ध से जो कार्य होता है वह हो जाने पर उन दोनों सम्बन्धियों के विघात का कारण नहीं बनता है ।"

अष्टनोऽप्युक्तम् ।

किमुक्तम् ?

०अष्टनो दीर्घग्रहणं षट्संज्ञाज्ञापकमाकारान्तस्य नुडर्थम्० इति ॥

प्रदीपः

अष्टनो दीर्घेति । तत्र हि दीर्घग्रहणमष्टस्विति सुप उदात्तत्वनिवृत्त्यर्थं क्रियते । यदि च कृतात्वस्य षट्संज्ञा न स्यात्तदाऽष्टस्विति परत्वात् षट्स्वरो झल्युपोत्तममिति

उद्द्योतः

सुप उदात्तत्वेति । अष्टन इति प्राप्नेत्यर्थः ॥ आद्युदात्तत्वेति क्वाचित्कोऽपपाठः । यद्वा—दीर्घग्रहणं षट्त्वे यथोद्देशपक्षाश्रयणस्यैव ज्ञापकम् । तद्द्वारैव च षट्संज्ञा-ज्ञापकत्वम् । तत्पक्षे आत्वस्य बहिरङ्गतयाऽसिद्धत्वेन नान्तत्वबुद्धया षट्त्वमस्त्येव । स्पष्टं चेदमष्टनो दीर्घादित्यत्र कैयटे । किं च यथोद्देशपक्षे षट्त्वं स्थानिवद्भावेनापि सुलभम्, नकारान्तसङ्ख्यावाचकत्वसमानाधिकरणधर्मविशेषरूपस्य षट्त्वस्य समुदाय-धर्मत्वेन तन्निमित्तकनुडादेरल्विधित्वाभावादिति बोध्यम् । न चात्वस्य नित्यत्वादष्ट-

भावबोधिनी

[भाव यह है कि शत+जश्=शि=इ में सर्वनामस्थान संज्ञक जश् और शस् को निमित्त मान कर "नपुंसकस्य झलचः" (७।१।७२) इस सूत्र से नुम्=न् का आगम होता है वही नुम् नकारान्त बना कर षट् संज्ञा करवा कर 'षड्भ्यो लुक्' (७।१।२२) सूत्र द्वारा जश् और शस् के लुक् में निमित्त नहीं बन सकता । अतः षट् संज्ञा नहीं होगी, जश् शस्=शि का लुक् नहीं होगा ।]

अष्टन् का भी [समाधान] कहा जा चुका है ।

क्या कहा जा चुका है ?

['अष्टनो दीर्घात्' (६।१।७२) इस सूत्र में] दीर्घ का ग्रहण नुट् करने के लिये आकारान्त अष्टन् की षट्संज्ञा का ज्ञापक है ।

विमर्श—अष्टन् शब्द में "ष्नः संख्यायाः" सूत्र से प्राप्त आद्युदातत्व का बाध करके 'घृतादीनां च' (फिट्सूत्र १।२१) सूत्र से अन्तोदात्त होता है । इस अष्टन् शब्द से भिस् आदि परे अष्टभिः और अष्टाभ्यः ये आत्व तथा अनात्व वाले दो रूप होते है । आत्व होने पर अन्तोदात्त और आत्व न होने पर मध्योदात्त रूप होना सिद्धान्त है । जैसे 'षड्भिः' आदि में 'षट्चतुर्भ्यो हलादिः'(६।१।१६९)सूत्र से विभक्ति का उदात्तत्व होता है वैसे ही 'अष्टसु' इसमें भी विभक्ति का उदात्तत्व प्राप्त होता है । परन्तु इसका बाध करके 'झल्युपोत्तमम्' (६।१।१८०) से उपोत्तम उदात्त स्वर प्राप्त होता है । इसी का बाध करने के लिये 'अष्टनो दीर्घात्' (६।१।१७२) यह सूत्र आरम्भ किया गया है—दीर्घान्त अष्टन् (=अष्टा) से परे असर्वनामस्थान विभक्ति उदात्त होती है—यह इस सूत्र का अर्थ है । यदि 'अष्टन आ विभक्तौ' (७।२।८४) से आत्व

प्रदीपः

भविष्यतीति किं दीर्घग्रहणेन। कृतं च तत् कृतात्वस्यापि षट्संज्ञां ज्ञापयति। ततश्चापवादत्वात् षट्स्वरोऽनेन बाध्यत इति दीर्घपक्ष इवादीर्घपक्षेऽपि विभक्तेः स्वरः स्यादिति कर्तव्यं दीर्घग्रहणम् ॥

उद्द्योतः

स्विति प्रयोग एवासङ्गत इति वाच्यम्। तद्वैकल्पिकत्वस्यापि ज्ञापनात् ॥ यावता विनानुपपन्नं तत्सर्वं ज्ञाप्यत इति सिद्धान्तात् ॥ परत्वादिति। अष्टन्स्वर आत्वपक्षे चरितार्थः। न च तत्वृत्युत्तरमष्टस्वित्यादौ अष्टन्स्वरः स्यादेवेति वाच्यम्। सकृद्गति न्यायाश्रयणात् ॥ अपवादत्वादिति। न च स्वरप्रवृत्तेः पूर्वमन्तरङ्गस्याप्येकादेशस्या-प्रवृत्तेर्यद्वितुपरमित्यादिसूत्रस्थभाष्यसम्मतत्वेनाष्टवित्यादावष्टान् स्वरश्चरितार्थं इति वाच्यम्। अष्टनो घृतादित्वादन्तोदात्तत्वेनैकादेश उदात्तेनेत्येव तत्रान्तोदात्तत्वसिद्धेः। घृतादावस्य पाठे चेदमेव भाष्यं मानम्। गौणे प्रियाष्टाभिरित्यादौ षट्स्वराष्टन्स्वरयोः प्रवृत्तिरस्त्येव। तेषामनभिधानाच्च। एतेन--कदष्टन् शब्दोऽव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरेणा-द्युदात्त इति कदष्टावित्यस्यैकादेशस्वरेणासिद्धेस्तत्राष्टन्स्वरः सावकाश--इति परास्तम्। तस्याप्यनभिधानात् ॥

भावबोधिनी

करने पर प्रस्तुत सूत्र षट्संज्ञा ही नहीं करेगा तो इस आत्व पक्ष में 'अष्टनो दीर्घात्' (६।१।१७२) यह सावकाश हो जाता है अतः आत्वाभाव पक्ष में 'झल्युपोत्तमम्' (६।१।१८०) सूत्र से इसका बाध हो जायगा तब दीर्घग्रहण का क्या फल ? परन्तु

---

१. तथाहि—'त्रः संख्यायाः' इत्याद्युदात्तत्वं बाधित्वा घृतादिपाठादन्तोदात्तोऽष्टन् शब्दः साधितः। तस्माद्भिसि अष्टभिरष्टाभिरिति रूपद्वयम्। तत्र आत्वाभावे मध्योदात्तम् आत्वपक्षे त्वन्तोदात्तमिति सिद्धान्तः। तत्र षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः' इति सूत्रेणाष्टस्वित्यत्र षड्भिरित्यादाविव विभक्तेरुदात्तत्वं प्राप्तम्। तद्बाधित्वा 'झल्युपोत्तमम्' इति प्राप्तम्। षट्त्रिचतुर्भ्यो या झलादिर्विभक्तिस्तदन्ते पदे उपोत्तममुदात्तं भवतीति तस्यार्थः। तद्बाधनाय अष्टनो दीर्घात् इत्यारभ्यते। दीर्घान्तादष्टनः पराऽसर्वनामस्थानविभक्तिरुदात्ता भवतीति सूत्रार्थः। तत्र यद्यात्वपक्षे षट्संज्ञा न स्यात्तर्हि तत्र सावकाशोऽष्टनः स्वरः परत्वादात्वाभावपक्षे 'झल्युपोत्तमम्' इति षट्स्वरेण बाधिष्यते इति किं दीर्घग्रहणेन। कृतात्वस्यापि षट्संज्ञायां सत्यां तु षट्स्वरस्याष्टनः स्वरोपवादः सम्पद्यते। न चाष्टनः स्वरः शसि सावकाश इति वाच्यम्। तत्र एकादेश उदात्तेनोदात्त इति सूत्रेण गतार्थत्वात्। अष्टन् शब्दोऽन्तोदात्त इति समनन्तरमेवोक्तत्वात्। तेन दीर्घपक्ष इव तदभावपक्षे विभक्तेरुदात्तता स्यादिति तद्व्यावृत्त्यर्थम् क्रियमाणं दीर्घग्रहणं सार्थकमेव। तस्माद्दीर्घग्रहणेनात्वपक्षेऽपि षट्संज्ञा ज्ञाप्यते इति स्थितम् ॥ शब्द कौस्तुभः ॥

(एकदेशिसमाधानभाष्यम्)

अथवाऽऽकारोऽप्यत्र निर्दिश्यते—षकारान्ता नकारान्ता आकारान्ता च संख्या षट्संज्ञा भवतीति ॥

(समाधानबाधकभाष्यम्)

इहापि तर्हि प्राप्नोति—"सधमादो द्युम्न एकास्ताः" एका इति ॥

(समाधानसाधकभाष्यम्)

नैष दोषः। एकशब्दोऽयं बह्वर्थः। अस्त्येव संख्यापदम्—तद्यथा-एको द्वौ बहव इति ॥

प्रदीपः

एकास्ता इति। संख्यावाचित्वाभ्युपगमवादी व्यत्ययेन बहुवचनं मन्यते। अन्य-वाचित्वाश्रयं तूत्तरम् ॥

उद्द्योतः

ननु सङ्ख्यावाचित्वे एका इति बहुवचनमनुपपन्नमन्यत्र तु षट्संज्ञायाः प्राप्तिरेव नेत्यत आह—सङ्ख्येति।

भावबोधिनी

जब आत्व आदेश किये गये भी अष्टन् की षट्संज्ञा मानी जाती है तब अष्टन् का स्वर षट्स्वर का अपवाद हो जाता है। षट्संज्ञा होने के कारण अष्टसु तथा अष्टासु दोनों में 'अष्टनः' यह सूत्र 'झल्युपोत्तमम्' का अपवाद होगा, बाध कर लेगा। अतः दोनों ही रूपों में अन्तोदात्त प्राप्त होगा। इसे रोकने के लिये दीर्घग्रहण आवश्यक है। फलतः 'अष्टासु' में ही केवल अन्तोदात्त होगा और 'अष्टसु' में 'झल्युपोत्तम' से मध्योदात्त ही होगा। इस प्रकार 'दीर्घ'—ग्रहण ज्ञापक ही है।

(अनु०) अथवा यहाँ 'ष्णान्ता' में आकार का भी (प्रश्लिष्टरूप में) निर्देश किया गया है—षकारान्त, नकारान्त और आकारान्त संख्यावाची की षट्संज्ञा होती है।

यदि ऐसा मानेंगे तो यहाँ भी षट्संज्ञा प्राप्त होती है—'सधमादो द्युम्न एकास्ताः' इसमें 'एका' में [क्योंकि एक से टाप्=आ करने पर आकारान्त हो जाता है। अतः षट्संज्ञा और विभक्तिलुक् प्राप्त है।]

यह दोष नहीं है। क्योंकि एक शब्द बहुत से अर्थों वाला है। (१) यह एक शब्द संख्यावाचक भी है, जैसे—एकः, द्वौ, बहवः। [यहाँ एक = एकत्वसंख्या] (२) यह असहाय=अकेला अर्थवाचक भी है,जैसे-एकाग्नयः(=अकेली आगवाली)

अस्त्यसहायवाची । तद्यथा—एकाग्नयः, एकहलानि, एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितमिति । असहायैरित्यर्थः ॥

अस्त्यन्यार्थे वर्तते । तद्यथा—'प्रजामेका रक्षत्यूर्जमेका' इति । अन्येत्यर्थः ॥ 'सधमादो द्युम्न एकास्ताः', अन्या इत्यर्थः ॥

तद् योऽन्यार्थे वर्तते तस्यैष प्रयोगः ॥

(समाधानबाधकभाष्यम्)

इह तर्हि प्राप्नोति—'द्वाभ्यामिष्टये विंशत्या च' इति ।

(सिद्धान्तिसमाधानान्तरभाष्यम्)

एवं तर्हि सप्तमे योगविभागः करिष्यते—"अष्टाभ्य औश्" (७।१।२१)

प्रदीपः

इह तर्हीति । द्वाभ्यामिति । षट्स्वरः स्यात् ॥

सप्तम इति । अष्टाभ्य इति कृतात्वानुकरणादौश्त्वविधानसामर्थ्याच्च लुङ् न विधीयते ॥

हलीति । ततश्चाष्टानामिति नुटि कृते आत्वं भवति । जश्शसोस्त्वष्टाभ्य इति

उद्द्योतः

षट्स्वर इति । षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिरित्यनेन ॥ न च षान्तनान्तसाहचर्यादाकारान्तो बहुवचनान्त एव गृह्यते इति नायं दोषः । साहचर्यस्य सर्वत्राव्यवस्थापकत्वमित्याशयात् ॥

भावबोधिनी

एकहलानि (=अकेले हलवाले) एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितम् (अकेले क्षुद्रक लोगों द्वारा जीता गया) इनमें एक=असहाय=अकेला अर्थ में है ।

(३) अन्य=दूसरा अर्थ में भी है, जैसे—'प्रजामेकारक्षत्यूर्जमेका' । (एक प्रजा की रक्षा करता है दूसरा अन्न बल आदि की) । अन्य=दूसरा यह अर्थ है । इसी प्रकार पूर्वोक्त 'सधमादो द्युम्न एकास्ताः' इसमें एका=अन्या यह अर्थ है । अतः यहाँ अन्य अर्थवाले 'एक' शब्द का प्रयोग है [न कि संख्यावाची का, अतः संख्या संज्ञा नहीं प्राप्त होती है ।]

तो फिर यहाँ प्राप्त होती है–'द्वाभ्यामिष्टये विंशत्या च' इसमें 'द्वाभ्याम्' आकारान्त में संख्या संज्ञा प्राप्त है । [फलतः 'षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः' (७।१।६९) सूत्र से विभक्ति का षट्स्वर प्रसक्त है ।]

यदि ऐसा है तो सप्तम अध्याय वाले सूत्र में योगविभाग करेंगे—'अष्टाभ्यः औश्' (७।१।२१) (अष्टन् से परे जश् शस् का औश् होता है ।) इसके बाद अगला

ततः "षड्भ्यः" (७।१।२२) षड्भ्यश्च यदुक्तमष्टाभ्योऽपि तद्भवति ॥ ततो "लुक्" लुक् च भवति षड्भ्य इति ॥

(समाधानान्तरभाष्यम्)

अथ वा—उपरिष्टाद् योगविभागः करिष्यते—"अष्टन आ विभक्तौ" (७।२।८४)

प्रदीपः

कृतात्वनिर्देशाज् ज्ञापकादात्वं भवति । कृतात्वस्य हि निर्देशस्य प्रयोजनम्, यत्रात्वं

उद्द्योतः

कृतात्वेति । ततश्च कृतात्वस्य कार्यकालपक्षेऽसत्यपि षट्त्वेऽतिदेशान्नुट्सिद्धिरित्यर्थः । औश्त्वेति । अत एव विभक्ते जश्शसोरनुवृत्तिर्न । तथा हि सति लुगेवातिदिश्येतेति तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । विपरीतं तु न, व्याख्यानात् ॥

ततश्चेति । न च सन्निपातपरिभाषयाऽऽत्वं न स्यात् । अष्टानामिति रूपं तु नुटि नोपधाया इति दीर्घे नलोपे च सिद्धमिति वाच्यम् । असिद्धस्यापि तद्विघातकविधेरनयाऽप्रवृत्तिबोधनेन नलोपस्याप्यनापत्तेः । अत एव 'पुग्घ्रस्वत्वस्यानिमित्तं स्यादवीदपदिति' भाष्ये क्नम्येजन्तसूत्रे उक्तम् । 'जानातेर्मित्त्वेन ज्ञापकेन ह्रस्वविषये तदप्रवृत्तिरिति च कैयटो वक्ष्यति । अन्यथा पुगपेक्षया ह्रस्वस्य बहिरङ्गासिद्धतयात्वस्या अप्राप्तौ भाष्याद्यसङ्गति स्पष्टैव । किं चातिदेशिकनिमित्तविघाताभावमादाय नास्या अप्रवृत्तिः । एवं हि लक्ष्मीत्यादौ सम्बुद्धिह्रस्वे कृते सम्बुद्धिलोपे कृतेऽपि प्रत्ययलक्षणेन निमित्तविघाताभावात्तत्रास्या अतिव्याप्तिपरतत्सूत्रस्थभाष्यविरोधः । किं च गव्यितेत्यादौ सन्निपातपरिभाषया लोपो नेति सिद्धान्तभङ्गः । यलोपस्य

भावबोधिनी

योगविभाग किया जायगा—'षड्भ्यः' (७।१।२२) इसका यह अर्थ होगा—षट्संज्ञक से जो कार्य कहे गये हैं वे अष्टन् शब्द के भी होंगे । [इस सूत्र के आधार पर 'अष्टानाम्' इसमें 'षट्चतुर्भ्यश्च' (७।१।५५) सूत्र से नुट् हो जायगा ।] इसके बाद "लुक्" यह सूत्र होगा, इसका अर्थ होगा—षट्संज्ञक से परे जश् और शस् का लुक् होता है । [इसके आधार पर 'अष्ट' इन रूपों में जस् शस् का लुक् भी हो जायगा । यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि 'षड्भ्यः' इसका उपर्युक्त अर्थ ही माना जाता है, विपरीत अर्थ—'अष्टन् से जो कार्य कहे गये हैं वे षट्संज्ञक से भी होंगे—ऐसा नहीं माना जा सकता ।]

अथवा वहीं सप्तम अध्याय में आगे चलकर यह योगविभाग करेंगे—'अष्टन आ विभक्तौ' (७।२।८४) इसके बाद यह योगविभाग किया जायेगा—'रायः' (७।२।८५) इसका यह अर्थ होगा—रै शब्द को विभक्ति परे रहने पर आत्व आदेश होता है । इसके बाद 'हलि' (७।२।८५) यह सूत्र रहेगा । यह पूर्वोक्त 'अष्टन आ विभक्तौ' और 'रायः' इन दोनों का शेष होगा । [इसका यह अर्थ होगा—'ये दोनों सूत्र हलादि विभक्ति परे रहने पर आत्व करते हैं । अब अष्टन् आम् इसमें पहले षट्संज्ञा होती है

ततो "रायः" (७।२।८५) रायश्च विभक्तावाकारादेशो भवति। "हलि" इत्युभयोः शेषः ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

यद्येवम्—प्रियाष्टौ प्रियाष्टा इति न सिध्यति, प्रियाष्टानौ प्रियाष्टान इति

प्रदीपः

तत्रौशत्वं यथा स्यादिति। यदि ह्येतत्कृतात्वनिर्देशस्य प्रयोजनं न स्याल्लाघवार्थं-मष्टन्य औशिति ब्रूयात् ॥

यद्येवमिति। हलादावुच्यमानमात्वमौजसोर्न प्राप्नोतीति यत्राष्टार्थस्य प्राधान्यं तत्रौश्त्वेन भवितव्यम्, तत्रैव चौश्त्वेनात्वमनुमीयत इति जस्यप्यात्वमत्र ज्ञापकान्न

उद्द्योतः

बहिर्भूतनृज्निमित्तकत्वेन बहिरङ्गतयाऽसिद्धत्वात्। वस्तुतस्तु षट्त्वसंनिपातनिमित्तको नुट्। न च तस्य संनिपातस्यात्वं विघातकम्, नापि नलोपः, स्थानिवद्भावेन तयोः कृतयोरपि षट्त्वसत्त्वाद्। अत्र पक्षे दीर्घग्रहणं, पुनः प्रसङ्गपक्षे अष्टभिरित्यत्र षट्स्वरे कृतेऽष्टन्स्वरव्यावृत्त्यर्थं सदात्वविकल्पज्ञापनार्थमिति बोध्यम् ॥ अतिदेशविषयेऽपि तत्प्रवृत्तौ तु सिद्धं न इष्टम्। अजाद्योर्जश्शसोस्तह्यात्वं न स्यादत आह—जश्शसोरिति ॥

भाष्ये—प्रियाष्टान इति प्राप्नोतीति। इत्येव प्राप्नोतीत्यर्थः। अन्यथाऽपकर्षा-भावेऽपि आत्वस्य वैकल्पिकतया तस्य दुर्वारत्वेन भाष्यासङ्गतेः। ननु जसि ज्ञापक-

भावबोधिनी

और 'षट्चतुर्भ्यश्च' (७।१।५५) सूत्र से नुट् आगम होता है—अष्टन्+न् आम् अब हलादि विभक्ति परे मानकर 'आत्व' होकर 'अष्टानाम्' रूप बन जाता है।

परन्तु जश् तथा शस् परे रहते तो 'अष्टाभ्य औश्' (७।१।२१) इसी सूत्र के आत्व निर्देश से आत्व माना जायगा। कारण यह है कि 'अष्टाभ्यः' इस आत्वनिर्देश का यही प्रयोजन है कि जहाँ-जहाँ आत्व हो वहीं-वहीं 'औश्' हो, अन्यथा 'अष्टभ्य औश्' ऐसा लघुभूत निर्देश ही आचार्य ने किया होता।]

यदि उपर्युक्त रीति मानेंगे तो—प्रियाष्टौ, प्रियाष्टा' ऐसे रूप सिद्ध नहीं होंगे, अपितु 'प्रियाष्टानौ, प्रियाष्टानः' ऐसे अनिष्ट रूप प्राप्त होंगे।

विमर्श—भाव यह है कि 'हलि' इस तृतीय योगविभाग के अनुसार हलादि विभक्ति परे ही अष्टन् का आत्व आदेश होगा। तब तो—प्रियाः अष्टौ ययोः, प्रिया अष्टौ येषाम्—इन विग्रहों में निष्पन्न—प्रियाष्टन्+औ, प्रियाष्टन्+जस् में हलादि परे न मिलने से आत्व नहीं हो सकेगा और नान्त उपधा का "सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ" (६।४।८) सूत्र से दीर्घ होकर राजन् शब्द के रूपों राजानौ राजानः आदि के समान प्रियाष्टानौ, प्रियाष्टानः आदि ही रूप होने लगेंगे। प्रियाष्टौ, प्रियाष्टाः आदि आत्व वाले रूप नहीं होंगे।]

प्राप्नोति ॥

(समाधानसिद्धान्तिभाष्यम्)

यथालक्षणमप्रयुक्ते ॥ ष्णान्ता षट् ॥२३॥

प्रदीपः

प्राप्नोति ॥ विभक्तिमात्रे त्वात्वं विधीयमानमौजसोः सिध्यति । अष्टन आ विभक्ता-वित्यत्र पदाङ्गाधिकारे तस्य तदुत्तरपदस्य चेति तदन्तविधिसद्भावाद्बहुवचननिर्देशा-भावाद् गुणभूतेऽप्यष्टार्थं आत्वेन भाव्यमित्यत्रापि सिध्यतीति प्रश्नः ॥

यथालक्षणमिति । यस्य विशिष्टः प्रयोगो न स्मर्यते नापि प्रयोगनिषेधस्मृतिः तद्यथालक्षणमनुगन्तव्यम् तदत्र मा भूदौत्वमित्यर्थः ॥ नैव वा लक्षणमप्रयुक्ते प्रवर्तते

उद्द्योतः

सिद्धात्वप्राप्तेरौशश्च प्राप्तेराह — यत्रेति । बहुवचननिर्देशादिति भावः ॥ षड्भ्य इत्येतत्साहचर्यादस्य प्राधान्ये एव प्रवृत्तिरिति भावः ॥ तस्य च यथा प्रकारान्तरेण गौणेऽप्रवृत्तिस्तथा सर्वादिसूत्रे उपपादयिष्यते । शुद्धलक्षणैकचक्षुष्कस्यात्र पूर्वपक्षित्व-मिति तात्पर्यम् ॥ औश्त्वेनेति । औशेत्यर्थः । त्व-प्रत्ययप्रयोगस्तु अनुकरणात् अनुकार्य-रूपे भावे इति बोध्यम् । आत्वे-इत्यादिभाष्यप्रयोगात् । औश्त्वेनेति । तद्विधायक-सूत्रस्थात्वनिर्देशेनेत्यर्थः ॥ अत्र । गौणे ॥ ज्ञापकादिति । अस्य प्राप्तियोग्यमपीति शेषः । क्वचित्तु ज्ञापकादिति न दृश्यते ॥ नन्वनपकर्षपक्षेऽपि अष्टनो विहितमात्वं कथं तदन्ते स्यादत आह—पदाङ्गेति ॥ बहुवचननिर्देशाभावादिति । साहचर्यभावादित्यपि बोध्यम् ॥

लक्षणैकचक्षुष्कस्यैवोत्तरमिति मत्वा व्याचष्टे—तदत्र मा भूदात्वमिति । पक्षान्तरेऽपि अनभिधानादात्वाभाव एव बोध्यः ॥ यत्तु भवत्येवात्रात्वमित्यर्थं इति । तन्न ।

भावबोधिनी

[एक बात और ध्यान रखनी होगी कि जहाँ अष्टन् के अर्थ की प्रधानता होगी वहीं पर आत्व होगा—यह अनुमान 'अष्टाभ्य औश्' (७।१।२१) सूत्र से विहित जश् शस् के स्थान पर औश् द्वारा कराया जायगा क्योंकि 'अष्टाभ्यः' ऐसा बहुवचन निर्देश इसी लिये किया गया है । परन्तु प्रियाष्टन् में अष्टन् का अर्थ गौण है अन्य पदार्थ प्रधान है । इस कारण ज्ञापक के बल से भी जस् में आत्व करना सम्भव नहीं है ।]

'अष्टन आ विभक्तौ' (७।२।८४) इस सूत्र में एकवचन से निर्देश होने के कारण गौण अर्थवाले अष्टन् के प्रयोग में भी आत्व प्राप्त होता है । 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य च' इस परिभाषा के अनुसार अष्टन् शब्दान्त — प्रियाष्टन् में भी "अष्टन आ विभक्तौ' यह सूत्र अङ्गाधिकारीय होने से प्राप्त ही है । परन्तु तृतीय 'हलि' योगविभाग के कारण हलादि विभक्ति परे रहने के कारण औ, जस् परे रहते— प्रियाष्टौ, प्रियाष्टाः—इनमें नहीं प्राप्त हो सकता । अतः योग विभाग ठीक नहीं है ।]

(भा०) अप्रयुक्त शब्द रूपों में यथालक्षण [कार्य करना चाहिए ।] अर्थात् जिन शब्द रूपों का प्रचलन नहीं है उनके रूपों की कल्पना करते समय सूत्रों का

प्रदीपः

प्रयुक्तानामेव लक्षणेनान्वाख्यानात् ॥२३॥

उद्द्योतः

अपकर्षपक्षे आत्वसाधकोपायाभावेन फलभेदापत्तेः ॥ नन्वयं भाष्यार्थो न युक्तः । तथा हि सतीष्यत एवैतदित्येव ब्रूयात् । किं चाप्रयुक्ते इति वाक्यशेषोऽसङ्गतः, प्रयुक्तेऽपि लक्षणानतिक्रमसत्त्वात् । प्रयुक्तानां हीदमन्वाख्यानमिति भाष्योक्तेश्चेत्यरुचेराह— नैव वेति । लक्षणस्याभावोऽलक्षणं तस्य योग्यता यथालक्षणमित्यव्ययीभावः । अप्रयुक्ते लक्षणाभावस्यैव योग्यता न तु लक्षणस्येत्यर्थः । एवं च तादृशप्रयोगोऽसाधुरिति भावः ॥ किं च भाष्यकारस्य लक्ष्यैकचक्षुष्कतया इयमेव व्याख्या ज्यायसी । एवं च हरदत्तादीनां प्रियाष्टन्शब्दादिषु आत्वादिप्रवृत्तिविचारोऽन्यश्च तत्प्रयोगविचारः प्रामादिक एवेत्यवधेयम् ॥

एतेन पूर्वव्याख्यानेऽस्य साधुत्वमुत्तरव्याख्यानेऽसाधुत्वमिति विरुद्धार्थकव्याख्यानद्वयमयुक्तं,किं च अष्टाभ्य इति निर्देशात्कृताकारादेवाष्टनो जश्शसोरौशिति तद्विषयेऽप्यात्वम् । अन्यथाऽष्टन इत्येव ब्रूयादिति साप्तमिकभाष्ये एकवचननिर्देशात् प्रधान एवौशात्वे इति प्रश्नाशयोऽपि चिन्त्य इत्यपास्तम् ॥ गौणे प्रियाष्टादीनामनभिधानमित्यत्रसिद्धान्तानुसारेण तद्भाष्यस्य सत्त्वात् । अरुच्यैव व्याख्यानान्तरप्रवृत्तेश्च॥ २३ ॥

भावबोधिनी

निर्देश पूर्णतया मानना चाहिए । अतः यदि आत्व नहीं देखा जाता है तो आत्व मत करिये—प्रियाष्टानौ, प्रियाष्टान इन्हीं को शुद्ध मानिये ।

विमर्श—'यथालक्षणम् अप्रयुक्ते' यह व्यवस्था देने वाला भाष्यकारीय वाक्य सन्दिग्ध शब्दरूपों के विषय में अति प्रसिद्ध है । लक्षणम् = व्याकरणशास्त्रम् अनतिक्रम्य इति यथालक्षणम् । शिष्टजनों द्वारा जिन शब्द रूपों का प्रयोग किया जाता है उन्हीं के लिये व्याकरणशास्त्र नियम बनाता है । जिसका कोई विशिष्ट रूप प्रयुक्त नहीं है और न उसका कोई निषेध ही किया गया है तो उसके सम्बन्ध में शास्त्रीय रीति का ही अनुकरण करना चाहिए । लक्षण के विपरीत शब्दरूप नहीं मानना चाहिए । अथवा जो अप्रयुक्त है उनकी मनमानी रीति से कल्पना करके प्रयोग नहीं करना चाहिए । चूंकि प्रिया अष्टौ यस्य सः इस अर्थ में प्रियाष्टौ प्रियाष्टा ये नहीं बन सकते, प्रियाष्टानौ प्रियाष्टानः ये बन रहे हैं । अतः इस अनावश्यक विचार का कोई औचित्य नहीं है इस वचन का स्पष्ट आशय प्रदीप तथा उद्द्योत में देखना चाहिए ॥२३॥

(२२ षट्संज्ञासूत्रम् ॥ १।१।५ आ. १३ ॥)

डति च ॥ १।१।२४ ॥

(प्रत्याख्यानभाष्यम्)

इदं डतिग्रहणं द्विः क्रियते—संख्यासंज्ञायां, षट्संज्ञायां च। एकं शक्यमकर्तुम् ।

कथम् ?

यदि तावत् संख्यासंज्ञायां क्रियते, षट्संज्ञायां न करिष्यते ॥

[कथम् ?]

"ष्णान्ता षट्" इत्यत्र डतीत्यनुवर्तिष्यते ॥

अथ षट्संज्ञायां क्रियते संख्यासंज्ञायां न करिष्यते ॥

प्रदीपः

डति च ॥२४॥ यदि तावदिति । तत्र वतुसाहचर्यात्तद्धित एव डतिर्गृह्यते, न तु पातेर्डतिः कृत् ॥

अथेति । तत्र संख्यासंज्ञाया अनुवर्तनादन्वर्थत्वाच्च तस्याः संख्याप्रश्नविषय एव डतिर्गृह्यते, न त्यौणादिकः ॥२४॥

उद्द्योतः

डति च ॥ २४ ॥ भाष्ये यदि तावदिति । ष्णान्ता च षडिति सूत्रं पाठ्यं, तत्र चकाराद् यत्नात् स्वरितलिङ्गासंज्ञादनुवर्तमानं डतिग्रहणं संमंस्यत इति भावः ॥ नतु पातेरिति । एवं चार्थाधिकारादिहापि तद्धितस्यैव ग्रहणमिति भावः ॥ सङ्ख्येति महासंज्ञासामर्थ्यात्तत्र सङ्ख्याप्रश्नविषयडतेरेव ग्रहणमित्यपि बोध्यम् ॥

भावबोधिनी

डति च १।१।२४॥

[डति-प्रत्ययान्त जो संख्यावाची है उसकी षट् संज्ञा होती है ।]

यह 'डति' दो बार गृहीत=पठित है—संख्या संज्ञा (के विधायक 'बहुगणवतुडति संख्या' इस सूत्र) में और षट्संज्ञा (के विधायक प्रस्तुत सूत्र) में । इन दोनों में से किसी एक को हटाया जा सकता है अर्थात् एक के पाठ से ही काम चल सकता है।

[एक बार पाठ से] कैसे [कार्य निर्वाह होगा] ?

यदि पहले संख्या संज्ञा सूत्र में ग्रहण किया जाता है तो यहाँ षट् संज्ञा में नहीं किया जायगा ।

कैसे [नहीं ग्रहण किया जायगा] ?

"ष्णान्ता षट्" (१।१।२३) इसी सूत्र में (पूर्ववर्ती सूत्र से) 'डति' इसको अनुवृत्ति कर ली जायगी ।

और यदि इसी षट्संज्ञा सूत्र में 'डति' को रखा जाता है तो 'बहुगणवतुडति' इस संख्या संज्ञा सूत्र में नहीं रखा जायगा ।

कथम् ?

"डति च" इत्यत्र संख्यासंज्ञाऽप्यनुवर्तिष्यते ॥ डति च ॥२४॥

(२३ निष्ठासंज्ञासूत्रम् ॥१।१।५ आ. १४ ॥)

क्तक्तवतू निष्ठा ॥ १।१।२५ ॥

प्रदीपः

क्तक्तवतू ॥२५॥ इहानुबन्धाः कार्यार्थमुपादीयन्ते । प्रयोगश्चैषां लुप्तत्वान्नास्ति । यत्र सारूप्यं तत्र च सन्देहः—कथमस्यानुबन्धकार्यं कृतमस्य तु न कृतमिति पूर्वपक्षाभिप्रायः ॥ सिद्धान्तवादी तु मन्यते—अध्रुवेणानुबन्धेन नियतसन्निधाना अर्थाः कारककालादयो लक्ष्यन्ते, तद्दर्शनादनुबन्धस्मृती च तल्लक्षितानां कार्याणां साधुत्वं विज्ञायते । तत्र यदा देवदत्तेन लूनः शालिरिति कश्चित्प्रयुङ्क्ते तदा लक्षणज्ञः कर्मभूतकालावगमात् क्तप्रत्ययं मन्यते । यदा तु लोतमालभेतेति प्रयोगस्तदा मेषवाची लोतशब्दस्तन्प्रत्ययान्तः प्रयुक्त इति मन्यते ॥

उद्द्योतः

भाष्ये डति चेत्यत्रेति । चकारात्षट्संज्ञानन्तरं करणाच्चानेन संज्ञाद्वयस्यापि विधानमित्यर्थः ॥ अन्वर्थत्वाच्चेति । सङ्ख्यायतेऽनयेति हि सः । न च तस्यार्थस्य डत्यन्ते संभवः । सङ्ख्याप्रश्नविषयत्वं तु न तदर्थं इति चिन्त्यमेतत् । तस्मादुणादीनामव्युत्पन्नत्वान्न तत्र डतिरिति तस्याग्रहणमित्युचितम् । व्युत्पत्तावपि पातेः कतिनापि सिध्यतीति न तत्र डतिनियम इति बोध्यम् ॥ सङ्ख्याप्रश्नेति । संनियोगशिष्टन्यायाच्च षट्संज्ञापि तस्यैवेति भावः ॥२४॥

क्तक्तवतू ॥ २५ ॥ अनुबन्धानां नित्यलुप्ततया विशेषणत्वासंभवादुपलक्षणत्वे च तशब्दमात्रस्योपलक्ष्यत्वं मन्यमानो वार्तिकमारभत इत्याह—इहेति । सारूप्यं प्रयोगे इति शेषः ॥ मन्यत इति । निश्चिनोतीत्यर्थः ॥ नियतं संनिधानं येषामिति विग्रहः ॥ कारकेति । न तशब्दमात्रं लक्ष्यम्, किं त्वर्थविशेषाद्यवच्छिन्नमिति भावः ॥ तद्दर्शनादिति । कालादिज्ञानादित्यर्थः ॥ तन्प्रत्ययान्त इति । ककारानुपलक्षितः प्रयुक्त इति निश्चिनोतीत्यर्थः ॥

भावबोधिनी

यह कैसे होगा ?

'डति च' इसमें संख्या संज्ञा की भी अनुवृत्ति कर ली जायगी ।

[भाव यह है 'डति च' इसी सूत्र से डति-प्रत्ययान्त की संख्या संज्ञा कर ली जायगी और साथ ही डत्यन्त संख्या की षट् संज्ञा भी कर ली जायगी । 'सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः' इस न्याय से संख्यासंज्ञक ही षट्संज्ञक होगा अतः एक 'डति' हटाया जा सकता है] ॥२४॥

क्तक्तवतू निष्ठा १।१।२५॥

[क्त तथा क्तवतु इन दोनों (कृत्) प्रत्ययों की निष्ठा संज्ञा होती है ।]

(अनिष्टापत्तिनिराकरणाधिकरणम्)

(२०७ आक्षेपवार्तिकम् ॥ १ ॥)

॥ * ॥ निष्ठासंज्ञायां समानशब्दप्रतिषेधः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

निष्ठासंज्ञायां समानशब्दानां प्रतिषेधो वक्तव्यः । लोतः, गर्तः इति ॥

(२०८ आक्षेपबाधकवार्तिकम् ॥ २ ॥)

॥ * ॥ निष्ठासंज्ञायां समानशब्दाप्रतिषेधः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

निष्ठासंज्ञायां समानशब्दानामप्रतिषेधः । अनर्थकः प्रतिषेधः = अप्रतिषेधः ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

निष्ठासंज्ञा कस्मान्न भवति ?

(२०९ आक्षेपबाधकहेतुवार्तिकम् ॥ ३ ॥)

॥ * ॥ अनुबन्धोऽन्यत्वकरः ॥ * ॥

(भाष्यम्)

अनुबन्धः क्रियते सोऽन्यत्वं करिष्यति ॥

(२१० आक्षेपबाधकहेतुनिराकरणवार्तिकम् ॥ ४ ॥)

॥ * ॥ अनुबन्धोऽन्यत्वकर इति चेन्न लोपात् ॥ * ॥

भावबोधिनी

(वा०) निष्ठा संज्ञा के विषय में क्त और क्तवतु के समान रूपवाले अन्य शब्दों का प्रतिषेध करना चाहिए ।

(भा०) निष्ठासंज्ञा में समान रूपवाले शब्दों का प्रतिषेध कहना चाहिए । जैसे—लोतः । गर्तः । [लूञ् तथा गॄ इन धातुओं से औणादिक तन् प्रत्यय होने पर उक्त रूप बनते हैं । 'क्त' में भी 'त' रूप शेष रहता है और तन् में भी त । समान रूप होने से इसकी भी निष्ठा संज्ञा होने पर निष्ठा-सम्बन्धी नत्वादि कार्य होने लगेंगे ।]

(वा०) निष्ठा संज्ञा में समान शब्द रूप वाले का अप्रतिषेध है ।

(भा०) निष्ठा संज्ञा में क्त = त के समान दूसरे 'त' का अप्रतिषेध है । अनर्थक प्रतिषेध = अप्रतिषेध है । अर्थात् इस प्रकार के प्रतिषेध का कोई फल नहीं है ।

[तो फिर उक्त प्रत्ययों की भी] निष्ठा संज्ञा क्यों नहीं होती है ?

(वा०) इनमें लगा हुआ ककार अनुबन्ध भेद करने वाला है ।

(भा०) क्त, क्तवतु इनमें ककार अनुबन्ध के रूप में प्रयुक्त है यही दोनों में भेद कर देगा अर्थात् ककार अनुबन्ध वाले 'त' की ही निष्ठा संज्ञा होती है अन्य अनुबन्ध वाले की नहीं ।

(वा०) ककार अनुबन्ध भेद करने वाला है—यदि यह कहो तो नहीं कह सकते क्योंकि लोप हो जाता है ।

(भाष्यम्)

अनुबन्धोऽन्यत्वकर इति चेत् ।

तन्न ॥

किं कारणम् ?

लोपात्* । लुप्यतेऽत्रानुबन्धः । लुप्ते चानुबन्धे नान्यत्वं भवति । तद्यथा–कतरद्देवदत्तस्य गृहम् ? 'अदो यत्रासौ काकः' इति । उत्पतिते काके नष्टं तद्गृहं भवति । एवमिहापि लुप्तेऽनुबन्धे नष्टः प्रत्ययो भवति ॥

(आक्षेपबाधकसाधकभाष्यम्)

यद्यपि लुप्यते, जानाति त्वसौ—सानुबन्धकस्येयं संज्ञा कृतेति । तद्यथा—इतरत्रापि-कतरद् देवदत्तस्य गृहम् ? 'अदो यत्रासौ काकः' इति । उत्पतिते काके यद्यपि नष्टं तद्गृहं भवति अन्ततस्तमुद्देशं जानातीति ॥

उद्द्योतः

भाष्ये नष्टं गृहमिति । अज्ञातमित्यर्थः ॥ नष्टः प्रत्यय इति । अज्ञातानुबन्धः प्रत्ययो भवतीत्यर्थः ॥

सानुबन्धकस्येति । पूर्वं यः ककारवांस्तस्येत्यर्थः ॥ उद्देशम् = ऊर्ध्वं देशम् ॥

भावबोधिनी

(भा०) अनुबन्ध दोनों में भेद करने वाला है—ऐसा यदि कहते हो,

तो नहीं [कह सकते] ।

क्या कारण है ?

लोप के कारण । इसमें 'क्त' के ककार अनुबन्ध का लोप हो जाता है और अनुबन्ध के लुप्त हो जाने पर भिन्नता = अन्यत्व नहीं रहता है । [जब दोनों में अनुबन्ध लुप्त हो जाते हैं, 'त' ही शेष बचता है तब एक 'त' की निष्ठा संज्ञा की जाय दूसरे की नहीं, ऐसा उचित नहीं है ।] जैसे किसी ने पूछा—'देवदत्त का घर कौन सा है ?' [सुनने वाले ने उत्तर दिया] 'वह देवदत्त का घर है जहाँ वह कौआ बैठा हुआ है ।' कौवे के उड़ जाने पर देवदत्त के घर का ज्ञान = पता नहीं चलता है । ठीक इसी प्रकार यहाँ भी अनुबन्ध का लोप हो जाने पर 'क्त' है या 'तन्' है—ऐसा ज्ञान नहीं रहता है । [नष्ट = अदृष्ट = अज्ञात यह अर्थ है ।]

यद्यपि क्त में ककार का लोप हो जाता है तथापि पढ़ने वाले व्यक्ति को यह मालूम रहता है कि ककार अनुबन्ध के सहित तकार की ही निष्ठा संज्ञा होती है । जैसा कि अन्यत्र (लोक में) भी 'देवदत्त का घर कौन सा है ?' [ऐसा पूछे जाने पर श्रोता यही उत्तर देता है—] 'जहाँ पर वह कौआ बैठा हुआ है ।' यद्यपि कौवा के उड़ जाने पर उस घर का ज्ञान नहीं रह पाता है फिर भी अन्ततः उस स्थान को (स्मरण द्वारा) जान ही लेता है । [जहाँ कौआ बैठा था, अब उड़ गया है वही देवदत्त का घर है ।]

(२११ आक्षेपवार्तिकम् ॥ ५ ॥)

॥ * ॥ सिद्धविपर्यासश्च ॥ * ॥

(भाष्यम्)

सिद्धश्च विपर्यासः। यद्यपि जानाति, सन्देहस्तु तस्य भवति—अयं स तशब्दो लोतो गर्तं इति, अयं स तशब्दो लूनो गीर्णं इति। तद्यथा इतरत्रापि 'कतरद्देवदत्तस्य गृहम् ?, 'अदो यत्रासौ काकः' इति। उत्पतिते काके यद्यपि तमुद्देशं जानाति सन्देहस्तु तस्य भवति—इदं तद्गृहमिदं तद्गृहमिति।

(आक्षेपनिराकरणभाष्यम्)

एवं तर्हि—

(२१२ समाधानवार्तिकम् ॥ ६ ॥)

प्रदीपः

सिद्धविपर्यास इति। सिद्धो विपर्यासः=संशय इत्यर्थः॥ इदं तद्गृहमिति। बुद्धेरनवस्थितत्वमनेन प्रतिपाद्यते। न त्वेतद् द्विर्वचनं, वीप्साद्यर्थाभावात्॥

उद्द्योतः

सिद्धविपर्यासश्चेति। चस्त्वर्थे। सिद्धस्तु विपर्यास इत्यर्थः॥ यद्यपि विपर्यासो भ्रमात्मकनिश्चयस्तथाप्ययथार्थत्वसाम्यादिह संशयोऽभिप्रेत इत्याह—संशय इति॥ बुद्धेरनवस्थितत्वमिति। सन्देहाभिनय इत्यर्थः॥ वीप्सादीति। पदार्थविषयव्याप्तीच्छा प्रयोक्तृधर्मो हि वीप्सेति भावः॥

भावबोधिनी

(वा०) [इसमें भी तो] विपर्यास=सन्देह सिद्ध [बना ही रहता] है।

(भा०) इसमें भी तो विपर्यास=सन्देह बना रहता है। यद्यपि वह जान तो लेता है तथापि उसे यह सन्देह तो बना ही रहता है—(यह 'त' शब्द जिसकी निष्ठा संज्ञा की गई है। उसे दो स्थानों पर देखकर सन्देह होता ही है—) यह 'त' शब्द 'लोतः' 'गर्तः' इनमें है और यही 'त' शब्द 'लूनः' गीर्णः (=लू+क्त,गॄ+क्त) में है। [दोनों में समान 'त' देखकर सन्देह तो होता है।] जैसे अन्यत्र भी 'देवदत्त का घर कौन सा है ?' [ऐसा प्रश्न होने पर] 'वह है जहाँ पर कौवा बैठा है।' कौआ के उड़ जाने पर भी उस उद्देश=उध्र्वदेश (देवदत्त के घर) को जान लेता है तथापि उसे सन्देह तो होता ही है—'यह देवदत्त का घर है' या 'यह देवदत्त का घर है।' अर्थात् पहले तो सन्देह उठता ही है।

यदि ऐसी बात है तो—

॥ * ॥ कारककालविशेषात् सिद्धम् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

कारक-कालविशेषावुपादेयौ। भूते यस्तशब्दः कर्मणि कर्तरि भावे चेति। तद्यथा इतरत्रापि य एव मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति सोऽध्रुवेण निमित्तेन ध्रुवं निमित्तमुपादत्ते—वेदिकां पुण्डरीकं वा ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

एवमपि प्राकीर्ष्टं—इत्यत्रापि प्राप्नोति ॥

प्रदीपः

प्राकीर्ष्टंति। अत्र भूतकालोऽस्तीति भावः ॥

उद्द्योतः

भाष्ये कारकेति कालातिरिक्तप्रत्ययार्थपरम्। वेदिकां पुण्डरीकं चेति भाष्ये। एवं च—साक्षादितरव्यावर्तकं विशेषणम् ॥ स्वोपस्थाप्यार्थद्वारा इतरव्यावर्तकमुपलक्षणमिति भावः ॥

प्राकीर्ष्टेति। यद्यप्यत्र निघातप्रवृत्तेर्न निष्ठात्वकृतो विशेषस्तथापि यन्मा प्रकीर्ष्टस्यस्योपलक्षणमिदम्। अत्र हि निपातैर्यद्यदीति निघाते निषिद्धे निष्ठा च द्व्यजनादिति नित्यमाद्युदात्तत्वं स्यात्। असंज्ञायामपि तत्प्रवृत्तिं मन्यते। आदिः सिच इति विकल्पस्त्विष्यत इति भावः ॥

भावबोधिनी

(वा०) कारकविशेष तथा कालविशेष के कारण [दोनों में भेद] सिद्ध है।

(भा०) [निष्ठा संज्ञा के विषय में) कारकविशेष तथा कालविशेष का उपादान=ग्रहण करना चाहिए। भूतकाल और कर्ता, कर्म तथा भाव अर्थों में जो 'त' शब्द किया गया है। [उसी की निष्ठा संज्ञा होती है ऐसा कहेंगे ? चूंकि 'लोतः, गर्तः' आदि में 'त' इन अर्थों का सूचक नहीं है अतः इसकी निष्ठा संज्ञा नहीं होगी।] जैसे कि अन्यत्र लोक में भी जो मनुष्य सोंच समझ कर काम करने वाला होता है वह कौआ रूपी अध्रुव=सदैव न रहने वाले निमित्त के द्वारा ध्रुव=घर पर सदैव बने रहने वाले निमित्त=वेदिका और कमल आदि का ज्ञान कर लेता है। [भाव यह है कि बुद्धिमान मनुष्य ने कौआ के साथ-साथ उस घर में बने हुए स्थायी चिह्न वेदिका और कमल आदि का भी ज्ञान कर लिया है अतः कौआ के उड़ जाने पर भी ध्रुव निमित्तों के द्वारा वह देवदत्त के घर को पहचान लेता है। इसी प्रकार अनुबन्ध रूपी ककार के लुप्त हो जाने पर भी— भूतकाल तथा कर्ता, कर्म, भाव रूपी अर्थों के रहने पर उनसे युक्त 'त' को जान लेता है।]

ऐसा होने पर भी अर्थात् कालविशेष तथा कारकविशेष का उपादान किये जाने पर भी 'प्राकीर्ष्टं' इसमें भी 'त' की निष्ठा संज्ञा प्राप्त होती है। [क्योंकि प्र उपसर्गपूर्वक कॄ धातु से लुङ् = त, सिच्, इत्व, रपर, दीर्घ, षत्व करने पर

(२१३ समाधानवार्तिकम् ॥ ७ ॥)

॥ * ॥ लुङि सिजाद्दिदर्शनात् ॥ * ॥

(भाष्यम्)

लुङि सिजादिदर्शनान्न भविष्यति ॥

(आक्षेपभाष्यम्)

यत्र तर्हि सिजादयो न दृश्यन्ते—प्राभित्त इति ।

(समाधानभाष्यम्)

दृश्यन्तेऽत्रापि सिजादयः ॥

किं वक्तव्यमेतत् ?

न हि ॥

कथमनुच्यमानं गंस्यते ?

यथैवायमनुपदिष्टान् कारककालविशेषानवगच्छति एवमेतदप्यवगन्तुमर्हति

प्रदीपः

दृश्यन्तेऽत्रेति । सिजादीत्यादिशब्दशब्दः प्रकारे । तत्र प्राभित्त घटं देवदत्त इति प्रयोगे कर्तृकत्वाद्यवगमाल्लुङन्तस्यायं प्रयोगः, न निष्ठान्तस्येति प्रतिपद्यते । 'अञ्जिघृषि

उद्द्योतः

सिचोऽत्र लुप्तत्वेनादर्शनादाह—आदिशब्द इति । अञ्जिघृषीति । यद्यप्यत्रोपलक्ष्यकालकारकाद्यभावस्तथापि गुणाभावदर्शनात् क्तोयमित्यवगतिः । एवं च सनादिविधावित्संज्ञकनकारोपलक्षितः प्रकृत्यर्थानुवादी इच्छार्थो वा सकारो भवतीत्यर्थः ।

भावबोधिनी

'प्राकोष्टं' रूप होता है । यहाँ लुङ् से भूतकाल तथा कर्ता अर्थों की प्रतीति होने से निष्ठा संज्ञा प्रसक्त है ।]

(वा०) लुङ् में तो सिच् आदि दूसरे तत्त्व भी देखे जाते हैं ।

(भा०) लुङ् के त के साथ सिच् इट् आदि भी देखे जाते हैं अतः इसकी निष्ठा संज्ञा नहीं हो सकती ।

यदि ऐसी बात है तब तो जहाँ बीच में सिच् आदि नहीं दिखाई देते हैं, उनका लोप कर दिया जाता है, जैसे—प्राभित्त] [प्र उपसर्ग भिद् + लुङ् = त, सिच्, 'झलो झलि' (८।२।२६) सूत्र से सिच् का लोप कर दिया जाता है । अब निष्ठा संज्ञा होनी चाहिये ।]

प्राभित्त—आदि में भी सिच् आदि दिखाई देते हैं ।

तो क्या यह कहना होगा ? [अर्थात् सिजादि से रहित 'त' की निष्ठा संज्ञा होती है—ऐसा वचन कहना पड़ेगा ।]

नहीं कहना होगा ।

बिना कहे हुये कैसे ज्ञात होगा ?

जिस प्रकार यह बोद्धा जिज्ञासु मनुष्य बिना कहे गये ही = अनुपदिष्ट कालविशेष ओर कारकविशेष का ज्ञान कर लेता है उसी प्रकार यह भी जान सकता है—

—यत्र सिजादयो नेति ॥ क्तक्तवतू ॥ २५ ॥

॥ इति श्रीमद्भगवत्पतञ्जलिविरचिते महाभाष्ये प्रथमाध्यायप्रथमपादे पञ्चममाह्निकम् ॥

प्रदीपः

ण्यः क्त इत्यस्य निष्ठासंज्ञा न भवति, उणादीनामव्युत्पन्नत्वाद्वाहुलकाद्वा। अन्यथा निष्ठा च द्व्यजनादित्याद्युदात्तत्वं स्यात् ॥ २५ ॥

॥ इत्युपाध्यायजैयटपुत्र-श्रीकैयटकृते महाभाष्यप्रदीपे प्रथमाध्याये प्रथमपादे पञ्चममाह्निकम् ॥

उद्द्योतः

अनुवादे सन्यत इत्यादौ तादृशनकारोपलक्षिते सकारे इत्यर्थः। अत एवाटश्चेत्यादेः सार्थक्यम्। अन्यथा यत्र सूत्रे आट्, न तत्र वृद्धिरिष्यते; यत्र चेष्यते प्रयोगे, न तत्राडिति तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेवेति सर्वमवदातम् ॥ २५ ॥

॥ इति श्रीशिवभट्टसुत-सतीगर्भज-नागोजीभट्टविरचिते भाष्यप्रदीपोद्द्योते प्रथमाध्यायस्य प्रथमे पादे पञ्चममाह्निकम् ॥

भावबोधिनी

जिसमें सिच् आदि नहीं रहते हैं, उसी 'त' की निष्ठा संज्ञा होती है। [इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि समान रूप वाले 'त' की निष्ठा संज्ञा का प्रतिषेध वचन कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह भेद तो उस अध्येता को पूरी प्रक्रिया के ज्ञान के साथ ही हो जाता है कि किस 'त' 'तवत्' की निष्ठा संज्ञा करनी है किसकी नहीं।]

॥ इस प्रकार श्रीमान् भगवान् पतञ्जलि द्वारा विरचित व्याकरण-महाभाष्य में प्रथम अध्याय के प्रथमपाद में पञ्चम आह्निक सम्पूर्ण हुआ ॥

कृपया विश्वनाथस्य गुरु-पितृ-प्रसादतः।
आह्निके पञ्चमे पूर्णा व्याख्येयं भावबोधिनी ॥

॥ इस प्रकार जयशङ्करलालत्रिपाठी द्वारा विरचित 'भाव-बोधिनी-हिन्दी-व्याख्या में महाभाष्य प्रथम अध्याय में प्रथमपाद में पञ्चम आह्निक सम्पूर्ण हुआ ॥

॥ ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः ॥

—:o:—

ससूत्र-वार्त्तिक-पाठः

पस्पशाह्निकम्

टि० *प्रकाशित पृ. सं. १९३ से २०८ के स्थान पर १८१ से १९६ समझें ।

तृतीयमाह्निकम्

चतुर्थमाह्निकम्

पञ्चममाह्निकम्

टि० *प्रकाशित पृष्ठ संख्या ६४१ से ६७२ के स्थान पर १२ पृष्ठ घटा कर पृष्ठ ६२९ से ६६० समझें ।

पृष्ठाः

कादम्बरी

'भावबोधिनी' संस्कृत-हिन्दी टीका सहित

व्याख्याकार—डा० जयशंकरलाल त्रिपाठी

संस्कृत गद्य-साहित्य में महाकवि बाणभट्ट की कादम्बरी सर्वोत्कृष्ट कृति मानी जाती है। इसकी महत्ता तथा उत्कृष्टता के कारण यह कृति सर्वत्र किसी-न-किसी प्रकार पाठ्य विषय के रूप में निर्धारित है। अतः ऐसे उपयोगी और क्लिष्ट महाकाव्य पर ऐसी संस्कृत व्याख्या और हिन्दी व्याख्या की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था जो सामान्य और विशिष्ट सभी प्रकार के अध्येताओं की जिज्ञासाओं का समाधान प्रस्तुत करने में समर्थ हो। [illegible] समस्या को ध्यान में रखकर कादम्बरी की 'भावबोधिनी' नामक संस्कृत व्याख्या और हिन्दी रूपान्तर के साथ उत्कृष्ट संस्करण प्रकाशित किया गया है।

कादम्बरी में लम्बे-लम्बे समासों, श्लेषादि अलंकारों, [illegible] सम्बन्ध [illegible]) वाले वाक्यों का आशय सरल तथा स्पष्ट शैली में [illegible] किया जाना प्रस्तुत संस्करण की एक प्रमुख विशेषता है। सभी लम्बे-लम्बे समासों [illegible] विग्रहवाक्यों के साथ-साथ कोष्ठकों में उनका अर्थ स्पष्ट कर देने से साधारण [illegible] अर्थ समझने में समर्थ हो सकता है। यथास्थान अलंकारों का [illegible] और [illegible] भी कर दिये जाने से वास्तविक अभिप्राय समझने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए।

अभी तक उपलब्ध संस्करणों में अपेक्षित सामग्री से किसी-न-किसी की कमी पाठक के लिए समस्या बन जाती थी। प्रस्तुत संस्करण वास्तव में सभी विशेषताओं तथा अपेक्षाओं से युक्त है। इस संस्करण में मूल के पाठभेदों का स्पष्ट उल्लेख करते हुए तर्कसंगत पाठ को मूल में स्थान देने से शोधछात्रों को विशेष सहायता प्राप्त होगी।

हिन्दी व्याख्या में मानक अनुवाद शैली अपनाई गई है। इस कारण भाव स्पष्ट करने के लिए अपेक्षित शब्दों को बड़े कोष्ठकों में रखा गया है, इससे मूल प्रत्येक पद का यथार्थ हिन्दी अनुवाद समझने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती है। समासवाक्यों का भी अनुवाद इस प्रकार से किया गया है कि अध्येता को पूरा-पूरा अर्थ सरलता से समझ में आ जाय।

प्रस्तुत संस्करण शोधकर्ताओं के साथ-साथ प्राचीन तथा नवीन, दोनों पद्धतियों से अध्ययन करने वाले सभी छात्रों के लिए परम उपयोगी है। अतः कादम्बरी के मर्मज्ञ जिज्ञासु प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह संस्करण अवश्य संग्रहणीय है।

आदितः शुकनासोपदेशान्त : रु० १००-००	पूर्वार्द्ध रु० ३००-००
उत्तरार्द्ध २२५-००	सम्पूर्ण ५२५-००

अन्यप्राप्तिस्थान—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, पो.बा.१००८, वाराणसी

ISBN : 81-218-0016-1

मूल्य : २००-००